गीता
प्रवचनामृत-सुधा
— स्वामी महेश्वरानन्द महामण्डलेश्वर —

स्वाध्याय एवं प्रवचनकी महिमा।

चौरासी लक्ष योनियोंकी असह्य यातनाएँ भोगकर यह जीव इस मनुष्य शरीरमें आया है। खाना, पीना, मौज मारना ही इस देवदुर्लभ मानव-जीवनका लक्ष्य नहीं है। इसलिए मनुष्य जीवनके लक्ष्यको समझने और उस लक्ष्यतक पहुँचनेके लिए उपनिषत्-गीता आदि मोक्षशास्त्रोंका स्वाध्याय करना, और उनका श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ-महापुरुषोंके द्वारा प्रवचन सुनना आवश्यक है।

अश्लील ग्रामीण साहित्यका अध्ययन करना, यह स्वाध्याय नहीं है। इससे नैतिक पतन होता है, और मनुष्य पशु बन जाता है। अतः अध्ययन केवल उन ग्रन्थोंका करना चाहिये, जिसके द्वारा पशु-प्रवृत्ति त्यागकर मनुष्य मनुष्यतामें और आगे बढकर देवत्वमें प्रवेश करता है। और अन्तमें नरका नारायण बन-जाता है। अतएव श्रुति कहती है कि—

'स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।'

स्वाध्याय एवं प्रवचनसे कदापि प्रमाद नहीं करना चाहिये। (तै० उ०).

'प्रिये स्वाध्यायप्रवचने भवतः, युक्तमना भवति, अपराधहीनः अर्थान् साधयते, सुखं स्वपिति।'

जिसे स्वाध्याय एवं प्रवचन प्रिय हैं, वह स्थिर निर्द्वन्द्व मनवाला होजाता है, अपराधोंसे रहित होकर धर्मादि-चतुर्विध पुरुषार्थोंको सिद्ध करता है, और आनन्दके साथ सोता है। (शतपथ-ब्रा०)

—लेखक०
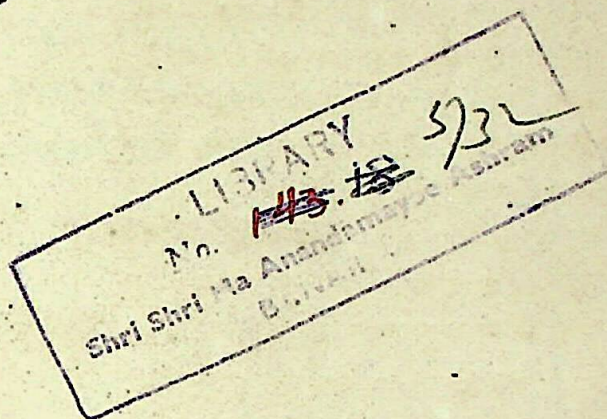
हरिः ॐ तत्सत्

कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ।

सर्वशास्त्रमयी गीता ।

गीताके सप्तमाध्यायकी

प्रवचन–सुधा ।

(बम्बई–विला–पारला–संन्यासाश्रममें–श्रीमत्परमहंस–परिव्राजकाचार्य–श्रोत्रिय–ब्रह्मनिष्ठ–सकलनिगमागम–शास्त्रनिष्णात-**स्वामी महेश्वरानन्दजी महाराज महामण्डलेश्वरके** द्वारा–गीतापर दिये हुए–सप्तमाध्यायके प्रवचनोंका–संग्रह ।)

प्रवचन–सुधा सेयं, शास्त्रदृष्टान्तसंस्कृता ।
लोकाज्ञानविषं हत्वा, मोदं सृजतु निर्भरम् ॥

विक्रम–संवत् २०१०]   [खिस्ताब्द १९५४

: प्रकाशक :

श्रीकाशीविश्वेश्वर–आध्यात्मिक–
संस्कृत–महाविद्यालय–संन्यासाश्रम–
विले–पारला–बम्बई

श्रीविश्वनाथो विजयतेतराम् ।
वन्दे विश्वेश्वरं विभुम् ।

गीताज्ञानामृतस्नानं, संसारमलनाशनम् ।
तत्र ये रसिकाः सन्ति, देवास्तेऽजामृताभयाः ।।

अर्था हसन्त्युचितदानविहीनलुब्धं,
भूम्यो हसन्ति मम भूमिरिति ब्रुवाणम् ।
अक्षा हसन्ति विषयेष्वधिरूढचित्तं,
मृत्युर्हसत्यमृतभक्तिविहीनमूढम् ।।

मूल्य० २॥) अढाई रुपया । मूल-लागतसे भी कम ।
पोस्ट-व्यय—अलग ।

ग्रन्थ मिलनेका पता—
संस्कृतविद्यालय-संन्यासाश्रम, विले-पारला, बम्बई.

: प्रकाशक :
कोठारीजी स्वामी नारायणगिरिजी
संन्यासाश्रम, विठ्ठलभाई पटेल रोड,
वीलेपारला, बम्बई-२४

: मुद्रक :
गोविन्दलाल जगशीभाई शाह
शारदा मुद्रणालय
पानकोर नाका : अहमदाबाद

श्रीविश्वनाथो विजयतेतराम्

कनखल-हरिद्वारवास्तव्य, ब्रह्मनिष्ठ, श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य, दार्शनिकसार्वभौम, विद्यावारिधि, न्यायमार्तण्ड, वेदान्तवागीश,

श्री १०८ स्वामी श्री महेश्वरानन्द जी महाराज मण्डलेश्वर

शशिनिभः श्रीशङ्करः पातु माम् ।

हरिः ॐ तत्सत्

निष्कामताका प्रशस्त-आदर्श, तथा धन्यवाद एवं शुभाशीर्वाद ।

बम्बईनिवासी, धर्मनिष्ठ, उदारहृदय, श्रीमान् एक सेठजी (नाम-प्रकाशनकी अनुमति नहीं) के प्रशस्त द्रव्यव्ययसे मुद्रित होकर यह 'प्रवचन-सुधा' आप सज्जन पाठकोंके हाथमें आरही है, यह बडी प्रसन्नताकी बात है। बहुत आग्रह करने पर भी श्रीमान् सेठजीने इसमें अपना नाम प्रकाशित करना स्वीकार नहीं किया। 'यह सब सामग्री श्रीहरि की है, श्रीहरिकी ही पुनीत सेवामें समर्पित होरही है, इसमें मैं क्या ? और मेरा नाम क्या ?। नाम-प्रकाशित करनेसे भी क्या होगा ? नामका भी नाश होजाता है, संसारके नामरूप कभी अविनाशी नहीं होसकते, अविनाशी-एकमात्र-सच्चित्सुखघन-विश्वात्मा भगवान् श्रीहरि ही हैं।' यही उनकी निष्कामताकी प्रशस्त-आदर्शरूपा-पुनीत भावना थी।

८००) पृष्ठसे भी अधिक-पृष्ठकी इस पुस्तिकाके मुद्रणमें कई-सहस्त्र-रुपयोंका व्यय करने पर भी नामका मोह न रखना, यह कोई साधारण त्याग नहीं है। अतएव भक्तोंने कहा है-'**कांचन तजनो सहज है, सहज तियाको नेह। मान-बडाई-ईर्ष्या तुलसी दुर्लभ येह।**' रूपके मोहके समान नामका भी मोह भगवत्कृपा एवं तत्त्वज्ञानका प्रतिबन्धक है। अतः जो नामका भी मोह छोडकर अज्ञातरूपसे जनता-जनार्दनकी सेवाकरनेका प्रशस्त भाव रखता है, उसके ऊपर श्रीभगवान्की

विशेषकृपा प्राप्त होती है, एवं वह भगवत्कृपालभ्य–तत्त्वज्ञान–प्राप्तिकी योग्यता–संपन्न होजाता है।

कुछ–संपन्न–धर्मभीरु–सद्गृहस्थ विनामूल्य–धर्मादारूपसे पुस्तक लेनेमें संकुचित होते हैं, और अमूल्य–वितरणद्वारा–संभव है–जिस योग्य–अधिकारीको मिलनी चाहिये–उसे न मिले, एवं अयोग्य–अधिकारीको एकसे भी अधिक मिल जाय, और एक–स्थलमें ही इसकी बहुलता एवं अन्यस्थलोंमें इसकी दुर्लभता होजाय, इत्यादि–अनेक कारणोंको ध्यानमें रखकर इस 'प्रवचन–सुधा'का मूल्य, मूल–लागतसे भी कुछ कम रक्खा गया है। और साथमें- जो असम्पन्न–योग्य–अधिकारी हैं–जैसे साधु–महात्मा–गरीब आदि–उनकी यथावत् जांचकर इसका अमूल्य–वितरण भी किया जायगा। और सम्पन्न–अधिकारियोंके द्वारा दिये गये–मूल्य–द्रव्यका–जो संचय होगा, उससे अन्य भी–धार्मिक–ग्रन्थोंका प्रकाशन किया जायगा, ऐसी उचित–व्यवस्थासे इसका सदुपयोग, सर्वत्र–प्रसार, अभिनवग्रन्थप्रकाशन आदि–अनेक लाभ सिद्ध होजाते हैं।

उक्त–अप्रकाशित–नामवाले धर्मप्रेमी–भगवत्स्नेही–उदारहृदय–श्रीमान्–सेठजीको भगवान् अन्तर्यामी–लोकलीलासूत्रधार–श्रीविश्वनाथ, सपरिवार सदा–आनन्द–प्रसन्न रक्खे, विशेषतः स्वास्थ्य, सुमति, समृद्धि दीर्घायुः एवं सुयशः प्रदान करें, एवं निष्कामधर्मभावना, भक्ति–ज्ञान आदि–दैवी–सद्गुणोंकी अभिवृद्धि द्वारा–अनेकविध–अभ्युदय एवं निःश्रेयस–आत्मकल्याणकी सिद्धि हो, इसके लिए मैं श्रीभगवान्से करबद्ध–प्रार्थना करता हूँ, एवं शुभाशीर्वाद प्रदान करता हूँ।

तथा इसग्रन्थके मुद्रणयोग्य—पाण्डुलिपि लिखनेमें तथा प्रूफ् संशोधन आदि कार्यमें सहयोग देनेवाले—शुक्लं—ब्रह्मचारी—श्रीराधारमण विद्यार्थी-ब्र० धर्मानन्द स्वा० विधेयानन्द आदि अनेक सज्जन धन्यवाद एवं शुभाशीर्वादके योग्य हैं। तथा अमदावादके शारदा—मुद्रणालयमें इसके छपानेकी तथा कागज—खरीदना आदिकी अनेकविध—योग्य-व्यवस्था करनेवाले—अमदावादनिवासी—हमारे सेवक-भक्त-श्रीमान् सेठ बहेचरलाल दलसुखराम शाहको, तथा शारदा-मुद्रणालयके अध्यक्षविद्यारसिक-श्रीमान् बालाभाई देसाई—जिनकी सुदृढ—सावधानीसे—इस प्रकृत—ग्रन्थकी शुद्ध—छपाई—हुई को अनेक शुभाशीर्वाद एवं धन्यवाद प्रदान किये जाते हैं।

विला-पारला-संन्यासाश्रम,
बम्बई—२४
विक्रम संवत् २०१०।
आषाढ वदी ७ गुरुवार

स्वामी महेश्वरानन्द—मण्डलेश्वर।

सूक्तिं कर्णसुधां व्यनक्तु सुजनस्तस्मिन्न मोदामहे,
ब्रूतां वाचमसूयको विषमुचं तस्मिन्न खिद्यामहे।
या यस्य प्रकृतिः स तां वितनुतां किं नस्तया चिन्तया,
कुर्मस्तत्खलु कर्म जन्मनिगडच्छेदाय यज्जायते॥

सज्जन, कर्णप्रिय अच्छा वचन बोलता है, उससे हम प्रसन्न नहीं होते। दोषदृष्टिवाला—दुर्जन, विष जैसा कटु—वचन बोलता है। उससे हम खिन्न नहीं होते। जिसकी जैसी प्रकृति हो, वह उसे भले प्रकट करे, उसकी हमें चिन्ता नहीं करनी चाहिये। हम तो वही कार्य करते हैं, जिसके द्वारा जन्मादि—बन्धनका छेदन होता है।

ॐ श्रीः ॐ

प्रस्तावना।

निवेदनं-(प्राक्कथनं)

निर्लिप्तस्य सदात्मबोधमहितस्याज्ञानसत्साक्षिणः,
का बाधा विषयैर्विषं निगिलतः स्वेच्छोपपन्नैरपि।
किन्तु ज्ञानविरोधिनोऽनृततमास्त्याज्या इमेऽलं जनै-
रित्याख्यातुमिव प्रपन्नविरतिः स्याद्वः शिवः श्रेयसे ॥ १ ॥

धर्मोऽर्थः किमु? यः सदैव विषयप्राप्त्यै श्रितः कामिभिः,
नार्थोऽर्थो भवितुं प्रभुः प्रतिपलं यो दुःखसम्भारकृत्।
का स्यात् कामहतेऽर्थनीयभणिति यैः सेवितो वर्धते,
मोक्षः केवलमर्थ्यतां व्रजति वः सोऽन्विष्यतां सज्जनाः! ॥ २ ॥

नासौ क्वापि गतः सदैव भवतामन्तर्बहिः संस्थितः,
किन्त्वज्ञानवशादितस्तत इमे संमार्गयन्ते मुधा।
ज्ञानादेव भवेत्तदाप्तिरथ तत्स्यात् सद्गुरोराश्रयात्,
'स प्राप्तव्य' इतिश्रुतेरपि मतं किन्त्वस्त्यसौ दुर्लभः ॥ ३ ॥

सौभाग्याज्जगतामनादिसमयात् केचिद् दयार्द्राः स्वयं,
तत्त्वं बोधयितुं भ्रमन्ति भुवने सन्त्यक्तसङ्गा अपि।
सेयं साधुपरम्पराऽद्य कलिना दुष्टेऽपि लोके स्थिरा,
दुःखं यत्र सहन्त एतदधुना केचिन्मुधा शासकाः ॥ ४ ॥

अक्षुण्णां तां विधातुं विदितकनखले बंगलाऽऽख्ये सुपीठे,
प्राप्तैः प्रष्ठां प्रतिष्ठां सुविदितसकलश्रौततत्त्वैर्निरीहैः।
अद्वैतानन्दभाग्भिः सुविमलमतिभिः श्रीमहेशादिवाच्यैः,
श्रीमन्निर्मण्डलेशैर्व्यरचि बहुविधं ग्रन्थजातं हितार्थम् ॥ ५ ॥

तेषामेषाऽतिचित्रा श्रुतिशतपरमार्थावबोधोपयुक्ता,
नानावादोत्थतत्त्वप्रविशदनपरा युक्तियुक्ता सुरम्या ।
श्रीमद्गीताखिलार्थप्रकटननिपुणा 'वाक्सुधा' भाग्यलब्धा,
पेया सर्वैरनर्थज्वरशमनपटुः, श्रद्धयाऽऽकण्ठमेव ॥ ६ ॥

इतिशम् ।

—विश्वम्भरझाशर्मणः

(श्रीकाशीविश्वेश्वराध्यात्मिकसंस्कृतमहाविद्यालय—प्रधानाध्यापकस्य,
विला—पारला संन्यासाश्रम बम्बई नं. २४ ।
वि. सं. २०१० मार्ग शु. ५मी तिथिः)

मुमुक्षु ! पाठकवृन्द !

यह निश्चित है कि—यह जीव जन्मसे मृत्यु—पर्यन्त, जाग्रत् अवस्थासे सुषुप्ति पर्यन्त, कुछ न कुछ व्यापार प्रतिक्षण करता ही रहता है; आखिर और कोई व्यापार नहीं तो श्वास—प्रश्वास व्यापार तो चलता ही रहता है—यह भी क्रिया ही है। इसीलिए श्रीकृष्ण भगवान्‌ने कहा है कि—'**न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।**' (गी० ३।५) यह क्रिया अवश्य ही सप्रयोजन है, क्योंकि—विना प्रयोजनके कोई भी जीव प्रवृत्ति नहीं करता है—क्योंकि—प्रवृत्तिके प्रति इच्छा कारण है, इच्छाका विषय ही प्रयोजन होता है—अतः प्रयोजनके विना इच्छा नहीं, इच्छाके विना प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतः सभी प्रवृत्तियाँ—सब व्यापार—सप्रयोजन होते हैं। इसीलिए कहा गया है कि—
'**प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते ।**'

यह प्रयोजन क्या है ?, किन थोड़ेसे शब्दोंमें इसका प्रतिपादन

किया जाय कि–सभी जीवोंकी प्रवृत्तियोंमें वह सङ्गत होसके, इस विचारसे पूर्वाचार्योंने इस प्रयोजनको चार भागोंमें विभक्त किया है–" धर्म, अर्थ, काम, तथा मोक्ष "। ये ही पुरुषार्थरूपसे निर्णीत हुये, क्योंकि–इनको ही–पुरुष–आत्मा–चाहता है। पुरुष शब्दका सामान्यतः आत्मा अर्थ ही यहाँ लेना आवश्यक है–नकि–लिङ्ग–विशेषयुक्त आत्मा। क्योंकि–इस तरह अर्थ करनेसे 'पुरुषार्थ' सङ्कुचित हो जाता है। 'पुरुषार्थ (पुरुष–अभिप्रेत–अर्थ) रूपसे कहे गए चारोंमेंसे पहले तीन–धर्म, अर्थ तथा काम वस्तुतः पुरुषार्थ नहीं हो सकते–ये आत्माके अर्थनीय नहीं हैं, इनके लिए 'आत्मा' नहीं प्रवृत्ति करता है–यह बात विचार करनेसे–स्पष्ट प्रतीत होती है। क्योंकि–इनके प्राप्त होने पर भी इसे शान्ति नहीं मिलती–इसकी प्रवृत्ति बन्द नहीं होती। बराबर किसी वस्तुको प्राप्त करनेके लिए व्यग्रही रहता है। कुछ न कुछ करता ही रहता है। किन्तु किसलिए यह अशान्ति है–यह समझ नहीं पाता।

कुछ और गम्भीर विचार करनेपर स्पष्ट मालूम होता है कि–वह जिस परम–सुखको चाहता है वह नहीं मिल रहा है, और वह परम सुख ही मोक्ष है, अतः यह मोक्षके लिए ही सबकुछ प्रयत्न करता है। उसके लिए ही यह कोटि–कोटि जन्मोंसे प्रयत्न करता आया है। जो कुछ यह चाहता है सो उसीके भ्रमसे। जैसे पानीमें डूबता हुआ आदमी जो कुछ सामने आजाय, उसे ही पार जानेका साधन समझ बैठता है, चाहे वह विषधर सर्प ही क्यों न होवे–उसे भी वह पकड़ लेगा–फलतः वह भी इसे कुछ कष्ट ही देता है। उसे देखकर भयसे वह और–प्रवाहकी

तरफ ही भाग जाता है। इसी तरह इस अपार–संसार–सागरमें डूबता हुआ जीव अपने पद (परम-सुख)को प्राप्त करनेके लिए ही इन सांसारिक-विषयोंको चाहता है–इनका आश्रय लेता है–किन्तु ये उसे पदको प्राप्त करानेके बदले और दुःख ही देते हैं। और डूबनेमें ही सहायक होते हैं। 'धर्म (यागादि) करनेसे अनेक ऐहलौकिक तथा पार–लौकिक सुख मिलते हैं' यह सुनकर जीव तदनुकूल आचरण करता है, तथा उसको क्रमशः प्राप्त करता भी जाता है,–किन्तु कामनाओंकी शान्ति नहीं होती। यहाँ तक कि–बढ़ते बढ़ते स्वर्गीय–'इन्द्र' पद तक प्राप्त करता है, किन्तु वहाँ भी शान्ति नहीं। आज अमुक राक्षस उपद्रव कर रहा है, उसको जीतना है, आज अमुक–व्यक्ति घोर तपस्या कर रही है–क्या कहीं वह हमारा पद ही तो नहीं चाहती है? इसे किस तरह अपने मार्गसे भ्रष्ट किया जाय, इत्यादि–चिन्ता वहाँ भी इसे घेरे रहती है। इससे व्याकुल रहता है। जब तक पुण्य रहा, तब तक वह उस पद पर बना रहता है–पुण्यके शेष होने पर पुनः इसी धराधाम पर गिरकर अनेकों–योनियोंमें चक्कर काटता है–इस तरह यागादि–धर्म भी–हमारे अर्थनीय नहीं होते–इनसे भी अभीष्टकी सिद्धि नहीं होती–प्रत्युत अन्तमें दुःख ही होता है–यह सिद्ध हुआ।

अब 'अर्थ' (धन)को देखिये। "धन ही सब कुछ है, इसके उपार्जनसे ही सब सुख सुलभ होते हैं" यह जानकर यह जीव धनके उपार्जनमें भी प्रवृत्त होता है। तदनुकूल–कार्योंमें कर्तव्य–अकर्तव्य किसीका भी ध्यान नहीं रखता। चाहे जिस रास्तेसे धन मिले, उसे स्वीकार करनेमें नहीं हिचकता है। धन प्राप्त भी करता जाता है, तथापि उसे

कहीं विश्राम नहीं, कहीं शान्ति नहीं। दिनभर उसकी प्राप्तिकी चिन्ता, रातभर उसकी रक्षाकी चिन्ता। एक कोठी बनी तो दूसरी चाहिए-दूसरीके बाद तीसरी, यह परम्परा बनी ही रहती है। कहीं भगवान्‌की इच्छासे बीचमें ही मोह टूटा—धनके हिस्सेदारोंमें तीन छोटे भाइयोंमेंसे किसीकी कृपा हो गयी, तब तो दुःखका पार नहीं। कहा है कि—

> चत्वारो धनदायादाः धर्माग्निनृपतस्कराः।
> तेषां ज्येष्ठापमानेन त्रयः कुप्यन्ति सोदराः॥

धनके हिस्सेदार चार भाई हैं—धर्म, अग्नि, नृप और तस्कर (चोर) इनमें बड़े भाई धर्मके अपमानसे छोटे तीनों अग्नि, राजा और चोर कुपित होते हैं। इनके कोपके बादकी स्थिति तो स्पष्ट ही है। सब धन समाप्त हो जाता है; जिसका दुःख असह्य है।

इस तरह धन भी हमें वह परम-सुख नहीं देता—जो हम चाहते हैं। अब 'काम'को देखिये। काम कहते हैं—उपभोगके विषयोंको। इनके लिए ही धर्म और अर्थका भी उपार्जन किया जाता है। किन्तु इन विषयोंके उपभोगसे तो अशान्ति दिन—दूनी रात—चौगुनी बढ़ती ही जाती है। अन्तमें राजा ययातिकी तरह यह कहना पडता है कि—

> "यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
> एकस्यापि न पर्याप्तमिति मत्वा शमं व्रजेत्॥

पृथिवीमें जितना अनाज है, सोना है,—हाथी घोड़े आदि पशु हैं, सुन्दर—स्त्रियाँ हैं, ये सब एक व्यक्तिके लिए भी पर्याप्त नहीं हैं, एकको भी यदि ये सब प्राप्त हो जावें, तब भी उसे सन्तोष नहीं होगा—ऐसा समझकर पहिलेसे ही सन्तोषको धारण करे, शान्त रहे। यह

वचन हजारों वर्ष विषयोपभोग करनेके बाद ययाति राजाने कहा है। इससे बढ़कर अनुभूत विचार और कहाँ मिलेगा। कामोंके उपभोगसे 'काम' (कामना)की शान्ति नहीं होती—यह तो भगवान् श्रीकृष्णने भी स्पष्ट—शब्दोंमें कहा ही है। अतः 'काम' भी जीवका अर्थनीय नहीं है, यह सिद्ध हुआ।

परिशेषात्—'मोक्ष' ही वह वस्तु रह गई, जिसे यह जीव चाहता है। वही सच्चा पुरुषार्थ है—क्योंकि—वह परम सुखरूप है—उसे प्राप्त कर लेने पर फिर कुछ करनेकी जरूरत नहीं रहती। वही सबका प्राप्य है—वही साध्य है, और सब साधन हैं। सब उसके लिए हैं, वह किसीके लिए नहीं। वह है क्या वस्तु—उसका क्या स्वरूप है? इसके विषयमें दार्शनिकोंमें कुछ मतभेद है, वह केवल अपनी अपनी प्रक्रियाके भेदसे ही है, वस्तुतः कोई भेद नहीं, यह विचारनेसे स्पष्ट ज्ञात होता है। किन्तु इसके विचारकी आवश्यकता यहाँ नहीं है।

श्रुति—वाक्योंके अनुसार अज्ञानका नाश ही मोक्ष है; क्योंकि 'मोक्ष' शब्दका अर्थ होता है, बन्धनका नाश होना; अज्ञान ही बन्धन है और उस बन्धनका नाश ज्ञानसे होता है। उसके नष्ट होने पर अपना सच्चा—स्वरूप प्रतीत होता है वही—परमसुख है। उसीके विना सबको बेचैनी है। बालकके गलेका भूषण पीठके तरफ चला गया है, वह उसे देखता नहीं, बड़ा व्याकुल होता है बहुत रोता—सोचता है; किसीके यह कहने पर कि—'अरे यह तो तेरे गलेमें ही पड़ा है, कितना प्रसन्न होता है, जैसे खोया हुआ भूषण उसे पुनः प्राप्त हो गया होवे। इसी तरह—वह आत्मस्वरूप भी तो हमारे पास ही है किन्तु अज्ञानसे हम उसे जान

नहीं रहे हैं। उसीको जाननेके लिए—व्याकुल हैं। किन्तु कैसे जाने? यह नहीं ज्ञात होता है। इसके लिए परम दयालु श्रुतिमाता कहती है कि "उसे जाननेके लिए वह—ब्रह्मचर्यादिके नियमोंसे युक्त होकर श्रोत्रिय—ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास जावे।"—वही उसके जाननेका मार्ग बतला सकते हैं। दूसरा कोई उपाय नहीं है।

—किन्तु ऐसे गुरुका मिलना सहज बात नहीं है, सो भी आज-कलके समयमें। जीवोंके सौभाग्यसे इस भारतभूमि पर पूर्वसे ही—यह परम्परा चली आती है कि—कुछ दयालु लोग, अपना ममतास्पद—घरबार सबकुछ छोड़कर वीतराग होकर भो केवल दुःखी जीवोंके उद्धारके लिए ही तत्त्वज्ञानका उपदेश देते हुए जहाँ तहाँ विचरते हैं, और अपने सदुपदेशोंके व्याख्यानके द्वारा तथा सद्ग्रन्थोंके प्रकाशनके द्वारा असंख्य मनुष्योंका उद्धार करते हैं। इस परम्परामें भगवान् शङ्कराचार्य, पद्म-पादाचार्य सुरेश्वराचार्य आदि प्राचीन महात्माओंके नाम उल्लेखनीय हैं। यह परम्परा घोर—कलिकालमें भी चल रही है, और चलती रहेगी। दुर्भाग्य वश आजकल—देशके कुछ शासक इसे आदरकी दृष्टिसे नहीं देखते, इस विषयमें उचित विचार नहीं रखते हैं, किन्तु यह उनकी धारणा—कुछ—केवल वेषमात्रधारी साधुओंके प्रति है—न कि पूज्यतम—सदुपदेश प्रचारक—सद्धर्मपरायण समाजकल्याणकारी महात्माओंके प्रति।

इसी परम्पराके आचरणको अक्षुण्ण (कायम) रखनेवाले प्रकृत ग्रन्थके प्रवक्ता,—परमतीर्थ 'कनखल' स्थित 'बँगला' पीठके अधिष्ठाता,—श्रुति—स्मृति—पुराण सहित सकल—दर्शनोंके तत्त्वज्ञाता, तथा उनशास्त्रोंके गूढ सिद्धान्तोंको साधारण जनताके लिए भी सुबोध—वाणीमें प्रकट करनेमें

अद्वितीय-प्रतिभासम्पन्न, श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ-परमादरणीय-परमहंस-परिव्राजकाचार्य श्री १००८ स्वामी महेश्वरानन्दजी महामण्डलेश्वर-महानुभावने अनेकों ग्रन्थरत्नोंका निर्माण किया है, जिनके अनुशीलनसे असंख्य नर-नारी कल्याणमार्गमें अग्रसर हुये हैं। उन्हींके द्वारा-श्रीमद्भगवद्गीताके सप्तमाध्यायका व्याख्यानरूप-यह **'प्रवचन-सुधा'** ग्रन्थरत्न आप लोगोंके समक्ष आया है। जो कि-वस्तुतः संसारके विषयोंके विषसे मूर्च्छित मानव समुदायके लिए 'सुधा' रूप ही है-यह इसके पढ़नेसे प्रत्यक्ष प्रतीत होता है।

इसमें किस तरह अन्यत्र गूढ विषयोंको अति सरल रीतिसे सकलजन हृदयंगम-कराया गया है-इसका यदि उल्लेख करने लगेंगे तो व्यर्थ पुनरुक्ति-सी होजायगी,-तथा विस्तार भी हो जावेगा। विज्ञपाठक स्वयं यदि आद्यन्त इसको पढ जावेंगे तो इस 'सुधा'की माधुरीके आस्वादसे मुग्ध होकर-बारंबार पढ़नेके लिए प्रेरित होंगे, यह मेरी दृढ़-धारणा है।

आशा है-इसका पूर्णरूपसे अनुशीलन कर तथा तदनुकूल आचरण करके मानवसमाज कृतकृत्य होगा, वही ग्रन्थकर्त्ताका उद्देश्य भी है, और यही जानकर उन्हें परम सन्तोष भी होगा। इसी धारणासे मैं यह ग्रन्थ-रत्न आप लोगोंके समक्ष उपस्थित करता हूँ, और निवेदन करता हूँ कि-इसे आप अधिकाधिक मानवोंके समीप पहुँचानेमें सहायक होवें।

संन्यासाश्रम	निवेदक—
विलेपारले, बम्बई-२४,	**विश्वम्भरझा-प्रधानाध्यापक**
मार्ग. शु. ५ मी, २०१० वि. सं.	श्रीकाशीविश्वेश्वराध्यात्मिक सं. महाविद्यालय

विषयानुक्रमणिका।

विषय-सूची | पृष्ठ-संख्या

विषय-सूची   पृष्ठ-संख्या

विषय-सूची **पृष्ठ-संख्या**

विषय-सूची | पृष्ठ-संख्या

विषय-सूची पृष्ठ-संख्यां

विषय-सूची | पृष्ठ-संख्या

विषय-सूची पृष्ठ-संख्या

विषय-सूची **पृष्ठ-संख्या**

विषय-सूची | पृष्ठ-संख्या

विषय-सूची पृष्ठ-संख्या

विषय-सूची | पृष्ठ-संख्या

विषय-सूची **पृष्ठ-संख्या**

विषय-सूची	पृष्ठ-संख्या

विषय-सूची पृष्ठ-संख्या

विषय-सूची पृष्ठ-संख्या

श्री विश्वनाथो विजयतेतराम् ।

वस्तु–निर्देश–सुमंगलम् ।

यद्वात्मानं सकलवपुषामेकमन्तर्बहिस्थं,
दृष्ट्वा पूर्णं खमिव सततं सर्वभाण्डस्थमेकम् ।
नान्यत्कार्यं किमपि च ततः कारणाद्भिन्नरूपं,
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः ॥

सकल घटोंमें स्थित–एक–आकाशके समान, सकल देहोंके अन्दर–बाहर पूर्णरूपसे सतत अवस्थित एक–अद्वय–आत्माको जानकर तथा उस कारणरूप–आत्मासे कार्यरूप यह विश्व, अन्य–भिन्नरूपवाला नहीं है, ऐसा निश्चय कर त्रिगुणातीत–ब्रह्मभावके मार्गमें विचरनेवाले–महापुरुषके लिए विधि क्या ? और निषेध क्या ? अर्थात् वह विधि–निषेधसे अतीत होजाता है।

(शंकराचार्य)

या क्षान्तिः समये श्रुतिः शिवशिवेत्युक्तौ मनोनिर्वृतिः,
भैक्षे चाभिरुचि धनेषु विरतिः शश्वत्समाधौ रतिः ।
एकान्ते वसति गुरौ प्रतिनतिः सद्भिः समं संगतिः,
सत्त्वे प्रीतिरनङ्गनिर्जितिरसौ सन्मुक्तिमार्गे स्थितिः ॥

अन्यके प्रतिकूलाचरणके समयमें जो क्षमा है, हरसमय श्रुतियोंका जो विचार है, 'शिव शिव' ऐसे भगवन्नामोंके उच्चारणमें जो मनका प्रमोद है, भिक्षाके अन्नमें ही जो रुचि है, धनोंमें जो वैराग्य है, समाधिमें सदा जो प्रीति है, एकान्तमें जो निवास है, गुरुमें जो नम्रता है, सज्जनोंके साथ जो संगति है, सात्त्विक–जीवनमें जो प्रीति है, और कामका जो विजय है, यही सच्ची–मुक्तिके मार्गमें स्थिति है। (अज्ञात–महात्मा)

मायाकल्पितमातृतामुखमृषाद्वैतप्रपञ्चाश्रयः,
सत्यज्ञानसुखात्मकः श्रुतिशिखोत्थाखण्डधीगोचरः ।
मिथ्याबन्धविधूननेन परमानन्दैकतानात्मकं,
मोक्षं प्राप्त इव स्वयं विजयते विष्णुर्विकल्पोज्झितः ॥

मायाकल्पित—प्रमाता प्रधान है—जिसमें ऐसा जो मिथ्या—द्वैतप्रपञ्च, उसका जो अधिष्ठान है; जो सत्य, प्रकाश, एवं आनन्दरूप है; जो श्रुतिशिरोमणि-रूप—उपनिषत्के महावाक्यसे समुत्पन्न—अखण्ड—ब्रह्माकारा बुद्धि—वृत्तिका विषय है; मिथ्या—बन्धके निवारण द्वारा अनुभव करने योग्य—जो निरतिशय—अपरिच्छिन्न—सुखके एकतानरूप—मोक्ष है, उसको प्राप्त हुए जैसा तथा जो दृश्यविकल्पसे वर्जित—चिदात्मारूप विष्णु है, वह सदा विजयी हो रहा है, अर्थात् स्वकीय—शाश्वत—महिमामें सदा स्वतः प्रतिभासित हो रहा है। (मधुसूदन—सरस्वती)

यौ तौ शङ्खकपालभूषितकरौ मुक्तास्थिमालाधरौ,
देवौ द्वारवतीश्मशाननिलयौ नागारिगोवाहनौ ।
द्वित्र्यक्षौ बलिदक्षयज्ञमथनौ श्रीशैलजावल्लभौ,
पापं नो हरतां सदा हरिहरौ श्रीवत्सगङ्गाधरौ ॥

जो शङ्खविभूषितहस्त एवं कपालविभूषितहस्त हैं; जो मोतीकी माला तथा मुण्डोंकी माला पहिने हुए हैं; जो द्वारकावासी एवं श्मशानवासी हैं; जिनके गरुड एवं वृषभ वाहन हैं; जिनकी दो एवं तीन आँखें हैं; जो बलिराजाके एवं दक्ष—प्रजापतिके यज्ञके मथनकर्ता हैं; जो श्रीवल्लभ एवं पार्वतीवल्लभ हैं, जो श्री एवं वत्सधर, तथा गंगाधर हैं, ऐसे वे हरि तथा हर देव, हमारे पापोंका ध्वंस करें। (स्कंद—पुराण)

अस्माकन्तु निसर्गसुन्दर! चिराच्चेतो निमग्नं त्वयी–
त्यद्धाऽऽनन्दनिधे! तथापि तरलं नाद्यापि सन्तृप्यते।
तन्नाथ! त्वरितं विधेहि करुणां येन त्वय्येकात्मतां,
याते चेतसि नाप्नवाम शतशो याम्याः पुनर्यातनाः॥

हे स्वभावसे सुन्दर! हे आनन्दनिधि–प्रभो! हमारा चित्त एकमात्र–आप भगवान्‌में ही बहुत समयसे निमग्न हो रहा है। तथापि यह चंचल–चित्त अबतक संतृप्त नहीं हो रहा है, इसलिए हे नाथ! आप शीघ्र ही हम पर ऐसी कृपा करो कि–जिससे यह चित्त आपके साथ एकात्मभावको प्राप्त कर ले, और हम पुनः यमकी असंख्य–दुःखमयी यातनाओंको प्राप्त न हों। (उदयनाचार्य)

कलाभ्यां चूडालङ्कृतशशिकलाभ्यां निजतपः–
फलाभ्यां भक्तेषु प्रकटितफलाभ्यां भवतु मे।
शिवाभ्यामस्तोकत्रिभुवनशिवाभ्यां हृदि पुन–
र्भवाभ्यामानन्दस्फुरदनुभवाभ्यां नतिरियम्॥

जो परब्रह्मकी चेतन–प्रकट–दिव्य कलारूप हैं, जिनके मस्तकमें चन्द्रकी कला सुशोभित है, जो अपने तपके फलरूपसे अत्यन्त तेजस्वी हैं, अपने भक्तोंमें जिन्होंने अपार–कृपारूप फल प्रकट किया है, त्रिभुवनमें जिनका कल्याणकारी स्वरूप विस्तृत है, जो हृदयमें चिदानन्दरूपसे प्रादुर्भूत हो रहे हैं, जो स्वतः स्फुरित–पूर्ण आनन्दरूपसे अनुभूत होते हैं, ऐसे कल्याणमय–उमामहेश्वररूप–युगल–भगवान् एवं भगवतीको यह मेरा प्रणाम हो।

(शंकराचार्य)

हरिः ॐ तत्सत् ।

श्रीविश्वनाथो विजयतेतराम् ।

[श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ-दार्शनिक-सार्वभौम न्यायमार्तण्ड-विद्यावारिधि-वेदान्तवागीश-महामण्डलेश्वर-पूज्यपाद श्री १०८ स्वामी महेश्वरानन्दजी महाराजके द्वारा बम्बई-विले-पार्ला संन्यासाश्रममें गीता पर दिये हुए प्रवचनोंका संग्रह]

प्रवचन-सुधा

प्रवचनसुधा सेयं, शास्त्रदृष्टान्तसंस्कृता ।
लोकाज्ञानविषं हत्वा, मोदं सृजतु निर्भरम् ॥

मंगलाचरणम्

ॐ शं नो मित्रः, शं वरुणः । शं नो भवत्वर्यमा । शं न इन्द्रो बृहस्पतिः । शं नो विष्णुरुरुक्रमः । नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो ! । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । ऋतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु माम् । अवतु वक्तारम् ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः (कृ० यजु० तैतिरीय १ । १ । १)

मित्र—परम स्नेही हितकारी परमात्मा, हमारे लिए सुख-शान्ति देनेवाला हो। वरुण—सर्वजनवरणीय-आनन्दनिधि भगवान्, हमें सुख शान्ति दे। अर्यमा—श्रेष्ठ वरोंका देनेवाला-वाञ्छाकल्पतरु-सर्वेश्वर-प्रभु हमें आनन्दप्रदान करे। इन्द्र—प्रकृष्ट ऐश्वर्य सम्पन्न-महेश्वर-प्रभु, बृहस्पति-बृहती-वेदवाणीका एवं बृहती-मायाका पति भगवान् हमारे लिए सुख-शान्ति प्रदाता बने। विस्तीर्ण-पादन्यासवाला विष्णु परमात्मा, हमारे लिए सुख शान्ति देनेवाले हों। ब्रह्मके लिए नमस्कार है। हे वायो!—वायुमें भी अनुगत परमात्मन्! आपको नमस्कार है। आपही सबमें सद्घन चिद्घन, सुखघनरूपसे प्रत्यक्ष ब्रह्म हैं। आपको ही मैं प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा। शास्त्रपरीक्षित यथार्थ कहूँगा। अनुभूत-सत्य कहूँगा। वह ब्रह्म मेरी रक्षा करे। वह वेदवक्ता आचार्यकी रक्षा करे। मुझ शिष्यकी रक्षा करे। आचार्य गुरुदेवकी रक्षा करे। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः, अर्थात् आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक-त्रिविध दुःखोंकी निवृत्ति हो।

'ध्यायेन्नित्यं महेशं रजतगिरिनिभं चारुचन्द्रावतंसं,
रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गं, परशुमृगवराभीतिहस्तं प्रसन्नम्।
पद्मासीनं समन्तात् स्तुतममरगणैर्व्याघ्रकृत्तिं वसानं,
विश्वाद्यं विश्ववन्द्यं, निखिलभयहरं पञ्चवक्त्रं त्रिनेत्रम्॥'

महेश—कैलासपति भगवान् श्री शंकरका सदा ध्यान करें। जो चांदीके पर्वतके समान शुक्ल वर्ण और मनोहर हैं, जिनके मस्तकमें सुन्दर बालचन्द्रका आभूषण सुशोभित है। जिनके हस्तपादादि सभी अंग, दिव्य-रत्न के समान समुज्जवल-आभायुक्त हैं। जिनके चारों हाथोंमें क्रमशः

परशु, मृग, वरमुद्रा एवं अभयमुद्रा विद्यमान हैं। जो सदा प्रसन्न-सुस्मितानन हैं, पद्मासनसे विराजमान हैं। चारों तरफ अवस्थित हुए इन्द्रवरुणादि देवगणांसे जो स्तूयमान हैं। जिन्होंने व्याघ्रचर्मका परिधान किया है। जो विश्वके आदिम-मूलकारण हैं, अतएव समस्त विश्वसे वन्दनीय हैं, जो समस्त भयोंके हरनेवाले अभयंकर देव हैं, और पांच मुख एवं तीन नेत्रवाले हैं।

'यः पूर्णानन्दमग्नोऽप्यनुगतमनसां बल्लवीनां विधेयः,
यश्चन्द्रादेर्नियन्ता विजयहयतनूमार्जने सावधानः।
यश्च श्रीशः सुदाम्नः पृथुककणगणात्यादरास्वादयुक्तः,
तस्य श्रीपादुकायाः भवतु कृतिरियं मालिका मल्लिकायाः ॥'

जो भगवान् सनातन परब्रह्म श्रीकृष्ण, एक तरफ पूर्णानन्दमें निमग्न हैं, अर्थात् आप्तकाम तथा नित्य-तृप्त हैं, और दूसरी तरफ, वह अपनेमें मनको आसक्त बनानेवाली प्रेमी गोपियों का आज्ञाकारी दास-सा बना दिखाई दे रहा है—अर्थात् भक्त गोपिकाएँ अपनी इच्छाके अनुसार उससे नाच नचा रही हैं। एक तरफ वह परमात्मा, बड़े बड़े इन्द्रादि देवोंका नियन्ता-शासक बना हुआ है, और दूसरी तरफ नौकरकी तरह अपने प्रिय भक्त अर्जुनके रथके घोडोंकी सफाई करनेमें लगा हुआ दीख रहा है। जो भगवान् विश्वविमोहिनी श्रीदेवीका ईश्वर है—स्वामी है, वही दरिद्र सुदामा भक्तके लाये हुए पृथुक-कणों (चिउडों-पौवों)को अति आदरके साथ कंगालकी भाँति खाता हुआ दिखाई दे रहा है। इस प्रकार परस्पर विरुद्धरूपसे प्रतीयमान उस भगवान्की श्री पादुकामें यह मेरी रचना मोतियाके पुष्पोंकी माला बनकर रहे।

'वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्,
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्,
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥'

जो श्रीकृष्ण हाथमें बंसी लिये हुए हैं, नूतन मेघके समान श्याम सुन्दर हैं, पीले-रेशमी वस्त्र पहने हुए हैं, लालवर्णके बिम्बफलके समान, जिनके मनमोहक अधर एवं ओष्ठ हैं, पूर्णिमाके चन्द्रमाके समान जिनका आह्लादक सुन्दर मुख है, तथा कमल पत्रके समान आकर्षक मनोहारी नेत्र हैं, उस श्रीकृष्णसे बढ़कर अन्य किसी तत्त्वको मैं नहीं जानता हूँ, अर्थात् श्रीकृष्ण ही परात्पर सनातन पूर्ण ब्रह्म तत्त्व हैं।

(१)

'मय्यासक्तमनाः पार्थ!, योगं युञ्जन् मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां, यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥'

(गीता ७।१)

सर्वान्तर्यामी परमदयालु भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको निमित्त बनाकर समस्त मानवोंके कल्याणार्थ स्व-ज्ञान प्राप्तिके साधनोंका उपदेश देते हैं—हे पृथापुत्र-पार्थ! तू मेरेमें आसक्त मनवाला बन, मुझमें योग जोड, तथा मेरा ही आश्रय कर। ऐसा करनेपर तू सशंयरहित होकर, मुझ परमात्माको समग्र रूपसे जान सकेगा। किस प्रकार तू जानेगा, वह तू सावधानी एवं श्रद्धापूर्वक सुन।

इस श्लोकमें आनन्द-निधि विश्ववन्द्य भगवान्ने अर्जुनके प्रति साध्य एवं साधनोंका उपदेश दिया। साधनोंके विना साध्यका लाभ नहीं होता। साध्य हैं—भगवान्का सम्पूर्ण यथार्थ ज्ञान। एवं साधन

हैं तीन। एक, भगवान्में ही मनको आसक्त बनाना। द्वितीय, भगवान्के लिए ही योग करना, एवं तृतीय, एकमात्र भगवान्पर ही विश्वास रखना, उनका ही आश्रय (शरण) सम्पादन करना।

'एक भरोसा एक बल, एक आश विश्वास।'

लोग कहते हैं—भगवान्में मनको कैसे आसक्त बनावें? हमारे मन तो सुन्दर युवति स्त्रियोंमें, भोगविलासोमें, धन-वैभवमें, लुभावने परिष्कृत भवनोंमें, सिनेमाओंमें, आदि आदि दुनियाके मोहक पदार्थोंमें ही अनादि कालसे आसक्त बने बैठे हैं, उधरसे हटानेपर भी नहीं हटते। क्या करें? जबतक वहाँसे मन न हटे, उनकी आसक्ति सर्वथा न छोडे, तबतक भगवान्में मनको आसक्त बनाना, आकाशकुसुमके समान असम्भव है।

उनका कहना यथार्थ है। परन्तु विवेकके द्वारा दुनियासे मनको हटा सकते हैं, भगवान्में आसक्त बना सकते हैं। विवेक एक बडा सामर्थ्यवान् साधन है। वह सब साधनोंका मूलभूत साधन है। विवेक है-गुणदोष-परीक्षण, सत्य एवं असत्यका पृथक्रूपसे विवेचन करना। 'विच्लृ'-पृथक्भावे धातुसे विवेक शब्दकी निष्पत्ति होती है। संसार क्या है? उसका क्या स्वरूप है? जिसमें हमारा मन, अनादि कालसे अविवेकवश आसक्त बना बैठा है, उसको यथार्थरूपसे समझना, एवं सर्वात्मा भगवान् क्या है? उसका वास्तविक स्वरूप क्या है? उसको शास्त्र एवं सद्गुरुके द्वारा यथार्थतः समझना, यह विवेक है।

जिस प्रकार—आप संसारके यावत् पदार्थोंके साथ विवेक रखते हैं, परीक्षण करते हैं। एक मकान बहुत पुराना है, जीर्ण-विशीर्ण है,

अन्धकार, मच्छर एवं दुर्गन्धिसे भरा है, शीघ्र गिरने वाला है। और दूसरा एक सुन्दर परिष्कृत भवन है, अभी नूतन मजबूत बना है, स्वच्छ है, मच्छर-दुर्गन्धि आदिसे रहित है, सभी प्रकारकी अनुकूलताओंसे युक्त है। आप इन दोनोंमेंसे किसको पसन्द करेंगे? किसमें मनको आसक्त बनायेंगे? आपके मनमें इन दोनों मकानोंके गुणदोषोंके विवेचनकी शक्ति है, इसलिए आप अवश्य ही उस खराब मकानसे आसक्ति छोडकर उस अच्छे भवनसे ही प्रेम करेंगे, उसमें ही निवास करनेकी अभिलाषा रक्खेंगे।

इस प्रकार आप बजारमें जाते हैं—अच्छी वस्तु ही खरीदते हैं—खराब वस्तुको नहीं लेते, प्रत्येक वस्तुके साथ विवेक रखते हैं, अच्छी वस्तुको ही पसंद करते हैं, खराबको नहीं।

वैसे ही यहाँ एक तरफ-अच्छीसे अच्छी वस्तु आनन्दनिधि परब्रह्म भगवान् हैं, एवं दूसरी तरफ खराबसे खराब वस्तु दुःखालय, अशाश्वत, क्षणभंगुर संसार है। भगवान्‌ने अर्जुनसे गीतामें यही कहा था—**'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।'** (९।३३) हे अर्जुन! यह लोक अर्थात् नामरूपात्मक—अविद्याध्यारोपित, मिथ्या जगत् अनित्य एवं सुखरहित है, यद्यपि इसके शब्दादि विषयोंमें कभी किसीको सुखका आभास होता है, परन्तु उनमें स्थायी सुख नहीं मिलता, उनका परिणाम, विरस एवं दुःख-भयसे युक्त होता है। इसलिए इनमें भी शाश्वत सुख नहीं है, ऐसा निश्चय कर, ऐसे लोकको प्राप्त करके तू उसमें आसक्त मत बन। आसक्ति करनेका भ्रान्तिके सिवाय और कोई कारण नहीं है। अतः तू एकमात्र, नित्य, अविनाशी, पूर्ण आन-

न्दनिधि मुझ परमप्रिय सर्वात्मा भगवान्का ही भजन कर, उसमें ही मनको आसक्त बना ।

'असुखं' की व्युत्पत्ति है– '**अविद्यमानं सुखं यत्र सः, तम्**' अर्थात् जिस प्रकार मरुभूमिमें वस्तुतः जल विद्यमान नहीं है, परन्तु भ्रान्त-हरिणोंको उसमें जलका भास होता है। इसलिए वे अविद्यमान जलसे प्यास बुझानेके लिए दोडते हैं, परेशान होते हैं, तथापि उनको जल नहीं मिलता, मिले कहाँसे ? होवे तब तो मिले, इसप्रकार इस नामरूपात्मक जगत्में भी वस्तुतः सुख विद्यमान नहीं है, तथापि भ्रान्त-जीवोंको इसके शब्दादि पदार्थोंमें सुखोंके आभास होते हैं। इनको प्राप्त करनेके लिए जीवनपर्यन्त, रात्रि-दिन अनेकविध चेष्टाएँ-दौडधूप करते रहते हैं। परन्तु उनको सुख मिलता ही नहीं; दुःखी ही बने रहते हैं। विद्यमान वस्तु मिलती है, अविद्यमान वस्तु कैसे मिल सकती है ? भले ही वह प्रतोयमान हो। शुक्तिकामें रजत प्रतीत होनेपर भी अविद्यमान होनेके कारण नहीं मिलता। अतएव श्रुति भगवती कहती है '**भूमैव सुखम्**' (छां-७।२३।१) भूमा, व्यापक, विभु महान् परमात्मा ही सुखरूप है '**नाल्पे सुखमस्ति**' (छां-उ) अल्प, क्षणभंगुर संसारमें सुख नहीं है।

इस प्रकारके यथार्थ-विवेकसे परिच्छिन्न-पदार्थोंसे सुखबुद्धिका परित्याग करने पर शनैः शनैः उनकी आसक्ति भी निवृत्त हो जाती है।

एवं संसारके इन शरोरादि-पदार्थोंमें सौन्दर्य बुद्धिका भी परित्याग करना चाहिए। सौन्दर्य बुद्धि भी आसक्तिका कारण है। जिन स्त्री-आदिके शरीरोंको आप सुन्दर आकर्षक समझते हैं, वे वस्तुतः हैं क्या?

उनका विवेचन (परीक्षण) कीजिये । एक पतलीसी चमडीने उनके भीतरके घृणित मालमसालोंको ढक रक्खा है, इसको चाकुसे हटानेपर इनकी सुन्दरताकी पोल खुल जा सकती है । जिन मांस, हड्डी, आदि गंदी चीजोंको कसाई खानेमें देखकर हम बहुत घृणा करते हैं, नाक-भों सिकोडते हैं, वेही चीजें इस पतली चमडीके भीतर भरी हैं, विचार करनेपर ये मल मांसके गन्दे थैले ही तो सिद्ध होते हैं, सृष्टिकर्ता परमात्माने इन शरीरोंको सुवर्ण-रजतादि धातुओंका एवं आरसपाषाणादिओंका न बनाकर अस्थि, मांस, रुधिर, पित्त, कफादि घृणित पदार्थोंसे निर्माण इसलिए किया है, कि इनकी असलियत को जानकर मानव इनमें अनुरागका परित्याग करेगा, यही परमात्माका अभिप्राय था । परन्तु हाय रे अविद्याकी भ्रान्ति ! ! तूने गजब ढा दिया, जिस रसायनसे रोगकी निवृत्ति होनी चाहिए थी, उसके द्वारा रोगकी अभिवृद्धि हो गई । परन्तु वारवार विवेकाभ्यासके द्वारा इस दुरूह भ्रान्तिको भी हटा सकते हैं। '**रंग लागत लागत लागत है, भ्रम भागत भागत भागत है ।**' अत एव विष्णुपुराणमें कहा है—

स्वदेहाशुचिगन्धेन, न विरज्येत यः पुमान् ।
विरागकारणं तस्य, किमन्यदुपदिश्यते ॥

जो मानव स्व-पर-देहोंके दुर्गन्धपूर्ण अशुचि पदार्थोंके अवलोकन कर उनसे रागरहित नहीं होते, उनको वैराग्यके लिए और क्या उपदेश दिया जाय ?

अर्थात् ये शरीर ही हमारे गुरु बनकर हमें उपदेश देते हैं । उपदेश लेनेवाला कोई चाहिए। संसारमें उपदेशक गुरु बहुत हैं, शिक्षा

लेनेवाले शिष्य कम हैं। ये शरीर परिवर्तनशील हैं, इनकी सदा एकसी स्थिति नहीं रहती। बालक शरीर कभी युवा हो जाते हैं, युवा शरीर बुड्ढे हो जाते हैं, बुड्ढे कभी मर जाते हैं, मिट्टीके पुतले मिट्टीमें मिल जाते हैं। स्वस्थ शरीर कभी रोगग्रस्त हो जाते हैं, सबल एवं रमणीय शरीर, दुर्बल तथा रमणीयताहीन हो जाते हैं। ये किसीके नहीं होते। बापके भी नहीं हुए, उसके बापके भी नहीं हुए, तब तेरे कैसे हो सकते हैं? अतः तू इनसे अनुराग छोड दे।

अवधूत शिरोमणि दत्तात्रेयजीने भी चौवीस गुरुओंसे अतिरिक्त इस शरीरको भी अपना शिक्षक गुरु बनाया था। वे कहते हैं—

'देहो गुरुर्मम विरक्तिविवेकहेतुः,
विभ्रत्स्म सत्त्वनिधनं सततार्त्युदर्कम्।
तत्त्वान्यनेन विमृशामि यथा तथापि,
पारक्यमित्यवसितो विचराम्यसङ्गः॥'
(भा. ११-९-२५)

यह शरीर भी मेरा शिक्षक गुरु है, इसके यथावत् आलोचनसे यह मेरे विवेक और वैराग्यका हेतु हुआ है। इसके उत्पत्ति एवं विनाश ही धर्म हैं। यह कहता है—मैं पैदा हुआ हूँ, इसिलिए अवश्य मरूँगा ही, संयोगका पर्यवसान वियोगमें ही होता है, इसकी यह शिक्षा दे रहा है। तथा निरन्तर अनेकविध कष्ट पाना ही इसका उत्तरोत्तर फल है। यद्यपि यह मेरा उपकारी है, क्योंकि—इसके द्वारा हरदम मैं तत्त्वचिन्तन करता रहता हूँ, तो भी मेरा यह निश्चय है कि—यह मेरा नहीं है, पराया है, स्यार कुत्ते आदिका भक्ष्य है, अतः मैं इससे मैंपनका तथा मेरेपनका परित्याग कर, असंग होकर मस्त बना विचरता हूँ।

अन्यत्र भी कहा है—

'यदन्तरस्य देहस्य, बहिः स्याच्चेत्तदेव हि।
दण्डग्रहाः वारयेयुः, शुनः काकाँश्च मानवाः ॥'

जो घृणित मालमसाले इस शरीरके अन्दर भरे हैं, वे यदि बाहर हो जाँय, तब तो इसकी सभी सुन्दरता-आकर्षकता गायब हो जाय, सबको अपने हाथ में एक एक दण्डा रखना पडे, क्योंकि—कुत्ते एवं कौवोंका-मिष्टान्नकी खुली हुई दुकानके समान एकसाथ आक्रमण हो जाय, उनको हटाना कठिन पड जाय। अतः—

'इदं शरीरं कृमिजालसंकुलं, स्वभावदुर्गन्धमशौचमध्रुवम्।
रुजायुतं मूत्रपूरीषभाजनं, रमन्ति मूढा न रमन्ति पण्डिताः ॥'

यह शरीर असंख्य नानाविध कीटोंके समुदायसे समाक्रान्त है, स्वभावसे ही दुर्गन्धयुक्त है, इसकी वास्तविक शुद्धि नहीं होती। जलादिसे आपाततः शुद्धि होती है। यह अध्रुव है, कभी न कभी इसका विनाश हो ही जाता है, अनेक रोगोंका निधि है, 'शरीरं व्याधिमन्दिरं' कहा है। मल मूत्रका पात्र है-थैला है, इसमें मूढ अविवेकी ही रमण करते हैं, अहं-मम भाव तथा अनुराग रखते हैं, विवेकी-तत्त्वदर्शी इसमें रमण नहीं करते, दृक्-दृश्यके विवेक द्वारा इससे अहंममभावका परित्याग करते हैं, इस विनाशी एवं अशुचिके पुतलेमें अनुराग नहीं रखते।

धनादि वैभव भी अनर्थके ही हेतु होते हैं, उपार्जनके समय अनेक प्रकारके पाप करवाते हैं, मिलने पर तृष्णा-चिन्ता बढ़ाते हैं, व्यय एवं क्षय होनेपर महान् संताप देते हैं, इसलिए जगद्गुरु आचार्यश्री शंकर-स्वामीने कहा है—**'अर्थमनर्थं भावय नित्यं, नास्ति ततः सुख-**

लेशः सत्यम्' इस धनादि अर्थको सुखका हेतु मत समझ, दुःखोंके कारण होनेसे अनर्थ ही समझ, इसमें अनर्थकी भावना कर, इससे सुखका लेश भी नहीं मिलता, यह यथार्थ बात है।

इस संसारके सभी पदार्थ, परिवर्तनशील हैं, आज कुछ और हैं, कल कुछ और होजाते हैं, आज हम जिनको अमृतके समान प्रिय समझते हैं, वे कल ही विषके समान अप्रिय होजाते हैं, संसारमें कदापि एकसी स्थिति नहीं रहती, परस्पर विरुद्ध भावोंका आवागमन ही संसार है, कभी सुख आता है, तो कभी दुःख। अतएव कहा है—'**सर्वे भावाः क्षणपरिणामिनः ऋते चितिशक्तेः**' एकमात्र चेतनशक्तिको छोडकर संसारके सभी पदार्थ क्षण क्षणमें बदलते रहते हैं, युवावस्थाकी मस्ती कुछ रोज रहती है, देखते देखते ही बुढ़ापा आ धमकता है। बुढ़ापेमें युवावस्थाकी सभी बातें याद आती हैं, जिनको याद कर बुड्ढा मूर्खतावश शोकसन्तप्त होता है। एक वृद्धने मुझे कहा था—महाराज ! मैं जब जवान था, तब घोडेकी तरह धमकता हुआ चलता था, दाँत खूब अच्छे थे। खूब खाता था, सब हजम होजाता था। अब मैं बुड्ढा हो गया, चला नहीं जाता, दाँत सब गिर गये, खाया नहीं जाता, हजम नहीं होता, शरीरकी अक्कड-चमड़ी ढीली पड गई। हायरे-बुढापा ! वह अपने घटपनको देखकर बडा दुःख एवं शोक प्रकट करता था। हमने कहा—तुम शरीरकी आसक्ति छोडो, भगवान्का भजन करो। वह मुँह बिगाडकर कहने लगा—महाराज ! मनीराम जवान होना चाहता है। हमने कहा-तब वार वार मरो और पैदा होओ, और दुःख भोगो। मनीराम जब मानता नहीं, तब और क्या हो

सकता है ?। इसप्रकार अविवेकी मूढ़ लोग अनेक प्रकारके सन्तापोंका अनुभव करते हैं। विवेकी-विचारवान् ही इन सन्तापोंसे मुक्त होकर शान्ति एवं आनन्दका अनुभव करता रहता है। विवेकके विना संसारके इन परिवर्तनशील शरीरादि पदार्थोंसे आसक्ति नहीं हटती। '**मोह गये बिनु रामपद, होय न दृढ अनुराग।**' यह निश्चित सिद्धान्त है।

दो मंजिलेवाले मकानमें एक ही पानीका नल ऊपर एवं नीचे लगा है। नीचेका नल जब तक खुला रहता है, तब तक ऊपरमें पानी नहीं जाता। ऊपरवाला चिल्लाता है-अरे ! नीचेका नल बन्द करो, ऊपर पानी आने दो। ऊपर पानी तब ही जाता है, जब नीचेके नलको बंद करते हैं। इसप्रकार यह मनीराम भी एक प्रकारका नल है। जो अनादि कालसे संसारकी तरफ बह रहा है। वह ऊर्ध्वमूल भगवान्की तरफ तभी बह सकता है, जब अधःशाखावाले संसारकी तरफका उसका वहन बन्द हो जाय। उसका वहन बंद करनेके लिए एक मात्र विवेक ही समर्थ है। विवेकके सामर्थ्यसे ही वह संसारकी आसक्ति एवं चिन्तनको छोड कर, भगवान्में ही आसक्ति कर सकता है। यह नियम है—जिसमें हमारी आसक्ति हो जाती है, उसका ही हमारा मन, सतत चिन्तन करता रहता है। इसलिए निश्चय एवं भावना करनी चाहिए कि-यह असार संसार, असत्य, असुन्दर एवं सुखरहित है, एकमात्र सर्वात्मा परब्रह्म भगवान् ही सत्य हैं, सुन्दर हैं, सुखपूर्ण हैं। इस प्रकारके दृढ विवेकसे अवश्य ही भगवान्में मन आसक्त हो जायगा। भगवान्में मनकी आसक्ति ही भगवत्-तत्त्वज्ञान प्राप्तिका प्रथम साधन है।

'तुलसीदास हरिकी करुणा बिनु, बिमल बिवेक न होई।
बिनु बिवेक संसार घोरनिधि, पार न पावे कोई॥'

तत्त्वज्ञान प्राप्तिका द्वितीय साधन है—"मयि योगं युञ्जन्" भगवान्में कर्मयोगका सम्बन्ध करना। जो कुछ है—वह सब भगवान्का ही है, मेरा कुछ नहीं, मैं और किसीका नहीं, केवल भगवान्का हूँ, भगवान् मेरे हैं।

"मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागत है मेरा ?॥"

ऐसा निश्चय रखना, ऐसी सतत भावना रखनी।

यह जगत् भगवान्का बगीचा है, भगवान् इसके मालिक हैं, मैं केवल भगवान्की आज्ञासे माली बनकर यहाँ काम करने आया हूँ। मैं काम करनेवाला माली हूँ, मालिक नहीं। मालिक बनोगे, तो दुःख भोगोगे, रोओगे, माली बनोगे तो आनन्दका अनुभव करोगे, सदा हँसते रहोगे। इसलिए माली बने रहो, मालिक मत बनो। यह सभी शास्त्रोंका एवं समस्त मतोंका एक ही निश्चय है कि-भगवान् ही-चाहे उसे किसी भी नामसे कहो—निखिल जगत्के मालिक हैं, स्वामी हैं, ईश्वर हैं, उनकी इच्छाके अनुसार ही जगत्में सभी कार्य होते रहते हैं। जीवोंकी इच्छासे कुछ नहीं होता। इसलिए विवेकी सदा भगवदिच्छामें ही प्रसन्न रहता है। अपनी पृथक् इच्छा करके दुःखी नहीं होता। अतएव किसी भक्तने भगवान्से कहा है—

"तुम्हरी इच्छा होत हैं, जब प्रियतम दिनरात।
मेरी इच्छा करनकी, रही कौनसी बात॥
तुम्हरी इच्छामें प्रभो! है मेरा कल्याण।
मेरी इच्छा मत करो, मैं मूरख नादान॥"

इसलिए मैं और मेरा भाव छोडकर एकमात्र आनन्द-निधि भगवान्‌की प्रसन्नताके लिए ही कर्तव्य समझकर कर्म करते रहना चाहिए। यही गीताका निष्काम कर्मयोग है। कर्मका सर्वथा परित्याग कोई भी नहीं कर सकता। परन्तु हम कर्तृत्वके अभिमानका एवं फलासक्तिका विवेक वैराग्यद्वारा परित्याग कर सकते हैं। यही गीताकी '**ब्रह्मकर्म-समाधि**' है। ब्रह्मके लिए कर्म करना, सबमें ब्रह्मकी भावना करते रहना, सदा सर्वत्र ब्रह्मके आनन्दका अनुभव करना, यही ब्रह्मकर्म-समाधि है।

समाधिके लिए तुम्हें दुनियासे भागनेकी आवश्यकता नहीं। दुनिया कहाँ नहीं है? मनके भीतर भी तो दुनिया ही भरी हुई है। जिधर भी भागोगे, वहाँ मनीरामबाबा तो साथ ही रहेगा। यह सभी फसादों (उपद्रवों) की जड़ है। सभीको—त्यागी विरागीको भी थोडा बहुत दुनियाके भीतर रहना ही पड़ता है। अर्जुन भी कर्तव्य-पालन छोडकर हिमालय भागना चाहता था। भगवान्‌ने अर्जुनको यथार्थ ज्ञानका उपदेश दिया। अर्जुन समझ गया कि—हम अपने कुशलता-पूर्वक पालन किये हुए कर्तव्योंसे ही समाधि-सुखका अनुभव कर सकते हैं। हम दुनियाको नहीं बदल सकते। परन्तु विवेक विचारद्वारा अपने मनको तो बदल सकते हैं। जिसने अपने मनको बदल दिया, उसने समग्र संसारको बदल दिया। समग्र पृथिवीको हम निष्कण्टक नहीं बना सकते, परन्तु हम मजबूत जूते पहन लें, तो हमारे लिए समग्र पृथिवी निष्कण्टक हो सकती है। कहा है—'**उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मवृतैव भूः।**' समग्र पृथवीको कोई चर्मसे आवृत नहीं कर

सकता, परन्तु हम अपने पैरोंको चर्मसे आवृत कर सकते हैं। जिसने अपने पैरोंको चर्मसे आवृत कर लिया, उपानत् पहन ली, उसके लिए निश्चय समझो कि— निखिल पृथिवी चर्मसे आवृत हो गई है। क्योंकि अब इसको कण्टक वेध नहीं कर सकता, भले ही वह कण्टकोंके मध्यसे क्यों न चलता रहे?।

'योगः कर्मसु कौशलम्' (२।५०) यह गीताका सिद्धान्त है। कर्म करनेकी कुशलताका नाम योग है। कर्म हमें करने हैं, परन्तु उनमें ऐसी कुशलता रखनी है कि—वे बन्धनके हेतु न बनकर मुक्तिके हेतु बनें। मुक्तिके हेतु, वे तभी हो सकते हैं, जब भगवान्‌के लिए किये जाँय, भगवान् ही कर रहे हैं, करवा रहे हैं, मैं नहीं कर रहा हूँ, ऐसा भाव रहे। कर्तृत्वके अभिमानके अभावका यह एक विशुद्ध भाव है। जब मैं कर्ता नहीं, तब फलकी अभिलाषा क्यों रक्खूँ?। समस्त फलोंका फल-रूप-साररूप एकमात्र भगवान् ही हैं, उनको ही मैं चाहता हूँ, उनकी प्रसन्नताके लिए ही मैं कर्तव्यका पालन उनकी इच्छाके अनुसार कर रहा हूँ। मैं यन्त्र हूँ, वे यन्त्री हैं। मोटर, ड्राईवरके अधीन होती है, ड्राईवरकी जैसी इच्छा हो, वैसे मोटरके पहियेको घुमावे। मोटरको चूँ-चा करनेका कुछ अधिकार नहीं। जैसी तेरी इच्छा हो, इधर भी वाहवाह, उधर भी वाहवाह। चूपचाप मस्त होकर, आनन्दप्रसन्न रहकर कर्तव्य करते जाना, सभी क्रियाओंका लक्ष्य एकमात्र भगवान् ही हैं, यही निश्चय रखना। यही भगवान्‌के लिए कर्म करना है।

इस विषयमें जाजलि एवं तुलाधारका वृत्तान्त बहुत उपयुक्त है। जाजलि एक ऋषि था, अपने कर्तव्य पालनसे विमुख होकर तप करनेके

लिए समुद्र तटपर चला गया था। वहाँ उसने खूब कायाकष्टरूप तप किया। तपश्चर्यामें कई वर्ष व्यतीत हुए। उसकी जटाओंमें पक्षियोंने घोंसला बनाया। उसमें अण्डे दिये। अण्डोंसे बच्चे पैदा हुए, वे बड़े होकर उड गये, तो भी जाजलिको पता नहीं चला, ऐसी उसकी तपश्चर्यामें निमग्नता थी। परन्तु उसकी तपश्चर्या भगवद्भक्ति एवं ज्ञान विहीना थी। इसलिए उसको तपश्चर्यासे बडा अहंकार हो गया। अपनेको सबसे बड़ा तपस्वी मानने लगा। तपश्चर्यासे अनेकविध सिद्धियाँ भी प्रकट होने लगीं। किसीको प्रसन्न होकर वरदान देने लगा, तो किसीको नाराज होकर शाप देने लगा। उसके शाप एवं वरदान तुरन्त सफल हो जाते थे। लोग उसको बडा सिद्ध महात्मा मानने लगे। अहंकारसे, वरदानसे, शापसे, एवं क्रोधसे तपश्चर्याका नाश हो जाता है।

एक रोज वह वृक्षके नीचे बैठा था। ऊपरसे एक अनजान पक्षीने उसके मस्तक पर वीट कर दी। उसको पक्षीके ऊपर बड़ा क्रोध आया। उसने क्रोधभरी दृष्टिसे पक्षीको देखा, पक्षी तुरन्त भस्मीभूत हो गया। उसको बडी प्रसन्नता हुई। जिस तपश्चर्याके द्वारा अहंकार-क्रोध आदि दोषोंकी निवृत्ति होनी चाहिए थी, परन्तु अज्ञानके कारण उससे इन दोषोंकी अभिवृद्धि हुई। उस समय उसके सौभाग्य से आकाशवाणी हुई- 'हे जाजले! तेरा तप तुच्छ है, अज्ञानपूर्ण है, क्रोधादिसे उसका विनाश हो जा रहा है। काशी-निवासी तुलाधारका सर्वोत्तम तप है, ज्ञानपूर्ण है, वह विनय प्रेम आदि सद्‌गुणोंका विकासक तथा अहंकार क्रोध आदि दोषोंका विनाशक है। तू उसके पास जा, उसको शिक्षा-गुरु बना, उससे शिक्षा ग्रहण कर। व्यर्थ अहंकार एवं क्रोधका परित्याग कर।

आकाशवाणी सुनकर जाजलि काशी पहुँचा। काशीमें जाकर तुलाधारके गृहका पता लगाया। दूरसे जाजलि ऋषिको आता देखकर तुलाधारने परिचितकी तरह-'आइये, पधारिये ! हे जाजलि ऋषि ! आपका स्वागत है,' ऐसे मधुरवाणीसे बोलकर अभ्युत्थित होकर जाजलि ऋषिका प्रसन्नतापूर्वक सत्कार किया। अच्छे आसन पर बैठाकर उसका समग्र वृत्तान्त कह सुनाया। जाजलिको बडा आश्चर्य हुआ कि-इसको मेरे जीवनके समग्र वृत्तान्तका ज्ञान कैसे हो गया?। यह तो घरमें रहता हुआ, व्यापारीका कार्य करता हुआ भी सर्वज्ञाता बन गया, और मैं वनमें रहकर, घोर तपश्चर्यामें निरत हुआ भी कुछ नहीं जानता हूँ। जाजलिका अहंकार गल गया। विनयके साथ उनसे पूछा कि-आपने घरमें रहते हुए कौनसा तप किया है? जिससे आपको सर्वज्ञातृत्वकी सिद्धि हुई।

तुलाधारने प्रेमसे कहा-भगवन् ! मैं सिर्फ भगवान्‌की प्रसन्नता—के लिए अपने कर्तव्य-कर्मका पालन करता हूँ, भगवान्‌की इच्छामें प्रसन्न रहता हूँ, भगवान् ही इस सबके मालिक हैं, मैं तो सिर्फ उनका आज्ञाधारी माली बनकर उनके बगीचेमें काम करता रहता हूँ। इसलिए सभी प्रकारके सांसारिक शुभाशुभ द्वन्द्वोंमें अपने मनको सन्तुष्ट एवं प्रसन्न रखता हूँ। मेरी सभी क्रियाओंका लक्ष्य एकमात्र भगवान् ही रहता है। इसलिए मेरी सभी क्रियाएँ पुण्यमय ही होती हैं। सभी शरीरोंमें एकमात्र भगवान् ही द्रष्टारूपसे विराजमान हैं, ऐसा समझकर सबका मैं हित चाहता हूँ। किसीका बुरा नहीं चाहता। जो किसीका बुरा नहीं चाहता, नहीं कहता, नहीं करता, उसका कभी बुरा नहीं

२

होता। इसलिए मेरे जीवनका यही व्रत हो गया है-सबका भला चाहना, सबकी भलाईमें ही अपनी भलाई मानता हूँ। अच्छे, सदाचारी, भक्त, ज्ञानवान्, श्रेष्ठ पुरुषोंकी संगति करता हूँ। कानोंसे उनके कल्याणकारी उपदेशोंको सुनता हूँ। आँखोंसे भद्रस्वरूप भगवान्का सब विश्वमें दर्शन करता हूँ। तथापि मैं अपने कर्तव्यसे कभी विमुख नही होता। वृद्ध मातापिताकी देवके समान भक्तिपूर्वक सेवा करता हूँ। सदाचार, सद्विचार, सन्तोष एवं शान्ति ही मेरा जीवन है, यही मेरा तप है, उससे ही सर्वान्तर्यामी भगवान् मुझ पर प्रसन्न हैं।

तुलाधारने पुनः अपने हस्तके संकेतसे एक पिंजरेको बताते हुए कहा कि भगवन्! ये वे ही पक्षीके बच्चे हैं—जो आपकी जटामें समुद्रतट पर पैदा हुए थे। ये पक्षी भी मेरे यहाँ रहकर भगवत्कृपासे बडे ज्ञानवान् बन गये हैं। वे भी आपसे कुछ कहना चाहते हैं, कृपया आप उनके भी कुछ शब्द सुनें। ऐसा कहकर उस पिंजरेको जाजलिके समीप रक्खा, तब वे पक्षी प्रसन्न होकर उपदेश देने लगे—

'वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां,
गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः।
अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते,
निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम्॥'

रागी—अज्ञानियोंको वनमें भी अनेक प्रकारके अहंकार, क्रोधादि दोष उत्पन्न हो जाते हैं। परन्तु गृहमें रहता हुआ भी जो विवेक-विचारद्वारा विषयोंके रागका निवारणकर पाचों इन्द्रियोंका निग्रह करता है-इन्द्रियोंको निषिद्ध-विषयोंकी तरफ जाने नहीं देता, यह उसका

बडा भारी तप है। जो प्रभुकी प्रसन्नताके हेतु कर्म करता है–उसके सभी कर्म अकुत्सित यानी पवित्र हो जाते हैं, इस प्रकार रागरहित मनुष्यका गृह ही तपोवन बन जाता है।

पक्षिओंका एवं तुलाधारका भाषण सुनकर जाजलि ऋषिकी आँखें खुल गईं। वह ज्ञानहीन तपका त्यागकर ज्ञानभक्तिपूर्ण स्वकर्तव्य पालनरूप तप करने लगा। आचार्य शंकरने कहा है–

'स्ववर्णाश्रमधर्मेण, तपसा हरितोषणात्।
साधनं प्रभवेत्पुंसां, वैराग्यादिचतुष्टयम्॥'

अपने वर्ण एवं आश्रमके धर्मका-कर्तव्यका पालन करना ही तप है, उससे श्रीहरि परमात्मा सन्तुष्ट होते हैं। भगवत्कृपासे ही मानव तत्त्वज्ञानके वैराग्यादि साधन चतुष्टयको प्राप्त करता है।

इसप्रकार भगवान्ने अर्जुनके प्रति 'मयि योगं युञ्जन्' इस तत्त्वज्ञानके द्वितीयसाधनका उपदेश दिया।

'मदाश्रयः' यह तृतीय साधन है। भगवान्का ही आश्रय रखना, सदा भगवत्परायण रहना, भगवद्विश्वास जीवनको सर्वदा सन्तुष्ट रखता है। भगवच्छरणागति महान् धर्म है। '**मुमुक्षुर्वै शरण-महं प्रपद्ये।**' (श्वे. उ. ६।१८) यह वेदोंका आदेश है। अतएव मुमुक्षु बनो, संसारके दुःख, भय एवं बन्धनोंसे छुटनेकी प्रबल इच्छा रखना ही मुमुक्षुता है। मुमुक्षु बने विना भगवच्छरणागतिका अधिकार नहीं मिलता। इसलिए मैं मुमुक्षु बनकर भगवान्की शरण ग्रहण करता हूँ, ऐसी भावना रक्खो। भगवच्छरणागति यानी भगवान्की गोदमें बैठना। जिस प्रकार एक छोटासा बच्चा अपने पिताकी गोदमें बैठा हुआ,

मस्त रहता है, घभराता नहीं, किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं करता, इस प्रकार भगवच्छरणापन्न भक्त सदा मस्त रहता है, संसारकी विषम परिस्थितिओंसे भी घभराता नहीं, निश्चिन्त रहता है। धैर्य एवं उल्लासके साथ सदा सर्वत्र भगवान्के पावन नामामृतका रसास्वादन करता रहता है। इसलिए—

'यौवनं धनमायुष्यं पद्मिनीजलबिन्दुवत्।
अतीव चपलं ज्ञात्वा, अच्युतमेकं समाश्रयेत्॥'

यौवन, धन एवं आयुष्यको कमलिनीके ऊपर रहे हुए जल-बिन्दुकी तरह अत्यन्त ही चपल—विनाशी जानकर एकमात्र अच्युत-अविनाशी भगवान्का ही आश्रय ग्रहण करना चाहिए।

मीरा भगवान्की अनन्याश्रयतापन्न भक्ता थी। निरन्तर भगवत्स्मृतिमें ही मस्त रहना, यही उसका जीवन था। '**मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई रे!**' यही उसकी प्रबल भावना थी। इसलिए वह अपने विरुद्ध-लौकिक वातावरणकी भी कुछ परवाह नहीं करती थी। वह प्रभुप्रेममें मस्त बनी कहती थी—

'क्या करेगी दुनिया पागल, होणी होय सो होई।
जो मरजी नन्दलालकी, बात बनेगी सोई॥'

मेवाडका राणा, विरुद्ध बातें सुनकर मीरासे बडा द्वेष कर रहा था। '**साधुसंग बैठ बैठ लोकलाज खोई।**' यह मीराका व्यवहार उसको बहुत बुरा मालूम पडता था। कई वार मना करनेपर भी जब मस्तानी मीराने नहीं माना, तब राणा अत्यन्त क्रुदध होकर मीराको मारनेकी कोशीश करने लगा। एक प्याला जलका जहर मिलाकर

मीराके समीप 'यह भगवान्का चरणामृत वृन्दावनसे आया है।' ऐसा कहकर भेज दिया। मीराका हृदय अत्यन्त भावुक था। वह किसीको अपना विरोधी मानती ही नहीं थी। चरणामृतका नाम सुनकर वह अत्यन्त प्रेमविभोर हो गई।

'विषको प्यालो भेजियो, मीराजीके हाथ।
कर चरणामृत पी गई, लेकर हरिका नाम॥'

भावुक निर्मल हृदयका पावन हरिनाम, विषको अमृत बना सकता है। भगवान्के नाममें बडी सामर्थ्य है, परन्तु हृदयमें भी कुछ सामर्थ्य होनी चाहिए। हृदयकी सामर्थ्य विना नामका सामर्थ्य तिरोहित रहता है, प्रकट नहीं हो सकता। भगवान्का ही एकमात्र आश्रय, उसपर प्रबल विश्वास, उसमें ही अनन्य प्रेम, प्रत्येक श्वास हरिनामकी पावन स्मृतिसे युक्त, अन्तर्बहिः—सर्वत्र भगवद्भावसे भराहुआ मानस, यही हृदयकी सामर्थ्य है। इस सामर्थ्यवाले हृदयसे मीराने भगवान्का नाम लेकर विषका पान किया था—चरणामृतकी प्रबल भावना वश। यह सर्व शास्त्रोंका निश्चित सिद्धान्त है—**यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी।'**

पुनः राणाने करण्डमें एक विषधर सर्पको बन्दकर 'नारायणी—गंडकी नदीसे यह श्रीशालीग्राम आया है, पूजा करनेके लिए तुम्हें भेजा ज़ा रहा है'—ऐसा कहकर भेजा। मीरा करण्डको लेकर बडी प्रसन्न हुई। हृदयमें अविश्वासका लेश भी नहीं था। बिश्वासमें बडी शक्ति है। करण्ड प्रेमके साथ खोला गया, कृष्ण सर्प, कृष्णवर्णका शालीग्राम बन गया। ये सब भगवदाश्रयताके चमत्कार हैं। इनमें 'ननु-नच'का कुछ

अवकाश नहीं। सर्वशक्तिमान् भगवान् अपने भक्तोंके लिए क्या क्या नहीं करते ?। सब कुछ-असंभवको भी संभव कर सकते हैं।

इसप्रकार भगवान्में ही आसक्त मनवाले, भगवान्के लिए ही कर्म करनेवाले, एवं भगवान्की ही आश्रयतामें रहनेवाले-भक्तों पर भगवान् विमल अनुग्रह करते हैं। भगवत्कृपासे भक्तजन-भगवान्के समग्र स्व-रूपको यथावत्-संयशरहित जानते हैं।

भगवत्स्वरूपका संशयरहित ज्ञान होना बड़ा दुर्लभ है। बडे वडे पण्डितोंको भी शास्त्रके सिद्धान्त--ज्ञानमें निश्चय नहीं रहता। काशीके एक बडे प्रकाण्ड वेदान्ती पाण्डत थे। बडे प्रेमसे वेदान्त पढ़ाया करते थे। एकरोज वे कहने लगे-'**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः।**' इस वाक्यको मैं कहता तो हूँ, परन्तु उसके अर्थका मुझे निश्चय नहीं है। उसमें मुझे संशय बना रहता है। क्या यह यथार्थ ही होगा ? कुछ समझमें नहीं आता। जब एक शास्त्रज्ञ-पण्डितकी ऐसी दशा है, तब साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या करना ? अत एव कठोपनिषद्में यथार्थ कहा है कि-

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः, तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्॥'
(१।२।२३)

यह अन्तरात्मा परब्रह्म; वेदादि शास्त्रोंके केवल अध्ययन, अध्यापनद्वारा प्राप्त होनेयोग्य नहीं है। और न धारणाशक्तिरूप मेधासे, एवं न अधिक श्रवणसे ही प्राप्त हो सकता है। किन्तु जो साधक उसका वरण करता है अर्थात् उसकी प्रार्थना करता है—उसको सच्चे हृदयसे चाहता

है, उससे ही वह प्राप्त किया जासकता है। उसके ही प्रति-चाहे वह शास्त्रज्ञ पण्डित न भी हो, यह अन्तरात्मा अपने समग्रस्वरूपको यथावत् अभिव्यक्त कर देता है।

आचार्य श्री शंकरस्वामीने भी विवेक-चूडामणिमें कहा है—

'वाग्वैखरी, शब्दझरी, शास्त्रव्याख्यानकौशलम्।
वैदुष्यं विदुषां तद्वत्, भुक्तये न तु मुक्तये॥'

शास्त्रज्ञ पण्डितोंकी लच्छेदार वैखरी वाणी, प्रवचनमें मनोरंजक—शब्दोंकी झडी, एवं शास्त्रोंके व्याख्यानकी कुशलता, कोरे विद्वानोंका यह वैदुष्य, सिर्फ 'अन्य वणिकोंकी भाँति' भोगप्राप्ति एवं धनादिलाभके लिए ही होता है, मुक्तिके लिए नहीं। मुक्तिके लिए साधनोंकी आवश्यकता होती है, शब्दोंके आडम्बर मात्रसे मुक्ति नहीं मिल सकती।

भगवत्कृपाका फल तत्त्वज्ञान है। लोग, मूर्खतावश भगवत्कृपाका फल लौकिक स्त्री-पुत्र-धनादिका लाभ मानते हैं, परन्तु यह पुण्योंका फल है, भगवत्कृपाका नहीं। अतएव भगवानने स्वयं गीतामें कहा है—

तेषां सततयुक्तानां, भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं, येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थ—महमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥' (१०।१०—११)

निरन्तर मेरे चिन्तनमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक मेरा भजन करने-वाले उन भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मेरेको ही प्राप्त होते हैं। और उन भक्तों पर अनुग्रह करनेके लिए ही मैं स्वयं उनके अन्तःकरणमें एकीभावसे-चिदात्मरूपसे स्थित हुआ अज्ञा-

नसे उत्पन्न हुए मिथ्याज्ञानरूप अन्धकारको प्रकाशपूर्ण तत्त्वज्ञानरूप दीपद्वारा नष्ट कर देता हूँ ।

अतएव भगवान् अर्जुनकी साधन-सम्पत्तिद्वारा प्रसन्न होकर अर्जुन पर अपना अनुग्रह अभिव्यक्त करनेके लिए आदरपूर्वक तत्त्वज्ञानका उपदेश देने लगे ।

(२)

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥
(गीता ७ । २)

आनन्दकन्द प्रभु श्रीकृष्ण, अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार अर्जुनको निमित्त बनाकर तत्त्वज्ञानका उपदेश देते हैं । हे अर्जुन ! मैं तेरे लिए विज्ञानसहित तत्त्वज्ञानको सम्पूर्णरूपसे कहूँगा—जिसको जानकर संसारमें फिर और कुछ भी जाननेयोग्य शेष नहीं रह जाता ।

यहाँ ज्ञानका अर्थ—शास्त्रप्रतिपादित विद्वान् गुरुद्वारा उपदिष्ट यथार्थ असंदिग्ध परोक्ष ज्ञान, तथा विज्ञानका अर्थ-विपरीत भावनादि—प्रतिबन्धरहित अपरोक्ष अनुभवज्ञान, समझना चाहिए ।

केवल परोक्षज्ञानसे अपरोक्ष—अविद्याभ्रान्तिकी निवृत्ति नहीं होती । अपरोक्षभ्रान्तिके समक्ष परोक्ष ज्ञान दुर्बल है । परोक्ष ज्ञानसे ज्ञेय-तत्त्वकी स्मृति तो हो सकती है—परन्तु साक्षात्कार नहीं हो सकता । अपरोक्ष ज्ञानसे ही ज्ञेयका यथावत् सम्पूर्णतया साक्षात्कार होता है । परोक्षज्ञानसे अभीप्सित लाभ भी नहीं मिलता । आप जानते हैं कि—इस भूमिके

अन्दर जल भरा है—यह आपका ज्ञान यथार्थ है—सन्देह रहित है, परन्तु इसके भरोसे बैठकर आप प्यास बुझा नहीं सकते, रूक्ष पृथिवीको आर्द्र एवं हरियाली नहीं बना सकते। इस परोक्षज्ञानको प्रयत्नसे अपरोक्ष बनाना होगा। जलके ऊपर रहे हुए मृत्तिकाके स्तररूप आवरणोंको हटाना होगा, तभी ही आप अभीप्सित लाभ संपादन कर सकते हैं।

लकडीमें-वृक्षमें अग्नि है, यह आपका यथार्थ ज्ञान है, परन्तु परोक्ष होनेके कारण उससे आप ठंडी नहीं हटा सकते, रसोई नहीं बना सकते हैं। घर्षणके द्वारा परोक्ष अग्निको-आवृत अग्निको अपरोक्ष एवं अनावृत बनाना होगा, तभी ही उससे आप ठंडी हटा सकते हैं, रसोई बना सकते हैं।

इस प्रकार ज्ञानको विज्ञान बनाना चाहिए—ज्ञानको विज्ञान बनानेके लिए ध्यानकी अपेक्षा होती है। इसी ध्यानको वेदान्तमें निदिध्यासन कहते हैं। अतएव भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि—'**ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते**' (१२।१२) ज्ञानकी अपेक्षा ध्यान श्रेष्ठ है—क्योंकि ध्यानके विना परोक्षज्ञान अपरोक्ष नहीं होता, प्रतिबन्ध-आवरणोंकी निवृत्ति नहीं होती। इसलिए कहा है—

'**ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।**' (गी. १३।२४)

घटपटादि विजातीय-प्रत्यय (वृत्तिप्रवाह)के अन्तरायसे रहित चिदात्मा-ब्रह्मविषयक सजातीय प्रत्ययोंका प्रवाहरूप सतत आत्मचिन्तनका नाम ही ध्यान है—यह श्रवण एवं मननका फल है। इसके द्वारा ही हम अपने आपमें अपने आपका साक्षात्कार करते हैं। अथवा अपनी

एकाग्र-बुद्धिमें अपने संस्कृत मनके द्वारा प्रत्यगभिन्न-ब्रह्मका अपरोक्ष अनुभव करते हैं।

इस प्रकार भगवान् विश्वात्माके पूर्ण स्वरूपको—शास्त्र एवं गुरुके द्वारा जानकर एवं ध्यानके द्वारा अपरोक्ष अनुभवकर इस जगत्में फिर और कुछ भी जाननेयोग्य शेष नहीं रह जाता। '**ज्ञातव्यं नावशिष्यते**' के साथ '**कर्तव्यं नावशिष्यते**' भी समझना चाहिए। जिस प्रकार ज्ञातव्य कुछ बाकी नहीं रहता, उस प्रकार कर्तव्य भी कुछ शेष नहीं रह जाता। '**तस्य कार्यं न विद्यते**' (गी. ३।१७) '**कृत्स्नकर्म-कृत्**' (गी. ४।१८) उसके लिए कोई कर्तव्य नहीं है। समस्त कर्तव्योंकी इतिश्री होजाती है, वह कृतकृत्य, ज्ञातज्ञेय, धन्य, जीवन्मुक्त होजाता है।

इसलिए आत्मज्ञानसे बढ़कर कोई ज्ञान नहीं, समुद्रमें नदियोंकी भाँति-इस ज्ञानमें समस्त ज्ञानोंको समाप्ति हो जाती है। अतएव मुण्ड-कोपनिषद्में-ब्रह्मविद्याको सर्व विद्याओंकी प्रतिष्ठा-आश्रयरूप कहा है। गीतामें इसको राजविद्या कहा है, अर्थात् समस्त विद्याओंका राजा—सर्वोत्तम एकमात्र ब्रह्मविद्या ही है। इससे बढ़कर और कोई लाभ नहीं माना जाता। आत्मसाक्षात्कार ही यथार्थमें लाभ है, जो शाश्वत है, परमानन्दप्रद है-अमृतत्व एवं अभयत्वसे पूर्ण है। उससे अन्य सांसारिक लाभ, लाभरूपसे नहीं माने जा सकते। जो सांसारिक पदार्थ, आज हैं, कल नहीं रहते, तथा संयोगमें क्षणिक काल्पनिक सुख प्रदानकर वियोगमें प्रचुर दुःख—शोक दे जाते हैं, वे मृतपदार्थ लाभरूप नहीं किन्तु हानिरूप ही विवेकीकी दृष्टिमें सिद्ध हो जाते हैं।

इस प्रकार आत्मज्ञानसे बढ़कर और कोई शाश्वत आनन्द नहीं। अतएव तैत्तिरीयोपनिषद्में कहा है—

'रसो वै सः' 'रसꣳह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति'(२।७।१)

वह विज्ञात प्रत्यगभिन्न-ब्रह्म ही निश्चयसे रस है, अर्थात् पूर्ण आनन्दरूप ही है। इस रसको पाकर मानव आनन्दी हो जाता है। **'श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य'** (तै० उ० २।७) अर्थात् कामना-वर्जित श्रोत्रिय (वेदवेत्ता) तत्त्वदर्शी विद्वान्को समस्त आनन्दोंके अनुभव होते हैं। उसके परमानन्दमें 'सिन्धुमें बिन्दुओंकी भांति' समस्त आनन्दोंका अन्तर्भाव हो जाता है।

'यज्ज्ञात्वा ज्ञातव्यमन्यन्नावशिष्यते'का तात्पर्य है-उस प्रत्यगभिन्न ब्रह्मके ज्ञानसे अज्ञात कुछ भी नहीं रहता, अज्ञात भी ज्ञात हो जाता है। समस्त उपनिषदोंमें ब्रह्मसे समस्त चराचर विश्वकी अनन्यता सिद्ध करनेके लिए प्रतिज्ञाएँ की हैं, एवं दृष्टांत दिये हैं।

प्रतिज्ञाएँ ये हैं—

'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं
भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (छां–उ० ६।१।२)

शास्त्रविद्याके अभिमानसे स्तब्ध हुए श्वेतकेतु पुत्रके प्रति पिता उद्दालक ऋषि कहता है-'हे श्वेतकेतु! क्या तुमने उस आदेश (उपदेष्टव्य-वस्तु) को अपने गुरुसे पूछा था—जिस एकके विज्ञानसे अश्रुत (नहीं सुनी हुई) वस्तु भी श्रुत हो जाती है। अमत (मनन नहीं की हुई) वस्तु भी मत हो जाती है, और अविज्ञात वस्तु भी विज्ञात हो जाती है।

'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति'
(मुण्डक० उ० १।१।३)

शौनक ऋषि, अङ्गिरा ऋषिके समीप जाकर अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हैं—'हे भगवन् ! किसके विज्ञानसे यह समस्त विश्व अज्ञात भी विज्ञात हो जाता है। यह वचन भी प्रतिज्ञाका ज्ञापक है।

'आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितं'
(बृ० उ० ४।५।६)

याज्ञवल्क्य महर्षि अपनी भार्या मैत्रेयीको आत्मज्ञानसे सर्वज्ञानकी प्रतिज्ञाका उपदेश देते हैं—'अरे मैत्रेयि ! आत्माका श्रवण करनेसे, मनन करनेसे, ध्यान करनेसे एवं साक्षात्कार करनेसे निश्चयसे यह समस्त विश्व अविदित भी विदित हो जाता है।' इत्यादि।

एवं—**'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्, वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।'** (छां० उ० ६।१।४) इत्यादि अनेक दृष्टांत हैं। उद्दालक ऋषि, श्वेतकेतुको ब्रह्मका सर्वानन्य स्वरूप समझानेके लिए दृष्टांत देते हैं—हे सोम्य-प्रियदर्शन ! जिस प्रकार उपादान कारणरूप मृत्पिण्डके ज्ञानसे उसका कार्यरूप घटशरावादिओंका ज्ञान हो जाता है, ये घटशरावादि कार्य वस्तुतः मृत्तिकारूप ही हैं, उनके अन्तर्बहिः एकमात्र मृत्तिका ही व्याप्त है, ये घटशरावादि विकार, वाणीका विषय नाममात्र ही हैं—इनके नाम एवं आकार कल्पित हैं, वस्तुतः नहीं हैं, वास्तविक तो एकमात्र मृत्तिका ही सत्य है। विचार करनेपर घटशरावादि कार्य मृत्तिकासे अन्य सिद्ध नहीं होते, अनन्य ही सिद्ध होते हैं।

एक ब्रह्मात्माके ज्ञानसे समस्त विश्वका ज्ञान इसलिए होता है—कि-वह एक परमात्मा, समस्त विश्वका उपादान कारण है। जिस प्रकार

घटशरावादि कार्योंका मृत्तिका उपादान कारण है, इसलिए मृत्तिकाको ज्ञान लेनेपर तदभिन्न उपादेय कार्यका ज्ञान हो जाता है। तद्वत् उपादानकारणरूप ब्रह्मात्माके ज्ञानसे समस्त विश्वका तदभिन्नरूपसे ज्ञान हो जाता है, ज्ञातव्य-अन्य कुछ भी शेष नहीं रह जाता। यदि परमात्माको जगत्का उपादान कारण न माना जाय, तो पूर्वोक्त उपनिषदोंकी प्रतिज्ञाएँ एवं दृष्टान्तोंकी निष्फलता हो जाती है। अतएव बादरायणाचार्यने ब्रह्मसूत्रमें यह कहा है—

'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् (१।४।२३)

ब्रह्म, विश्वकी प्रकृति, अर्थात् उपादानकारण है, तथा सूत्रस्थ-चकारसे निमित्तकारण भी है, ऐसा माननेपर एक विज्ञानसे सर्व विज्ञानकी प्रतिज्ञाका एवं कार्यकारणके अभेद बोधन करनेवाले मृत्पिण्डादि दृष्टान्तोंका उपरोध नहीं होता है—वे प्रतिज्ञाएँ एवं दृष्टांत सफल हो जाते हैं।

यह भगवद्गीता उपनिषदोंका सार है। समस्त उपनिषदें गौएँ हैं, उनका दुग्ध गीतामृत है, और दोहनेवाला गोपाल-श्रीकृष्ण है। इसलिए गीताका सिद्धान्त भी उपनिषदोंके सिद्धान्तसे विरुद्ध कदापि नहीं हो सकता। अत एव गीताको भी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या ही कहा है। उपनिषद्का दूसरा नाम वेदान्त है। वेदान्तका अद्वैत ही सिद्धान्त है। अत एव शिष्ट आचार्योंने कहा भी है—

'सर्वे हि तावद्वेदान्ताः पौर्वापर्य्येण वीक्षिताः।
ऐकान्तिकाद्वैतपरा द्वैतमात्रनिषेधतः॥'

सम्पूर्ण वेदान्त (उपनिषद्-गीता ब्रह्मसूत्र एवं श्रीमद्भागवत प्रस्थान चतुष्टय—) पूर्वापरके विचारसे सम्यक् देखनेपर त्रिविध भेद-

शून्य—एकमेवाद्वितीय ब्रह्मात्मतत्त्वके ही प्रतिपादक हैं, क्योंकि—अध्यारोप एवं अपवादद्वारा द्वैत—निषेधमें ही वेदान्त शास्त्रोंका तात्पर्य निश्चित होता है। इसलिए—

'एक ही से सब होत है, एक ही में सब समाय।
जो वह एक न जानिया, तो बहु जाने क्या होय?।'

आचार्य्य भगवत्पाद श्री शङ्करस्वामी भी वेदान्तोंका यही डिण्डिम घोष करते हैं—

'यन्नादौ यच्च नास्त्यन्ते, तन्मध्ये भातमप्यसत्।
अतो मिथ्या जगत्सर्वमिति वेदान्त-डिण्डिमः॥
यदस्त्यादौ यदस्त्यन्ते, तन्मध्ये भाति हि स्वयम्।
ब्रह्मैवैकमिदं सत्यमिति वेदान्त-डिण्डिमः॥
सत्तास्फुरणसौख्यानि, भासन्ते सर्ववस्तुषु।
तस्माद् ब्रह्ममयं सर्वमिति वेदान्त-डिण्डिमः॥
सर्वात्मना स्थितं ब्रह्म, सर्वं ब्रह्मात्मना स्थितम्।
न कार्यं कारणाद्भिन्नमिति वेदान्त-डिण्डिमः॥'

जो नामरूपात्मक जगत् आदिमें नहीं होता, अन्तमें भी नहीं रहता, वह मध्यमें भासमान होनेपर भी वास्तविक सिद्ध नहीं होता, असत् ही माना जाता है, इसलिए यह समस्त जगत् मिथ्या ही है, ऐसा वेदान्तोंका डिण्डिम-घोष है। जो ब्रह्मतत्त्व आदिमें है, अन्तमें है, वही मध्यमें भी स्वयं सच्चिदादि रूपसे भासित होता है, इसलिए यह सब वस्तुतः सत्य ब्रह्मस्वरूप ही है, ऐसा वेदान्तका डिण्डिम है। समस्त पदार्थोंमें जिसकी सत्ता, स्फूर्ति (चैतन्य) एवं सौख्य भासित हो रहे हैं, इसलिए यह सब नामरूपका बाध करनेपर ब्रह्ममय ही है,

ऐसा वेदान्तका डिण्डिम है। ब्रह्म सर्वके आत्मारूपसे अवस्थित है, आत्मा यानी अभिन्न—स्वरूप। एवं समस्त विश्व ब्रह्मात्मरूपसे अवस्थित है। क्योंकि—विचार करनेपर कार्य, कारणसे भिन्न सिद्ध ही नहीं होता, अभिन्न ही सिद्ध होता है, यह समस्त वेदान्तोंका डिण्डिम घोष है।

श्रीमद्भागवत*—जो गीताकी तरह समस्त वेदान्तोंका साररूप है, उसमें बादरायणाचार्य्य व्यास भी परमात्माके पूर्ण स्वरूपका इस प्रकार वर्णन करते हैं—

त्वं ब्रह्म पूर्णममृतं विगुणं विशोकं,
आनन्दमात्रमविकारमनन्यदन्यत्।
विश्वस्य हेतुरुदयस्थितिसंयमानां,
आत्मेश्वरश्च तदपेक्षतयाऽनपेक्षः॥ (८।१२।७)

हे भगवन्! आप अमृतरूप, निर्गुण, शोकरहित, एकमात्र—आनन्दस्वरूप निर्विकार पूर्ण ब्रह्म हैं, आप समस्त विश्वसे अनन्य भी

---

* 'सर्ववेदान्तसारं यत् ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणं।
वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैकप्रयोजनम्॥
(भा. १२।१३।१२)
'सर्ववेदान्तसारं हि श्रीमद्भागवतमिष्यते।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित्॥'
(भा. १२।१३।१५)

सम्पूर्ण वेदान्तोंकी सारभूत—जो ब्रह्म और आत्माकी एकतारूप—अद्वितीय वस्तु परब्रह्म है, वही इसका (श्रीमद्भागवतका) विषय है। तथा उसकी निष्ठा द्वारा प्राप्त होनेवाला कैवल्यमोक्ष इसका प्रयोजन है। श्रीमद्भागवत, सम्पूर्ण वेदान्तों (उपनिषदों)का सार माना जाता है। जो पुरुष उसके रसामृतसे तृप्त हुआ है, उसकी अन्यत्र प्रीति नहीं हो सकती।

हैं। अन्य भी हैं। क्योंकि—आप विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति एवं विलयके कारण हैं। कारण की ही सत्ता एवं स्फूर्ति लेकर कार्य भासित होता है, इसलिए कार्य, कारणसे कदापि अन्य नहीं माना जाता, इसप्रकार कारण ही कार्यमें अनन्यरूपसे (अभेदरूपसे) अवस्थित रहता है, तथापि वह कार्यसे अन्य भी माना जाता है। मृत्तिकासे घट अन्य नहीं सिद्ध होता, परन्तु मृत्तिका, घटसे अन्य सिद्ध होती है। क्योंकि—घटकी उत्पत्तिसे प्रथम, एवं ध्वंसके बाद भी केवल तदन्यरूपसे मृत्तिका रहती है। परन्तु घटादि कार्य उपादानकारणसे पृथक् होकर नहीं रह सकते, यह लोक-सिद्ध बात है। इसलिये कारणरूप परमात्मा, इस विश्वमें अनन्य हैं—अभेदरूपसे अवस्थित हैं, तथापि अन्यत् अर्थात् इससे स्वयं पृथक्—शुद्ध स्वरूपमें भी अवस्थित हैं। गीतामें भी यही अनन्यत्वका सिद्धान्त कहा है—

'न तदस्ति विना यत्स्यात्, मया भूतं चराचरम्। (१०।३९)

कोई भी चराचर भूत ऐसा नहीं है, जो मेरे विना रह सके। अर्थात् जिस प्रकार हम लोकमें कहते हैं—कि **'न तदस्ति कटक-कुण्डलादिकमाभूषणजातं, यत् सुवर्णेन विना स्यात्।'** ऐसा कोई कटककुण्डलादि आभूषणोंका समुदाय नहीं है—जो सुवर्णके विना रह सके।' उस प्रकार भगवान्‌ने गीतामें भी ऐसा कहकर समस्त चराचर विश्वसे अपना अनन्यत्व स्वरूप ही सिद्ध किया है।

वही परमात्मा, पिण्ड ब्रह्माण्डरूप विश्वकी अपेक्षा करके जीवात्मा भी हो जाता है, ईश्वरात्मा भी बन जाता है। शरीरादि-कार्यकरण संघातरूप पिण्डकी उपाधिसे वह जीवात्मा कहलाता है, ब्रह्माण्डरूप

उपाधिसे उनका शासक ईश्वर हो जाता है। उन दोनों उपाधियोंकी अपेक्षा न करके वह जीवत्व-ईश्वरत्व-वर्जित-अनपेक्ष-निरूपाधिक-शुद्ध-ब्रह्मरूप हो जाता है।

इसलिए अनुभवी सन्तोंने भी अपने विशुद्ध भाव ऐसे ही प्रकट किये हैं—

'ईश जीवमें भेद न जानो, साधु चोर सब ब्रह्म पिछानो।
वासुदेव बिन अवर न कोउ, 'नानक' सोऽहं आतम सोउ ॥

इसलिए पुनः गुरु नानकदेव कहते हैं—

ना कोई वैरी, नांहि बिगाना(पराया)सकल संग हमको बन आई।
सबमें रम रहा प्रभु एको, पेख पेख नानक बिकसाई ॥

पेखपेख माने इस प्रकार विश्वानन्य प्रभुके पूर्ण समरस स्वरूपको देखदेखकर गुरु नानकदेवका मन अत्यन्त ही 'विकसित कमलके समान' आनन्दोल्लाससे सदा प्रफुल्लित रहता है।

सभी मानव पूर्ण होना चाहते हैं, पूर्ण आनन्दको, पूर्ण ज्ञानको, पूर्ण स्वतंत्रताकी, पूर्ण निर्भयताकी चाह रखते हैं, कोई भी अपूर्ण रहना नहीं चाहता। तथापि वह पूर्ण वस्तुसे प्रेम नहीं रखता। अपूर्ण-अल्पसे प्रीति बनाये रखता है, ऐसी दशामें उसकी पूर्णता-लाभकी चाह कैसे सफल हो सकती है?। पूर्ण वस्तु एकमात्र नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव, असंग-अद्वय-स्वयंज्योति-आनन्दघनस्वरूप अन्तरात्मा ब्रह्म ही है, जो सर्वत्र अन्दर-बाहर ओतप्रोत है। उसका ही श्रवण द्वारा निश्चय करनेपर, मनन द्वारा उसकी ही सतत भावना करनेपर, एवं निदिध्यासन द्वारा उसमें ही तन्मयता सम्पादन करनेपर मानव पूर्णत्वका

लाभ कर सकता है। उस पूर्ण तत्त्वका—उपनिषद्के इस प्रसिद्ध शान्ति मन्त्रमें इस प्रकार वर्णन किया है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥ (बृ० उ० ५।१।१)

वह भी पूर्ण है, यह भी पूर्ण है, पूर्णसे ही पूर्णका उद्गम होता है। पूर्णमेंसे पूर्णको ग्रहण करनेपर एकमात्र पूर्ण ही अवशिष्ट—बाकी बच जाता है—अर्थात् अपूर्णत्वका सर्वथा प्रतिषेध हो जाता है।

इस शान्ति मन्त्रमें समस्त उपनिषदोंका सार भरा है, विदेशी समालोचक विद्वान् भी इस मन्त्रका विचारकर आश्चर्यमुग्ध हो जाते हैं। प्राचीन भारतीय ऋषियोंकी पूर्णतत्त्वके विवेचनकी इस गंभीर शैली-पर असंख्य धन्यवादके उद्गार प्रकट करते हैं।

'अदः' शब्दका विप्रकृष्ट-परोक्ष-अर्थ है। एवं 'इदं' शब्दका सन्निकृष्ट अपरोक्ष अर्थ है। ईश्वरतत्त्व, एवं उसकी अव्यक्त-माया उपाधि, विप्रकृष्ट एवं परोक्ष होनेके कारण 'अदः' शब्दसे बोधित है। तथा जीवतत्त्व एवं उसकी उपाधि व्यक्त-पिण्ड, सन्निकृष्ट एवं अपरोक्ष होनेके कारण 'इदं' शब्दसे बोधित है। इस प्रकार ईश्वर तथा अव्यक्त—माया, जीव तथा व्यक्त पिण्डादि भी पूर्ण हैं, अर्थात् पूर्ण ब्रह्मकी सत्तासे व्याप्त हैं, उसीकी ही सत्तासे सत्तावान् होकर भासित हो रहे हैं। कारण ब्रह्मकी पूर्ण सत्ताको स्वीकार करके ही कार्य जगत्का उद्गम होता है। उसकी पूर्ण सत्ताके विना कार्य जगत्का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता। कारण ब्रह्मकी पूर्ण सत्ताकी समनुगति आप लोकमें भी अनेक स्थलोंपर देख सकते हैं।

एक दीपक है—उसमें भी पूर्ण सत्ता विद्यमान है, इसलिए उससे उसके सदृश सहस्र दीपक प्रकट होते हैं, तथापि उसकी पूर्ण सत्ताका क्षय नहीं होता। उससे उत्पन्न होनेवाले प्रत्येक दीपकमें भी वही पूर्ण-सत्ता अवस्थित रहती है, उसकी कभी विभक्तता नहीं होती, समरस अखण्ड ही रहती है। सत्ताका यदि विभाग (बटवारा) हो जाय तो मूल दीपकसे उसके सदृश सत्ता रखनेवाले असंख्य दीपक उत्पन्न नहीं हो सकते। मूल दीपक भी प्रथमके जैसा दीखाई नहीं दे सकता। इस लिए हम यह निश्चय करते हैं कि-कारण दीपकमें भी पूर्णसत्ता विद्यमान है, तथा कार्य दीपकोंमें भी पूर्णसत्ता अविभक्त रूपसे विद्यमान है।

इसप्रकार एक बीजका निरीक्षण कीजिये। उसमें भी पूर्ण सत्ता व्याप्त है, इसलिए उस कारण बीजसे अपने ही सदृश, अपने जैसी पूर्ण सत्तासे व्याप्त-असंख्य बीजोंका उद्गम होता है। उद्भूत असंख्य बीजोंमें मूल बीजकी पूर्ण शक्ति-सत्ताका कदापि बटवारा नहीं होता। क्योंकि हम देखते हैं—या निश्चयरूपसे समझते हैं—कि उत्पन्न हुए प्रत्येक बीजमें अपने जैसे असंख्य बीजोंके उत्पन्न करनेकी क्षमता है। उनकी यह क्षमता पूर्ण सत्ताके द्वारा ही सिद्ध होती है। इसप्रकार संसारके सभी कारणोंमें एवं कार्योंमें पूर्ण सत्ताका निश्चय होता है।

इसप्रकार पूर्ण सत्तासे व्याप्त, पूर्ण सत्तामें ओतप्रोत, जीव-ईश्वर-व्यक्ताव्यक्त-कार्यकारण आदि समस्त विश्वमेंसे पूर्णसत्ताको ले लेनेपर पूर्णसद्रूप ब्रह्म ही परिशिष्ट रह जाता है। अपूर्ण—नामरूपात्मक-जीवत्व-ईश्वरत्वादिसे युक्त जगत् कुछ भी नहीं रहता, उसका सर्वथा प्रतिषेध होजाता है। जिस प्रकार सुवर्णकी सत्तासे व्याप्त, एकमात्र सुवर्णमें

ओतप्रोत कटककुण्डलादि आभूषणोंमेंसे सुवर्णको निकाल लिया जाय तो, क्या कटककुण्डलादि आभूषण बाकी बच सकते हैं? नहीं बच सकते। उनका प्रतिषेध होजाता है—सुवर्ण ही एकमात्र परिशिष्ट रह जाता है। इस प्रकार अपूर्ण नामरूपात्मक-जगत्—जो अविद्यासे अध्यारोपित है, उसका अधिष्ठानरूप पूर्ण सद्रूप ब्रह्मके बोधसे प्रतिषेध होजाता है। समस्त विश्वमें पूर्ण ब्रह्मका अनन्यत्वरूपसे बोध होना ही पूर्णमेंसे पूर्णका आदान है।

यहाँ कुछ शून्यवादी बौद्ध कहते हैं—वह अवशिष्ट रहनेवाला पूर्णतत्त्व शून्य ही है। परन्तु उनका यह कहना सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है। शून्यतत्त्व, कदापि अविभक्त समरस सत्तायुक्त नहीं होता, यदि उसकी सत्ता यानि अस्तित्व माना जाता है, तो वह शून्य ही नहीं रहता। एवं वह शून्य, चेतन जीवेश्वरादिओंमें कदापि अनन्य रूपसे व्याप्त नहीं हो सकता। एवं अधिष्ठान भी नहीं हो सकता।

इसलिए भगवान् वेदव्यासने श्रीमद्भागवतमें निर्णय किया है कि—**'योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहं'** (भा. २।१०।३२) **'तदमितं ब्रह्माद्वयं शिष्यते'** (भा. १०।१४।१८) 'जो अन्तमें अवशिष्ट रहता है, वह मैं सद्रूप चिद्रूप आनन्दरूप पूर्ण परमात्मा ही हूँ' 'वह अनन्त अद्वय ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है' शून्य नहीं। पूर्ण ब्रह्मसे अतिरिक्त अपूर्ण-कल्पित नामरूपोंका बाध होजाता है। इसको वेदान्तमें बाध-सामानाधिकरण्य कहते हैं।

प्रेमभक्तिका भी पूर्ण अद्वैतमें ही पर्यवसान होता है, द्वैतमें नहीं। इसलिए रसिक प्रेमी भक्त यही कहते हैं—

'प्रेम प्रकट जब होत है, रहत न पावत आन (अन्य)।
तू -तू ही रह जात है, 'मैं 'का मिटत निशान ॥
लाली मेरे लालकी, जित देखूँ तित लाल ।
लाली देखन मैं चली, मैं भी हो गई लाल ॥'

गोपिकाएँ भगवान् श्रीकृष्णकी अनन्य प्रेमिकाएँ थीं। उनके मन हरदम भगवान् श्रीकृष्णमें ही आसक्त बने रहते थे। '**भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते**' यह सिद्धान्त है। भक्तिका फल तत्त्वज्ञान है, परिपक्व हुई भक्ति ही ज्ञानरूपसे परिणत हो जाती है। भगवान् भी गीतामें यही कहते हैं—

**'भक्त्या मामभिजानाति, यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा, विशते तदनन्तरम् ॥**
(१८।२५)

अनन्य भक्तिके द्वारा वह भक्त मुझ परमात्माको सम्यक् जान पाता है। वस्तुतः मैं जितना हूँ, जो हूँ, उसका यथार्थ ज्ञान, भक्तिकी सामर्थ्यसे सम्पन्न होता है। उस भक्तिसे मुझ परमात्माको तात्त्विक-रूपसे जानकर तत्काल ही वह मेरे पूर्ण-अद्वय-स्वरूपमें अनन्यभावसे प्रविष्ट होजाता है। अर्थात् उस भक्त—तत्त्ववेत्ताकी दृष्टिमें मुझ वासुदेवके सिवाय और कुछ भी परिशिष्ट नहीं रहता, '**सर्वमिदमहञ्च वासुदेवः**' 'आपसहित सब कुछ वासुदेव' ही रह जाता है।

अतएव गोपिकाओंकी भक्ति भी तत्त्वज्ञान रूपा बन गई थी। गोपिकाएँ भगवान्का वास्तविक परिचय देती हुई कहतीं थीं कि—

'प्रेष्ठो भवान् तनुभृतां किल बन्धुरात्मा।
(श्रीमद्भा० १०।२९।३२)

'न खलु गोपिकानन्दनो भवान्,
अखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।' (श्रीमद्भा० १०।३१।४)

'आप श्री कृष्ण, वस्तुतः शरीरधारी प्राणियोंके अत्यन्त प्रिय हितकारी आत्मा ही हैं ।' 'यह निश्चय है कि—आप केवल यशोदाके पुत्र ही नहीं हैं, किन्तु समस्त—देहधारियोंके साक्षी स्वयंज्योतिःस्वरूप अन्तरात्मा हैं ।' इसलिए गोपिकाएँ—**'तन्मनस्काः तदालापाः' 'तदात्मिकाः' 'कृष्णभावनाः'** (श्रीमद्भा० १०।३०) बन गई थीं । भक्तिका अन्तिम फल है—भजनीय भगवद्भावका लाभ । वह गोपिकाओंने अपनी भक्तिकी सामर्थ्यसे प्राप्त किया था । इसलिए व्यास कहते हैं—गोपिकाके शब्दोंमें—

'कृष्णोऽहं पश्यत गतिं, ललितामिति तन्मनाः ।
मा भैष्ट वातवर्षाभ्यां, तत्त्राणं विहितं मया ॥'

(भा० १०।३०।१९-२०)

मैं स्वयं श्रीकृष्ण हूँ, तुम मेरी मनोहर गतिको तो देखो, अरे व्रजवासियो ! तुम वायु और वर्षासे मत डरो, मैंने (श्रीकृष्णने) उनसे बचनेका उपाय निकाल लिया है, इस प्रकार एक कृष्णमना गोपी अन्योंसे कहने लगी थी ।

इस प्रकार भक्ति शास्त्रका भी अभेद ही सिद्धान्त निश्चित होता है। अत एव भक्तिशास्त्रमें भक्तिके परमाचार्य महर्षि नारद कहते हैं कि—
'तस्मिन् तज्जने च भेदाभावात् !'

भगवान्में एवं भक्तजनमें अन्ततोगत्वा भेदका अभाव हो जाता है । 'नानक आप मिल्यो गोविन्दसों ज्यों पानी संग पानी'

महात्मा तुलसीदासजीने भी कहा है—

'सो जाने तुम देहू जनाई, जानत तुमहि तुमहीं होईजाई।'

अतएव भगवान् बादरायणाचार्य्य भी श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णका स्वरूप अनेक प्रसंगोंमें—सर्वाभिन्न परम—प्रेमास्पद—पूर्ण विश्वात्मारूपसे ही निरूपणकरते हैं। सेम्पल (नमूना) रूपसे उनके कुछ वचन देखिए—

श्री शुक उवाच—

'सर्वेषामपि भूतानां नृप! स्वात्मैव वल्लभः।
इतरेऽपत्यवित्ताद्या-स्तद्वल्लभतयैव हि॥' (१०।१४।५०)
तस्मात्प्रियतमः स्वात्मा, सर्वेषामपि देहिनाम्।
तदर्थमेव सकलं, जगदेतच्चराचरम्॥
कृष्णमेनमवेहि त्वं, आत्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र, देहीवाऽऽभाति मायया॥
वस्तुतो जानतामत्र, कृष्णं स्थास्नु चरिष्णु च।
भगवद्रूपमखिलं, नान्यद्वस्त्विह किञ्चन॥ (१०।१४।५४।५५।५६)

श्री शुकदेवजी बोले कि—हे राजा परिक्षित्! समस्त प्राणियोंको अपनी आत्मा ही सबसे अधिक प्रिय है। अन्य पुत्र वित्तादि पदार्थ तो उस आत्माकी प्रियताके सम्पादक होनेसे ही गौण प्रिय हैं। यदि ये पदार्थ आत्माकी प्रियताका (सुख-प्रयोजकताका) सम्पादन न करें तो उन पुत्र—वित्तादियोंकी प्रियता नष्ट हो जाती है, अत एव समस्त देहधारियोंको अपनी आत्मा ही प्रियतम है। उसीके लिए ही यह सम्पूर्ण चराचर जगत् है। अर्थात् आत्मसुखके लिए ही जगत् प्रिय लगता है। वह परम प्रेमास्पद आत्मा ही यह श्रीकृष्ण है। वही सभी जीवात्माओंका अभिन्न स्वरूप है। ये जगत्के कल्याणके लिए ही

मायाके द्वारा देहधारी साकार विग्रहवान्—से दीख पडते हैं, जो वास्तविक तत्त्वको जानते हैं—उनकी दृष्टिमें यह स्थावर जंगम समस्त विश्व कृष्णरूप ही है। सम्पूर्ण जगत् पूर्णब्रह्म कृष्णमय ही है। कृष्णसे अतिरिक्त कोई भी वस्तु नहीं है।

अतएव अवतारधारी साकार-विग्रहवाले भगवान्का जो भी चरित्र होता है, उसमें भी अध्यात्म तत्त्वज्ञानका उपदेश ही सूचकरूपसे रहता है। भगवान्का अवतार मुख्यतया भक्तोंके लिए ही होता है-' मेरे भक्त मुझको यथार्थतः जानकर कृतार्थ एवं धन्य हो जाँय, यही भगवान्की भावना होती है—भगवान्को सम्पूर्णतया जान लेनेपर पश्चात् कुछ भी जानना बाकी नहीं रह जाता।

जुआमें सर्वस्व हारकर पाण्डव, द्रौपदीके साथ वनमें जा रहे थे। पाण्डव धार्मिक-परोपकारी एवं प्रजावत्सल थे। इसलिए पाण्डवोंके साथ हस्तिनापुरकी सहस्राधिक नागरिक जनता भी वनमें चलनेके लिए निकल पडी थी। युधिष्ठिर महाराजसे विनयके साथ मना करनेपर भी जनता प्रेमवश वापस नहीं लौटती थी। वनमें चलते चलते दो तीन रोज हो गये। सब लोग भूखे थे। युधिष्ठिर महाराजको अपनी भूखकी परवाह नहीं थी। परन्तु साथमें प्रेमवश चलनेवाली जनताकी क्षुधाकी बडी चिन्ता थी। इससे वे बहुत सन्तप्त हुए। युधिष्ठिर महाराजके सन्तापको जान• कर उनके पुरोहित धौम्य महर्षिने युधिष्ठिरजी से ऐसा कहा—

राजन्! मैं तुम्हें एक सूर्य-मन्त्रका उपदेश देता हूँ। आप धर्मात्मा निर्मल-हृदय एवं सत्यवादी हैं। इसलिए इस मन्त्रसे सूर्य भगवान्की आरा- धना करनेपर सविता नारायण बहुत ही शीघ्र सभीके लिए भोजन-प्रबन्धका

उपाय कर देंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। इसलिए इस मन्त्रसे आप सूर्यकी आराधना करें।

पुरोहितकी बात सुनकर युधिष्ठिर महाराज बहुत प्रसन्न हुए। उनसे सूर्य मन्त्र लेकर आराधना करनी शुरु कर दा। अल्पसमयमें ही भगवान् सवितादेव प्रसन्न हुए, मूर्तिमान् समक्ष प्रकट होकर युधिष्ठिर महाराजके हाथमें एक स्थाली-पात्र देने लगे। युधिष्ठिर महाराजने अत्यन्त भक्ति भावसे नमस्कार कर प्रसाद रूपसे स्थाली पात्रको ले लिया।

सूर्य भगवान्ने कहा-राजन्! इस अक्षय पात्रसे जितना तुम चाहोगे, जैसा चाहोगे, वैसा भोजन बनाबनाया पर्याप्तरूपसे प्रतिदिन मिलता रहेगा। आपकी महाराणी द्रौपदी अपने हाथसे इससे भोजन निकालकर सबको परोसे। कितनी भी अधिकसे अधिक संख्यामें जीमनेवाले पंक्तिमें क्यों न बैठे हो तो भी इस पात्रमें भोजनकी कदापि कमी नहीं होगी, सबको पर्याप्त एवं यथेष्ट भोजन कराके अन्तमें द्रौपदी भोजन करे। उसके बाद इस अक्षयपात्रका द्वार बन्द हो जायगा। उस दिन फिर कुछ भी नहीं मिलेगा। दूसरे दिन पुनः इस अक्षयपात्रका द्वार पर्याप्त भोजन देनेके लिए खुलेगा।

इतना कहकर सूर्य भगवान् अक्षय पात्र देकर अन्तर्धान हो गए। सूर्य भगवान्की तरफसे सबके लिए यह बड़ा अच्छां अन्नक्षेत्र खुल गया। जिसके संचालनके लिए धनकी भी आवश्यकता नहीं। गेहूँ, चावल, घी आदि खरीदने के लिए बजारमें जानेकी भी जरूरत नहीं। रसोइयोंकी एवं लकडियोंकी भी परवाह नहीं। आप ही आप बना बनाया, गरमा-गरम, नरमानरम, यथेष्ट-भोजन पुरी, कचौडी, खीर, लड्डु, जलेबी,

अमृती, दाल, भात, शाक, रोटी, परौठा आदि आदि कच्चा पक्का जैसा भी चाहे-जितना भी चाहे-तुरन्त एक साथ मिल जाय।

अब क्या था। सभी पाण्डव एवं सभी नागरिक बहुत प्रसन्न हुए। संसारमें एक पेटकी समस्या बडी ही विकट समस्या मानी गई है। इस समस्याको सुलझानेके लिए बड़ी बड़ी दिमागवाली सरकारें भी विफल हो जाती हैं। भक्तलोग भी कहते हैं—'**भूखे भजन न होई गोपाला!**'। यदि भजनकरनेपर भी तू हमारी भूख नहीं भगाता है तो '**ले ले तेरी यह कण्ठी माला!**'

भोजनकी समस्या सूर्य भगवान्की कृपासे सुलझ जानेपर अब पाण्डव गंगातटपर काम्यक वनमें अच्छे एकान्त शान्त रमणीय स्थानपर निवास करने लगे। सबके निवासके लिए यथायोग्य पर्णकुटियाँ बनाई गईं। श्रद्धा एवं विनयके साथ अतिथि सत्कार होने लगा। बडे बडे वीतराग–भगवत्प्रेमी–विद्वान् ऋषि महात्मालोग पधारने लगे। संकीर्तन-सत्संग, प्रवचनोंकी धूम होने लगी। पाण्डव धार्मिक एवं भगवदनुरागी तो थे ही। इसलिए भगवच्चर्चाने खूब रंग जमाया। सहस्राधिक साधु महात्मा वहाँ रहने लगे। जंगलमें मंगल हो गया। गंगातटका पवित्र वातावरण पवित्रतम बन गया। समयपर द्रौपदी महाराणी सबको चौवीस घण्टोंमें एकवार यथेष्ट भोजन जिमाती थी। जय जयकारकी प्रचण्ड ध्वनिसे शान्त अरण्य गूँज उठता था। पाण्डवोंके धर्मप्रियता श्रद्धा-भक्ति-उदारता आदि सद्गुणोंकी मुक्तकण्ठसे खूब प्रशंसा होती थी।

संसारमें सत्संग एक बड़ा दुर्लभ लाभ माना गया है। भगवत्कृपा

विना सत्संगका लाभ नहीं मिलता । इसलिए शास्त्रोंमें सत्संगकी मुक्त कण्ठसे प्रशंसा की है—उसकी महिमाका गान किया है—

'गंगेवाघविनाशिनी, जनमनःसंतोषकृच्चन्द्रिका,
तीक्ष्णांशोरपि सत्प्रभेव जगदज्ञानान्धकारापहा।
छायेवाखिलतापनाशनकरी, स्वर्धेनुवत् कामदा,
पुण्यैरेव हि लभ्यते सुकृतिभिः सत्संगतिर्दुर्लभा॥'

जो पावन गंगाके समान पापोंका विनाश करती है, पूर्णिमाकी आह्लादक चांदनीके समान सत्संगी जनोंके मनको अतीव सन्तुष्ट करती है, सूर्यदेवकी समुज्वल—दीप्तिके समान जगत्के अज्ञानरूप अन्धकारका विनाश करती है, घन-शीतल-छायाके समान संसारियोंके समस्त सन्तापोंका नाश कर देती है, एवं जो स्वर्गीय कामधेनुके समान समस्त कामनाओंको पूरी करती है, ऐसी दुर्लभ सत्संगति, पुण्यवान् मानव, अपने पूर्व जन्मके पुण्योंसे ही प्राप्त कर सकते हैं ।

पाण्डव एवं उनके साथी बडे पुण्यवान् थे। उनको एकान्त पावन स्थानपर सत्संगका अलभ्य लाभ मिलने लगा। समयपर वे सब कीर्तन, भजन, ध्यान करने लगे। अपने भाग्योंकी भूरि भूरि प्रशंसा करते रहे । भगवान् अन्तर्यामी जो कुछ करता है, अच्छा ही करता है । भले ही प्रारम्भमें विपरीत-सा क्यों न दिखाई दे? परन्तु परिणाम देखने पर प्रत्येक भगवदीय विधानमें भगवान्की अनुपम कृपा ही रहा करती है । 'जो प्रभु कीन्हो भल करि मान्यो, यह सुमति सन्तन संग पाई।' (गुरु—नानक)

इधर दुष्ट दुर्योधनादि कौरवगण समझते थे कि-पाण्डव लोग वनमें

जानेपर भूखे-प्यासे यों ही समाप्त हो जायेंगे। परन्तु जिनके ऊपर भगवान्‌के सहस्रों हाथोंकी छाया रहती है-उनका कहीं भी अमंगल नहीं होता। जिनकी सामर्थ्यशाली-सहस्रों हाथ रक्षा करते हों, उनका दोहाथवाला दुर्बल मानव क्या बिगाड सकता है ?। तथापि दुष्टोंका स्वभाव ही ऐसा होता है कि--वे दूसरोंकी बुराई ही चाहते रहते हैं। जब कौरवोंने पाण्डवोंका ऐसा अच्छा वृत्तान्त सुना, तो वे बहुत दुःखी हुए। श्री तुलसीदासने खलोंके स्वभावका ऐसा ही वर्णन किया है—

'परहित हानि लाभ जिन्ह केरें। उजरें हरख विषाद बसेरें।'
'पर अकाज भट सहस्र बाहुसे।' परहित-घृत जिनके मन माँखी।'

'अर्थात् दूसरोंके हितकी हानि ही जिनकी दृष्टिमें लाभ है, जिनको दूसरोंके उजडनेमें हर्ष और बसनेमें विषाद होता है। जो दूसरोंकी बुराई करनेमें सहस्रबाहुके समान शूरवीर हो जाते हैं। और दूसरोंके हितरूपी घीके लिए, जिनका मन मक्खीके समान है, अर्थात् जिसप्रकार मक्खी घीमें गिरकर उसे खराब कर देती है, और स्वयं भी मर जाती है, उसी प्रकार दुष्ट लोग दूसरोंके बने बनाये कामको अपनी हानि करके भी बिगाड देते हैं।

कौरवलोग, अपने दुष्ट स्वभावके अनुसार पाण्डवोंका अनिष्ट करनेके लिए अनेकों उपाय सोचने लगे। तब चातुर्मासका समय आगया। उधर हस्तिनापुरमें दुर्वासा महर्षिकी बडी भारी जमात आई। भागवतमें लिखा है-कि उनके साथ दश हजार (१००००) शिष्य साधक रहा करते थे। सौ भी नहीं, हजार भी नहीं, पूरे दश हजार, बडी भारी संख्या। आजकल मीलों लम्बी टिड्डी दलके समान उतनी बडी

संख्याका भ्रमण बडा भारी उपद्रव माना जायगा। जब कि--लोगोंका पेट भरना ही मुश्किल माना जाता हो। परन्तु वह त्रेतायुगका समय बडा अच्छा होगा। खाद्य सामग्री पर्याप्त मिलती होगी--घी दूधकी नदियाँ बहती होंगी। लोगोंमें प्रबल धर्मभावना जागरुक होगी। लोग बडे पुण्यवान् होंगे।

दुर्योधनने विचार किया कि--जमातसहित दुर्वासा महर्षिका, यहाँ चातुर्मास कराया जाय, तथा खूब सेवा करके उन्हें सन्तुष्ट बनाये जायँ, उनकेद्वारा किसी प्रकार पाण्डवोंका अनिष्ट हो जाय तो बडा अच्छा हो, ऐसा विचारकर दुर्वासा महर्षिसे प्रार्थना की गई। उसकी पार्थनाकी स्वीकृति भी मिल गई। दुर्योधन प्रसन्न हुआ, बडी उदारताके साथ सेवा करने लगा। देखते ही देखते चातुर्मास समाप्त होने आया। तो भी पाण्डवोंका दुर्वासाके द्वारा किस प्रकार अनिष्ट हो, उस उपायका निर्णय नहीं कर पाया। आखिर कौरवोंकी मीटिंगमें यह निर्णय हुआ कि--कार्तिक सुदी ११को चातुर्मास समाप्त हो जाता है। उस दिन दुर्वासाकी जमातकी विदाई कर देनी चाहिए। उनसे कहा जायगा कि--एकादशीका उपवास है-उस दिन यहाँसे चलकर आप सब द्वादशीको काम्यक वनमें गंगातटपर पहुँचें-वहाँ हमारे भाई पाण्डव लोग रहते हैं-वे आप सबका स्वागत सत्कार करेंगे। व्रतका पारणा भी अच्छी प्रकार करायेंगे। आपकी सेवामें किसी प्रकारकी त्रुटी नहीं रहेगी।

उनका आन्तरिक दुष्ट भाव यही था कि-बहुत दूर होनेके कारण द्वादशीके रोज भी मुश्किलसे वे लोग सायं दो तीन बजे तक वहाँ पहुँच सकते हैं। पाण्डवोंको इस बातका पता न होगा कि--इतनी

बडी संख्यामें अतिथि साधु आनेवाले हैं। उस समय अक्षयपात्रसे भोजन मिलेगा नहीं, भोजन नहीं मिलनेपर उपवासी क्रोधी दुर्वासा पाण्डवोंको कुछ न कुछ शाप दे देगा। बस, अपना काम बन जायगा।

मीटिंगके निर्णयके अनुसार सब व्यवस्था कर दी गई। उनके अनुमानके अनुसार दुर्वासाकी जमात द्वादशीको करीब सायं तीन बजे तक काम्यक वनमें पहुँची। धर्मात्मा पाण्डवोंको किसीके द्वारा माळूम हुआ कि—जमातके साथ दुर्वासा ऋषि आपके यहाँ पधार रहे हैं। पाण्डव, बडे प्रसन्न हुए, अपने भाग्यकी सराहना करने लगे। उनके स्वागतके लिए स्वयं पत्रपुष्पादि लेकर चल पड़े। श्रद्धा-विनयके साथ उन सबका यथेष्ट सत्कार-सन्मान किया गया। दुर्वासाने कहा—

'युधिष्ठिर ! हम लोग चलते चलते खूब थक गये हैं। कलका उपवास था, सबको बहुत भूख लगी है। इसलिए सबसे प्रथम सबके लिए भोजनकी व्यवस्था शीघ्र करो। उतनेमें हम सब गंगामें जाकर स्नानादि करके तुरन्त ही आ जाते हैं।

युधिष्ठिर महाराजके हृदयमें बडी समुन्नत धर्म भावना थी। वे धर्मकार्यके लिए नकार कहना जानते ही नहीं थे। भगवान् सर्वात्माका आश्रय एवं विश्वास था। तुरन्त ही वे धर्मभावना एवं भगवद्विश्वास वश बोल उठे—"भगवन् ! कृपानिधान ! गंगास्नानके लिए आप सब पधारें। भगवान्की कृपासे आप सबके लिए शीघ्र ही भोजनका प्रबन्ध हो जायगा।"

उधर वे सब गंगास्नानादिके लिए चल पड़े, इधर महाराज युधिष्ठिर तथा महारानी द्रौपदी आदि विचारने लगे कि आज बडा

धर्म-संकट आ गया है। भगवान्‌के हाथमें ही आज हमारी मानरक्षा है, ऐसे समयमें घभराना उचित नहीं। धैर्यकेसाथ श्रद्धा–भक्तिपूर्वक भगवच्चिन्तन ही करना चाहिए। ऐसा विचारकर विश्वास एवं एकाग्रताके साथ वे भगवान्‌की याद करने लगे। उनका विश्वास था कि–जब जब हमारे ऊपर संकट आते हैं, तब तब सर्वसमर्थ भगवान् नारायण श्रीकृष्ण ही रक्षा करते आये हैं, इस समय भी वे अवश्य रक्षा करेंगे ही, इसमें संशय नहीं।

भावुक निर्मल हृदयकी भगवान्‌की याद, कदापि निष्फल नहीं होती। इधर भगवच्चिन्तनमें भक्तोंका हृदय एकाग्र हो गया, तो उधर भगवान्‌का अचल सिंहासन डोल उठा। भगवान् तुरन्त ही दौड पड़े। शीघ्र ही महारानी द्रौपदीके समक्ष–जो आँखें बन्द करके परमप्रिय भगवान् के ध्यानमें निमग्न हो रही थी–प्रकट हो गये। कहने लगे– "अरी देवी ! द्रौपदी ! आँखें खोल, मैं आगया, बहुत दूरसे वेगसे चलकर आया हूँ, बड़ी कड़ी भूख लगी है–खानेको जल्दी दे।" द्रौपदीने सहसा आँखें खोलीं, सामने आनन्दकन्द, कन्दर्पकोटिसुभग, परम-मनोहर भगवान् श्रीकृष्ण दर्शन दे रहे हैं। द्रौपदीके हृदयमें आनन्दका महासागर लहराने लगा। महाराज युधिष्ठिर आदि भी भगवान्‌का दर्शनकर बडे सन्तुष्ट हुए।

द्रौपदीने भगवान्‌से प्रेमसे सनी हुई मधुरवाणीसे कहा–"प्रभो ! आज क्या जानें? प्रातःकाल किस अभागीका मुख देखा है, कि– हमारे द्वारपर भूखे अतिथियोंके झुण्डके झुण्ड आये हैं। आप भी भूखे ही पधारे हैं।" द्रौपदीने मार्मिक भाषामें कहा–कृपानिधान! "यह तो

बतलाइयेगा कि-स्वयं जो भूखा हो वह दूसरोंकी भूख कैसे भगायेगा ? ।"

भगवान् तुरन्त ही मुँह बिगाडकर बोल उठे कि-मैं और कुछ नहीं जानता, मुझे खानेको जल्दी दे । 'शतं विहाय भोक्तव्यम् ।'

द्रौपदीने कहा-प्रभो ! इस समय खानेके लिए कुछ भी नहीं हैं, यदि होता तो आपको याद क्यों करते ?

भगवान् आश्चर्य प्रकट करते हुए बोले-"हमने सुना है कि-तुमको सवितादेवने अक्षयपात्र दिया है, इसके द्वारा तुम्हें यथेष्ट एवं पर्याप्त भोजन मिलता रहता है, यह बात क्या सच्ची नहीं ?"

द्रौपदीने दृढताके साथ कहा-"जीवनधन ! बात सर्वथा सच्ची है-परन्तु इस समय उससे भोजन नहीं मिल सकता, कल मिल सकता है ।"

भगवान्ने कहा-"अरी देवि ! तू अक्षयपात्र मुझे दिखा तो सही, कैसे उससे इस समय भोजन नहीं मिलता ? अवश्य मिलेगा । मेरे हाथमें तो उस पात्रको रख, देख पीछे-उससे थोडा बहुत मिलता है कि-नहीं ?

द्रौपदीने प्रसन्नताके साथ अक्षय्यपात्र भगवान्के करकमलोमें रक्खा । भगवान् मन्द मन्द हँसते हुए उस पात्रको देखने लगे । उसके भीतर हाथ फेरने लगे, अन्दरमें चिपका हुआ एक छोटासा शाकका पत्ता भगवान्को मिल गया । उसको हाथमें लेकर हँसते हुए भगवान् द्रौपदीसे कहने लगे-"देख, देख, मुझे भोजन मिल गया । बस इतने मात्रसे मेरी ही क्या, समस्त विश्वकी भूख मिट सकती है ।"

उससमय भगवान्ने '**अनेन विश्वात्मा तृप्यताम्**' ऐसा बोलकर उस पत्तेको अपने मुखमें रक्खा, भगवान् तृप्त हो गये। डकारें आने लगीं और कहने लगे--"इस पत्तेसे मेरी कड़ी भूख भाग गई, खूब तृप्ति हो गई।"

भगवान्के तृप्त होने पर समस्त विश्वकी तृप्ति हो गई। जिनके खास पेट भरनेके लिए भगवान्को यहाँ पधारना पड़ा था, उन दुर्वासाकी जमातके सभी साधुओंका पेट भगवान्ने खूब ठोंस करके भर दिया। उनके मुखिया दुर्वासा ऋषिका तो सबसे ज्यादा पेट भर दिया। इधर सब ऋषि-लोग कोई स्नान कर रहा है, कोई गंगाजलमें खड़े होकर गायत्री जप रहा है। कोई नाक दबाकर प्राणायाम कर रहा है, कोई वेद मन्त्रोंसे सूर्य-भगवान्को अर्घ्य दे रहा है, कोइ 'पुरुषसूक्त'का पाठ कर रहा है, तो कोई ध्यानमग्न होकर पद्मासन लगाकर बैठा है। एक मिनीटसे प्रथम सबके उदर खाली थे, पेटमें क्षुधाग्निकी ज्वाला धधक रही थी। परन्तु अब देखते हैं—अरे! यह मेरा पेट कैसे भर गया, मालुम होता है कि—खूब ठोंस करके खाया है, पेट तना जा रहा है। एक व्यक्ति दूसरेसे कहने लगा—अरे! मेरे पेटमें यह क्या हो गया? अभी ही भूखा था, अभी ही बिना खाये पेट कैसे भर गया। दूसरा भी आश्चर्यके साथ कहने लगा--अरे यार! मेरे पेटकी भी यही दशा है, अब प्राणायाम कैसे होगा? अब तो सो जानेका चित्त करता है। तीसरा कहने लगा—मेरा पेट फुल गया, अब पावन-गायत्री जपनेके लिए खड़ा नहीं रहा जाता। सभी ऋषिलोग अपना अपना नित्य नियम छोड़कर कोई बैठ गया, कोई सो गया, कोई अपने तने हुए पेटके

उपर प्रेमसे हाथ फेरने लगा। कोई कहता है—हम कभी इतना ठोंस कर भोजन नहीं करते। परन्तु कुछ समझमें नहीं आता है—कि विना खाये पेट इतना कैसे ठोंसकर भर गया। एक वाचाल दर्शनशास्त्रज्ञने कहा—'कारणमन्तरेण कथं कार्यं सम्पन्नमभूत्?' भोजनरूप कारणके विना उदरपूर्ति रूप कार्य कैसे सम्पन्न हुआ?। यदि इस प्रकार कारण विना कार्य होने लगा तो पिताके विना भी पुत्र पैदा हो जायेंगे। बीजके विना भी सस्य-निष्पत्ति होने लगेगी। यह क्या हो रहा है। 'किंमपि कारणमन्विष्यताम्' कुछ कारण तो खोजो। इधर दुर्वासाजी भी बडे परेशान थे, श्वास लेना एवं बैठना भी उनके लिए मुश्किल हो रहा था। दुर्वासाजीने अपनी दीर्घदृष्टिसे सोचा कि—पाण्डव भगवान्के भक्त हैं, यह सब भगवान्की ही करामात मालुम पड रही है। भगवान्के लिए कुछ भी अशक्य नहीं। दुर्वासाको उस समय राजा भक्त अम्बरीषकी घटना भी स्मृत हो गई। महर्षि दुर्वासाने अपने सभी शिष्योंको समीप बुलाकर कहा कि—अपने सबके पेट अदृष्ट-कारणसे खूब भर गये हैं—इसलिए पाण्डवोंके केम्पकी तरफ जाना उचित नहीं। भक्तके वशमें हैं भगवान्। भक्तके इस कार्यको भगवान्ने पुरा कर दिया है—द्रौपदीके वस्त्रोंकी पूर्तिका स्मरण करके कहने लगे कि—

'विधीयते यत् यदुनन्दनेन, नापेक्ष्यते तत्र सहायशक्तिः।
पाञ्चालबालाञ्चलदीर्घतायाः, न तत्र तन्तुर्न च तन्तुवायः॥'

भगवान् यदुनन्दन श्रीकृष्ण, भक्त-रक्षाके लिए जो कार्य करते हैं, वे अलौकिक ही हुआ करते हैं। उनमें लौकिक सहाय शक्तिकी अपेक्षा नहीं होती। संकल्पमात्रसे भगवान्के कार्य सम्पन्न हो जाते हैं। जब

द्रौपदीके वस्त्रको भरी सभामें नीच दुःशासन खींच रहा था, उस समय अपनी परम भक्ता अनन्य शरणापन्न द्रौपदीकी लज्जा रखनेके लिए—भगवान्‌ने उसके शरीरके ऊपर असंख्य साडियोंकी ढेरका सर्जन किया था। उन साडियोंके सर्जन करनेमें भगवान्‌को लौकिक तन्तुओंकी एवं बुणकरोंकी कोई आवश्यकता नहीं पडी थी। संकल्पमात्रसे पर्वतके समान—साडियोंका उंचा टिंबा बना डाला था। इसप्रकार उसी भगवान्‌ने ही भोजन विना किए अपने सबके पेट भर दिये हैं। इसलिए दूरसे ही पाण्डवोंकी छावनीको नमस्कार करके यहाँसे सीधा ही गंगापार होकर 'गच्छन्ति' कर लेनी चाहिए।

गुरुकी आज्ञा पाकर सब शिष्य अपना लटापटा लेकर जानेके लिए तैयार हो गए। और अपने गुरु दुर्वासाजीको आगेकर सबके सब गंगापार होकर जाने लगे।

इधर कैम्पमें आनन्दनिधि प्रभु श्रीकृष्ण भीमसेनसे कहने लगे—भीमसेन! गंगातट जाकर देखो तो सही। दुर्वासाजीकी जमातको भोजनके लिए आनेमें इतना विलम्ब क्यों हो गया?। वहाँ जाकर उन सबको यहाँ बुला लाइये। कहना कि-आप सब शीघ्र चलें। भोजन तैयार है।

भीमसेन भी आश्चर्यके साथ सोचने लगा कि-यहाँ भोजनकी कुछ भी व्यवस्था दीख नहीं रही है, अक्षयपात्रका द्वार भी बन्द है। और यह श्रीकृष्ण मुझे भोजनके लिए उस दश हजारकी जमातको शीघ्र बुलानेके लिए भेज रहा है। बुलाकर यह क्या खिलायगा?। परन्तु साथमें भीमसेन उस नटखट भगवान्‌की चमत्कारिक, सामर्थ्यशाली, दुर्विभाव्य लीला-निपुणताको भी जानता था। इसलिए श्रद्धावनत होकर भीमसेनने

कहा-जी ! प्रभो ! अभी ही जा रहा हूँ ।

गंगातटपर पहुँचकर भीमसेन देखता है कि-यहाँ तो जमातका एक भी साधु नहीं है, किधर गये, सबके सब । दूर दृष्टि डालनेपर मालुम पडा कि--वे सब गंगापार होकर बहुत दूर शीघ्र ही जा रहे हैं। भीमसेन गंगापार होकर लम्बी लम्बी कदमें भरता हुआ, उनके समीप पहुँचा । दुर्वासा महर्षिजीसे मिला । विनयसे कहा-भगवन् ! आप सब रास्ता भूल गये हैं, वापस लौटिये, भोजन तैयार है, वहाँ आप सबकी बडी प्रतिक्षा की जा रही है ।

दुर्वासाजीने कहा--अच्छा ! भीमसेन ! यह तो बतलाइये कि--वहाँ वे द्वारकावासी श्रीकृष्ण तो नहीं आये हैं, भीमसेनने शीघ्रतासे कहा--हाँ हाँ आये हैं, भगवान् पधारे हैं, उन्होंने मुझे आप सबको बुलानेके लिए भेजा है । आप सबके दर्शनोंके लिए भगवान् बडे समुत्सुक हैं । तब दुर्वासाजीने प्रेमसे कहा-तब तो भईयाजी ! भगवान्को यहाँसे ही हमारी सबकी दण्डवत् प्रणाम कह देना । कहना कि-आप हमारी भूख मिटाकर सबके 'लेटर बोक्स' ठोंस भरके अब बुला रहे हैं ?। बस, अब कृपा करें, इतना कहकर दुर्वासा और उनके साथी आगे जाने लगे और भीमसेनको निराश होकर वापस लौटना पडा ।

श्रीमद्भागवतमें वेदव्यासने उस चरित्रका संक्षेपसे पांडवोंके शब्दोंमें इस प्रकार परिचय दिया है—

'यो नो जुगोप वनमेत्य दुरन्तकृच्छ्राद् ,
दुर्वाससोऽरिविहितादयुताग्रभुग्यः ।
शाकान्नशिष्टमुपभुज्य यतस्त्रिलोकीं,
तृप्ताममंस्त सलिले विनिमग्नसङ्घः ॥' (१।१५।११)

पाण्डव कहते हैं—शत्रुओंके षड़यन्त्र रचनेके कारण, दसहजार शिष्योंके साथ भोजन करनेवाले दुर्वासा ऋषिके द्वारा प्राप्त होनेवाले दुरन्त कष्टसे—जिन भगवान् श्रीकृष्णने वनमें पधारकर अक्षयपात्रका एक छोटासा—चिपका हुआ शाकका पता खाकर, हमारी रक्षा की। क्योंकि--उनके ऐसा करने पर ही गंगाजलमें स्नान करते समय उस मुनिमण्डली सहित अपने सहित समस्त त्रिलोकी भोजनसे अत्यन्त तृप्त हुई—माल्रम होने लगी थी। इसलिए वे सब ऋषिलोग, हमारे पास न आकर उधरसे ही चले गये थे।

भगवान्के इस पावन चरित्रका क्या तात्पर्य है? शान्त बुद्धिसे विचार करना चाहिए। इससे भगवान्का वास्तविक स्वरूप अद्वय, पूर्ण, विश्वात्मा, अपरिच्छिन्न ही सिद्ध होता है। अन्यथा एक छोटेसे पत्तेके द्वारा समस्त विश्वके प्राणियोंकी तृप्ति कैसे सिद्ध हो सकती है?। एक व्यक्तिके खा लेनेपर तदन्य दूसरी व्यक्तिकी तृप्ति देखनेमें नहीं आती है। अतः भगवान् परिच्छिन्न नहीं माने जा सकते। किन्तु महान्, विभु, सर्वानन्य, अन्तर्बहिः पूर्ण ही निश्चित होते हैं। अत एव इस चरित्रका तात्पर्य, विख्यात 'अद्वैतसिद्धि' ग्रन्थके लब्धप्रतिष्ठ व्याख्याकार गौड़ ब्रह्मानन्दस्वामीने यही बतलाया है कि—

'द्रौपदीशाकमास्वाद्य, त्रिलोकी येन तर्पिता।
तज्जीवब्रह्मणोरैक्ये साक्षी ब्रह्मैव नो हरिः॥'

उस ब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्णका समस्त जीवोंके साथ एकत्व है, अनन्यत्व है, इस विषयमें उस भगवान्का यह पावन चरित्र भी प्रमाण है।

इस प्रकार उस सर्वात्मा भगवान्‌के ज्ञानसे तदभिन्न समस्त विश्वका ज्ञान हो जाता है, अन्य ज्ञातव्य कुछ भी परिशिष्ट नहीं रहता। कहा भी है—विद्वान् महात्माओंने—

'दर्शनं श्रवणं ज्ञानं, यत्र नान्यस्य विद्यते।
अखण्डैकरसं शान्तं ब्रह्माद्वयमुपास्महे॥'

जिस सर्वानन्य पूर्ण तत्त्वके जान लेनेपर, अन्यका दर्शन श्रवण एवं ज्ञान करना बाकी नहीं रहता, जब उससे अन्य ही कोई पदार्थ नहीं होता, तब तद्विषयक दर्शनादि कैसे हो सकते हैं? नहीं हो सकते। उस अखण्ड, एकरस, शान्त, द्वैतप्रपञ्चोपशम, परमानन्द-पूर्ण-अद्वयब्रह्मकी ही हम उपासना करते हैं।

(३)

'मनुष्याणां सहस्रेषु, कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां, कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥' (७।३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई विरला ही मनुष्य मुझ परमात्माकी प्राप्तिके लिए यत्न करता है, और उन यत्नकरनेवाले सिद्ध योगियोंमेंसे भी कोई भाग्यवान् ही मेरेको तात्त्विकरूपसे जानता है।'

इस श्लोकमें आनन्दकन्द प्रभु, आत्मज्ञानकी दुर्लभता बतलाते हैं। अनेक साधनोंके द्वारा तथा मेरी कृपासे ही मेरा भक्त आत्मज्ञान प्राप्त करता है।

इस संसारमें प्रायः हजारों मनुष्य दुनियाँमें ही आसक्त हो रहे हैं, 'जाना है रहना नहीं, मरना बिस्वाबिस' इस फाँनी तूफानी दुनियाको छोडकर हमें एक रोज खाली हाथ जाना पडेगा, यह जानते

हुए-प्रत्यक्ष देखते हुए भी नहीं देखते-नहीं जानते। ऐसी मूर्खता-अपनेको बडा बुद्धिमान् माननेवाले एवं कहलानेवाले प्रदर्शित करते हैं—कि—

'आयु गवाँया दुनियामें, दुनिया चले न साथ।
पैर कुल्हाडा मारिया, मूरखने अपने हाथ॥'

ऐसी मूर्खता वे क्यों करते हैं? उसका कारण राजर्षि—भर्तृहरिजी बतलाते हैं—

'आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं,
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते,
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्॥'

प्रतिदिन सूर्य-नारायणके जानेआनेसे हमारी आयु क्षीण होती चली जा रही है, सांसारिक अनेक कार्योंके भारसे-गुरुभूत व्यापारोंसे जीवनका कितना अमूल्य समय व्यतीत हो गया, उसका उनको पता नहीं चलता। अपनी आँखोंसे जन्म, बुढ़ापा, विपत्ति, एवं मरण स्वयं देखता है, तथापि उस मूर्खको त्रास पैदा नहीं होता। क्या कारण है? ऐसी उलटी गंगा क्यों बह रही है? कारण बतलाया जाता है-कि-यह समग्र जगत् मोहप्रचुर प्रमादरूप मदिरा (शराब)का पान करके उन्मत्त हो गया है—भान भूल गया है। जिस प्रकार शराब पीनेपर मनुष्य—अपना एवं परायाका भान भूल जाता है, उस प्रकार दुनियाके लोगभी मोहरूप शराब पीकर, अपने देवदुर्लभ जीवनके अमूल्य समयका भान भूले हुए हैं। दूसरोंके बुढ़ापा, मृत्यु, विपत्ति आदि देखते हुए भी वे अपनेको अजर अमर मान बैठे हुए हैं—उन्मत्त जो हुए।

प्रथम तो मनुष्य शरीर ही प्राप्त होना बहुत दुर्लभ है। अनेक-पर्याप्त-पुण्योंके उदय विना मनुष्य शरीर नहीं मिलता। जलचर, स्थलचर, नभचर आदि असंख्य प्राणियोंमें मनुष्यजाति ही श्रेष्ठ मानी जाती है, अत एव इसका स्वरूप एवं योग्यता भी सभी जातियोंसे सुन्दर तथा विशिष्ट है, इसलिए अनेक प्राणियोंमें से कोइ एक विरला ही मनुष्य शरीर प्राप्त करता है। महात्मा तुलसीदासने भी यही कहा है–

'बडे भाग मानुष तन पावा, सुरदुर्लभ सद्ग्रन्थन गावा।
साधन धाम मोक्षकर द्वारा, (मानस–रामायण)

इसमें भी इस पावन आर्यावर्त भारत भूमिमें मानव शरीरका लाभ होना, दुर्लभतम माना जाता है। इस भूमिकी एक खास विशेषता है–जिसप्रकार केसरके लिए काश्मीरादिकी एक खास भूमि होती है–सभी भूमिमें केसरकी उपज नहीं होती, इसप्रकार यह भारतभूमि ही खास करके परमात्माके प्रादुर्भावका एक विशिष्ट स्थल माना गया है। आप सभी देशोंके धार्मिक मतवाले सज्जनोंसे प्रश्न करें कि–क्या आपके भगवान् अवतार लेकर आपके देशमें स्वयं प्रकट होते हैं ? वे तुरन्त ही साफ ना कर देंगे। अरबस्तान-तुर्कस्तान आदि देशवाले कहेंगे कि–हमारा खुदा-हमारे देशमें स्वयं नहीं आता, जब कभी बिगडी हुई व्यवस्थाको सुधारनेकी आवश्यकता मानता है–तब वह स्वयं यहाँ न आकर अपने किसी योग्य पीर या पैगम्बरको भेज देता है। युरोपवाले भी ऐसा ही कहेंगे कि–हमारा-प्रभु-गोड स्वयं यहाँ–हमारी भूमिमें नही आता, अपने प्यारे पुत्रको भेज देता है।

परन्तु भारतभूमिकी खास एक यही विशेषता है कि--इस भूमिमें

सर्वसमर्थ भगवान् स्वयं अनेकवार आये हैं, एवं आते हैं—भगवान् स्वयं गीतामें कहते हैं—'**सम्भवामि युगे युगे**' (४ । ८) युग-युगमें-मैं प्रकट होता हूँ—निराकारसे साकार होकर भारतकी इस-पावन धरामें अवतार लेता हूँ। युग युगकी तो एक बहुत लम्बी मुद्दत है, इसलिए भगवान्ने '**यदा यदा हि धर्मस्य**' (गी० ४ । ७) कहा, जब जब धार्मिक सज्जन भक्तोंका डेप्युटेशन (शिष्ट मण्डल) मेरे समक्ष आता है—प्रेमीभक्त जब जब मुझे बुलाते हैं, तब तब—युगकी तो दूरकी बात रही, परन्तु एक दिनमें भी अनेकवार मेरे प्यारे भक्तोंको आनन्द देनेके लिए मैं प्रकट हो जाता हूँ।

इसलिए स्वर्गीय देवता भी भारतभूमिकी महत्ताका गान करते हुए कहते हैं—

'गायन्ति देवाः किल गीतकानि,
धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे।'

भारतकी पावन-भूमिमें मानवशरीर धारण करनेवाले धन्य हैं,—अर्थात् प्रशंसनीय हैं।

जब सिकन्दर भारत विजयके लिए—अपने देशसे चलने लगा था—तब वह अपने गुरु सुकरातके समीप आशीर्वाद लेनेके लिए गया था—आशीर्वाद लेकर वह कहने लगा—गुरुजी ! मैं भारत जा रहा हूँ—उस देशकी किसी वस्तुकी आवश्यकता हो तो मुझे कहियेगा—मैं आपके लिए अवश्य लाउँगा। भारतका नाम सुनकर सुकरात बहुत प्रसन्न हुआ और कहने लगा—उन शब्दोंको किसी कविने यों लिखा है—

'कहा सुकरात सुन राजन् ! अगर जो तुम वहाँ जाना।
हमारे वास्ते लाना, तो एक ज्ञानी गुरु लाना॥

जिसका दिल है दरियाई, जो हरहाल मस्ताना।
पुनः यदि हो सके राजन् !, तो गंगाजल भी ले आना॥

जिसे मुनियोंने पी पीकर, गहरे-तत्त्वको जाना।
पुनः यदि हो सके राजन् ! तो बांसकी बंसुरी भी ले आना॥

बजाकर मैं भी देखूँगा, कि-स्वर है कैसा मस्ताना॥
अगर यदि हो सके राजन् ! तो गीता ग्रन्थ भा लाना।
नृपति तुम भूल मत जाना, कहानी राम अरु सीता॥'

इसप्रकार इस भारतकी अनेक विशेषताएँ—जो दूसरे देशवालोंके लिए दुर्लभ हैं-गंगाजल, एक ऐसा दिव्य पदार्थ है, जिसको पचासों वर्ष तक बोतलमें भरकर रक्खो, कभी खराब नहीं होगा, सदा ताजा एवं स्वच्छ ह। बना रहेगा। दुनियाँकी सभी नदियोंके जल-दो तीन रोजमें ही बासी हो जाते हैं—बिगड जाते हैं, उनमें सूक्ष्म कीडें पड जाते हैं, परन्तु गंगाजल सदा शुद्ध रहता है। विदेशी विशेषज्ञ-डॉक्टरोंने भी गंगाजलकी अन्य जलोंकी अपेक्षा विशेषता मानी है,—परीक्षण भी किये हैं।

इसप्रकार यह भारत आध्यात्मिक तत्त्वज्ञानका प्रधान केन्द्र है। यह पौरस्त्य देश है, और युरोप आदि पाश्चात्य देश है, इसलिए यहाँ ही प्रथम ऋषि-मुनियोंके पावन हृदयाकाशमें ज्ञानसूर्यका उदय होता है। और यहाँसे ही उसका आलोक पश्चिमदिशाके देशोंमें जाता है। अत एव इस देशकी धार्मिक भावनाओंका-कालवश ह्रास होनेपर भी

कभी विलोप नहीं होता। घोर कलिकालमें भी गंगातटपर अनेक तत्त्वदर्शी, सिद्ध महात्माओंका निवास रहता है।

इस प्रकारके पावन भारतमें मानव जन्म लेकर भी आत्मकल्याणके लिए प्रयत्न न करना, भगवद्-तत्त्वको जाननेके लिए समुद्यत न होना, अशाश्वत संसारसे प्रीति हटाकर शाश्वत आनन्दनिधि भगवान्की भक्तिका सम्पादन न करना, बडे ही खेद एवं लज्जाकी ही बात मान। जा सकती है। कुछ लोग कहते है कि—महाराज! क्या करें? हमारा प्रारब्ध ही खराब है।इस लिए हमारा मन भगवान्की तरफ लगता ही नहीं। यदि अच्छा प्रारब्ध होता तों हम आत्मकल्याणके लिए अवश्य प्रयत्न करते।

उनका यह कहना भ्रान्तियुक्त है। प्रारब्ध केवल सुखदुःखोंके देनेमें ही समर्थ है। हमारी भावि उन्नतिमें एवं आत्मकल्याणके प्रयत्नमें, वह बाधक नहीं होता। उसके लिए पुरुषार्थकी आवश्यकता है। पुरुषार्थहीन मानव किसी प्रकारकी उन्नति एवं तत्त्वज्ञानके साधनोंमें प्रगति नहीं कर सकता। भोगमें प्रारब्ध बलवान् है-एवं योगमें पुरुषार्थ प्रबल है। परन्तु मनुष्य, भ्रान्तिसे विपरीत काम करता है। जहाँ भोग प्रारब्धाधीन हैं, उनके लिए पुरुषार्थ करता रहता है, एवं जहाँ योग पुरुषार्थके आधीन है, उसको प्रारब्धके ऊपर छोड देता है। पुरुषार्थहीन प्रमादी बनकर कहता है-मेरेसे क्या हो सकता है? प्रारब्धमें होगा तों सत्संग भजन होगा एवं ज्ञान मिलेगा, नहीं तो हरिहर।

किसी रोगीकी आँख एवं पेट दोनों खराब थे। वह वैद्यके समीप गया। आँख एवं पेट वैद्यको दिखलाए। वैद्यने दोनोंके लिए पीसी हुई दवाइ-

योंकी दो पुडियाँ दी। कहा--इसको आँखमें डालना, और इसको पेटमें। वह रोगकी व्यथासे उद्विग्न था ही ' किस रोगका कौन औषध है ' यह भूल गया, भ्रान्तिवश पेटकी दवाई-काली मीरच आदि जिसमें पिसी थी-उसको आँखमें डाल दिया, एवं आँखकी दवाई-जिसमें कुछ विषाक्त पदार्थ था-पेटमें डाल दी। अब इसको स्वास्थ्य लाभ होनेके बदले दोनों रोग बढ़ गये।

इसप्रकार भ्रान्त-मानव, जिस योगसाधनमें पुरुषार्थकी आवश्यकता है--वहाँ प्रारब्धको लगाता है, एवं भोगप्राप्ति जो प्रारब्धाधीन है-उसके लिए सतत प्रयत्न करता रहता है। इसलिए ही श्रीमद्भागवतमें कहा है—

'तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो न लभ्यते यद्भ्रमतामुपर्यधः।
तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखं, कालेन सर्वत्र गभीररंहसा॥'
(भा० १।५।१८)

विचारशील-बुद्धिमान् उसी परम पुरुषार्थ-मोक्षके लिए ही प्रयत्न करे, जो पुरुषार्थ (पुरुष अभिप्रेत-समस्त दुःखनिवृत्ति एवं परमानन्द प्राप्तिरूप-अर्थ) ऊपरके स्वर्गादि लोकोंमें भ्रमण करनेवाले पुण्यवान् देवादिओंके लिए भी दुर्लभ है-चाहनेपर भी नहीं मिलता, तथा नीचेको पश्वादि-योनियोंमें भ्रमण करनेवाले पापी प्राणियोंको भी नहीं मिलता। देवताओंको स्वर्गीय भोगविलास एवं ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त होनेके कारण-वैराग्यादि-साधनोंके न होनेसे एवं पश्वादि प्राणियोंमें अत्यन्त मूढता होनेसे मोक्षका लाभ नहीं होता। आप कहें कि--यदि हम मोक्षके लिए ही प्रयत्न करने लग जाँय, तो इस संसारका काम कैसे चलेगा? खाने पीने आदिकी वस्तुएँ कैसे मिलेगी? इष्ट लाभजन्य सुख कैसे मिलेगा?

इसका समाधान व्यासदेव इस प्रकार करते हैं कि-जिस प्रकार आपको अनिष्ट लाभजन्य दुःख, नहीं चाहनेपर भी जबरदस्तीसे प्राप्त होता है, दुःखकी आप कभी अभिलाषा नहीं रखते, उसके कारण रोगादि-अनिष्टोंको कभी नहीं चाहते। कोई भी १०५ डिग्रीवाला मलेरिया बुखार भेजनेके लिए डोक्टरको अस्पतालमें लेटर (पत्र) नहीं लिखता, तथापि उसको बलात् बुखार आ जाता है, तज्जन्य दुःख भोगना पडता है। ऐसा कोई नहीं चाहता कि-प्यारा पुत्र मर जाय, तथापि मर जाता है। उसका वियोगजन्य दुःख भोगना पडता है-ऐसा क्यों होता है? आप विचारकर कहेंगे कि-इष्टवियोग एवं अनिष्ट संयोग-जन्य विविध दुःख पापोंके ही कारण दुष्ट प्रारब्धके योगसे ही मिलते हैं।

इस प्रकार दुःखकी भाँति सांसारिक, इष्ट लाभ-जन्य एवं अनिष्ट निवृत्तिजन्य सुख भी आपको नहीं चाहनेपर भी अच्छे प्रारब्धके योगसे पुण्यकर्मोंके वश मिलेंगे ही। जिस प्रकार आपको दुनियाँके दुःख प्रयत्न नहीं करनेपर भी मिलते हैं—उस प्रकार दुनियाके सुख भी प्रयत्न नहीं करनेपर मिल जायेंगे। संसारके वैषयिक सुखदुःख, प्रारब्धके आधीन हैं, पुरुषार्थके आधीन नहीं। '**कालेन सर्वत्र गभीररंहसा।**' संसारमें काल एक गभीर वेगवान् पदार्थ है—उसके वेगको प्राणियोंकी अनेक प्रकारकी सुखदुःखकी दशाओंके परिवर्तनका कारण माना है। आप संसारमें यह प्रत्यक्ष बात देखते हैं—

'समय बडो बलवान हैं, नहीं पुरुष बलवान।
काबे अर्जुन लूटिया, वही धनुष वही बाण॥'

एक समयमें मनुष्य खिलखिलाकर हँसता है तो दूसरे समयमें

छाती पीटपीटकर रोता है। किसी समयमें लाभवश प्रसन्न होता है तो किसी समय हानिवश उद्विग्न होता है। किसी समयपर वह बाल्यदशा-की मुग्धताका, किसी समयपर तारुण्यकी सुन्दरताका एवं उद्दण्डताका अनुभव करता है, तो किसी समयपर बुढ़ापेकी दुर्दशाको देखता हुआ मृत्यु शरणका अनुभव करता है। कभी सम्पत्तिका समय आता है तो कभी विपत्तिका। कभी होली तो कभी दिवाली। कभी पूर्णिमाके पूर्ण चन्द्रकी आह्लादकारी मनोहारी मधुर-ज्योत्स्नाका दर्शन होता है, तो कभी अमावास्याकी घनघोर, भयावनी, अंधेरी, काली घटाओंका आह्लाद-हारी, भयकारी दर्शन होता है। इसप्रकार—

'कालः समविषमकरः परिभवावमानमानदः कालः।
कालः करोति पुरुषं दातारं याचितारञ्च॥'

काल ही सम एवं विषमका कर्ता है। काल ही कभी परिभव, कभी अपमान एवं कभी सन्मानका दाता होता है। काल ही कभी दाता-अमीर मनुष्यको याचिता-भिक्षुक भी बना देता है।

एक घटी-यन्त्रको खोलकर देखें—उसमें अनेक छोटे बडे चक्र चलते हुए दिखाई पडेंगे। उसमें एक मूल चक्र चावी भरा हुआ होता है। उसके साथ दूसरे चक्रका कनेक्शन होता है—द्वितीयके साथ तृतीयका, तृतीयके साथ चतुर्थका, जिसमें टाईमके कॉटोका कनेक्शन रहता है-वे कॉटें भिन्न भिन्न टाईमोंकी सूचना देते रहते हैं। इस प्रकार यह संसार भी एक प्रकारका घटी यन्त्र है। इसमें एक मूलभूत अविद्या का चक्र है—उससे सम्बन्धित द्वितीय कामनाओंका चक्र है—तृतीय कर्मोंका चक्र है, चतुर्थ कालका चक्र है। यहीं काल चक्र प्राणियोंके

शुभाशुभ दशारूप विभिन्न टाईमोंका सूचक होता है। अविद्या, काम, कर्म, एवं सुखदुःखादि द्वन्द्व प्रयोजक काल इन चारोंका समुदाय ही तो संसारचक्र है।

समयका वेग बडा प्रबल है। अतएव भगवत्पादने कहा है—

दिनमपि रजनी सायं प्रातः, शिशिरवसन्तौ पुनरायातः।
कालः क्रीडति गच्छत्यायुस्तदपि न मुञ्चति आशावायुः॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते!।

वारंवार दिन होता है और जाता है, रात होती है और जाती है, सायं एवं प्रातः होता है और देखते देखते ही चला जाता है, एवं शिशिर-वसन्त आदि अनेक ऋतुएँ भी आ आकर चली जाती हैं, इस प्रकार काल भगवान्की प्रबल वेगवाली विचित्र क्रोडा निरन्तर होती रहती है, इससे प्राणियोंकी आयु क्षीण होती जा रही है। तथापि खेद एवं लज्जाकी बात है कि हे मूढमते! तू इस असार क्षणभंगुर संसारकी आशारूपी वायुको छोडना नहीं चाहता। अरे मूर्ख! प्रबल वेगवान् कालदेवने तो तेरी बहुत कुछ अमूल्य आयु नष्ट कर दी, अब बहुत ही थोडी आयु बची है, उसको तो तू सार्थक बना, इसके द्वारा अन्तर्यामी गोविन्द भगवान्का निरन्तर प्रेमसे भजन कर।

समयका वेग-जिस अनिष्ट दृश्यको मनुष्य देखना भी पसंद नहीं करता, उसको सामने लाकर खडा कर देता है, एवं जिस इष्ट दर्शनके लिए हरदम लालायित रहता है—अनेकविध प्रयत्न करता रहता है—उससे बहुत दूर हटा देता है। अतएव मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम, लक्ष्मणजीके प्रति कालकी विचित्र वेगवती क्रीडाका अपने

दृष्टान्तसे वर्णन करते हुए कहते हैं—

'यच्चिन्तितं तदिह दूरतरं प्रयाति,
यच्चेतसा न कलितं तदिहाभ्युपैति ।
प्रातर्भवामि वसुधाधिप-चक्रवर्ती
सोऽहं व्रजामि विपिने जटिलः तपस्वी ॥'

हे लक्ष्मण! इस संसारकी आश्चर्यमयी विचित्र दशा है। जिस इष्ट पदार्थके लाभके लिए हम चिन्तित रहते हैं—कब मिले, कब मिले? ऐसी प्रतीक्षा करते हैं, इसके लिए अनेकविध प्रयत्न करते हैं, परन्तु वह कर्माधीन कालकी विपरीत-गतिसे हमें नहीं मिलता, हमसे हजारों कोस दूर हो जाता है। इस प्रकार जिसका हमें स्वप्नमें भी ख्याल नहीं होता—जिसे हम कदापि देखना भी पसंद नहीं करते, वह अनिष्ट दृश्य, हमारे सामने आकर सहसा-भूतकी तरह खडा हो जाता है। इस विषयमें हे लक्ष्मण! तू मुझको ही देख। प्रातः मैं वसुधाका अधिपति-चक्रवर्ती सम्राट् होनेवाला था—अयोध्यावासी सभी लोग मेरा वसुधाधिपतित्व देखना चाहते थे, वही मैं आज जटाधारी होकर, तपस्वी वेष बनाकर अरण्यमें जा रहा हूँ। यह भी संसारचक्रका एक विलक्षण नमूना है।

अत एव इस संसारचक्रमें घुमनेवाले प्राणियोंको सुख एवं दुःख कर्माधीन कालके द्वारा ही मिलते रहते हैं। इनके लिए पुरुषार्थ अनुपयुक्त है। इसलिए यह सिद्धान्त यथार्थ है कि-भोगमें प्रारब्ध प्रबल है, एवं योग (आत्मकल्याण-मोक्षके साधन) पुरुषार्थसे हो सिद्ध होते हैं।

इसप्रकार हजारों भ्रान्त एवं प्रमादी मनुष्यों में से कोई एक ही समझदार विवेकी भाग्यशाली मानव अपने आत्मकल्याण-मोक्षके लिए

प्रयत्नशील होता है। इन प्रयत्न करनेवाले मानवोंको भी कल्याणके मार्गमें अनेकविध विघ्न-बाधाएँ उपस्थित होती हैं-आगे बढ़ने नहीं देतीं, कभी आगे बढ़नेके बदले उनको पीछे धकेल देती हैं; इन बाधाओंका भी शूरवीरकी भाँति मुकाबला करना पडता है; धैर्य रखकर जो अपने प्रयत्नको चालू रखता है; कभी उससे उपरत नहीं होता, तब कभी वह भगवत्कृपासे सफल होता है। अत एव कठोपनिषद्में कहा है–

> **'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः,**
> **शृणवन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।**
> **आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा,**
> **आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥'**
>
> (क० उ० १।२।७)

जो परमात्मा, बहुत ही अभागियोंको तो सुननेके लिए भी प्राप्त नहीं होता, और बहुतसे सुनकर भी उसे समझ नहीं पाते। उस ब्रह्मात्मतत्त्वका निरूपण करनेवाला वक्ता भी आश्चर्यरूप है–अर्थात् बहुत दुर्लभ है। उसको प्राप्त करनेवाला भी कोई निपुण–सर्वथा जागरूक महापुरुष ही होता है, तथा कुशल आचार्य द्वारा उपदेश किया हुआ–ज्ञाता भी कोई एक–आश्चर्यरूप होता है।

जब यह मानव किसी पुण्यविशेषके योगसे–सत्संगका प्रेमी बनता है–कीर्तन-भजनमें उसकी रुचि प्रकट होती है–ब्रह्मचर्चामें प्रवृत्त होता है–तब इन्द्रियोंके गोलकोंमें अधिष्ठातृरूपसे बैठे हुए देवता गण अनेक प्रकारके विघ्न डालते हैं–उसको आगे बढ़नेसे रोकते हैं। क्योंकि - बृहदारण्यक उपनिषद्में कहा है–

तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विदुः।' (१।४।१०)

इसलिए-देवताओंको यह अच्छा नहीं लगता है कि-मनुष्य उस ब्रह्मतत्त्वको जान जाँय। ये सभी अज्ञानी मूढ़मानव-देवताओंके पशु हैं। जिसप्रकार गवादि-पशुओंके स्वामीको यह बात कभी अच्छी नहीं लगती है कि-मेरे आधीन रहे हुए इन पशुओंमेंसे किसीको कोई ले जाय। इसप्रकार ये अज्ञानी जन भी पशुओंके समान देवताओंका उपकार करते हैं-जैसे पशु अपने स्वामीको दुग्धादि प्रदान कर सन्तुष्ट रखते हैं, तैसे ये अज्ञानी भी विविध शब्दाद विषयोंका इन्द्रियोंके द्वारा आहरण कर, या यज्ञोंमें हविरादि प्रदानकर देवताओंको सदा सन्तुष्ट रखते हैं। इसलिए देवतालोग कभी यह नहीं चाहते हैं कि—मनुष्य ब्रह्म-विद्याके द्वारा ब्रह्मभाव प्राप्तकर हमारे पशुभावसे निवृत्त हो जाँय। अतएव देवतालोग ब्रह्मविद्याके मार्गमें अनेक प्रकारकी बाधाएँ उपस्थित करते हैं। देवता हमसे दूर तो नहीं हैं, किन्तु हमारे शरीरके अनेक स्थलोंमें बैठे हुए हैं। इसलिए वे अपनेसे अधिष्ठित इन्द्रियोंके द्वारा अनेक प्रकारके मोह उत्पन्न करते हैं। नेत्रद्वारा तरुण-सुन्दर-स्त्री पुत्र धनादिमें, श्रोत्रद्वारा आकर्षक मनोहर सिनेमा आदिके अश्लील संगीतोंमें, जिह्वाद्वारा विविध अभीष्ट खानपानादिओंमें, नासिकाद्वारा इत्र-एवं-पुष्पादिकी सुगन्धमें, त्वक् द्वारा कोमल वस्त्र परिधान शय्यादिमें, मोह पैदाकर उसको ब्रह्मानुसंधानसे विमुख बना देते हैं। देहभावको दृढ बनाकर उसमें जात्यभिमान कुला-भिमान, विद्याभिमान आदि पैदाकर, उत्पन्न हुए ब्रह्मभावको 'झंझावातके मध्यमें उत्पन्न हुए दीपकके समान, एक क्षणमें ही नष्ट कर देते हैं। तथा स्त्री, पुत्र सम्बन्धी आदिके रूपसे ममत्वाभिनिवेश पैदाकर त्याग, वैराग्यके

शान्तिमय–प्रसन्न मार्गमें आगे बढ़नेसे रोक देते हैं।

एक सेठ है, उसके अनेक नौकर हैं। वे उसके आधीन रहकर, उसकी आज्ञाके अनुसार काम करते रहते हैं। सेठको कभी यह अच्छा नहीं लगता है कि–मेरा नौकर मेरी नौकरीसे निवृत्त होकर मेरा सेठ बन जाय, मेरेसे भी बडा बन जाय, जो मेरे सामने अञ्जलि बांध खडा रहता था, उसके समक्ष मुझे अञ्जलि बांध खडा रहना पडे। इस प्रकार देवलोग भी अज्ञानी मनुष्योंके सेठ हैं। ज्ञानके द्वारा अज्ञान दूर कर स्वतः सिद्ध ब्रह्मभावको प्राप्त करनेसे प्रथमके अज्ञानी, देवताओंके नौकर–अब देवताओंके स्वामी एवं प्रणम्य बन जाते हैं।

इसलिए हमारे शास्त्रोंमें निर्विघ्नताके लिए देवताओंकी आराधनाका, एवं प्रार्थनाका आदेश दिया है। उससे सन्तुष्ट होकर देवलोग प्रतिकूल आचरण छोडकर अनुकूल–सहायक बन जाते हैं। अत एव ब्रह्मविद्याके पावन मार्गमें आगे बढ़नेके लिए देवताओंकी भी ब्रह्मभावसे अवश्य आराधना करनी चाहिए।

किसी समय आनन्दकन्द विश्वान्तर्यामी प्रभु–भगवान् श्रीकृष्णने भीमसेनसे कहा था कि—

'विद्यायां धन्विनां कोटिः, तदर्धं हरिमंदिरे।
तदर्धं जाह्नवीतीरे, तदर्धं दक्षिणे करे॥'

ब्रह्मविद्यामें एक करोड धनुर्धारी योद्धा विघ्न करनेके लिए खडे रहते हैं। हरिमंदिरमें–जहाँ भगवान्का पावन दर्शन एवं सत्संग होता है, पचास लाख विघ्नकारी योद्धा खडे रहते हैं–वहाँ जानेवालोंको रोकते हैं। गंगातीरपर मोक्षकारी पापहारी स्नान लाभमें रुकावट डालनेके लिए

पचीस लाख योद्धा खडे रहते हैं। एवं दान देनेमें प्रतिरोध डालनेके लिए दक्षिण हस्तमें साडे बारह लाख योद्धा विद्यमान रहते हैं। ताकि-वह दान देनेके लिए दक्षिण हाथ खोल न दे।

इस श्लोकको भगवान्‌के श्रीमुखारविन्दसे सुनकर भीमसेन हँसता हुआ कहने लगा—भगवन्! यह श्लोक तो मुझे कोरी गप्पके समान झूठा मालूम पडता है। भगवान्‌ने दृढताके साथ कहा—नहीं, नहीं, झूठा कभी नहीं हो सकता, यह किसी शास्त्रका प्रामाणिक वचन है।

भीमसेनने कहा—कहीं ऐसे विघ्नकारी योद्धा-इतनी बड़ी संख्यावाले-देखनेमें तो नहीं आते हैं, तब यह वचन प्रामाणिक कैसे हो सकता है?

भगवान्‌ने कहा—कहीं गुपचुप छिपे बैठे रहते होंगे, इसलिए देखनेमें नहीं आते होंगे।

भीमसेन बोला—तब तो इसका परीक्षण अवश्य करना चाहिए। मैं इस समय गंगातटपर जाकर देखूँगा कि— कहाँ वे योद्धा छिपे रहते हैं—स्नान करनेमें विघ्न डालते हैं।

भगवान्‌की अनुमति प्राप्तकर भीमसेन गंगातटपर गया। अश्वारूढ होकर दोनों किनारोंकी झाडियोंमें विघ्नकारी योद्धाओंको सबेरेसे लेकर शामतक ढूंढता रहा। परन्तु भीमसेनको एक भी योद्धा नहीं मिला। निराश होकर वापस लौटकर भीमसेन भगवान्‌से कहने लगा कि—प्रभो! वह श्लोक बिलकुल गप्प है—गंगातटपर एक भी योद्धा नहीं है।

हँसते हुए भगवान्‌ने भीमसेनसे कहा—अच्छा जी! नहीं मिला तो नहीं सही। परन्तु यह तो बतलानेकी कृपा करें कि—आप प्रातःकालसे लेकर सांयकाल तक दस घण्टे गंगातटपर घूमते रहें, किन्तु आपने गंगा-

स्नान किया कि नहीं?।

भीमसेनने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—भगवन्! स्नान करना तो मैं भूल गया। स्नान तो क्या? आचमन एवं प्रोक्षण भी न कर सका। योद्धाओंको ढूँढनेकी धुन लगी थी जो।

तब भगवान् भीमसेनकी पीठ थपथपाते हुए हँसकर कहने लगे—तब तो शास्त्रका वह वचन प्रामाणिक हो गया। दृष्ट नहीं किन्तु अदृष्ट होकर भी योद्धा वहाँ खडे हुए हैं, आपके गंगास्नानमें वे विघ्न डाल-करके ही रहें।

भगवान्का युक्ति-युक्त वचन सुनकर भीमसेन लज्जित होकर चुप हो गया।

तात्पर्य यह है कि—ब्रह्मविद्यामें, हरिदर्शनमें, दानपुण्यरूप सत्कार्यमें एवं गंगास्नानादिरूप पावन तीर्थमें, सांसारिक पदार्थोंमें आसक्त रहने-वाली, उनमें रागद्वेष करनेवाली, तथा उनके चिन्तनको नहीं छोडनेवाली हमारे मनकी लाखों करोडों वृतियोंको ही विघ्न करनेवाले बली बाधक योद्धे समझने चाहिए। वे ही हमें उन सत्कार्योंमें जानेसे रोकते हैं—अनेक प्रकारकी बाधाएँ डालते हैं, यह सबके प्रत्यक्षकी बात है। इनकी पराजय किये विना मनुष्य कल्याण मार्गमें आगे नहीं बढ़ संकता है।

अत एव हमारे स्वतः प्रमाण-अपौरुषेय वेदोंने इन असंख्य प्रति-रोधोंको चार कक्षाओंमें बतलाया है। एक धनादिकी इच्छा, द्वितीय द्वेष एवं क्रोध, तृतीय अश्रद्धा-नास्तिकता तथा चतुर्थ मिथ्याभिनिवेश। इन चार प्रतिरोधोंके निवारणके लिए तथा अमृत—अभय, ज्योतिः स्वरूप आनन्दपूर्ण ब्रह्मधाम प्राप्त करनेके लिए (१) दान—उदारता-निस्पृहता,

(२) प्रेम-क्षमा-सद्भाव, (३) श्रद्धा-आस्तिकता, (४) सत्यान्वेषण-सत्याभिनिवेश। इन चार साधनोंका क्रमशः उपदेश दिया है—जो उपदेश सामवेदमें सेतुसामगानसे प्रसिद्ध हैं—

हाउ ३ सेतूंस्तर दुस्तरान् ३ दानेनादानं हाउ ३।
अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्या ३ ॥ १॥

'हाउ ३' यह सामगानके लिए है, इसके द्वारा कल्याणकामी मनुष्यका जोरसे सम्बोधन किया जाता है—अरे हे भाई! तू ये चार दुस्तर, प्रतिरोधक सेतु-जिस प्रकार जलकी गतिके प्रतिरोधक सेतु (बाँध) होते हैं—जो लोभ, क्रोध, नास्तिकता एवं अनृतरूप हैं—जो दुस्तर यानी उल्लङ्घन करनेके लिए बडे कठिन हैं, एवं जो आत्मकल्याण—मोक्षमें प्रतिबन्धकरूप हैं, उन अनर्थकारी सेतुओंका इन सदुपायोंके द्वारा उल्लङ्घन-अतिक्रमण कर। दान-उदारता-त्यागरूप साधनके द्वारा अदान यानी दानधर्मका विरोधी लोभ-तृष्णा-कृपणतारूप सेतुका अतिक्रमण कर। दान धर्मकी प्राप्तिके लिए एवं अदानकी निवृत्तिके लिए 'मैं ऋत यानी सत्य ब्रह्मका प्रथमजन्मा परमैश्वर्यसे सम्पन्न साक्षात् हिरण्यगर्भ हूँ' ऐसी भावना कर। ऐसे महान् हिरण्यगर्भरूप तुझमें लोभ एवं कृपणता शोभा नहीं देती, अतः तू इस तुच्छ लोभका-धनादि इच्छाका परित्याग कर, यहाँ धनादिकी इच्छा, शब्दादि विषयोंकी इच्छारूप कामका भी सूचक है, उसका भी तू निःस्पृहता एवं विवेक-वैराग्यके द्वारा परित्याग कर।

हाउ ३ सेतूंस्तर दुस्तरान् ३ अक्रोधेन क्रोधं हाउ ३।
पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाभा ३, हाउ ३ ॥ २॥

अरे! तू पुनः इन चार दुस्तर प्रतिबन्धक सेतुओंका अतिक्रमण

कर। अक्रोध यानी क्रोधका विरोधी क्षमा एवं प्रेम। यहाँ अधर्मकी भाँति विरोधी अर्थमें 'नञ्' है, अभाव अर्थमें नहीं, जिस प्रकार अधर्मका,—धर्मका अभाव अर्थ नहीं माना जाता, किन्तु धर्मका विरोधी—पाप तद्वत्। उससे तू क्रोधका अतिक्रमण कर, क्षमा एवं प्रेमकी प्राप्तिके लिए 'मैं विषयद्योतक मनः चक्षुरादि इन्द्रियोंसे भी प्रथम विद्यमान हूँ, उनसे पृथक् हूँ, एवं मैं आनन्दनिधि निर्विकार, निर्भय अमृतकी नाभि यानी केन्द्र हूँ, अर्थात् मैं सर्वानुगत, अखण्ड, एकरस, विशुद्ध, पूर्ण ब्रह्म ही हूँ।' इस प्रकारकी सतत भावना किया कर। ऐसे निर्विकार-ब्रह्म-रूप-तेरे समीप द्वेष एवं क्रोध कैसे आ सकते हैं? नहीं आ सकते। मनः पर्यन्त क्रोधादि जा सकता है, परन्तु उससे परे जो शुद्ध-असंग आत्मा है, वह तू है, वहाँ क्रोधादिकी गति नहीं है। इसलिए तू सर्वात्म-भावनाके बलसे क्षमा एवं प्रेमको निरन्तर धारण कर, उनके द्वारा क्रोध एवं द्वेषका परित्याग कर।

सेतूंस्तर दुस्तरान् हाउ ३ श्रद्धया अश्रद्धां हाउ ३।
यो मा ददाति स ३ देवमावाः हाउ ३ ॥ २॥

अरे! पुनः तू इन चार दुस्तर प्रतिबन्धक सेतुओंका अतिक्रमण कर। ये चार सेतु बडे अनर्थकारी हैं, इसलिए अवश्य ही इनका तुझे उल्लङ्घन करना ही चाहिए। श्रद्धासे-आस्तिक भावसे तू अश्रद्धा-नास्तिकताका अतिक्रमण कर। 'मैं वही सत्य सनातन पूर्ण पुरुष हूँ, जो कोई साधक मुझको सर्वस्वका दान करता है, आत्मनिवेदन कर देता है, वही मुझ सर्वात्मदेवको प्राप्त हो जाता है।' इस प्रकार अपने आत्माके विपुल महत्त्वके अस्तित्वकी भावनारूप श्रद्धासे तू अश्रद्धाका विध्वंस

कर। अपने आपके अस्तित्वमें तो अवश्य ही तुझे श्रद्धा रखनी चाहिए। एवं उसके अस्तित्वके महत्त्वके साक्षात्कारके लिए भी प्रबल प्रयत्न करना चाहिए। **'श्रद्धाश्रमाभ्यां सकलार्थसिद्धिः।'** श्रद्धा एवं प्रयत्नसे निखिल प्रतिबन्धोंकी निवृत्ति एवं समस्त इष्टकी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

सेतूंस्तर दुस्तरान् हाउ ३ सत्येनानृतं हाउ ३।
अहमन्नमहमन्नमदन्तमाद्मि ३ हाउ ३ ॥ ४॥

अरे! पुनः मैं (वेद भगवान्) कहता हूँ, वार वार चिल्ला करके कहता हूँ, कि—तू इन चार दुस्तर प्रतिबन्धक सेतुओंका इन साधनोंसे अतिक्रमण कर। सत्यसे अनृतका अतिक्रमण कर। सत्य तो एकमात्र परब्रह्म ही है। उससे अन्य नामरूपात्मक, दृश्य, जड, परिच्छिन्न संसार अनृत यानी मिथ्या है। सत्य ब्रह्मकी भावनासे अनृत संसारका विध्वंस कर। एवं सत्य-भद्रदर्शनसे, सत्य-भाषणसे, सत्य-श्रवणसे एवं सत्य-आचरणसे अनृत-अभद्रदर्शनका, अनृत भाषणका, अनृत श्रवणका एवं अनृत आचरणका भी अतिक्रमण कर।

अहो! मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ अर्थात् समग्र भोग्य प्रपञ्च भी मैं हूँ, एवं उसका अदन (भक्षण) कर्ता अग्नि आदि भोक्ता भी मैं ही हूँ, जो अत्ता (भोक्ता) है, वह अन्न (भोग्य)को अपनेमें होम कर देता है, इसलिए मैं विशुद्ध ब्रह्म, उस भोक्ताको अपनेमें होम कर देता हूँ, समस्त भोग्य एवं भोक्ताका होम हो जानेपर-जो विशुद्ध पूर्ण एकरस अखण्ड ब्रह्म परिशिष्ट रहता है, वही मैं हूँ, इसप्रकार सर्वप्रपञ्च-बाधावधिरूप, निर्विशेष, केवलाद्वैत, सत्य ब्रह्मके सतत अनुसंधानसे अनृतरूप चतुर्थ प्रतिबन्धकका तू अतिक्रमण कर।

वा एषा गतिः एतदमृतं स्वर्गच्छ ज्योतिर्गच्छ,
सेतूंस्तीर्त्वा चतुरः ॥ ५ ॥
(सामवेदगान-संहिता)

बस यही गति यानी उद्धारका-आत्मकल्याणका प्रकार है। यही अमृत है, अर्थात् अमृतत्वरूप—मोक्षप्राप्तिका यही साधन है। इन साधनोंके द्वारा इन चार अनर्थकारी सेतुओंका उल्लङ्घन करके तू स्वः यानी निरतिशय-अनन्त-आनन्दको प्राप्त होजा, एवं स्वयं प्रकाश-भर्ग-ज्योतिको प्राप्त होजा।

इसप्रकार भगवत्साक्षात्कारके लिए प्रयत्न करनेवाले सज्जनोंके कल्याण-मार्गमें अनेक प्रकारकी विघ्न-बाधाएँ उपस्थित हो जातो हैं। इनके द्वारा बहुतसे प्रतिरुद्ध हो जाते हैं, मायाके चक्करमें फंस जाते हैं। कोई एक महामानव ही गुरुकृपा एवं ईश्वरकृपाके बलसे भगवत्तत्वको यथावत् जानकर कृतार्थ एवं धन्य होता है। कहा है—

' दुर्लभो विषयत्यागो, दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था, सद्गुरोः करुणां विना ॥ '

शव्दादि-विषयोंका त्याग दुर्लभ है--तत्त्वदर्शन भी दुर्लभ है, एवं सहज—समाधि भी दुर्लभ है। अनेक प्रकारकी वाधाओं एवं दुर्बलताओंसे प्रतिरुद्ध होनेके कारण दुर्लभ हैं। परन्तु इनकी दुर्लभता सद्गुरुकी कृपा न होनेसे ही है। अर्थात् सद्गुरुकी कृपासे ये दुर्लभ भी सुलभ हो जाते हैं।

सद्गुरु तथा परमात्माकी कृपा, विघ्न-बाधाओंके निवारणकी तथा तत्त्वसाक्षात्कारकी सामर्थ्य प्रदान करती है। परन्तु सद्गुरुकी कृपा

वही प्राप्त कर सकता है, जो गुरुओंकी आज्ञाओंका यथावत् पालन करता है, श्रद्धापूर्वक सेवा करता है। इस प्रकार भगवान्की कृपा भी वही प्राप्त कर सकता है, जो भगवान्के प्रत्येक विधानमें सन्तुष्ट रहता है--भगवान्का विश्वास तथा भगवान्की शरणागति धारण करता है। 'भगवान् मेरे लिए जो कुछ करेंगे, अच्छा ही करेंगे; जो कुछ किया है, अच्छा ही किया है' ऐसा दृढ निश्चय रखकर जो सदा प्रसन्न रहता है। शोक एवं दीनताको अपने मानसभवनमें घुसने ही नहीं देता, सदा निर्भय रहकर, भगवदाराधनामें, ब्रह्मविचारमें, सत्संग एवं कीर्तनमें, तथा सेवा-परोपकारमें लगा रहता है। दुनियाकी आवश्यक ड्यूटी बजाता हुआ भी जो हर हालतमें मस्त रहता है, वही भगवान्का प्रिय होता है--भगवान्की विमल कृपाका पात्र बनता है। गीतामें भगवान्ने यही कहा है—

'यो न हृष्यति, न द्वेष्टि, न शोचति, न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी, भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥'
(१२।१७)

इष्ट लाभ होनेपर भी जो कभी न हर्षित होता है, न किसी अनिष्ट पदार्थसे द्वेष करता है, क्योंकि उसने सर्वत्र, दृढतम-भगवद्भावनासे इष्टानिष्ट (शुभाशुभ)के दर्शनका परित्याग कर दिया है, अतएव वह न कभी किसीका शोक करता है, न किसीकी कामना करता है। इस प्रकार मुझमें ही भक्ति रखनेवाला सदा मस्त-निर्द्वन्द्व रहनेवाला आनन्दी-मानव ही मुझ भगवान्को प्रिय है। वही मेरी कृपाका अधिकारी है।

किसी समय देवर्षि नारद वीणा बजाते, हरिगुण गाते इस आर्या-

वर्तके पवित्र धराधाममें भ्रमण करते हुए एक तपस्वी महात्माके एकान्त स्थानमें पहुँचे ।। वहाँ उस के घोर तपको देखकर नारद बहुत प्रसन्न हुए । वह कायक्लेशरूप बड़ा तप कर रहा था । केवल अत्यल्प दुग्धका ही उसका आहार था । सिरपर बडी बडी जटाएँ थीं, समग्र शरीर भस्मसे विभूषित था । गरमियोंमें चारों कोनेंमें अग्नि जलाकर पंचाग्निका तप करता था । हाथमें बडी लम्बी माला रखकर मन्त्र जप किया करता था । ठण्डियोंमें गलेतक जलमें बैठकर तथा चातुर्मासमें बरसादकी झडियोंमें बैठकर तप किया करता था । इसप्रकार उसकी बडी तितिक्षा देखकर श्रीनारदजीने उसें अपना परिचय दिया। कहा— मैं देवर्षि नारद हूँ, भगवान्के समीप रहता हूँ, इससमय यहाँसे मैं वैकुण्ठमें जा रहा हूँ । आपकी इस तपश्चर्यासे मैं बहुत सन्तुष्ट हुआ हूँ । आपको यदि कुछ भगवान्के प्रति संदेश कहलाना हो तो मैं भगवान्को आपका संदेश पहूँचा सकता हूँ, तथा उसका उत्तर भी आपके लिए ला सकता हूँ ।

नारदजीके वचन सुनकर तपस्वीको पूरा विश्वास तो नहीं हुआ कि—यह सचमुच नारद ही होगा, तथापि कामचलाउ विश्वास रखकर तपस्वीजीने कहा कि—यदि तुम नारद ही हो तो भगवान्से यह मेरा संदेश कहना कि—मुझको आपका दर्शन कब होगा ? । नारदजी उस तपस्वीके संदेशको अपनी डायरीमें नोट कर आगे बढे, गंगास्नानकी अभिलाषासे गंगातट पर गये ।

वहाँ एक बडा रम्य, मनोहर शान्त एकान्तमें आश्रम देखकर नारद अतीव प्रसन्न हुए । वट, पिप्पल, आम्र, आमलक आदि अनेक

प्रकारके वृक्ष एवं लताओंसे समावृत वह आश्रम अत्यन्त शोभित हो रहा था। देवमंदिर, सत्संग-कीर्तन-भवन, अन्नपूर्णाभण्डार, गौशाला, अतिथिशाला, आदिके अनेक छोटेबडे स्थानोंसे वह परिष्कृत था। गंगास्नानके लिए बहुत अच्छा; पक्का घाट भी बना था। वहाँ बैठकर साधु-महात्मा एवं भक्तगण गंगाके दर्शन करते हुए अपना जप पाठ एवं ध्यान भी किया करते थे। उस आश्रमके अध्यक्ष महात्मा बडे ज्ञानवान्, विद्वान् भक्त एवं सच्चरित थे। वे सदा मस्त एवं प्रसन्न रहा करते थे, सदा विशुद्ध—आनन्दको ही देखते थे—सुनते थे—एवं चखते थे। आनन्दमें ही सोते थे—जागते थे। उनकी पावनदृष्टिमें सर्वत्र सदा आनन्दका महासागर ही अंदर बाहर लहरा रहा था। आनन्द ही ब्रह्म है—पूर्ण तत्त्व है। सदा आनन्दकी भावना ही उनकी आराधना थी। आनन्दसे अतिरिक्त—किसी अन्य दृश्यको वे न अपने मनोमंदिरमें एवं इन्द्रियोंके मार्गोंमें आने देते थे। उस आश्रममें नियमसे स्वाध्याय, प्रवचन, सत्संग, देवपूजा, कीर्तन आदि होते रहते थे। देवर्षि नारद वहाँकी साध्वी-व्यवस्था एवं अग्रणी-तेजस्वी महात्माका दर्शनकर बडे प्रसन्न हुए। उन महात्माजीके भी समक्ष नारदजीने अपना पूरा परिचय दिया। सुनकर महात्मा बडे भक्तिभावसे पूर्ण विश्वासके साथ नारदजीके चरणोंमें लिपट पडे। नारदजीके दर्शनकर 'धन्य, धन्य पुनः धन्य मैं' कहते हुए अपने उत्तम भाग्यकी प्रशंसा करने लगे। शुभाशीर्वाद देते हुए नारदजीने महात्माजीसे कहा—महात्मन्! यहाँसे मैं सीधा ही वैकुण्ठमें श्री भगवान्के समीप जा रहा हूँ, आपको भगवान्के प्रति कुछ संदेश देना हो तो मैं ले जा सकता हूँ, एवं उसका उत्तर वापस लौटते हुए आपके

लिए ला सकता हूँ। कहिए, भगवान्‌से कुछ कहना है ?।

कृपालु नारदजीकी बात सुनकर महात्माजीने कहा--कृपानिधान! और तो मैं क्या भगवान्‌के लिए कुछ संदेश कहूँ ? भगवान् घट-घटवासी अन्तर्यामी हैं, हृदयकी सभी बातोंको जानते हैं। उनसे कुछ भी छिपा नहीं। तथापि आप करुणावश कह रहे हैं, इसलिए यही मेरा संदेश है कि--भगवान् कब मुझे अपने परम रमणीय, सौन्दर्यसार-सर्वस्व स्वरूपका दर्शन देंगे ? बस, यही एकमात्र हृदयकी अभिलाषा है। नारदजी 'तथाऽस्तु' कहकर वहाँसे आनन्दपूर्वक चल पडे। वैकुण्ठमें शीघ्र पहुंचकर, भगवान्‌के पावन श्रीविग्रहके दर्शनकर, अत्यन्त सन्तुष्ट हुए। इधर उधरके भ्रमणकी बातें कहकर उन दोनों महात्माओंके संदेश कह सुनाये। तुरन्त ही भगवान्‌ने तपस्वीजीके संदेशका उत्तर दिया कि--उसको चार जन्म और लेने होंगे--और चार जन्मोंमे उसी ही प्रकार कठिन तपश्चर्या करनी होगी, तब कहीं अन्तिम जन्ममें उसको मेरा दर्शन होगा।

गंगातीरवासी महात्माके संदेशका उत्तर देते हुए भगवान् कहने लगे कि--उस महात्मासे कहना कि-- तुम्हारे आश्रममें जो सबसे बड़ा पिप्पलका वृक्ष है--उसके जितनी संख्यामें पत्ते लगे हुए हैं--उतने ही बार तुम जन्म धारण कर इन सभी जन्मोंमें मेरी भक्ति करते रहोगे, और ऐसे ही संयम नियमोंका पालन करते रहोगे, तब कहीं अन्तिम जन्ममें मेरा दर्शन पाओगे।

भगवान्‌का उत्तर लेकर नारदजी पुनः वापस धराधाम उपर आए। 'अपना उतर सुनकर तपस्वी महात्मा तो बडा प्रसन्न होगा,

परन्तु वह गंगातीरवासी महात्मा बड़ा दुःखी होगा ' ऐसा स्वगत विचार करते हुए नारदजी प्रथम उस तपस्वी महात्माके समीप गए, और भगवान्‌का उत्तर उसे कह सुनाया । उत्तर सुनकर तपस्वीजीको प्रसन्नताके बदले बड़ा उद्वेग हुआ । जिस प्रकार अरण्डीके तेल पीनेवालेका मुख बिगड जाता है, उस प्रकार मुख बिगाडकर तपस्वी भगवान्‌को उपालम्भ देता हुआ अंडसंड बकने लगा--अच्छाजी, तुम्हारा भगवान् मुझे इस जन्ममें दर्शन देना नहीं चाहता, चार जन्मकी और मुद्दत लगाता है, वाह वाह ! यह कैसा बडा अन्याय है ? उसको बराबर माळूम ही नहीं पडा होगा कि--मैं कैसी भारी तपश्चर्या कर रहा हूँ । पुनः अहंकारके साथ कहने लगा कि--बतलाओ ! नारदजी ! क्या मेरे जैसा तपस्वी आपने कहीं देखा ? आप तो सब जगह घूमते रहते हैं । पुनः नास्तिकभाव धारणकर कहने लगा कि—क्या पता ? कहीं भगवान् नामकी कोई वस्तु है, या नहीं ?, अरे ! बापरे बाप ! चार जन्मतक हैरान होओ, तथापि कौन जानता है कि— भगवान् मिलेगा या नहीं ? पुनः अज्ञानसे क्रोधावेशमें आकर मृगचर्म एवं तुम्बडीको फेंककर कहने लगा कि--इस हैरानगतिसे तो दुनियाकी मौजमजा लेनी बडी अच्छी । नारदजीके प्रति पुनः अनादर प्रकट करता हुआ कहने लगा कि--जाओ जाओ यहाँसे, तुम भी गप्पी एवं तुम्हारा भगवान् भी घोखेबाज, ऐसे भगवान्‌को मैं नहीं मानता ।

उस तपस्वी बाबाजाकी ये अनापसनाप बातें सुनकर चुपचाप नारदजी वहाँसे भाग निकले ।

वहाँसे नारदजी गंगातटपर सोचते हुए जा रहे हैं कि—गंगातीर-

वासी महात्मा तो अपना उत्तर सुनकर इससे भी बहुत ज्यादा दुःखी होगा, अनापसनाप बकने भी लगेगा। परन्तु नारदजीने निश्चय किया कि– मुझे तो अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार-उत्तर कहनेके लिए वहाँ जाना ही होगा। ऐसा विचार करते हुए नारदजी कुछ क्षणमें गंगातटपर उस आश्रममें आ पहुँचे। आकर उन प्रसन्नमुख आनन्दी महात्मासे मिले। उनके संदेशका उत्तर कह सुनाया। सुनकर वे वहुत ही प्रसन्न हुए। कहने लगे--भगवान्की मेरेपर वड़ी कृपा है--पिप्पलके समग्र पतोंके जितने लाखों जन्म लेनेके बाद भगवान् मिलेंगे तो सही, साकाररूपसे दर्शन देगें तो सही, बस, अपनेको इतनी क्या जल्दी पडी है। भगवान् अपने उस रूपसे नहीं, तो विश्वके अनन्तरूपोंसे दर्शन तो प्रतिक्षण दे ही रहे हैं, आत्मरूपसे भगवान् मिले ही तो हैं, हमें तो उस भगवान्की भक्तिमें ही भगवद्दर्शनका एवं मुक्तिका महान् शुद्ध आनन्द मिलता रहता है। आनन्द एवं उल्लासके साथ इतने असंख्य जन्मों तक भगवान्की पावन-आराधना करनेके लिए हम तैयार हैं। इस पावन गंगातटपर रहकर अपने इस संयम नियम आदिसे हमें बडा ही सन्तोष मिल रहा है, भगवत्कृपा एवं गुरुकृपापूर्ण इस अपने जीवनमें बडा ही विशुद्ध सुख मिलता है। हमें ऐसा जीवन लाखों जन्म तक मिलता रहे, यह बडी ही प्रसन्नताकी बात है। इसमें नाराज होनेकी बात ही क्या है?। हमें गंगाके पावन दर्शनमें अनन्त ब्रह्मसुखका लाभ मिलता है। भगवान्के कलिकल्मषहारी, पावन नामसंकीर्तनकी रसभरी धुनमें उस बाँके बिहारी, मुरली मनोहर भगवान्की अनुपम-सुन्दर छटाका दर्शन होता है। इस प्रकार स्वाध्यायमें, प्रवचनमें एवं ब्रह्मविचारमें भी हमें अनन्त निर्विशेष

आनन्दका साक्षात्कार होता है। इसलिए हमें मुक्तिकी भी परवाह नही है। मुक्ति तो विना बुलाए, बिना चाहे यहाँ हमारी पावन साधनाओंमें घुसकर-छीपकर अपना महान् आनन्द जबरदस्तीसे हमें दे ही रहीं है। इसलिए गुजरातके महान् भक्त नृसिंह महेताने गाया है कि—

'हरिना जन तो मुक्ति ना मागे, जनमों जनम अवतारा रे।
नित सतसंग नित कीर्तन सेवा, भजवा श्रीनंदकुमारा रे॥'

महात्माजीके ऐसे अच्छे वचन सुनकर नारदजी बडे प्रसन्न हुए। उस समय आश्चर्यके साथ नारदजीने तथा महात्माजीने देखा कि—भगवान् शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी श्रीनारायण उसी पिप्पलके वृक्षके मूलमें प्रकट होकर चतुर्भुजरूपसे अपना पावन, मुनिमनहारी-भव्य दर्शन दे रहे हैं। वे महात्मा भगवान्को साष्टांग प्रणाम कर पुनः पुनः दर्शन करके आनन्दविभोर हो उठे। तब नारदजी भगवान्के समीप जाकर ताना देते हुए प्रेमसे कहने लगे कि--जी! सरकार! आप तो बडे झूठे निकले, वैकुण्ठमें कहते थे कि—इस महात्माको इतने जन्म लेने पडेंगे, इतने जन्मों तक संयम नियमपूर्वक ऐसी ही मेरी आराधना करनी होगी, तब कहीं अन्तमें मेरा दर्शन मिलेगा, परन्तु आपने तो इसका एक जन्म भी पूरा नहीं होने दिया, कुछ ही घण्टोंमें यहाँ आकर आपने इसको दर्शन दे डाला, ऐसी-आप भगवान् होकर उलटी गंगा क्यों बहाते हैं? इतनी बडी सफेद झूठ क्यों बोलते हैं? इसका उत्तर आपको देना होगा।

हँसते हुए श्रीभगवान् बोले--नारद! कहीं झूठ, सत्य हो जाता है, एवं कहीं सत्य झूठ हो जाता है। **'सत्यस्य वचनं श्रेयः, सत्य-ज्ञानन्तु दुर्लभम्।'** सत्य बोलना प्रशस्त है, परन्तु सत्य क्या है?

उसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना बडा दुर्लभ है। देखिए--वह तपस्वी कितना आलसी एवं प्रमादी था। चार जन्म–तक भी वह मेरे लिए प्रसन्नतासे तप करनेके लिए तैयार नहीं हुआ था। परन्तु इस महाभाग महात्माको देखिए, उसमें, इतने लाखों जन्मतक-आलस्य प्रमाद छोडकर मेरी आराधना करनेका कितना पवित्र उल्लास भरा हुआ है। उसकी कितनी अच्छी पवित्र-आनन्दमयी-शुद्ध भावनाएँ हैं। मैं तो भावग्राह्य हूँ। इसके इतने अच्छे आनन्दपूर्ण भावोंसे ही मैं आकृष्ट होकर प्रकट हो गया हूँ-दर्शन दे रहा हूँ। इतना कहकर श्रीभगवान् नारदजीके साथ वहाँसे अन्तर्ध्यान हो गए।

इस दृष्टान्तका यह तात्पर्य है कि--अपमी सभी साधनाएँ, उल्लास प्रसन्नता एवं एकाग्रतापूर्ण होनी चाहिए। साधकके जीवनमें भगवान्का पूर्ण विश्वास एवं भगवदाश्रयता होनी चाहिए। कल्याणमार्गके सभी प्रयत्न आनन्दपूर्ण एवं भगवद्भावसे भरे होने चाहिए। तभी ही वह भगवान्की कृपा प्राप्तकर साधन मार्गकी अनेक बाधाओंसे मुक्त हो सकता है। तभी वह भगवत्तत्त्वको यथावत् जानकर कृतकृत्य, धन्य एवं सफलजन्मा हो सकता है। इसलिए ही भगवान्ने कहा है-‘**कश्चित् <u>मां</u> वेत्ति तत्त्वतः।**’ कोई एक बडभागी विरला ही मेरी कृपासे मुझको तत्त्वतः जानपाता है।

जानने योग्य ‘माम्’ पदार्थ भगवत्तत्त्व क्या है? भगवान् स्वयं गीतामें अपना तात्त्विकरूपसे परिचय देते हुए कहते हैं—

‘क्षेत्रज्ञं चापि <u>मां</u> विद्धि, सर्वक्षेत्रेषु भारत!। (१३।२)
सर्वभूतस्थितं यो <u>मां</u> भजत्येकत्वमास्थितः। (६।३१)

यो मां पश्यति सर्वत्र, सर्वंञ्च मयि पश्यति। (६।३०)
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति। (५।२९)
मामेकं शरणं व्रज। (१८।६६)

हे अर्जुन ! तू सब क्षेत्रोंमें अविभक्तरूपसे रहा हुआ तथापि अविद्यावश विभक्तरूपसे प्रतीयमान क्षेत्रज्ञ जीवात्माको मेरा-अपना ही स्वरूप जान। जैसे विभागरहित स्थित हुआ भी महाकाश, अनेक घटोंमें पृथक्-पृथक्की भाँति घटाकाशरूपसे प्रतीत होता है, वैसे ही सब भूतोंमें एकीरूपसे स्थित हुआ भी परमात्मा विभिन्न शरीरादिकी उपाधियोंके द्वारा पृथक् पृथक्की भाँति क्षेत्रज्ञ--जीवात्मारूपसे प्रतीत होता है। जिस प्रकार घट उपाधिसे पृथक् हुआ घटाकाश, महाकाश ही हो जाता है--प्रथम भी महाकाश स्वरूप ही था, केवल घटरूप उपाधिके अवच्छेदकत्वका उसमें आरोप हुआ था--इस प्रकार शरीरादिउपाधिसे पृथक् हुआ--क्षेत्रज्ञ--जीवात्मा परमात्मा ही हो जाता है, प्रथम भी वह तत्वतः परमात्मस्वरूप ही था। केवल अविद्यावश शरीरादि-उपाधि-प्रयुक्त परिच्छिन्नत्वका उसमें आरोप हुआ था--उसको विद्याकी सामर्थ्यसे दूर करने पर क्षेत्रज्ञ वस्तुतः परमात्मा ही हो जाता है, इसलिए हे भारत! तू क्षेत्रज्ञाता जीवात्माको मुझ परमात्मासे अभिन्न ही समझ।

जो पुरुष एकीभाव (पूर्णाद्वय-ब्रह्मभाव)में स्थित हुआ सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है। उस भजनमें वह ऐसा तन्मय हो जाता है कि -उसकी पावन ज्ञानमयी दृष्टिमें एक, अद्वय पूर्ण शान्त आनन्दरूप ब्रह्मज्योतिके सिवाय अन्दर बाहर और कुछ भी नहीं रहता, केवल वासुदेव ही वासुदेव

रह जाता है--यही उसकी एकत्वावस्थिति है--यहाँ एकत्वका एकभाव अर्थ है--भाव अर्थमें 'त्व' प्रत्यय होता है। 'तस्य भावस्त्वतलौ' यह व्याकरणका सूत्र है।

जो मानव सम्पूर्ण भूतोंमें मुझ वासुदेवको सबके अभिन्न आत्म-स्वरूपसे व्याप्त पूर्ण देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्दर अवस्थित एवं तादात्म्यापन्न देखता है, वही तत्त्वदर्शी है। जिस प्रकार '**सर्वेषु आभरणेषु सुवर्णं पश्यति, सुवर्णे च सर्वाण्याभरणानि पश्यति।**' विचारशील पुरुष सभी कटक कुण्डलादि आभूषणोंमें अभेदरूपसे अवस्थित सुवर्णको देखता है, एवं सुवर्णमें रहे हुए आभूषणोंको सुवर्णसे तादात्म्यापन्न देखता है, तद्वत्। जैसे आभूषणोंके कल्पित नामरूपोंका बाध करने पर एकमात्र सुवर्ण ही परिशिष्ट रह जाता है, वैसे इस चराचर विश्वमें अविद्याकल्पित नामरूपोंका बाध करनेपर एकमात्र परब्रह्म वासुदेव ही पूर्णाद्वयानन्द-रूपसे परिशिष्ट रह जाता है। यही एकात्मवाद है।

सम्पूर्ण भूतप्राणियोंका मैं सुहृद् हूँ अर्थात् स्वार्थरहित, अनन्यप्रेमी हितकारी हूँ, क्योंकि—मैं ही तो सबका अपना आप--आत्माराम हूँ, इस प्रकार मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानकर मानव शान्तिको प्राप्त हो जाता है।

मुझ एककी ही शरणमें आ जा। मैं परमात्मा एक ही हूँ--चाहे मुझे किसी भी प्रियनामसे कहो, या किसी भी अभीष्ट आकारविशेषसे देखो, तथापि मैं नामोंके एवं आकारविशेषोंके भेदसे भी अनेक नहीं हो सकता, एक ही रहता हूँ, यही हमारे वेद गीता आदि शास्त्रोंका

एकेश्वरवाद है।

इस प्रकार भगवत्तत्त्वके यथार्थ ज्ञानसे ही निःश्रेयस--मोक्षकी प्राप्ति होती है। न्यायदर्शनकार महर्षि गौतम भी न्यायशास्त्रमें यही कहते हैं--

'तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः।' (१।१।१) **'दुःखजन्म-प्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादप-वर्गः'** (१।१।२)

'इदं प्रतिकूलं अनिष्टं' इस ज्ञानका जो विषय है, वह दुःख है, दुःखको कोई नहीं चाहता, वह सबके लिए प्रतिकूल ही होता है। एवं वह सर्वानुभूत है। इस दुःखका कारण जन्म है। शरीरेन्द्रियादि-संघातके नूतन प्रादुर्भावका नाम जन्म है। जन्म ग्रहण किये विना कोइ भी दुःखका अनुभव नहीं कर सकता। शरीरके द्वारा ही दुःख भोगा जाता है। इस प्रकार जन्मका कारण प्रवृत्ति है, प्रवृत्तिसे यहाँ शुभाशुभकर्म एवं तत्साध्यधर्माधर्म समझने चाहिए। अर्थात् शुभाशुभ-कर्मसे धर्माधर्मके फल--सुखदुःख भोगनेके लिए शरीरका जन्म होता है। प्रवृत्तिके कारण हैं--राग, द्वेष, ईर्ष्या, लोभ आदिक दोष। क्योंकि दोषोंके विना शुभाशुभ प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिए दोषरूप कारणसे ही प्रवृत्ति होती है। इन दोषोंका कारण है-मिथ्याज्ञान। **'अतस्मिन् तद्बुद्धिः'**को मिथ्याज्ञान कहते हैं। जो तत् न होवे, उसमें तद्बुद्धि होनी अर्थात् अन्यमें अन्यज्ञान मिथ्या ही होता है, यथार्थ ज्ञान नहीं। जिस प्रकार रस्सीमें सर्पज्ञान। इस प्रकार अनात्म-देहादियोंमें आत्म-ज्ञान, अनित्यमें नित्यज्ञान, अशुचिमें शुचिज्ञान, दुःखमें सुखज्ञान;

मिथ्याज्ञान है। इस मिथ्याज्ञानकी तत्त्वज्ञानसे ही निवृत्ति होती है। पूर्वोक्त न्यायसूत्रमें मिथ्याज्ञानादि उत्तर उत्तर कारण हैं, एवं दुःखादि पूर्व पूर्व कार्य हैं। यह नियम है कि--कारणकी निवृत्तिसे कार्यकी निवृत्ति होती है। तत्त्वज्ञानसे मिथ्याज्ञानरूप कारणकी निवृत्ति होनेपर दोषरूप कार्यकी निवृत्ति होती है। दोषरूप कारणकी निवृत्ति होनेसे प्रवृत्तिरूप कार्यकी निवृत्ति होती है। प्रवृत्तिरूप कारणकी निवृत्ति होनेसे जन्मरूप कार्यकी निवृत्ति होती है। एवं जन्मरूप कारणकी निवृत्तिसे दुःखरूप कार्यकी निवृत्ति होती है। समस्त दुःखोंके निवृत्त होनेपर आत्यन्तिक निःश्रेयसरूप मोक्ष सिद्ध होता है।

इस मोक्षको न्यायशास्त्रमें 'अपवर्ग' नामसे कहा है। अपवर्गका एक अर्थ है-जिसमें पवर्ग विद्यमान नहीं **'अविद्यमानः पवर्गो यत्र सः।'** पवर्ग है--'प, फ, ब, भ, एवं म' पांच अक्षर। 'प' यानी पापपुण्य, 'फ' यानी फंद मायाके, 'ब' बन्धन मोहममताके, 'भ' यानी भय अनेक प्रकारके। 'म' यानी मृत्यु। इन पांचोंकी जिसमें विद्यमानता न हो, वह अपवर्ग है।

दूसरा अर्थ है--**'अपवर्जनं अपवर्गः।'** वृजी वर्जने धातुसे घञ् प्रत्यय करनेपर अपवर्ग शब्दकी सिद्धि होती है। जिसमें अविद्यादि अनिष्टोंका सर्वथा सर्वदा अपवर्जन--अत्यन्ताभाव हो गया हो, उस पदको अपवर्ग कहते हैं। इन दोनों अर्थोंमें व्युत्पत्तिका भेद है; परन्तु तात्पर्य एक ही है। इस प्रकारके अपवर्ग (ब्रह्मनिर्वाण--कैवल्यपद)को भगवत्तत्त्वज्ञानसे ही कोई एक महामानव प्राप्तकर धन्य होजाता है।

(४)

भूमिरापोऽनलो वायुः, खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥
अपरेयम्.............. (गीता० ७।४)

हे अर्जुन ! पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, तथा मन, बुद्धि और अहंकार, ऐसे आठ प्रकारसे विभक्त हुई यह मेरी अपरा यानी निकृष्ट--जड प्रकृति है ।

आनन्दकन्द प्रभु श्री कृष्णचन्द्र, अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार अर्जुनको निमित्त बनाकर ज्ञान एवं विज्ञान दोनोंका उपदेश देते हुए कहते हैं--जिन पृथिव्यादि-जडपदार्थोंका लोक अवलोकन कर रहे हैं--वह मेरी है--अपरा प्रकृति । प्रकृतिका प्रसिद्ध अर्थ है, स्वभाव । स्वभाव भी दो प्रकारके देखनेमें आते हैं । एक आरोपित तथा द्वितीय अनारोपित अर्थात् वास्तविक । यह अपरा प्रकृति मायिक होनेके कारण आरोपित स्वभाव है । जिसप्रकार जीवका आरोपित स्वभाव है दुःख, तथा अनारोपित स्वभाव है आनन्द । तद्वत् ।

पृथिवी वह है, जो कठिनसी प्रतीत होती है, जिसका असाधारण धर्म गन्ध है । जल वह है, जो मृदु एवं स्निग्ध है, जिसका असाधारण धर्म रस है । अग्नि वह है--जो प्रकाश देता है एवं जलाता है, जिसका असाधारण धर्म रूप है । वायु वह है, जो अंदर बाहर घूमता रहता है, जिसका स्पर्श असाधारण धर्म है । आकाश वह है, जो सबको अवकाश प्रदान करता है, अवकाश यानी पोल । जिसका असाधारण धर्म है शब्दं । ये पांच भूत कहलाते हैं । भूत भी दो प्रकारके होते

हैं, एक सूक्ष्म तथा द्वितीय स्थूल। सूक्ष्मभूत--अपञ्चीकृत--शब्दादि तन्मात्रारूप होते हैं। तथा पञ्चीकृत होनेपर सूक्ष्मभूत स्थूल हो जाते हैं।

अनादि-अनिर्वचनीय-माया, इन पञ्चभूतोंका परिणामी उपादान-कारण है। मायासे ही इन पांचोंकी उत्पत्ति होती है। अतएव किसी विद्वान्ने व्यङ्ग्यभरे शब्दोंमें माया एवं तत्कार्य पंचभूतोंका वर्णन इस प्रकार किया है--

'काचिद्व्यामोहमूर्तिः परपुरुषरता राक्षसी प्रादुरासीत्।
सा गर्भिण्यर्भकौघं विषममजनयत् पञ्चभूताभिधानम्॥
यात्येकं नीचमार्गैरतिजडमपरं धावतीतस्ततोऽन्यत्।
बाह्यान्तः शून्यमन्यत् दहति तदपरं किं पुनस्तत्समाजे॥'

कोई व्यामोहकी मूर्ति माया है--वह अनादिकालसे सबके बाहर-भीतर अज्ञान--मिथ्याज्ञानादि रूपसे प्रादुर्भूत हो रही है। वह पर पुरुषमें रत है, अर्थात् व्यभिचारिणी है, यहाँ पर-पुरुष क्षर एवं अक्षरसे अतीत परमात्मा है। वह उसके ही आश्रयमें रहती है--तथा उसको ही विषय करती है--अर्थात् आच्छादन करती है। जिस प्रकार शेवाल पानीके आश्रयमें रहता है तथा उसको ही विषय करता है--आच्छादन करता है। तथा जिस प्रकार अन्धकार दिवालके आश्रयमें रहता है, दिवालको ही ढक देता है। तद्वत्। उस पर-पुरुषको आश्रयता एवं विषयताका सम्पादन करना ही मायाकी परपुरुषरति है। वह भय-दुःखादिकी दात्री होनेके कारण राक्षसी है। उसने परपुरुषके संगसे गर्भिणी होकर पांचभूत नामके विषम (परस्पर-विलक्षण) बालक उत्पन्न किये। एक--बालक जल नामका नीच मार्गोंसे जाता है, दूसरा

पृथिवी नामका बालक अति जड है--न स्वतः हिले, न चले। तीसरा वायु नामका बालक इधरसे उधर रात्रि--दिन दौडता ही रहता है। चतुर्थ आकाश नामका बालक, बाहर भीतर शून्यसा--गुमसुम रहता है। पाँचवा अग्नि नामका बालक सबको जलाता ही रहता है। जब इस माया राक्षसीके ऐसे विलक्षण स्वभावके ये पाँच बालक हैं, तब इन पांचोंका समाजरूप इस पांचभौतिक शरीरमें तो इनकी विलक्षण-चेष्टाओंका कहना ही क्या? कभी वातकी विषमता हैरान करती है, तो कभी जलरूप कफकी तथा कभी अग्निरूप पित्तकी। यह सबको प्रत्यक्ष है।

ये पांच भूत मायाके परिणाम हैं, एवं ब्रह्मके विवर्त हैं। जिस प्रकार दूधका दही परिणाम है। परिणामका अर्थ है--अन्यथाभाव या विकार। ब्रह्म निर्विकार, पूर्ण, असंग, अक्रिय, चैतन्यघन होनेके कारण किसी भी रूपसे परिणत नहीं हो सकता। इसलिए इस पांचभौतिक जगत्को ब्रह्मका परिणाम नहीं मान सकते, किन्तु विवर्त ही मान सकते हैं। परिणाममें मूल वस्तु बिगड जाती है, उसरूपसे नहीं रहती। जिस प्रकार दही होनेपर दुग्ध नहीं रहता। परन्तु विवर्तमें मूल-आधार वस्तु ज्यों को त्यों--अविकृत बनी रहती है। भले ही उसमें काल्पनिक--अन्यथा भावोंका भान होता रहे। विवर्तवादको बराबर समझनेके लिए सिने-माका पडदा ठीक (उपयुक्त) दृष्टांत है। सिनेमा आजकल बड़ी प्रसिद्ध वस्तु हो गई है। नगरोंकी तो क्या बात? परन्तु ग्रामोंमें भी इसका प्रचुर प्रचार हो गया है।

सिनेमामें पुरोवर्ति एक पडदेके ऊपर विद्युत् यन्त्रसे आप अनेक

प्रकारके दृश्य देखते हैं। कभी उसमें भयंकर दिल--दहलानेवाला--झांसीकी राणीका युद्ध देखते हैं। उसमें खूब नंगी तलवारें चल रही हैं--मूली--गाजरकी तरह धडाधड दुश्मनोंके सिर, हाथ, पैर आदि कट कट गिर रहे हैं। बडी स्फूर्तिके साथ तीक्ष्ण नोंकवाली बरछिएँ--एक दूसरेकी छातियोंमें भोंकी जा रही हैं। राणी लक्ष्मीबाईका अद्भुत पराक्रम, एवं अतिक्रुद्ध चण्डिकाकी भाँति शस्त्रप्रहारकी निपुणता देख दंग रह जाना पडता है। सहसा आप कवयित्रीका यह गीत '**खूब लडी मरदानी, वह तो झांसीवाली राणी थी।**' गा उठते हैं। आपने पडदेपर इतने बडे शस्त्रोंके असंख्य प्रहार देखें, परन्तु शस्त्रोंके उन प्रहारोंसे पडदेका एक तन्तु भी नहीं कटता। एवं हाथी, रथ और घोडोंकी दाडादौड़ देखनेपर भी उस--पडदेका एक किनारा भी नहीं हिलता--वह ज्योंका त्यों--अपनी वास्तविक स्थितिमें बना रहता है।

कभी आप उस पडदेपर मुसलधार वृष्टि देखते हैं--चारोंतरफ जलके छोटे बडे प्रवाह जोरोंके साथ वहते हुए देखनेमें आते हैं, तथा कभी आप हनुमान्जीका लंकादहन देखते हैं। वडे बडे महल, बाजार, मकान तथा उनके भीतर रक्खे हुए अनेक प्रकारके अन्न वस्त्र आदि पदार्थ धकधक जलते हुए प्रत्यक्ष देखते हैं। एवं कभी आंधीका बवंडर आकाशमें तृणपल्लवादिओंको उडाता हुआ देखते है, तथापि उस पडदेका एकतन्तु भी इस बडे जल प्रपातसे भीगता नहीं, अग्निकी आकाशव्यापी ज्वालाओंसे जलता नहीं एवं झंझावातसे हिलता नहीं। वह अविकृतरूपसे बना रहता है। यही विवर्तवाद है।

पडदेके स्थानापन्न यहाँ अविकृत ब्रह्म है। विद्युत्-यन्त्र, यहाँ

माया है। उसके द्वारा ब्रह्ममें अनेक प्रकारकी आकाशादि सृष्टियाँ दीख पडती हैं। तथापि ब्रह्म उन सृष्टियोंसे कदापि विकृत नहीं होता, वह असंग, निर्लेप--अद्वयभावमें ज्योंका त्यों--अखण्ड--एकरस बना रहता है। अत एव भगवत्पाद-प्रणीत शारीरक-मीमांसा भाष्यके प्रसिद्ध भामती व्याख्याकार वाचस्पति मिश्र कहते हैं--कि--

'अनिर्वाच्याविद्याद्वितीयसचिवस्य प्रभवतो,
विवर्ता यस्यैते वियदनिलतेजोबवनयः।
यतश्चाभूद्विश्वं चरमचरमुच्चावचमिदं,
नमामस्तद्ब्रह्मापरिमितसुखज्ञानममृतम्।'

असंग, अविकृत, अक्रिय, पूर्णाद्वय, ब्रह्म, मायाके विना सृष्टिका स्वयं निर्माण करनेके लिए अयोग्य है। जिस प्रकार काष्ठादिके विना अग्निका स्वतः आनयन अयोग्य है। काष्ठादिके द्वारा ही अग्निका आनयन होता है, तद्वत् मायाके द्वारा ही ब्रह्म, सृष्टिका निर्माणादि कर सकता है, स्वतः नहीं। अत एव मायाके सहकारसे निर्मित आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथिवीरूप ये पांचोंभूत उस-ब्रह्मके विवर्त हैं, परिणाम नहीं। उस मायाविशिष्ट ब्रह्मसे ही यह उत्तम, अधम, चर तथा अचररूप विश्व उत्पन्न हुआ है। उस अनन्त सुख एवं ज्ञानरूप अमृत ब्रह्मको हम नमस्कार करते हैं, अर्थात् उसके अनुसंधानमें हम एकाग्र-तन्मय हो जाते हैं।

'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (तै० उ० २।७) 'उसने अपने आपको स्वयं विश्वरूपसे बना डाला' इस श्रुतिके अर्थको आपाततः समझकर जो इस विश्वको ब्रह्मका परिणाम मानते हैं--वे कृपण--

बुद्धि हैं। वस्तु–विवेचनकी यथावत् सामर्थ्य जिसमें न हो, वह कृपण अर्थात् संकुचित–बुद्धि कहलाती है। अत एव संक्षेपशारीरकाचार्य्य सर्वज्ञात्म–मुनि कहते हैं कि–

'कृपणधीः परिणाममुदीक्षते, क्षपितकल्मषधीस्तु विवर्तताम्।
स्थिरमतिः पुरुषः पुनरीक्षते, व्यपगतद्वितीयं परमं पदम्॥'
(२।८९)

श्रुतिके इन वचनोंमें कृपण-बुद्धिवाला ही परिणामवाद देखता है–परन्तु निर्मल-समुदार-बुद्धिवाला जिसमें वस्तु विवेचनकी सम्यक् सामर्थ्य है–विवर्तवाद मानता है। स्थिरमति महापुरुष तो जिसमें द्वैतप्रपञ्चका अत्यन्ताभाव है, ऐसे ब्रह्माद्वयरूप-परमपदका सदा अपरोक्ष निरीक्षण करता रहता है।

यद्यपि पृथिव्यादि ये पंचभूत जड, दृश्य एवं परिच्छिन्न प्रतीत होते हैं, तथापि उनके अंदर ब्रह्माद्वयकी सत्ता, स्फूर्ति एवं आनन्द, पूर्णरूपसे विद्यमान हैं। क्योंकि–ये सब पदार्थ, ब्रह्मकी सत्तासे ही अस्तिरूपसे, ब्रह्मकी चैतन्य–स्फूर्तिसे ही भातिरूपसे, तथा ब्रह्मके आनन्दसे ही प्रियरूपसे प्रतीत हो रहे हैं। अत एव हमारे वैदिक–ऋषियोंको इन पृथिव्यादि–भूतोंमें भी ब्रह्मभाव प्रकट हुआ था। उन सबमें साक्षात्–अपरोक्ष ब्रह्मका दर्शन करते हुए वे प्रेमसे मस्त हुए गान करते थे कि–

'अदिति द्यौरदितिरन्तरिक्षमदिति र्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥'
(ऋ. १।८९।१०) (शु. यजु. २५।२३) (अथर्व. सं. ७।६।१)

'इयं वै पृथिव्यदितिः ।' (श. ब्रा. १।१।४५)

'इयं वै देव्यदिति विश्वरूपी ।' (तै. ब्रा. १।७।६।७)

'आ सर्वतातिमदितिं वृणीमहे ।' (ऋ. १०।१००।१)

यह पृथिवी अदिति है, नामरूपकी दृष्टिसे परिणामी नित्य होनेके कारण अदिति यानी अखण्डनीया है, तथा ब्रह्मदृष्टिसे कूटस्थनित्य होनेके कारण त्रिकालाबाध्य–प्रत्यक् चितिशक्तिरूपा है। यह देवी अदिति, वस्तुतः ब्रह्मरूप होनेके कारण विश्वरूपी है। स्वर्ग, अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र, विश्वदेव, पञ्चजन (गन्धर्व, पितर, देव, असुर एवं राक्षस इन पांचोंका समुदाय) तथा भूत भविष्यत् एवं वर्तमान जो भी चराचर प्राणीसमुदाय है, वे सब उस अदिति देवीके ही स्वरूप हैं, इसलिए हम उस सर्वात्मिका अदिति देवीका वरण करते हैं अर्थात् आदरपूर्वक उसका ध्यान करते हैं।

यह भूमि सबकी माता है–सबका पालनपोषण करती है। इसमें अविनाशी चैतन्य ब्रह्मकी स्फूर्ति है। इसलिए यह चातुर्मासमें सर्वत्र सस्यश्यामला मनोहारिणी बन जाती है, हिमालयादि बडे बडे पर्वत उसके प्रशस्त-समुन्नत अवयव हैं, वृक्ष लता गुल्मादिसे सुशोभित अरण्य इसका सौन्दर्य है। इसके वृक्षादिरूप प्रत्येक अवयवमें ब्रह्मवेत्ताओंको ब्रह्मका दर्शन होता है। अत एव वे मस्त हुए–प्रेमसे गाते हैं कि– **'हरिहर बसा है, हरियालियोंमें। वो ही झूमता है झुकी डालियोंमें॥'** जिस प्रकार भगवान् सबके सुहृत् हैं, अर्थात् निःस्वार्थ, हितकारी-प्रेमी हैं; इस प्रकार यह भगवती पृथिवी माता भी सुहृत् है–इसका सौहार्द सबको प्रत्यक्ष है। माताके समान इसके अनन्त

उपकार हैं। इसलिए हमारे ब्रह्मवेत्ता-ऋषियोंको इस पृथ्वीमाताका (अदितिरूपसे) परब्रह्मरूपसे साक्षात्कार हुआ था। अत एव वे ब्रह्म-तत्त्वको परोक्ष—दूरातिदूर नहीं मानते थे; किन्तु विश्वके—प्रत्येक पदार्थमें उसके सत्यं शिवं सुन्दरम् स्वरूपका साक्षात् अनुभव करते थे। सर्वत्र-बाहर भीतर उसीकी ही पूर्णसत्ताका ध्यान करते थे। इसलिए वे **'साक्षात्कृतधर्माणः, अतीन्द्रियार्थद्रष्टारो महर्षयो भवन्ति'** इस—टाईटलसे विभूषित हुए थे।

इस प्रकार वे पावन—जल तत्त्वमें भी आनन्दपूर्ण ब्रह्मका दर्शन करते थे। संध्या आदि नित्य कर्ममें भी वे ब्रह्मभावसे ही जलकी उपासना करते थे—वे वेदमन्त्रोंके द्वारा कहते थे कि—

'आपो हि ष्ठा मयोभुवः, ता न ऊर्जे दधातन।
महे रणाय चक्षसे।'

'यो वः शिवतमो रसः, तस्य भाजयतेह नः।'

(ऋ. १०।९।१–२) (शु. य, ११।५०–५१) (अथर्व. १।५।१–२)

हे श्रद्धेय जल! आप साक्षात् ब्रह्मस्वरूप हैं, इसलिए आप, उस ब्रह्मके—दो प्रकार (सोपाधिक-लौकिक, निरुपाधिक—अलौकिक)का आनन्द प्रदान करते हैं। आप कृपया निरङ्कुश—तृप्तिके जनक—उस अखण्ड ब्रह्मसुखके अनुभवके लिए हमें स्थिर, शान्त एवं एकाग्र बनायें। उस महान् रमणीय अद्वयानन्दरूप ब्रह्मदर्शनके लिए ही हम आपकी उपासना करते हैं। आपके अन्दर जो अत्यन्त कल्याणमय रस अर्थात् विशुद्ध-ब्रह्मानन्द है—उसका सेवन हमें भी करायें, यही आपसे विनम्र प्रार्थना है।

इसप्रकार वेदोंमें अग्निकी स्तुति एवं आराधना मुख्य है, प्रसिद्ध है, अग्निकी आराधनाका नाम ही तो यज्ञ है।

'अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवं' (ऋ. १।१।१)
यह ऋग्वेद-संहिताका सर्वतः प्रथम मन्त्र है।

उस अग्निकी हम स्तुति करते हैं--आराधना करते हैं--यह नियम है कि-स्तुत्यकी ही आराधना की जाती है। वह यज्ञका देव है, एवं पुराहित है, अर्थात् हमारे सबके समक्ष स्थित है। एवं **'त्वमग्ने! इन्द्रो वृषभः' 'त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः' 'त्वं ब्रह्मा रयिवित्'** (ऋ. २।१।३) **'त्वमग्ने! राजा वरुणः' 'त्वं मित्रो भवसि' 'त्वमर्यमा सत्पतिः'** (ऋ. २।१।४) **'त्वमग्ने! त्वष्टा'** (ऋ. २।१।५) **'त्वमग्ने! रुद्रो असुरः' 'त्वं शर्धो मारुतं'** (ऋ. २।१।६) **'त्वं देव! सविता' 'त्वं भगो नृपते!' 'त्वं वृत्रहा वसुपते! सरस्वती'** (ऋ. २।१।११) हे अग्ने! तू वृषभ (सर्वश्रेष्ठ) इन्द्र है। तू नमस्कार करने--योग्य एवं अनेक लोकोंकी स्तुतियोंके द्वारा गानेयोग्य विष्णु है। तू ही रयिवित् (विविध ऐश्वर्योंका ज्ञाता) ब्रह्मा है। हे अग्ने! तू राजा वरुण है, तू मित्रदेव है, तू ही सत्पति (सज्जनोंका पालक) अर्यमादेव है। हे अग्ने! तू ही त्वष्टा (विश्वकर्मा) देव है। हे अग्ने! तू असुर अर्थात् प्रकृष्टबलशाली रुद्रदेव है। तू ही मरुत् यानी पवनोंका संघट्टनरूप बल है। तू ही सवितादेव है; हे नृपते! (नरोंका पालक) तू भगदेव है। हे वसुपते! तू सकल ऐश्वर्योंका स्वामी वृत्रहा (वृत्रासुरका हन्ता) है। तथा तू ही ज्ञानशक्तिरूपा सरस्वती है।

इत्यादि अनेक ऋचाओंके द्वारा निश्चित होता है कि--हमारे पूर्वज ऋषि, अग्निकी सर्व देवमय-ब्रह्मभावसे ही आराधना करते थे। इसलिए श्वेताश्वतरोपनिषत् में कहा है कि--

'यो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमोनमः॥'

(२। १७)

जो देव (सत् चित्-पूर्णाद्वय-आनन्दरूपसे द्योतमान) अग्निमें तथा जलोंमें भी विद्यमान है, जो इस समग्र चराचर-भवनधर्मक-विश्वमें प्रविष्ट हुआ है, जो देव, गेहूँ चावल आदि औषधियोंमें तथा बडे वृक्षरूप वनस्पतियोंमें भी विद्यमान है-उस देवको पुनः पुनः नमस्कार है।

'नमस्ते वायो! त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि।' (तै. उ. १।१) हे वायो! तुझे नमस्कार है, तू ही प्रत्यक्ष ब्रह्म है। **'खं ब्रह्म'** (बृ. ५।१।१) खं यानी आकाश ब्रह्म है। इस प्रकार पवन एवं आकाशमें भी ब्रह्मकी भावना करके हमारे ऋषि आनन्दमग्न बन जाते थे। **'यत्साक्षादपरोक्षात् ब्रह्म'** (बृ. उ. ३।४।२) इस श्रुतिने ब्रह्मको आत्मरूपसे साक्षात् एवं विश्वरूपसे अपरोक्ष कहा है।

यह शरीर भी पांचभौतिक है, इसमें भी इन पांचों भूतोंका कनेक्शन बना हुआ है। विश्वका ऐसा कोई भी पदार्थ न होगा, जिसमें ये पांचों भूत विद्यमान न हो। इस शरीरमें आप कठिन, अस्थि आदिरूपसे पृथिवीको, रक्त आदि द्रवरूपसे जलको प्रत्यक्ष देखते हैं। इसके भीतरे अग्नि तत्त्व भी व्याप्त है-अपनी दोनों हथेलियोंका संघर्षण कीजिये, आपको अग्निकी उष्णताका अनुभव हो जायगा। पके हुए

अन्नको पुनः पकानेके लिए उदरमें जठराग्नि जल ही रही है। उसको भगवान्ने गीतामें अपना स्वरूप बतलाया है—

'अहं वैश्वानरो भूत्वा, प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः, पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥'
(१५।१४)

मैं भगवान् ही सब प्राणियोंके शरीरमें स्थित हुआ वैश्वानर अग्नि-रूप होकर प्राण और अपानसे युक्त हुआ भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य रूप-चार प्रकारके अन्नको पचाता हूँ।

ठण्डियोंमें जितनी ज्यादा या कम ठण्डी लगती है—उसके अनुसार ही-ज्यादा या कम मुखसे धूम-जैसा बाष्प निकलता है। यह अंदर रखी हुई अंगिठीकी सूचना देता है। यदि वह अन्दरकी अंगिठी बुझ जाती है, तब तो सारा शरीर 'गोविन्दाय नमो नमः' बरफ जैसा ठण्डा हो जाता है। तब लोग कहने लगते हैं कि—अमुक मनुष्य मर गया।

एक सज्जनने जठराग्निके विषयमें दो शङ्काएँ प्रस्तुत कीं थीं (१) यदि यह जठराग्नि, सर्वशक्तिमान् भगवान्का स्वरूप है, तो जितना भी खाँवें, सब हजम हो जाना चाहिए, जब स्वयं भगवान् ही उदरमें जठराग्निरूपसे बैठे हैं—तो बदहजमी क्यों होनी चाहिए ?। भगवान्के समीप शक्तिकी कमी तो है नहीं (२) अविनाशी-भगवान् ही जब जठराग्नि हुए हैं, तब यह मृत्यु समयमें बुझ क्यों जाती है ? भगवान् यदि बुझ जाँय, ठण्डे पड जाँय, तो भगवान्को अविनाशी कैसे मान सकते हैं ?।

इनका यह उत्तर हैं—यह जठराग्नि भगवान्का सोपाधिक स्वरूप

है, निरुपाधिक नहीं। सोपाधिक--स्वरूपमें उपाधिका तारतम्य (न्यूनाधिकता)का भान भी होता है। जिस प्रकार भगीरथ-रथखातावच्छिन्न-गंगाजलमें नौकाएँ घूमती रहती हैं, परन्तु तुम्बडीके गंगाजलमें एक भी नौका नहीं घूम सकती। क्योंकि--तुम्बडीरूप उपाधिकी अल्पता होनेसे, तदवच्छिन्न-जलमें नौकाके रहनेकी योग्यता नहीं है। इस प्रकार तमः-प्रधान-मायोपाधिक वैश्वानर-भगवान्में समस्त संसारको हजम करनेकी सामर्थ्य है--इसलिए कठोपनिषत्में कहा है--

> यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च, उभे भवत ओदनः।
> मृत्यु र्यस्योपसेचनं, क इत्था वेद यत्र सः॥ (१।२।२५)

ब्राह्मण एवं क्षत्रियसे उपलक्षित समस्त चराचर जगत् उस परमेश्वरके लिए भातके समान भक्ष्य है, और सबका संहार करनेवाला मृत्यु जिसके लिए दाल-शाक है। वह परमेश्वर जिस विशुद्ध पूर्णस्वरूपमें स्थित है, उस शुद्ध स्वरूपको मुझ ब्रह्मवेत्तासे भिन्न साधारण मानव कौन जान सकता है? जिस प्रकार मैं जानता हूँ। ऐसा नचिकेताके प्रति धर्मराजने कहा, अर्थात् मेरे समान कोई ब्रह्मवेत्ता ही उसको जान सकता है।

परन्तु पिण्डोपाधिक-वैश्वानरमें उदररूप उपाधिकी अल्पता होनेके कारण सब हजम करनेकी सामर्थ्य नहीं है। इस प्रकार मृत्युके समयमें जठराग्निके बुझ जानेका तात्पर्य है, विशिष्टस्वरूप सामान्यस्वरूपमें मिल गया। जिस प्रकार जलता हुआ दीपक बुझ जाता है--इसका भी यही तात्पर्य है कि--व्यक्त दीपक, अव्यक्त हो गया। जो प्रथम प्रत्यक्ष दीखता था; अब वह अव्यक्त स्वरूपसे स्थित होनेके कारण नहीं दीखता, मर

नहीं गया। तद्वत् जठराग्निके विषयमें भी ऐसा ही समझना चाहिए।

जिस प्रकार शरीरमें अग्नि तत्त्व है, उस प्रकार वायु तत्त्व भी विद्यमान है। इस शरीरमें प्राण ही तो सब कुछ है। इसलिए संसारमें श्वाँसकी ही सगाई मानी जाती है। जबतक शरीरमें श्वाँस चलता रहता है, तब तक दुनियाके लोग अपना अपना नाता बतलाते हुए कहते हैं कि—यह मेरा पति है, यह मेरी पत्नी है, यह मेरा भाई है, जमाई है, पिता है, माता है, इत्यादि। जब इस शरीरसे प्राण—देवता निकल गया, सब खेल समाप्त। सभी नाता एकदम टूट गया। तब प्राणरहित इस शरीरको कोई भी यह मेरा पति है, पत्नी है, फलाना है, नहीं कहता। सम्बन्धी कहते हैं—वह हमारा मर गया। शरीरके लिए नहीं, क्योंकि—शरीर तो सामने ही निश्चेष्ट होकर पडा है—किसी अव्यक्त वस्तुके लिए रोते हैं—हाय हाय करते हैं, छाती पीटते हैं। कहते हैं कि—हम पतिके लिए, बापके लिए रोते हैं, परन्तु कोई किसीके लिए नहीं रोता, अपने स्वार्थके लिए ही सब रोते हैं। इसलिए संसारके सभी सम्बन्ध, प्राणके रहनेपर ही रहते हैं। अत एव प्राण ही सबका सम्बन्धी है-शरीर नहीं। इसलिए छान्दोग्य-उपनिषत्में कहा है कि—

'प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता
प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः॥' (७।१५।१)

प्राण ही पिता है, माता है, भ्राता है, बहिन है, आचार्य है एवं ब्राह्मण है। यदि शरीरको माता, पिता, ब्राह्मण आदि मान लिया जाये तो शरीरके जलानेपर पुत्रको मातृहत्या, पितृहत्या, ब्राह्मणहत्या लग जायगी। इसलिए शरीर, माता पिता आदि नहीं, किन्तु प्राण ही सबका

मातापितादि सम्बन्धी है।

एवं शरीरमें आकाश भी है। यदि आकाश न हो, तो श्वाँस लेनेका एवं खाने पीनेका किसीको अवकाश ही न मिले, क्योंकि—आकाश ही तो अवकाश देता रहता है। जिस प्रकार आकाश; शरीरके अन्दर अवकाश देता है, इस प्रकार शरीरके वाहर भी घूमने फिरनेका अवकाश देता है। अन्यथा पृथिव्यादि भूत चतुष्टयके परमाणु निबिडरूपसे सर्वत्र फैले हुए हैं, शरीर जहाँका तहाँ उनके आघातसे स्थिर हो जायगा, हिलडुल भी नहीं सकेगा। परन्तु आकाश इन सबमें अवकाश देनेके लिए अवस्थित होनेके कारण शरीरका घूमना-फिरना आदि हो जाता है।

इस प्रकार ये पांच भूत, शरीरके अंदर वाहर सर्वत्र-उस परमात्माकी पूर्ण सत्ता, स्फूर्ति एवं प्रियताको धारणकर हमारे सामने कारणरूपसे तथा वृक्ष, पर्वत, सूर्य, चन्द्र आदि कार्य रूपसे, सदा सर्वत्र अवस्थित रहते हैं। अत एव हमारे ब्रह्मवेत्ता महानुभाव, इन सबमें सावच्छिन्न या निरवच्छिन्न उभयरूपसे ब्रह्मतत्त्वका अवलोकन करते हुए पूर्ण प्रसन्नताको प्राप्त करते हैं। इसलिए श्रीमद्भागवतमें कहा है—

'खं वायुमग्निं सलिलं महीं च,
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं,
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥ (११।२।४१)

आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी ये पंच भूत, तथा उनका भौतिक कार्य सूर्य, चन्द्रादि ज्योतियाँ, अनेक प्रकारके देव, दानव;

मानव, पशु पक्षी आदि प्राणी, दश दिशाएँ, वृक्ष आदि, नदियाँ और समुद्र, जो कुछ भूत भौतिक समुदाय है, वे सब भगवान् श्रीहरिका ही स्वरूप है, अतः विवेकीभक्त-इस सबमें श्रीहरिकी सच्ची भावनाकरके अनन्यप्रेमसे सबको प्रणाम करे।

नाम एवं आकारके साथ ब्रह्मका अवलोकन सावच्छिन्न कहाता है, तथा नाम एवं आकारका बाध करके केवल सत्-चित्-आनन्दरूपसे ब्रह्मका अवलोकन करना निरवच्छिन्न है। इसलिए ब्रह्मवेत्ताओंकी समाधि भी दो प्रकारकी मानी गई है-एक सविकल्प एवं दूसरी निर्विकल्प। सविकल्प समाधिमें शब्दानुवेध एवं अर्थानुवेध रहते हैं। जिस प्रकार हम घट शरावादि नामोंका, कम्बुग्रीवादि आकारोंका कल्पितरूपसे अनुभव करते हुए भी विचारके सामर्थ्यसे इन घट-शरावादियोंमें मृत्तिकाकाभी यथार्थ-अनुभव करते हैं, तद्वत्-इस-भूत-भौतिकप्रपञ्चमें कल्पित-नामरूपोंका अनुभव करते हुए भी विचारके एवं अनुसंधानके बलसे ब्रह्मका अनुभव करना-यह शब्दानुविद्ध एवं अर्थानुविद्ध सविकल्प समाधि कहाती है। सावच्छिन्नरूपसे ब्रह्मका अवलोकन करते करते, जब विशेष तन्मयता हो जाती है-ब्रह्मभावना परिपक्व हो जाती है, तब नामरूपका बाध होजाता है-उससमय निर्विकल्प-समाधिकी सिद्धि होती है। ब्रह्मवेत्ताओंकी यह समाधि-जड समाधि नहीं है; किन्तु चैतन्य समाधि है। यह कष्ट साध्य नहीं, किन्तु आनन्द साध्य है। इसमें प्राणनिरोधको आवश्यकता नहीं है, केवल अनन्यशान्त-प्रसन्न ब्रह्मभावसे ही इसकी सिद्धि सहजमें ही हो जाती है। इसलिए इसको सहज-समाधि भी कहते हैं। इस विषयमें महात्मा कबीरने बडा ही अच्छा कहा है—

'साधो ! सहज-समाधि भली,
आँख न मूँदुँ कान न रूँधुं, तनिक कष्ट नहीं धाहं।
खुले नैन में हँस हँस देखूँ, सुन्दर रूप पहिचानुँ।
साधो ! सहज-समाधि भली।

गुरु प्रताप जा दिनसे जागी, दिन दिन अधिक चली।
उठत बैठत कबहुँ न छूटत, ऐसी लगन लगी।

दुनियाँ उजाड एक समलेखुँ, भाव मिटाउं दूजा।
साधो ! सहज-समाधि भली।

जबतक हमें ब्रह्मदर्शनके साथ साथ नामरूपोंका भी भान होता है, तबतक हमें लौकिक मर्यादाके अनुसार विधि निषेधका ख्याल रखते हुए-वर्ताव करना चाहिए। जब नामरूपोंका भान नहीं रहता, एक-मात्र-ब्रह्मका ही भान रहता है-ब्रह्मभावमें ही हम मस्त बन जाते हैं-तब लौकिक मर्यादाओंके अनुसरणकी एवं विधि निषेधके भानकी आवश्यकता नहीं रहती।

एक भावुक सत्संगी था। वह एकान्तमें जाकर ब्रह्मनिष्ठ गुरुका उपदेश सुनता था। गुरुने कहा--यह सब जगत् नारायण है-तू भी नारायण है-जड-चेतन सभी पदार्थ नारायण हैं, यह निश्चय कर, भावना कर, इससे रागद्वेष नष्ट हो जायेंगे-मन प्रसन्न एवं शान्त हो जायगा। शिष्य श्रद्धालु था ही। अत एव वह अपनेमें एवं सबमें नारायणकी भावना करता रहा। एकरोज वह नगरमें जा रहा था। मार्गमें उसको जोरोंकी अवाज सुनाई दी कि-रास्तेसे दूर हटो, भाग जाओ, मतवाला हाथी आ रहा है--आवाज सुनकर लोगोंको भागते हुए भी उसने देखा, आप

भी भागनेके लिए तैयार तो हुआ, परन्तु उसको गुरुका उपदेश याद आ गया। गुरुने निश्चयके साथ कहा था-सभी नारायण हैं, तो यह आनेवाला पागल हाथी भी तो नारायण है, मैं भी नारायण हूँ, तब नारायणसे नारायणको क्यों भागना चाहिए?। यदि भागता हूँ तो गुरुका उपदेश व्यर्थ हो जाता है। इसलिए वह मरदका बच्चा-गुरुके उपदेशकी सचाईके लिए मार्गके बीचमें ही डटा रहा। लोगोंने उसे चिल्लाकर कहा—अरे! इधर आ जा, वहाँ खडा मत रह, परन्तु वह वहाँसे नहीं हटा। हाथी सामने आया, उसको एक लात लगाकर-नीचे गिराकर चलता बना। अच्छे भाग्यसे उसको ज्यादा चोट तो नहीं आयी-परन्तु उसने गुरुके उपदेशकी परीक्षा कर ही ली। गुरुका उपदेश झूठा हो गया। नारायणने नारायणको क्यों लात मारी? क्यों नीचे गिरा दिया? ऐसा सोचता हुआ गुरुके समीप गया। सब वृत्तान्त कह सुनाया। गुरुदेव हँस पडे। कहने लगे-तुझे हाथी दीखता था कि—नहीं? उसने कहा-दीखता था। गुरुदेव बोले-हाथीवालेकी तथा सब लोगोंकी-सामनेसे भाग जानेकी आवाजें सुनाता था कि-नहीं? उसने कहा-सब कुछ सुनता था। तब गुरुदेवने कहा-अरे! भोले भगत!-हाथीवाला तथा सब लोग क्या नारायण नहीं थे? उनकी आवाजके अनुसार तुझ नारायणको भागना चाहिए था। भागनेकी आवाज भी तो नारायण थी। अकेले हाथीको ही तूने नारायण समझा, दूसरोंको नहीं? यह कैसा नारायणका विषम ज्ञान। जब तक तुझे इन पदार्थोंके नामरूपोंके दर्शन होते रहते हैं, तबतक तुझे लौकिक मर्यादाओंके अनुसार ही वर्ताव करना चाहिये। जब शुकदेव एवं जडभरतके समान

ब्रह्मभावकी मस्तीकी बाढमें नामरूपोंका विलय हो जाता है-भान नहीं रहता। तब लौकिक-मर्यादाओंके अनुसरणकी कुछ आवश्यकता नहीं रहती। उस समय शरीरका अदृष्ट (प्रारब्ध) ही शरीरकी रक्षा कर लेता है।

शिष्यको अपनी गलती मालुम हुई। शिष्य पूछने लगा—गुरुदेव! शुकदेवकी कैसी ब्रह्मभावकी मस्ती थी? उसका कुछ कृपया वर्णन कीजिये। गुरुदेवने मस्ताने शुकदेवके चरित्रका वर्णन करनेके लिए श्रीमद्भागवतके इन तीन श्लोकोंको कहा। प्रथम श्लोक यह है—

'यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं, द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुः, तं सर्वभूतहृदयं मुनि-
मानतोऽस्मि॥' (१।२।२)

सब प्रकारके-लौकिक वैदिक कर्मोंको त्यागकर अकेले ही दिगम्बर वेशमें वनकी ओर जाते हुए जिन—श्रीशुकदेवजीको, महर्षि द्वैपायन श्रीव्यासने विरहाकुल होकर 'हे पुत्र! हे पुत्र!' इस प्रकार पुकारा था, और उस समय पिताका शोक दूर करनेके लिए ब्रह्मस्वरूपमें पूर्ण तन्मयताके कारण जिन पूर्णात्म-ब्रह्मस्वरूप शुकदेवकी ओरसे-शुकदेवके आत्मभावापन्न वृक्षोंने उत्तर दिया था। उस समस्त-भूतोंके अन्तरात्मरूप उन मुनीश्वरको मैं नमस्कार करता हूँ।

शिष्यने पूछा—गुरुदेव! वृक्षोंने किस प्रकार शोक दूर करनेके लिए उत्तर दिया था। उसका कुछ मर्म समझावें। गुरुदेव बोले—'पुत्र पुत्र' इस शब्दकी प्रतिध्वनिसे वृक्ष भी कहने लगे थे कि—हे पुत्र! हे पुत्र! हे व्यासदेव! तू किसको पुत्र कहता है? किसी समयमें तू भी

मेरा पुत्र हुआ होगा। इस संसारमें कोई किसीका सदा पिता नहीं रहता, न सदा पुत्र रहता है। आसक्तिवश पिता मरकर अन्य जन्ममें पुत्र हो जाता है, तो पुत्र पिता बन जाता है। इस प्रकार संसार अत्यन्त विचित्र है। स्वप्न जैसा दृष्ट-नष्ट स्वभावका है। इसलिए तू पुत्रका मोह मत रख, शोक त्यागकर सुखी होजा।

अथवा वृक्ष इस प्रकार कहने लगे थे कि—हे व्यास! हमको देख, हमारे उपर हजारों लाखों फल लगते हैं—वे सब हमारे पुत्रके समान हैं। उनको लोग तोड जाते हैं, या स्वयं गिर जाते हैं—सड जाते हैं; तथापि हम उनके लिए कभी शोक नहीं करते। सदा आनन्द-प्रसन्न रहते हैं। इस प्रकार तू भी शोक मत कर, आनन्द प्रसन्न रह। कौन किसके बेटे हैं, कौन किसका पिता? संसार केवल मायाका तमाशामात्र है, किसीका कोई नहीं।

पश्चात् गुरुदेवने शिष्यके प्रति-श्रीशुकदेवजीका पावन स्वरूप एवं चरित्र बतलानेवाले ये दो श्लोक कहे—

'तस्य पुत्रो महायोगी, समदृङ् निर्विकल्पकः।
एकान्तमतिरुन्निद्रो गूढो मूढ इवेयते॥'

'दृष्ट्वाऽनुयान्तमृषिमात्मजमप्यनग्नं,
देव्यो ह्रिया परिदधुर्न सुतस्य चित्रम्।
तद्वीक्ष्य पृच्छति मुनौ जगदुस्तवास्ति,
स्त्रीपुंभिदा न तु सुतस्य विविक्तदृष्टेः॥'

(श्रीमद्भा० १।४।४-५)

कृष्णद्वैपायन—व्यासका पुत्र शुकदेव महायोगी, समदर्शी, भेदभाव-

रहित, निर्विकल्प-समाधिनिष्ठ एवं एकान्तमति है, अर्थात् 'नेति नेति' के द्वारा समस्त द्वैतप्रपञ्चका बाध हो जाने पर एक ही जो अन्तमें परिशिष्ट रहता है, उसपूर्णाद्वय-ब्रह्मका नाम 'एकान्त' है, उसमें ही जिसकी मति सदा संलग्न है, और जो संसारस्वप्नकी कारणीभूत-अविद्या-निद्रासे जागे हुए हैं, अतः वे सर्वसाधारणकी दृष्टिमें महान् रूपसे व्यक्त न होनेके कारण मूढ-से प्रतीत होते हैं।

ऐसा मस्ताना-ब्रह्मविद्वरिष्ठ शुकदेव स्वच्छन्दगतिसे अरण्यमें आगे जा रहे हैं, और पिता पीछे-पीछे पुकारते हुए जा रहे हैं। मार्गमें एक सरोवर आता है। उसमें देवाङ्गनाएँ (अप्सराएँ) नग्न होकर स्नान कर रही हैं। प्रथम उन्होंने शुकदेवको-जो दिगम्बर है-जिसका सुन्दर युवा शरीर है-देखकर भी लज्जा नहीं कीं, वस्त्र नहीं धारण किये। प्रथमके समान ही स्नान-क्रीडा करती रहीं। पश्चात् पुत्रके पीछे जाते हुए, वस्त्र पहिने हुए वृद्ध श्रीव्यासको देखकर शीघ्र ही अप्सराओंने लज्जावश होकर अपने वस्त्र धारण कर लिये, पीठ फेर खडी हो गईं। तब इस आश्चर्यको देखकर मुनिवर व्यासको उन देवियोंसे पूछे विना नहीं रहा गया। वे बोल उठे—अरी देवियों! तुम यह क्या उलटी गंगा बहा रही हो? तुम्हें मेरे सुन्दर युवा नग्न पुत्रसे लज्जा करनी थी, परन्तु उसको देखकर तुमने लज्जा नहीं की, वस्त्र नहीं पहिनें, मुख नहीं फेरा। और मुझ बुड्ढेको-जिसके सभी बाल सफेद हो गये हैं, मुख पोपला है—जिसमें एक भी दांत नहीं, वस्त्र पहिने हुए हैं—देखकर तुम लोगोंने लज्जावश वस्त्र पहिन लिये? ऐसा क्यों किया? मुझसे लज्जाकी क्या आवश्यकता थी?।

इस प्रकार श्रीव्यासके पूछने पर उन देवियोंने-जो पुरुषकी दृष्टि पहिचाननेमें बडी निपुण थीं-कहा—आपकी दृष्टिमें स्त्री-पुरुषका भेद बना हुआ है-किन्तु आपके पुत्रकी निर्मल ब्रह्मभावपूर्ण दृष्टिमें यह भेद नहीं है। उसकी दृष्टि सबको अखण्ड-एकरस-ब्रह्मरूपसे ही देखती है-नाम-रूपको पहिचानती नहीं है-इसलिए हमने ऐसा किया। अप्सराओंका ऐसा युक्तियुक्त उत्तर सुनकर श्रीव्यासको एक-साथ शोक भी हुआ तथा हर्ष भी। शोक इसलिए हुआ कि-मैं ऐसे महान् पुत्रका पिता होकर भी कोराका कोरा ही रह गया। हर्ष इसलिए हुआ कि-उस प्रशंसनीय ब्राह्मी-स्थितिको मैंने नहीं तो मेरे पुत्रने प्राप्त किया है। जिस प्रकार पुत्रके गवर्नर बनने पर, गवर्नर नहीं बने-पिताको हर्ष होता है।

इसलिए 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छां. ३। १५। १) (निश्चयसे यह सब जगत् ब्रह्म है) इस सिद्धान्तके अनुसार यह समग्र-भूतभौतिक जगत् नामरूपकी दृष्टिसे परमेश्वरकी अपरा प्रकृति होनेपर भी वस्तुतः सच्चिदानन्दकी दृष्टिसे भगवद्रूप है, ऐसा समझना चाहिए।

पांच भूतोंके साथ मन, बुद्धि एवं अहंकार भी परमेश्वरकी अपरा प्रकृति है। संकल्प-विकल्प करना यह मनका स्वरूप है, निश्चय करना बुद्धिका स्वरूप है, तथा अहंभाव रखना अहंकार है। ये तीनों, देव-दानव-मानव-पशु-पक्षी आदि सभी उत्तम अधम प्राणियोंके अंदर कहीं विकसित होकर, कहीं अविकसित होकर, कहीं शुद्ध रूपसे या कहीं मलीन रूपसे, अवश्य विद्यमान रहते हैं। छोटी छोटी-चींटियोंमें भी मन-बुद्धिका विकास देखनेमें आता है। यह कोई नियम नहीं है कि—उत्तम—मानवादि प्राणियोंमें ही मन-बुद्धिका विकास हो—अन्यत्र न हो।

छोटी चीटियाँ जितना समझती हैं—उतना कहीं मनुष्य भी नहीं समझता होगा। वे हंमेशा यूथ बांधकर रहती हैं। खाद्यसामग्रीका पता एकको लग जानेपर वह सबको सूचना दे देती है—सब एकसाथ मिल कर उसका उपभोग करती हैं। वे मनुष्यकी भाँति स्वार्थवश होकर उसके लिए लडाई—झगडा नहीं करतीं। इनमें बुद्धि भी बडी होती है। अपने भावी सामूहिक गुजाराके लिए खाद्यसामग्रीका सुरक्षित स्थानमें संग्रह भी ये करती हैं।

जयपुरमें नगरसे बाहर हम सब महात्मा, किसी समय एक नवीन स्कूलमें ठहरे थे। एक महात्मा मेरे समीप आकर आश्चर्य अभिव्यक्त करते हुए कहने लगे कि—स्वामीजी महाराज! आपको हम एक कारखाना दिखलावें—उसे देखकर आप बडे प्रसन्न होंगे, चलिए समीपके कमरेमें। वहाँ जाकर हमने हजारों चीटियाँ—कतार बांधकर समीपके ज्वारके खेतसे ज्वारी ढोकर लाती हुई देखीं! एक दल दाने ढोकर चूपचाप लाईनबंद लाता था। दूसरा दल—इन दानोंसे चिपका हुआ छीलका हटाकर सफा करता था। तीसरा दल—इन दानोंको सुरक्षित कोठारमें रखनेका काम कर रहा था। चीटियोंके वे दल, विना सुपरवाईजरके सुव्यवस्थित-रूपसे आलस्य छोडकर मुस्तेदीसे कार्य कर रहा था। यहाँके कारखानोंमें यदि कोई निरीक्षक न हो तो मजदूर लोग काम करना ही छोड देते हैं। परन्तु चीटियोंके उस कारखानेमें बडा व्यवस्थित कार्य देखकर निश्चय होता है कि—उनमें भी मनबुद्धिका अपने ढंगका विकास अवश्य था।

एवं अहंकार भी सभीमें विद्यमान है। 'मैं कर्ता हूँ' 'मैं करुँगा'

ऐसा सभी बोलते हैं। विधाता-प्रजापतिकी सृष्टि भी अहंभावपूर्वक होती है। वह सृष्टिके आदिमें अहंभावपूर्वक ऐसा संकल्प करता है कि—'**बहु स्यां प्रजायेय**' (छां. उ. ६ । २ । ३) 'एक मैं अपनी स्वाश्रित मायाके द्वारा अनेक हो जाऊँ, असंख्य काल्पनिक नामरूपोंको धारणकर अनन्तरूपोंसे प्रकट हो जाऊँ।' इसलिए प्रजापतिकी सृष्टिमें सर्वत्र एकसे अनेक होनेका संकल्प भी अहंभावके साथ ही होता है। एक छोटेसे बीजमें भी वही अहंभाववाला संकल्प अव्यक्त रूपसे विद्यमान रहता है—इसलिए वह एकसे अनेक बन जाता है। अतएव आदि सृष्टिकर्ता प्रजापतिका 'अहम्' ऐसा सामान्य नाम पडा था। वही नाम प्रजापतिकी सभी प्रजामें इस समय भी देखा जाता है। आपके मकानके बंद किवाडको कोई खटखटा रहा है। आप पूछते हैं—कौन है? वह उत्तर देता है कि--'और कोई नहीं, ए तो मैं हूँ।'

परन्तु यह अहंभाव 'मनकी तरह' दो प्रकारका होता है--एक बन्धनका कारण, और एक मोक्षका—कारण। देहेन्द्रियादि-अनात्मवर्गमें होनेवाला अहंभाव मिथ्या होनेके कारण बन्धनका हेतु होता है। एवं वास्तविक सत्, चित्-आनन्दरूप विभु-आत्मामें होनेवाला 'अहंभाव' यथार्थ होनेके कारण मुक्तिका प्रयोजक हो जाता है। जिसप्रकार यथार्थ ज्ञान, मिथ्या ज्ञानको हटा देता है, इसप्रकार यथार्थ अहंभाव, मिथ्या अहंभावको हटा देता है। इसलिए हमारी प्रामाणिक उपनिषदोंने उपदेश दिया है कि--

'नित्यशुद्धः चिदानन्दः, सत्तामात्रोऽहमव्ययः।
अपरिच्छिन्नरूपोऽस्मि, ह्यहमात्मा सदाशिवः॥'

देहभावविहीनोऽस्मि चिन्ताहीनोऽस्मि सर्वदा।
सर्वदा पूर्णरूपोऽस्मि नित्यतृप्तोऽस्म्यहं सदा॥

चिद्रूपमात्रं ब्रह्मैव, सच्चिदानन्दमद्वयम्।
आनन्दघन एवाहमहं ब्रह्मास्मि केवलम्॥

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमनात्माख्यासुरान् हरेत्।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं, सर्वशोकं विनाशयेत्॥

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं, मृत्युपाशं विनाशयेत्।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं, द्वैतदुःखं विनाशयेत्॥

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं, ज्ञानानन्दं प्रयच्छति।
सप्तकोटिमहामन्त्रं, जन्मकोटिशतप्रदम्॥

सर्वमन्त्रान्समुत्सृज्य, एतं मन्त्रं समभ्यसेत्।
सद्यो मोक्षमवाप्नोति, नात्र सन्देहमण्वपि॥

(तेजोबिन्दूपनिषत्)

मैं नित्य, शुद्ध, चेतन, आनन्द, अव्यय, सत्तामात्र स्वरूप हूँ, अपरिच्छिन्नरूप सदाशिव ही मैं आत्मा हूँ, मैं तुच्छदेहभावसे रहित हूँ, मैं सर्वदा चिन्तारहित हूँ, मैं सर्वदा पूर्णरूप हूँ, मैं सदा नित्यतृप्त हूँ चिद्रूपमात्र सच्चिदानन्द अद्वय ब्रह्म ही मैं हूँ, मैं आनन्दघन हूँ, द्वैत-प्रपञ्चोपशम शान्त-अविकार केवल मैं ब्रह्म ही हूँ। यह 'अहं ब्रह्मास्मि' मन्त्र अनात्मामें आत्मभावरूप असुरोंका हनन करता है। 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा मन्त्र समस्त शोकका, मृत्युपाशका तथा द्वैतदुःखका विनाश कर देता है। तथा यह 'अहं ब्रह्मास्मि' मन्त्र ज्ञानके महान् आनन्दका प्रदान करता है। सात करोड जो अन्य मन्त्र हैं, वे सैंकडों करोडों

जन्म देनेवाले हैं, इसलिए इन सभी मन्त्रोंका परित्यागकर इस 'अहं ब्रह्मास्मि' मन्त्रका ही सदा अभ्यास--चिन्तन करना चाहिए, इसके द्वारा शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त होता है, इसमें अणुमात्र भी संदेह नहीं है।

इसलिए वार्तिककार सुरेश्वराचार्य्यजीने नैष्कर्म्यसिद्धिमें कहा है कि–

'देहात्मज्ञानवत् ज्ञानं, देहात्मज्ञानबाधकम्।
आत्मन्येव भवेद्यस्य, स नेच्छन्नपि मुच्यते ॥'

जिसप्रकार अज्ञानदशामें देहमें आत्मभाव है–अहंभाव है, छाती ठोंककर कहता है–यह मैं हूँ, अमुकका भाई या जमाई हूँ, अमुकका बेटा या बाप हूँ, ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ, गोरा हूँ, काला हूँ, जवान हूँ, बुड्ढा हूँ। ऐसा ही आत्मभाव–अहंभाव पारमार्थिक–नित्य–शुद्ध–बुद्ध–मुक्त–असंग–ब्रह्माद्वय–पूर्ण–आनंन्दनिधि–स्वस्वरूपमें हो जाय तो वह वास्तविक आत्मभाव (अहंभाव) मिथ्या-देहात्मभावका बाधक हो जाता है, वह आत्मभाववान् नहीं चाहता हुआ भी मुक्त हो जाता है।

प्रतिदिन सत्संगमें जानेका, श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ महात्माओंके द्वारा स्वाध्याय करनेका एवं प्रवचन सुननेका भी यही वास्तविक फल है कि–हमारे हृदयके सभी असद्भाव मिट जाँय, सद्भाव प्रगट हो जाँय। सूक्ष्मदृष्टिसे निरीक्षण करनेपर मालूम पडता है कि-हमारे हृदयमें अनन्त असद्भाव भरे हैं-सुन्दर वस्तु देखनेका भाव, मनोहर शब्द सुननेका भाव, सरस खानेका भाव, बढिया-बढिया पहिननेका भाव, अच्छा, वाहवाह करानेवाले लच्छेदार वचन बोलनेका भाव, अनेकविध विषयोंके भोगनेका भाव, अच्छे वाहनोंमें अकडकर बैठनेका भाव, इत्यादि असंख्य मिथ्या-भाव, इस संसारके नकली बजारोंमें उंचे-नीचे उछाले मार रहे हैं। कभी ऐश्वर्य

सम्पन्न राजा—महाराजा बननेका भाव आजाता है, तो कभी रूप-यौवनगर्विता राणी-महाराणी बननेका भाव खडा होजाता है। कभी चाहता है, मैं मालदार सेठ बनूँ तो अच्छा, कभी चाहता है—मैं वस्त्रा-भूषणोंसे सुसज्जित सेठानी बनूँ तो अच्छा, इसप्रकारके असद्भाव, इस संसारके चक्रमें फंसे हुए, अविद्याग्रस्त-मूढ प्राणियोंमें समुद्रमें तरङ्गोंकी भाँति उठते बैठते रहते हैं। ये असद्भाव, दुःख, शोक एवं भयके ही हेतु होते हैं, सुखादिके हेतु नहीं होते।

अरे भाई ! तू इस अनादि-संसारमें होनेवाले अपने असंख्य जन्मोंका विचार कर। कईवार तू कर्मवश राजा, राणी, सेठ, सेठानी बना होगा। कईवार तूने इस संसारके आपात-रमणीय मिथ्या पदार्थोंके पीछे--गरदनें कटाई होगीं। लडाई—झगडा मचाया होगा। परन्तु इस समय वे कहाँ ? तू कहाँ ?। इन असद्भावोंके पीछे पागल होनेवालेको सुख कहाँ ? शान्ति कहाँ ?।

एक समय महात्माओंका अपना मण्डल एक प्रसिद्ध स्टेटमें गया था। महाराजाके आमन्त्रणसे उसके महलमें हम गये थे। वहाँ महाराणी दर्शन करने आई। कहने लगी—महाराज ! हम नरकमें पडे हैं—नरकका प्रत्यक्ष दुःख भोग रहे हैं। हमने कहाँ--तुम्हारे पास तो इतने बहु-मूल्य हीरे मोती हैं—सोना--चांदी हैं, सेंकडों दासदासियाँ हैं, खाने-पीनेकी अच्छीसे अच्छी चीजें हैं, रहनेके लिए बढिया महल है, फिर नरकका कैसा दुःख ? वह कहने लगी—महाराज ! ये सब चीजें दिलको जलाती रहती हैं, सुखशान्ति नहीं देतीं, इनके सम्पर्कसे हरदम रोग शोक बने रहते हैं—इसका हमें प्रत्यक्ष अनुभव है। हमारे दुःखोंको

आप नहीं समझ सकते।

महारानीका यह कहना यथार्थ था। जिसके हृदयमें रागद्वेषकी रातदिन होली धधक रही हो, काम, क्रोध, मद, मान, अहंकारके बवंडर उठते रहते हों, वह कितना भी बडा महाराजा हो, या महाराणी हो, साक्षात् त्रिभुवनाधिपति--इन्द्र भी क्यों न हो? तथापि वह बाहरके ऐश्वर्यमात्रसे सुखी कैसे माना जा सकता है? सुख तो हृदयमें जब शान्ति होती है, तभी ही प्रकट होता है। इसलिए श्रीमद्भागवतमें कहा है--

'न सुखं देवराजस्य, न सुखं चक्रवर्तिनः।
यत्सुखं वीतरागस्य, मुनेरेकान्तवासिनः॥'

जो निर्मल, एकरस, शाश्वत-सुख, एकान्तवासी वीतराग ब्रह्मनिष्ठ मुनिको मिल रहा है, वैसा सुख न देवराज इन्द्र को है, न सम्राट् चक्रवर्तीको है।

इसलिए कल्याणकी अभिलाषा रखनेवाले सज्जनोंको चाहिए कि--वे दुनियाँके सभी दुःख, शोक देनेवाले असद्भावोंको दूर करनेका प्रबल-प्रयत्न करें। निश्चय करें--और सतत भावना करें कि--मुझे और कुछ नहीं होना है--न मैं राजा बनना चाहता हूँ, न रानी; न सेठ, न सेठानी; किन्तु मैं वही पूर्ण--ब्रह्म आनन्दनिधि होना चाहता हूँ, वस्तुतः वही मैं हूँ; मैं अपने आपको भूल गया हूँ। हूँ कुछ और, भ्रान्तिवश कुछ और मान रहा हूँ, इस भ्रान्तिको मैं भगाऊँगा। मैं अब और कुछ मानना या चाहना पसंद नहीं करता, उसीको मानूँगा, उसीको चाहूँगा। उसीमें तल्लीन रहूँगा। यही कल्याणका प्रशस्त मार्ग है। उसीमें चलता रहूँगा। इसप्रकार विवेक वैराग्यद्वारा सभी असद्भावोंको

दूर करें, दृढ-आत्मबोधके द्वारा देहादिके अहंभावका परित्याग करें। ईश्वर-प्रदत्त मन, बुद्धि एवं अहंकारका सदुपयोग करें, दुरुपयोग न होने दें, उसी परम-श्रद्धेय-तत्त्वके मननमें मनको सदा लगावें, बुद्धिसे उसी तत्त्वका शास्त्र एवं गुरुके द्वारा दृढ निश्चय करें। एवं उसी अद्वय ब्रह्मरूप-पूर्ण-आनन्दमें अपने अहंभावको स्थापित करें।

दुनियाँके--मुफ्त में मिले हुए इन पदार्थोंमें मिथ्या अभिनिवेश बांधकर जीव पागल हो जाता है, जब इसके हृदयमें किसी श्रोत्रिय--ब्रह्मनिष्ठ महात्माके द्वारा छोटीसी जलती हुई ब्रह्मज्ञानकी चीनगारी पड जाती है तो हृदयके सभी असद्भाव जलकर भस्म हो जाते हैं, तब वह सदाके लिए शान्त आनन्द-प्रसन्न होजाता है -इस विषयमें एक दृष्टांत सुनिये।

एक वडा नगर था। उसमें एक नगरसेठका राजमार्गपर अच्छा चौ-मंजिला मकान था। उस मकानकी अगाशी पर बैठकर सेठका लडका, एकरोज रूईके बडे बडे गट्ठरोंसे लदे हुए हजारो ऊँटोंकी कतारें वहाँसे जाती हुई देख रहा था। पुराने जमानेमें, ये ऊँट ही मरुभूमिकी मालगाडी थे। इनके द्वारा ही इधरसे उधर वे लोग वस्तुओंका आदान प्रदान करते रहते थे। उसका चित्त रूईकी उन असंख्य गट्ठरोंमें ऐसा उलझ गया कि--वह और सब कुछ भूल गया--उन गट्ठरोंकी ही चिन्ता करने लगा। 'अरे! इनको कौन कातेगा? कौन बुनेगा। कौन कातेगा? कौन बुनेगा।' यही सोचने और बोलने लगा। इसी चिन्ताके कारण वह पागल हो गया, यही बकने लगा। उसके पिता--सेठको बडी चिन्ता हुई--अरे! इस लडकेको क्या होगया? हरदम यही

बकता रहता है 'कौन कातेगा ? कौन बुनेगा ?' अनेक वैद्य हकीमोंकी दवाई की, परन्तु इनसे रोगकी एवं बकवादकी निवृति नहीं हुई। क्योंकि-वैद्योंको रोगकी जडका ही पता नहीं लग रहा था।

एकरोज उस सेठके मकानमें एक महात्मा आये। सेठने महात्माको बडी नम्रताके साथ अपने लडकेकी हालत बतलाई। महात्माने लडकेको देखा। तुरन्त ही अपनी अलौकिक-प्रतिभासे रोगकी जड पहिचान गये। महात्माने निश्चय किया कि—इसका हृदय अत्यन्त दुर्बल है। अतः वह व्यर्थकी चिन्तासे उद्विग्न हो गया है। महात्माने सेठसे कहा—आप चिन्ता न करें, लडका अच्छा हो जायगा। इसके दिलमें सिर्फ उलटी चावी लग गई है, अब उसमें सुलटी चावी लगानी होगी। ऐसा कहकर महात्मा उस पागल लडकेको उसी अगाशीमें ले गये। ऊँटोंके उपर लदे हुए रूईके गट्ठरोंकी बात करने लगे, लडका गट्ठरोंकी बात सुनकर और ज्यादा चिन्ताग्रस्त हो गया। महात्माने कहा—अरे भाई! रूईके ये सब गट्ठर अमुक मैदानमें रक्खे गये थे, उनका इतना बड़ा ढेर पहाडके ऊंचे शिखरके समान लग गया था--ओहोहो! क्या कहा जाय, ऐसा हाथके इशारेसे बतलाने लगे, परन्तु इसमें किसी बीडी पीनेवालेने जलती हुई बीडी फेंक दी थी। फिर क्या था? लग गई उसमें आग। सब जल गया। राख हो गई, रूईके इतने बडे सब गट्ठर समाप्त हो गये। अब तू इसकी चिन्ता मत कर। सब खेल खलास। हरिः ॐ तत्सत्।

महात्माके इस प्रकारके युक्तियुक्त वचन सुनकर लडकेकी चिन्ता दूर हो गई। लडकेके दिलमें निश्चय हो गया कि--वे सब रूईके गट्ठर

जल गये, अब उनकी कताई बुनाईकी व्यर्थ चिन्ता क्यों करनी चाहिए। पराये मालमें व्यर्थकी आसक्ति एवं चिन्ता छोडनेपर लडका स्वस्थ हो गया। उसका पिता सेठ भी प्रसन्न हुआ।

इसप्रकार ऊँटोंके ऊपर लदे हुए हजारों रूईके गट्ठरोंके समान मूढ-प्राणियोंके दिलोंपर हजारों असद्भावके गट्ठर बंधे हैं, इन मिथ्या भावोंकी आसक्ति एवं चिन्तासे अपने स्वरूपानन्दसे च्युत होकर यह जीव पागलसा हो गया है। जब इनमें ज्ञानाग्निकी चिनगारी पड जाती है, तब ये सब असद्भाव भस्म हो जाते हैं--एक अविनाशी शाश्वत ब्रह्मभाव ही परिशिष्ट रह जाता है। अतएव भगवान् गीतामें यही कहते हैं कि--

'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं, तमाहुः पण्डितं बुधाः।' (४। १९)

आत्मज्ञानरूप-अग्निके द्वारा जिसने अपने समस्त कर्मोंको भस्म किया है, उसको बुद्धिमान् लोग, पण्डित कहते हैं। यहाँ यह समझना चाहिए कि--ज्ञानरूप अग्नि कर्मोंका साक्षात् नाश नहीं करती, किन्तु अज्ञानका साक्षात् नाश करती है। क्योंकि-अज्ञानके साथ ज्ञानका साक्षात् विरोध है--जैसा अंधकारके साथ प्रकाशका। इसलिए प्रथम ज्ञानके द्वारा अज्ञानका नाश होता है। पश्चात् अज्ञानरूप कारणका नाश हो जानेपर कामनारूप कार्य नष्ट हो जाता है, एवं जब कामनारूप कारणका नाश हो जाता है, तब कर्मरूप कार्यका भी नाश हो जाता है। इसप्रकार कर्मके कारण कामनाएँ हैं, कामनाओंका कारण अविद्या है, इसलिए जब ज्ञानाग्निके द्वारा अविद्या एवं कामनाएँ दग्ध हो जाती हैं, तभी ही कर्म दग्ध हो सकते हैं। इसलिए गीताके पूर्वोक्त वचनमें

ज्ञानरूप अग्नि द्वारा, अविद्या एवं कामनाओंको दग्ध करनेके अनन्तर जिसके कर्म भी दग्ध हो गये हैं, उस महाभागको पण्डित कहते हैं। पण्डितका यही लक्षण है कि--

'**पण्डिताः समदर्शिनः।**' (गी. ५।१८) '**नानुशोचन्ति पण्डिताः।**' (गी. २।११) जो समदर्शी है, वही पण्डित है, यहाँ सम है,--निर्दोष ब्रह्म--'**निर्दोषं हि समं ब्रह्म।**' (गी. ५।१९) उसका ही जो बाहर--भीतर--सर्वत्र दर्शन करता है, वह समदर्शी है। वह कभी शोक नहीं करता, विपत्तिओंमें भी सदा आनन्दमग्न रहता है।

'**भिन्ना प्रकृतिरष्टधा**' भगवान्‌की पूर्वोक्त अपरा प्रकृति अष्ट प्रकारकी है--नामरूपकी दृष्टिसे इसमें दृश्यत्व, जडत्व एवं परिच्छिन्नत्व होनेके कारण मिथ्यात्व है। जिस प्रकार नौका अंक पूर्णताका सूचक है, उसप्रकार आठका अंक अपूर्णताका सूचक है। जो अपूर्ण (अल्प) होता है, वह मर्त्य (विनाशी) होता है '**यदल्पं तन्मर्त्यम्।**' (छां. उ. ७।२४।१) यह श्रुतिका उपदेश है। इसलिए यह अष्ट-प्रकृति-वाला अपूर्ण संसार मिथ्या है--अतएव महात्मा तुलसीदास कहते हैं--

'**तुलसी प्रीति संसारकी, क्यों नहीं तजत निःशंक।**
घटत घटत घट जात है, जैसे आठको अंक॥'

अरे मन! इस असार एवं अपूर्ण-मिथ्या संसारकी प्रीति निःशंक होकर क्यों नहीं छोडता? इस संसारकी प्रीति आठके अंकके समान प्रति-दिन घटती ही चली जाती है। आठके अंकका दो, तीन, चार आदिसे क्रमशः गुणा करके गुणफलके अंकोंको परस्पर मिलानेपर एक एक अंक कम होता जायगा। अन्तमें एक ही अंक परिशिष्ट रह

जाता है। अन्तमें रहनेवाला एकका अंक संसारका अधिष्ठान एकमेवाद्वितीय ब्रह्मकी सूचना देता है। उसकी अंकोंमें इसप्रकार गणना है—

८। ८×२=१६, १+६=७। ८×३=२४, २+४=६। ८×४=३२, ३+२=५। ८×५=४०, ४+०=४। ८×६=४८, ४+८=१२, १+२=३। ८×७=५६, ५+६=११, १+१=२। ८×८=६४, ६+४=१०, १+०=१

कानपुरमें किसी समय हम सब महात्मा एक गृहस्थके वहाँ भिक्षाके लिए गये थे। दर्शनके लिए वहाँ आसपासके बहुत माई, भाई आदि आये थे। इसमें एक अतिवृद्ध माई, जिसकी कमर झुकी हुई थी, डण्डेके सहारे मुश्किलसे चलती थी, वहाँ अपने दो तीन पौत्रोंके साथ-आई। वह स्वयं नमस्कार करके अपने इन छोटे छोटे पोतोंसे भी नमस्कार कराने लगी। वह अपने पोपले मुखसे कहने लगी—महाराज! मेरेको कुछ नहीं चाहिए, परन्तु इन बच्चोंको खूब आशीर्वाद दीजिये, 'ये बडे बुड्ढे बनें, मालदार होवें, और अपने बुड्ढोंकी इज्जत बढावें।' इतनेमें बनी ठनी हुई इसकी बहुएँ भी दर्शनके लिए आईं। नमस्कारके बाद वे इस अपनी बुड्ढी-सास-जिसको उस समय जोरोंसे खाँसी आ रही थी—के सामने इशारा करके हँसती हुई कहने लगी कि—महाराज! यह बतलाइये कि—यह कब मरेगी। यह स्वयं कष्ट पाती है और दुसरोंको भी कष्ट देती है—खाँसीके मारे न यह सोती है, न घरवालोंको सोने देती है, अब इसका शीघ्र मरना ही अच्छा है—क्यों स्वामीजी! अच्छा है न?।

बहुओंकी बातें सुनकर हमें भी इस संसारकी मतलबी प्रीतिपर हँसी आई। तुलसीदासका उक्त दोहा भी याद आगया। इस बुड्ढीकी-

जो मरनेके लिए तैयार खडी है—अपने इस परिवारमें कितनी आसक्ति है, इन छोटे छोटे पोतोंमें कितनी प्रीति रखती है ? वह अपने लिए कुछ नहीं चाहती, परिवारके लिए सुखसम्पतिकी चाहना करती रहती है—परन्तु परिवारके लोग चाहते हैं कि—यह कब यहाँसे मरे। 'परी गरज कछु और है, सरी गरज कछु और।'

इसप्रकार इस असार मिथ्या-संसारकी मतलबी प्रीति आठके अंकके समान घटत घटत घट जात है—इसका यह अच्छा सेम्पल देखनेमें आया।

भगवत्पाद आचार्य श्रीशंकर स्वामीने अपने भाष्यमें इस प्रकार विवेचन किया है कि—इन आठ तत्त्वोंमें प्रकृति शब्दका प्रयोग होनेसे पृथिव्यादि—पदोंसे स्थूल भूतोंका ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि-स्थूल पञ्चीकृत पञ्चभूत, विकृति है, प्रकृति नहीं है। इसलिए यहाँ पृथिव्यादि-पदोंसे अपञ्चीकृत-गन्धतन्मात्रादिरूप सूक्ष्म पञ्चभूत समझने चाहिए। क्योंकि—वे ही स्थूल-पृथिव्यादि—पंचभूतोंकी प्रकृति हो सकते हैं। इसप्रकार 'मनः' पदसे मनका कारण अहंकारका ग्रहण करना चाहिए। एवं 'बुद्धि' पदसे अहंकारका कारण हिरण्यगर्भकी समष्टि-बुद्धिरूप महत्तत्त्व समझना चाहिए। तथा 'अहंकार' पदसे अविद्यारूप—अव्यक्त जो विश्वका परिणामी उपादान मूल कारण है-उसका ग्रहण करना चाहिए।

परन्तु इस अष्टधाभिन्न अपरा प्रकृतिमें, आदि मध्य तथा अन्तमें अन्तर्बहिः एक पूर्णतत्त्व अधिष्ठान रूपसे विद्यमान रहता है। वही एकमात्र अद्वैत-पारमार्थिक-तत्त्व इस प्रकृतिके द्वैतप्रपञ्चमें द्रष्टव्य, विज्ञातव्य एवं अन्वेष्टव्य है। प्रकृतिका यह नामरूपात्मक प्रपञ्च मिथ्या होनेके कारण हेय है। इसकी प्रीति एवं चिन्ता छोडकर एकमात्र उस पारमार्थिक-अद्वैत

स्वरूपमें ही दृढ प्रीति करनी चाहिए, तथा उसीकी हो अनवरत–चिन्ता करनी चाहिए। वह तत्त्व नौ (९)के अंकके समान सदा पूर्ण—एकरस है, महान् है, शाश्वत है। वही राम है, कृष्ण है, शिव है, अपना आप है। अतएव महात्मा तुलसीदासने उस पूर्णाद्वय रामके भजनका उपदेश देते हुए कहा है कि—

'तुलसी ऐसे रामको, क्यों नहीं भजत निःशंक।
आदि अन्तमें एक जो, जैसे नवको अंक॥'

नौका अंक पूर्णाङ्क है। आदिमें, मध्यमें तथा अन्तमें यह नौ ही रहता है। कभी आठके समान घटता नहीं। यद्यपि मध्यमें आपात-दृष्टिसे देखनेपर अङ्कोंमें विषमता प्रतीत होती है। परन्तु समन्वयकी दृष्टिसे देखनेपर वह विषमता दूर हो जाती है, और समानरूपसे नौका ही अंक, सर्वत्र प्रतीत होने लगता है।

नौके अंकका दो तीन आदिसे गुणा करते जाँय तो आपको आदिमें, मध्यमें तथा अन्तमें नौ का ही अंक दिखाई देगा। उसकी गणना इस प्रकार है—

९। ९×२=१८, १+८=९। ९×३=२७, २+७=९। ९×४=३६, ३+६+९।
९×५=४५, ४+५=९। ९×६=५४, ५+४=९। ९×७=६३, ६+३=९।
९×८=७२, ७+२=९। ९×९=८१, ८+१=९। ९×१०=९०, ९+०=९।

इसप्रकार इस अष्टधा-भिन्न कल्पित प्रकृतिके द्वैत-प्रपञ्चमें एकमात्र, अद्वय सर्वात्मा, पूर्णब्रह्म ही अनुगत, अधिष्ठानरूपसे विद्यमान है। उसीमें ही प्रकृति प्रपञ्चका अज्ञान दशामें अध्यारोप होता है, तथा ज्ञानदशामें उसीमें ही इसका अपवाद होजाता है। अपवादके बाद वही पूर्णतत्त्व—

एकमात्र परिशिष्ट रह जाता है। अतएव उसी पारमार्थिक परमतत्त्वकी ही अभेदरूपसे सतत भावना करनी चाहिए। उसकी सतत भावनासे ही दुनियाकी दीनता, व्यग्रता, उदासीनता आदि कश्मल दूर हों जाते हैं, एवं ब्रह्मकी महत्ता, पूर्णता, आनन्दता, एकाग्रता, प्रसन्नता आदि पवित्र भाव प्रकट होजाते हैं। इसलिए पूज्य-आचार्य-मधुसूदन स्वामीने अद्वैतसिद्धिमें कहा है—कि—

'अनादिसुखरूपता निखिल-दृश्यनिर्मुक्तता,
निरन्तरमनन्तता स्फुरणरूपता च स्वतः।
त्रिकालपरमार्थता त्रिविधभेदशून्यात्मता,
मम श्रुतिशतार्पिता तदहमस्मि पूर्णो हरिः॥'

'मेरी अनादि-सुखरूपता, निखिल दृश्य (द्वैत-प्रपंच) से निर्मुक्तता, निरन्तर-अनन्तरूपता, स्वतः स्फुरण (चैतन्य) रूपता, तीनों कालमें अबाधित-परमार्थता तथा त्रिविध-सजातीयादि-भेदोंकी शून्यात्मता, सैंकडों—श्रुति—स्मृतियोंसे समर्पित है, इसलिए मैं उक्त श्रुतिशतसे समर्पित पूर्वोक्त निखिल विशेषणोंसे उपलक्षित महान् आत्मा हरि ही हूँ।'

(५)

'........इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो! ययेदं धार्यते जगत्॥' (७।५)

हे महाबाहो! अर्जुन! इस अपरा—जड प्रकृतिसे अन्य मेरी जीवात्मारूप परा अर्थात् चेतन-प्रकृति है, ऐसा जान। जिससे यह संपूर्ण जगत् धारण किया जाता है।

आनन्दकन्द प्रभु भगवान्‌ने अर्जुनको निमित्त बनाकर प्रथम

अपरा प्रकृतिका उपदेश दिया, अब परा प्रकृतिका उपदेश देते हैं। यह परा प्रकृति, जीवात्मा है, जो भगवान्का ही उपाधिविनिर्मुक्त अनारोपित स्वभाव है। गीताके अन्य स्थलोंमें भी यही कहा है— 'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।' (८।३) 'अहमात्मा गुडाकेश! सर्वभूताशयस्थितः।' (१०।२०) 'स्वो भावः स्वभावः।' ऐसा यहाँ कर्मधारय समास समझना चाहिए। 'स्वस्य भावः स्वभावः' ऐसा षष्ठी-तत्पुरुष समास नहीं ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि-षष्ठी तत्पुरुष-समासमें जघन्य-वृत्तिरूपा लक्षणा करनी पडती है। इसलिए षष्ठीतत्पुरुषसमासकी अपेक्षा लक्षणारहित कर्मधारय समास ग्रहण करना प्रशस्त है, ऐसा पूर्वमीमांसा-शास्त्रमें निषादस्थपत्यधिकरणमें भी निर्णित हुआ है। जो अक्षर परं ब्रह्म है, वही इस देहादिमें प्रविष्ट होकर प्रत्यगात्मभावका अनुभव कर रहा है। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।' (तै० उ० २।६) इस श्रुतिके द्वारा भी यही सिद्धान्त निश्चित होता है। इसलिए वह प्रत्यक् चैतन्यरूप स्वो भावः, परब्रह्म स्वरूप ही है, ब्रह्मका सम्बन्धी नहीं। क्योंकि-सम्बन्ध भेदगर्भित होता है। इसलिए वह भेदरहित परब्रह्म ही प्रत्यगात्मा है, अन्य नहीं। यही भगवत्स्वरूपा चेतनात्मिका पराप्रकृति है—अर्थात् अनारोपित-परमार्थ-स्वभाव है। इसप्रकार समस्त भूतप्राणियोंके हृदयदेशमें अन्तर्यामिरूपसे एवं प्रत्यगात्मरूपसे अवस्थित जो चैतन्यानन्दघन—आत्मतत्त्व है, वह मैं वासुदेव परमात्मा हूँ, ऐसा तुझे निश्चय एवं भावना करनी चाहिए।

'तत्त्वमसि' (छां० ६।८।७) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १।४।१०) 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृ० २।५।१९) 'प्रज्ञानं

ब्रह्म' (ऐ० उ० ५ । ३) ('वह तू है' 'मैं ब्रह्म हूँ' 'यह आत्मा ब्रह्म है' 'क्षेत्रज्ञाता–प्रज्ञान आत्मा ब्रह्म ही है') ये वेदोंकी महा-वाक्य–श्रुतियाँ भी आत्मचैतन्य-स्वभावका अखण्ड-एकरस-ब्रह्मस्वरूपसे ही वर्णन करती हैं ।

इस प्रकार श्रीमद्भागवतके चतुर्थ स्कंधके पुरञ्जनोपाख्यानमें स्वयं जगदीश्वर भगवान् ने पुरञ्जन नामवाले जीवात्माके प्रति जीवेश्वरके अभेद–ज्ञानका उपदेश दिया है–

'माया ह्येषा मया सृष्टा, यत्पुमांसं स्त्रियं सतीम् ।
मन्यसे नोभयं यद्वै, हंसौ पश्यावयोर्गतिम् ॥
अहं भवान् न चान्यस्त्वं, त्वमेवाहं विचक्ष्व भोः ! ।
न नौ पश्यन्ति कवयः, छिद्रं जातु मनागपि ॥
यथा पुरुष आत्मानमेकमादर्शचक्षुषोः ।
द्विधाभूतमवेक्षेत, तथैवान्तरमावयोः ॥
एवं स मानसो हंसो, हंसेन प्रतिबोधितः ।'

(४ । २८ । ६१–६२–६३–६४)

तुम जो अपनेको पूर्वजन्ममें पुरुञ्जन नामवाला पुरञ्जनीका पति-पुरुष समझते थे, तथा इस वर्तमान जन्ममें स्त्रीकी आसक्ति एवं चिन्तनके कारण मलयध्वजराजाकी राणी समझते हो । यह मेरी रची हुई माया ही है, अर्थात् अन्यमें अन्यका आभासमात्र है । वास्तवमें न तुम पुरुष हो, न स्त्री हो, दोनोंमें से कोई भी नहीं हो, हम दोनों हंस हैं, हमारा जो वास्तविक स्वरूप है, उसे तुम जानो । हे मित्र ! जो मैं ईश्वर हूँ, सो तुम (जीवात्मा) हो, तुम मुझसे अन्य नहीं हो, तथा जो तुम हो, वही

मैं भी हूँ, ऐसा तुम अभेदभावका निश्चय करो। बुद्धिमान् पुरुष हम दोनोंमें अर्थात् जीव एवं ईश्वरके पारमार्थिक-पूर्ण-ब्रह्माद्वय स्वरूपमें किसी-समय थोडासा भी अन्तर यानी भेद नहीं देखते। जीवेश्वरके स्वरूपमें वास्तविक भेद नहीं है, किन्तु पिण्डब्रह्माण्डरूप-उपाधि-द्वय प्रयुक्त घटा-काशमहाकाशकी भाँति काल्पनिक-मिथ्या भेद है। इसको दृष्टांतके द्वारा स्पष्ट बतलाते हैं कि—जिसप्रकार मनुष्य, अपने एक ही रूपको दर्पणमें और दूसरेके नेत्रमें, दो प्रकारसे देखता है—दर्पणमें अपने रूपको स्पष्ट देखता है—तथा नेत्रमें धुंधलासा छोटासा देखता है, उसीप्रकार हम दानोंका अन्तर यानी औपाधिक-भेद है, वास्तविक नहीं। दर्पणके समान शुद्धसत्त्वप्रधान-मायारूप उपाधिमें ईश्वरका स्वरूप स्पष्ट दीखता है; एवं नेत्रके समान मलिन अन्तःकरणमें जीवका स्वरूप अस्पष्ट लघुसा दीखता है। इसप्रकार हंसरूप ईश्वरने मानस (मनरूपी—उपाधिवाला) हंस-जीवात्माको यथार्थ अभेद स्वरूपका प्रबोध किया।

इसप्रकार कैलासपति महादेव शंकर भगवान् भी अपने समीप ब्रह्मविद्या लेनेके लिए आये हुए शिष्यरूप वृद्ध-ऋषियोंको मौन-व्याख्यानके द्वारा अभेद-प्रत्यक्-ब्रह्म-तत्त्वका उपदेश देते हैं। इस विषयका यह प्रसिद्ध श्लोक है। कोई शिवभक्त ऋषि कहता है—

‘चित्रं वटतरोर्मूले, वृद्धाः शिष्याः गुरुर्युवा।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं, शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः॥’

कैलासपर्वतके शिखरमें अवस्थित वटवृक्षके मूलमें मुझे यह अद्भुत दर्शन हुआ—सामने बैठे हुए उपदेश सुननेवालेमहर्षि-शिष्य वृद्ध हैं, एवं सन्मुख व्याघ्र-चर्म पर बैठे हुए उपदेष्टा गुरु भगवान्—दक्षिणामूर्ति शिव,

युवा (तरुण) हैं. गुरुका मौन-व्याख्यान होता है, और उस मौन व्याख्यानको सुनकर वे शिष्य संशयरहित हुए-समाधिमग्न हो जाते हैं।

प्रश्न-यह ' मौनव्याख्यान ' क्या है ? मौन होनेपर व्याख्यान नहीं हो सकता, एवं व्याख्यान करनेपर मौन नहीं रह सकता, मौनके साथ व्याख्यानका मेल ही नहीं खाता। क्योंकि-मौनव्याख्यानमें वदतोव्याघात दोष आजाता है। जैसे कोई कहे कि-' **मम मुखे जिह्वा नास्ति, कथं वदेयं ?** ' मेरे मुखमें जिह्वा ही नहीं है, मैं कैसे बोलूँ ? अथवा ' **मम पिता बालब्रह्मचारी आसीत्।** ' अर्थात् मेरा पिता बालब्रह्मचारी था, उसने विवाह ही नहीं किया था, ऐसा कोई कहे-तो इसमें वदतोव्याघात दोष माना जाता है। ऐसे वचन सुनकर लोग ठहाका मारकर हँस पडते हैं, सहसा बोल उठते हैं कि-यदि तेरे मुखमें जीभ नहीं है, तो यह वचन किससे बोल रहा है ? तेरा बाप बाल ब्रह्मचारी था, तो तू कहाँसे आया ? झूठा कहींका ?। इस प्रकार मौन-व्याख्यान भी असंगत है, यथार्थ नहीं हो सकता।

समाधान-भगवान् कैलासपति-शंकरका मौन-व्याख्यान यथार्थ है-हो सकता है-इसके द्वारा शिष्योंको ब्रह्माद्वयका बोध भी हो जाता है। भगवान्का मौन भी नहीं टूटता, बोलना भी नहीं पडता, और ब्रह्मबोधका व्याख्यान भी हो जाता है। वह मौनव्याख्यान है-हाथकी भद्रामुद्रा। जिसप्रकार लोकमें कुछ न बोलकर केवल हाथके इशारेसे किसी बात को समझाया जाता है, उसप्रकार भगवान् शंकर भी भद्रामुद्राके द्वारा त्रिगुणात्मक संसारके त्यागका तथा जीवेश्वरके अभेदका उपदेश देते हैं। अत एव दक्षिणामूर्ति स्तोत्रमें भगवत्पाद-आचार्य स्वामीने कहा है-

'बाल्यादिष्वपि जाग्रदादिषु तथा सर्वास्ववस्थास्वपि,
व्यावृत्तास्वनुवर्तमानमहमित्यन्तः स्फुरन्तं सदा।
स्वात्मानं प्रकटीकरोति भजतां यो भद्रया मुद्रया।
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ।७॥'

बाल्य, कौमार आदि एवं जाग्रत् स्वप्न आदि, समस्त परस्पर व्यभिचारी अवस्थाओंमें जो सदा अनुस्यूत रहता है, इनका जो साक्षी द्रष्टा है, इन विकारी अवस्थाओंके आनेजाने पर भी जो सदा कूटस्थ, नित्य, एकरस-अविकारी ही रहता है, तथा जो बुद्धिरूपी गुहामें या पञ्चकोशरूप गुहामें 'अहं' 'मैं हूँ' इस प्रकारके अनुभवसे सदा प्रकाशित रहता है। जो श्रद्धा—एकाग्रतासे भजन करनेवाले—भक्तोंके लिए भद्रामुद्राके द्वारा उपदेश देकर अपने पूर्ण ब्रह्माद्वय स्वात्मस्वरूपको प्रकट करते हैं—ऐसे श्री गुरुमूर्ति रूप श्री दक्षिणामूर्ति भगवान् महादेवको यह मेरा श्रद्धा-भक्तिसे भरा हुआ नमस्कार है।

उपनिषत् गीता आदि समस्त शास्त्रोंका संक्षेपसे-यही उपदेश है कि 'ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, यह जीव वस्तुतः ब्रह्म ही है।' बस यही करोडों ग्रन्थोंका सार है। आचार्य भगवत्पादने भी यही कहा है—

'श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि, यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नाऽपरः॥'

करोडों ग्रन्थोंमें जो विस्तारसे कहा गया-है उसे मैं आधे श्लोकके द्वारा संक्षेपसे कहूँगा। एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है—त्रिकालाबाधित परमार्थ-सत्य है, और यह त्रिगुणात्मक नामरूपवाला संसार मिथ्या है—यथार्थ

नहीं। एवं यह जीवात्मा वस्तुतः ब्रह्म ही है,—अन्य नहीं।

कृपालु भगवान् शंकर अपने शिष्योंको यही संक्षिप्त—सारभूत उपदेश, हाथकी भद्रामुद्राके द्वारा देते हैं। हाथमें पांच अंगुलियाँ हैं, जिनके क्रमशः अंगुष्ठ, तर्जनी, मध्यमा, अनामिका एवं कनिष्ठिका ये नाम हैं। हाथमें एक तरफ अकेला अंगुठा रहता है, एवं दूसरी तरफ चार अंगुलियाँ रहती हैं। हाथमें किसी पुस्तकादिको पकडनेके लिए एक तरफ अंगुठा दीखता है, तो दूसरी तरफ चार अंगुलियाँ मिलीझुली दीखती हैं। इनमें अंगुष्ठ परमेश्वरका प्रतीक है। एक तरफ परमेश्वर तो दूसरी तरफ सारी दुनिया रहती है। जिसप्रकार लोकमें कहा जाता है कि—अमुक व्यक्तिने अंगुठा दिखा दिया, अर्थात वह फैल हो गया—उसका दिवाला निकल गया, ऐसा समझा जाता है। इसप्रकार अंगुष्ठके समान परमेश्वरको यथार्थरूपसे देख लेनेपर यह संसार फैल (समाप्त) होजाता है, उसका दिवाला निकल जाता है। इसलिए मानसरामायणमें कहा है कि—'जिहि जाने जग जाय हेराई। जागत यथा स्वप्न भ्रम जाई॥' जिस परमात्माको जान लेनेपर, यह समग्र जगत् गायब होजाता है, जिसप्रकार जागनेपर स्वप्नका भ्रम।

अंगुष्ठके समीप तर्जनी अंगुली जीवात्माकी प्रतीक है। इसलिए लोकमें इस तर्जनी अंगुली दिखाकर ही अपने अभिमानको किसी दुर्बलके सामने प्रदर्शित किया जाता है कि—याद रखना, तू क्या समझता है मुझे, चुप रह, यह मैंने किया है, क्या कोई ऐसा कर सकता है? इत्यादि। अभिमान, कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि ही जीवात्माका सांसारिक जीवन है, इसीमें ही वह रात्रि—दिन रचा—पचा रहता है। परि-

शिष्ट तीन अंगुलियाँ मध्यमा अनामिका एवं कनिष्ठिका, तीनगुणोंका प्रतीक हैं। कनिष्ठिका—जो सबसे छोटी है, वह सत्त्वगुणको प्रदर्शित करती है। सत्त्वगुण संसारमें बहुत थोडा है—कहीं कहीं हजारोंमें से किसी एकमें ही पक्का दर्शन होता है। अनामिका अंगुली जो कनिष्ठिकासे-कुछ बडी है, वह रजोगुणका निर्देश करती है। आजकलकी दुनियामें रजोगुण खूब बढा चढा देखनेमें आरहा है। बाजारमें, सिनेमामें, क्लबमें, वेषभूषामें सब जगह रजोगुणके ही दर्शन हो रहे हैं। लोग—क्या युवा, क्या युवती, क्या छोकरा, क्या छोकरी, क्या बूड्ढा, क्या बुड्ढी-सभी इस खाकके पुतले—शरीरके सजानेमें इतने व्यस्त दीखते हैं कि—इसके सामने दूसरा कुछ सूझता ही नहीं। प्रतिदिन दाढ़ी मूँछ सफाचट होते रहते है। जिसप्रकार दिवालपर चूना पोता जाता है—उसीप्रकार मुखपर भी दिनमें तीन बार ठंडा-चूना (सफेद-पाउडर) पोता जाता है। जेंटलमेनोंकी सारी शानशौकत बालोंकी पटियाँपर ही सवार हुई दिखाई पडती है। क्या छोकरा, क्या छोकरी? सिनेमाके अश्लील गानोंकी तानें लगाते हुए दिखाई पडते हैं—वेद गीता आदिके प्रशस्त-वचन सुनना या बोलना तो उनके लिए पागलपन माना गया है। यह सब रजोगुणकी ही अभिवृद्धि है। एवं तृतीय मध्यमा अंगुली, जो बीचली तथा सबसे लम्बी है, वह तमोगुणकी प्रतीक है। संसारमें रजोगुणके समान तमोगुण भी खूब बढ़ाचढ़ा देखनेमें आता है। राग, द्वेष, वैर-विरोध, लडना-झगडना, मारना पीटना यह सब तमोगुणका स्वरूप है।

इसप्रकार ये तीन अंगुलियाँ, तीन गुण एवं तीन गुणोंके बने

हुए त्रिगुणात्मक संसारका ज्ञापन करती हैं। इस संसारमें एवं तीनों-गुणोंमें यह जीवात्मा अनादिकालसे आसक्त बना बैठा है, इसलिए भगवान्‌ने अर्जुनके प्रति उपदेश दिया है कि—'**निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन!।**' (गी० २।४५) हे अर्जुन! तू तीनों गुणोंसे रहित—निस्त्रैगुण्य होजा, क्रमशः इन तीनों गुणोंकी विजय कर। प्रथम सदुपायोंके द्वारा तमो-गुणको छोड, पश्चात् सत्त्वगुणका आश्रय लेकर रजोगुणको छोड, अनन्तर आत्मज्ञानके द्वारा सत्त्वगुणका भी परित्याग कर।

ऐसा ही भगवान् सदाशिव-शंकर भद्रामुद्राके द्वारा तीनोंगुणोंके त्यागका उपदेश देते हैं। जबतक यह जीव त्रिगुणात्मक-संसारसे अहं ममभावका परित्याग नहीं करता, तबतक वह ईश्वरके अभिमुख, ईश्वरका प्रेमी नहीं हो सकता। जब वह विवेक-विचारके द्वारा त्रिगुणात्मक असार-संसारसे अपना नाता तोड डालता है, तब वह विना विलम्ब ही ईश्वरात्माके साथ अभेदभावसे मिल जाता है। भगवान् शंकरकी भद्रा-मुद्राका मौनव्याख्यान श्रद्धालु-भक्त-महर्षियोंको यही उपदेश देता है कि—त्रिगुणात्मक संसार मिथ्या है, अविद्याकल्पित है, उसको छोडो, एवं जीवात्माको उस परमेश्वरमें जोडो, जिससे यह जीव वस्तुतः अनन्य है, अभिन्न है। यही तर्जनी एवं अंगुष्ठका कनेक्शन (सम्बन्ध) सूचित करता है, तर्जनी अंगुली, जब साथमें छुटी हुई इन तीनों अंगुलियोंसे अलग होती है, तभी ही उसका अंगुष्ठके साथ मिलाप होता है। यही भद्रामुद्रा है।

अतएव श्रीमद्भागवतमें कहा है कि—

'**विद्याकामस्तु गिरिशं**' (२।३।७) **यजेत्**।

'यत्पादपद्मं महतां मनोलिभिः,
निषेवितं ब्रह्मरसासवार्थिभिः॥' (४।४।१५)

ब्रह्मविद्याकी कामनावाला भगवान् शंकरकी आराधना करे। ब्रह्मविद्याद्वारा लभ्य अखण्डैकरस-ब्रह्मानन्दरूप आसव (मदोन्मत्त बनानेवाला पेयपदार्थ) का पान करनेकी इच्छावाले महापुरुषोंके मनरूप मधुकरगण, जिन भगवान् महादेवके चरणकमलोंका निरन्तर सेवन करते हैं।

'ययेदं धार्यते जगत्।' से भगवान् उस पराप्रकृतिकी अर्थात् स्वानन्य जीवात्माकी प्रकृष्ट महत्ता सूचित करते हैं। वह क्षेत्रज्ञरूपा पराप्रकृति जगत्के नामरूपोंको व्यवहारयोग्य बनानेके लिए समग्र जगत्के अन्तः प्रविष्ट है। श्रुति भी कहती है—**'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि'** (छां० उ० ६।३।२) स्वसृष्ट इन समस्त जड—शरीरोंमें इस जीवात्मारूपसे मैं भगवान् अन्तः प्रविष्ट होकर अनभिव्यक्त नामरूपोंको अभिव्यक्त करू, ऐसा परमेश्वरने विचार किया।

इसलिए वह मेरी आत्मभूत-पराप्रकृति समस्त विश्वके प्राणोंके धारण करनेमें निमित्तभूत है। जीवात्माके विना शरीरादि जडवर्ग प्राणोंको धारण नहीं कर सकता। अतएव मैं ही पराप्रकृति--जीवात्मा होकर इस जगत्को धारण कर रहा हूँ।

जिसप्रकार मैं परमात्मा सद्रूप चिद्रूप एवं आनन्दरूप हूँ, उस-प्रकार यह जीवात्मा भी सद्रूप, चिद्रूप एवं आनन्दरूप है। इसलिए परमार्थिक स्वरूपकी दृष्टिसे हम दोनों अभिन्न ही हैं।

सभी जीव अपनी अविनाशिनी सत्ताका अनुभव करते हैं, कोई भी अपने अस्तित्वका अपलाप नहीं कर सकता। एक छोटेसे बालकसे भी आप पूछें कि-'-**त्वमसि किम् ?**' क्या तू है ?। वह तुरन्त ही बोल उठेगा कि '**अहमस्मि**' मैं हूँ, मैं नहीं हूँ, ऐसा वह कभी नहीं कहेगा। अपनी सत्ताके अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं हो सकता। पश्चात् आप उस बालकसे पूछें कि-'**कस्त्वमसि**' तू है, तो कौन है? तब वह अविद्याकी भ्रान्तिवश अपने सामान्य स्वरूपके अस्तित्वको जानता हुआ भी विशेष स्वरूपको नहीं जानता है, इसलिए शरीरको ही प्रदर्शित करके कहता है, 'यह मैं हूँ' उसका यह विशेषांशमें मिथ्याज्ञान है। सर्वत्र सामान्य (विशेष्य) अंशका ज्ञान निर्भ्रान्त होता है, केवल विशेषणांशमें ही विपरीतज्ञान रहता है। '**सर्वं ज्ञानं धर्मिण्यभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्ययः।**' ऐसा विद्वानोंने भी सिद्धान्त किया है। 'इदं रजतं' इसमें इदंका ज्ञान यथार्थ है, रजत जो विशेषण है, इसमें ही केवल मिथ्याज्ञान माना गया है।

इसलिए '**अहं**'का '**नास्मि**'के साथ, तथा 'अहं'का '**नष्टो बभूव**'के साथ अन्वय ही नहीं हो सकता। अर्थात् 'मैं'का 'नहीं हूँ' के साथ, तथा 'मैं'का 'नष्ट होगया' के साथ मेल नहीं खाता। '**णश**' धातु '**अदर्शन**' अर्थमें है, इसलिए नष्टका अर्थ होगा, अदृष्ट=नहीं देखा। अपने अस्तित्वका '**अहं अहं**' रूपसे दर्शन (अनुभव) करनेवाला बुद्धिमान् मानव कभी यह नहीं कह सकता है कि--मैं अपना दर्शन (अनुभव) नहीं कर रहा हूँ, क्योंकि-मैं नष्ट होगया हूँ। यदि कोई कहे कि--मैं बहुत बिमार होगया था--अमुक

अस्पतालमें जाकर मर गया, तो आप तुरन्त हँस पड़ेंगे, और उसको पागल या अक्लका अन्धा ही समझेंगे। हँसते हुए शीघ्र ही बोल उठेंगे कि--अरे! तू मर गया है, तो यह कौन बोल रहा है। इससे यह निश्चित होता है कि--अपनी मृत्युका आप ही साक्षी कभी कोई नहीं हो सकता। शरीरकी मृत्यु हो सकती है, परन्तु अपने आपके वास्तविक स्वरूपकी कभी मृत्यु नहीं हो सकती। इसलिए भगवान्‌ने गीतामें यही कहा है कि--'**अविनाशी तु तद्विद्धि**' (२।१७) '**नित्यः सर्वगतः स्थाणुः।**'(२।२४) '**न जायते म्रियते वा कदाचिन्।**' (२।२०) '**अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो, न हन्यते हन्य-माने शरीरे**' (२।२०) हे अर्जुन! उस आत्मतत्त्वको तू अविनाशी जान। वह नित्य सर्वगत एवं स्थाणु है। वह कभी भी न पैदा होता है, न मरता है। यह आत्मा अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत (सनातन) है, एवं पुरातन है। शरीरका हनन होनेपर भी उसका कभी हनन नहीं होता। इसप्रकार आत्माकी सत्ता शाश्वती है, उसका कभी विलोप नहीं हो सकता। इसलिए परमेश्वरके समान आत्मा सद्रूप है--त्रिकाला-बाधित--परमार्थ-सत्तायुक्त है।

एवं यह जीवात्मा चिद्रूप है, जड नहीं, किन्तु चेतन है। इसलिए कोई भी प्राणी अपनेको जड नहीं समझता। यदि किसी मनुष्यको आप उपालम्भरूपसे भी 'तू तो जड है रे!' ऐसा कहें, तो वह नाराज होजाता है, इससे अवगत होता है कि--कोई भी प्राणधारी अपनेको जड मानना पसंद नहीं करता। सभी जीव अपने आपको द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, विज्ञाता मानते हैं, मैं देखता हूँ, मैं

सुनता हूँ, मैं मानता हूँ, मैं जानता हूँ यह सभी अनुभव, आत्माकी चिद्रूपताको सिद्ध करते हैं। जड पदार्थमें ऐसे अनुभव कदापि नहीं हो सकते।

एवं यह जीवात्मा आनन्दरूप है। इसलिए सभी जीव आनन्दमें ही रहना चाहते हैं, दुःखमें रहना किसीको अभीष्ट नहीं। विशुद्ध आनन्द, जीवात्माका वास्तविक—अनारोपित स्वरूप है, दुःख काल्पनिक है, एवं आरोपित है। इसलिए दुःख औपाधिक धर्म है, और आनन्द स्वाभाविक धर्म है। औपाधिक धर्म वह होता है—जो रहता है औरमें, एवं प्रतीत होता है औरमें। जिसप्रकार स्फटिक-मणि (बिल्लौर काच) शुक्ल-वर्णकी है, परन्तु जपाकुसुमके सन्निधानसे वह लाल रंगकी दीखती है। वह लाल-रंग स्फटिकका अपना नहीं है, किन्तु जपाकुसुमका है। परन्तु सन्निधि-दोषसे उसकी लाली अपनेमें भासित होती है; और वह लाली अपने स्वाभाविक शुक्लताको तिरोहित कर देती है। इसलिए स्फटिकमें भासमान लालवर्ण औपाधिक धर्म है, स्वाभाविक नहीं—स्वाभाविक धर्म उसका शुक्लत्व है। इस प्रकार आनन्दरूप आत्मामें भासमान दुःख, औपाधिक धर्म है। वह दुःख, मनका धर्म है, आत्माका नहीं, परन्तु मनके सान्निध्यसे आत्मामें भासित होता है, और वह आत्माके आनन्दको दबा देता है। इसलिए आनन्द आत्माका स्वाभाविक धर्म है, और दुःख औपाधिक-आरोपित धर्म है। इसलिए जहाँ आप आरोपित धर्म देखते हैं, वहाँ प्रश्न करते हैं, एवं उसका उत्तर भी दिया जाता है। जिस प्रकार आप हिमालयमें बद्रीनारायणके मंदिरके समीप अत्यन्त गरम पानीका झरना, एवं कुण्ड देखकर तुरन्त

ही वहाँके पण्डोंकी समक्ष प्रश्न कर बैठते हैं कि—ऐसे शीतल प्रदेशमें यह पानी ऐसा गरम क्यों? जिसमें हाथ डालना भी बहुत खतरेका काम है। हिमालयमें यह बड़ी विलक्षणता दिखाई पडती है कि-एक तरफ अत्यन्त गरम जल, तो दूसरी तरफ अलकनंदा-गंगाका अत्यन्त शीतल जल, दोनोंमें हाथ डालने पर हाथको तकलीफ ही भोगनी पडती है। आपका यह प्रश्न सुनकर पण्डे तुरन्त उत्तर देते हैं कि—इस पर्वतमें तैजस-द्रव्य गन्धककी खान होगी, जिसके सम्बन्धसे यह पानी उबलता हुआ अत्यन्त गरम बन जाता है। यहाँ जलका स्वाभाविक धर्म शीतलता है, एवं औपाधिक धर्म उष्णता है। जलका औपाधिक-धर्म उष्णताके विषयमें आपने प्रश्न किया एवं उत्तर भी मिला। जलका स्वाभाविक-धर्म शैत्यके विषयमें न आप प्रश्न करते हैं कि—यह जल शीतल क्यों? न उसका कुछ उत्तर ही दिया जा सकता। कहा है—'**शैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य।**' जलका स्वाभाविक धर्म (प्रकृति) शैत्य है।

इस प्रकार आप किसी मनुष्यको रोता हुआ दुःखी देखते हैं, तुरन्त ही पूछते हैं कि—क्यों तू दुःखी है?। उसका वह उत्तर देता है कि—मेरी स्त्री मर गयी, मेरा धन लुट गया, इसलिए दुःखी हूँ, रो रहा हूँ। परन्तु किसीको विकसित-कमलके समान प्रसन्न-मुख देखकर आप कभी प्रश्न नहीं करते कि—तू सुखी क्यों हैं?। यदि आप ऐसा प्रश्न करते हैं—तो वह आपके सामने व्यङ्ग्य कसता हुआ बोल उठेगा कि—वाह जी वाह! क्या आपको मेरा सुख देखकर ईर्ष्या होती है—मेरा सुख आपसे देखा नहीं जाता?। इसलिए कोई बुद्धिमान् ऐसा उपालम्भ

दिलानेवाला न प्रश्न करता है, न कुछ उसका उत्तर ही मिलता है। क्योंकि-औपाधिक धर्म दुःख एवं उष्णतामें ही प्रश्नोत्तर संगत हो सकते हैं। स्वाभाविक–धर्म, आनन्द एवं शैत्यमें प्रश्नोत्तर युक्तियुक्त नहीं माने जाते। इसलिए आनन्द ही जीवात्माका वास्तविक धर्म है, अनारोपित स्वरूप है-एवं दुःख औपाधिक–धर्म है–आरोपित स्वरूप है। औपाधिक धर्मकी शनैःशनैः निवृत्ति भी होती देखी जाती है। जिस प्रकार पानीकी उष्णता शनैः शनैः दूर होकर स्वाभाविक शीतलता रह जाती है। इस प्रकार स्त्री पुत्रादिके मृत्यु आदि कारणोंसे होनेवाला दुःख भी सदा नहीं रहता, शनैः शनैः चला जाता है। वही प्रथम हाय हाय करके रोनेवाला, छाती पीटनेवाला दुःखी मानव, कुछ दिवसोंके बाद आप ही आप हँसने लगता है, एवं आनन्दका अनुभव करने लगता है। इससे निश्चित होता है–आनन्द आत्माका स्वाभाविक–अनपायी स्वरूप है।

यदि दुःख, आत्माका स्वाभाविक स्वरूप हो तो सुषुप्ति एवं समाधि दशामें भी उसका अनुभव होना चाहिए। परन्तु शारीरिक रोगसे व्यथित दुःखी मनुष्य भी सुषुप्तिमें किसी प्रकारके शारीरिक दुःखका अनुभव नहीं करता, वहाँ दुःखका लेश भी नहीं रहता, केवल, सुखका ही अनुभव होता है, इसलिए रोगीभी जागनेपर कहता है कि-'**सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्**' मैं अत्यन्त–सुखपूर्वक सोया था; वहाँ मैंने किसी भी दुःख-आदिका अनुभव नहीं किया। समाधिमें तो दुःखका नामोनिशान भी नहीं रहता, आनन्द ही आनन्द रहता है, यदि उसमें दुःख रहे, तो उसके लिए कोई भी प्रयत्न न करे। क्योंकि–दुःखको

कोई भी नहीं चाहता, दुःखमें एक क्षण भी रहना, किसीको अभीष्ट नहीं। इसलिए समाधिमें अवर्णनीय, अत्युत्तम, विशुद्ध, पूर्ण, एकरस आनन्दका ही अनुभव होता है।

अतएव हमारी प्रामाणिक-उपनिषदोंमें कहा है कि—

'समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो,
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा,
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते'॥

जब चित्त, समाधिके अभ्यास वैराग्य आदि साधनोंके द्वारा राग-द्वेषादि-कश्मलोंसे रहित हो जाता है, तब वह शान्त एवं एकाग्र हुआ आत्माके पूर्ण-विशुद्ध-आनन्दमें निमग्न बन जाता है, उस समय उसको आत्माके अखण्ड आनन्दका ऐसा महान् अनुभव होता है कि—उसको वह वाणीके द्वारा वर्णन करनेमें असमर्थ बन जाता है। स्वयं उसका अन्तःकरण ही उस महान् आनन्दका अनुभव करता रहता है।

प्रश्न—यदि आत्मामें ही आनन्द है, आत्मासे अन्य किसी पदार्थमें आनन्द नहीं है, तो दुनियाके ये सभी लोग आत्माको छोडकर बाहरके पदार्थोंसे ही अर्थात् शब्दादि-विषयोंसे ही आनन्दका अनुभव क्यों करते हैं, उनमें ही आनन्द मानकर क्यों प्रवृत्त हो रहे हैं ?। उनकी प्रवृत्तिसे ऐसा मालूम होता है कि—उनमें भी आनन्द है। यदि उनमें आनन्द न हो तो कोई भी उनकी न इच्छा करेगा, एवं न उनमें प्रवृत्त होगा।

समाधान—बाहरके पदार्थोंमें वस्तुतः आनन्द नहीं है, आनन्द तो

एकमात्र आत्मामें ही है—यह शास्त्रप्रतिपादित एवं विद्वान्—तत्त्वदर्शियोंके द्वारा अनुभूत यथार्थ सिद्धान्त है। तथापि बाहरके शब्दादि विषयोंमें आत्माके ही आनन्दका मिथ्याभान होता है। इसलिए उनको वहाँ आनन्द दीखता अवश्य है, परन्तु मिलता नहीं, मिले तो तभी जब वहाँ विद्यमान हो। विद्यमान न होनेके कारण नहीं मिलता। उनके द्वारा लेने जाते हैं आनन्द, परन्तु आनन्दके बदले उन भ्रान्त-प्राणियोंको रोग, शोक, उद्वेग आदि दुःखके ही कारण मिलते हैं। इसलिए आनन्दकन्द प्रभु श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

'ये हि संस्पर्शजा भोगाः दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय! न तेषु रमते बुधः॥' (५।२२)

इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले जो ये सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी-भ्रान्त-मनुष्योंको सुखरूपसे भासते हैं, तथापि वे निःसन्देह दुःखोंके ही हेतु हो जाते हैं, सुखके नहीं। और ये सब भोग आदि अन्तवाले हैं; अर्थात् संयोग-वियोगशाली होनेके कारण क्षणभंगुर हैं यानी एक क्षणमें रहकर सुखका मिथ्याभान कराके द्वितीय क्षणमें नष्ट हो जाते हैं। इसलिए हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी मानव उन भोगोंमें कभी रमण नहीं करते, प्रीति नहीं रखते।

ऐसा विष्णुपुराणमें भी कहा है—

'यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान्मनसः प्रियान्।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशंकवः॥'

यह प्राणी, मनको भ्रान्तिसे प्रिय लगनेवाले शब्दादिविषयोंसे या स्त्रीपुत्रधनादि-पदार्थोंसे जितने सम्बन्ध जोड़ता है, जितनी प्रीति बढ़ाता

है, उतने ही इसके हृदयमें विविधप्रकारके शोकोंके कीले ठोके जाते हैं।

इसलिए शब्दादि-विषयोंमें तथा स्त्रीपुत्रधनादि-पदार्थोंमें मरुभूमिमें भासमान जलकी भाँति मूढ प्राणियोंको सुख अवश्य दीखता है, परन्तु बड़ा भारी प्रयत्न करनेपर भी मिलता नहीं। इस विषयका एक दृष्टान्त सुनिए।

एक महारानी महलकी ऊपरी खुली छतमें अपने बहुमूल्य हीरेके हारको एक जगह रखकर स्नानकर रहीं थी। इतनेमें एक बाज पक्षी वहाँ आया, और वह रक्खे हुए चमकीले-हीरोंवाले-हारको खाद्यभ्रान्तिसे झडपसे लेकर उड गया। उडता हुआ वह बहुत दूरमें स्थित सरोवरके तटपर अवस्थित वृक्षकी सर्वोच्च शाखाके ऊपर जाकर बैठा। बैठकर हारके उन हीरोंको चांचसे चवाने लगा, परन्तु उनसे पक्षीको न कुछ फलके जैसी कोमलताका एवं रसास्वादका अनुभव हुआ। व्यर्थ परिश्रमसे व्यथित हुआ वह पक्षी उस हारको वहाँ ही लटकता छोडकर उड़ गया। उस मनोहर हारका प्रतिबिम्ब सरोवरके स्वच्छ जलमें दीखने लगा। सरोवरके तटपरसे जानेवाले एक यात्रीको वह हार सरोवरमें दीख पड़ा। देखकर वह बडा प्रसन्न हुआ। वह तुरन्त ही चुपचाप लंगोट कसकर जहाँ वह दीखता था—वहाँ जलमें कूद पड़ा। डूबकी लगाकर नीचे जाकर हारको खूब ढूंढा, परन्तु हार नहीं मिला। अन्तमें हताश होकर वह बाहर निकला। स्वच्छ-जलमें पुनः वही हार दीखने लगा। फिर उसमें कूदा, ढूंढा—बहुत परिश्रम करने पर भी हार नहीं मिला। पुनः बाहर निकलकर स्वच्छ हुए जलमें हारको देखता है—सोचता है—अरे! यह क्या बात है कि—हार दीखता है अवश्य, परन्तु

मिलता नहीं। हारके लिए उसने वारवार प्रयत्न किया, परन्तु उसको हार मिला ही नहीं। बहुत दुःखी होकर वहाँसे वह चल पड़ा।

इस प्रकार दूसरा यात्री आया, सरोवरमें हार देखा, वह भी उसे लेनेके लिए कूद पड़ा, खूब प्रयत्न किया, परन्तु उसका भी प्रयत्न निष्फल हो गया। वह वारवार हारको सरोवरमें देखता है, प्राप्त करनेके लिए पुनः पुनः प्रयत्न करता है, परन्तु हार उसे भी मिलता नहीं। वह भी आश्चर्यके साथ 'दीखता है, परन्तु मिलता नहीं' ऐसा बोलता हुआ वहाँसे विदा हुआ।

इसप्रकार उसी सरोवरके तटपर अनेक यात्री आए, सबने विविध प्रयत्न किए, परन्तु कोइ भी हार प्राप्त करनेमें सफल नहीं हुआ। क्योंकि—वहाँ दीखने पर भी हार वस्तुतः नहीं था।

एक यात्री बडा बुद्धिमान् तथा सत्संगी था, उसने अनेक व्यक्तियोंके मुखसे 'दीखता है, परन्तु मिलता नहीं' ऐसा सरोवरका वृतान्त प्रथमसे ही सुन रक्खा था। वह भी वहाँ आया। आकर उसने ध्यानसे देखा। विचार करने पर मालूम हुआ कि—सरोवरका हार प्रतिबिम्ब-मात्र (आभासमात्र) है, अतएव उसके वास्तविक बिम्ब स्वरूप-का अन्वेषण करना चाहिए। इसलिए वह अन्य मूढ-यात्रियोंके समान नीचे देखनेके बदले ऊँचे देखने लगा। ऊर्ध्वदृष्टि करने पर उसको वास्तविक विद्यमान हारका समुज्जवल-सुन्दर मनोहर स्वरूप दीख पड़ा। वृक्षके ऊपर चढ़कर उसने सर्वोच्च शाखा पर स्थित उस हारको प्राप्तकर प्रयत्नकी सफलता प्राप्त की।

यह एक दृष्टान्त है—सिद्धान्त समझनेके लिए। सिद्धान्तमें हार

है—आत्माका विशुद्ध आनन्द। जब एकाग्र-शान्त-चित्तवृत्तियाँ होती हैं, तब उनके द्वारा विषयोंमें उसका प्रतिबिम्ब दीखता है। आनन्दका प्रतिबिम्ब देखकर मूढ लोग विषयोंसे ही आनन्द प्राप्त करनेके लिए प्रयत्न करते हैं; परन्तु उनको वहाँ आनन्द दीखने पर भी मिलता नहीं, क्योंकि-वस्तुतः विषयोंमें आनन्द ही नहीं है, क्षणिक आनन्दका आभास-मात्र है। जब चित्तवृत्तियाँ व्यग्र-चंचल हो जाती हैं, तब तो उन विषयोंसे आनन्दके आभासके भी दर्शन नहीं होते, जिस प्रकार मलिन एवं चंचल जलमें प्रतिबिम्बका दर्शन नहीं होता।

अतएव भगवत्पाद-जगद् गुरु आचार्य श्रीशंकरस्वामीने गीताभाष्यमें यह यथार्थ ही कहा है--कि—

'न संसारे सुखस्य गन्धमात्रमप्यस्तीति बुद्ध्वा विषय-मृगतृष्णिकाया इन्द्रियाणि निवर्तयेत्।'

(गी.५।२२)

संसारमें वास्तविक-स्थिर-विशुद्ध सुखकी गन्धमात्र भी नहीं है, ऐसा निश्चय करके विवेकी शब्दादि विषयरूप मृगतृष्णिकाके मिथ्या जलसे इन्द्रियोंको निवृत्त करे, आसक्त न बनावे।

वास्तविक शाश्वत-पूर्ण-आनन्दरूप तो एकमात्र अन्तरात्मा ऊर्ध्वमूल भगवान् ही है, ऐसा निश्चय करके उस परमात्माके अनुसंधानमें ही अपनी सभी वृत्तियोंको एकाग्र बनावे। बाहरके-शब्दादि विषयोंमें तथा स्त्रीपुत्रधनादि-प्रिय-पदार्थोंमें भ्रान्तिवश आनन्द दीखता है; परन्तु वहाँ खोजने पर भी आनन्द नहीं मिलता। इसलिए भगवान्ने इन बाहरके पदार्थोंको '**दुःखयोनयः**' दुःखके ही हेतु कहे हैं, '**सुखयोनयः**'

सुखके हेतु नहीं बतलाये ।

प्रश्न—यदि बाहरके पदार्थोंमें आनन्द नहीं है, तो लोग-दो चार नहीं लाखों करोडों उनके पीछे क्यों पडे हैं ?

समाधान—भ्रान्तिसे । जिस प्रकार मरुभूमिमें जल वस्तुतः नहीं है; तथापि भ्रान्तिसे उसमें जल दीखता है । इसलिए भ्रान्त-मृग उस दीखनेवाले अविद्यमान जलके लिए दौडधूप करते हैं, परेशान होते हैं, तथापि उन भ्रान्त-मृगोंको जल दीखने पर भी नहीं मिलता, इस प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिए ।

कितना ही ऐश्वर्य एवं धनादि-सम्पति क्यों न हो ? अनुकूल भोग्य विषयोंका यथेष्ट लाभ भी क्यों न हो ? तथापि जब तक मनमें शान्ति नहीं होती; तब तक आनन्दकी प्राप्ति बाहरके किसी भी पदार्थसे नहीं होती। '**अशान्तस्य कुतः सुखम् ।**' (गीता २ । ६६) यह नियम है—अशान्त मानवको सुख कहाँसे मिले ? कहींसे भी नहीं मिलता ।

एक वैभवशाली नगरका बडा सम्पत्तिशाली सेठ था । वह बढिया मोटरमें बैठकर बाहरसे अपने बंगलेपर आया । मोटरका होर्न सुनकर नौकर दौड पडे । आदरके साथ नौकरोंने सेठको मोटरसे उतारा । उस समय सेठको अपनी सुन्दर कीमती मोटर देखकर, बढिया परिष्कृत बंगला देखकर, बंगलेके भीतरके अनेक प्रकारके फर्निचरोंसे सुसज्जित कमरोंको देखकर, कमरोंके भीतर वस्त्राभूषणोंसे समलङ्कृत-अपनी प्रेयसी गृहिणी सेठानीको देखकर तथा आधुनिक वेषभूषासे सुशोभित कोमलाङ्ग—प्रिय बालकोंको देखकर बडा आनन्द प्रतीत हो रहा है । इसको ऐसा निश्चय हो रहा है कि—अपने पुत्र—कलत्र सम्पत्ति आदि बाहरके पदार्थोंसे ही

आनन्द मिल रहा है । भोजनका समय होजानेसे भट्टजी महाराजने दर्शन दिए । सेठ एवं सेठानीकी अनुमति प्राप्तकर पाकशास्त्री भट्टजीने उस सुन्दर दिवानखानेके मेजपर भोजनके थाल रखने प्रारम्भ किए । उनमें नानाप्रकारके गरमागरम अभीष्ट पदार्थ परोसे हुए थे । स्त्रीपुत्रादिके साथ सेठजीका भोजन शुरु हो गया । उसे निश्चय होता था कि-इस गरमागरम बासमती चावल तथा पूरणपोली एवं पत्तरवेलियोंसे आनन्द ही आनन्द आ रहा है । साथमें हँसी मजाक—शानशौकतकी बातें भी हो रही थी।

इतनेमें टेलीफोनकी घण्टी बजी । सेठजीने भोजन करते करते ही फोन उठाया-जो समीपमें ही रक्खा हुआ था । उससे समाचार सुनते ही शिरपर बिजली गिरीके समान सेठजी एकदम सन्न हो गए । अरण्डीका तेल पीयेके समान उनका मुख फीका हो गया । उस फोनसे उन्हें मालूम हुआ था कि-रूई और चांदीका भाव एकदम गिर गया । जिससे उन्हें पचासों लाखका घाटा हो गया है । अब क्या था-वही बढिया भोजन जिससे प्रथम अत्यन्त स्वाद सुख मिल रहा था, एकदम नीरस हो गया-मिट्टीके समान स्वाद रहित हो गया । इससे भोजनकी रुचि ही गायब हो गई । पेटकी पीडाका बहाना बनाकर भोजनकी कुरसीसे वे एकदम उठ गए । जाकर आरामकुरसी पर पड़े । अब हँसी मजाक-शान शौकतकी बातें सब समाप्त । उनका मन अत्यन्त ही विह्वल हो रहा है, वही बंगला है, वही सेठानी है, वे ही बच्चें हैं, वे ही वस्त्र हैं,वे ही हीरेमोतीके आभूषण हैं—किसीसे भी इस समय उसको आनन्द नहीं मिल रहा है। उद्वेगके साथ सोच रहा है कि—अब क्या होगा ? यह बंगला रहेगा कि-नहीं ? ये हीरेमोतीके आभूषण रहेंगे या नहीं ? । कभी भूलकर भी

भगवान्‌की याद नहीं करनेवाला उसका मन चूपचाप भीतर ही भीतर बोल उठ रहा है कि-हे प्रभो ! दीनदयाल ! मेरी लाज अब तेरे ही हाथमें है।

रात्रि हो गई है-मखमली गद्देवाले पलंगपर वह सेठ लेट रहा है। परन्तु वे बढ़िए कोमल गद्दे भी शूलोंके समान चूभ रहे हैं, वे भी आनन्द नहीं देते। बुलानेपर भी निन्द्रादेवी नहीं आती। निन्द्रादेवी भगवान्‌के घरकी दूती है। वह तभी सोनेवालेके समीप भगवान्‌के घरमें लेजानेके लिए आती है, जब सोनेवाला, निश्चिन्त होकर संसारके सभी चिन्तनोंसे मुख मोडकर, मस्त बनकर हाथपैर फैलाकर आँखे बन्द करता है।

इस दृष्टान्तसे यह निश्चय होता है कि-बाहरके शब्दादि विषयोंमें तथा स्त्रीपुत्र-धनादि-पदार्थोंमें सुख नहीं है। यदि सुख होता तो-इस सेठको इस विह्वल-दशामें वे पदार्थ प्रथमकी तरह सुख क्यों नहीं देते ?। यदि उन पदार्थोंका सुख देनेका ही स्वभाव है; तो वह स्वभाव मनकी इस अशान्त अवस्थामें क्यों गायब हो गया ?। स्वभाव तो अनपायी होता है अर्थात् सर्वदा रहता है। इससे मालूम होता है कि-मनकी शान्तिमें ही सुख रहता है, बाहरके पदार्थोंमें सुख नहीं रहता। मनकी वृत्तियाँ जब एकाग्र एवं शान्त होती हैं, तभी ही उनमें आत्मानन्दका प्रतिबिम्ब पड़ता है, और तभी ही उन आनन्दके प्रतिबिम्बवाली वृत्तियोंके द्वारा इन बाहरके पदार्थोंमें भ्रान्तिसे सुखोंकी प्रतीति होती है। जब वृत्तियाँ विक्षिप्त बन जाती हैं, तब उनमें आत्माके आनन्दका आभास नहीं पड़ता, इसलिए उन उद्विग्न वृत्तियोंके द्वारा बाहरके पदार्थोंमें सुखके बदले दुःखका ही भान होता है।

अतएव वेदान्तके प्रसिद्ध-ग्रन्थ पञ्चदशीमें श्रीविद्यारण्य स्वामीने भी यही कहा है—

'विषयेष्वपि लब्धेषु, तदिच्छोपरमे सति ।
अन्तर्मुखमनोवृतावानन्दः प्रतिविम्बति ॥
यद्यत्सुखं भवेत्तत्तद्ब्रह्मैव प्रतिबिम्बनात् ।
वृत्तिष्वन्तर्मुखास्वस्य निर्विघ्नं प्रतिविम्बनम् ॥'

अभीष्ट-शब्दादि-विषयोंका लाभ होनेपर जब विषयोंकी इच्छा निवृत्त हो जाती है, एवं मनकी वृत्तियाँ अन्तर्मुख एवं शान्त हो जाती हैं, तब उनमें आत्मानन्दका प्रतिविम्ब पडता है। इसलिए बाहरके विषयोंके द्वारा भी जो जो सुख मिलते हैं—वे सब सुख, ब्रह्मका प्रतिबिम्ब होनेसे-ब्रह्मके ही हैं-विषयोंके नहीं। क्योंकि-एकाग्र-वृत्तियोंमें ही ब्रह्मके आनन्दका निर्विघ्न प्रतिबिम्ब पड़ता है। विक्षिप्त-वृत्तियोंमें नहीं।

इसलिए एकमात्र अन्तरात्मा भगवान् ही परम आनन्दरूप है। अतएव हमारी प्रामाणिक श्रुतियाँ भी उसको विज्ञानघन एवं आनन्दघन कहती हैं—घन यानी ठोस-पूर्णरूपसे जिसमें विज्ञान एवं आनन्द भरा हो, वही विज्ञानघन एवं आनन्दघन है। वह वास्तविक-आत्मा सबको परम-प्रेमका आस्पद होनेसे भी परमानन्दरूप सिद्ध होता है। यह लोकमें भी देखा गया है कि—जिस पदार्थमें जितना-ज्यादा या कम प्रेम होता है, उस पदार्थसे उतना ही-ज्यादा या कम आनन्द प्राप्त होता है। दृष्टान्तके तौरपर-आपके समक्ष सुवर्ण, मोती एवं हीरोंसे भरी हुई तीन थालियाँ रक्खी जाँय, उनमें आपका समान प्रेम नहीं है किन्तु तारतम्ययुक्त है, सुवर्णकी अपेक्षा मोतीमें, एवं मोतीकी अपेक्षा

हीरोंमें ज्यादा प्रेम है, इसलिए आपको हीरोंको देखनेसे तथा प्राप्त करनेसे सबसे ज्यादा प्रेम एवं आनन्द होता है—इसप्रकार मोतियोंको देखकर उससे कुछ कम प्रेम होता है एवं उन्हें प्राप्तकर कुछ कम आनन्द मिलता है—तथा सुवर्णको देखकर उससे कुछ कम प्रेम होता है, एवं उसे प्राप्तकर कुछ कम आनन्द मिलता है।

तद्वत् अपना आत्मा, बाहरके स्त्रीपुत्रधनशरीरादि सभी प्रिय पदार्थोंकी अपेक्षा अत्यन्त ही प्रिय मालूम होता है। क्योंकि—बाहरके ये पदार्थ आत्माकी प्रियताके सम्पादक होनेसे ही प्रिय लगते है, यदि वे पदार्थ अपनेसे प्रतिकूल हो जाते हैं—तब उनमें प्रियता नहीं रहती है।

अतएव 'संक्षेपशारीरक' नामक ग्रन्थमें श्रीसर्वज्ञात्म-मुनि भी कहते हैं कि—

'सर्वं यदर्थमिह वस्तु यदस्ति किञ्चिद्,
पारार्थ्यमुज्झति च यन्निजसत्तयैव।
तद्वर्णयन्ति हि सुखं सुखलक्षणज्ञाः,
तत्प्रत्यगात्मनि समं सुखताऽस्य तस्मात्॥
प्रेमाऽनुपाधिरसुखात्मनि नोपलब्धः,
स प्रत्यगात्मनि कृमेरपि नित्यसिद्धः।
प्रेयः—श्रुतेरपि ततः सुखताऽनुमानं,
नैयायिकोऽपि न हगात्मनि निह्नुवीत॥
(१।२४।२५)

इस संसारमें स्त्री—पुत्र—धनादि जो कुछ वस्तु है, वह सब जिसके (अन्तरात्माके) लिए है, और जो (अन्तरात्मा) दूसरोंके लिए नहीं है। जो

स्वसत्ता-मात्रसे पारार्थ्य (अन्य-निमित्तता) यानी अन्यके लिए होनेवाली प्रीतिकी विषयताको छोडकर रहता है। अर्थात् स्त्रीपुत्रादि-पदार्थ, किसके लिए प्रिय हैं? ऐसा प्रश्न होनेपर कहा जाता है कि—आत्माके लिए। परन्तु आत्मा किसके लिए प्रिय है? ऐसा पूछने पर कहा जाता है कि—किसीके लिए नहीं—आत्माके लिए ही आत्मा प्रिय है, यही आत्मामें पारार्थ्यका अभाव है। उस आत्मवस्तुको सुखके लक्षण जाननेवाले विद्वान् 'सुख' कहते हैं। प्रत्यगात्मा इस प्रकारके सुख—लक्षणसे युक्त है, अतः आत्मा सुखसे अभिन्न है—सुखस्वरूप है।

अत एव सुख—भिन्न बाहरके किसीभी स्त्री-पुत्रादि-पदार्थमें निरपेक्ष प्रेम देखनेमें नहीं आता। और प्रत्यक्-आत्मामें तो क्षुद्रातिक्षुद्र जन्तु (कीडे)का भी स्वाभाविक सर्वानुभव--सिद्ध निरपेक्ष प्रेम देखनेमें आता है, अत एव '**परमप्रेमास्पदत्व**, रूप हेतुसे तथा '**तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा**' (बृ, उ. १।४।८) (वह यह आत्मा पुत्रसे प्रिय है, धनसे भी प्रिय है, अन्य—सब वस्तुओंसे प्रिय है, वह सबके अत्यन्त अन्तरमें अपनाआप रूपसे विद्यमान है।) इत्यादि श्रुतिसे भी आत्मा परमानन्द-रूप ही सिद्ध होता है। अत एव—ज्ञानरूप आत्मामें सुखरूपताके साधक अनुमानका निराकरण नैयायिक आदि विद्वान् भी नहीं कर सकते हैं।

अतएव बृहदारण्यकोपनिषद्में याज्ञवल्क्य महर्षिने अपनी धर्म-पत्नी मैत्रेयीके प्रति एकमात्र अन्तरात्माकी परमप्रियताका उपदेश देते हुए कहा था कि—

'स होवाच। न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति,
आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।

न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति,
आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति।

न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति,
आत्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति।'

(२।४।६)

मैत्रेयीके प्रति याज्ञवल्क्य बोले—अरे मैत्रेयि! पतिके लिए पति प्रिय नहीं होता, किन्तु अपने आत्माके सुखके लिए ही पति प्रिय होता है। एवं स्त्रीके लिए स्त्री प्रिय नहीं होती, किन्तु अपने आत्माके सुखके लिए ही स्त्री प्रिय होती है। इस प्रकार पुत्रोंके लिए पुत्र प्यारे नहीं होते, किन्तु अपने आत्माके सुखके लिए ही पुत्र प्यारे होते हैं।

श्रुतिका यह सिद्धान्त लोकमें भी प्रत्यक्ष दिखाई देता है—

एक नगरमें एक बडा करोडाधिपति धनवान् सेठ रहता था। उसको कई पुत्र थे। अपने बंगलेमें अपनी सेठानीके साथ इधर उधरकी गप्प-शप्प लगाते लगाते ही वह एकाएक बेहोश होगया। आजकल और सभी वस्तुएँ तो महंगी होगई हैं, परन्तु असंयमकी प्रचुरता एवं चिन्ताओंकी अधिकताके कारण सभी रोग सस्ते होगये हैं, और मृत्यु तो बिना बुलाए ही गला पकडनेके लिए अकस्मात् दौड आती है। अब क्या था? बंगलेका टेलीफोन खटखटाने लगे। देखते देखते ही सभी लडके, सगे-सम्बन्धी तथा इष्ट मित्र वहाँ पहुँच गए। आकर लडके देखते हैं कि-पिताजी निश्चेष्ट होकर पडे हैं, न देखते हैं, न बोलते हैं, न

सुनते हैं, पिताजीकी बडी खराब दशा होगई है। लडकोंने मोटरें भेजकर अतिशीघ्र डॉक्टर एवं वैद्य बुलाए। डॉक्टरोंसे लडकोंने कहा—चाहे कितना भी खर्च हो, उनकी परवाह नहीं, किन्तु एकवार पाँच मिनिटके लिए पिताजीसे कुछ बातचीत करा दीजिए। डॉक्टरोंने देखा—अभी दीपक सर्वथा बुझ नहीं गया है—अति मन्द प्रभासे कुछ कुछ टिमटिमा रहा है, तुरन्त ही डॉक्टरोंने केसरकस्तुरीके इन्जक्शन दे डाले—उसके प्रभावसे मरणासन्न सेठकी आँखें खुलीं। वापस सुधबुध आई—जानकर लडके-लोग प्रसन्न होगये।

वहाँ इकठे होनेवाले कुछ लोग सोच रहे थे कि—अन्तिम समयमें लडके अपने पिताके कल्याणकी कुछ बात करेंगे। परन्तु बराबर भान आनेपर लडकोंने उस समय अपने ही स्वार्थकी बात निकाली। कहने लगे—पिताजी! बतलाते जाओ! कहाँ क्या रक्खा है?। पासमें खडी हुई सेठानी भी रोती रोती बोलने लगी कि—हाय रे! आप तो जा रहे हैं? परन्तु मेरा क्या होगा?' 'तेरा क्या होना था—तेरेको तो यह बेचारा सब कुछ देकर खाली हाथ यहाँसे जा रहा है।' ऐसा किसीने मनमें कहा। उस समय वह सेठानी यह नहीं कहती है कि—आपको क्या हो रहा हैं?। गरीब बेचारे सेठकी—जो सदाके लिए सब कुछ छोडकर अकिञ्चन बनकर यहाँसे जा रहा है—किसीको कुछ परवाह नहीं। सभीको अपनी ही परवाह है। सभी सम्बन्धी अपने ही मतलबकी बात करते हैं—उसके हितकी बात नहीं सोचते। यह है—संसारमें सफेद स्वार्थीपनका नमूना।

अत एव भगवत्पाद आचार्यस्वामीने उपदेश दिया है कि—

का ते कान्ता कस्ते पुत्रः?, संसारोऽयमतीव विचित्रः।
कस्य त्वं कः कुत आयातः, तत्त्वं चिन्तय यदिदं भ्रातः!॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते!।

कौन तेरी स्त्री है? कौन तेरा पुत्र है? अर्थात् न कोई तेरी स्त्री है, न पुत्र है, व्यर्थकी उनमें ममता बढ़ाकर क्यों दुःखी हो रहा है?। यह संसार अत्यन्त विचित्र है—स्वार्थ-प्रचूर है—कोई किसीका नहीं—जीव अकेला ही इस संसारमें आता है—यहाँसे अकेला ही चल बसता है, न कोई साथमें आता है—न कोई साथ चलता है। अतः हे भाई! तू किसका है? कहाँसे आया है? इसका शान्तचित्तसे विचार कर, यदि विचार करनेमें स्वयं असमर्थ है, तो विद्वान्, वीतराग, महात्माओंके समीप जाकर इस विषयका विचार कर और निरन्तर श्री गोविन्द—भगवान्का प्रेमसे भजन किया कर।

इस प्रकार पुत्रके सुखके लिए पुत्र प्रिय नहीं लगते, किन्तु अपने सुखके लिए पुत्र प्यारे लगते हैं।

इसका एक सेम्पल विद्यारण्यस्वामीने 'पञ्चदशी' ग्रन्थमें इस प्रकार दिया है—

'श्मश्रुकण्टकवेधेन, बाले रुदति तत्पिता।
चुम्बत्येव न सा प्रीति र्बालार्थे स्वार्थ एव सा॥'

स्वामीजी एक समय भिक्षाके लिए बस्तीमें गृहस्थोंके यहाँ जा रहे थे—वहाँ यह एक घटना दिखाई पडी। एक बडी मूछोंवाला बाप है—वह अपने छः मासके नन्हेसे पुत्रसे प्यार कर रहा है—उसके कोमल सुन्दर मुखपर अपना मुँह लगाकर वारवार चुँम रहा है। परन्तु उसके कांटों जैसे तीक्ष्ण-मूँछके बाल, बालकके कोमल गालमें वारवार चुँभ रहे

हैं, और उनसे बालक बहुत व्यथित होकर रो रहा है। तथापि वह वारवार प्यार करता हुआ उसके रोनेकी या व्यथाको कुछ परवाह न कर उसका कोमल मुख चुंमता ही जाता है। विद्यारण्यस्वामी इस घटनाको देखकर प्रश्न करते हैं कि--वह मूँछोंवाला बाप, अपने सुखके लिए बच्चेसे प्यार कर रहा है ? कि-बच्चेके सुखके लिए ?। बच्चेके सुखके लिए प्यार करता है—ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि-बच्चेको तो मूछोंके कांटों जैसे बालोंके गडनेसे प्रत्यक्ष दुःख हो रहा है। इसलिए यह निश्चयके साथ कहना होगा कि—अपने किसी कल्पित सुखके लिए ही पिता उस पुत्रसे प्यार कर रहा है—पुत्रके सुखके लिए नहीं। पुत्रके दुःखकी उसे परवाह नहीं है, परन्तु अपने सुखकी ही उसे परवाह है।

'न वा अरे! वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवति,
आत्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति।

अरे मैत्रेयि! धनके लिए धन प्रिय नहीं होता, किन्तु आत्म-सुखके लिए ही धन प्रिय होता है।

हीरा—मोती, सोना-चांदी, नोट आदि जिसको आप धन समझते हैं, जिससे आप बडा प्यार रखते हैं, जिसको आप खास अंदरके कमरेमें रक्खी हुई मजबूत तिजोरीके खानोंमें छिपाकर रखते हैं, वारवार उसकी याद रखते हैं—किसके लिए ? क्या उस धनको ठण्डी लगती है, इसलिए आप उसको तिजोरीमें बन्द कर देते हैं ? इस प्रकार धनके प्रति आपका प्यार एवं उसका रक्षण, धनके किसी प्रयोजनके लिए नहीं होता—किन्तु अपने सुखलाभरूपी प्रयोजनके लिए ही होता है। वही धन जब दुःखका हेतु बन जाता है; तब आप तुरन्त ही

उसको छोड देते हैं। यह प्रत्यक्ष बात है।

एक समय कानपुर-नगर (उत्तरप्रदेश) की एक धर्मशालामें रात्रिके नौ बजे अपना प्रवचन हो रहा था। उसी समय समीपके एक धनवान्के मकानमें पिस्तोलें हाथोंमें लिए हुए चार गुण्डे घुस गए। धनवान् अपने मुनीम एवं लडकेके साथ तिजोरी खोलकर उस समय रुपैये नोट आदि गिन रहा था। पिस्तोलें तानकर गुण्डे कहने लगे–यह सब धन हमें सौंप दो, नहीं तो इस पिस्तोलकी गोलीका और तुम्हारी छातीका संयोग हो जायगा। मुनीम सेठ आदि भयभीत हुए–थर् थर् कांपते हुए चावियाँ फेंककर चुपचाप एक तरफ खडे हो गए। गुण्डे लोग देखते देखते ही लाखोंका धन लेकर चंपत हो गए। उस समय सेठको दुःख एवं मृत्युका हेतु होनेके कारण धनका प्यार छोडना पडा था। यह धन अब सुखके बदले दुःख देगा–यदि हमने उसको नहीं छोडा तो शीघ्र ही यह यमराजके दरबारमें भेज देगा–समझकर सेठ गुण्डोंसे हाथ जोडकर कहने लगा कि–ले जाओ भाई! इसे चूपचाप, हम कुछ नहीं कहते, बस केवल हमारे उपर दया रक्खो। इस लौकिक घटनासे भी यह निर्णीत होता है कि–धनके लिए धन प्रिय नहीं होता, किन्तु आत्मसुखके लिए ही धन प्रिय होता है।

'न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवति,
आत्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति।
न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवति,
आत्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति।'

ब्राह्मणके लिए ब्राह्मण प्रिय नही होता, अपने सुखके लिए ही

ब्राह्मण प्रिय होता है। इस प्रकार क्षत्रियके लिए क्षत्रिय (राजा) प्रिय नहीं होता, किन्तु अपने सुखके लिए ही प्रिय होता है।

संसारमें आप किसीसे—चाहे वह ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, या तदन्य हो—प्रेम रखते हैं, उसको अपना मित्र बनाते हैं, उसके प्रयोजनके लिए नहीं, किन्तु खासकर अपना प्रयोजन ही ध्यानमें रखकर उससे प्रेम करते हैं, मित्रताका नाता जोडते हैं। यहाँ प्रयोजनका अर्थ है—दुःखोंकी निवृत्ति एवं सुखकी प्राप्ति। यदि उससे स्वप्रयोजनका लाभ नहीं होता, तो आप उससे प्रेम रखना छोड देते हैं—मित्रताकी तलाक दे डालते हैं। यह भी बात लोकमें सैकडों स्थलोंमें देखी जाती है।

'न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्ति,
आत्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति।'

शिव, विष्णु, राम, कृष्ण, इन्द्र, वरुण, शक्ति आदि देव, उनके प्रयोजनके लिए प्रिय नहीं लगते, किन्तु अपने प्रयोजनके लिए ही देव प्रिय लगते हैं।

आप देवोंसे या भगवान्से क्यों प्रेम करते हैं? उनका स्मरण, प्रार्थना, अर्चना आदि क्यों करते हैं? उनके सुखके लिए नहीं, किन्तु अपने सुखके लिए ही, यह निःसन्देह बात है। प्रार्थना करते हुए—आप कहते हैं कि—हे भगवन्! हे सर्वशक्तिमान् प्रभो! **'तारय संसारसागरतः'** हमें संसार-सागरसे तार देना, जन्ममरणादि-दुःखोंसे छुडा देना, मोक्ष-सुख दिला देना। हमारा कल्याण कर देना।' यह सब प्रार्थना आत्मप्रयोजनके लिए ही होती है। भगवान्के लिए नहीं। कोई भगवानके लिए ऐसी प्रार्थना नहीं करता है कि—हे भगवान् तेरा

कल्याण हो, तेरा दुःख दूर हो, तू सदा आनन्दमें रह। चाहे भगवान्का कल्याण हो, या न हो, उसका दुःख दूर हो, या न हो—उसे सुख मिले, या न मिले, उसकी मुझे खास आवश्यकता नहीं, परन्तु मेरा कल्याण अवश्य होना चाहिए, मेरा दुःख अवश्य दूर होना चाहिए, मुझे सुख अवश्य मिलना चाहिए--यही आत्मप्रयोजनका लक्ष्य देवोंकी प्रार्थनामें भी रहा करता है।

यद्यपि सर्वात्मा भगवान् सदा कल्याणमय ही होते हैं, उनमें दुःखका नामनिशान भी नहीं होता, वे सदा विशुद्ध सुखके महासागर ही होते हैं, इसलिए उनके लिए कल्याणादि-प्रयोजनकी अपेक्षा नहीं होती, परन्तु प्रकृतमें श्रुति यह सिद्ध करना चाहती है कि—भगवान्के प्रयोजनके लिए भगवान् प्रिय नहीं होते, किन्तु आत्मप्रयोजन के लिए भगवान् प्रिय होते हैं।

यहाँ व्यञ्जनावृत्तिसे आत्मा एवं भगवान्के एकत्वका भी निर्णय हो जाता है। कैसे? इसप्रकार। यदि आराध्य भगवान्, आत्मासे भिन्न माना जाय तो, भगवान्में परमप्रेमरूप अनन्यभक्तिकी सिद्धि नहीं होती। क्योंकि—सबको स्वाभाविकरूपसे अपने (आत्मा)में ही परमप्रीति होती है—'देवोंके लिए हम देवोंसे प्रीति नहीं करते, किन्तु अपने सुखके लिए ही', इत्यादि श्रुति वचनोंके द्वारा तथा लौकिक अनुभवोंके द्वारा भी यही बात सिद्ध होती है। आत्मासे अन्य पदार्थ जो भी हो—चाहे वह स्त्री-पुत्रादि हो-या शिव विष्णुआदि देव हो, उसमें गौण ही प्रीति होती है-मुख्य नहीं, आत्माके लिए होनेवाली अन्यपदार्थोंमें प्रीति मुख्य नहीं होती, आत्माके लिए सभी पदार्थ हैं, आत्मा किसीके लिए नहीं, वह

अनन्य है। इसलिए आत्मामें ही मुख्य प्रीति है।

अन्ततोगत्वा भगवान्‌को आत्मस्वरूप माननेपर ही भगवान्‌के प्रति अनन्यभक्तिकी सिद्धि होती है। इसलिए हमारे तमाम—उपनिषत्, गीता, भागवत आदि शास्त्रोंने भगवान्‌को आत्मरूपसे ही प्रतिपादन किया है। अत एव उपनिषत्, गीता आदिके वचनोंके अर्थका निर्णय करनेवाली ब्रह्मसूत्र-मीमांसामें भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यासने भी कहा है कि-

'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च।' (४।१।३)

विश्वका कारण आराध्य इष्टदेव परमेश्वर आत्मा ही है, ऐसा निश्चयरूपसे समझना चाहिए। **'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते! अहं वै त्वमसि भगवो देवते!।'** हे भगवन्! हे देव! जो तू है, वह मैं हूँ, जो मैं वस्तुतः हूँ, वह तू है। और विद्वान् आचार्य गुरु भी-मुमुक्षुओंके प्रति—**'एष त आत्मा सर्वान्तरः।'** (बृ.३।४।१) **'एष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः।'** (बृ. ३।३।२३) यह तेरा आत्मा है— जो सर्वान्तर परमेश्वर है। यह तेरा आत्मा है, जो अमृत-रूप अन्तर्यामी भगवान् है। इत्यादि उपनिषदोंके अनेक वचनोंके द्वारा परमेश्वरको आत्मरूपसे ही ग्रहण कराते हैं।

'न वा अरे! सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति,
आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।'

हाथी, घोडा, गाय, मोटर, मकान, दुकान, लड्डु—पुरी—कचौरी, केला सन्तरा—अंगूर आदि संसारकी सभी चीजें, उनके लिए प्रिय नहीं होती, किन्तु आत्मसुखके लिए ही प्रिय होती हैं। इसलिए हे मैत्रेयि!

'आत्मा वा अरे! द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।'

उस परमप्रेमास्पद आत्माका ही निश्चयसे दर्शन करना चाहिए। उसके दर्शनके लिए शास्त्र एवं गुरुके द्वारा श्रद्धापूर्वक उसी ही आत्माका श्रवण करना चाहिए। एकाग्रतासे मनन करना चाहिए एवं मस्त होकर तन्मयतापूर्वक उसका ही ध्यान करना चाहिए।

इसप्रकार अपना आत्मा परमप्रेमास्पद होनेके कारण भी परम आनन्द स्वरूप है। इसलिए सद्रूप, चिद्रूप, आनन्दरूप आत्मा भगवान्की पराप्रकृति है अर्थात् अभिन्न स्वरूप है, जिससे सब जगत् विधारित होता है, इससे भी वह चेतनरूप विभु-आत्मा, भगवान्का अनन्य-स्वरूपही सिद्ध होता है।

(६)

'एतद्योनीनि भूतानि, सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः, प्रभवः प्रलयस्तथा ॥' (७।६)

अतः हे अर्जुन! तू ऐसा निश्चय कर कि—ये संपूर्ण—चराचर-भूत इन दोनों अपरा एवं परा प्रकृतियोंसे ही बने हुए हैं, और मैं भगवान् संपूर्ण जगत्की उत्पत्तिका एवं प्रलयका मूल कारण हूँ।

आनन्दनिधि—सर्वसमर्थ—प्रभु श्रीकृष्ण, अर्जुनसे कहते हैं मैं परमेश्वर अपनी सर्वोत्तम परा प्रकृतिके द्वारा तथा निकृष्ट अपरा प्रकृतिके द्वारा अर्थात् दोनोंके सहकारसे इस नामरूपात्मक—समस्त जगत्का सर्जन करता हूँ, पालन करता हूँ तथा अन्तमें अपनेमें ही इस निखिल जगत्का विलय कर देता हूँ। यहाँ 'प्रभव' शब्दसे परमात्मामें निमित्त-कारणताकी एवं 'प्रलय' शब्दसे उपादान-कारणताकी सिद्धि की गई

है। जिसप्रकार कुंभारसे घट—शरावादि पात्रोंका प्रभवमात्र होता है, परन्तु-कुंभारमें इन स्व-सृष्ट पात्रोंका विलय नहीं होता, इसलिए वह कुलाल उन पात्रोंका निमित्त कारण ही माना जाता है--उपादान कारण नहीं। कार्य विलयका जो आधार होता है, वही उपादान कारण हो सकता है—घट-शरावादि--कार्यौंका विलय एकमात्र मृत्तिकामें ही होता है, इसलिए मृत्तिका ही उपादान कारणरूपसे मानी जाती है। इसप्रकार परमात्माके द्वारा बनाया और संरक्षित किया हुआ यह समग्र जगत् एकमात्र परमात्मामें ही विलीन होजाता है, इसलिए परमात्मा ही विश्वका उपादानकारण भी माना गया है। अतएव हमारी कृष्णयजुर्वेदकी तैत्तिरीय श्रुति भी पिता पुत्रके प्रश्न-उत्तर द्वारा यही सिद्ध करती है--

'भृगु वैं वारुणि र्वरुणं पितरमुपससार,
अधीहि भगवो ब्रह्मेति।' (तै० उ० ३।१)

वरुण ऋषिका पुत्र भृगु है, वह अपने पिता वरुण ऋषिके समीप जाकर विनयसे कहने लगा कि-हे भगवन्! आप हमें कृपया ब्रह्मका उपदेश करें।

पुत्रकी ब्रह्मोपदेशकी प्रार्थना सुनकर पिता--वरुण, भृगुके प्रति इसप्रकार ब्रह्मका उपदेश देने लगे--

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्मेति'
(तै० उ० ३।१)

इस श्रुतिमें जो 'यत्' शब्द है, वह सत्य, ज्ञान, अनन्त, आनन्दरूप ब्रह्म वस्तुका बोधन करता है, एवं--'यत्' शब्दके उत्तरमें

जो पंचमी विभक्ति है, वह उस वस्तुमें कारणताका ज्ञापन कराती है। अर्थात् जिससे ये सब भूत-प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हुए जिससे जीवित रहते हैं, एवं अन्तमें म्रियमाण होकर जिसमें विलीन हो जाते हैं, उसको विशेषरूपसे जाननेकी इच्छा कर, वही ब्रह्म है। इस प्रकार श्रुतिमें तथा गीतामें—**'कृत्स्नस्य जगतः प्रभवस्थितिविलय-कारणत्वं'** यह ब्रह्मका तटस्थ लक्षण कहा है--तटस्थ लक्षण वह कहा जाता है-जो **'कादाचित्कत्वे सति व्यावर्तकं'** होवे। जो लक्षण, अपने लक्ष्यमें कदाचित् रहता हुआ अपने लक्ष्यको दूसरे--अलक्ष्य पदार्थोंसे पृथक् करके दिखाए, वह तटस्थ लक्षण कहा जाता है।

किसी अनभिज्ञ व्यक्तिने किसीसे पूछा कि--रामलाल वैद्यका घर कहाँ है? उसने हाथके इशारेसे बतलाया कि--जिसके सामने मोटर खडी है, तथा तीन स्त्रियाँ मिलकर कुछ बात कर रही हैं, वह रामलाल वैद्यका घर है। उस व्यक्तिने अब घरको पहिचान लिया, घरकी तरफ जाने लगा, इतनेमें वहाँसे मोटर भी चल पडी, तथा स्त्रियाँ भी खिसक गईं, यह है घरका तटस्थ लक्षण। घरके सामने मोटर तथा स्त्रियाँ कुछ समयके लिए खडीं थीं। सदाके लिए उसके सामने नहीं रहती। परन्तु उसने अन्य गृहोंसे व्यावृत्ति (पृथक्करण) करके रामलालके गृहका परिचय करा दिया।

इस प्रकार **'प्रभवस्थितिविलयकारणत्वं'** यह तटस्थ लक्षण ब्रह्म-परमात्मामें सदा रहता नहीं, किन्तु मायाकी अधिष्ठानता-कालमें ही रहता है, अतः वह लक्षण कादाचित्क (कभी रहनेवाला) है, एवं अन्य मतवादी संमत प्रधान, परमाणु, काल आदि कारणोंसे ब्रह्मरूप

लक्ष्यको पृथक् करके बतलाता है। इस प्रकार कादाचित्क होनेसे एवं व्यावर्तक होनेसे 'प्रभवस्थितिविलयकारणत्वम्' यह ब्रह्मका तटस्थ लक्षण है, स्वरूप लक्षण नहीं।

प्रश्न—आपका अद्वय ब्रह्म तो सर्वधर्मशून्य-निर्धर्मक-निर्गुण है, उसमें पूर्वोक्त-कारणत्वरूप धर्म भी तो नहीं रह सकेगा, तब वह उसका लक्षण कैसे हो सकता है?।

उत्तर—उस ब्रह्ममें कारणता भी वास्तविक नहीं है, किन्तु मायाके द्वारा आरोपित है, इसलिए वह कादाचित्क मानी जाती है। जिस प्रकार '**रजतं शुक्ते र्लक्षणं, यद्रजतं सा शुक्तिः**' भ्रमस्थलमें शुक्तिका लक्षण रजत है; क्योंकि-आरोपित-पदार्थ अधिष्ठानका परिचायक-लक्षण होता है। और जो शुक्तिके अज्ञानसे आरोपित रजत है, वह वस्तुतः शुक्ति ही है, शुक्तिसे पृथक् नहीं, ऐसा व्यवहार होता है। तद्वत् जो जगत्का कारण है, वह ब्रह्म है, इस कथनका यह तात्पर्य है कि—ब्रह्ममें जो अविद्याकल्पित नामरूपात्मक जगत्का अध्यासाधिष्ठानत्व है, वही कारणत्व है, वह निर्गुण-निधर्मक ब्रह्मका भी लक्षण हो सकता है। यह आरोपित जगत् वस्तुतः ब्रह्म ही है—अधिष्ठान ब्रह्मसे पृथक् उसकी सिद्धि नहीं होती।

प्रश्न—तब ब्रह्मका स्वरूपलक्षण क्या है?।

उत्तर—सत्य, ज्ञान, अनन्त, आनन्द आदि ब्रह्मका स्वरूप लक्षण है '**विज्ञानमानन्दं ब्रह्म**' (बृ. उ. ३।९।२८) '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।**' (तै. उ. २।१) इत्यादि श्रुतियोंने भी ब्रह्मका यही स्वरूप

लक्षण कहा है। अतएव आचार्य वेदव्यासने ब्रह्मसूत्रमीमांसामें प्रथम '**जन्माद्यस्य यतः।**' (ब्र० सू० १।१।२) इस सूत्रके द्वारा ब्रह्मका तटस्थ लक्षण-जन्मादिकारणत्वरूप बतलाकरके पश्चात् तृतीयाध्यायके तृतीय पादमें '**आनन्दादयः प्रधानस्य**' (३।३।११) इस सूत्रके द्वारा उपनिषद्-गीता-आदि समस्त शास्त्रोंमें प्रधान (मुख्य) रूपसे प्रतिपादित ब्रह्मका आनन्दत्व, सर्वगतत्व, सर्वात्मकत्व, सत्यविज्ञान-घनत्व आदि स्वरूपभूत धर्म, स्वरूप लक्षणरूपसे वर्णन किये हैं। '**स्वरूपं सत् व्यावर्तकं स्वरूपलक्षणं**' जो लक्षण, अपने लक्ष्यका स्वरूपभूत हुआ अपने लक्ष्यको अन्य अलक्ष्यसे पृथक् करके प्रदर्शित करे, वह स्वरूपभूत लक्षण कहा जाता है। जिस प्रकार पृथिवीका पृथिवीत्व स्वरूपलक्षण है। क्योंकि-वेदान्त सिद्धान्तमें जाति व्यक्तिका तादात्म्य-सम्बन्ध माना जाता है। तादात्म्य सम्बन्ध वह है--जिसमें काल्पनिक भेद एवं वास्तविक अभेद रहता हो। इसलिए पृथिवीत्व जातिका पृथिवी व्यक्तिके साथ वास्तविक अभेद होने पर भी व्यवहारके लिए काल्पनिक भेद माना गया है। अतएव वह पृथिवीत्व लक्षण पृथिवीका स्वरूप होता हुआ भी अन्य अलक्ष्य-जलादिसे पृथक् करके पृथिवीका परिचय देता है। इस प्रकार सत्य, ज्ञान, आनन्द आद ब्रह्मके स्वरूपभूत लक्षण हैं, एवं लक्ष्य-ब्रह्मको अलक्ष्य, असत्, जड, दुःखरूप जगत्से पृथक् करके उसका परिचय कराते हैं।

यद्यपि सत्य, ज्ञान आदि वस्तुतः ब्रह्म स्वरूप हैं, इसलिए सत्यादि-लक्षणोंका ब्रह्म लक्ष्य नहीं हो सकता, क्योंकि-अभिन्न पदार्थोंका परस्पर लक्ष्य-लक्षणभाव नहीं होता, भिन्न पदार्थोंका ही लक्ष्य-लक्षणभाव

होता है, जिस प्रकार पृथिवीका पृथिवी लक्षण नहीं होता, तथापि तत्तदुपाधिके द्वारा भासमान सत्यादि पदोंके वाच्यार्थोंकी लक्ष्य ब्रह्मसे भिन्नता मानी जाती है। इसलिए औपाधिक भेदको लेकर ब्रह्मका एवं सत्यादिकोंका लक्ष्य-लक्षणभाव हो सकता है। सत्यादिपदोंका औपाधिक वाच्यार्थ इस प्रकार है—बाधाभाव विशिष्ट चैतन्य सत्यपदका वाच्यार्थ है, नेत्रादिजन्य तत्तदाकार-वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य ज्ञानपदका वाच्यार्थ है, एवं पुण्यजन्यानन्दाकारवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य आनन्दपदका वाच्यार्थ है। अतः ब्रह्मरूप लक्ष्यके साथ सत्यादि लक्षणोंका वास्तविक अभेद होने पर भी औपाधिक-काल्पनिक भेद होनेके कारण लक्ष्य-लक्षणभाव हो सकता है।

अतएव पंचपादिका-व्याख्यानमें पद्मपादाचार्य्यजीने कहा है कि—

'आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्माः।
ब्रह्मणोऽपृथक्त्वेऽपि पृथगिवावभासन्ते ॥'

आनन्द, विषयानुभव अर्थात् ज्ञान एवं नित्यत्व यानी सत्यत्व, ये तीनों धर्म ब्रह्मके हैं, वस्तुतः ये धर्म ब्रह्मसे अपृथक् होनेपर भी उपाधियोंके द्वारा पृथक् हुएकी भाँति प्रतीत होते हैं।

इसप्रकार परमात्माका तटस्थलक्षणके द्वारा प्रथम परिचय कराया जाता है। पश्चात् स्वरूपलक्षणके द्वारा। ब्रह्मका स्वरूप अदृष्ट एवं अज्ञात होनेके कारण प्रथम स्वरूपलक्षणके द्वारा ब्रह्मका परिचय—नहीं हो सकता, इसलिए प्रथम तटस्थ लक्षणका निर्देश किया जाता है। लोकमें भी ऐसा ही व्यवहार देखा जाता है। जिसप्रकार किसीने किसीसे कहा कि—तुम उस हरिलालको जानते हो? उसने कहा—मैं नहीं जानता। तब वह कहता है—अरे! जो बम्बई—विले—पारलेके श्रीनिवासमें

रहता है, अमुक-फर्मका मालिक है; जिसका जे. पी. टाईटल है। यह उस हरिलालका तटस्थ लक्षण है। क्योंकि—यह कादाचित्क है। जब वह तीर्थयात्रामें या विदेशमें जाता है; तब वह विले पारलेके श्रीनिवास भुवनमें नहीं रहता। किसी कारणसे फर्म छोड या बेच देनेपर वह फर्मका मालिक भी नहीं रहता, किसी कारणसे कभी जे. पी. टाईटल भी उसका नहीं रहता, तथापि वह उसका तटस्थ लक्षण, अन्य रामलाल आदि व्यक्तियोंसे व्यावृत्ति करा देता है।

प्रथम उस हरिलालका ऐसा तटस्थ लक्षण सुनकर उस व्यक्तिको उसके स्वरूपकी जिज्ञासा होती है कि—उसका चेहरा कैसा है? कद कैसा है? रंग कैसा है? यह बतलाइये। तब वह उसके स्वरूपका परिचय देता है—जिसका गोल चेहरा है, बडी बडी आँखें हैं, ऊँची-सी नाक है, बदामी रंग है, मध्यम कोटीका कद है। यह उस हरिलालके स्वरूपका लक्षण है। अतएव '**य एव पदपदार्था लोके, त एव वेदेऽपि**' जो पदपदार्थ लोकमें—जिसप्रकारसे व्यवहृत होते हैं—उस प्रकारसे ही वेदादि शास्त्रोंमें भी व्यवहृत होते हैं, भिन्न प्रकारसे नहीं। इस नियमके अनुसार ही गीता उपनिषद् आदि शास्त्रोंकी उपदेश-पद्धतिमें भी लौकिक-मर्यादाओंका अनुसरण किया गया है।

इसलिए गीतामें भगवान्‌ने मैं समग्र जगत्‌को उत्पत्ति, स्थिति एवं विलयका कारण हूँ, ऐसा तटस्थ लक्षणका निर्देश किया। यह नामरूपात्मक समग्र जगत् कार्य है, कार्यका कारण कोई अवश्य होता है-कारण के विना कोई कार्य होता ही नहीं, जिसप्रकार पिताके विना पुत्र। किसी सुन्दर बिल्डींगको देखकर हम उसके निर्माताको प्रत्यक्षरूपसे

न देखनेपर भी मानते हैं। इसप्रकार इस विचित्र अद्भुत ब्रह्माण्डको देखकर उसके निर्माता भगवान्‌को-प्रत्यक्षरूपसे न देखनेपर भी मानना चाहिए। जगत्‌में ऐसा कोई भी-टूटा फूटा भी मकान न होगा, या छोटासा जमीनका टुकडा भी न होगा—जिसका कोई मालिक (स्वामी) न हो। और कोई उसका मालिक न मिले तो भारत-सरकार तो बनी-बनाई मालिक मानी ही जाती है। जब साधारण मकानका भी कोई मालिक माना जाता है; तब इस इतने विशाल ब्रह्माण्डरूप मकानका क्या कोई स्वामी न होगा? स्वामी अवश्य होना चाहिए, वह भगवान् है। वही इसका कारण है, एवं स्वामी है।

वह अनन्त शक्तिमान् है, सबका अन्तरात्मा है—निराकार होता हुआ भी अपनी मायाशक्तिके द्वारा साकार हो जाता है—वह भक्तोंके लिए अत्यन्त सुन्दर है, एवं दुष्टोंके लिए परम उग्र-भयंकर है। वही प्राणियोंके कर्मफलोंका प्रदाता-कर्माध्यक्ष है। वह उपासनाकी सिद्धि के लिए, भक्तोंकी भावनाके अनुसार अनेक विग्रहोंको धारण करता है। अद्वैत-वेदान्तके आचार्य भी भगवान्‌को स्तुति-प्रार्थना करते हुए यही कहते हैं कि—

'योऽनन्तोऽनन्तशक्तिः सृजति जगदिदं पालयत्यन्तरात्मा,
संविश्यान्ते निपीय, स्वकमहिमगतः सत्यचिन्मूर्तिरास्ते।
योऽनुग्रः सज्जनानां परमहिततमः पापिनामुग्रमूर्तिः,
सोऽस्माकं वाञ्छितानि प्रदिशतु भगवानात्मदः श्रीनृसिंहः॥'

जो परमात्मा अनन्त है, अर्थात् देश, काल एवं वस्तुकृत परिच्छेदोंसे रहित—अपरिच्छिन्न है, अनन्त—शक्तियोंसे पूर्ण है, अत एव वह विश्वका

अन्तरात्मा होकर इस जगत्का सर्जन करता है, एवं पालन करता है। सत्ता एवं स्फुर्ति प्रदान करनेके लिए वह जगत्के भीतर प्रविष्ट होता है, एवं अन्तमें सबका अपनेमें विलय करके अपनी अखण्डैकरस-महिमामें अवस्थित हुआ सत्यचैतन्यघन रूपसे रहता है। वही निर्गुण-निराकार परमात्मा, मायाशक्तिके द्वारा सगुण-साकार होकर सज्जनोंके लिए सौम्य-मूर्ति हुआ उनका परम हितकारी होता है। एवं वही पापी-दुष्टोंके लिए उग्रमूर्ति होकर दण्ड देता है। वह भगवान्-आत्मप्रदाता श्रीनृसिंह हमें वाञ्छित पदार्थ प्रदान करे।

संसारमें आप किसी अच्छी व्यवस्था देखते हैं, तो उसका कोई व्यवस्थापक-शासक अवश्य है, ऐसा मानते हैं। जिस प्रकार भारतकी सभी प्रकारकी नियमबद्ध राज्य व्यवस्था देखकर आप उसकी व्यवस्थापक —शासक भारत—सरकारको मानते हैं, उसका अपलाप कभी नहीं करते; उस प्रकार इस जगत्में भी कई प्रकारकी व्यवस्थाएँ देखनेमें आती हैं, अव्यवस्थित कार्य होता देखनेमें नहीं आता। दिवसके बाद रात्रि व्यवस्थित—रूपसे होती है, रात्रिके बाद दिवस। वर्षाऋतुके बाद शरद्, एवं शरद्के बाद हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म-आदि ऋतुओंका क्रमशः परिवर्तन भी व्यवस्थितरूपसे देखनेमें आते हैं, पूर्णिमाके बाद अमावास्या, एवं कृष्णपक्षके बाद शुक्लपक्ष अनवरत-एकके पीछे एक आते जाते रहते हैं। खेतमें गेहूँ बोनेपर गेहूँ ही पैदा होते हैं, मूँग बोनेपर मूँग। ऐसा कभी देखनेमें नहीं आता कि-बोये गेहूँ और हुए चने, एवं चने बोये, हुए मूँग। आम्रके बीजसे आम्रवृक्ष ही होता है, बबूलका वृक्ष नहीं होता। इस प्रकार मनुष्यसे मनुष्य ही पैदा होते हैं-भेड बकरी

नहीं, एवं भेड बकरियोंसे भेड बकरियाँ ही पैदा होती हैं-हाथी घोडे नहीं। मनुष्य, अमुक समयतक बालक रहता है, अमुक समयतक युवा, अमुक समयतक वृद्ध। जो पैदा होता है, उसको एकरोज आगेपीछे मरना ही पडता है। 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः।' (गी० २।२७) यह अटल व्यवस्था सब जगह देखनेमें आती है। सर्व प्राणी जन्म-जन्मान्तरीय-शुभाशुभ-कर्म व्यवस्थाके अधीन हुए अनेक प्रकारकी संपत्ति एवं विपत्तियोंका अनुभव करते हैं, कभी इष्ट-लाभसे फूले नहीं समाते, एवं अनिष्ट लाभसे हाय हाय करते नहीं थकते। सुखसे खिल उठते हैं, एवं दुःखसे कुम्हला जाते हैं; कभी रोते हैं, तो कभी हँसते हैं; कभी कोई प्रिय बनकर राजी करता है, तो किसी समय वही प्रिय; अप्रिय बनकर नाराज करता है; कोई स्वस्थ रहता है तो कोई रोगी, कोई विद्वान् है तो कोई मूर्ख, कोई धनवान् है तो कोई गरीब, कोई चिरंजीवी है, तो कोई स्वल्पजीवी-जन्मते ही मर जाता है, किसीका सुंदर गौर चेहरा है तो किसीका काला एवं भद्दा। किसीको सुख देनेवाले स्त्री-पुत्र मिलते हैं, तो किसीको दुःख देनेवाले। कोई बोलनेमें बडा निपुण होता है तो कोई निपुणतासे शून्य, किसीका अच्छा स्वभाव है तो किसीका बुरा, कोई मधुर बोलता है तो कोई कटु, कोई धार्मिक प्रामाणिक होता है, तो कोई लुच्चा बदमाश। इस प्रकार इस संसार-चक्रकी कर्म व्यवस्था अनेक प्रकारकी दृष्टिगोचर होती है। तब इस व्यवस्थाका संचालक कोई अवश्य मानना पड़ता है। वह है-परमेश्वर; जगन्नियन्ता, विश्वका शासक-भगवान्।

जिस प्रकार आप अपने मकानमें प्रकाशके लिए दीपक लगाते हैं,

हवा के लिए पंखे लगाते हैं, इस प्रकार उस परमेश्वरने अपने ब्रह्माण्ड-रूपी विशाल मकानमें प्रकाशके लिए सूर्य-चन्द्ररूपी दीपक लगाये हैं, अनवरत हवाके लिए पवन भी नियुक्त किये हैं। आप विचार कर सकते हैं कि-इस ब्रह्माण्डरूपी मकानके उपरकी आकाशरूपी छतमें किसने सूर्य-चन्द्र लगाये हैं? क्या किसी यहाँकी शक्तिशाली गवर्नमेन्टने उनको लगाये हैं? हवाका प्रबन्ध किसने किया है? है कोई यहाँका प्रबन्धक? एवं आकाशरूपी छतको किसने असंख्य तारोंके द्वारा सुशोभित बनाया है? कौन है वह? आपकी विचारशील बुद्धि स्वतः कहने लगेगी कि-यहाँका कोई नहीं है। कोई अदृष्ट—शक्तिवाला महान् परमेश्वर उसका प्रबन्धक है, उस शोभाका सर्जक है। किसीकी कभी इच्छा नहीं होती है कि-मैं मर जाउँ, जीनेके लिए सभी प्रयत्न करते रहते हैं। तथापि-नहीं चाहनेपर भी किसी अदृष्ट—शक्तिके वशीभूत होकर मर जाना ही पडता है-चाहे वह संसारका कितना बडा नामी, पराक्रमी मानव ही क्यों न हो?। उसकी शासन-शक्तिके सामने सबको नत मस्तक होना पडता है। उसके सामने सभी घमण्ड चकनाचूर हो जाते हैं। इससे निश्चय होता है कि—है कोई शक्तिमान् शासक। वही सबका आराध्य देव भगवान् है। बृहदारण्यकोपनिषत्में याज्ञवल्क्य महर्षिने गार्गीके प्रति कहा है कि—

'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने, गार्गि!
सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः।'
एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने, गार्गि!
द्यावापृथिव्यौ विधृतौ तिष्ठतः।'
एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने, गार्गि!
प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः।'

(बृ० ३।८।९)

हे गार्गि ! इस अक्षर परब्रह्मके प्रशासनसे नियन्त्रित होकर, सूर्य एवं चन्द्रमा स्थित हुए अपना अपना जगत्‌का उपकारी कार्य करते रहते हैं । एवं अन्तरीक्ष एवं पृथिवी भी जलवर्षण, अन्नफलादिओंका उत्पादन इत्यादि लोकहित कार्यमें नियुक्त हुए रहते हैं, एवं नदियाँ पूर्वदिशाकी तरफ बरफानी श्वेतपर्वतोंसे परोपकारके लिए बहती रहती हैं ।

यहाँ कुछ स्वभाववादी कहते हैं-संसारकी यह सब व्यवस्था स्वभावसे ही होती है । इसके लिए किसी चेतन—परमेश्वरकी आवश्यकता नहीं । स्वभावसे ही सूर्य उदित होता है, एवं स्वभावसे ही अस्त होता है । स्वभावसे ही मनुष्य पैदा होता है, एवं स्वभावसे ही मर जाता है । आपसे कोई प्रश्न करे कि—यह अग्नि उष्ण क्यों है ? जल शीतल क्यों है ? तो आप उसका क्या उत्तर देंगे ? यही कहना होगा कि—स्वभावसे ही अग्नि उष्ण है, जल शीतल है । इस प्रश्नका अन्य उत्तर नहीं हो सकता । बस, यही स्वभाव सृष्टिके निर्माणमें भी समर्थ होगा, एवं समग्र व्यवस्था करनेमें भी ।

अच्छा, उस स्वभाववादीसे पूछा जाय कि-वह स्वभाव, क्या जड है ? या चेतन है ? यदि चेतन कहते हैं-तो नाममात्रका ही ईश्वरवादीके साथ विवाद रह जाता है । क्योंकि—ईश्वरवादी जिसको सर्वसमर्थ चेतन ईश्वर कहता है-उसको स्वभाववादीने सर्वसमर्थ ' चेतन--स्वभाव ' इस नामसे कहा । जैसे किसीने कम्बुग्रीवादिमान्-पृथुवुध्नोदराकार पदार्थको-घट नामसे कहा तो किसीने कुंभ नामसे । नामका ही फरक रहा, अर्थमें फरक नहीं । इसप्रकार उसी निर्माणकर्ताको--किसीने ईश्वर कहा, किसीने स्वभाव, अर्थ एक रहा, नाम भिन्न ।

यदि आप उस स्वभावको जड कहते हैं तो जडमें विश्वकी इस प्रकार विचित्र रचना करनेकी निपुणता—जो बडे-बडे बुद्धिमानोंको भी मूक बनानेवाली है—नहीं हो सकती है। चेतनके सहकारके विना पदार्थोंका जड स्वभाव स्वतःरचना नहीं कर सकता है। यह बात लोकमें भी प्रत्यक्ष है।

आपको एक बढिया-विशाल सात मंजीलोंवाली बिल्डींग बनानी है, इसके लिए आपने आवश्यक सभी सामग्री-लोहा-सीमेन्ट-रेती-ईंट, पत्थर-लकडी आदि एकत्र कर ली है। अब इन पदार्थोंका जड स्वभाव, चेतन इन्जिनीयर मिस्त्री आदिकी सहायता विना क्या आप ही आप बिल्डींगकी रचना कर सकता है? नहीं कर सकता। उस जड सामग्रीको चेतनकी सहायताकी अपेक्षा हुआ करती है। इस प्रकार चेतन-परमेश्वरकी शक्तिके विना विश्वका निर्माण, जड स्वभाव, स्वतः नहीं कर सकता।

एक नगरमें एक वकील साहब रहते थे। वे स्वभाववादी थे। इसलिए वे ईश्वरको नहीं मानते थे। उसकी धर्मपत्नी ईश्वरको मानती थी—भगवान्‌का नामस्मरण, देवपूजा, सत्संग-कीर्तन आदि करती थी। जगन्नियन्ता भगवान्‌में बडा विश्वास रखती थी। कभी कभी वकील साहब अपनी पत्नीसे भी वादविवाद कर बैठते थे। ईश्वर केवल ढोंग है—स्वभावसे ही सब कुछ होता है—ऐसा जबरन अपनी पत्नीके समक्ष सिद्ध कर देते थे। तथापि पत्नी बडी श्रद्धालु एवं आस्तिक थी। वह नम्रतासे कह देती थी कि—आप कुछ भी मानें, परन्तु मैं भगवान्‌को माने विना नहीं रह सकती। भगवान्‌की भक्ति ही मेरा जीवन है।

मैं तो वेद, गीता, उपनिषद् भागवत आदि शास्त्रोंके उपदेशोंमें पूरा विश्वास रखती हूँ। आपके खोखले शुष्क तर्कोंको सुनकर अपनी आस्तिकतामें मैं न्यूनता नहीं आने दूँगी।

उस वकीलको तीन पुत्र एवं एक कन्या थी। वे चारों संतान भी माताके समान आस्तिक थे, गीता-विष्णुसहस्रनाम आदिके पाठ करते थे, पञ्चाक्षर-महामन्त्रका जप भी करते थे। अपनी माताकी आस्तिकताका प्रभाव इन बच्चों पर पड गया, परन्तु मेरी नास्तिकताकी कुछ भी असर इन बच्चों पर नहीं पडी, यह देखकर कभी कभी वकील महोदय, पितृत्वके गर्वसे बच्चों पर खीज उठते थे, एवं अपना स्वभाववाद समझानेकी कोशिश भी करते थे।

एक रोज बुद्धिमान् बडे लडकेने पिताके स्वभाववादके खण्डन करनेकी एक युक्ति सोची। उसने पिताके मेजपर दिनमें एक कोरा सफेद कागज रक्खा; और रात्रिमें उस कागज पर वंशीवादन करते हुए-त्रिभंगललित--श्याम सुन्दर भगवान् श्रीकृष्णका एक बहुत ही सुन्दर रंगीन चित्र बनाकर उसे दूसरे दिन मेजपर रख छोडा। पिता यह चित्र देखकर बडा प्रसन्न हुआ, और पूछने लगा कि-यह किसने बनाया है? बडे लडकेने प्रथमसे ही अपने सभी भाई एवं बहिनको समझा रखा था कि--पिता पूछे तो कहना कि--हमने नही बनाया-किसने बनाया, यह हम नहीं जानते। बडे लडकेने भी कहा—पिताजी! मुझे भी मालुम नहीं है कि-इस सुन्दर रंगीन चित्रको किसने बनाया है। पिताको आस्तिक-ईश्वर-विश्वासी बनानेके लिए बडे लडकेका यह झूठ बोलना, झूठ नहीं माना जा सकता, किन्तु सत्यही माना जायगा। अत एव महाभारतमें कहा है-'सत्यं

भूतहितं प्रोक्तं।' सत्य वह है--जो प्राणियोंका हितकारी हो, प्राणियोंका अहित करनेवाला सत्य, सत्य नहीं रहता किन्तु झूठ हो जाता है।

पिताने खीजकर कहा--जब तुम्हारेमेंसे किसीने यह चित्र नहीं बनाया है तो यह बनाया किसने? बडे लडकेने गंभीर होकर नम्रतापूर्वक पितासे कहा--पिताजी! मुझे आपके स्वभाववादके अनुसार ऐसा निश्चय होता है कि--अपने मकानके सामने रंगवालेकी दुकान है--वहाँसे विविध प्रकारके रंग पवनसे उड उडकर इस कागज पर चिपक गये होंगे, एवं स्वभावसे ही यह श्रीकृष्णका रंगीन चित्र बन गया होगा।

'अरे! क्या तू मुझे बनाता है? ऐसा क्या कभी कुछ हो सकता है? ऐसी असंभव बात तो किसी बुद्धिहीन गंवारको समझाना, परन्तु मैं बडी बडी कोर्टोंमें जजोंके (न्यायाधीशोंके) समक्ष बहस करनेवाला विख्यात वकील हूँ--उसको ऐसी खोखली बात नहीं समझा सकता।' ऐसा पिताने बडे गर्वके साथ कृत्रिम हास्य करते हुए कहा।

बडे लडकेने पुनः विनयके साथ कहा--पिताजी! जब इतने बडे विचित्र जगत्की अद्भुत रचना--जो बडे बडे बुद्धिमानोंको भी आश्चर्यमें डाल देती है--चेतन सर्वसमर्थ परमेश्वरके विना, स्वभावसे ही आपके मतके अनुसार हो सकती है--तो इस कागज़का चित्र भी किसी बुद्धिमान् चित्रकारके विना स्वभावसे हो जाय तो इसमें असंभवकी क्या बात है?।

लडकेको युक्तियुक्त बात सुनकर पिता वकील विचारमें पड गया। उसकी निपुण-बुद्धि भीतर ही भीतर स्वभाववादका खण्डन एवं ईश्वरवादका समर्थन करने लगी। जब एक साधारण चित्र, किसी चेतन

कलाकारसे बनाये विना नहीं वनता है, तो इस अद्भुत विशाल जगत्की आश्चर्यमयी रचना सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ-परमेश्वरके विना कैसे हो सकती है? नहीं हो सकती। यह हमारे शास्त्रोंका सिद्धान्त यथार्थ है। मैं अपनी मूर्खतावश स्वभाववादका आग्रही बन गया था। इसलिए स्वभाववाद भ्रान्त है, यथार्थ नहीं। ईश्वरवाद ही प्रामाणिक है, और युक्तिसंगत है।

इस प्रकारके विचारमें मग्न हुए अपने पतिके सामने आकर-वकील साहबकी धर्मपत्नी—जो गृहके एक कोनेमें छिपकर पितापुत्रका संवाद सुन रही थी—प्रेमसे हँसती हुई कहने लगी—अब आप कृपया इस स्वभाववादकी पूँछ पकडना छोड दीजिए, एवं परमेश्वरकी महान् सत्तामें-जिसके द्वारा इस समग्र विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति एवं विलय हुआ करता है—विश्वास रखिए। प्रेमसे उस भगवान्के पावन नामका जप कीजिए, बडे बडे वीतराग विद्वान् महात्माओंके शास्त्रीय प्रवचनोंको श्रद्धाके साथ सुनिए एवं अपने मानव जीवनको सफल बनाइए।

अपनी पत्नीका ऐसा उपदेश सुनकर वकील साहब अञ्जली बांधकर नत मस्तक हुए। और लडके एवं पत्नीके समक्ष अपनी गल्तीको स्वीकार कर 'आजसे मैं उस विश्वनियन्ता भगवान्में विश्वास रक्खूँगा, और यथाशक्ति उस परमेश्वरकी पावन भक्ति भी करता रहूँगा।' ऐसी वकील महोदयने प्रतिज्ञा की।

अतएव जगद्गुरु भगवत्पाद आचार्यश्री शंकरस्वामीने केनोपनिषत्के वाक्य-भाष्यमें ईश्वरकी सिद्धिके लिए इसप्रकार कहा है—

'तत्सिद्धिर्जगतो नियतप्रवृत्तेः। श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिभिर्नित्यसर्वविज्ञान ईश्वरे सर्वात्मनि सर्वशक्तौ सिद्धेऽपि, शास्त्रार्थ-

निश्चयार्थमुच्यते। तस्येश्वरस्य सद्भावसिद्धिः कुतो भवतीत्युच्यते। यदिदं जगत्, देवगन्धर्वयक्षरक्षःपितृपिशाचादिलक्षणं, द्युवियत्पृथिव्यादित्यचन्द्रग्रहनक्षत्रविचित्रं, विविधप्राण्युपभोगयोग्यस्थानसाध्यसम्बन्धि, तत्, अत्यन्तकुशलशिल्पिभिरपि दुर्निर्माणं, देशकालनिमित्तानुरूपनियतप्रवृत्तिनिवृत्तिक्रमं, एतद्भोक्तृकर्मविभागज्ञप्रयत्नपूर्वकं भवितुमर्हति, कार्यत्वे सति यथोक्तलक्षणत्वात्, गृहप्रासादरथशयनासनादिवत् विपक्ष आत्मादिवत्।'

यद्यपि नित्यसर्वविज्ञानस्वरूप, सर्वात्मा, सर्वशक्तिमान् ईश्वर, श्रुति-स्मृति और लोकप्रसिद्धिसे सिद्ध भी है, तो भी शास्त्रके अर्थको निश्चय करनेके लिए यहाँ यह अनुमान-प्रमाण कहा जाता है। उस ईश्वरके सद्भावकी सिद्धि, युक्तिसे किस प्रकार होती है? इसलिए कहते हैं—स्वर्ग, आकाश, पृथिवी, सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रोंके कारण विचित्र दीखनेवाला, तथा नानाप्रकारके प्राणियोंके उपभोग योग्य स्थान और साधनोंसे सम्बन्ध रखनेवाला, यह—देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और पिशाचादिरूप (समष्टि—ब्रह्माण्ड एवं व्यष्टि—पिण्डात्मक) जगत् है, वह अत्यन्त निपुण शिल्पियों द्वारा भी बनाया जाना बडा कठिन है। अतः यह देश काल और निमित्तके अनुरूप-नियमित प्रवृत्ति-निवृत्तिके क्रमवाला जगत्, भोक्ता जीवोंको और उनके शुभाशुभकर्मोंके विभागको यथावत् जाननेवाले-किसी चेतनके प्रयत्नपूर्वक ही उत्पन्न हो सकता है, क्योंकि—कार्यरूप होनेके कारण यह उपर्युक्त लक्षणोंवाला है। जैसे गृह, प्रासाद, (महल) रथ, शय्या और आसन आदि सभी कार्यरूप अनित्य पदार्थ, उनके ज्ञाता कर्ता चेतनके व्यापारपूर्वक ही देखे जाते हैं। तथा

इसके विपरीत (व्यतिरेकी दृष्टान्तरूप) आत्मा आदि (नित्य-पदार्थ) हैं।

आप इन शरीरोंकी ही रचनाओंको देखिए। कैसी कैसी विलक्षण अद्भुत-रचना, प्रत्येक शरीरमें दिखाई देती है। वन्य-पशुपक्षिशाला (चिडियाघर) जो बम्बई, मद्रास, कलकत्ता, त्रिवेन्द्रम आदि बडे बडे नगरोंमें हुआ करती है-जाकर देखें। देशदेशान्तरके आश्चर्यमें डालने-वाले, कई प्रकारके बन्दर, भालू, बाघ, सिंह आदि पशुओं और रंग-बिरंगे विविध--जातिके पक्षियोंको देखकर सहसा नास्तिकके मुखसे भी 'वाहरे वाह! ईश्वर तेरी अपार लीला' ये वचन निकल पडते हैं। प्रत्येक शरीरकी विलक्षण विलक्षण आकृति है--एक दूसरेसे नहीं मिलती। एक ही मातापितासे उत्पन्न होनेवाले दोनों भाईयोंके मुखका भी निरीक्षण कीजिए-सादृश्य होनेपर भी कुछ न कुछ वैलक्षण्य अवश्य रहेगा। एवं प्रत्येककी आवाज भी पृथक् पृथक् ही रहती है-एक दूसरेसे मेल नहीं खाती। हस्ताक्षर भी सबके विलक्षण ही होते हैं-यदि उनमें अपनी अपनी खास विलक्षणता न रहे तो बैंकवालोंके लिए मुश्किल हो जाय। इस प्रकारकी अनेकविध रचनाएँ उस जगन्नियन्ता सर्वज्ञ परमेश्वरके सद्भावको सिद्ध किये विना नहीं रहतीं।

एक छोटीसी पानीकी बूंदसे-यह कैसा विलक्षण-चेतना-स्फुर्तिवाला-आँख-नाककान आदि अंगोपांगवाला-बोलनेवाला-सुननेवाला-देखनेवाला-रोनेवाला-हँसनेवाला, खानेवाला, पीनेवाला-मेरीतेरी करनेवाला-कभी बाल्य, कभी यौवन, कभी वार्धक्य दशाओंका अनुभव करनेवाला-यह रामदेव-कृष्णदेव, किस प्रकार पैदा हुआ-किस शक्तिने इसका निर्माण किया? इत्यादि विचार करनेपर बुद्धि कुण्ठित हो जाती है। परमेश्वरकी

उस निर्माणकारी अद्भुत शक्तिके समक्ष मस्तक झुका देना पडता है अतएव पंचदशीके चित्रदीप प्रकरणमें विद्यारण्य स्वामीने कहा है कि—

'एतस्मात्किमिवेन्द्रजालमपरं यद्गर्भवासस्थितं,
रेतश्चेतति हस्तमस्तकपदप्रोद्भूतनानाङ्कुरम्।
पर्यायेण शिशुत्वयौवनजरावेषैरनेकैर्वृतं,
पश्यत्यत्तिशृणोतिजिघ्रति तथा गच्छत्यथागच्छति॥'
(६।४७)

इससे वढ़कर इन्द्रजालके समान आश्चर्यकारो दृश्य और क्या होगा? जो वीर्य (एक प्रकारका जड प्रदार्थ) कुछ समयतक गर्भवासमें अवस्थित होकर चेतन बन जाता है, इससे हस्त, मस्तक, पद आदि अनेक प्रकारके पृथक् पृथक् आकारवाले अवयवरूप अङ्कुर उत्पन्न हो जाते हैं। जो पश्चात् शरीररूपसे प्रकट होकर क्रमशः बाल्य, यौवन एवं वार्धक्य अवस्थाओंको प्राप्त होता है, और देखता, खाता, सुनता, सूँघता, जाता तथा आता है।

किसी समय देवर्षि नारदबाबा विणा बजाते—मस्तीसे झुमते हुए मधुर स्वरसे प्रेमसे हरिगुण गाते—इधरउधर भ्रमण करते हुए—कौरवोंकी सभामें गए। दुर्योधनादि कौरवोंने नारदजीका स्वागत किया—आसन-पर बिठाया और पूछने लगे—कहिए नारदजी महाराज! आपका आगमन किधरसे हो रहा है? नारदजी बोले—खास तो मैं द्वारकाजीसे आरहा हूँ—इधरउधर घुमता हुआ—आप लोगोंके दर्शनके लिए यहाँ पहूँच गया। दूर्योधनने कहा—अच्छा, आप द्वारकासे आ रहे हैं, तब तो बतलाइयेगा कि—वह द्वारकावासी श्रीकृष्ण इस समय क्या कर रहा

है ? नारदजीने—जो उस समय भगवान्की सृष्टिके दिव्य सौन्दर्यका विचार कर रहे थे—तुरन्त ही कह डाला कि—जब मैं वहाँ गया था—तब भगवान् विश्वनियन्ता-प्रभु-आनन्दकन्द-श्रीनिवास-सर्वेश्वर-अन्तर्यामी-श्रीकृष्णचन्द्र सूईके छिद्रसे हाथी निकाल रहे थे, एवं छोटीसी गागरमें सागर भर रहे थे।

नारदजीकी बात सुनकर कौरवलोग बडे जोरोंके साथ ठहाका मारकर हँसते हुए कहने लगे कि—बिल्कुल झुठ, ऐसा कैसे हो सकता है ? असम्भव, कोरी गप्प है। दुःशासन अपने मामा शकुनिके कानमें मुख लगाकर कहने लगा—ये बाबा लोग बडे गप्पी होते हैं। इन लोगोंने उस द्वारकावासी कृष्णको परमेश्वर बना दिया है—इसलिए वे लोग कृष्णके विषयमें ऐसी बे—सिरपैरकी गप्पें अफीमचीकी तरह हाँका करते हैं। कौरवलोग नास्तिक—से थे, आसुरी सम्पतिके उपासक थे; इसलिए वे, श्रीकृष्ण कौन है ? उसका वास्तविक स्वरूप क्या है ? नहीं जानते थे। नारदजी कौरवोंकी ऐसी बातें सुनकर—गुपचुप वहाँसे उठकर पाण्डवोंके यहाँ चले गये। पाण्डव लोग बडे आस्तिक, धार्मिक, परोपकारी एवं श्रीकृष्णानुरागी थे। नारदजीको आते हुए देखकर युधिष्ठिरादि सभी पाण्डव खडे हो गये। बडी श्रद्धासे नारदजीका स्वागत किया। नारदजीके दर्शन—लाभसे अपने भाग्यकी प्रशंसा करने लगे। पाद्य—अर्घ्य देकर बडे आदरके साथ नारदजीको ऊँचे आसनपर बिठाया। कुशलता पूछकर आगमनका प्रश्न किया। नारदजीने वही उत्तर दिया—जो कौरवोंकी सभामें दिया था। द्वारकाजीसे नारदजीका आगमन सुनकर पाण्डव और भी प्रसन्न हुए। पाण्डवोंने भी कौरवोंके समान

अपने हितकारी परम प्रिय श्रीकृष्णका समाचार पूछा एवं नारदजीने वही उत्तर कह सुनाया ।

सुनकर युधिष्ठिर महाराज कहने लगे—भगवान् श्रीकृष्ण अनन्त-शक्तिमान्--**कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थः** (कोई भी कार्य--लोकमें जिसे अशक्य एवं असंभव माना जाता है—करनेके लिए, नहीं करनेके लिए एवं उलटा करनेके लिए समर्थ) हैं । जिसे, हम भगवान् मानते हैं--परमेश्वर कहते हैं—उनके लिए क्या असंभव है ? संभव असंभवकी बातें तो अल्पशक्ति--जीवके विषयमें लागू हो सकती हैं, परन्तु ईश्वर--विश्वनियन्ताके लिए संभवका भी कभी असंभव एवं असंभव भी संभव हो जा सकता है ।

> 'यो वा अनन्तस्य गुणाननन्तान्,
> अनुक्रमिष्यन् स तु बालबुद्धिः ।
> रजांसि भूमेर्गणयेत् कथञ्चित्,
> कालेन नैवाखिलशक्तिधाम्नः ॥'
> (श्रीमद्भा० ११।४।२)

भगवान्की सामर्थ्य अनन्त है, अत एव उनके कार्यरूपी अनन्त गुण भी अनन्तसामर्थ्यसे युक्त ही प्रतीत होते हैं । उनकी गणना कर जो अन्त लेना चाहता है, या अनन्त—सामर्थ्यका जो शुष्क तर्कोंके द्वारा अतिक्रमण करता है अर्थात् 'ऐसा नहीं हो सकता है' ऐसा अपलाप करता है--वह बालबुद्धि है, अर्थात् नितान्त-मूर्ख है । यद्यपि कोई विशिष्ट सामर्थ्यवाला मानव, किसी भी प्रकारसे कुछ कालमें पृथिवीके रजःकणोंकी गणना करना चाहे, तो वह कर सकता है, तथापि

निखिल--विचित्र अनन्त शक्तियोंके पूर्ण-भण्डाररूप भगवान्की अलौकिक अनन्त रचना–नैपुण्योंकी गणना वह नहीं कर सकता है।

उस समय भीमसेनने विनयके साथ नारदजीसे कहा--भगवन्! कृपानिधान! हम तों आप जैसे सन्तोंके एवं भगवान्के प्रेमी हैं--आप महाराज जो कुछ भी कहेंगे, उसे श्रद्धापूर्वक मान ही लेंगे। परन्तु कृपया भगवान्की उस अद्भुत लीलाका कुछ रहस्य तो समझाइये।

प्रसन्न होकर श्रीनारदजी रहस्य समझाने लगे कि--सूईके छिद्रसे हाथी नीकालनेकी भगवदीय-लीला, आप प्रत्येक प्राणीकी चक्षुओंमें देख-सकते हैं। जिसको साधारण लोग चक्षु कहते हैं--वह चक्षु नहीं है, किन्तु चक्षुका गोलक है--वह देखा जा सकता है--परन्तु उसके अन्दर जो चक्षु--इन्द्रिय है--वह अतीन्द्रिय है–अर्थात् देखी नहीं जा सकती। वह वालाग्रके शतभागसे भी अत्यन्त सूक्ष्म है, किन्तु--आप उस चक्षु इन्द्रियकी इतनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म--प्रभाके द्वारा बडे बडे खगोल--भूगोल, समुद्र पर्वत आदि पदार्थोंको देखते हैं, आंख खोलनेके साथ ही उसकी इतनी सूक्ष्म--प्रभा इन बडे बडे पदार्थोंसे सम्बद्ध होकर उनका प्रत्यक्ष दर्शन करा देती है। यदि प्रभाका उन पदार्थोंसे सम्बन्ध न हो तो उनका प्रत्यक्ष ही नहीं हो सकता। अतएव दार्शनिक–विद्वानोंने यह नियम बना रक्खा है कि--

'सम्बद्धं वर्तमानञ्च गृह्यते चक्षुरादिना।'

चक्षु आदि इन्द्रियोंसे-सम्बद्ध एवं वर्तमान पदार्थोंका ही ग्रहण होता है–असम्बद्ध एवं अवर्तमान पदार्थको वे नहीं ग्रहण करतीं।

इस प्रकार गागरमें सागर भरनेकी भगवान्की आश्चर्यमयी लीला

आप इन मानवोंकी बुद्धियोंमें देख सकते हैं। एक मानवको भगवान्‌की तरफसे एक लक्ष वर्षकी आयु मिले, वह अपनी समग्र आयु-भर रात्रि-दिन अनेक प्रकारकी अनन्त-विद्याओंका उपार्जन करता हुआ अपनी छोटीसी बुद्धिरूपी गागरमें उन्हें भरता जाय, परन्तु वह गागर, इन अनन्त शब्द-अर्थ ज्ञान एवं रहस्यरूप वारिधियोंसे कभी पूरी नहीं भरेगी।

देवर्षि नारदजीके श्रीमुखसे भगवान्‌की उस अद्भुत लीलाका रहस्य सुनकर पाण्डव बडे प्रसन्न हुए एवं धन्य धन्य कहने लगे।

अन्तर्यामी विश्वनियन्ता परमेश्वरकी जगत्‌में दिखाई देनेवाली ये अपार आश्चर्यमयी लीलाएँ, एवं सृष्टि-सौन्दर्य उस भगवान्‌का परिचय प्राप्त करनेके लिए है। श्रुति कहती है–'**तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय**' (ऋ. ६।४७।१८) उसका यह विचक्षणरूप, उसके सृष्टाका प्रति-चक्षण (विशेष-अनुभव)के लिए है। परन्तु मूढ मानव '**आराममस्य पश्यन्ति, न तं पश्यति कश्चन।**' (बृ० उ० ४।३।१४) लोग, उस भगवान्‌का बनाया हुआ इस जगतरूपी बगीचाको तो देखते हैं– परन्तु इसके निर्माताको नहीं देखते-न देखना चाहते हैं–जिसकी सत्ता एवं सौन्दर्यसे इसका अस्तित्व (आबादी) है, और इसमें सुन्दरता है। उस आबादी एवं सुन्दरता देनेवाले-परमेश्वरको नहीं जानते, नहीं मानते, यह बडी आश्चर्यकी बात है।

लोग हीरेकी बढिया अंगुठी पहिनकर बडे प्रसन्न हो जाते हैं, तेल फुलेल लगाकर बालोंकी 'फर्स्ट क्लास' लटियाँ-पटिया बनाकर-दर्पणमें उन्हें देखते हुए फूले नहीं समाते हैं, जरीकी सुन्दर रेशमी पगड़ी पहनकर बडे गौरवका अनुभव करते हैं, यद्यपि वर्तमान समयमें माथेकी

पगडियाँ उड़कर मकानोंके ऊपर बैठ गई हैं, क्योंकि-पगडी[1] दिये विना मकान नहीं मिला करते। तथापि प्राचीन समयमें लोग पगडियाँ बडे गौरवके साथ पहिनते थे। कहीं कहीं प्राचीन ख्यालात वाले बडे-बूढोंके सिरपर इस समय भी दिखाई पडती हैं। परंतु अंगुठीकी शोभा अंगुठीसे नहीं है, किन्तु अंगुलीसे है, अंगुठी बनानेवालेकी तो प्रशंसा की जाती है-परन्तु अंगुली बनानेवालीकी प्रशंसा करना भूल जाते हैं, एवं बालोंकी शोभा बालोंसे नहीं है, किन्तु सिरसे है, ये ही बाल काटकर सिरसे अलग किये जाँय, तो इसकी शोभा तुरन्त गायब हो जाती है। **'स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते, दन्ताः केशाः नखाः नराः।'** अपने स्थानसे भ्रष्ट हुए दांत, केश, नख एवं मनुष्य शोभासे रहित हो जाते हैं। इस प्रकार पगडीकी शोभा शिरसे है; रत्नजडित सौवर्ण-कंकणों (चुडियों)की शोभा हाथोंसे है। परन्तु लोग सिर, हाथ, नाक, कान आदि अवयवोंमें शोभा देनेवाले उस परम सुन्दर भगवान्‌को भूल जाते हैं। यही उनकी मूढता है-जो असली सत्यं शिवं सुन्दरं वस्तुको भूलकर नकली-क्षणमें बिगड जानेवाली तुच्छ वस्तुओंके पीछे पागल बने हुए हैं।

संसार दो प्रकारका है, एक ईश्वर-सृष्ट एवं दूसरा जीवसृष्ट। ईश्वरसृष्ट संसार आनन्दमय है,सं=सम्यक् साररूप है। जीव-सृष्ट संसार-अनेकविध मनः संकल्पित-सुखदुःखादि-द्वन्द्वोंके एवं रागद्वेषादि-क्लेशोंके संसरण (आवागमन)से युक्त है। अयुक्त मनके तुच्छ भावोंमें आसक्त होकर शोक-मोहादिरूपसे सतत-संसरण करना ही भ्रान्त-जीवोंका

---

१ बम्बई आदि बडे बडे नगरोंमें मकान मालिकको किरायेके अतिरिक्त घूँसके रूपमें जो रकम दी जाती है, उसको पगडी कहते हैं।

कल्पित दुःखमय संसार है। सम्यक् प्रकारसे अर्थात् सत् चित् आनन्द-रूप (अस्ति-भाति-प्रियरूप)से संसारको ग्रहणकर सम्यक् सारभूत ब्रह्मात्मतत्त्वका सर्वत्र अन्तर्बहिः दर्शन करना, उसमें तन्मय होजाना तत्त्वदर्शियोंका आनन्दपूर्ण संसार है।

इसलिए हमारी उपनिषदोंने मृत्तिका, विस्फुलिङ्ग (चिनगारी) आदिके अनेक उदाहरणोंके द्वारा-उस परब्रह्मसे ही समस्त संसारकी उत्पत्ति, स्थिति एवं विलयका प्रतिपादन, उस साररूप संसारका अधिष्ठान परमात्माका अवबोध करानेके लिए ही किया है। नामरूपात्मक कल्पित सृष्टिके निरूपणका यही तात्पर्य है, अन्य कोई तात्पर्य नहीं। अतएव गौडपादाचार्यजी माण्डूक्योपनिषत्की कारिकामें कहते हैं कि—

'मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टि र्या चोदिताऽन्यथा।
उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथञ्चन॥'
(अद्वैतप्रकरण० ३। १५)

उपनिषदोंमें जो मृत्तिका लोहा एवं विस्फुलिङ्गादि-दृष्टान्तों द्वारा भिन्न भिन्न प्रकारसे सृष्टिका निरूपण किया है, वह मुमुक्षुओंके हृदयमें ब्रह्माद्वयके अवबोध प्रकट करनेका उपाय है। वस्तुतः सृष्टिके प्रति-पादनका ब्रह्मबोधसे अतिरिक्त अन्य कुछ भी तात्पर्य माना नहीं जा सकता।

अतएव हमारी परम-प्रामाणिक वेदोंकी संहिताओंमें भी उस विश्वसृष्टा-नियन्ता विभु-विश्वात्मा परमेश्वरको ही एकमात्र स्तुत्य एवं आराधनीय कहा है—

'ॐ तवेमाः प्रजाः दिव्यस्य रेतसः,
त्वं विश्वस्य भुवनस्य राजसि।

अथेदं विश्वं पवमान ! ते वशे,
त्वमिन्दो ! प्रथमो धामधा असि ॥'
(ऋ० ९।८६।२८)

हे पवमान !=परमपवित्र भगवन् ! हे इन्दो !=परमशान्त सर्वात्मन् प्रभो ! तेरी दिव्यशक्तिसे ही यह स्थावर जंगमरूप समस्त प्रजा उत्पन्न हुई है। अतएव तू ही अखिल भुवनका राजा=स्वामी है, और यह निखिल विश्व तेरे वशमें है, तू ही इसका नियन्ता है। इसलिए तू ही इस सबमें प्रथम=मुख्य सारतत्त्व है; और तू ही अखण्ड स्वयंप्रकाश दिप्तिका धारणकर्ता है।

'ॐ इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः,
इन्द्रो अपामिन्द्र इत्पर्वतानाम्।
इन्द्रो वृधामिन्द्र इन्मेधिराणा-
मिन्द्रः क्षेमे योगे हव्य इन्द्रः ॥' (ऋ० १०।८९।१०)

इन्द्र-परमात्मा, स्वर्गलोक तथा पृथिवीलोकका भी नियन्ता-शासक है, तथा इन्द्र-भगवान् जलोंका या पाताल-लोकका तथा पर्वतोंका भी नियन्ता है। इन्द्र-परमेश्वर स्थावर (जड) जगत्का तथा मेधा-(बुद्धि) वाले चेतन-जगत्का भी नियन्ता है। अतएव वह सर्वसमर्थ सर्वेश्वर महान् इन्द्र हमारे योग एवं क्षेम सम्पादन करनेमें समर्थ है, इसलिए वही हमसे आह्वान एवं यजन (आराधन) करने योग्य है।

यहाँ योगका अर्थ है—अप्राप्त-अभीष्टकी प्राप्ति, तथा क्षेमका अर्थ है—प्राप्तका परिरक्षण। वह योगक्षेम लौकिक एवं पारमार्थिक रूपसे दो प्रकारका है। लौकिक योगक्षेम-इस लोकमें शरीरनिर्वाहादिके लिए

अभीष्ट-अप्राप्त-धनादिकोंकी प्राप्ति कराना, तथा उस प्राप्त धनादिकोंका रक्षण करना। पारमार्थिक योगक्षेम है—अप्राप्त ब्रह्मविद्या एवं उसके साधन भक्ति-विवेकवैराग्यादिकी प्राप्ति कराना तथा मुक्तिरूप फलकी सिद्धि पर्यन्त उस प्राप्त साधनोंका परिरक्षण करना।

अतएव सर्व प्रकारकी रक्षाके लिए एवं कल्याणके लिए एकमात्र उस परमात्माकी ही श्रद्धा भक्तिपूर्वक आराधना करनी चाहिए—

'ॐ तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं,
धियं जिन्वमवसे हूमहे वयं।
पूषा नो यथा वेदसामसद्वृधे,
रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये॥'
(शुक्लयजुर्वेद० २५।१८)(ऋ० १।८९।५)

वह भगवान् स्थावर-जंगमरूप समस्त विश्वका पति है, रक्षक है, परमेश्वर है। स्वशरणागत भक्तकी बुद्धिको सदा सन्तुष्ट रखता है। अथवा वह सुमति एवं सुकर्मोंसे प्रसन्न करने योग्य है। उस सर्वेश्वर विश्वात्मा भगवान्‌को हम अविद्यादि-क्लेश एवं तज्जनित-भयोंसे स्वरक्षणके लिए पुकारते हैं। यद्वा परिपूर्ण ब्रह्मानन्दानुभवसे समुद्भूत निरङ्कुश-तृप्ति-लाभके लिए बुलाते हैं। वह परमात्मा पूषा है—अर्थात् लौकिक पारलौकिक एवं पारमार्थिक पुष्टियोंका विधाता है। स्वास्थ्य-धनादि लाभका नाम लौकिक पुष्टि है। पुण्यलाभ पारलौकिक पुष्टि है। एवं अनन्य-भक्ति-वैराग्य तथा ब्रह्मविद्या पारमार्थिक पुष्टि है। वह लौकिक धनादि सम्पत्तिका एवं तत्कृपालभ्य-अभय सत्त्वसंशुद्ध्यादि दैवी सम्पत्तिका भी रक्षक है। और वह अधर्मध्वंसके द्वारा शाश्वतधर्मका एवं दुष्ट-ध्वंसके द्वारा सज्जन

भक्तका पालक है। वह प्रभु-भगवान्, किसी भी बडे बलवान् राक्षसादि —विरोधियोंके द्वारा कभी भी पराजित नहीं होता। वह परमात्मा जिस प्रकारसे हो उस प्रकार—हमारे ऐहलौकिक सुखसम्पत्तिके अभ्युदयके लिए एवं पारमार्थिक-निःश्रेयसरूप-कल्याणके लिए अनुकूल हो-प्रसन्न हो; इसके लिए हम सदा परमप्रीतिसे एवं सात्त्विकी श्रद्धासे उस भगवान्का आह्वान करते हैं।

जिस भगवान्की हम स्तुति एवं आराधना करते हैं–वह भगवान् हमसे दूर नहीं। वह हममें है, एवं हम उसमें हैं। वही सर्वेश्वर साकार—विग्रहसे भक्तोंके सामने आता है—निराकार रूपसे समग्र विश्वमें व्याप्त रहता है, एवं साक्षी चिदात्मारूपसे समस्त प्राणियोंके हृदयोंमें रहता है। अतएव किसी भक्तने कहा है—

'मैं जानूँ हरि दूर है, हरि है हृदयके माँहि।
आडी टाटी कपटकी, तासे दिखत नाँहि॥'

हम भ्रान्तिवश समझते हैं कि—हरि-परमात्मा हम से दूर होगा। जिस प्रकार ईसाई एवं यवन मतवाले कहते हैं कि—हमारा खुदा या 'गोड' हमसे लाखों करोडों कोस वहुत दूर सातमें आसमानमें रहता है। उस प्रकार हमारा भगवान् हमसे दूर नहीं-वह हाजराहजूर है, सर्वत्र भरपूर है। हृदयके भीतर बैठा है। अपना-आप है।

यदि आप कहें कि—जब वह सर्वत्र है-हमारे ही घरमें बैठा है-तो हमें दीखता क्यों नहीं?। **'सब जगह मौजूद—लेकिन क्यों नजर आता नहीं?।'** इसका उत्तर है—

'आडी टाटी कपटकी तासे दीखत नाहीं।'

हृदयमें अविद्यारूप कपटके अनेक प्रकारके मल, विक्षेप एवं आवरणरूप प्रतिरोधक टट्टर लगे हुए हैं, इसलिए वह शेवालसे जलकी भाँति विद्यमान होने पर भी दीखता नहीं। जब तक हम इन प्रतिरोधोंको दूर न करें, तबतक उसका दर्शन दुर्लभ है।

एक डब्बेमें गदला जल भरा हुआ है। उसको वृक्षकी एक ऊँची डालीपर एक काले कपडेसे ढककर टांग रक्खा है। वहाँ पवनके प्रचण्ड झोंकोंसे वह जोरोंसे हिल रहा है। अब डब्बेके जलमें सूर्य-भगवान्का दर्शन नहीं हो सकता। क्योंकि-उसमें तीन प्रकारके प्रतिरोध हैं—एक पानी मैला है, दूसरा क्षण क्षणमें हिल रहा है, तीसरा काले कपडेसे ढका है। जबतक इन तीनों प्रतिरोधोंको दूर न किया जाय, तबतक सूर्यका दर्शन दुर्लभ है। प्रथम आपको मैला पानी शुद्ध करना होगा, पश्चात् डब्बेको स्थिर बनाना होगा, इतना करनेपर भी जबतक उस ढके हुए काले कपडेको न हटावें, तबतक उस स्वच्छ एवं स्थिर जलमें भी सूर्य-दर्शन नहीं होता, इसलिए उस काले कपडेको भी हटाना होगा। जब डब्बेका जल, शुद्ध (मैलरहित) स्थिर (अचञ्चल) एवं काले कपडेका आवरणरहित होजाता है, तब उसमें अनायास ही भगवान् सविता देवका स्पष्ट दर्शन होजाता है।

इसप्रकार वह डब्बा हमारा यह हृदय है। उसमें बुद्धिरूपी जल भरा है; परन्तु वह जल, अनादिकालसे पापोंकी घृणित वासनाओंके द्वारा मैला बन गया है। वह हृदयरूपी डब्बा संसाररूप अश्वत्थ वृक्षकी शाखामें टंगा हुआ है। वहाँ उसमें शब्दादि-विषयोंकी आसक्तिरूपी-पल पलमें लगनेवाले पवनके थपेडोंसे वह उद्विग्नसा बना रहता है। और

इसपर अनादि अविद्याका आवरण लगा हुआ है। इसप्रकार हृदयमें अवस्थित उस सर्वात्मा सर्वेश्वर भगवान्के दर्शनमें अन्तराय डालनेवाले मल विक्षेप एवं आवरणरूपी तीन टट्टर लगे हुए हैं। अतएव इन तीन प्रतिरोधोंके निवारणके लिए-हमारे वेदादि-शास्त्रोंने कर्म, उपासना एवं ज्ञानरूप तीन साधनोंका आदेश दिया है।

इसलिए प्रथम आप परमेश्वर प्रीत्यर्थ—निष्काम भावसे किए हुए शुभ-कर्मोंके अनुष्ठान द्वारा मल-दोषको निवारणकर हृदयको शुद्ध-निर्मल बनावें। पश्चात् श्रद्धाभक्तिपूर्वक भगवान्की उपासनाके द्वारा विक्षेप दोषको हटाकर हृदयको एकाग्र एवं प्रसन्न बनावें। तदनन्तर श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ-सद्‌गुरुके शरणमें जाकर उपनिषदादि वेदान्तके श्रवण, मनन एवं निदिध्यासनके द्वारा तत्त्वविज्ञान सम्पादनकर अविद्याऽऽव-रणको निवारण करें। जिस प्रकार मकानमें बिजलीकी बराबर फिटिंग एवं पावरहाउससे कनेक्शन होजानेपर केवल बटन दबानेपर अतिशीघ्र विद्युतका समुज्वल प्रकाश फैल जाता है—इस प्रकार पूर्वोक्त तीन साधनोंके द्वारा इन—तीन प्रतिरोधोंकी यथावत् निवृत्ति होजानेपर तत्सम-कालमें ही नित्य—शुद्ध—बुद्ध—मुक्त—असंग—पूर्णानन्दनिधि ब्रह्माद्वय परमात्माका साक्षात्कार होजाता है। ऐसा साक्षात्कार सम्पन्न पुरुष जीवन्मुक्त होजाता है। वह महापुरुष अपने अनुभवके उद्गार इस प्रकार प्रकट करता है—

'पश्यामि चित्रमिव सर्वमिदं द्वितीयं,
तिष्ठामि निष्कलचिदेकवपुष्यनन्ते।
आत्मानमद्वयमनन्तसुखैकरूपं,
पश्यामि दग्धरशनामिव च प्रपञ्चम्॥'

'अद्वैतमप्यनुभवामि करस्थबिल्व-
तुल्यं शरीरमहिनिर्लयनीवदीक्षे ।
एवं च जीवनमिव प्रतिभासमानं,
निःश्रेयसोऽधिगमनं च मम प्रसिद्धम् ॥'

(सर्वज्ञात्ममुनिप्रणीत–संक्षेपशारीरिक० ४ । ५४–५५)

मैं अब इस समस्त द्वैत जगत्को चित्रके सदृश-वितथ देखता हूँ। जिस प्रकार व्याघ्रादिके चित्रको देखनेपर उसमें वास्तविकताका ज्ञान न होनेके कारण भयादि नहीं होते, उस प्रकार इस द्वैत-नामरूपात्मक जगत्में दृढतर मिथ्यात्वका निश्चय होनेके कारण यह मोहशोकादिका हेतु नहीं होता। और मैं निरन्तर उस निष्कल (विषयाकार वृत्तियोंके उपरागसे रहित) चिन्मात्र, अनन्त (त्रिविध-परिच्छेदरहित) पूर्णात्मामें अवस्थित* रहता हूँ। अद्वय–अनन्त–एकमात्र सुखरूप आत्माका मैं निरन्तर सर्वत्र अनुभव करता हूँ। और इस द्वैत–प्रपञ्चको जली हुई रस्सीके समान देखता हूँ। जिस प्रकार जली हुई रस्सी देखनेमें तो आती है; परन्तु वह बन्धन–एवं घटाकर्षणादिरूप कार्य नहीं कर सकती। तद्वत् अद्वय-ब्रह्मज्ञानाग्निके द्वारा भस्म हुआ यह द्वैत जगत् देखनेमें तो आता है; परन्तु वह अब बन्धनका प्रयोजक नहीं हो सकता।

---

* जीवन्मुक्तका उस पूर्णात्मामें अवस्थान कुण्डेमें बेरके सदृश, या भीत्तिमें चित्रके सदृश नहीं मानना चाहिए, किन्तु अज्ञानकालमें जिस प्रकार देहादिमें आत्मत्वका अनुभव ही देहादिमें अवस्थान माना जाता है। तद्वत् अपने आपका पूर्णाद्वय–परमात्मरूपसे अनुभव करना ही परमात्मामें अवस्थान समझना चाहिए। क्योंकि–अमूर्त–अपरिच्छिन्न आत्माका अन्य प्रकारका आधार आधेय–भावरूप अवस्थान नहीं हो सकता।

हाथमें रक्खे हुए—बिल्वफलके समान अपरोक्षरूपसे मैं अद्वैतका अनुभव करता हूँ, और इस शरीरको सर्पकी परित्यक्त केचूलीके—समान पृथक्-रूपसे मैं देखता हूँ। जिस प्रकार सर्प, परित्यक्त केचूलीको देखता हुआ भी आत्मरूपसे उसका अभिमान नहीं रखता, तद्वत् इस शरीरका भी मैं आत्मरूपसे अभिमान नहीं रखता। इस प्रकार मेरा देहादिरूपसे प्रतिभासमान जीवन, वास्तविक नहीं है, किन्तु बाधितानुवृत्तिमात्र है। तथा आत्मकल्याणका लाभ जीवन्मुक्तिके विशुद्ध आनन्दका अनुभव मुझे प्रत्यक्ष होगया है।

कुछ लोग कहते हैं—यद्यपि यह हम मानते हैं कि—शास्त्र एवं युक्तिके द्वारा सर्वात्मा परमेश्वरकी सिद्धि होती है, एवं वह जीवन्मुक्त तत्त्वदर्शीके अनुभवमें अपरोक्ष होता होगा; तथापि हमें तो इस जगत्में परमात्माका कहीं भी दर्शन नही होता। जगत् ही बाहर स्थूलरूपसे, एवं भीतर सूक्ष्मरूपसे दीख रहा है। जबतक हम उसे प्रत्यक्ष रूपसे न देख लें, तबतक उसमें हमारी प्रीति नहीं हो सकती। जगत्के एकसे एक बढिये सुन्दर पदार्थ दीखते हैं, अत एव तुरन्त ही हमारा चित्त उसमें आकृष्ट हो जाता है—प्रीति कर लेता है। तद्वत् वह परमात्मा जगत्में व्यापक होगा, पूर्ण होगा—परन्तु उसका प्रत्यक्ष दर्शन किये विना हम उसमें न विश्वास रख सकते हैं, न उसकी तरफ आकृष्ट हो सकते हैं—और न हम उसकी भक्तिपूर्वक उपासना कर सकते हैं।

उनका कहना इस प्रकारका है—जैसे कोइ रोगी वैद्यके समीप जाकर कहे कि-वैद्यराज! आपकी औषधिमें हम तभी विश्वास रख सकते हैं; एवं उसे खा सकते हैं कि—आप प्रथम हमारा रोग दूर कर

दें। रोग दूर किये विना आपकी औषधिमें हमारा विश्वास नहीं होता; उसे खानेकी नहीं रुचि होती। उस समय वैद्यजी उस रोगीसे कहेंगे-अरे भलामानस! औषधि सेवन कराये विना यदि हम रोग दूर कर दें, तो औषधीका महत्त्व ही क्या रह गया?। औषधी देनेका प्रयोजन ही क्या रहा?। औषधी देनेका प्रयोजन ही रोगनिवृत्ति है। इसलिए यदि तू रोगनिवृत्ति चाहता है, तो तुझे—औषधीमें विश्वास प्रथम अवश्य रखना होगा, इस औषधीके सेवनसे अनेक व्यक्तियोंके रोग दूर हो गये हैं, तद्वत् मेरा भी रोग दूर होगा ही, ऐसा निश्चयकर औषधी सेवनमें तुझे रुचि रखनी ही होगी। अन्यथा हम तेरे रोगको किसीभी प्रकारसे दूर नहीं कर सकते।

तद्वत् 'परमात्मा चराचर विश्वमें व्यापक है—साक्षी चिदात्मा-रूपसे हृदयमें अवस्थित है' ऐसा शास्त्रके उपदेशमें प्रथम हमें विश्वास रखना ही चाहिए। श्रद्धा-उपासना आदि साधनोंके विना यदि परमात्माका प्रथम ही दर्शन हो-जाय तो उन साधनोंका महत्त्व एवं प्रयोजन ही क्या रहेगा? यह नियम है कि—साधनके विना साध्यकी सिद्धि किसीको कदापि नहीं होती।

उत्तर प्रदेशके किसी एक नगरमें एक वृद्ध-सनातधर्मी पण्डित—ईश्वरके विषयमें व्याख्यान दे रहा था। शास्त्रोंके अनेक प्रमाण एवं लौकिक युक्तियोंके द्वारा वह परमेश्वरकी सिद्धि कर रहा था। कुछ जेन्टलमेन-ग्रेज्युएट-नवयुवक भी उसका व्याख्यान सुन रहे थे। उनमें से एक वाचाल न्यू-लाईटके युवकने ऐसा ही प्रश्न किया कि-पण्डितजी! हम ईश्वरको तभी ही मानेंगे, जब आप उसको प्रत्यक्ष दीखायेंगे।

पण्डितजी बोले—देख, भाई ! व्याख्यान देते देते मेरा कण्ठ सुखा जा रहा है-भूख भी कडी लगी है—इसलिए आप मिहरबानी करके थोडा दूध मंगा दीजिये, जीसे पीकर कण्ठको मृदु बनाकर तृप्त होकर हम आपके प्रश्नका उत्तर देंगे। उस युवकने तुरन्त ही एक ग्लासमें दूध मंगाया। और पण्डितजीको दिया। पण्डितजी दूधका ग्लास लेकर वार वार उसमें अंगुली डालकर देखने लगे।

आश्चर्यके साथ उस युवकने कहा—पाण्डतजी ! दूध तो ठण्डा है, पीते क्यों नहीं? क्या बात है ?

पण्डितजी—मैं दूधमें कोई चीज ढूँढ रहा हूँ।

युवक—दूधमें क्या है, जिसे ढूँढ रहे हो?

पण्डितजी—मैंने सुना है—दूधमें मक्खन रहता है, मैं उसकी अंगुलीके द्वारा खोज कर रहा हूँ।

युवकने हँसकर कहा—दूधमें मक्खन है सही, पर वह इसप्रकार नहीं मिलता, न दीख सकता।

पण्डितजीने कहा—तब भाई ! वह किस प्रकार मिलेगा और दीखेगा। कहिए।

युवक बोला—अरे भोलेनाथ पाण्डतजी ! आप इतना भी नहीं समझते? बडी गजबकी बात है। इस दूधको प्रथम खूब गरम करना होगा। पश्चात् उसको मिट्टीके स्वच्छ पात्रमें जमाना होगा। तदनन्तर मथानीसे मथना (विलोडना) होगा। तभी आपको दूधसे मक्खन मिल सकेगा-उसका दर्शन हो सकेगा। ऐसे ही दूधमें वारंवार अंगुली फेरनेसे मक्खन नहीं मिल सकता। उचित साधन करनेसे ही मक्खनका दर्शन

होता है ।

पण्डितजी प्रसन्न होकर बोल उठे—बस अब तुम्हारे प्रश्नका उत्तर तुम्हारे ही मुखसे मिल गया। ईश्वर के विषयमें भी ऐसा ही जान लीजिये। दूधमें विद्यमान मक्खनके मिलनेकी जैसी विधि है, वैसी ही विधि ईश्वरके मिलनेमें समझ लो। जिसप्रकार मक्खनके लिए दूधको क्रमशः तपाना, जमाना एवं मथना होता है; इसप्रकार ईश्वरके प्रत्यक्ष दर्शन करनेके लिए अपने हृदयको भी तपाना, जमाना एवं मथना चाहिए। निष्काम कर्मके द्वारा हृदयको निर्मल-पापवासना रहित बनाना, यही तपाना है। एवं श्रद्धा भक्तिपूर्वक ईश्वरकी उपासनाके द्वारा हृदयको एकाग्र-शान्त बनाना, यह जमाना है। तथा तत्त्वज्ञानके द्वारा अविद्याऽऽवरणको हटाना, यह मथना है। कर्म, उपासना एवं ज्ञान इन तीन साधनोंका सम्पादन करना ही ईश्वर दर्शनकी विधि है।

इसप्रकार पण्डितजीका युक्ति-युक्त समाधान सुनकर न्यु-लाईटवाले सब युवक बहुत प्रसन्न हुए।

आनन्दकन्द भगवान् भी गीतामें अर्जुनके प्रति—'प्रभवः' 'प्रलयः' इन दो पदोंसे अपनेमें विश्वकी अभिन्न—निमित्तोपादन-कारणता बतला करके यही सिद्ध करते हैं कि—मैं समस्त विश्वमें व्यापक हूँ-ओतप्रोत हूँ, परन्तु साधनोंके द्वारा प्रतिरोधोंको निवारण किये विना कोई भी मानव मुझ पूर्णात्माका दर्शन नहीं कर सकता। साधनोंके द्वारा प्रतिरोध हटानेपर ही मेरा अपरोक्ष दर्शन होता है। अतएव किसी भक्तने कहा है—

'ज्यों तिल माँही तेल है, ज्यों चकमकमें आग।
तेरा प्रीतम तुझमें त्यों, जाग सके तो जाग॥'

(७)

'मत्तः परतरं नान्यत्, किञ्चिदस्ति धनंजय!।
मयि सर्वमिदं प्रोतं, सूत्रे मणिगणा इव ॥' (गी.७।७)

हे धनंजय ! संसारमें दृश्यमान कोई भी वस्तु मुझसे पृथक् नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् 'सूत्रमें पिरोये हुए मणियोंके सदृश मेरेमें ही गुथा हुआ है, अर्थात् ओतप्रोत होकर रहा है।

इस श्लोकमें आनन्दकन्द प्रभु श्रीकृष्णने अर्जुनको 'धनञ्जय' नामसे सम्बोधित किया है। धनञ्जयका अर्थ है—धनकी विजयकरने-वाला-धनको सदाके लिए स्वाधीन बनानेवाला। यहाँ विचार करना चाहिए कि—वास्तविक धन क्या है ?। जिस धनके लिए संसारी लोग रात-दिन प्रयत्न करते रहते हैं—जिसकी प्राप्तिके लिए पुण्यपाप कुछ नहीं देखते। जिसकी चिन्तामें अपने शरीरको भी सुखा डालते हैं। क्या वही सोना-चांदी, हीरे-मोती, सिक्के-नोट आदि हो वास्तविक धन है ? यदि ऐसा ही धन मान लिया जाता है तो इन संसारी लोगोंसे इस अर्जुनकी कुछ भी महत्ता एवं विलक्षणता सिद्ध नहीं होती। इसलिए वास्तविक धन वह है—जो सदा शाश्वत आनन्दका ही देनेवाला होता है। ऐसा धन लोकप्रसिद्ध धन नहीं हो सकता। वह क्षणिक विरस सुखको कदाचित् देनेपर भी शाश्वत-सरस-सुखको नहीं दे सकता। वह कभी सुखके बदले स्ववियोगद्वारा एवं शत्रुद्वारा प्रचुर दुःख भी दे डालता है। इसलिए उपादेय एवं नितान्त-स्पृहणीय वास्तविक धन वही हो सकता है—जो दुःखका लेश भी देना तो दूर रहा किन्तु प्राप्त समस्त दुःखोंका निवारण करके जो एकमात्र अखण्ड आनन्दका समर्पण करता

है, ऐसा वास्तविक धन तत्त्वज्ञान ही है, अन्य नहीं। 'विद्याधनं सर्वधनप्रधानं' उसी धनको ही भगवत्कृपासे अर्जुनने सदाके लिए स्वाधीन बनाया था। यही उसकी विजय है।

अतएव हमारे धन्यजीवन ऋषियोंने यही तत्त्वज्ञानरूप धन प्राप्त करके मृत्युभय पर विजय एवं शाश्वत परमानन्द प्राप्त किया था। इसलिए शुक्ल-यजुर्वेदमें एक महर्षि कहता है कि—

'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥
(३१।१८)

मैं इस महान् पुरुष—पूर्णात्माको अपरोक्ष जानता हूँ, जो अज्ञानान्धकारसे परे आदित्यके सदृश स्वयं ज्योतिः प्रकाशस्वरूप है, उस तत्त्वको यथावत् जानकर मानव, दुःख एवं भयका कारण अज्ञानरूप महामृत्युका अति क्रमण कर लेता है। परमानन्दरूप—ब्रह्मनिर्वाण मोक्षके लिए तत्त्वज्ञानको छोडकर और कोई मार्ग नहीं है।

अथवा हे अर्जुन! पुण्यकार्यके लिए अपने पराक्रमद्वारा प्रचुर लौकिक—धनके भण्डारोंको विजय कर लानेवाला तू अवश्य ही स्वकल्याणके लिए तत्त्वज्ञानरूप अमूल्य-प्रशस्ततम धनपर भी विजय करेगा, यह भी 'धनञ्जय' सम्बोधनका अभिप्राय हो सकता है।

गीताश्लोकस्थ 'मत्तः' पदमें स्थित 'अहं' पदार्थ परमात्मा है—जो निखिल दृश्य-प्रपञ्चाकारसे परिणत मायाका अधिष्ठान है, सर्वका भासक है, सद्रूप एवं स्फूरणरूपसे सर्वानुस्यूत है, स्वप्रकाश—परमानन्द—चैतन्यघन है तथा परमार्थ सत्य है। उस मुझसे परतर यानी

परमार्थसत्य अन्य कुछ भी नहीं है। जिस प्रकार स्वप्नदृष्टासे स्वाप्निक पदार्थ, मायावीसे मायिक पदार्थ, एवं शुक्त्यवच्छिन्न–चैतन्यसे तदज्ञान-कल्पित-रजत, अन्य नहीं होते–वस्तुतः तदनन्य ही होते हैं। इस प्रकार मुझ परमात्मासे अन्य हुआ यह द्वैत–जगत् परमार्थसत्य नहीं हो सकता।

अथवा 'परतर'का द्वितीय अर्थ इस प्रकार है–पर यानी पृथक्-भूत, जिस प्रकार कारण मृत्तिकादिसे कार्यरूप घटादि पृथक्रूप होते हैं, क्योंकि–व्यवहारमें मृत्तिका एवं घटादिके काल्पनिक भेदका अनुभव होता है; परतर यानी अतिशयसे पर, अत्यन्त पृथक्रूप मृत्तिकासे गवाश्वादि होते हैं। क्योंकि–जिस प्रकार काल्पनिक पृथक्ता होनेपर भी मृत्तिका, घटादिकोंका उपादान–कारण होती है, उस प्रकार गवाश्वादिसे मृत्तिका पृथक् दीखनेपर भी उसका उपादान कारण नहीं हो सकती, इसलिए गवाश्वादि, मृत्तिकासे परतर यानी अत्यन्त पृथक् माने गये हैं। इस प्रकार मुझ परमात्मासे कल्पित पृथक्ता होनेपर भी यह जगत् अत्यन्त पृथक् नहीं हो सकता, क्योंकि–मृत्तिकाके सदृश, मैं परमात्मा इस दृश्य विश्वका उपादान कारण हूँ।

अतएव कृष्णयजुर्वेदीय श्वेताश्वतरोपनिषत् श्रुति भी कहती है–

'यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्,
यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः,
तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥' (३।९)

जिस परमात्मासे पर यानी अव्यक्त–महत्तत्त्वादि, कारण तथा

अपर यानी भूतभौतिकादि कार्य भी व्यतिरिक्त नहीं है। क्योंकि–परमात्मा, इस कारणकार्य प्रपञ्चका अधिष्ठान है, और उस अधिष्ठानमें यह दृश्यप्रपञ्च अध्यारोपित है। जिस प्रकार अधिष्ठान शुक्तिसे उसमें अध्यारोपित रजत व्यतिरिक्त नहीं हो सकता, उस प्रकार अधिष्ठान परब्रह्मसे यह अध्यारोपित द्वैत प्रपञ्च भी व्यतिरिक्त नहीं हो सकता। क्योंकि–अधिष्ठान ब्रह्मकी सत्तासे ही यह–अध्यारोपित–प्रपञ्च सत्ता-वान्‌की भाँति प्रतीत हो रहा है–अधिष्ठानकी सत्ता पृथक् होजानेपर अध्यारोपित सत्ता-शून्य हो जाता है, यही उसका मिथ्यात्व है। एवं उस अधिष्ठान–परमात्मासे अन्य कोई अत्यन्त अणु (सूक्ष्म) तथा अत्यन्त महान् भी नहीं हो सकता। अर्थात् वह ब्रह्माद्वय-परमात्मा ही एकमात्र '**अणोरणीयान् महतो महीयान्**' (क० उ० १।१।२०) सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म अवाङ्मनसगोचर है, तथा महान्‌से भी अत्यन्त महान्–निरतिशय विभु है। यहाँ अणुका अर्थ अणु परिमाण नहीं समझना चाहिए, ऐसा माननेपर '**महतो महीयान्**' के साथ विरोध होजाता है, इसलिए–विरोधपरिहारार्थ '**सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं**' (कै० उ० १। १६) इस श्रुतिके सहकारसे अणुका अर्थ सूक्ष्म ही समझना चाहिए।

वह परमात्मा वृक्षके समान स्तब्ध है, अर्थात् अचल–प्रतिष्ठ है। अचल–प्रतिष्ठा अंशमें ही वृक्षका दृष्टान्त है। क्योंकि–दृष्टान्त सर्वांशमें उपादेय नहीं होता, किन्तु उसकी आंशिक उपादेयता ही सर्वत्र मानी जाती है। वह 'दिवि' अर्थात् स्वयंप्रकाश ज्योतिः स्वरूप अपनी अनन्त महिमामें ही वह एकमेवाद्वितीय हुआ सदा अवस्थित

रहता है—उसमें किसी भी प्रकारका दृश्य-दर्शन-द्रष्टारूप त्रिपुटी भेद नहीं रहता। उसी ही पुरुषसे यह समस्त जगत् पूर्ण है। अर्थात् उसीकी पूर्ण सत्ता जगत्में ओतप्रोत हो रही है।

अतएव श्रीमद्भागवत तथा शारीरक-ब्रह्मसूत्र—मीमांसामें भगवान् कृष्णद्वैपायन—बादरायणाचार्य—व्यास कहते हैं कि—'**त्वत्तः परं नापरमप्यनेजदेजच्च किञ्चिद् व्यतिरिक्तमस्ति।**'(भा० ७।३।३२) हे प्रभो! कारण-कार्य एवं स्थावर जंगम आदि कोई भी पदार्थ आपसे भिन्न नहीं है।

'**तथाऽन्यप्रतिषेधात्।**' (ब्र० सू० ३।२।३६)

तथा श्रुतियोंमें ब्रह्मसे अन्य वस्तुका प्रतिषेध किया है, इसलिए ब्रह्मसे अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। तथा भगवत्पाद—जगद्गुरु—आचार्य शङ्करस्वामीने भी इस सूत्रके ऊपर इस प्रकार भाष्य लिखा है—

'**तथा—अन्यप्रतिषेधादपि न ब्रह्मणः परं वस्त्वन्तरमस्तीति गम्यते। तथाहि 'स एवाधस्तात्' 'अहमेवाधस्तात्' 'आत्मैवाधस्तात्'** (छां० उ० ७।२५) '**सर्वं तं परादात् योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद।**' (बृ उ.:४।५।७) '**ब्रह्मैवेदं सर्वम्**' (मु. २।२।११) '**आत्मैवेदं सर्वम्**' (छां. ७ २५।२) '**नेह नानास्ति किञ्चन**' (बृ० उ० ३। ४। १९) '**यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्**' (श्वे० उ० ३।९) '**तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्**' (बृ० उ० २।५।१९): **इत्येवमादि-वाक्यानि स्वप्रकरणस्थानि अन्यार्थत्वेन परिणेतुमशक्यमानानि ब्रह्मव्यतिरिक्तं वस्त्वन्तरं वारयन्ति। सर्वान्तरश्रुतेश्च न परमात्मनोऽन्तरोऽन्य आत्माऽस्तीत्यवगम्यते।**'

तथा अन्यके प्रतिषेधसे भी ब्रह्मसे पर (व्यतिरिक्त) अन्य वस्तु नहीं है, ऐसा जाना जाता है। इस विषयको श्रुतियोंके द्वारा बतलाते हैं--'वह भूमा ही नीचे है' 'मैं ही नीचे हूँ' 'आत्मा ही नीचे है' 'सभी पदार्थ उस भेददर्शीका अनादर करें, जो इन समस्त पदार्थोंको आत्मासे अन्य जानता है' 'यह सब कुछ ब्रह्म ही है' 'आत्मा ही यह सब कुछ है' 'इस ब्रह्ममें नाना अर्थात् भिन्न कुछ नहीं है।' 'जिससे पर एवं अपर कुछ भी पृथक् नहीं है' 'वह यह ब्रह्म अपूर्व है-यानी कारणरहित हैं, अनपर है--यानी कार्यरहित है, अर्थात् कारण-कार्य उससे व्यतिरिक्त नहीं है। एवं वह आन्तरिक एवं बाह्य भेदसे रहित--निर्भेद ठोस वस्तु है।' इत्यादि श्रुतिवाक्य--अपने ब्रह्माद्वैत--प्रकरणमें अवस्थित हैं, अतएव उनका अन्य अर्थ बतलाना अशक्य है, अर्थात् कोई भी पाण्डतमानी, तत्त्वदर्शी--विद्वानोंके समक्ष उनका अन्यार्थ नहीं कर सकता--ब्रह्मसे व्यतिरिक्त वस्तुका निवारण करते हैं। तथा सर्वान्तर श्रुतिसे भी 'परमात्मासे अन्य—अन्तर आत्मा नहीं है' ऐसा जाना जाता है। ऐसा ही विष्णुपुराणमें पराशर-महर्षिने मैत्रेय ऋषिके प्रति कहा था--

'अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनो, नान्यत्ततः कारणकार्यजातम्।
ईदृङ्मनो यस्य न तस्य भूयो, भवोद्भवा द्वन्द्वगदा भवन्ति॥'
(१।२२।८७)

मैं तथा यह सम्पूर्ण जगत् जनार्दन श्रीहरि ही है, उनसे भिन्न और कुछ भी कार्यकारणादि नहीं है। जिसके चित्तमें ऐसी पावन-ब्रह्माद्वैत-भावना है, उसे फिर संसारजन्य-रागद्वेषादि-द्वन्द्वरूप रोगकी

प्राप्ति नहीं होती।

अथवा 'परतर'का अर्थ है—अन्य कारण अर्थात् मुझ परमात्मासे अन्य कोई स्वतन्त्र कारण नहीं हो सकता। मैं परमात्मा ही सबका श्रेष्ठ-कारण हूँ। इसलिए यह चराचर जगत्‌रूप कार्य मुझ महाकारण-रूप परमात्मासे अन्य नहीं हो सकता।

इस प्रकार गीताके पूर्वोक्त श्लोकके पूर्वार्धसे दृश्य प्रपञ्चमें ब्रह्मसे अव्यतिरिक्तत्व बतलाया, अब उत्तरार्धसे दृष्टान्तद्वारा ब्रह्ममें प्रपञ्चसे व्यतिरिक्तत्व बतलाया जायगा। क्योंकि-लोकमें भी ऐसा नियम देखा जाता है कि—कारणसे कार्य व्यतिरिक्त नहीं होता, किन्तु कार्यसे कारण व्यतिरिक्त हो सकता है। जिसप्रकार तन्तुओंसे पटादि व्यतिरिक्त नहीं हो सकते, परन्तु पटादिसे तन्तु व्यतिरिक्त हो सकते हैं, क्योंकि-पटादि-कार्यकी उत्पत्तिसे प्रथम एवं उनके ध्वंसके अनन्तर भी तन्तु अकेले देखनेमें आते हैं, तथापि तन्तुओंको अलग कर लेनेपर पटादि कार्य व्यतिरिक्त देखनेमें नहीं आते। यही कारणसे कार्यका अनन्यत्व है। इस प्रकार ब्रह्मसे जगत् व्यतिरिक्त नहीं है, किन्तु जगत्‌से ब्रह्म व्यतिरिक्त है।

'**सूत्रे मणिगणा इव**' जिस प्रकार सूतकी एक लम्बी डोरीमें-मणियोंके समान-गोल गाँठें लगाकर उनसे माला बनायी जाती है, इस मालाकी मणियोंमें जिसप्रकार सूत्र ही अन्तर्बहिः ओतप्रोत रहता है। तद्वत् मुझ-परमात्मामें यह समस्त विश्व, ओतप्रोत होकर रहता है।

अतएव हमारा परमश्रद्धेय, स्वतःप्रमाण, अतिधन्य शुक्ल-यजुर्वेद भी यही कहता है कि—

'वेनस्तत् पश्यन्निहितं गुहा सत्,
यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।
तस्मिन्निदꣳ सं च वि चैति सर्वं,
सः ओतः प्रोतश्च विभुः प्रजासु॥'
(३२।८)

'वेन' नामके एक तेजस्वी ऋषिने—बुद्धिरूपी गुहामें, अवस्थित उस सत्य, ज्ञान, अनन्त, आनन्दपूर्ण, ब्रह्मका स्वानन्यरूपसे साक्षात्कार किया। उस ब्रह्ममें यह समग्र विश्व एकनीड हो जाता है। एक नीडका अर्थ है—एकाकार-अविभक्त। अर्थात् यह विश्व, आरोपित जाति-गुण-क्रियादि-समस्त विशेषोंका उपसंहरण होकर अविशेष कारण ब्रह्म भावापन्न हो जाता है। इसलिए अथर्व संहितामें 'एकनीड'के स्थानमें 'एकरूपं' ऐसा पाठ इसी अर्थका द्योतन कराता है। अतएव उस ब्रह्ममें यह समस्त विश्व, समेति—अर्थात् जलमें तरङ्गोंकी भाँति, कनकमें कुण्डलादिके सदृश, विलीन हो जाता है एवं 'वि-एति' अर्थात् प्रादुर्भूत भी होता है। वह विभु-व्यापक-परमात्मा इन चराचर प्रजाओंमें 'तन्तुओंमें पटकी तरह' ओतप्रोत होकर रहता है।

अतएव श्रीमद्भागवतमें वेदव्यासने 'ओतप्रोत'की अनुस्यूतता बतलानेके लिए अनेक स्थलोंमें 'तन्तुपट'का दृष्टान्त इसप्रकार दिया है—
'यस्मिन्नोतमिदं प्रोतं विश्वं शाटीव तन्तुषु।' (९।९।७)
'ओतप्रोतमिदं यस्मिंस्तन्तुष्वङ्ग! यथा पटः।' (१०।१५।३५)
'उस परमात्मामें यह विश्व 'तन्तुओंमें साडीकी भाँति' ओतप्रोत होकर रहा है' 'हे तात! जिस प्रकार तन्तुओंमें पट ओतप्रोत रहता है,

तद्वत् उस भगवान् में यह समग्र विश्व ओतप्रोत होकर रहा है।'

इसलिए गीताके 'सूत्रे मणिगणा इव' इस दृष्टान्तमें-शास्त्रोंके इन वचनोंके अनुसार पूर्वोक्त अर्थ ही यथार्थ एवं सिद्धान्तके अनुकूल है।

यदि आप रुद्राक्ष या तुलसीकी मालाके मणियोंका दृष्टान्त लेकर-जिसप्रकार सूतमें विजातीय बीज-विशेषकी या काष्ठविशेषकी बनी मणियाँ (मनके) ग्रथित हैं, इसप्रकार परमेश्वरमें यह विश्व ग्रथित है, ऐसा अर्थ करते हैं तो तदन्यका प्रतिषेधरूप सिद्धान्तका समर्थन नहीं होता। क्योंकि—जिसप्रकार सूत मणियोंमें अनुगत होनेपर भी उससे मणियाँ पृथक् हैं, तद्वत् अनुगत परमात्मासे यह व्यक्ताव्यक्त जगत्—उसमें ग्रथित होनेपर भी पृथक् है-अन्य है-ऐसा सिद्धान्त-विरुद्ध तथा पूर्वोक्त शास्त्रीय-वचनोंसे भी विरुद्ध अर्थ सिद्ध हो जाता है। जैसे 'वर-विघाताय न हि कन्याया उद्वाह क्रियते' अर्थात् वरका नाश करनेके लिए कन्याका विवाह नहीं किया जाता, तैसे सिद्धान्तके विनाशके लिए दृष्टान्तका समर्थन नहीं किया जाना चाहिए। सिद्धान्तके समर्थनके लिए ही दृष्टान्त दिया जाता है। सिद्धान्त सेठके समान मुख्य है, एवं दृष्टान्त मुनीमकी भाँति गौण है। जिसप्रकार सेठके अनुकूल मुनीम रहता है, प्रतिकूल नहीं, उस प्रकार सिद्धान्तके अनुकूल ही दृष्टान्त होना चाहिए,प्रतिकूल नहीं। सिद्धान्तमें तदनन्यत्वका प्रतिपादन करना है। अतः उसके अनुरूप ही तदनन्यत्वका बोधक सूतनिर्मित मणियोंका दृष्टान्त लेना चाहिए। इसलिए दृष्टान्तमें सूतसे विजातीय रुद्राक्षादि रूप मणियाँ नहीं समझनी चाहिए। किन्तु सूतकी ही बनी हुई मणियाँ समझनी चाहिए। पंजाबमें रेशमके सूतसे बनी हुई मणियोंकी बढ़िया

माला बनती है। अथवा सुवर्णके बने हुए तारसे भी मणियाँ गूँथकर माला बनायी जाती है—उसका भी दृष्टान्त ले सकते हैं; जो 'तदनन्यत्व'के सिद्धान्तका समर्थक हो।

तदनन्यत्वका सिद्धान्त, तदन्य-भावनाके प्रतिषेधके लिए किया गया है। अनादिकालसे अविद्या द्वारा इस जगत्में तथा अपनेमें तदन्य-(परमात्म-स्वरूपसे अन्यकी) भावना हो रही है। उस महान् अनर्थ-कारी भावनाका प्रतिषेध करनेके लिए ही हमारे शास्त्रोंने-पूर्णानन्दमयी तदनन्यभावनाका बडे जोरोंके साथ विधान किया है—

'यद्यत्पश्यति चक्षुर्भ्यां, तत्तदात्मेति भावयेत्।
यद्यच्छृणोति कर्णाभ्यां तत्तदात्मेति भावयेत्।
दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद्ब्रह्ममयं जगत्।

(उपनिषत्)

आँखोंसे जो जो पदार्थ देखे जाते हैं, उन सबमें आत्माकी ही भावना करनी चाहिए। कानोंसे जो जो शब्द सुने जाते हैं, उन सबमें आत्माकी ही भावना करनी चाहिए, आत्मासे अन्यकी नहीं। इसप्रकार अपनी दृष्टिको ज्ञानमयी बनाकर समग्र-जगत्को ब्रह्ममय ही देखना चाहिए।

'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा, नान्योऽतोऽस्ति श्रोता, नान्योऽतोऽस्ति मन्ता, नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम।'

(बृ० उ० ३।६।२३)

याज्ञवल्क्य महर्षिने कहा—इस परमात्मासे अन्य कोई द्रष्टा (देखनेवाला) नहीं है, इससे अन्य कोई श्रोता (सुननेवाला) नहीं है,

इससे अन्य मन्ता (मनन-करनेवाला) नहीं है, इससे अन्य विज्ञाता (जाननेवाला) नहीं है, अर्थात् वही परमात्मा द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, एवं विज्ञाता है, वह द्रष्टा आदि, परमात्मासे अनन्य है। यही अन्तर्यामी अमृतस्वरूप परमेश्वर तेरा आत्मा है, आत्मा यानी अभिन्न-स्वरूप। अनात्मा, भिन्न स्वरूप होता है, आत्मा नहीं। इस आत्मासे अन्य आर्त है, यानी बाधित है-मिथ्या है, दुःखयुक्त है अर्थात् एकमात्र पूर्णात्मा ही अबाधित है, सत्य है,एवं आनन्दपूर्ण है। इसप्रकार याज्ञवल्क्य महर्षिका उत्तर सुनकर उद्दालक–आरुणि नामका ऋषि प्रश्न–करनेसे उपरत हो गया।

हमने उपनिषद्–गीता–भागवत आदि शास्त्रोंका श्रद्धापूर्वक श्रवण-मनन किया, विवेक, वैराग्यादि साधन प्राप्त किए। तथापि यदि हमारी तदन्यभावना दूर न हुई तो अविद्यामयी सांसारिक-दशामें एवं विद्यामयी साधन-दशामें क्या विलक्षणता रही?।

एक ग्राममें एक जूता बनानेवाला मोची रहता था। किसीके द्वारा उसने काशी करवटकी बडी महिमा सुनी। उसने विचार किया–अब मैं बूढा होगया हूँ, मरनेके दिन बहुत ही समीप हैं–इसलिए घरमें मरनेकी अपेक्षा, काशी–करवटमें जाकर मरुँगा तो मनवाञ्छित फल भी प्राप्त कर लूँगा। विचारके अनुसार वह काशी पहुँचा। शिरमें करवट लेनेके लिए तैयार होगया। करवत रखनेवाले पण्डेने उससे पूछा-कहो भाई! तुम किस इच्छासे करवत लेते हो? तुम क्या बनना चाहते हो? श्रद्धाजड भोले मोचीने मनमें विचार किया कि-'क्या बनना चाहिए? यदि मैं ब्राह्मण बनूँ तो भी ठीक नहीं; क्योंकि-ब्राह्मण बनने पर कईवार स्नान करना पडेगा, जलमें खडे होकर ठण्डीसे ठिठुरते

हुए प्रतिदिन गायत्री जपनी पडेगी, केवल एक छोटी-सी धोती पहने मंदिरमें शिवजीपर जल चढानेके लिए जाना पडेगा, सवेरे जल्दी जागना पडेगा। इसलिए ब्राह्मण बनना ठीक नहीं। यदि मैं क्षत्रिय बनूँ तो—हाथमें तलवार लेकर दुश्मनोंसे लडनेके लिए मैदानमें जाना पडेगा। वहाँ चमाचम चमकती हुई तलवारें ऐसी चलेगीं कि—मूली एवं गाजरकी भाँति धडाधड सिर-हाथ-पैर कटकटकर दबादब नीचे गिरते चले जायेंगे। चारों तरफ खूनके झरने वह निकलेंगे। हाय! हाय! मरारे! बप्पारे! मय्यारे! की दुःख-वेदनाभरी पुकारें सुननी पडेगीं। और आप भी कहीं झपेटेमें आगये तो 'गोविन्दाय नमो नमः' हो जाना पडेगा। ना, नारे, क्षत्रिय बनना अच्छा नहीं। यदि मैं वैश्य-सेठ बनूँ तो—'हजारों लाखोंकी चिन्ता करते करते मेरा कलेजा गोबर जैसा सूख जायगा।' इस प्रकार विचार करते हुए मोचीने अन्तमें निश्चय किया कि—'मोची बनना ही ठीक रहेगा। न ठण्डीसे परेशान होना पडेगा, न भयंकर तलवार उठानी पडेगी, न धनकी चिन्ता करनी पडेगी, बडे आरामके साथ जूता बनाकर दो रुपिया कमा लिया, खाया पिया एवं मौज किया।'

निश्चयके अनुसार वह बोल उठा कि—पण्डेजी! धरो शिरपर करवत, मोचीका मोची ही बनना चाहता हूँ। सबसे अच्छा मोची ही होता है। और कुछ मुझे नहीं बनना। उसकी ऐसी बात सुनकर पण्डा ठहाका मारकर हँसने लगा—और कहने लगा कि—अरे! तू मोचीसे मोची ही बनना चाहता है, तो यह करवतके कष्ट उठानेका क्या प्रयोजन?।

इसप्रकार अज्ञान-कालमें हमारे हृदयमें जैसी तदन्य-भावनाएँ थीं, वैसी ही भावना यदि ज्ञान कालमें भी रहीं. तो, ज्ञान--लाभका प्रयोजन ही क्या सिद्ध हुआ ?। ज्ञानलाभका यही प्रयोजन है कि--अज्ञानजन्य-तदन्य-भावनाओंको दूर हटाकर सर्वत्र अन्तर्बहिः तदनन्य--भावनाकी सिद्धि करें। इसलिए भगवत्पादने कहा है कि--

'त्वमर्कस्त्वमग्निस्त्वमिन्दुस्त्वमापः,
त्वमाकाशभूवायवस्त्वं चिदात्मा।
त्वदन्यो न कश्चित्पदार्थोऽस्ति सर्वं,
सदानन्दसंवित्स्वरूपं तवेदम्॥'

हे परमात्मन्! तू ही सूर्य है, तू ही अग्नि है, तू ही चन्द्र है, तू ही जल है, तू ही आकाश, पृथ्वी एवं पवन है, तू ही सबका अपनाआप चेतनआत्मा है, तुझसे अन्य कोई भी पदार्थ नहीं है, यह जो कुछ है--वह सब तेरा हो सत्--आनन्द एवं ज्ञानस्वरूप है।

यह तदनन्यत्व-भावनाका स्वरूप है, यही विवेक--वैराग्यादि एवं श्रवणमननादि--साधनोंका फल है। अनन्य--परमात्मामें अविद्या-द्वारा तदन्यत्वका आरोप होता है, एवं विद्याद्वारा उस आरोपका अपवाद होकर एक एवाद्वितीय-अनन्य-पूर्ण-परमात्मा ही परिशिष्ट रह जाता है। यह अध्यारोप एवं अपवादकी प्रक्रिया हमारे मोक्षशास्त्रोंमें सर्वत्र देखनेमें आती है। अतएव परमश्रद्धेय अद्वैत--संप्रदायके आचार्योंने कहा भी है--

'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते।
मुमुक्षूणां बोधसिद्ध्यै तत्त्वज्ञैः (श्रुतिभिः) कल्पितः क्रमः॥'

अध्यारोपद्वारा निष्प्रपञ्च-ब्रह्मका सप्रपञ्चरूपसे वर्णन करके पश्चात् अपवादद्वारा निष्प्रपञ्च अखण्डैकरस ब्रह्म ही परिशिष्टरूपसे बतलाया जाता है। इसप्रकार मुमुक्षुओंको अद्वैत-ब्रह्मबोधकी सिद्धिके लिए श्रुतियोंने एवं तत्त्वज्ञोंने अध्यारोप एवं अपवादके क्रमकी कल्पना की है।

ऐसा ही क्रम प्रकृत गीताके श्लोकमें भी देखा जाता है। **'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव'** इस उत्तरार्धसे परमात्मामें विश्वका अध्यारोप कहा है। तथा **'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति'** इससे उस अध्यारोपका अपवाद बतलाया है। इसप्रकार भगवान्ने गीताके नवमाध्यायमें **'मत्स्थानि सर्वभूतानि'** (९।४) (मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें, ये सब भूत जलमें बर्फकी भाँति अवस्थित हैं) इस वचनसे अविद्याद्वारा होनेवाला अध्यारोप बतलाया है। तथा **'न च मत्स्थानि भूतानि'** (९।५) (ये सब भूत वस्तुतः मेरेमें अवस्थित नहीं हैं) इससे विद्याद्वारा होनेवाला अपवाद बोधित किया है। जिसप्रकार कनकमें कटक कुण्डल स्वस्तिक आदि भिन्न भिन्न नाम एवं आकारवाले आभूषणोंका स्वर्णकार द्वारा अध्यारोप होता है, पश्चात् अग्निमें डालनेपर इन आभूषणोंका अपवाद हो जाता है, आभूषण एवं इनके पृथक् पृथक् नाम एवं आकार (रूप) अदृश्य हो जाते हैं, एकमात्र सुवर्ण ही परिशिष्ट रह जाता है। वस्तुतः सुवर्णकी दृष्टिमें आभूषण थे ही नहीं। सुवर्णमें अविद्यमान आभूषणोंका मिथ्या आरोपमात्र हुआ था। इसप्रकार उस अद्वय-परमात्मामें अविद्यासे अविद्यमान-नामरूपात्मक-जगत्का आरोप होता है, पश्चात् ज्ञानाग्नि

द्वारा उस आरोपका अपवाद होकर परिशिष्ट एकमात्र-विशुद्ध-अद्वय-ब्रह्म ही रह जाता है।

अतएव भगवान् वेदव्यासने भी श्रीमद्भागवतके सर्वतः आदिम मंगलाचरणमें अध्यारोपापवाद द्वारा ही सत्य ब्रह्मका ध्यानके लिए इस प्रकार वर्णन किया है—

'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्,
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये, मुह्यन्ति यत्सुरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो, यत्र त्रिसर्गो मृषा,
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि॥'

(१।१।१)

जिस परमात्मा द्वारा इस जगत्के जन्म, पालन एवं संहार होते हैं, और जो इस जगत्के सभी पदार्थोंमें अन्वय एवं व्यतिरेक द्वारा विशिष्ट एवं शुद्धरूपसे अवस्थित है, अर्थात् जिसकी पूर्णसत्ताके अन्वयसे ही ये सब पदार्थ सत्तावाले हुए अनेक प्रकारके नामरूपोंसे प्रतीत होते हैं। और जिसकी चेतन-सत्ताके विना किसी भी पदार्थकी सत्ता सिद्ध ही नहीं हो सकती। किसी भी पदार्थका भान ही नहीं हो सकता। **'तत्सत्त्वे तत्सत्त्वं'** उसके होनेपर, जो होवे, यह अन्वय है। **'तदभावे तदभावः'** जिसके न होनेपर, जो न होवे, यह व्यतिरेक है। जिसप्रकार आत्मसत्ता होनेपर जाग्रत् आदि अवस्थाएँ प्रतीत होती हैं, यह अन्वय है। आत्मसत्ताके न रहनेपर अर्थात् आत्माको सुषुप्त या समाधिस्थ हो जानेपर जाग्रत् आदि अवस्थाएँ प्रतीत नहीं होती हैं—यह व्यतिरेक है। इसप्रकार जो परमात्मा, अन्वय एवं व्यतिरेक

दोनों ही दृष्टियोंसे इस कार्यकारणात्मक-समस्त-जगत्में व्यापक-पूर्ण ही सिद्ध होता है, एवं जो सर्वज्ञ एवं स्वयंप्रकाश है। और जिस गंभीर-वेदके विषयमें बडे बडे पण्डित भी तत्त्व-निर्णय किये विना भ्रान्तसे बने रहते हैं, उसको जिसने संकल्पमात्रसे ही ब्रह्माके हृदयमें प्रकट कर दिया। और जैसे तैजस (काँच-सूर्यकिरण आदि)को जल, जल आदिको स्थल, एवं मिट्टी आदिको जल समझनेकी भ्रान्ति होती है, वैसे ही जिस-शुद्ध अद्वय परमात्म-स्वरूपमें यह त्रिगुणमायामयी सृष्टि असत् होनेपर भी सत्‌सी प्रतीत होती है। जिसकी ज्ञानज्योति द्वारा इस छलकपटवाली माया एवं तत्कार्य-द्वैत दृश्यप्रपञ्चका सर्वथा वाध हो जाता है, उस परम सत्य सर्वानन्य ब्रह्म-परमात्माका हम ध्यान करते हैं।

इसप्रकार बृहदारण्यकोपनिषत्के मूर्तामूर्त ब्राह्मणमें भी अध्यारोप एवं अपवाद प्रतिपादित किये हैं—

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च' (२।३।१) ब्रह्मके दो रूप हैं, एक मूर्त एवं दूसरा अमूर्त। ब्रह्मतत्त्व वस्तुतः अरूप है, इसलिए उसके ये दो रूप पारमार्थिक-नहीं हो सकते। किन्तु अविद्या द्वारा अध्यारोपित ही हो सकते हैं। इसलिए इनका प्रतिषेध किया जाता है, पारमार्थिक-रूपका प्रतिषेध नहीं हो सकता। मूर्तरूप कौन है? श्रुति कहती है—**'तदेतन्मूर्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाद्'** (२।३।२) जो वायु एवं आकाशसे अन्य है, तथा त्वचा एवं चक्षु इन्द्रिय द्वारा जिसका मूर्तिमान्-रूप प्रतीत होता है, वह मूर्त है, ऐसे मूर्तरूपवाले तीन हैं—पृथिवी, जल एवं अग्नि। अमूर्तरूप कौन है? श्रुति कहती है—**'अथामूर्तं वायुश्चान्तरिक्षं च'** (२।३।३)

वायु और आकाश ये दो अमूर्त हैं—साकाररूपसे इनका ग्रहण नहीं होता। इसप्रकार अरूप-अद्वय ब्रह्ममें मूर्तामूर्तरूपका आरोप करनेके अनन्तर अब उसका प्रतिषेध करते हैं—'**अथात आदेशो नेति नेति, न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्ति**' (बृ० २। ३। ६) अथ यानी अध्यारोपके अनन्तर, उस विश्वाधिष्ठान-ब्रह्ममें वस्तुतः मूर्त भी नहीं है, अमूर्त भी नहीं है,इसप्रकार तदन्य-समस्त द्वैत-प्रपञ्चके प्रतिषेध द्वारा ही उस अखण्डअद्वय ब्रह्मका आदेश (उपदेश) दिया जाता है। इससे व्यतिरिक्त कुछ भी नहीं है। निर्विशेष अद्वय ब्रह्मके बोधनके लिए ऐसा ही आदेश (निर्देश) किया जाता है। अविद्या कल्पित समस्त मूर्तामूर्तरूप-विशेष उपाधियोंके प्रतिषेध द्वारा अधिष्ठान ब्रह्मका परिशेषरूप-निर्देशसे अन्य कुछ भी निर्देशन बाकी नहीं रहता। इसलिए यही निर्देश है।

यदि मूर्तामूर्त-चिद्भास्य द्वैतप्रपञ्चका ब्रह्ममें आरोप किये विना ही अपवाद किया जाय तो निर्विशेष अद्वय-ब्रह्मका बोध सिद्ध नहीं होता। जिसप्रकार '**वायौ रूपं नास्ति**' वायुमें रूप नहीं है, ऐसा निषेध करनेपर पृथिवी आदिमें रूपका निषेध नहीं होता, उनमें रूप रहता है, इसप्रकार ब्रह्ममें द्वैतप्रपञ्च नहीं है—ऐसा निषेध करनेपर भी वह प्रपञ्च, प्रकृति परमाणु आदि अन्य कारणोंमें रह सकता है। ऐसी दशामें अद्वय ब्रह्ममात्र परिशिष्ट नहीं हो सकता। इसलिए हमारे सभी शास्त्र, प्रथम द्वैतप्रपञ्चका मायाद्वारा ब्रह्ममें ही आरोप करते हैं, अन्य कारणोंका निषेधकर उसको ही उसका अभिन्ननिमित्तोपादानकारण सिद्ध करते हैं। पश्चात् मायासहित आरोपित द्वैतप्रपञ्चका विद्याद्वारा प्रतिषेध करके सर्वथा-द्वैतशून्य-अद्वय ब्रह्मका परिशेषरूपसे निर्देश करते हैं। अतएव

द्वैतप्रपञ्चका कहीं भी अस्तित्व नहीं रहता। इसलिए अध्यारोपपूर्वक ही सर्वत्र अपवाद किया जाता है।

अतएव अद्वैत सम्प्रदायके महान् बुद्धिशाली आचार्योंने कहा है—

'प्रतिलोमानुलोमाभ्यां विश्वारोपापवादयोः।
चिन्तने शिष्यते तत्त्वं तदुच्छिष्टं विदुर्बुधाः॥
अधिष्ठानस्य सत्यत्वं, मिथ्यात्वं नामरूपयोः।
विज्ञाय चिन्तयेद्ब्रह्म तत्त्वमुच्छिष्टमद्वयम्॥
उच्छिष्टे ब्रह्मणि स्वस्मिन् प्रविलाप्याखिलं जगत्।
ध्यायन्नद्वैतमात्मानं सुखी शान्तो भवेन्नरः॥'

प्रथम अनुलोमसे* ब्रह्ममें आकाशादि विश्वका आरोप किया, पश्चात् प्रतिलोमसे ब्रह्ममें विश्वका अपवाद किया—इसप्रकारके अध्यारोप अपवादद्वारा चिन्तन करनेपर जो अद्वयतत्त्व परिशिष्ट रह जाता है, उसे विद्वान् उच्छिष्ट ब्रह्मरूपसे जानते हैं। अधिष्ठान ब्रह्म ही सत्य है, नामरूपात्मक जगत् मिथ्या ही है, ऐसा निश्चयपूर्वक जानकर उच्छिष्ट अद्वय ब्रह्म-तत्त्वका ही एकमात्र चिन्तन करना चाहिए। वह उच्छिष्ट

---

* जिस प्रकार निःश्रेणी (सीढी)के उपर अनुलोम क्रमसे चढा जाता है, प्रतिलोम क्रमसे उतरा जाता है, अनुलोम क्रमसे विपरीतक्रम प्रतिलोममें माना जाता है, सन्मुख होकर हम चढते हैं तो विमुख होकर उतरते हैं। इसप्रकार अनुलोम क्रमसे विश्वका आरोप होता है। प्रथम आकाशका, पश्चात् वायुका इत्यादि। अपवाद, उससे विपरीत क्रमद्वारा होता है—यह विपरीत क्रम ही प्रतिलोम है। पृथिवीका जलमें विलय, जलका अग्निमें विलय इत्यादि। प्रथम आकाशका विलय, पश्चात् वायुका विलय—ऐसा नहीं।

ब्रह्म मैं ही हूँ, उस मुझमें निखिल जगत्का प्रविलापन करके केवल अद्वैत आत्माका ध्यान करता हुआ मानव शान्त एवं सुखी हो जाता है। उस उच्छिष्ट ब्रह्मका विशद वर्णन, हमने '**अथर्ववेदसंहितोपनिषच्छतक**' नामक ग्रन्थकी अध्यात्म-ज्योत्स्ना नामकी संस्कृत व्याख्यामें किया है। अतः संस्कृत जाननेवाले महानुभावोंको विशेषरूपसे उसका वर्णन उस व्याख्यामें देखना चाहिए।

इस द्वैतप्रपञ्चमें जो भी कुछ व्यवहार होता है—वह अविद्या कल्पित आरोपद्वारा ही होता है। 'मैं मनुष्य हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं गोरा हूँ, जवान हूँ' इत्यादि व्यवहारमें अहंपदार्थ द्रष्टा आत्मा है, मनुष्यत्व ब्राह्मणत्व आदि वस्तुतः द्रष्टा आत्मामें नहीं हैं, किन्तु ये दृश्य—शरीरके धर्म हैं, तथापि अविद्या द्वारा दृश्यके धर्म द्रष्टामें आरोपित होते हैं। इसलिए भ्रान्तिसे कहता है, 'मैं मनुष्य हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ' इत्यादि। मूढ मानव कहता है—इस स्त्रीका शरीर मेरा है—इस पुत्रका शरीर मेरा है। मैं इसका पति हूँ, मैं इसका पिता हूँ, यह भी मिथ्या आरोप है। विचार करके देखा जाय तो सभी शरीर, पांच भूतोंके हैं, पांचभूत ही इसके पति यानी पालक हैं, पिता यानी जनक हैं, तथापि अविद्या भ्रान्तिसे कहता है कि-ये मेरे हैं। एवं वह बडे गर्वसे कहता है—यह सबसे ऊँचा बढिया सात मंजिलोंवाला मकान मेरा है, मैं इसका मालिक हूँ। परन्तु महात्मा कबीर ऐसे भ्रान्त मानवोंकी चूटकी लेते हुए कहते हैं कि—

'कंकड चून चून महल बनाया, मुरख कहे घर मेरा रे।
ना घर तेरा ना घर मेरा, चिडिया रैन बसेरा रे।'

मेरा मेरा कहकर छाती ठोकनेवाले एवं मालिकपनेका गर्व करनेवाले इस शरीरकी अन्तमें क्या दशा होती है? उसे कहा है—

'अपने (इस शरीरके) खातर महल बनाया।
आपहि (यह शरीर) जाकर जंगल (श्मशानमें) सोया॥
हाड जले जैसे लकडीकी मोली (भारी)।
बाल जले जैसे घासकी पोली॥'

इसलिए—

'इस तन धनकी कौन बडाई।
देखत नैनोंमें मिट्टी मिलाई॥'

इसप्रकार संसारके समस्त व्यवहार आरोपित ही होते हैं—वास्तविक नहीं। इस विषयको सिद्ध करनेके लिए—भगवान् श्रीकृष्णका बाल्यकालीय एक लीलाचरित्र किसी कविने इसप्रकार वर्णन किया है—

'कस्त्वं?' 'कृष्णमवेहि मां' 'किमिह ते' 'मन्मन्दिराशङ्कया,'
'युक्तं' 'तन्नवनीतभाजनपुटे न्यस्तः किमर्थं करः?।
कर्तुं तत्र पिपीलिकापनयनं' 'सुप्ताः किमुद्बोधिताः,
बालाः?' 'वत्सगतिं विवेक्तुमिति' 'संजल्पन् हरिः पातु वः॥'

प्रातःकालका सुहावना समय था। पूर्व दिशामें उषादेवीकी लाली फैल चुकी थी। मन्द मन्द सुशीतल-यमुनाजलस्पर्शी पवन बह रहा था। पक्षीगण मधुर स्वरसे अपना अपना संगीत गाते हुए एक वृक्षसे दूसरे वृक्षपर आ जा रहे थे। उस समय कोई एक-श्रीकृष्ण-प्रेमकी मतवाली गोपी कार्यवशात् अपने गृहको शून्य छोड़कर दूसरे गृहमें चली गई थी। वह गोपीका श्रीकृष्णके मुनिमनहारी दिव्य रूपसौन्दर्यके दर्शनकी

निरन्तर अभिलाषा रखती थी। अन्तर्यामी प्रभु श्रीकृष्ण, उसको दर्शन देनेके लिए तथा मक्खन चुसनेके लिए उस गोपीके गृहमें घुस गये। झटपट मक्खन लेनेके लिए मटकीमें हाथ डाल ही रहे थे कि—इतनेमें वह गोपी वहाँ आ पहूँची, भगवान् श्रीकृष्णको जानती हुई भी वह प्रेमपूर्ण उपालम्भ देनेके लिए पूछती है कि—तू कौन है ?। श्रीकृष्ण बोले—अरी गोपिके! 'मैं कृष्ण हूँ' ऐसा तू निश्चयसे जान। क्या तू मुझे भूल गई ?।

गोपिका बोली—अच्छाजी! आप श्रीकृष्ण हो, यह तो ठीक है, परन्तु आपका मेरे घरमें घुसनेका क्या प्रयोजन ?।

चतुरशिरोमणी भगवान् श्रीकृष्ण, अपनी अलौकिक प्रतिभासे तत्काल उत्तर देते हैं कि—वाहजी वाह! क्या यह तुम्हारा घर है ? मैं तो समझता था कि—यह मेरा घर है, मेरा घर समझकर मैं इसमें घुसा हूँ। सम्भव है कि—मुझे पराये गृहमें अपने गृहकी भ्रान्ति होगयी हो। भगवान् अपनी बातका समर्थन करनेके लिए उस गोपिकाको संसारके स्वरूपका उपदेश लगे—अरी देवि! यह संसार भ्रान्तिबहुल है। संसारके सभी ज्ञान भ्रान्त हैं, एक भी ज्ञान यथार्थ नहीं है। जहाँ देखो वहाँ भ्रान्ति ही भ्रान्ति छा रही है। अन्यमें अन्य बुद्धिका नाम ही भ्रान्ति है। भ्रान्ति ही संसारकी जड है। यदि भ्रान्ति न होती तो संसारका व्यवहार ही सर्वथा समाप्त हो जाता। संसारका भ्रान्तिमय ही जीवन है। अतः मेरेको भ्रान्ति होजानेमें कौनसी आश्चर्यकी बात है।

लीलाधारी श्रीकृष्णके ऐसे अपूर्व लीलामय—वचनोंको सुनकर गोपी सहम गई। पुनः शान्त—चित्तसे कहने लगी कि—हे प्यारे श्रीकृष्ण!

तुम्हारा कहना युक्तिसंगत हो सकता है, किन्तु कृपानिधानजी ! यह तो बतलाइये कि—आपने मक्खनकी इस मटकीमें हाथ क्यों डाला ?। क्या इसमें भी कुछ भ्रान्ति होगई थी ?।

बडी ही फुरतीके साथ श्रीकृष्ण बोले—हाँ हाँ !! अवश्य ही भ्रान्ति होगई थी। मुझे ऐसा मालुम हुआ कि—इस मटकीमें चीटियाँ घुस गई हैं, अतः इनको निकालनेके लिए हमने अपना हाथ डाला था।

गोपिका श्रीकृष्णके चतुरतापूर्ण इन वचनोंको सुनकर प्रेमसे विह्वल होकर फिर बोली कि—हे हृदयवल्लभ कृष्ण ! तुम्हारी ये सब बातें बहुत मजेदार हैं, परन्तु मज़ेमें सोये हुए हमारे इन बच्चोंको तुमने क्यों जगाया ? क्या इसमें भी कुछ भ्रान्तिका पाद प्रसार होगया था ?।

श्रीकृष्ण बोले—गोपिके ! तुम्हारा कहना ठीक है। मैं आज भ्रान्तिके चक्करमें ही पड गया हूँ। तुम्हारे इन बच्चोंके जगानेमें भी मुझे भ्रान्ति होगई थी—मुझे ऐसा लगा कि—इन गायोंके बछडे छुटकर कहीं भाग गये हैं, इसलिए बछडोंको ढूँढनेके किए मैंने इन बच्चोंको जगाया था। परन्तु अब देख रहा हूँ कि—बछडे यहीं बंधे हैं, भागे नहीं हैं। इस प्रकार उस गोपिकाके प्रति इन रहस्यमय-विनोदपूर्ण वचनोंके बोलनेवाले श्रीहरि आप सबकी रक्षा करें।

श्रीकृष्णका आध्यात्मिक स्वरूप जीवात्मा है। वेदान्तका सिद्धांत है कि—'ब्रह्मैव संसरति ब्रह्मैव मुच्यते' ब्रह्म—परमात्मा ही अविद्याद्वारा संसारका अनुभव करता है। कर्तृत्व--भोक्तृत्वादिका नाम ही संसार है। वही ब्रह्मविद्या द्वारा संसारसे मुक्त होता है। इसलिए हमारे सभी शास्त्र कहते हैं कि—

'शरीरं ब्रह्म प्राविशत्।' (अथर्व० ११। ८। ३०) ब्रह्म ही जीवात्मा बनकर प्रविष्ट हुआ है।

'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि।' (छां० उ० ६। ३। २) इस जीवात्मारूपसे शरीरमें प्रविष्ट होकर मैं (परमात्मा) नामरूपोंकी अभिव्यक्ति करूँ।

'ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति।' (श्रीमद्भा० ३। २९। ३४) ईश्वर भगवान् ही जीवरूप अंशसे इस शरीरमें प्रविष्ट हुआ है।

बुद्धि गोपिका है। गो यानी इन्द्रियाँ, उनकी जो रक्षा करे (पा--रक्षणे धातु है) वह गोपी कही जाती है। वह श्रीकृष्णको जानती हुई भी नहीं जानती है--इसलिए प्रश्न करती है--तू कौन है?। सर्वथा ज्ञात अर्थ विषयक भी प्रश्न नहीं होता, एवं सर्वथा अज्ञात अर्थ विषयक भी। जिसको हम सामान्यरूपसे जानते हैं, एवं विशेष-रूपसे नहीं जानते हैं; तभी ही तद्विषयक प्रश्न किया जाता है। अन्त-रात्मारूप श्रीकृष्णका 'अहं अहं'--(मैं--मैं)रूपसे सामान्य ज्ञान सभीको है, परन्तु नित्य, शुद्ध, बुद्ध--मुक्त--पूर्णाद्वयात्मक -विशेषरूपसे ज्ञान नहीं है। इसलिए तद्विषयक प्रश्न हो सकता है।

उस आध्यात्मिक कृष्णको पराये गृहमें स्वगृहकी भ्रान्ति हो जाती है। यह शरीररूपी नवद्वारवाला घर पांचभूतों द्वारा निर्मित होनेके कारण पराया है, तथापि उसको वह अपना मान बैठा है।

मक्खनकी मटकी हृदय है। इसमें असद्भावरूपी चीटियाँ घुसी हुई हैं। उनको निकालनेके लिए प्रयत्न करना ही उसमें हाथ डालना

है। ये असद्भाव ही तो संसार है। इसलिए इसका वास्तविक अस्तित्व नहीं माना जाता। अविद्या भ्रान्तिसे ही यह असत् होनेपर भी सत्य-सा, अविद्यमान होनेपर भी विद्यमान-सा प्रतीत होता है। जो पदार्थ भ्रान्तिसे प्रतीत होता है—वह मिथ्या ही माना जाता है—परमार्थ नहीं। जिस-प्रकार मन्दान्धकारमें रज्जुमें सर्प भ्रान्तिसे दीखता है--भय एवं कम्पका हेतु भी हो जाता है--तथापि वह मिथ्या ही माना जाता है; रज्जुका यथार्थ ज्ञान होनेपर उसका बाध हो जाता है। तद्वत् संसार भी अविद्यासे कल्पित है, इसलिए उसका विद्याद्वारा बाध हो जाता है। अतएव यह मिथ्या ही माना जाता है।

इसलिए श्रीमद्भागवतके एकादश-स्कंधमें आनन्दकन्द प्रभु श्रीकृष्ण उद्धवजीके प्रति यही उपदेश देते हैं—जिसका सृष्टिके प्रारम्भमें सनकादि-मुनियोंके प्रति हंसरूपसे उपदेश दिया था।

'ईक्षेत विभ्रममिदं मनसो विलासं,
दृष्टं विनष्टमतिलोलमलातचक्रं।
विज्ञानमेकमुरुधेव विभाति माया,
स्वप्नस्त्रिधा गुणविसर्गकृतो विकल्पः॥
दृष्टिं ततः प्रतिनिवर्त्य निवृत्ततृष्णः,
तूष्णीं भवेन्निजसुखानुभवो निरीहः।
संदृश्यते क्व च यदीदमवस्तुबुद्ध्या,
त्यक्तं भ्रमाय न भवेत्स्मृतिरानिपातात्॥'

(श्रीमद्भा० ११।१३।३४—३५)

इस भ्रान्तिरूप जगत्को मनका विलासमात्र, दृश्य, नश्वर और

अलातचक्रके समान अति चञ्चल जानना चाहिए। जलती हुई लकडीका-नाम अलात है। उसको घुमानेसे वह चक्राकार प्रतीत होता है। तद्वत् यह जगत् वस्तुतः न होता हुआ भी अविद्या भ्रान्तिसे प्रतीत होता है। यह एक-अद्वितीय विज्ञानरूप ब्रह्म ही, नाना (द्वैत) रूपसे भास रहा है। अतः गुणोंके परिणामसे हुआ यह जाग्रत्—स्वप्न और सुषुप्तिरूप तीन प्रकारका विकल्प, मायामय स्वप्नरूप ही है, इस प्रकारके मिथ्या मायिक-द्वैतप्रपञ्चसे दृष्टि हटाकर, तृष्णारहित-मौन, निजानन्द-पूर्ण और निश्चेष्ट हो जाय। फिर यद्यपि आहारादिके समय इसकी प्रतीति भी होगी, तथापि अवस्तु (मिथ्या) समझकर छोडा हुआ होनेके कारण यह जगत् भ्रम उत्पन्न न कर सकेगा। हाँ, देहपातपर्यन्त व्यवहार दशामें इसकी प्रतीति तो होती ही रहेगी।

अध्यारोप, अपवादके लिए किया जाता है। अपवादसे अध्यारोप निवृत्त हो जाता है। और अधिष्ठान तत्त्वके विचारद्वारा ही अपवाद सिद्ध होता है। तत्त्वविचार विना अपवाद सिद्ध नहीं होता। जिसप्रकार स्वप्नभ्रमका अपवाद जाग्रतिसे एवं अन्धकारका अपवाद प्रकाशसे ही होता है, अन्य-उपायोंसे नहीं होता; इसप्रकार तत्त्वविचारद्वारा ही द्वैत-आरोपका अपवाद होता है।

मिथिलाधिपति-राजा जनक जिज्ञासु था। इसलिए वह सत्संगका बहुत रसिक था। जिज्ञासु हुए विना सत्संगके मधुर रसका आस्वाद नहीं मिलता। अतएव उसके दरबारमें अनेक वेदवेत्ता-तत्त्वज्ञ ऋषियोंका आगमन होता रहता था। किसी समय राजा जनकको स्वप्न आया। स्वप्नमें वह अपनेको अत्यन्त गरीब भिखारीरूपसे देखने लगा। किसी

एक नगरमें वह भीख मांग रहा है। फटे मैले कपडे पहिने हुए है, हाथमें लकडी है, मुख दीनतापूर्ण है, शरीर शुष्क एवं मलिन है। प्रत्येक गृहके सामने जाकर भोजनके लिए पुकारता है। परन्तु उसकी पुकार कोई सुनता नहीं। निराश होकर वह एक मुहल्लेसे दूसरे मुहल्लेमें जाता है। क्षुधाकी ज्वालासे वह बडा व्याकुल है–उसकी शान्तिके लिए वह चिल्लाता जाता है। मार्गमें कोई व्यक्ति मिल जाता है–तो उसके सामने भी दीनतापूर्वक दयनीय स्वरसे भोजनकी याचना करता है। कहता है–अरे भाई! मुझ गरीब भिखारीपर दया करो। मुझे लाख करोड नहीं चाहिए। केवल भूख निवारणके लिए रोटीके कुछ टुकडे चाहिए। मैं अनाथ हूँ, अशक्त हूँ, दीन हूँ, कंगाल हूँ, भगवान्ने आपको बहुत कुछ दिया है–इनमेंसे थोडा देकर पुण्य कमा लो।' लाचार भिखारी केवल भीख ही नहीं मांगते, किन्तु साथमें कुछ उपदेश भी देते हैं–देखो भाई! हमने पूर्वजन्ममें किसीको कुछ नहीं दिया, पुण्यदान नहीं किया। इसलिए हमको दीन-भिखारी बनना पडा, यदि आप भी इस जन्ममें कुछ न देंगे, पुण्यदान नहीं करेंगे, तो आपकी भी मेरी जैसी हो दशा होगी। इसलिए कुछ न कुछ शक्तिके अनुसार देना चाहिए–परोपकार करना चाहिए।

'अष्टादशपुराणानां व्यासस्य वचनं द्वयम्।
परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनम्॥'

अठारह पुराणोंके मध्यमें व्यासके दो ही वचन साररूप हैं। परोपकार पुण्यके लिए है–पापके लिए परपीडन है।

'परहित सरिस धर्म नहीं भाई!।
परपीडा सम नहीं अधमाई॥' (रामायण)

परन्तु उस नगरके लोग भी कुछ ऐसे ही थे कि-कुछ देना जानते ही नहीं थे। उस भिखारीकी आवाज कोई सुनना ही नहीं चाहता था, सुनते हुए भी उपेक्षाकर या धमकाकर चल पडते थे। जिनके पेटरूपी 'लेटरवोक्स' दिनमें चार वार ठोंसे जाते हों, वे उस गरीबके क्षुधा-दुःखको कैसे जान सकते हैं?। तथापि वह उस नगरमें भोजनकी आशा रखकर घुमता ही जाता है। एक दो एवं तीन दिन व्यतीत हो गए; परन्तु उसे खानेका कुछ नहीं मिला। चिल्लाते चिल्लाते उसका कण्ठ सूख गया, आवाज क्षीण हो गई, चलनेकी भी शक्ति नहीं रही। बडा बुरा बेहाल हो गया, फिर भी '**आशा बलवती राजन्! शल्यो जेष्यति पाण्डवान्***।' के अनुसार वह अशक्त पैरसे लडखडाता हुआ घूम रहा है, शुष्क कण्ठसे भी चिल्ला रहा है। चौथे दिनके सायंकाल किसीने उसकी दुःखभरी अतिशिथिल आवाज सुनी। उसने इशारेसे समीपमें एक खिचडीका अन्नक्षेत्र बतलाया। कहा कि—तुम वहाँ जाओ, खानेको कुछ मिलेगा। वह भिखारी वहाँ पहुँचा, भोजनके लिए पुकार की। परन्तु भाग्यहीन मनुष्य जहाँ भी जावे, वहाँसे उसको नकारकी ही आवाज सुननेको मिलती है। वहाँसे भी उसको 'न' की कर्कश आवाज सुननी पडी। 'भोजन नहीं है, चोका उठ गया।' ऐसी आवाज सुनकर उसकी आशाका बांध अब टूट गया। उस

---

*आशा बलवती है। कुरुक्षेत्रके मैदानमें भीष्म द्रोण जैसे बडे बडे महारथी-वीरोंकी पराजय हो गई है। तथापि दुर्योधन यह आशा रख रहा है कि-यह नया बनाया हुआ सेनाधिपति-शल्य-राजा अवश्य ही पाण्डवों पर विजय पायेगा।

क्षेत्रके द्वारमें ही वह धडामसे गिर गया, बेहोश हो गया। क्षेत्रके संचालक मुनीमने देखा कि—यह बहुत हो भूखा है, यदि उसको आज कुछ भी खानेको नहीं मिलेगा तो यह यहाँ ही मर जायगा। उसने खिचडी बनानेवाले भण्डारीको पुकारा। कहा—अरे! कुछ हो तो दे, देख, इस भिखारीका बहुत बुरा हाल है। उसने पतेलीके नीचे चिपकी हुई जली हुई खिचडीको खरोचकर एक दोनामें भरके उसके पासमें रख दी। और वह उस बेहोश भिखारीको सावधान बनानेके लिए पुकारने लगा। भिखारीने आँखें खोलीं, दोनामें खानेकी खिचडी देखकर उसके शरीरमें कुछ बलका संचार हुआ। वह धीरेसे उठ बैठा। दोना हाथमें लेकर वह मन्द स्वरसे कहने लगा—आज मरते मरते मुझको तुमने बचाया है—भगवान् तुम्हारा भला करे। मुनीमने हाथके इशारेसे कहा—देखो! इस सडकके सामने वह कुवा है, वहाँ जाकर पानीके साथ इस खिचडीको घोलकर पी लो। मुनीमकी बात सुनकर वह खडा हो गया। कुवाकी तरफ़ सडक पार करता हुआ जाने लगा—इतनेमें लोगोंकी आवाजें सुनाई पडीं—भागो! भागो! सडकसे दूर हट जाओ, दो मस्तानें साँड लडते लडते आ रहे हैं। वह भिखारी भी भागने लगा—परन्तु विशेष शक्ति न होनेके कारण वह शीघ्र नहीं भाग सका, साँड समीप आ गये। भागते हुए उस भिखारीको एक साँडने जोरसे धक्का दिया, वह चोट खाकर गिर पडा, मुँह धूलमें घुस गया, खिचडीका दोना भी धूलमें मिल गया।

उस समय राजा जनककी सहसा आँखें खुल गईं। उधर (स्वप्नमें) देखता है कि—मैं बहुत गरीब भिखारी हूँ, इधर (जाग्रतमें) देखता है कि-

मैं राजाधिराज हूँ। उधर भिखारीकी कंगालियतका अनुभव हो रहा है, तो इधर महाराजाके विपुल ऐश्वर्यको देख रहा है। उधरकी दुनियाँ कुछ और थी–जिसमें दीनता एवं हीनता ही भरी थी। और इधरकी दुनियाँ कुछ और है–जिसमें बडा अहंकार एवं बडी समृद्धि भरी है। राजा विचार करने लगा–मैं कौन हूँ? क्या मैं कंगाल भिखारी हूँ कि–मिथिलाधिपति–राजाधिराज हूँ। क्या वह अनिष्ट दृश्य सच्चा है कि–यह अभीष्ट दृश्य सच्चा है?।

इसप्रकारके विचारमें निमग्न हुआ राजा–सभामें आया। उसने सभाके पण्डितोंसे पूछा कि–भिखारी सच्चा है कि–राजा सच्चा है, यह सच्चा है कि–वह सच्चा है। परन्तु प्रश्नके मूलका वास्तविक रहस्य न समझनेके कारण–पण्डित लोग कुछ उत्तर न दे सके। उसी समय महर्षि–अष्टावक्रजी उस सभामें पधारे। त्रिकालदर्शी महर्षिने राजाके प्रश्नका प्रतिषेधद्वारा उत्तर दिया कि–हे जनक! न तू राजा है, न तू भिखारी है, न यह दृश्य सच्चा है, न वह दृश्य सच्चा है। जाग्रत्का या स्वप्नका कोई भी दृश्य सच्चा नहीं होता। एकमात्र उसका द्रष्टा-चिदात्मा ही वास्तविक होता है। उस द्रष्टा-स्वरूप तुझमें भिखारीपनेका एवं राजापनेका–दोनों हो का दृश्य आरोपित है। द्रष्टाके वास्तविक ज्ञानसे इस आरोपित दृश्यका अपवाद कर। दृश्यको मत देख, द्रष्टाको देख। तू द्रष्टा है–स्वयंज्योतिः चैतन्य स्वरूप है, यह शरीरेन्द्रियादि दृश्य है, जड है, तू अनादि अनंत अपरिच्छिन्न एवं महान् है, यह आदि अन्त-वाला परिच्छिन्न एवं तुच्छ है। तू सत् चित् एवं आनन्दरूप है, तो यह जगत् असत्, जड एवं दुःखरूप है। आत्माके यथार्थ ज्ञानसे

दृश्य शरीरादि एवं उसकी–जाग्रदादि-अवस्थाओंका अपवाद होजाता है, इसलिए तू आत्माका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर। आरोपित इष्टानिष्ट दृश्यसें न कुछ लाभ है, न कुछ हानि है। कहा है–

'स्वप्ने होय भिखारी नृप, रंक नाकपति (इन्द्र) होय।
जागे हानि न लाभ कछु, तिमि प्रपञ्च जिय जोय॥'
(तुलसी–रामायण)

अतएव श्रीमद्भागवतके सप्तम स्कन्धमें भक्तप्रवर प्रह्लादजीने असुर बालकोंके प्रति आत्मज्ञानका इसप्रकार उपदेश दिया था–

'आत्मा नित्योऽव्ययः शुद्धः, एकः क्षेत्रज्ञ आश्रयः।
अविक्रियः स्वदृक् हेतुर्व्यापकोऽसङ्ग्यनावृतः॥
एतै र्द्वादशभिर्विद्वान् आत्मनो लक्षणैः परैः।
अहं ममेत्यसद्भावं देहादौ मोहजं त्यजेत्॥'
(७।७।१९–२०)

आत्मा तो नित्य, अव्यय, शुद्ध, एक, क्षेत्रज्ञ, अधिष्ठान, अविकारी, स्वयंप्रकाश, सबका कारण, व्यापक, असंग और अनावृत (पूर्ण) है। अतः विचारवान् मानवके लिए यह उचित है कि–वह आत्माके इन उत्कृष्ट बारह लक्षणोंके अनुसंधानसे देहादिमें अज्ञानके कारण होनेवाले अहं एवं ममभावका परित्याग करे।

'बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति वृत्तयः।
ता येनैवानुभूयन्ते सोऽध्यक्षः पुरुषः परः॥
(श्रीमद्भा० ७।७।२५)

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीनों बुद्धिकी वृत्तियाँ, जिसके द्वारा

अनुभव की जाती हैं, वही सर्व साक्षी, सवका अध्यक्ष परमात्मा है।

'एतद् द्वारो हि संसारो गुणकर्मनिबन्धनः।
अज्ञानमूलोऽपार्थोऽपि पुंसः स्वप्न इवेष्यते॥'
(श्रीमद्भा० ७।७।२७)

गुण और कर्म ही जिसके निमित्त हैं, उस संसारके अनुभवका द्वार यह देहाध्यास (अनात्म-देहमें आत्मत्वका अभिनिवेश) ही है, तथा यह संसार, आत्माके अज्ञानसे उत्पन्न है, और मिथ्या होनेपर भी स्वप्नके समान जीवको प्रतीत होता है।

इसलिए हमारे श्रुत्यादि शास्त्र,—उस आत्म वस्तुका अतद्व्यावृत्तिके द्वारा ही उपदेश देते हैं। तत् यानी आत्मा, अतत् अर्थात् आत्मभिन्न आरोपित-द्वैत-संसार। उसको व्यावृत्ति (अपवाद) किये विना आत्म-तत्त्वका वोध नहीं हो सकता। मुमुक्षु, गुरुदेवसे विधिमुखसे पूछता है कि—वह आत्मा कौन है? परन्तु गुरुदेव उसका निषेध मुखसे उपदेश देते हैं। यह शरीर आत्मा नहीं है, इन्द्रियाँ नहीं हैं, मन—वुद्धि—आदि नहीं है। इसप्रकार देहादि साक्ष्य पदार्थोंका अपवाद होनेपर परिशेष-रूपसे, जो रहता है, जिसके द्वारा इन जड देहादिओंका अनुभव किया जाता है, वह आत्मा है।

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम, एवं श्रीलक्ष्मण, विदेहकुमारी भगवती श्रीसीताज़ीके साथ वनवासके समय अत्रि महर्षिके आश्रममें गये थे। श्रीराम एवं श्रीलक्ष्मण तो मुनिप्रवर अत्रिके समीप अभिवाद-नकर बैठ गए। एवं श्रीसीतादेवी ऋषिपत्नी अनसूयादेवीके चरण छूकर उसके समीप आ बैठी। अनसूयाने कुशल-प्रश्न पूछनेके बाद

हाथके संकेतद्वारा श्रीसीताजीसे पूछा कि—इन दोनोंमेंसे—जो एक श्याम-सुन्दर हैं, तथा दूसरे गौरवर्णके हैं—तुम्हारा पतिदेव कौन है ? । अंगुलि निर्देशद्वारा पतिको एवं गुरुको बतलाना शास्त्रोंने निषेध किया है, इस मर्यादाको जानती हुई जनकनन्दिनी श्रीसीताने प्रसक्तके प्रतिषेधद्वारा भगवान् श्रीरामका पतिरूपसे परिचय देनेके लिए कहा कि—ये गौरवर्णके जो हैं—वे मेरे देवर लगते हैं । अर्थात् ये मेरे पति नहीं, किन्तु पतिदेवके भाई हैं । इतना कहकर वह चूप हो गई । श्रीअनसूयादेवीको परिशेष-रूपसे श्रीसीताके पतिदेवका यथार्थ बोध हो गया । दर्शन-शास्त्रोंमें—परिशेष—न्याय बहुत प्रसिद्ध है । उसका ऐसा लक्षण है—

'प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्रासंप्रसंगात्
परिशिष्यमाणे संप्रत्ययः परिशेषः ।'

प्रसक्तका प्रतिषेध होनेपर, अन्यमें संप्रसंग न होनेसे परिशिष्यमाण (बाकी रहनेवाले) अर्थका संप्रत्यय यानी यथार्थ-परिचय होना, परिशेष न्याय कहाता है ।

श्रीलक्ष्मणमें पतित्वकी—अनसूयाकी दृष्टिमें विकल्पसे (यह पति है कि—वह) प्रसक्ति थी, उसका श्रीसीताके उत्तरसे प्रतिषेध होनेपर अन्य कोई तृतीय व्यक्ति—भरतादि वहाँ नहीं थी—इसलिए तृतीयमें पतित्वके संप्रसंगका अभाव होनेके कारण, परिशिष्यमाण—श्रीराममें ही सीताके पतित्वका दृढनिश्चय होना, परिशेष न्याय कहा जाता है ।

इस प्रकार अज्ञान कल्पित-अनात्म-मिथ्या-भावोंका-आत्मज्ञानद्वारा प्रतिषेध करनेपर तदन्य—द्वितीय पदार्थके न रहनेसे उसमें आत्मत्वकी प्रसक्ति नहीं होती, परिशिष्ट उस सर्वबाधावधिरूप एक अद्वय आत्मामें

ही अभेदभावका संशयरहित—निश्चय होजाता है। उस निश्चयका अद्वैत वेदान्तके आचार्योंने इसप्रकार वर्णन किया है—

'नित्यः शुद्धो बुद्धमुक्तस्वभावः,
सत्यः सूक्ष्मः सन् विभुश्चाद्वितीयः।
आनन्दाब्धि यः परः सोऽहमस्मि,
प्रत्यग्धातु नात्र संशीतिरस्ति॥'
(संक्षेपशारीरक० १।१७३)

जो नित्य (कालत्रयके परिच्छेदसे रहित) है, शुद्ध (अविद्या कलंकरहित) है, बुद्ध (स्वप्रकाश—बोधरूप) है, मुक्त (रागद्वेषादि-बन्धरहित) है, सत्य (त्रिकालमें भी बाधरहित) है, सूक्ष्म (स्थूलत्वादि-रहित या दुर्विज्ञेय) है, सन् (सर्वत्र विद्यमान) है, विभु (देशपरिच्छेदसे रहित व्यापक) है, अद्वितीय (स्वभिन्न द्वितीयवस्तुसे रहित) है, आनन्दका अब्धि (अनवच्छिन्न—पूर्ण आनन्दका समुद्र) है, ऐसा जो तत्पदका लक्ष्य पर—आत्मा है, वही मैं त्वंपदका लक्ष्य प्रत्यगात्मा हूँ। 'अहं अहं' के अनुभवमें अहंकारादिके साक्षीरूपसे जो प्रकाशमान है—वह प्रत्यगात्मा है। वही परमात्मा है, वह मैं ही हूँ, इस विषयमें लेश भी संशय नहीं है। अर्थात् अनित्य-अशुद्धादिरूप देहादि मैं नहीं हूँ। यह नामरूपात्मक जगत् भी नहीं है। जीव भी नहीं, एकमात्र परिपूर्ण ब्रह्म ही सर्वत्र विद्यमान है। अतएव मुण्डक श्रुति कहती है कि—

'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥'
(२।२।११)

यह सब अमृतरूप ब्रह्म ही है, सामने जो कुछ है वह सब ब्रह्म ही है, पीछे भी जो कुछ है, सब ब्रह्म है, दक्षिण एवं उत्तरमें भी जो कुछ है, वह सब ब्रह्म ही है, ऊपर एवं नीचे भी जो कुछ है, वह सब प्रसृत (पूर्ण ठोसरूपसे फैला हुआ) ब्रह्म ही है। यह समग्र विश्व सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही हैं—ब्रह्मसे अन्य नहीं।

कानपुरके प्रसिद्ध कैलासमन्दिरमें—कुछ वर्ष प्रथम—महाभारतके लीलाओंकी प्रदर्शनी भरी थी। हजारों लोग उस प्रदर्शनीको देखने जाते थे। एक भक्तने हमसे भी कहा—स्वामीजी ! बडी अच्छी प्रदर्शनी है। आप भी देखने चलें, मोटर तैयार है, बैठ जाइये, घूमने तो जाते ही हैं, वहाँसे देखकर घूमने चले चलेंगे। हमने भी कहा—अच्छी बात है—चलिये। वहाँ जाकर देखते हैं कि—मिट्टीके अनेक प्रकारके अच्छे रंगीन बडे—बडे पुतले बनाकर रक्खे हैं। लोग परिचितकी भाँति हाथके संकेतसे एक दूसरोंको बतलाते हुए कहते जाते हैं कि—देखो, यह माता कुन्ती है,—पासमें दादा भीष्म एवं अन्धा धृतराष्ट्र खडे हैं। यह देखिये, मत्स्यवेध हो रहा है—ब्राह्मणवेषमें अर्जुन धनुषबाण लिए खडा है। समीपमें वरमाला लेकर देवी द्रौपदी खडी है। यह नीच दुःशासन है—जो द्रौपदीके वस्त्रोंको दुर्योधनकी आज्ञासे भरी सभामें खींच रहा है। अरे ! यह भीमसेन है—जो गदासे दुष्ट बकासुरको मार रहा है। ओ हो हो ! ये भगवान् श्रीकृष्ण हैं—जो रथ हाँकते हुए अर्जुनको गीताका उपदेश दे रहे हैं। यह अर्जुनकुमार अभिमन्यु है—जो कौरवोंके चक्र व्यूहको तोडकर उसमें घुसनेके लिए तैयार हुआ खडा है। यह घटोत्कच है—यह भी भीमसेनके समान बडा बल-वीर दीख रहा है।

और देखो! यह इसतरफ भीमसेन खडा है और उस तरफ वह दुर्योधन खडा है, दोनों ही अपनी अपनी मूछोंको मरोडते हुए हाथमें गदा लेकर लडनेके लिए तैयार खडे हैं।

इसप्रकार लोग उन मिट्टीके ही पुतलोंमें अनेक प्रकारके नामरूपोंका मिथ्या आरोपकर कभी अच्छा दृश्य देखकर प्रसन्न होते थे, तो कभी वस्त्र हरणके समय द्रौपदीकी दीनदशा देखकर रो पडते थे। विचार करके देखा जाय तो इन पुतलोंके अन्दर बाहर एकमात्र मृत्तिका ही भरी थी। न उनमें भीष्म था, न धृतराष्ट्र, न द्रौपदी थी, न कुन्ती, न भीम था, न युधिष्ठिर, सब कुछ आरोपित दृश्य था। काल्पनिक नामरूप थे।

उसप्रकार इस विश्वमें सत्य एकमात्र ब्रह्म ही है--वह सबके अन्दर बाहर परिपूर्ण है-- अतएव सर्वत्र वही समरूपसे विद्यमान है। सबका अपना आप है, परन्तु अज्ञानसे मूढ प्राणी उसमें अनेकप्रकारके मिथ्या नामरूपोंका आरोप करते हैं, एवं उसके द्वारा मोह एवं शोकका अनुभव करते रहते हैं। वास्तविक तत्त्वको भूलकर कल्पित दृश्योंमें ही तल्लीन होकर पागल बने हुए हैं। उनको यह भ्रान्ति तत्त्वज्ञानके द्वारा ही निवृत्त होती है। तत्त्वज्ञान ही अतद्व्यावृत्तिद्वारा एक अद्वय ब्रह्मका ही परिशेषरूपसे अनुभव कराता है। यह परिशिष्ट अनन्य तत्त्व ही विष्णुका परमपद है। ऋग्वेदमें तथा श्रीमद्भागवतमें उसका परिचय इसप्रकार दिया है—

'तद्विष्णोः परमं पदं, सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्।' (ऋ० १।२२।२०)

विष्णुके उस परम पदको विद्वान् महात्मा सदा देखते हैं--अर्थात् अनन्यरूपसे पूर्णरूपसे सर्वत्र सदा अपरोक्ष अनुभव करते हैं। जिस-प्रकार आकाशमें फैली हुई चक्षु, सूर्यका साक्षात् दर्शन करती है, तद्वत्।

'परं पदं वैष्णवमामनन्ति तद्,
यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः।'
(श्रीमद्भा० १२।६।३२)

जो 'नेति नेति' वाक्यद्वारा आरोपित-मिथ्या-अनात्मवस्तुका निषेध करनेमें तत्पर रहते हैं, वे विवेकी महापुरुष उस अद्वय-अनन्य-सर्वबाधा-वधिरूपसे परिशिष्ट तत्त्वको विष्णुका परमपद बतलाते हैं।

इसप्रकार भगवान् श्रीकृष्णने भी गीताके उस श्लोकमें इसी ही अनन्य-तत्त्वका उपदेश दिया।

(८)

'रसोऽहमप्सु कौन्तेय!, प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु, शब्दः खे पौरुषं नृषु॥' (७।८)

हे कुन्ती-पुत्र अर्जुन! जलमें मैं रस हूँ, तथा चन्द्रमा और सूर्यमें प्रकाश हूँ, और समस्त वेदोंमें ओंकार (ॐ) मैं हूँ, तथा आकाशमें शब्द और पुरुषोंमें पुरुषत्व मैं हूँ।

आनन्दकन्द प्रभु श्रीकृष्णने पूर्व श्लोकमें संक्षेपसे दिखाया था कि 'यह अशेष जगत् मुझमें ओतप्रोत है, मुझ परमात्मासे ही इसकी सत्ता है, स्फूर्ति है।' अब विलक्षण ढंगसे विस्तारपूर्वक इसका वर्णन करते हैं। असुक--असुक--साररूप कारणरूप धर्मोंसे विशिष्ट मुझ परमात्मामें यह जल-सूर्य चन्द्रादि जगत् ओतप्रोत है। जलमें सार रस

है। यही जलका कारण है। रसके होनेपर ही जलका अस्तित्व है, रस न हो तो जलका कुछ भी अस्तित्व नहीं रहता। इसप्रकार रसका अन्वय एवं व्यतिरेक, रसमें जलकी कारणताका समर्थन करता है। जो कारण होता है, वह कार्यमें अनुगत होता है। जलमें रस अनुगत है, इसलिए रसरूप मुझमें ये सब जल ओतप्रोत हैं। रसतन्मात्रारूप विभूतिसे मैं जलका आश्रय हुआ जलमें अवस्थित हूँ। आगे अष्टमश्लोकमें '**पुण्यो गन्धः**' ऐसा गन्धमें पुण्यत्व (प्रशस्तत्व) जो विशेषण दिया है, उस विशेषणकी अनुवृत्ति, रस-प्रभा आदिमें भी कर लेनी चाहिए। इसलिए जलमें जो पुण्य अर्थात् प्रशस्त मधुर रस है, वह मेरा स्वरूप है, जलमें मैं ही मधुर—रसरूपसे सदा विद्यमान रहता हूँ। इसलिए यह मधुर रसवाला जल, सबका जीवन माना गया है। '**जलन्तु जीवनं स्मृतं**' यदि हम जल पीना छोड दें, तो हम जी नहीं सकते।

यद्यपि समुद्रके क्षार जलमें मधुररसकी प्रतीति नहीं होती। तथापि उसमें भी मधुर रस अवश्य विद्यमान है। परन्तु उसकी प्रतीति इसलिए नहीं होती है कि—वह क्षार भागसे दबा हुआ है। जिसप्रकार न्याय-शास्त्रवाले नैयायिक सुवर्णको तैजस यानी तेजका कार्य मानते हैं। पार्थिव नहीं। तब जो अग्निका कार्य होता है, उसमें प्रकाशक-भास्वर शुक्लरूप तथा दाहक-उष्ण स्पर्श होना चाहिए। परन्तु सुवर्ण, अन्धकारमें दीपककी तरह न चमकता है, न उसका स्पर्श ही उष्ण मालूम पडता है। ऐसी दशामें सुवर्ण तैजस कैसे माना जा सकता है? इस आक्षेपका समाधान नैयायिक इसप्रकार करते हैं कि—यद्यपि सुवर्ण तैजस है, अतएव उसमें भास्वर—शुक्लरूप, एवं उष्ण—स्पर्श विद्यमान है, तथापि

उन्हें सुवर्णमें अवस्थित पार्थिव अंश अभिभूत कर देते हैं। इसलिए सुवर्णका भास्वर शुक्लरूप पृथिवी भागके पीतरूपसे, तथा उष्ण स्पर्श, पृथिवी भागके शीत स्पर्शसे दब जानेसे प्रतीत नहीं होते हैं। इसप्रकार पृथिवीके क्षार भागसे अभिभूत होनेके कारण समुद्रीय जलमें हमको मधुरता प्रतीत नहीं होती। परन्तु बादल जब समुद्रके जलको वृष्टिके लिए ग्रहण करते हैं, तब उस-जलमें अवस्थित क्षारभाग छोडकर केवल मधुर-रसवाले जलको ही ग्रहण करते हैं। क्योंकि- बादलोंमें भगवत्प्रदत्त ऐसी विलक्षण शक्ति है कि-वे क्षारअंशको जलकी मधुरतासे पृथक् कर देते हैं।

अतएव जलके अन्दर जो मधुर रस है, वह भगवान्‌का ही स्वरूप है, ऐसी धारणा जलदर्शन, या जलपानके समय रखनी चाहिए। भगवान् परम मधुर हैं, इनकी ही मधुरता जलमें प्रतीत हो रही है, ऐसी भावना सतत करनी चाहिए। भावना एक बडी चीज है। जलमें मधुर रसरूपसे यदि हमारी भगवद्भावना स्थिर हो जाती है, तब हमारे हृदयमें अवश्य ही भगवान्‌का रस यानी विमल-आनन्द प्राप्त होता है। भगवद्भावना ही आनन्दका हेतु है। जिसकी भावना अच्छी होती है, वह अच्छा बन जाता है। जिसकी भावना बुरी होती है, वह बुरा बन जाता है। आपकी जैसी इच्छा है, वैसा आप बन सकते हैं, आप इस विषयमें स्वतन्त्र हैं। आपको अच्छी भावना या बुरी भावना करनेमें कोई रोकता नहीं। आपके दोनों हाथोंमें दो लड्डू हैं-एक विषका है, तो दूसरा अमृतका। आपको समझा दिया है कि-इस लड्डूमें अमृत भरा है-तथा इसमें विष। आपकी मरजी है, जिसको खाना चाहें, खा सकते हैं। यदि

आप विषका लड्डू छोडकर अमृतका लड्डू खाते हैं; तो आप, समझदार, विवेकी एवं अपना हितैषी माने जायेंगे। यदि आप अपनी मूर्खतावश अमृतका लड्डू छोडकर विषका लड्डू खाते हैं; तो आप बेवकूफ एवं अपना विरोधी माने जायेंगे। प्रकृतमें भगवान्की-आत्माकी आनन्ददायिनी प्रशस्त भावना, अमृतभरा लड्डू है। खराब द्वन्द्वमयी मिथ्या संसारकी भावना विषका लड्डू है।

यदि भावना बिगड गई तो मन भी बिगड जायगा। इसके बाद शरीर भी बिगड जाता है। मनकी खराब भावनाका असर तत्काल शरीर पर भी पड जाता है। एक मनुष्य बडा परिश्रमी था। खूब काम करता रहता था। किसी दिन उसको साधारण बुखार आगया। वह डाक्टरके समीप गया। डाक्टरने उसके शरीरको अच्छी प्रकारसे जाँच कर दवाई दी। उसने डाक्टरसे अपने शरीरके विषयमें विशेष जानकारीके लिए पूछा—डाक्टरने कहा—इससमय मेरे पास ज्यादा समय नहीं है—तुरन्त ही मुझे 'विझीट'में जाना है, इसलिए आपके शरीरका विशेष वृत्तान्त मैं पत्रके द्वारा आपके समीप भेजूँगा। ऐसा कहकर डाक्टर वहाँसे चला गया और वह अपने घरमें आया। दूसरे रोज डाक्टरने उसको पत्रमें लिखा कि—तुमको विशेष कुछ बिमारी नहीं है। साधारण गर्मी है—दवाईके सेवनसे एवं दो रोज आराम करनेसे अच्छा हो जायगा। परन्तु 'कम्पाउन्डर' की भूलसे उसको दूसरे रोगीका पत्र भेज दिया गया। जिसमें लिखा था कि—'तुम्हारा कलेजा एकदम खराब हो गया है—उसमें छिद्र पड गये हैं; एवं रोगके बडे बडे जन्तु घुस गये हैं।' पत्र पढते ही वह एकदम घबरा गया।

मौतकी भयंकर खराब भावना हो जानेके कारण, सभी नाडियोंमें जोरकी पीडा होने लगी। मुख पीला एवं फीका हो गया। मनोराम भीतर ही भीतर 'हाय हाय!! मरारे मरा!' पुकारने लगा। कलेजा जलता हुआ मालूम होने लगा। उसकी साधारण बीमारी बहुत ही बढ गई। इतना तक कि—वह घरवालोंसे कहना लगा—'अब मैं थोडे समयका मेहमान हूँ, कालदेवता मेरा गला दबा रहा है—मेरे लिए कुछ दान पुण्य करना चाहें तो कर सकते हैं।' उसकी ऐसी बात सुनकर एवं उसके शरीरका विलक्षण रंगढंग देखकर घरवाले भी घबरा गये। तुरन्त ही उस डाक्टरको बुलाया गया। डाक्टरने आते ही कहा—'अरे! कल तो तुम बहुत ही अच्छे थे, एक ही रोजमें ऐसा क्या हो गया?' उसने कहा—आपने ही तो पत्रमें लिख भेजा था, उसके कारण मेरी ऐसी दशा हो गई है। अभीतक तो मैं अपने कलेजेके विषयमें कुछ जानता नहीं था, अब आपके पत्रसे उसकी हालतका पता लग गया। डाक्टरने आश्चर्यके साथ कहा—वह पत्र कहाँ है?। जल्दी दिखाओ। डाक्टरने वह पत्र पढ़ा। कहा—अरे! कम्पाउन्डरकी गल्ती हो गई है—यह दूसरे रोगीका पत्र था—जो तुम्हें भेजा गया। तुम्हारे लिए मैंने यह पत्र नहीं लिखा है। तुम्हारा तो कलेजा बहुत ही अच्छा है। ऐसा सुनते ही उसके कलेजेकी जलन एवं पीडा चली गई, वह उठ खडा हो गया, और उसकी सभी बिमारी जाती रही। खराब भावनासे नीरोग शरीर भी रोगी हो जाता है। यदि खराब भावनासे खराब फल होता है; तो अच्छी भावनासे अच्छा फल क्यों नहीं होगा? अवश्य होगा।

जिसप्रकार 'बदमाश' 'बेईमान' आदि खराब शब्दोंमें मनकी प्रसन्नताको नष्ट करनेवाली बुरी शक्ति है–जिससे क्रोध पैदा होजाता है। उस प्रकार अच्छे शब्दोंमें–तथा अच्छी भावनाओंमें भी अच्छी शक्ति है–जिससे व्यग्रताकी निवृत्ति एवं प्रसन्नताकी प्राप्तिरूप अच्छा फल मिल जाता है। जिसप्रकार हम तिजोरीके गुप्त धनको अच्छा हितकारी एवं बहुत प्रिय समझकर सदा याद रखते हैं, कभी नहीं भूलते। उसप्रकार भगवत्स्वरूपकी आनन्दमयी भावना भी अच्छा हितकारी हमारा गुप्त धन है, ऐसा समझकर उसमें अत्यधिक प्रीति बाँधकर उसको हरदम जाग्रत रखनी चाहिए। श्रीभगवान्‌ने बताया है कि–मैं तेरे समक्ष अनेक स्वरूपोंसे विद्यमान रहता हूँ। जैसे मैं जलमें रसरूपसे विद्यमान हूँ, वैसे मैं चन्द्र एवं सूर्यमें प्रभारूपसे विद्यमान हूँ।

कुछ जिज्ञासु लोग कहते हैं–अरे! भगवान् कहाँ हैं? कहाँ मिलेंगे?। श्रीभगवान् कहते हैं–मैं कहाँ नहीं हूँ? सब जगह तुझे मिल सकता हूँ, तुझसे मैं मिला हुआ ही हूँ, परन्तु तेरी आँखें बन्द हैं इसलिए तू मुझे नहीं देख रहा है। मैं सर्वत्र हूँ। सूर्य चन्द्रकी विश्वव्यापिनी जो मनोरम प्रभा है, वह भी मेरा ही स्वरूप है। उस सामान्य प्रकाशरूप प्रभामें सूर्य एवं चन्द्र ओतप्रोत हैं। उस प्रभारूपसे तू मेरी भावना कर। कहा है—

'यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी।'

गीताके पंद्रहवाँ अध्यायमें भी भगवान्‌ने कहा है—

'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥'

(गी० १५।१२)

जो तेज सूर्यमें स्थित हुआ सम्पूर्ण जगत्‌को प्रकाशित करता है, तथा जो तेज चन्द्रमामें स्थित है, और जो तेज अग्निमें स्थित है, उसको तू मेरा ही स्वरूप जान।

अतएव योगीजन भी तेजरूपसे भगवान्‌का ध्यान करते हैं। इसलिए योगशास्त्रमें कहा है—

'ध्यायेत्तेजोमयं ब्रह्म, तेजोध्यानं परात्परम्।
भ्रुवोर्मध्ये मनोऽर्द्धे च यत्तेजः प्रणवात्मकम्॥'

तेजोमय ब्रह्मका ध्यान करें। तेजरूपसे ब्रह्मका ध्यान सर्वोत्तम है। दोनों भ्रू(भृकुटी)ओंके मध्यमें अर्थात् आज्ञाचक्रमें तथा मनका स्थान हृदयमें जो प्रणवरूप तेज है—उसकी ब्रह्मरूपसे भावना करनी चाहिये।

'ललाटमध्ये हृदयाम्बुजे वा, यो ध्यायति ज्ञानमयीं प्रभां तु।
शक्तिं यदा दीपवदुज्ज्वलन्तीं, पश्यन्ति ते ब्रह्म तदेकनिष्ठाः॥'

(योगी-याज्ञवल्क्य संहिता—उ० १२। २५। ४)

जब ललाटके मध्यमें या हृदयकमलमें चैतन्यमयी-प्रभा-शक्तिका जो दीपके समान प्रदीप्त हो रही है--ध्यान करता है, वह ध्यानमें तन्मय हुआ अवश्य ब्रह्मसाक्षात्कार कर ही लेता है।

इसप्रकार समग्र वेदोंकी एवं द्विजोंकी मातारूप प्रसिद्ध गायत्री मन्त्रमें भी देव—परमात्माकी सर्वोत्तम भर्गज्योतिके ही ध्यानका उपदेश दिया है। अतएव विश्वामित्र महर्षिने कहा है—

'सप्रभं सत्यमानन्दं हृदये मण्डलेऽपि च।
ध्यायन् जपेत्तदित्येतन्निष्कामो मुच्यतेऽचिरात्॥'

हृदयमें एवं सूर्यचन्द्रादि-मण्डलमें सत्य आनन्दरूप प्रभायुक्त ब्रह्मका

ध्यान करता हुआ—जो निष्काम भावसे गायत्री मन्त्रका जप करता है—वह संसारके बन्धनोंसे शीघ्र मुक्त हो जाता है।

वह ज्योतिरूप प्रभा ही—ब्रह्मा शिव एवं विष्णुरूप है—वही मेरा वास्तविक स्वरूप है—ऐसी अभेद भावना रखनी चाहिए। ऐसा कहा भी है——

'अर्कज्योतिरहं ब्रह्म, ब्रह्मज्योतिरहं शिवः।
शिवज्योतिरहं विष्णुः, विष्णुज्योतिरहं शिवः॥'

सूर्यज्योतिरूप ब्रह्म मैं हूँ, ब्रह्मज्योतिरूप शिव मैं हूँ, शिवज्योतिरूप विष्णु मैं हूँ, तथा विष्णुज्योतिरूप शिव मैं हूँ।

इसप्रकार समग्र-वेदोंमें साररूपसे-कारणरूपसे अनुगत जो प्रणव है—ॐकार है, वह मेरा स्वरूप है, उस प्रणवरूप मुझ-परमात्मामें समस्त वेद ओतप्रोत हैं। अतएव वह ॐकार सर्वात्मा एवं सर्वमय है। इसलिए वेदवेत्ता ऋषि 'ॐ' मन्त्रको एकाक्षर ब्रह्म कहते हैं। श्रुति-भगवती भी कहती है कि—**'ओमिति ब्रह्म'** (तै० उ० १।८) **'ओंकार एवेदꣳ सर्वम्'** (छां० उ० २।२३।३) **'ओमित्यात्मानं युञ्जीत।'** (तै० आ० १०।६३) ॐ यह अक्षर ब्रह्म है। ॐकार ही यह समस्त जगत् है। ॐरूप अपने आत्माके चिन्तनमें मनको तल्लीन बना।

ॐकारसे समस्त वेदोंका आविर्भाव हुआ है। और वेदोंसे, समस्त इन्द्रादि—देवोंका प्रादुर्भाव हुआ है। इसलिए ॐकारके उच्चारणसे समस्त वेदोंके स्वाध्यायका फल मिलता है, एवं समस्त देव भी-जो ॐकारमें निवास कर रहे हैं—प्रसन्न हो जाते हैं। इसलिये ॐकार-

रूप भगवान्‌में प्रेम करो, उसका श्रद्धा-एकाग्रतासे जप करो, भगवान्‌का वह ॐस्वरूप अत्यन्त शान्त-ज्योतिर्मय एवं परम-आनन्दरूप है। इसलिए ॐमन्त्रमें चित्तके तल्लीन हो जानेपर साधकको परम शान्ति-दिव्य-ज्योति एवं विशुद्ध आनन्दका अनुभव होता है। अतएव मुण्डकोपनिषत्‌में कहा है कि—

'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं,
स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्।'
(मु० २।६)

ॐकाररूपसे आप अपनी आत्माका ध्यान करें। इससे आप लोगोंका कल्याण होगा। अज्ञानान्धकारका विध्वंस कर आप स्वयं ज्योतिर्मय-आनन्द-पूर्ण ब्रह्मस्वरूप हो जायेंगे।

इसप्रकार ॐकारकी श्रद्धेय—महिमासे सम्पूर्ण वेद, स्मृति, पुराण आदि शास्त्र भरे पडे हैं। अतएव कठोपनिषत्‌में ऋषिकुमार नचिकेताके प्रति धर्मराजने ॐकारकी महिमा मुक्तकण्ठसे गाई है। जैसे—

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति,
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति,
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि, ॐ इत्येतत्॥'
'एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म, एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा, यो यदिच्छति तस्य तत्॥'
'एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा, ब्रह्मलोके महीयते॥'
(१।२।१५-१६-१७)

हे नचिकेता ! समग्र वेद जिस पदको कहते हैं, एवं सम्पूर्ण तपोंके फलका–जिसकी उपासनाके महान् फलमें 'गंगामें समस्त तीर्थोंकी भाँति' 'हाथीके पैरमें सब पैरोंके सदृश,' अन्तर्भाव होजाता है। जिस पदके लाभकी इच्छासे साधक सर्वोत्तम एवं कठोर व्रत–ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं। उस पदको मैं तुझे संक्षेपसे कहता हूँ। वह ॐ यह पद है। यही ॐ अक्षर अपर–सगुण ब्रह्म है, और यही पर–निर्गुण ब्रह्म है। इस सर्व-व्यापक अविनाशी अक्षर ब्रह्मको जानकर, साधक जिस फलकी इच्छा करता है, उसको वही फल मिलता है। अतः ब्रह्मकी उपासनामें यह ॐ मन्त्रका आलम्बन, सर्वोत्तम एवं अत्यन्त प्रशस्त है। इस आलम्बनको जानकर या उसकी उपासनाकर साधक ब्रह्मलोकमें जाकर पूर्ण-आनन्दमय ज्योतिःस्वरूप महिमाका अनुभव करता है।

एवं प्रश्नोपनिषत्में शिबि पुत्र-सत्यकामने पिप्पलाद महर्षिसे पूछा–

'स यो ह वै तत् भगवन्! मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत। कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति।'

(५।१)

हे भगवन्! मनुष्योंमें जो पुरुष प्राणप्रयाणपर्यन्त इस ॐकारका निरन्तर ध्यान करता है, वह उस ॐकारोपासनासे किस लोकको जीत लेता है?–अर्थात् स्वाधीन करता है?।

'तस्मै स होवाच, एतद्वै सत्यकाम! परं चापरं च ब्रह्म, यदोङ्कारः। तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति।'

(५।२)

उससे उस पिप्पलाद-मुनिने कहा—हे सत्यकाम ! यह जो ॐकार है, वही निश्चय ही पर और अपर अर्थात् निराकार एवं साकार ब्रह्म है। अतः विद्वान् इसको उपासनाके अवलम्बनसे उनमेंसे किसी-एक ब्रह्मको प्राप्त होजाता है।

पुनः उसके प्रति पिप्पलाद-महर्षिने-संक्षेपमें साररूपसे कहा कि—

'ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं,
सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते।
तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्
यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति॥'
(५।७)

साधक, ऋग्वेद द्वारा ॐकारकी उपासनासे इस मनुष्यलोकको प्राप्त होता है, अर्थात् वह उपासक इस लोकमें पुनः आकर विवेकादि-साधन सम्पन्न होजाता है। तथा यजुर्वेदद्वारा ॐकारकी उपासनासे अन्तरिक्ष-लोकको प्राप्त होता है, वहाँ वह विविध-प्रकारकी विभूतियोंके सुखका अनुभव करता है। तथा सामवेद द्वारा ॐकारकी उपासनासे उस-ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है,--जिसे विज्ञजन जानते हैं। इसप्रकार क्रमशः ओङ्काररूप साधनद्वारा ही अपर ब्रह्मस्वरूप—इस त्रिविधलोकको प्राप्त होजाता है। तथा उस ओङ्काररूप आलम्बनके द्वारा ही विद्वान् परब्रह्मका उपासक, उस धामको प्राप्त होता है—जो शान्त अर्थात् जाग्रदादि-सर्व द्वैतप्रपञ्चवर्जित, अजर, अमर, अभय एवं सबसे पर निरतिशय चिन्मात्र ब्रह्मज्योतिः स्वरूप है।

इसप्रकार मुण्डकोपनिषत्में भी ॐकारकी उपासनाका विधान किया है—

'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा, ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥'
(२।२।४)

ॐ मन्त्र धनुष् है, जीवात्मा बाण है। ब्रह्म-परमात्मा उसका लक्ष्य कहा गया है। बाणकी तरह तन्मय होकर प्रमादरहित शान्त एवं एकाग्र चित्तद्वारा ब्रह्मरूप लक्ष्यका वेध करना चाहिए।

तन्मय हुए विना-इतर विस्मृति किये विना लक्ष्यका वेध सम्पन्न नहीं होता। द्रोणाचार्यजी कौरव एवं पाण्डव कुमारोंके धनुर्विद्याके शिक्षक—गुरु थे। एकरोज उन्होंने अपने शिष्योंकी परीक्षा लेनेका विचार किया। लक्ष्यवेधमें—कौन कुमार कितना निष्णात हुआ है—इसके निर्णयके लिए मैदानके मध्यमें अवस्थित विशाल वटवृक्षकी ऊँची शाखाके अग्र—भागमें एक कागजके बने हुए नकली पक्षीको लटका दिया। उसकी दक्षिण—आँखमें एक काले रंगका बिन्दु लगाया। उसको वेधका लक्ष्य बनाकर सभी कुमारोंको उसके सामने मैदानमें खडे कर दिए। द्रोणाचार्य-गुरुने सभी कुमारोंको वह पक्षी तथा उसकी दक्षिण-आँखका-काला-बिन्दुरूप लक्ष्य भी दिखलाया। प्रथम उस लक्ष्य वेधके लिए धृतराष्ट्र-नन्दन दुर्योधनको धनुष्बाण देकर खडा किया। दुर्योधनने लक्ष्यके तरफ बाणका अनुसन्धान किया। उससमय उससे गुरु द्रोणाचार्यने पूछा—दुर्योधन! लक्ष्यकी तरफ तुमने ठीक ठीक बाणका संयोजन किया है न? दुर्योधन बोला—हाँ गुरुदेव!। अच्छा, तब तुम बतलाओ कि—इससमय तुम्हें क्या दीखता है?। दुर्योधन बोला—गुरुदेव! मुझे सब कुछ दीखता है—वृक्ष दीखता है, उसकी बडी बडी फैली हुई

ऊँचो ऊँची शाखाएँ भी दीखती हैं। आप भी दीख रहे हैं, और ये तमाशा देखनेके लिए--आये हुए हस्तिनापुरके सहस्रों नागरिक भी दीख रहे हैं। उसका उत्तर सुनकर गुरुदेवने पुनः वही पूछा कि--अरे! भाई! लक्ष्यवेधके समय--तुम्हें क्या दीखता है? प्रश्नका तात्पर्य न समझनेके कारण दुर्योधनने झूँझलाकर कहा कि--क्या आप मुझे अपने पिताके समान चक्षुविहीन समझ रहे हैं? 'क्या दीखता है? क्या दीखता है?' ऐसे प्रश्नकर आप--समझते होंगे कि--इसको कुछ दीखता ही न होगा?। दुर्योधनका ऐसा प्रतिकूल उत्तर सुनकर गुरुदेव चूप हो गये। मनमें बोल उठे कि--यह लक्ष्यवेध नहीं कर सकता। द्रोणाचार्यने कहा-अच्छा-लक्ष्यवेधके लिए बाण फेंको। वह लक्ष्यके तरफ तन्मय न होनेके कारण लक्ष्यवेध नहीं कर सका।

उसके बाद युधिष्ठिरको बारी आई। उसने भी लक्ष्यके तरफ बाणका संयोजन किया। गुरुदेवने उससे भी यही पूछा कि--युधिष्ठिर! इससमय तुम्हें क्या दीखता है?। युधिष्ठिरने नम्रताके साथ कहा कि-गुरुदेव! मुझे भी यह वृक्ष आदि सब कुछ दीखता है। गुरुदेवने खेदके साथ शिर हिलाकर कहा--अच्छा, बाण फेंको। परन्तु वह भी विफल हो गया। उसके बाद अर्जुन सामने आया। उसने भी धनुष्के ऊपर बाण चढाकर लक्ष्यके तरफ उसका संयोजन किया। उस समय गुरुदेवने पूछा--अर्जुन! कहो इस समय तुम क्या देख रहे हो?। अर्जुनने कहा-गुरुदेव! इससमय मैं और कुछ भी नहीं देख रहा हूँ। केवल उस पक्षीके आँखमें स्थित काला बिन्दुरूप लक्ष्य ही देखता हूँ। अर्जुनका उत्तर सुनकर गुरु द्रोणाचार्य बहुत प्रसन्न हुए। 'धन्य धन्य'

कहते हुए एवं प्रेमसे उसकी पीठपर हाथ फेरते हुए गुरुदेवने अर्जुनको लक्ष्यवेधके लिए बाण फेंकनेकी अनुमति दी। लक्ष्यके तरफ तन्मयता होनेके कारण अर्जुन लक्ष्यवेध करनेमें सफल हुआ। उससमय सभी दर्शक-नागरिकोंने हर्षध्वनिके साथ तालियाँ बजाकर अर्जुनको वधाई दी।

इसप्रकार ॐकारके उपासकको भी सभी सांसारिक प्रमादोंका परित्यागकर ब्रह्मलक्ष्यकी तरफ तन्मय हो जाना चाहिए। उपासनामें जितनी जितनी तन्मयता स्थिर होती जायगी, उतना उतना ही उसे ब्रह्मके महान् शान्त आनन्दका अनुभव भी होता जायगा।

एवं माण्डूक्योपनिषत् तो आदिसे अन्त तक ॐकारका ही विशद वर्णन करती है। उसकी कारिकाओंमें पूज्य गौडपादाचार्य प्रणवकी महिमाका विस्तारसे इसप्रकार वर्णन करते हैं—

ॐकारं पादशो विद्यात्, पादा मात्रा न संशयः।
ॐकारं पादशो ज्ञात्वा, न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ २४ ॥

युञ्जीत प्रणवे चेतः, प्रणवो ब्रह्म निर्भयम्।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य, न भयं विद्यते क्वचित् ॥ २५ ॥

प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म, प्रणवश्च परः स्मृतः।
अपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्योऽनपरः प्रणवोऽव्ययः ॥ २६ ॥

सर्वस्य प्रणवो ह्यादि - र्मध्यमन्तस्तथैव च।
एवं हि प्रणवं ज्ञात्वा, व्यश्नुते तदनन्तरम् ॥ २७ ॥

प्रणवं हीश्वरं विद्यात्, सर्वस्य हृदि संस्थितम्।
सर्वव्यापिनमोङ्कारं मत्वा धीरो न शोचति ॥ २८ ॥

अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः ।
ओङ्कारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः ॥ २९ ॥
(आगम-प्रकरणम्)

ॐकारको एक-एक-विश्व विराट् आदि पादद्वारा जानें, पाद ही-अकारादि मात्राएँ हैं, इसमें संदेह नहीं। इसप्रकार ॐकारको पादक्रमसे जानकर कुछ भी चिन्तन न करे। चित्तको परमार्थ स्वरूप ॐकारमें समाहित करे। ॐकार निर्भय ब्रह्म है। ॐकारके चिन्तनमें जो साधक सदा लगे रहते हैं, उनको कहीं भी कभी किसीसे लेश भी भय नहीं होता। ॐकार ही पर (निर्गुण-निराकार) ब्रह्म है, और ॐकार ही अपर (सगुण-साकार) ब्रह्म माना गया है। यह ॐकार अपूर्व (कारणरहित), अनन्तर (यावत् भेदशून्य), अबाह्य (बाह्य-प्रपञ्चशून्य) अनपर (कार्यरहित) तथा अव्यय (विकाररहित) है। प्रणव ही सबका आदि, मध्य और अन्त है, अर्थात् आकाशादि समस्त प्रपञ्चकी उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलयमें एकमात्र ॐकार ही अधिष्ठानरूपसे रहता है। इसप्रकार ॐकारके यथार्थ स्वरूपको जानकर उसकी उपासनाकर साधक ॐकारके विशुद्धस्वरूपके साथ दूधमें मिला हुआ जलके समान तद्रूप हो जाता है। अतः प्रणवको ही सबके हृदयमें साक्षीरूपसे स्थित ईश्वर समझना चाहिए। इसप्रकार सर्वव्यापी ओङ्कारको जानकर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता। जिसने मात्रा (परिच्छित्ति) हीन—अनन्त मात्रावाले द्वैतके उपशमस्थान शिवस्वरूप ॐकारको जाना है, वही ॐकारके द्वारा परमार्थ-तत्त्वका मनन करनेसे मुनि है। और कोई-मननशून्य मुनि नहीं होसकता।

इसप्रकार छान्दोग्योपनिषत्के प्रथमाध्यायमें भी उपासनामें रुचि एवं स्थिरता सिद्ध करनेके लिए अनेक ढंगसे ॐकारकी महिमाका इस प्रकार वर्णन किया है—

'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत, ओमिति ह्युद्गायति, तस्योपव्याख्यानम्। एषां भूतानां पृथिवी रसः, पृथिव्या आपो रसोऽपामोषधयो रसः, ओषधीनां पुरुषो रसः, पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रसः, ऋचः साम रसः, साम्न उद्गीथो रसः। स एष रसानाꣳ रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः।'

(छां० उ० १।१।१-२-३)

'ॐ' यह जो एकाक्षर मन्त्र है, वह उद्गीथ है, सामवेदी ॐकारको 'उद्गीथ' कहते हैं। एवं ऋग्वेदी 'प्रणव' कहते हैं, उसकी उपासना करनी चाहिए। सामवेदके उद्गाता 'ॐ' इस मन्त्रका तन्मय होकर गान करते हैं। अतः यहाँ इसके महत्त्वका व्याख्यान किया जाता है। समस्त भूतोंका रस यानी सारतत्त्व पृथिवी है, पृथिवीका सार जल है, जलका सार औषधि है, औषधिका सार पुरुष है, पुरुषका सार वाणी है, वाणीका सार ऋचाएँ हैं, ऋचाओंका सार सामवेद है, सामका सार उद्गीथरूप ॐकार है। ॐकार ही सारभूत वस्तुओंमें सारतम अष्टम वस्तु है, अतः ॐकार ही परम उत्कृष्ट एवं परम मूल्यवान् है।

'ॐ' इत्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत, 'ॐ' इति ह्युद्गायति, तस्योपव्याख्यानम्। देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशन्, ते छन्दोभिरच्छादयन्, यदेभिरच्छादयन्, तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्। तानु तत्र मृत्युर्यथा मत्स्यमुदके परिपश्येदेवं पर्यपश्यत्......। ते नु विदित्वोर्ध्वा ऋचः साम्नो यजुषः स्वरमेव

प्राविशन्।……एष उ स्वरो यदेतदक्षरमेतदमृतमभयं तत्प्रविश्य देवा अमृता अभया अभवन्। स य एतदेवं विद्वानक्षरं प्रणौति, एतदेवाक्षरꣳ स्वरममृतमभयं प्रविशति, तत्प्रविश्य यदमृता देवास्तदमृतो भवति॥'

(१।४।१-२-३-४-५)

'ॐ' मन्त्ररूप इस अक्षर उद्गीथकी उपासना करनी चाहिए। 'ॐ' इस मन्त्रका उद्गान होता है। इसके महत्त्वका इसप्रकार उपाख्यान है। इन्द्रादि देव, मृत्युसे भयभीत हुए वेदत्रयीविहित यज्ञादि कर्मोंका अनुष्ठान करने लगे। उस भयसे मुक्त होनेके लिए—उन्होंने कर्मानुष्ठानद्वारा वेदोंका आच्छादन प्राप्त किया। अनुष्ठाताओंका मृत्युपरित्राणके लिए आच्छादन करनेसे वेदोंका नाम छन्द पड़ा। जैसे धीवर (मच्छीमार) जलमें मछलियोंको देख लेता है, उसप्रकार वैदिक कर्मरूपी जलमें प्रविष्ट हुए देवोंको मृत्युने देख लिया। देवोंने मृत्युके अभिप्रायको जान लिया। तब वे वैदिक कर्मानुष्ठान छोडकर स्वररूप ॐकारकी उपासनामें तत्पर हुए। यह जो स्वर है, वह ॐकार-एकाक्षर है, वही अमृत एवं अभय है। उसकी उपासना करके देव अमृत एवं अभय हो गये, अर्थात् मृत्यु भयसे विमुक्त हो गये। जो कोई श्रद्धालु एवं पुरुषार्थी, इस समयमें भी ॐकारके यथार्थ स्वरूपको जानकर उसकी उपासना करता है, वह भी देवोंके समान अमृत एवं अभय होजाता है।

छान्दोग्योपनिषत्के द्वितीयाध्यायमें भी ॐकारका महत्त्व इसप्रकार कहा है—

'प्रजापति र्लोकानभ्यतपत्, तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी विद्या संप्रास्रवत्, तामभ्यतपत्, तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि

संप्रास्रवन्त भूर्भुवःस्वरिति। तान्यभ्यतपत्, तेभ्योऽभितप्तेभ्यः ॐकारः संप्रास्रवत्, तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णानि, एवमोङ्कारेण सर्वा वाक् संतृण्णा, ॐकार एवेदꣳ सर्वमोङ्कार एवेदꣳ सर्वम्॥'

(२।२३।२-३)

प्रजापति ब्रह्माने सारवस्तु खोजनेके लिए चतुर्दश भुवनोंका अनुसन्धान किया। तब उसको समस्त लोकोंमें ऋक् यजुः एवं साम-रूप वेदत्रयी साररूपसे प्रतीत हुई। पश्चात् वेदत्रयीका आलोचन किया। तब उसको उसमें भूर्भुवः एवं स्वः ये तीन व्याहृतियाँ साररूपसे प्रतीत हुई। अनन्तर उसने इन व्याहृतियोंका भी आलोचन किया, तब उसको उनमें ॐकार ही साररूपसे प्रतीत हुआ। जैसे शङ्कुओं (सूक्ष्म-तन्तु जैसी डण्डियों)से सब पत्ते जालकी तरह गुँथे रहते हैं। तैसे ॐकारसे ये समग्र वाणियाँ गुथीं हैं, अर्थात् पत्तोंमें शङ्कुओंके समान, समस्त वाणियोंमें एकमात्र ॐकार ही व्याप्त हुआ रहता है। इसलिए ॐकार चराचर विश्वरूप है।

ॐकारका निर्गुण स्वरूप सर्वमय है। इस जगत्में जो भी कुछ-कार्यकारणादि पदार्थ उपलब्ध हैं, उन सबमें नाम एवं रूप-ये दो अंश प्रतीत होते हैं। रूपभागको अर्थसृष्टि एवं नामभागको शब्दसृष्टि कहते हैं। यह वेदोंका सिद्धान्त है कि--शब्दसृष्टिसे अर्थसृष्टिका प्रादुर्भाव होता है। शब्दसृष्टि अर्थसृष्टिका कारण है। कार्य अपने कारणसे पृथक् नहीं होता, इसलिए अर्थसृष्टि, शब्दसृष्टिसे पृथक् नहीं हो सकती। शब्द, अर्थोंके वाचक, एवं अर्थ, शब्दोंसे वाच्य होते हैं। अतएव शब्दोंके

द्वारा ही समस्त पदार्थोंका ग्रहण एवं त्याग होता है। शब्दोंके ज्ञान-विना अर्थोंका व्यवहार नहीं होता। जिसप्रकार घटादि कार्यके नाशके बाद मृत्तिका परिशिष्ट रहती है, इसलिए घटादि, मृत्तिकारूप ही माने जाते हैं, उसप्रकार पदार्थोंके नाशके बाद भी उनके नाम ही परिशिष्ट रहते हैं, इसलिए समस्त पदार्थ नामस्वरूप ही मानने चाहिए। अतः शब्द प्रपञ्च, समस्त रूपप्रपञ्चका आधार एवं कारण माना है। जिस प्रकार अनेक कार्योंमें एक कारण अनुगत होता है, उस प्रकार अनेक घटव्यक्तिओंमें—जिनके आकार परस्पर विलक्षण हैं—'घट' ऐसा दो अक्षरवाला नाम अनुगत रहता है। अनुगत कारण होता है, एवं अननुगत कार्य। इसरीतिसे भी अनुगत नामसृष्टिसे अननुगत रूपसृष्टि पृथक् नहीं हो सकती अर्थात् नामसृष्टिमें रूपसृष्टिका अन्तर्भाव होजाता है।

इसप्रकार जितनी नामसृष्टि है, वह सब ॐकारसे ही उत्पन्न होती है—ॐकारमें ही रहती है एवं अन्तमें ॐकारमें ही विलीन हो जाती है। जिसप्रकार मृत्तिकासे उत्पन्न होनेवाले एवं उसमें ही रहनेवाले घटादि-कार्योंका मृत्तिकामें ही अन्तर्भाव माना जाता है। उसप्रकार यावत् लौकिक वैदिक शब्द, अपने उत्पत्ति, स्थिति एवं लयके कारणरूप ॐकारमें ही अन्तर्भूत माने जाते हैं। इसलिए ॐकार ही यह नाम-रूपात्मक सर्वजगत् है। जिसप्रकार ॐकार सर्वमय है, उसप्रकार ब्रह्म भी सर्वमय है, अतः ॐकार ब्रह्मरूप है। अथवा ॐकार ब्रह्मका वाचक है, और ब्रह्म वाच्य है, वाच्य-वाचकका अभेद होनेके कारण ॐकार ब्रह्मरूप है। अथवा विश्वमय ॐकार, विश्वाधिष्ठान ब्रह्ममें अध्यस्त है। ब्रह्म, ॐकारका अधिष्ठान है। यह नियम है—कि अध्यस्तका

स्वरूप अधिष्ठानसे अतिरिक्त नहीं होता। इसरीतिसे भी ॐकार ब्रह्मरूप है। इसलिए सर्वविश्वमय 'ॐ' मन्त्रका सच्चिदानन्द-सर्वात्मा-ब्रह्मरूपसे श्रद्धा–एकाग्रतापूर्वक मुमुक्षुओंको सतत जप एवं ध्यान करते रहना चाहिए।

इसलिए वेदपुरुष भगवान् श्रीकृष्णने भी गीतामें कहा है–

'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म, व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं, स याति परमां गतिम्॥'
(८।१३)

जो पुरुष 'ॐ' ऐसे इस एक अक्षररूप ब्रह्मका उच्चारण करता हुआ तथा साथमें उसके अर्थस्वरूप मुझ परमात्माका चिन्तन (भावना) करता हुआ, शरीरको त्याग कर जाता है, वह पुरुष परमगतिको प्राप्त होजाता है।

इस श्लोकमें भगवान्ने 'व्याहरन्' शब्दसे ॐमन्त्रके जपका तथा 'मामनुस्मरन्' शब्दसे तदर्थ–परमात्माकी भावनाका विधान किया है। तदर्थकी भावनाके विना कोरा मन्त्रजप नहीं करना चाहिए। जपमें भावना प्रधान होती है। इसलिए परमात्माकी भावनाकी सिद्धिके लिए ही जप किया जाता है। अतएव पतञ्जलि–महर्षिने भी योग-शास्त्रमें ऐसा ही कहा है–

'तस्य वाचकः प्रणवः' (यो० शा० १–२७) 'तज्जप-स्तदर्थभावनम्' (१।२८) 'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।' (१।२९)

उस परमात्माका वाचक नाम प्रणव है। अतः उसके जपके

साथ उसके अर्थ परमात्माकी भी भावना करनी चाहिए। इसप्रकार जप एवं भावना दोनोंकी सिद्धि द्वारा प्रत्यक्-चेतन ब्रह्मका साक्षात्कार एवं अज्ञानादि अनेकविध-अन्तरायों (आवरणों)का भी विनाश हो जाता है।

'स्वाध्यायाद् योगमासीत, योगात्स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥'

स्वाध्यायके बाद योगका अभ्यास करे एवं योगके बाद स्वाध्यायका। स्वाध्याय एवं योगकी सिद्धि होनेपर परमात्माका प्रकाश होता है। यहाँ निरन्तर 'प्रणव जप'का नाम स्वाध्याय है। तथा तदर्थ परमात्माकी एकाग्रतासे भावना करना योग है। अतएव अन्यत्र भी कहा है—

'जपश्रान्तः शिवं ध्यायेद्, ध्यानश्रान्तः शिवं जपेत्।
जपध्यानसमायुक्तः परं ब्रह्माधिगच्छति॥'

जपसे थक जाय तो शिवका ध्यान करे, ध्यानसे थक जाय तो शिवका जप करे, इसप्रकार जप एवं ध्यानको अच्छी प्रकारसे करता हुआ महामानव परब्रह्मका साक्षात्कार कर लेता है।

प्रश्न—इन प्रमाणोंसे तो जप एवं तदर्थभावना साथ साथ नहीं किन्तु एकके बाद एक करनी चाहिए, ऐसा सिद्ध होता है।

उत्तर—शास्त्रके वचनोंसे दोनों ही बात सिद्ध होती हैं—उत्तम अधिकारीके लिए साथ साथका भी विधान है। अतएव योगवार्तिकमें **'प्रणवेन परं ब्रह्म, ध्यायीत नियतो यतिः।'** (संयमनियमवान् यति प्रणवमन्त्रके द्वारा परब्रह्मका ध्यान करे) इस स्मृति वचनका

प्रमाण देकर–'**तज्जपस्तदर्थभावनम्**'का '**प्रणवजपेन सह ब्रह्मध्यानं प्रणिधानं कर्तव्यम्**' (प्रणव जपके साथ ब्रह्मध्यानरूप प्रणिधान (उपासना) करना चाहिए) ऐसा व्याख्यान किया है। इसलिए जिसकी जैसी योग्यता एवं रुचि हो वैसा–साथ साथ भी, या एकके बाद एक भी कर सकता है–इसमें ऐच्छिकविकल्प है अर्थात् मरजियात है, फरजियात (अनिवार्य) नहीं।

लौकिक–व्यवहारमें भी इष्ट एवं अनिष्ट शब्दश्रवणके साथ हृदय भूमिमें तदर्थकी भावनाओंका प्रवाह जोरोंसे बहने लगता है, उसमें बहता हुआ मानव किसप्रकार तल्लीन हो जाता है–इसके कुछ-उदाहरण देखिये।

कोई नवयुवक जब अपने मातापिताके द्वारा अपने विवाहकी बात सुनता है, तब उसके हृदयमें तुरन्त ही 'विवाह' शब्दके अर्थकी भावनाओंका प्रवाह जोरोंसे बहने लगता है। 'विवाह यानी सुन्दराति-सुन्दर-वस्त्रआभूषणोंसे मैं सुसज्जित होऊँगा, उससमय मेरा नाम 'वरराजा' होगा, सभी लोग मेरा बडा आदर करने लगेंगे। पान चबाता हुआ–अकडकर घोडेपर बैठूँगा। आगे आगे बढ़िये बढिये बाजें बजते चलेंगे। रमणियाँ मधुर-स्वरसे मेरे नामके गीत गाती हुई पीछे पीछे चलती रहेंगी। श्वशुरके गृहमें जाना होगा। वहाँ मैं रूपयौवनसम्पन्ना अपनी बहुरानीको देखकर आनन्दमग्न बन जाऊँगा, इत्यादि–विवाहकी भावनाओंमें बहता हुआ वह ऐसा तल्लीन होजाता है कि–उसको बाह्यजगत्की स्मृति तक नहीं रहती। अतः उन उल्लासमयी भावनाओंके प्रवाहको सूचित करनेके लिए उसका मुखकमल विकसित होजाता है, तथा आँखें हर्षसे

भरी हुई चंचल-सी बन जाती हैं।

कोई पिता है—किसीके द्वारा विदेशस्थित अपने प्यारे पुत्रका नाम या समाचार सुनता है—तब उसके हृदयमें पुत्रकी अनेकविध मधुर-स्मृतियाँ लहराने लग जाती हैं, पुत्रका साकार विग्रह सामने खडा होजाता है, मन उससे अनेकप्रकारकी स्वगत-बातें करने लग जाता है। हृदय पुत्रप्रेमसे लबालब भर जाता है, इसप्रकार वह पुत्रके चिन्तनमें तन्मय होजाता है।

एवं कोई व्यक्ति, किसीसे अपने विरोधी—दुश्मनका नाम सुनता है। तुरन्त ही उसके हृदयमें उसके प्रति कटु--भावनाएँ खडी होजाती हैं, हृदय द्वेष एवं रोषसे भर जाता है। द्वेषवश वह मनके अन्दर उसकी मूर्तिको भी देखने लग जाता है। कंस भी भगवान्का विरोधी होनेपर भी भक्त था। भक्त वह है—जो किसी भी प्रकारसे भगवान्का सदा अनन्य स्मरण करता रहे। कंस प्रेमभावसे नहीं किन्तु द्वेषभावसे भगवान्का सदा स्मरण करता रहता था। उसके हृदयमें कृष्णद्वेषका इतना प्रचुर प्रवाह बहने लगा था कि—उसको सर्वत्र कृष्ण ही कृष्ण दिखाई पडते थे। अतएव श्रीमद्भागवतमें उसके द्वेषजन्यचिन्तनका इसप्रकार वर्णन किया है—

'आसीनः संविशंस्तिष्ठन्भुञ्जानः पर्यटन्महीं।
चिन्तयानो हृषीकेशं अपश्यत् तन्मयं जगत्॥'

(१०।२।२४)

वह द्वेषवश उठते, बैठते, सोते, खाते, पीते और पृथिवीपर चलते फिरते हर समय हृषीकेश (इन्द्रियोंके नियन्ता) भगवान् श्रीकृष्णके

चिन्तनमें ही रहने लगा। यहाँतक कि—उसे समस्त जगत् कृष्णमय दिखाई देने लगा।

खटाई या मिठाई देखकर या सुनकर मुखमें पानी आजाता है, वह भी उसकी भावनाका फल है।

इसप्रकार प्रणवमन्त्र—जपके साथ तदर्थ परमात्माकी भावनाओंका भी प्रवाह बहाना ही चाहिए। भावनाके लिए माण्डूक्योपनिषत्में कहा है कि— '**सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादाः।**' (मा० उ० ८) अर्थात् वह यह आत्मा, अक्षर दृष्टिसे ॐकार है, वह अकारादि—मात्राओंको विषय करता हुआ स्थित है। आत्माके विश्वादि—पाद ही अकारादि मात्राएँ हैं, और मात्रा ही पाद हैं। शाङ्करभाष्य तथा गौडपादकी कारिकाओंमें इसका विशद वर्णन इसप्रकार है—

'एक ही पूर्णाद्वय चेतन-आत्मा, व्यष्टि उपाधिसे जीव, एवं समष्टि उपाधिसे ईश्वर कहा जाता है। इन दोनोंकी चार अवस्थाएँ होती हैं, इसलिए वे दोनों ही अवस्थाओंके भेद द्वारा चारनामोंसे कहे जाते हैं। जैसे एक ही व्यक्ति, रसोई बनानेसे रसोइया, पूजा करनेसे पूजारी, पढनेसे विद्यार्थी, एवं पढानेसे अध्यापक इन चार नामोंसे कहा जाता है। वैसे एक ही जीवात्मा, जाग्रत् अवस्थाका साक्षी होनेसे 'विश्व' स्वप्न अवस्थाका साक्षी होनेसे 'तैजस' सुषुप्ति अवस्थाका साक्षी होनेसे 'प्राज्ञ' तथा चतुर्थ निष्प्रपञ्च अवस्थाका साक्षी होनेसे 'तुरीय' इन चार नामोंसे कहा जाता है। इसप्रकार पिण्डोपाधिक—जीवात्माके विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय—ये चार पाद माने जाते हैं।

एवं ब्रह्माण्डोपाधिक एक ही ईश्वरात्मा, स्थूल, सूक्ष्म, कारण एवं कारणशून्य अवस्थाओंके भेदसे विराट्, हिरण्यगर्भ (सूत्रात्मा), ईश्वर एवं ब्रह्म इन चार नामोंको धारण करता है। अर्थात् समष्टिस्थूल-प्रपञ्चका साक्षी आत्मा 'विराट्' नामसे, समष्टिसूक्ष्मप्रपञ्चका साक्षी आत्मा 'हिरण्यगर्भ' (सूत्रात्मा) नामसे, समष्टि–कारणप्रपञ्च (माया)का साक्षी-आत्मा 'ईश्वर' नामसे और मायारूपकारणसे रहित शुद्ध आत्मा 'ब्रह्म' नामसे कहा जाता है।

ॐकारकी अकार, उकार, मकार और अर्धबिन्दु ये चार मात्राएँ हैं, अर्धबिन्दुको अर्धमात्रा, अमात्र ॐकार, अनन्तमात्र ॐकार तथा तुरीय–चिन्मात्र भी कहते हैं।

स्थूल उपाधिसहित, विराट् एवं विश्व 'अ' मात्राके वाच्यार्थ हैं। स्थूल–समष्टिरूप उपाधिके सम्बन्धसे चेतनमें विराट्पना, और स्थूल व्यष्टिरूप उपाधिके सम्बधसे विश्वपना प्रतीत होता है। उपाधिका परित्याग करनेपर विराट्पना और विश्वपना प्रतीत नहीं होता। किन्तु एकमात्र चेतन आत्मा ही अवशिष्ट रह जाता है, यही 'अ' मात्राका लक्ष्यार्थ है।

सूक्ष्म उपाधिसहित हिरण्यगर्भ एवं तैजस, द्वितीय मात्रा 'उ' के वाच्यार्थ हैं। समष्टि सूक्ष्मउपाधिके सम्बन्धसे चेतनमें हिरण्यगर्भपना, और व्यष्टि-सूक्ष्मउपाधिके सम्बन्धसे तैजसपना प्रतीत होता है। दोनों उपाधियोंका परित्याग करनेपर हिरण्यगर्भपना एवं तैजसपना प्रतीत नहीं होता। किन्तु शुद्ध चेतनमात्र ही अवशिष्ट हुआ प्रतीत होता है। वह 'उ' मात्राका लक्ष्यार्थ है।

कारण उपाधिसहित ईश्वर एवं प्राज्ञ तृतीय 'म' मात्राके वाच्यार्थ हैं। समष्टि मायारूप उपाधिके सम्बन्धसे चेतनमें ईश्वरपना और व्यष्टिमाया (अविद्या) रूप उपाधिके सम्बन्धसे प्राज्ञपना प्रतीत होता है। इन दोनों उपाधियोंको छोड देनेपर ईश्वरपना एवं प्राज्ञपना प्रतीत नहीं होता। एकमात्र चेतन ही परिशिष्ट रह जाता है, यही 'म' मात्राका लक्ष्यार्थ है।

विश्वात्माको विराट् स्वरूप समझना चाहिए। क्योंकि-विश्वकी पिण्ड उपाधि, विराट्की ब्रह्माण्डउपाधिसे उत्पन्न होती है, पिण्ड वृक्षके सम्भुन एवं ब्रह्माण्ड वनके समान है। इसलिए पिण्डब्रह्माण्डमें कार्य-कारण भाव होने के कारण दोनों उपाधियोंमें भेद नहीं माना जाता। जब उपाधि-द्वयका अभेद होजाता है, तब उपहितोंका भी अभेद माना जाता है, जैसे घट, मठमें आजानेपर घटमठ-उपाधिद्वयसे उपहित घटा-काश-मठाकाश एक हो जाता है। वैसे पिण्ड, ब्रह्माण्डमें अवस्थित होनेके कारण पिण्डोपहित विश्वात्मा, ब्रह्माण्डोपहित विराट्स्वरूप ही होजाता है। इसप्रकार विश्वात्माकी विराट्स्वरूपसे ॐकारकी 'अ' मात्रा-द्वारा भावना करनी चाहिए।

एवं तैजसात्माको हिरण्यगर्भस्वरूप समझना चाहिए। यहाँ भी व्यष्टि-सूक्ष्मशरीर एवं समष्टि-सूक्ष्मशरीरमें कार्यकारण भाव होनेके कारण दोनों उपाधियोंकी एकता मानी जाती है, इसलिए उनसे उपहित तैजस एवं हिरण्यगर्भमें भी किसी भी प्रकारका भेद नहीं रहता। अतः तैजसात्माकी हिरण्यगर्भरूपसे ॐकारकी द्वितीय 'उ' मात्राद्वारा भावना करनी चाहिए।

एवं प्राज्ञ—आत्माको ईश्वररूप समझना चाहिए। क्योंकि—मलिन-सत्त्वप्रधान-व्यष्टि-अविद्या तथा शुद्धसत्त्वप्रधान-समष्टि मायामें कार्य-कारण भाव है। इसलिए माया उपाधिसे अविद्या उपाधि पृथक् न होनेके कारण तदुपहित प्राज्ञ एवं ईश्वरमें भी पृथक्ता नहीं रहती। अतः प्राज्ञात्माको ईश्वररूपसे ॐकारकी तृतीय 'म' मात्राद्वारा भावना करनी चाहिए।

पश्चात् विराट्को हिरण्यगर्भस्वरूप, तथा हिरण्यगर्भको ईश्वरस्वरूप समझना चाहिए। क्योंकि—विराट्की स्थूल उपाधिका कारण हिरण्यगर्भकी सूक्ष्म उपाधि है, एवं हिरण्यगर्भकी सूक्ष्म उपाधिका कारण ईश्वरकी उपाधि माया है। अनन्तर अकार मात्राको उकारमें, उकारको मकारमें तथा मकारको अर्धमात्रा (अमात्र ॐकार)में विलीन करे। जैसे अपार-मार्थिक—विश्वादि-तीनपादोंमें पारमार्थिक तुरीय कूटस्थ ब्रह्मात्मा अनुगत है। वैसे ही अपारमार्थिक अकारादि तीन मात्राओंमें पारमार्थिक अमात्र-ॐकार अनुगत है। अतएव इस अमात्र-ॐकारका विशुद्ध ब्रह्मरूप तुरीय आत्मासे अभेद माना जाता है। इसप्रकार सर्वाधिष्ठान-विशुद्ध-अनन्त-अद्वय-ब्रह्ममें विश्वात्मासे लेकर ईश्वरात्मा पर्यन्त स्थूल सूक्ष्मादि सम्पूर्ण चराचर जगत् कल्पित है।

अतएव श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धमें भगवान् नारायण श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए वेदवेत्ता श्रीब्रह्माजीने यही कहा था कि—

'को वेत्ति भूमन्! भगवन्! परात्मन्!,
योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम्।
क्व वा कथं वा कति वा कदेति,
विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम्॥

तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं,
स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्।
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते,
मायात उद्यदपि यत्सदिवावभाति॥'
(१०।१४।२१-२२)

हे भगवन्! आप सर्वव्यापक परमात्मा एवं योगेश्वर हैं, जिससमय आप अपनी योगमायाका विस्तारकर क्रीडा करते हैं, उससमय त्रिलोकीमें ऐसा कौन है? जो यह जान सके कि—आपकी लीला कहाँ, किसप्रकार, कितनी और कब होती है? इसलिए यह सम्पूर्ण जगत् जो स्वप्नके समान असत् (अनिर्वचनीय) वास्तविकज्ञानसे शून्य, और उत्तरोत्तर दुःखमय है, मायासे उत्पन्न होनेके कारण यह कल्पित है, तथापि नित्य आनन्द-ज्ञानस्वरूप आप अनन्त परब्रह्ममें ही अध्यारोपित होनेसे सत्यवत् भासता है। यह उपलक्षण है, अर्थात् चेतनवत् आनन्दवत् भी भासता है। वस्तुतः यह सत्य, चेतन एवं सुखरूप नहीं है, किन्तु आप अधिष्ठान ब्रह्म ही ऐसे हैं।

एवं ॐ मन्त्रका उपासक अधिकारी अमात्र शुद्ध ॐकारके द्वारा श्रद्धा एवं एकाग्रतासे अपने तुरीय आत्मस्वरूपकी इसप्रकार भावना करे कि—'समस्त स्थावर जंगम विश्वरूप जो असंग-अद्वय-नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-अमृत-अभय-सच्चिदानन्द ॐकारका पारमार्थिक लक्ष्यस्वरूप विशुद्ध पूर्णब्रह्म है, वह मैं ही हूँ।' ऐसी भावनाके अनवरत प्रवाहसे अपरोक्ष-ब्रह्म साक्षात्कारका उदय होता है। निखिल-कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि आविद्यक-आरोपित-बन्धनोंकी निवृत्ति होती है। निर्द्वन्द्व-साधक नरसे साक्षात् नारायण हो जाता है।

यद्यपि तत्त्वमस्यादि—महावाक्योंके विवेक एवं अनुसन्धान विना ब्रह्म साक्षात्कार नहीं होता, यह वेदान्तका सिद्धान्त है; तथापि ॐ-कारका एवं महावाक्योंका लक्ष्यार्थ एक होनेके कारण ॐकारका विवेक एवं अनुसन्धान, महावाक्योंका ही विवेक एवं अनुसन्धान माना गया है, अतः ॐकारके लक्ष्यार्थकी सतत भावनासे भी अद्वय ब्रह्मात्मतत्त्वका साक्षात्कार हो ही जाता है।

अतएव कैवल्योपनिषत्में कहा है—

'आत्मानमरणिं कृत्वा, प्रणवञ्चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यासात् देवं पश्येन्निगूढवत् ॥'

जैसे दो अरणियोंके मन्थनसे उनमें छिपी हुई अग्निका प्राकट्य होजाता है, वैसे ही पूर्वारणिके स्थानापन्न-बुद्धिमें उत्तरारणिरूप ॐ-कारका निरन्तर ध्यान(भावना)रूप मन्थनके अभ्याससे बुद्धिरूपी गुहामें छिपे हुए परमात्मदेवका साक्षात्कार होजाता है।

अथर्वशिरोपनिषत्में ॐकारका स्वरूप इसप्रकार विशदरूपसे वर्णित है—

'य ॐकारः स प्रणवः, यः प्रणवः स सर्वव्यापी, यः सर्वव्यापी सोऽनन्तः, योऽनन्तस्तत्तारं, यत्तारं तत्सूक्ष्मं, यत्सूक्ष्मं तच्छुक्लं, यच्छुक्लं तद्वैद्युतं, यद्वैद्युतं तत्परं ब्रह्म, स एको रुद्रः, स ईशानः, स भगवान् महेश्वरः, स महादेवः ।'

जो ॐकार है, वह प्रणव है,

'प्रणव' नामके अर्थ भी शिवपुराणमें विलक्षण ढंगसे इसप्रकार कहे हैं—

'प्रो हि प्रकृतिजालस्य संसारस्य महोदधेः।
नवं नावान्तरमिति प्रणवं वै विदुर्बुधाः॥
प्रः=प्रपञ्चो न=नास्ति, वो=युष्माकं प्रणवं विदुः।
प्रकर्षेण नयेद्यस्मान्मोक्षं वः प्रणवं विदुः॥'

(विद्येश्वरीसंहिता० १७।४।५)

प्र=प्रकृतिसे उत्पन्न हुए संसारसागरके पार होनेके लिए यह प्रणवं नौकारूप है। इसकारण पण्डितलोग इसे प्रणव कहते हैं। अथवा—प्र=प्रपञ्च, न=नहीं है, वः=तुममें अर्थात् जिसके जप एवं ध्यान करनेसे दुःखमय संसार नहीं रहता, उनका नाम 'प्रणव' है। अथवा प्र=प्रकृष्ट-रूपसे न=मोक्षप्रति लेजाता है, वः=उसकी आराधना करनेवाले तुम लोगोंको, इसलिए इसका नाम प्रणव है।

अथवा स्वयं भगवान् शिव प्रणवका अर्थ इसप्रकार करते हैं—

'ब्रह्मादिस्थावरान्तानां, सर्वेषां प्राणिनां खलु।
प्राणः प्रणव एवायं तस्मात् प्रणव ईरितः॥'

(शि० पु० कैलाससंहिता ३।१४)

ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त सम्पूर्ण प्राणियोंका यह प्रणवमन्त्र ही प्राण है, इससे यह प्रणव कहा जाता है।

'यह जो प्रणव है, वह सर्वव्यापी है, जो सर्वव्यापी है, वह अनन्त (त्रिविध देशादि-परिच्छेद रहित) है; जो अनन्त है, वही तार है, यह तार ही तारकमन्त्र है। इस मन्त्रकी आराधनासे प्राणिमात्र संसारसमुद्रसे तर जाते हैं। अतएव शिवपुराणमें भगवान् शङ्कर भगवती-उमाके प्रति कहते हैं—

'एतमेव हि देवेशि! सर्वमन्त्रशिरोमणिं।
काश्यामहं प्रदास्यामि, जीवानां मुक्तिहेतवे॥'
(कै० सं० ३।१०)

हे देवेश्वरि! सर्वमन्त्रोंके शिरोमणि इस तारक मन्त्र ॐकारको ही मैं काशीमें प्राणत्याग करनेवाले जीवोंको मुक्तिके लिए देता हूँ।

एवं जो तार है, वह सूक्ष्म (ज्ञानशक्ति-ब्रह्मविद्या) है, जो सूक्ष्म है, वही शुद्ध है; जो शुद्ध है, वह विद्युत् है अर्थात् विद्युत्की अधिष्ठात्री ब्रह्मविद्या—स्वरूपिणी भगवती उमा है। जो विद्युत् है, वही परब्रह्म है, वही एक-अद्वय रुद्र है, वही ईशान है, वही महेश्वर है, वही महादेव है।

इसप्रकार वेदोंसे लेकर पुराणपर्यन्त हमारे समस्त शास्त्रोंमें मुक्त-कण्ठसे प्रणवमन्त्रकी महिमाका वर्णन प्रचुरमात्रामें किया है। अतएव प्रणवकी उपासना शुद्ध-वैदिक एवं अनादिकालसे प्रवृत्त है। वही हमारे ऋषिमुनियोंका गुह्य एवं आनन्दमय—हृदयधन था। अतएव जगद्गुरु भाष्यकार श्रीशङ्करस्वामीने छान्दोग्योपनिषत् भाष्यमें ऐसा कहा है—

'ओमित्येतदक्षरं परमात्मनोऽभिधानं नेदिष्ठम्। तस्मिन् हि प्रयुज्यमाने स प्रसीदति, प्रियनामग्रहण इव लोकः। एवं नामत्वेन प्रतीकत्वेन च परमात्मोपासनसाधनं श्रेष्ठमिति सर्ववेदान्तेष्ववगतम्। जपकर्मस्वाध्यायाद्यन्तेषु च बहुशः प्रयोगात्प्रसिद्धमस्य श्रैष्ठ्यम्। ॐकारे परमात्मप्रतीके दृढामैकाग्र्यलक्षणां मतिं सन्तनुयात्।'

'ॐ' यह एकाक्षर मन्त्र, परमात्माका अत्यन्त प्यारा नाम है। जिसप्रकार अत्यन्त प्रियनाम स्वामीजी, महाराजजी, सेठजी, पण्डितजी,

पुकारनेसे मनुष्य शीघ्र प्रसन्न होजाता है। उसप्रकार 'ॐ' नामसे वह भगवान् शीघ्र प्रसन्न होजाता है। 'ॐ' यह मन्त्र, परमात्माका वाचक नाम होनेके कारण, तथा परमात्माका साकार या निराकार प्रतीक (प्रतिमा) होनेके कारण, परमात्माकी उपासनाका श्रेष्ठ साधन-अवलम्बन है। यह बात समस्त उपनिषदोंमें निर्णीत की गई है। मन्त्र जप, यागादि कर्म, वेदाध्ययन आदि शुभकर्मोंमें ॐकारका प्रचुर प्रयोग होनेके कारण उसकी श्रेष्ठता सर्वत्र प्रसिद्ध है। अतः मुमुक्षुओंको परमात्माकी प्रतीकरूप ॐकारमें ही एकाग्र-दृढ बुद्धिका तैलधारावत् विस्तार करते रहना चाहिए।

उपासनासे ही उपास्यतत्त्वका साक्षात्कार होता है, यह सिद्धान्त है। उपासनाका स्वरूप तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यमें भाष्यकार भगवत्पादने इसप्रकार कहा है—

'उपासनञ्च यथाशास्त्रं तुल्यप्रत्ययसंततिरसंकीर्णा
चातत्प्रत्ययैः शास्त्रोक्तालम्बनविषया चेति।'

वेदादि-शास्त्रोंमें जैसा उपास्यस्वरूपका वर्णन किया है, वैसे ही स्वरूपमें-विजातीय-वृत्तियोंसे सर्वथा असंकीर्ण अर्थात्-न मिली हुई—सजातीय वृत्तियोंका तैलधाराकी सदृश अखण्ड-एकरस-प्रवाहका नाम उपासना है।

'उप' उपसर्गका अर्थ 'समीप', और 'आस' धातुका अर्थ है—'बैठना', अर्थात् उपास्यके समीप बैठनेका नाम उपासना है। वह अधिकारियोंके भेदसे तीन प्रकारकी हो जाती है—उत्तम, मध्यम एवं कनिष्ठ। उत्तम वह है—जलमें डाले हुए शर्कराके डलेकी भांति—जिसका

चित्त अन्य सांसारिक-आकारोंको छोडकर उपास्य स्वरूपमें तदाकार बन जाय। जिसप्रकार जलमें विलीन हो जानेके कारण-उस डलेको वहाँसे कोई पृथक् नहीं कर सकता। उसप्रकार उपास्य स्वरूपके पूर्ण आनन्दमें विलीन होनेके कारण-चित्त उससे पृथक् नहीं होता। सर्वदा आहारादि व्यवहार दशामें भी उसमें ही चित्त तन्मय बना रहे-यह उत्तम उपासनाका स्वरूप है।

'तुझमें फ़ना हूँ, और तुझीमें फ़ना रहूँ।
आजाय तू नज़र तो, तूझे देखता रहूँ॥'

मध्यम उपासना वह है-जिसप्रकार कपडोंकी बनी हुई-गुडियोंको जलमें डाल दिया जाय, तब उनके अन्दर बाहर जल व्याप्त होजाता है। जलसे बाहर निकालनेपर उनसे कुछ समय तक जल चूता रहता है, वे गीली बनी रहती हैं, परन्तु कडी धूपके कारण कुछ समयके बाद शुष्क एवं अकड हो जाती हैं। उसप्रकार उपासनाके समय चित्तमें उपास्यस्वरूप व्याप्त हो जाता है-उसकी ज्योति एवं आनन्द भर जाता है, एकाग्रता एवं शान्ति आजाती है, परन्तु उपासनाके बाद संसारके व्यवहारोंके समय-विषयोंकी तरफ़ आकृष्ट होनेपर चित्त शनैः शनैः उपास्य स्वरूपके आवेशसे रहित होता जाता है, अन्तमें प्रथमकी तरह जैसा का तैसा एकदम शुष्क होजाता है, वह मध्यम कोटिकी उपासना है। जिसप्रकार रब्बरकी डोरी खींची, लम्बी हो गई, छोड दी, जैसीकी तैसी रह गई।

कनिष्ठ उपासना वह है-जिसप्रकार एक पत्थरको पानीमें डाला, उसके चारों तरफ़ जल व्याप्त हो गया, गरम पत्थर ठंडा हो गया परन्तु

कई वर्षतक पानीमें रहनेपर भी उसके अन्दर पानीकी एक लघु बिन्दुका भी प्रवेश नहीं होता। इसप्रकार जो भगवान्की उपासना प्रतिदिन करता रहता है; परन्तु उसका चित्त अनादि कालके दुर्दान्त-रागद्वेष, अहंता-ममता आदि दोषोंसे ठोस भरा हुआ पत्थरकी तरह कठोर ही बना रहता है। अनन्त-भव उपार्जित अनेकविध पापकी वासनाओंकी प्रबलताओंके कारण-उसमें मृदुता नहीं आती। यद्यपि ऊपर ऊपरसे कुछ समयतक शान्तिका अनुभव होता भी है, परन्तु उस ठोस चित्तके भीतर उपास्य स्वरूपकी ज्योति एवं आनन्दका प्रवेश नहीं होता। तथापि उसे ऐसी कनिष्ठ उपासनासे भी कुछ पापोंकी निवृत्ति एवं कुछ पुण्यकी प्राप्ति तो हो ही जाती है—परन्तु उपासनाका वास्तविक फल—उपास्यस्वरूपका अनुभव नहीं होता।

कोई भी कार्य तभी ही सफल होता है—जब उसे करनेका—सभी विधिविधान मालूम हो, सामर्थ्य हो। सामर्थ्यहीन एवं विधिविधानके-ज्ञानसे शून्य मानव, कार्य सिद्ध नहीं कर सकता, यह बात लोकमें भी प्रसिद्ध है। इसप्रकार उपासना भी तभी सफल होती है—जब उसे विधिविधानके ज्ञानपूर्वक ही की जाय, अधिकारकी सामर्थ्य प्राप्त की जाय। दृढ वैराग्यवान् ही उपासनाका अधिकारी माना गया है।

अतएव शिवपुराणमें कहा है—

'अधिकारी भवेद्यस्य, वैराग्यं जायते दृढम्।' (कै० सं० ३।३५)

जिसे संसारसे दृढ वैराग्य हो, वही उपासनाका अधिकारी है। दृढ वैराग्यसे जबतक देहगेहादिकी अहंताममताका विच्छेद नहीं होता, तब तक उपासनाके ध्येयकी सिद्धि नहीं होती।

कुछ वर्ष पहिले काश्मीरमें एक विलक्षण घटना घटी थी। कुछ कोलेजियन पंजाबी नवयुवक काश्मीरकी सैर करने गये थे। वहाँकी सैर समाप्तकर उन्होंने चन्द्रभागा नदीद्वारा पंजाब वापस पहुँचनेका निश्चय किया, इसलिए उन्होंने वहाँसे एकलम्बी बढिया नौका ली। वे लोग खूब खापीकर रात्रिके करीब १० बजे नौकामें सवार हुए। कृष्णपक्षकी रात्रिका ऐसा गाढ़ान्धकार था कि—दोनों किनारोंका ठीक ठीक दर्शन नहीं होता था। प्रवाहित जलका आभासमात्र दीखता था। सबके सब नवयुवक थे, बलवान् थे; अतः सभीने नौका चलानेके दण्डे अपने हाथोंमें ले लिए। बडे जोरोंसे नौका चलाने लगे। उन्हें अन्धकारमें ऐसा प्रतीत होता था कि—नौका खूब चल रही है। सारी रात्रितक बहुत परिश्रम किया। शरीरोंमें पसीने बह निकले। आपसमें बातें करते थे कि—अब हम पंजाब पहुँच गये होंगे। परन्तु पूर्वदिशामें प्रातः—काल उषाकी लाली फैलनेसे कुछ अन्धकार नष्ट होनेपर उन्हें माल्म हुआ कि—अरे! यह पंजाब नहीं है, किन्तु कश्मीर है—जहाँसे हम नौकामें बैठे थे—वहाँका ही यह दृश्य है। सबको बडा आश्चर्य हो रहा था कि—ओ हो! यह क्या हुआ, सारी रात्रि नौका चलाई, बहुत परिश्रम किया, परन्तु जहाँके तहाँ ही रह गये। पंजाब पहुँचनेकी बात तो दूर रही, किन्तु यहाँसे एक फर्लांग भी आगे नहीं बढ सके। बराबर देखनेपर उनको अपनी गलती माल्म हुई कि—हम लोग जल्दी एवं असावधानीके कारण—नौकाका रस्सा ही खींटेसे छोडना भूल गये थे। नौका रस्सोंसे बँधी ही रही, और हम उसे चलाते रहे, लम्बा मजबूत रस्सा होनेके कारण नौका जाती हुई-माल्म होती थी। परन्तु वह आगे नहीं बढती थी।

वे नवयुवक अपनी इस गल्तीपर बडा पश्चाताप करने लगे एवं सबकी मूर्खतापर जोरोंसे हँसने लगे।

इसप्रकार कनिष्ठ-अधिकारीकी तृतीय नम्बरकी उपासना भी ऐसी है। वह नामजप, ध्यान, देवार्चन, स्तोत्र–पाठ, स्वाध्याय, सत्संग आदि करता है; परन्तु उसकी चित्तरूपी नौका संसारकी अहंताममतारूप मजबूत रस्सोंसे बँधी हुई होनेके कारण आगे नहीं बढती। जहाँकी तहाँ ही रह जाती है। तेलीका बेल कई मीलों तक चला, परन्तु वहाँका वहाँ ही रहा, आगे नहीं बढ सका। वह नौका कल्याणधामकी तरफ तभी हो आगे बढ सकती है; जब उसके बँधे हुए रस्से वैराग्यरूपी शस्त्रसे काट दिये जाँय। वैराग्य ही एक ऐसा मजबूत साधन है कि– उसके द्वारा ही हम अहंता ममता आसक्ति आदि सभी प्रतिरोधोंको दूर कर सकते हैं। प्रतिरोध हट जानेपर शीघ्र ही उपासनाद्वारा कल्याणमय ब्रह्मधामका अनुभव होजाता है। इसलिए श्रीमद्भागवतमें कहा है कि–

'त एतदधिगच्छन्ति, विष्णोर्यत्परमं पदम्।
अहंममेति दौर्जन्यं न येषां देहगेहजम्॥'
(१२।६।३३)

जिन पुरुषोंमें देहगेह सम्बन्धिनी–अहंताममतारूप दुर्जनता नहीं है, वेही विष्णु भगवान्के इस परम पदको प्राप्त कर सकते हैं।

इसलिए बुद्धिमान् उपासक, अपने हृदयमें सदा वैराग्यको जाग्रत रखकर ही उपासना करे। वैराग्यवान् सन्तोंने वैराग्यके लिए अपने अपने ढंगसे इसप्रकार उपदेश दिया है–

'घडी घडी घडियाल पुकारे है कही,
बहुत गई हैं अवधि, अलप ही है रही।

सौवे कहा (क्यों) अचेत ! जाग, जप पीव (प्रिय) रे,
चलि है आजुकी काल बटाउ (मुसाफिर) जीवरे ।

केती तेरी जान ? केता तेरा जीवणा ?;
जैसा स्वप्न विलास, मृगाजल पीवणा ।

ऐसे सुखके काज अकाज कमावना.
वार वार यमद्वार मार बहु खावना ॥

बंदा ! वड वड क्या करे ? ले भगवतका नाम ।
जगत तामशा दो घडी, आखिर धूल तमाम ॥

आखिर धूल तमाम, राय रंकादिक जावे ।
कर सन्तनकी सेव, तोहीको अगम बतावे ॥

कहते रमताराम भजन कर छोडी धन्धा ।
ले भगवतका नाम, करे क्यों वड वड वन्दा ! ॥

राम कहो, राम भजो, राम ध्याओ बावरे ! ।
अवसर न चूक भोंदू, पायो भलो दाँव रे ॥

जिन तोको तन दीन्हो, ताको न भजन कीन्हो ।
जनम सिरानो जात, लोहे कैसो ताव रे ॥

राम ही को गाय ध्याय रामही को रिझाव रे ।
राम ही के दोनों रूप चित्त माँही लाव रे ॥

कहत मलूकदास छोडी दे तू झुठी आस ।
आनन्दमगन होई हरिगुण गाव रे ॥'

जिसप्रकार समस्त वेदोंमें परमात्मा प्रणवरूपसे विद्यमान है, उसप्रकार आकाशमें शब्दरूपसे विद्यमान है । इसलिए सभी शब्दोंमें,

सभी रसोंमें, सभी रूपोंमें एकमात्र परमात्मस्वरूपकी ही भावना करते रहना चाहिए। यद्यपि इन इष्ट—अनिष्ट—शब्दादिओंमें मनीराम बाबू अविद्यावश रागद्वेष करने लग जाता है, तथापि दृढ विवेकवती—बुद्धिके द्वारा उन शब्दादिओंमें प्रतीयमान इष्ट—अनिष्ट—भावोंका परित्याग कर देना चाहिए। यद्यपि आविद्यक—संस्कारोंकी प्रबलताके कारण इष्ट अनिष्ट शब्दादिकोंकी प्रतीति हो जाती है—तथापि ब्रह्मविद्याके संस्कारोंको प्रबल एवं जाग्रत बनाकर—उनमें ब्रह्मभावना भी करनी चाहिए। यही योगी है—जो संसार-दर्शनके साथ ब्रह्मका भी हरदम दर्शन करता रहता है। सभी दशाओंमें सर्वत्र ब्रह्मावलोकन-बुद्धिका कभी परित्याग नहीं करता। इसलिए योगशास्त्रमें कहा है कि—

‘पुंखानुपुंखविषयेक्षणतत्परोऽपि,
ब्रह्मावलोकनधियं न जहाति योगी।
संगीततालपरिनृत्यवशं गताऽपि,
मौलिस्थकुम्भपरिरक्षणधी नटीव॥’

योद्धाओंद्वारा शीघ्रतासे एकके पीछे एक फेंके हुए बाणोंके पृष्ठ भागोंके दर्शनके समान एकके पीछे एक आनेजानेवाले रूपादि—विषयोंके देखनेमें तत्पर हुआ भी योगी, उनमें ब्रह्मदर्शनकी बुद्धिका परित्याग नहीं करता। जिसप्रकार नर्तकी नाचती हुई, गाती हुई, एवं वाद्यतालोंके साथ अपने संगीतको बराबर मिलाती हुई भी शिरपर रक्खे हुए कुम्भके परिरक्षणकी बुद्धिको नहीं छोडती।

इसप्रकार पुरुषोंमें जो पुरुषत्व (शौर्यधैर्यादिरूप सामर्थ्य) देखनेमें आता है, उसमें भी भगवान्की भावना करनी चाहिए। इससे किसीका

अच्छा सामर्थ्य देखकर—जो ईर्ष्या होती है, एवं खराब सामर्थ्य देखकर द्वेष होता है, उसकी निवृत्ति होजाती है। अच्छे बुरे सभी पदार्थोंमें भगवद्भावना करनेका यही फल है कि—चित्तमें किसी भी प्रकारकी कश्मलता रहने न पावे, चित्त सदा शरत्कालीन जलके समान स्वच्छ एवं पवित्र बना रहे, ताकि—उसमें ब्रह्मके महान् आनन्दका अनुभव हरदम होता रहे। हरि-ॐतत्सत्

(९)

पुण्यो गन्धः पृथिव्याञ्च, तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु, तपश्चास्मि तपस्विषु ॥
(गी. ७।९)

तथा पृथिवीमें पवित्र-गन्ध और अग्निमें तेज मैं हूँ, और सम्पूर्ण भूतोंमें उनका जीवन मैं हूँ—अर्थात् जिससे वे जीते हैं, वह मैं हूँ, और तपस्वियोंमें तप मैं हूँ।

आनन्दकन्द भगवान् कहते हैं—पृथिवीमें साररूपसे विद्यमान जो अविकृत—सुरभि—तन्मात्रारूप गन्ध है, वह मेरा स्वरूप है, उसरूपसे मैं पृथिवीमें अनुस्यूत हूँ, एवं उसरूपसे विशिष्ट मुझ परमात्मामें पृथिवी ओतप्रोत है। इसश्लोकमें गन्धके साथ दिया हुआ 'पुण्य' विशेषण शब्दादिमें भी समझना चाहिए। शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध स्वभावसे ही पवित्र एवं विकाररहित होते हैं, प्राणियोंके अधर्मसे उनमें अपवित्रताकी प्रतीति होती है। इसप्रकार अग्निमें जो सर्वके दहन एवं प्रकाशनकी सामर्थ्य रखनेवाला उष्णस्पर्शयुक्त—सित-भास्वररूपवाला—जो पवित्र तेज है, वह मेरा स्वरूप है। वह अग्निमें अनुस्यूत है, उस

रूपसे विशिष्ट मुझ परमात्मामें अग्नि ओतप्रोत है। एवं सभी प्राणियोंमें प्राणोंका धारण करनेवाला पवित्र जीवन मैं हूँ, उस जीवन विशिष्ट मुझ परमात्मामें सभी प्राणी ओतप्रोत हैं। एवं तपस्वियोंका पवित्र तप मैं हूँ, उस तपविशिष्ट मुझ परमात्मामें सभी तपस्वी ओतप्रोत हैं।

हमारा किसी अज्ञात मनुष्यसे परिचय होता है तो हम प्रथम उससे यही प्रश्न करते हैं कि—श्रीमान्जी ! आपका निवासस्थान कहाँ है?। आप हरिद्वार काशी आदि किसी तीर्थमें जायेंगे तो वहाँके पण्डे-लोग, बडी बडी बहियाँ हाथमें लिये हुए-रेलगाडीसे उतरते ही—आपसे यही चिल्लाकर प्रश्न करने लगते हैं कि—कहाँके वासी, कहाँके वासी?। इसप्रकार हम अज्ञानियोंके लिए भगवान् भी अज्ञात हैं। हम उस भगवान्के निवासस्थानको अच्छी प्रकार नहीं जानते, यद्यपि भगवान् तो सर्वज्ञ होनेसे हम सबको जानते हैं, परन्तु अल्पज्ञ होनेसे हम भगवान्को यथावत् नहीं जानते हैं, इसलिए उसके निवासस्थानकी जिज्ञासा रखते हैं। भगवान्की अमरवाणी गीतासे भी हम यही प्रश्न करते हैं कि—भगवान् कहाँ किसरूपसे विद्यमान हैं। गीता कहती है—**"पुण्यो गन्धः पृथिव्यां"** पृथिवीमें पवित्र-शोभनगन्धरूपसे भगवान्का निवास है, पवित्र—सुगन्धरूपमें तुम मुझ भगवान्को पहिचानो। सुगन्धमें भगवान्की भावना करनेसे भगवदीय-दिव्य शान्ति, मधुरता एवं आनन्दका अनुभव होता है।

इसप्रकार अग्निमें मैं तेजरूपसे बिराजमान हूँ। सूर्य, चन्द्र, विद्युत् आदिका समस्त तेज भगवद्रूप है। इसलिए वह तेज आनन्दसे पूर्ण है। तेजरूपसे भगवान्का आनन्द सर्वत्र विद्यमान है। उसरूपसे मैं चिदा-

त्मा-भगवान्का ही दर्शन कर रहा हूँ, ऐसी दृढ एवं पवित्र भावना प्रतिक्षण करते रहना चाहिए। '**जाकी जैसी भावना, तैसो ही फल होय।**'

इसप्रकार भगवान् समस्त भूतोंमें अतिप्रिय-जीवनरूपसे विद्यमान हैं। परन्तु वास्तविक जीवन क्या है? उसका अन्वेषण होना चाहिये। जीवन अति-महत्त्वकी वस्तु है, वह सबका अति-प्रिय है। जीवनके लिए ही-खाना, पीना, लेना-देना, सोना-जागना आदि समग्र-व्यापार होते रहते हैं। जीवनकी प्रियताके लिए ही हम स्त्री, पुत्र, धन, धरा, धाम आदिको प्रिय समझते हैं। यदि इन स्त्री-पुत्र आदि पदार्थोंसे जीवनकी प्रियताका सम्पादन नहीं होता, तो हम इनको कदापि, प्रिय नहीं समझेंगे। उनकी हम शीघ्र ही उपेक्षा कर देंगे। हमारे शरीरमें वह अति-प्रिय जीवन न हो तो शरीरकी समस्त चेष्टाएँ समाप्त हो जाँय। आँख देख नहीं सकती, कान श्रवण नहीं कर सकते, जिह्वा न बोल सकती है-न रसास्वादन कर सकती है। इसप्रकार जीवनके विना, शरीर-इन्द्रियादि समस्त व्यर्थ हो जाते है-निश्चेष्ट हो जाते हैं। जीवनके रहनेपर ही शरीरकी निखिल-चेष्टाएँ होती रहती हैं। समस्त-इन्द्रियाँ अपना अपना कार्य करती रहती हैं। जीवन ही इन सबमें मुख्य वस्तु है। जिसप्रकार बरात (वर-यात्रा)में वरराजा ही मुख्य द्रष्टव्य माना जाता है। बरातमें वरके पिता, भाई, मित्र, सगेसम्बन्धी, बाजे एवं सुशोभित गाडियाँ हैं; सभी प्रकारसे धूमधाम हो रही है; परन्तु उसमें एकमात्र वरराजा न हो तो बरात फीकी हो जाती है; अर्थात् हास्यास्पद हो जाती है। उसका कुछ भी महत्त्व नहीं माना जाता। इसप्रकार इन सभी कार्य-

करण-संघातोंमें जीवन ही मुख्य है, महान् है, द्रष्टव्य है। परन्तु वह जीवन क्या है? उसकी मीमाँसा होनी चाहिए।

कुछ लोग कहते हैं कि-यह श्वासप्रश्वास ही जीवन है। उसके रहनेपर शरीर जीवित रहता है। उसके न रहनेपर शरीर शव (मुरदा) बन जाता है, यह सभीको प्रत्यक्ष है। परन्तु प्राणापानको ही मुख्य जीवन समझना यथार्थ नहीं है। मुख्य जीवन इनसे भिन्न है, महान् है। इस विषयमें कठश्रुति भी कहती है—

'न प्राणेन नापानेन, मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ॥'

(क० उ० २।५।५)

मरणधर्मा कोई भी प्राणी, प्राण एवं अपानसे ही जीवित रहता है-यह नहीं, किन्तु प्राणापानसे भिन्न किसी चेतनाशक्तिके द्वारा ही जीवित रहता है; जिसमें ये दो-प्राणापान उपाश्रित हैं। जिसप्रकार रथके दो चक्र, धुरेके आधारपर हो चलते हैं, उसीप्रकार शरीररूपी रथके प्राणापानरूप दो पहिये, चिदात्मारूप धुरेसे ही संचालित होते हैं। अतएव केन-श्रुतिमें उस मुख्य जीवनरूप चिदात्माको **'प्राणस्य प्राणः'** (१।२) प्राणका प्राण कहा है; अर्थात् वह प्राणका आधार है, प्रेरक है।

ऐतरेयोपनिषत्में आद्यसृष्टिका एक वृत्तान्त आता है। भगवान्ने अपने संकल्पके बलसे सभी शरीरोंकी रचना की, इन शरीरोंमें इन्द्रियों एवं इनके गोलकोंका निर्माण किया। इन्द्रियोंके द्वारा अपने अपने रूपादि-विषयोंका स्पष्ट अनुभव करनेके लिए-उनके अधिष्ठाता देवता-

ओंका भी उनमें सन्निवेश किया। उन अधिष्ठातृ देवताओंके सामर्थ्यको प्राप्त करके ही इन्द्रियाँ अपने अपने विषयोंका यथावत् अनुभव कर सकती हैं, अन्यथा नहीं। नेत्रका अधिष्ठाता--सामर्थ्यदाता देव सूर्य है। जिह्वा दो कार्य करती है-बोलती है एवं षड्रसोंको भी ग्रहण करती है। इसलिए जिह्वा-स्थानमें, वाणीके यथावत् उद्गमके लिए अग्निदेवताको अधिष्ठातृरूपसे नियुक्त किया, एवं रस ग्रहण करनेके लिए वरुणदेवताको नियुक्त किया। इसप्रकार शरीरमें इन्द्रियोंके संचालकरूपसे उनके तत्तद्गोलकोंमें अन्यान्य-देवताओंको भी परमात्माने बसाया, किन्तु इतना होनेपर भी शरीर कुछ भी चेष्टा नहीं कर रहा, नेत्र देखते नहीं, कान सुनते नहीं, जिह्वा बोलती नहीं। सब निश्चेष्ट होकर जड-से पडे हैं।

सृष्टिकर्ता परमात्माने देखा कि--यह सब कार्यकरणादि-संघात निश्चेष्ट-सुनसान क्यों पडा है? क्या बात है? पश्चात् विशेष विचार करनेपर आश्चर्यके साथ परमात्माने कहा--ओ हो! '**कथं न्विदं मदृते स्यात्?**' (ऐ० उ० १।३।११) मेरी सत्ताके विना, चैतन्य स्फूर्तिके विना यह कार्यकरणादि--संघात कैसे जीवित हो सकता है? नहीं हो सकता। अतः इन सबको जीवित करनेके लिए--संचालित करनेके लिए--सच्चिद्रूप मुझ अन्तरात्माका प्रवेश होना ही चाहिए। इसमें प्रवेशके लिए भगवान्ने निराले द्वारका अन्वेषण किया। जिन द्वारोंसे इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवताओंने प्रवेश किया है, इनसे मुझ सम्राट् विश्वेश्वर, विश्वात्माका प्रवेश होना उचित नहीं, ऐसा विचार करके परमात्माने उत्तमाँग--मस्तकके ऊपरी कपालोंके मध्यको विदीर्ण करके अपना--प्राइवेट प्रवेशद्वार वनानेका निश्चय किया। निश्चयके अनुसार

मूर्धाकपालको विदीर्ण करके--उस द्वारसे प्रवेश किया। '**तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्**' (तै० उ० २।६) अपनेसे रचित शरीर-इन्द्रियादियोंके समुदायमें वही परमात्मा प्रविष्ट हुआ। चिदात्माके प्रवेश—मात्रसे ही सब जीवित हो गये। अपना अपना कार्य करने लगे। आँख देखने लगी, कान सुनने लगे, जिह्वा बोलने लगी। श्मशान जैसा सुनसान संघात 'सुसज्जित विकसित पल्लवित और प्रफुल्लित बगीचेके समान' रमणीय-रूपमें परिणत हो गया, जिसप्रकार गाढान्धकारमें बिजलीकी स्वीच दबानेपर एकदम सारे कमरेमें अंधकारको सहसा विदीर्ण करता हुआ प्रकाश व्याप्त हो जाता है; इसप्रकार निश्चेष्ट कार्यकरण संघात, चैतन्य-शक्तिसे व्याप्त हुआ सचेष्ट हो गया।

उपनिषत्की इस गाथासे निश्चित होता है कि—वास्तविक सनातन अविकृत जीवन चिदात्मा है, उसरूपसे भगवान् विश्वात्मा ही इन समस्त शरीरोंमें अन्तरात्मरूपसे विराजमान हैं, उस परमप्रेमास्पद जीवनरूपसे भगवान्की ही मधुर भावना करनी चाहिए। हृदयमें निरन्तर '**चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्**'की रट लगानी चाहिए। अतएव सभी भूतोंमें जीवन—रूपसे भगवान् परमात्माका ही दर्शन करना चाहिए। सभी जीवनोंको सुख ही समर्पित करना चाहिए। सबका हित ही चाहना एवं करना चाहिए।

इसप्रकार तपस्वियोंमें तपरूपसे श्रीभगवान् विराजमान हैं। तप भी शास्त्रोंमें कई प्रकारके वर्णित हैं। ब्रह्मचर्य सर्वोत्तम तप है, उससे बढकर और कोई तप नहीं—उस एकमें ही सब तपोंका समावेश हो जाता है। शास्त्रोंमें ब्रह्मचर्यरूप तपकी बडी महिमा बतलाई है। इस-

प्रकार कर्तव्य-पालनको भी बडा तप कहा है। कितनी भी बडी विघ्न-बाधाएँ क्यों न उपस्थित हों? कष्ट भी कितना ही क्यों न उठाना पड जाँय? तो भी अपने कर्तव्यका धर्म-नीतिकी मर्यादापूर्वक पालन करना महान् तप है। अपने कर्तव्यपर डटे रहना, उससे पराङ्मुख न होना, विक्षिप्त न होना, एक धीरवीरका ही काम है। यह भी एक प्रकारका उत्तम-तप है। स्वाध्याय एवं प्रवचन भी तप है, ऐसी नाकोमोद्गलायन नामके ऋषिकी सम्मति है। अतएव श्रुति कहती है—

'स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।'
(तै० उ० १।११।१)

स्वाध्याय एवं प्रवचनसे कदापि प्रमाद नहीं करना चाहिए। जैसे हम भोजन एवं पानीसे कदापि प्रमाद नहीं करते, प्रतिदिन उन दोनोंका यथोचित मात्रामें प्रेमसे जीवनकी पुष्टिके लिए सेवन करते रहते हैं, तद्वत् पुष्ट-मधुर-दिव्य-आध्यात्मिक-जीवन लाभके लिए हमें प्रतिदिन प्रेमसे स्वाध्याय करते रहना चाहिए एवं विशिष्ट-विद्वान्-आचार्योंके द्वारा एकाग्रतासे श्रद्धासे प्रवचनोंका श्रवण करते रहना चाहिए।

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें भी शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक तीन प्रकारके आचरणीय तप बतलाये हैं। देव, द्विज, गुरु एवं ज्ञान-वानोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा यह शरीरका तप है। जो उद्वेग न करनेवाला, प्रिय एवं हितकर यथार्थ भाषण है, तथा वेदादि-शास्त्रोंका स्वाध्याय एवं भगवान्के पावन नाम-जपका अभ्यास है, वह वाणीका तप है। मनकी प्रसन्नता, शान्त-भाव, भगवत्तत्त्वानु-सन्धान करनेका स्वभाव, मनका निग्रह एवं भावोंकी संशुद्धि यह मनका

तप है। इसप्रकार महाभारतके शान्तिपर्वमें—

'मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः।' (२५।४)

मन एवं इन्द्रियोंकी एकाग्रताको सर्वश्रेष्ठ तप कहा है। उपवास आदिसे शरीर शोषणको भी एक प्रकारका निम्नकोटिका तप कहा गया है। जो अपने चारों ओर अग्नि जलाकर पञ्चाग्नि तपते हैं, शरीरमें भस्म लगाते हैं, वे भी एकप्रकारके तपस्वी कहे जाते हैं। उन सभी तपस्वियोंमें तपरूपसे भगवान् ही दर्शन दे रहे हैं। सभी अच्छे तप भगवान्के ही स्वरूप हैं।

इसप्रकार विश्वमें जो भी अच्छे-सुन्दर प्रसन्नताऽऽपादक पदार्थ हैं, वे सब भगवद्रूप ही हैं, और खराब—विक्षेपकर शोकमोहवर्धक बूरे भाव हैं, वे मायाके रूप हैं। सभी मानव अच्छा ही देखना—सुनना पसन्द करते हैं, बुरा देखना—सुनना पसन्द नहीं करते, एवं रहनसहन खान-पान भी अच्छा ही मांगते हैं—खराब नहीं। प्रथम हमें इन अच्छे स्वरूपोंमें भगवद्रूपकी भावना करनी चाहिए।

जो भगवान्के अनन्य भक्त हैं, जिनकी भावनाएँ विशुद्ध हैं, विश्वास दृढ है, समदर्शी हैं, ब्रह्मतत्त्वानुसन्धानमें निरत हैं, वे प्रत्येक अच्छी-बुरी वस्तुओंमें भगवान्को ही देखते हैं। उनकी दृष्टिमें बुरी भयंकर चीज ही नहीं है। भगवान्का अनन्य भक्त प्रह्लाद ऐसा समदर्शी था। अतएव मारनेके लिए आनेवाले राक्षसोंकी भयंकर चमचमाती हुई तीक्ष्ण-धारवाली नंगी तलवारोंमें भी प्रह्लादको भगवान्के अभयंकर दर्शन होते थे। इसलिए वह इन तलवारोंके समक्ष धीर एवं निर्भय होकर शान्तभावसे खडा रहता था। 'भगवत्स्वरूपसे कैसा भय?' इसी

निष्ठाके प्रभावसे ही तलवारोंसे प्रह्लादके शरीरका परित्राण हुआ था। साधारण मनुष्यके सामने यदि कोई क्रुद्ध होकर छुरी या चाकु लेकर आजाता है, तो वह तुरन्त ही डरकर चिल्लाता हुआ भाग जाता है। परन्तु प्रह्लाद वैसा साधारण मानव नहीं था, वह असाधारण भगवद्भक्त था, तत्त्वदर्शी था। इसप्रकार प्रह्लादको राक्षसोंने अग्निमें जलानेके लिए डाल दिया, परन्तु प्रह्लाद गीताका सच्चा स्वाध्यायी था। गीताके अर्थोंकी उसके हृदयमें दृढ भावना थी।

'**तेजश्चास्मि विभावसौ**'का निश्चय था। तेजरूपसे अग्निमें भगवान् ही हैं?। भगवान्का वह पावनस्वरूप कैसे जला सकता है? कैसे कष्ट दे सकता है?। इस दृढ विश्वाससे प्रह्लादके लिए अग्नि जल-वत्—शीतल हो गई। अतएव प्रह्लाद, दृढ–भगवद्भावनाके साथ यही बोला करता था कि—

'जले विष्णुः स्थले विष्णुः, विष्णुः पर्वतमस्तके।
ज्वालामालाकुले विष्णुः, सर्वं विष्णुमयं जगत्॥'

जलमें, स्थलमें, पर्वतके शिखरमें तथा ज्वालाओंसे युक्त अग्निमें भी विष्णु है, समस्त विश्व विष्णुमय है।

इसप्रकार सर्वत्र भगवत्तत्त्वकी विशुद्ध–भावनाकी सामर्थ्यद्वारा ही अनेक उपद्रवोंसे प्रह्लादका संरक्षण हुआ था। सच्चिदानन्दघन सर्वात्मा प्रभु सर्वव्यापक है।

'अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनो
नान्यत्ततः कारणकार्यजातम्।'
(वि० पु० १।२२।८७)

मैं स्वयं हरि हूँ, यह सब जगत् जनार्दन विष्णु है, उससे अन्य कारण एवं कार्य कुछ भी पृथक् नहीं—ऐसा प्रह्लादका पूर्ण विश्वास था। विश्वासमें बहुत सामर्थ्य होता है।

राक्षस-राज—हिरण्यकशिपुने विष्णुभक्त-पुत्रको मारनेके लिए अनेक उपाय किए। परन्तु वे सब निष्फल हो गये। तथापि वह राक्षसोंको वारवार यही आदेश देता रहता था कि—

'वध्यतां वध्यतामेषो नानेनार्थोऽस्ति जीवता।
स्वपक्षहानिकर्तृत्वात्, यः कुलांगारतां गतः॥'

(भा० ८।९।५३)

अरे राक्षसो! इस छोकरेको मारो, मारो, इसके जीनेसे अर्थके बदले अनर्थ ही बढेगा। जिसने अपने राक्षसोंके विरुद्ध आचरण किया है। और जो राक्षस-विरोधी विष्णुका भक्त बना बैठा है, अतः इस कुलांगारको जीवित मत रहने दो। जब प्रह्लादका वध करनेके लिए समस्त उपाय विफल हो गये, तब निराश होकर हिरण्यकशिपु प्रह्लादसे इस प्रकार कहने लगा—

'यस्त्वया मन्दभाग्योक्तो मदन्यो जगदीश्वरः।
क्वासौ? यदि स सर्वत्र, कस्मात् स्तम्भे न दृश्यते॥'

(भा० ७।८।१३)

अरे मन्दभागी! जिसको तू भगवान्-जगदीश्वर विष्णु कहता है, वह कहाँ है? क्या मेरे सिवाय अन्य कोई जगदीश्वर हो सकता है? तेरे मन्दभागी होनेमें कुछ सन्देह नहीं। जो तू अपनी मूर्खतावश इतने बडे साम्राज्यके सिंहासन और विपुल—ऐश्वर्य—वैभवोंको ठुकराकर उस

अविद्यमान विष्णुके पीछे पागल बना बैठा है।

संसारी मूढ—लोग भगवद्भक्तको मन्दभागी और पागल कहते हैं। वीतराग त्यागी महात्माको कर्महीन और दुःखिया कहते हैं।

'जनमको दुःखियो, करमको हीन,
ताको राम फकरवो कीन।'

हिरण्यकशिपुने कहा—प्रह्लाद! यदि तू कहे कि—मेरा राम सर्वत्र है, सर्वव्यापक है, परिपूर्ण है, तो बता—

'स्तम्भे कस्मात् न?'

इस स्तम्भमें वह क्यों नहीं दीखता, जो सर्वत्र होता है, वह एकत्र भी तो हो सकता है न? प्रह्लादने दृढ—विश्वासके साथ स्तम्भमें भी भगवान्‌के दर्शन करते हुए कहा '**मया तु भगवान् स्तम्भेऽपि दृश्यते।**' मैं तो स्तम्भमें भी भगवान्‌को देखता हूँ। मेरा प्रभु सर्व-व्यापक है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। मेरा राम सर्वत्र है, यहाँ भी है, वहाँ भी है, इसप्रकारकी दृढ—प्रतिज्ञाको सफल-प्रत्यक्ष बनानेके लिए अन्तर्यामी निराकार विभु-भगवान्‌को स्तम्भ फोडकर साकार रूपसे प्रकट होना पडा। इस विषयमें चित्सुखाचार्य—मुनिने नृसिंह—भगवान्‌की स्तुति करते हुए यह बहुत अच्छा कहा है—

'स्तम्भाभ्यन्तरगर्भभावनिगदव्याख्याततद्वैभवो,
यः पाञ्चाननपाञ्चजन्यवपुषा व्यादिष्टविश्वात्मतः।
प्रह्लादाभिहितार्थतत्क्षणमिलद्दृष्टप्रमाणं हरिः,
सोऽव्याद्वः शरदिन्दुसुन्दरतनुः सिंहाद्रिचुडामणिः॥'

जिस भगवान्‌ने स्तम्भके भीतर गर्भरूपमें रहकर अपने विभुत्वका

एवं स्तम्भद्वारा नृसिंहरूपसे प्रकट होकर अपनी विश्वात्मताका स्पष्ट परिचय दिया। जो शरत्कालीन-चन्द्रमाके समान सुन्दर-विग्रहवाले, एवं दुष्टदलन-भक्तानुग्रहादि करनेके बाद सिंहाचल-पर्वतके ऊपर निवास करनेवाले तथा प्रह्लाद द्वारा कहे हुए—वचनोंको तत्काल सार्थक बनानेवाले वह भगवान् श्रीहरि हमारी रक्षा करें। भगवान्‌को जो जहाँ जब जिसरूपमें देखना चाहता है, यदि उसकी चाहना निर्मल है, दृढ है, सच्ची है, प्रेमपूर्ण है, तो वहाँ तब उसरूपसे अवश्य ही भगवान् प्रकट होजाते हैं—

'हरि व्यापक सर्वत्र समाना, प्रेमसे प्रगट होई मैं जाना॥'

(महात्मा—तुलसीदास)

मुण्डकश्रुति भी कहती है—

'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष
आत्मा विवृणुते तनुꣳ स्वाम्।'

(३।२।३)

जो उसको चाहता है, उसे वह मिलता है, उसके समक्ष वह अपने स्वरूपको प्रकट कर देता है।

परन्तु उसको चाहता कौन है? लोग ऊपर ऊपरकी बनावटी चाह दिखाते हैं, नकली भक्तिका प्रदर्शन करते हैं। असली चाह तो उनकी सुन्दर-स्त्री, विपुल-धन, ऐश्वर्य-वैभव और मानप्रतिष्ठाके लिए है। दुनियाँके क्षणभंगुर पदार्थोंके साथ पूरी भक्ति है। ऐसी दशामें भगवान् कैसे मिल सकते हैं?। जो भगवान्‌को सच्चे प्रेमसे चाहता है, उसको भगवान् अवश्य मिलते हैं। अनेक भक्त, महात्मा एवं ऋषियोंको उनकी सच्ची चाहसे भगवान् मिले हैं, इसमें अनेक प्रमाण विद्यमान हैं।

प्रह्लाद इसलिए ही भगवान्‌का इतना बडा भक्त हो गया था कि–वह एक–मात्र परमप्रिय भजनीय भगवान्‌को ही चाहता था। अतएव वह सांसारिक सभी तुच्छ–कामनाओंसे मुक्त होकर निर्द्वन्द्व, निःस्पृह, निर्भय परमानन्दमग्न बन चुका था, यह उसके पावन चरित्रसे ही स्पष्ट हो जाता है।

प्रह्लादकी प्रतिज्ञाको सफल बनाने तथा भक्तकी रक्षा करनेके लिए जब भगवान् नरसिंहरूपसे प्रकट हुए थे; तब भगवान्‌का रूप बडा उग्र एवं भयंकर था। बडे-बडे तीक्ष्ण दांतोंके बीचमें लपलपाती हुई लाल-लाल विकराल जिह्वा दिखाई दे रही थी। क्रोधके मारे आंखें ऐसीं थीं, मानो बड़े बड़े दो अंगारे चमक रहें हों। गरदनके रूखे वाल कन्धोंपर बिखरे हुए थे। तलवार खींचकर मुकाबला करनेके लिए समीप ही खडे हुए–उस गर्वोन्नत-दुष्ट-हिरण्यकशिपुको उग्ररूप भगवान्‌ने अपने बडे बडे नखोंके द्वारा खरगोशके समान विदीर्ण कर डाला। वह एक ही क्षणमें पृथ्वीकी धूल चाटने लगा।

देवताओंको शीघ्र ही विदित होगया कि–भगवान् नृसिंहरूपसे प्रकट हो गये हैं। उससमय इन्द्र, वरुण, कुबेर, रुद्रगण आदि अनेक देवता भगवान्‌के दर्शनके लिए वहाँ उपस्थित हो गये। साथमें भगवान्‌की सहधर्मिणी, चिरसंगिनी भगवती इन्दिरा देवी भी वहाँ पहुँच गईं। परन्तु भगवान्‌के समीप जानेकी किसी भी देवताकी हिम्मत नहीं होती है। सभी भगवान्‌के उग्र-भयंकर-रूपसे भयभीत हो रहे हैं। सभी देवताओंने लक्ष्मीदेवीसे विनय किया कि–देवीजी! आप ही प्रथम भगवान्‌के समीप पधारें, भगवान्‌को शान्त एवं प्रसन्न करें। किन्तु देवी पद्मालया भी

भगवान्के इस विकराल-नरसिंह-रूपको देखकर भयसे कांप रहीं थीं। उन्होंने हाथके इशारेसे देवताओंको समझा दिया कि--मेरी भी उनके समीप जानेकी हिम्मत नहीं होती। और कहा कि--ऐसा विकराल स्वरूप तो मैने अपने प्रिय-पतिदेवका कभी देखा ही नहीं था।

उससमय कैलासपति भगवान् शंकर हँसते हुए--भक्तवर प्रह्लादकी महिमाको प्रकट करनेके लिए देवताओंसे कहने लगे कि--आप लोग, भक्त प्रह्लादसे भगवान्के समीप जानेके लिये विनयपूर्वक कहें। भक्त सदा निर्भय एवं अलमस्त होते हैं। इस भक्तके लिए ही तो भगवान्का ऐसा उग्ररूपसे अवतार हुआ है। साधु--भक्तोंकी रक्षाके लिए तथा दुष्टोंका संहारके लिए ही तो भगवान्को इस धराधाममें वार वार प्रगट होना पडता है। भक्तोंको भगवान् सौम्यरूपसे दर्शन देते हैं, और दुष्ट-पापियोंको उग्र--भयंकर रूपसे दीखते हैं। इसलिए--'**अय मेरे भोले-भाले राम**'की भावुक लोग धुन लगाते हैं। भगवान् भोले भी हैं एवं भाले भी। भक्तोंके लिये वे भोले अर्थात् शान्त, प्रसन्न--मुख, वरद-हस्त एवं संरक्षक होते हैं। और दुष्टोंके लिये वे भाले अर्थात् भयंकर दण्डप्रद एवं संहारक बन जाते हैं।

कैलासपति महादेवकी प्रेरणाके अनुसार देवताओंने समीपमें शान्त भावसे खडे तथा मुस्कराते हुए भक्त-प्रह्लादसे भगवान्के समीप जानेकी विनय की। प्रह्लाद उसी समय देवताओंका अभिवादन कर भगवान्के अति-समीप पहुँच गया। प्रिय-भक्तको देखते ही भगवान् अति-प्रसन्न हो गये। उग्रता दूर हो गई। भगवान्ने उससमय शिशुके समान प्रह्लादको अपने दोनों हाथोंसे उठाकर प्रेमके साथ हृदयसे लगा लिया।

कहने लगे—इन दुष्टोंसे तेरा परित्राण करनेमें विलम्ब करके मैंने तेरा बड़ा अपराध किया है। मुझे तेरी रक्षाके लिए शीघ्र ही आना चाहिए था। परन्तु शीघ्र न आ सका, यह मेरी बड़ी भूल हुई है। इसलिए मैं तुझसे क्षमा चाहता हूँ। इसप्रकार भक्तवत्सल भगवान् प्रह्लादसे वार वार अनुनय विनयद्वारा परमप्रेम दिखाते रहे। अन्तमें प्रह्लादसे कहा—

'प्रह्लाद ! भद्र ! भद्रं ते, प्रीतोऽस्मि तेऽसुरोत्तम ! ।
वरं वृणीष्व चाभिमतं, कामपूरोऽस्म्यहं नृणाम् ॥'

(श्रीमद्भा० ७।९।५२)

हे भद्र प्रह्लाद ! तुम्हारा कल्याण हो। हे असुरोमें श्रेष्ठ ! मैं तुमपर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। तू मुझसे अभिमत वर मांग। मैं अपने भक्तोंकी सभी कामनाओंकी पूर्ति करनेवाला हूँ।

भगवान्की ऐसी वाणी सुनकर मुस्कराते हुए प्रह्लादजीने कहा—

'मा मा प्रलोभयोत्पत्त्याऽऽसक्तं कामेषु तैर्वरैः।
तत्संगभीतो निर्विण्णो मुमुक्षुस्त्वामुपाश्रितः॥

(भा० ७।१०।६)

हे प्रभो ! मैं स्वभावसे ही इन विषयभोगोंमें एवं ऐश्वर्यवैभवोंमें आसक्त हूँ। अब मुझे आप इन वरोंके द्वारा लुभाइये नहीं। मैं इन भोग-कामनाओंके संगसे त्रस्त होकर, उनसे उपरत होकर, उनके फंदेसे छूटनेकी तीव्र अभिलाषा रखकर ही आपकी शरणमें आया हूँ।

'अहं त्वकामस्त्वद्भक्तः त्वं च स्वाम्यनपाश्रयः।'

(भा० ७।१०।६)

मैं आपका निष्काम सेवक—भक्त हूँ, और आप मेरे निरपेक्ष—पूर्णकाम स्वामी हैं।

'यस्त आशिष आशास्ते, न स भृत्यः स वै वणिक् ।'
(भा० ७ । १० । ४)

जो सेवक आपको अनन्य—भावसें न चाहता हुआ, आपसे अपनी सांसारिक कामनाएँ पूर्ण कराना चाहता है, वह सेवक—भक्त नहीं, वह तो लेनदेन करनेवाला कोरा बनिया है । जब हृदयमें किसी भी कामनाका उदय होता है, तब इन्द्रिय, मन, प्राण एवं देहकी शक्ति, धर्म, धैर्य, लज्जा, बुद्धि, श्री, तेज, स्मृति, सत्य ये सब दिव्यगुण शीघ्र ही नष्ट होजाते हैं ।

'विमुञ्चति यदा कामान्, मानवो मनसि स्थितान् ।
तर्ह्येव पुण्डरीकाक्ष !, भगवत्त्वाय कल्पते ॥'
(भा० ७ । १० । ९)

हे कमलनयन प्रभो ! जब यह मानव अपने मनमें रहनेवाली सभी सांसारिक कामनाओंका परित्याग कर देता है, उससमय भगव-द्भावको प्राप्त करनेमें समर्थ होजाता है ।

इसप्रकार कहकर प्रह्लादजी चूप हो गये । लोगोंको प्रलोभनमें डालनेवाले वरोंके द्वारा प्रलोभित किये जानेपर भी उन्होंने उनकी इच्छा नहीं की । तथापि भगवान् भक्तके निष्काम हृदयकी परीक्षा लेनेके लिए—उसकी महिमा बढानेके लिए फिर भी वर मांगनेके लिए कहते रहे । प्रह्लाद ! मेरा दर्शन अमोघ है; तुझे मुझसे कुछ मांगना ही होगा । प्रह्लादने विचार किया कि—सर्वसमर्थ—परमप्रिय-स्वामीकी आज्ञाका पालन अवश्य करना चाहिए । उससमय चतुरशिरोमणि प्रह्लाद तत्काल वर मांगने लगे—

'कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्।'
(भा० ७।१०।७)

हे प्रभो ! मैं आपके पावन आग्रहको कैसे टाल सकता हूँ। यदि आप वर देना चाहते ही हैं, तो मुझे यही वर दीजिये कि–मेरे हृदयमें कभी किसी कामनाका बीज ही अंकुरित न हो, किसी सांसारिक-वस्तु मांगनेकी इच्छा ही न हो, यही वर मैं आपसे मांगता हूँ। प्रह्लादजीकी ऐसी मांग सुनकर भगवान् बडे प्रसन्न हुए।

प्रह्लादजीके इस पावन–चरित्रसे यही निश्चय होता है कि–प्रह्लादजी भगवान्के अनन्य प्रेमी थे, निष्काम थे, निर्द्वन्द्व थे, निर्भय थे और कष्ट-सहिष्णु थे। उनका सबमें समभाव था। सर्वत्र भगवान्के ही मंगलमय स्वरूपका दर्शन करते थे।

इसप्रकार अर्वाचीन युगके महाराष्ट्र सन्त तुकारामजी भी भगवान्के अनन्य भक्त थे। सबमें भगवान्का ही दर्शन करते थे। एक समय एक स्थानपर सन्त तुकारामका भक्त–मण्डल प्रेमसे कीर्तन कर रहा था। भक्त-लोग खडे होकर अभिनयके साथ बडी तन्मयतासे 'राम कृष्ण हरि' की पावन धुन मचा रहे थे। रात्रिका समय था। कुछ भक्तोंको जोरोंकी प्यास लगी। एक प्राथमिक भक्त समीपकी एक बावडीमें गगरी हाथमें लेकर जल भरने गया। बावडीमें कुछ सीडियाँ उतरनेके बाद वहाँ रहनेवाला एक ब्रह्मराक्षस–पिशाच उसको दिखाई पडा। उसकी भयंकर-आकृति देखकर वह भक्त वहाँ ही गगरी पटककर भाग निकला। बावडीके बाहर बडी कठिनतासे निकलकर भूतभूत चिल्लाता हुआ आगे जाकर भयसे मूर्च्छित होगया। कुछ लोगोंने उसको

उठाकर पानी छिटककर सचेत किया। उसने भयकंपित-स्वरसे भूत दर्शनका वृत्तान्त सुनाया। सन्त तुकाराम भी समीपमें आकर यह सब वृत्तान्त सुन रहे थे। हंसते हुए वे बोल उठे—अरे भोले भक्त! तू भूतभगवान्से क्यों डर गया?। इस विश्वमें भगवान्से अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति।' (गी. ७।७)

यही भगवान्ने गीतामें कहा है। भगवान् ही सब कुछ हैं। अनेक अच्छे बुरे रूपोंसे भगवान् ही दर्शन देते हैं।

'हरिरेव जगत्, जगदेव हरिः,
हरितो जगतो न हि भिन्नतनुः।'

हरि ही जगत्, जगत् ही हरि है। हरिसे जगत् अणुमात्र भिन्न नहीं।

'अनेकरूपरूपाय, विष्णवे प्रभविष्णवे।' (वि. स.ना)

'एको देवो नारायणो न द्वितायोऽस्ति कश्चित।'
(नारायण० उप०)

'विश्वके अनेक रूपोंसे प्रकट होनेवाले विष्णुको नमस्कार है।' 'एक ही नारायणदेव सर्वत्र है, दूसरा कोई नहीं।'

भक्तवर तुकारामजीकी ऐसी वाणी सुनकर वह भयभीत-प्राथमिक भक्त झुँझलाकर बोल उठा—बावडीमें जाइये तो सही, वहाँ कैसे भूत-भगवान् हैं; पता लग जायगा। तुकारामजी तुरन्त ही गगरी एवं करतालें हाथमें लेकर बावडीके अन्दर पहुँच गये। वहाँ ब्रह्मराक्षस था ही। उसने अपने भयंकररूपको तुकारामजीके समक्ष प्रकट किया।

तुकारामजीने उसमें भी दृढ--पुनीत--भगवद्भावना की। अनन्य--प्रेमसे करतालें खटखटाते हुए--'राम कृष्ण हरि' बोलते हुए नृत्य करने लगे। भूत-भगवान्‌की स्तुति करते हुए कहने लगे--हे प्रभो! चौवीस अवतारोंके रूपसे यह आपका निराला स्वरूप खास मेरे लिए ही आपने प्रकट किया है। धन्य है, आपकी महिमा। कैसे सुन्दर नेत्र हैं, बडे बडे दांत हैं, लम्बे लम्बे हाथ हैं। वाह! मेरे वहुरूपिये प्रिय-भगवान्, आज मैं आपके इस अभिनव--आनन्दमय--स्वरूपका दर्शनकर धन्य होगया। भक्तकी इस दृढ--भगवद्भावनासे भूतको भगवान् बनना ही पडा। भगवान्‌ने भयंकर--भूतके भीतर अपना अभयंकर प्रसन्न परम-रमणीय--मधुर--आनन्दमय स्वरूपका दर्शन दिया।

इसप्रकार भक्त नामदेवको कुत्तेके शरीरमें केशव--भगवान्‌ने दर्शन दिये थे। एक जंगलमें नामदेव रोटियाँ बना रहे थे। जब सब रोटियाँ बनकर तैयार होगई, उनपर घृत लगाना शेष था, पासमें घीकी कटोरी रक्खी थी। सर्वत्र चराचर--विश्वमें भगवत्तत्त्व--भावनाका आवेग हृदयमें उछल रहा था।

भक्तप्रवर नरसिंह महेताके समान वे मस्तीके साथ गा रहे थे--

'अखिल ब्रह्माण्डमां एक तू श्रीहरि,
जूजवे (विविध) रूपसे तू ही भासे।
जागीने जाऊं तो जगत दीसे नहीं,
ऊंघमां अटपटा भेद भासे॥'

उससमय एक भूखा कुत्ता वहाँ शीघ्रतासे आकर, मुखमें चार रोटियाँ दबाकर डरसे भाग निकला। भक्त नामदेवको इस कुत्तेमें भी

भगवान्‌की भावना हो गई। भोला भक्त पुकारने लगा—अरे मेरे पुछडी-वाले भगवान्! सुखी रोटी लेकर क्यों भाग रहे हो? घी तो चुपडने दो। भगवद्भावावेशमें भक्त हाथमें घृतकी कटोरी लेकर कुत्ता भगवान्‌के पीछे दौडने लगा। कुत्ता कुछ और ही समझ रहा है, भक्त कुछ और।

'ना जानूँ किस रूपमें नारायण मिल जाय।'

नामदेवकी सच्ची भावनासे कुत्तेमें भगवान्‌को अपने दिव्य स्वरूपका दर्शन देना पडा। भगवान्‌ने 'वासुदेवः सर्वमिति।' (गी. ७।१९) इस गीताके उपदेशको यथार्थ प्रामाणिक करके दिखाया। भगवान्‌में सब कुछ है, सबमें व्यापक हैं, सब कुछ भगवान् ही हैं।

'स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु।' (शु० य० ३२।८)

वह विभु परमात्मा इन सभी चराचर पदार्थोंमें ओतप्रोत है। बाहर-भीतर व्याप्त है।

'बाहर भीतर एको जानो, यह गुरु ज्ञान बताई।
जन-नानक बिनु आप पिछाने, मिटे न भ्रमकी काई॥'

भगवत्तत्त्वकी सच्ची अनुभूति भक्तोंके निष्काम वैराग्यवान् पवित्र हृदयोंमें ही हुआ करती है।

(१०)

'बीजं मां सर्वभूतानां, विद्धि पार्थ! सनातनम्।
बुद्धि बुद्धिमतामस्मि, तेजस्तेजस्विनामहम्॥' (७।१०)

हे अर्जुन! तू सम्पूर्ण-भूतोंका सनातन-कारण मेरेको ही जान, मैं बुद्धिमानोंकी बुद्धि, और तेजस्वियोंका तेज हूँ।

आनन्दकन्द—भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको निमित्त बनाकर हम

सबके कल्याणके लिए अपने स्वरूपका उपदेश देते हैं।

मैं सनातन बीजरूप हूँ। 'कनक में कुण्डलादिकी तरह' उस मुझमें पिण्ड ब्रह्माण्डरूप—समस्त भूत ओतप्रोत हैं। वह बीज सनातन होनेके कारण उसे अन्य बीजकी अपेक्षा नहीं होती। आदिम-बीजका भी बीज माननेपर अनवस्था दोष आ जाता है, इसलिए अन्ततोगत्वा एक—वह बीज ऐसा मानना पडता है—जो स्वतः निर्बीज होता है। जिसका कारण कोई बीज नहीं? ऐसा सबका सनातन बीज महाकारण परमात्मा ही है।

सांख्यवादी कहता है कि—सर्वभूतोंका बीज, त्रिगुणात्मिका जड प्रकृति है, चेतन परमात्मा नहीं। क्योंकि—लोकमें जड कार्यका जड ही कारण देखनेमें आता है—चेतन नहीं। इसलिए उसकी कारणरूपसे सिद्धिके लिए यह अनुमान भी प्रमाण है—'**कार्यं जडप्रकृतिकं कार्यत्वात् घटवत्।**' जैसे घटरूप दृष्टांतमें कार्यत्वरूप हेतु है, और जड-मृत्तिका प्रकृतिकत्व(उपादानकारणत्व)रूप साध्य है, तैसे सम्पूर्ण आकाशादि-भूतात्मक कार्यरूप-पक्षमें कार्यत्वरूप हेतु है; अतः जड-रूपप्रधान—प्रकृतिकत्वरूप साध्य भी मानना चाहिए। सांख्यवादी प्रकृतिको प्रधान कहते हैं। ऐसा सनातन—बीजरूप प्रधान सर्वज्ञ भी है। क्योंकि—भगवान्ने गीतामें कहा है कि—'**सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्।**' (१४।१७) सत्त्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है। और इस सत्त्वगुणमें जो निरतिशय उत्कर्ष है—वही सर्वज्ञताका प्रयोजक है। इसलिए—निरतिशय—उत्कर्ष—विशिष्ट सत्त्वगुणवाले—प्रधानमें सर्वज्ञत्वकी भी सिद्धि होजाती है। इसलिए—जगत्का कारण प्रधान ही हो सकता है—चेतन-

परमात्मा अविकृत होनेसे कारण नहीं हो सकता।

इस सांख्यवादीके मतका ब्रह्मसूत्र—मीमांसामें भगवान् व्यासने इसप्रकार खण्डन किया है —

'ईक्षते नाशब्दम्' (१।१।५) अर्थात् जगत्के कारणमें ईक्षणका श्रवण होता है, इसलिए—वह जड प्रधान, वेदादिशास्त्रोंके द्वारा —कारणरूपसे प्रतिपाद्य नहीं हो सकता। हमारी प्रामाणिक-श्रुतियाँ कहतीं हैं कि—**'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति, तत्तेजोऽसृजत'** (छां० ६।२) छान्दोग्योपनिषत्में उद्दालक ऋषिने पुत्र-श्वेतकेतुके प्रति उपदेश किया है कि—हे सोम्य—हे प्रियदर्शन! सृष्टिसे प्रथम यह दृश्यमान सम्पूर्ण जगत्, सजातीयादि—त्रिविध भेदशून्य—सद्रूप ब्रह्म ही था। पश्चात् उस ब्रह्मने—सृष्टिका ईक्षण यानो आलोचन इसप्रकार किया—'मैं एक ही बहुरूप हो जाउँ' 'विविध नामरूपोंकी अभिव्यक्तिं करके प्रादुर्भूत हो जाऊँ,' इसप्रकारका ईक्षण करके उस परमात्माने तेज उत्पन्न किया।

तथा **'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत् किञ्चन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति, स इमांल्लोकानसृजत'** (ऐ० उ० १।१) अर्थात् सृष्टिसे प्रथम यह अभिव्यक्त-नामरूपात्मक प्रपञ्च आत्मस्वरूप ही था, उससमय आत्मासे विलक्षण अन्य कोई वस्तु नहीं थी। उस आत्माने ऐसा ईक्षण अर्थात् संकल्प किया कि—प्राणियोंके कर्मफल—भोगके साधनरूप—पृथिव्यादि लोकोंको मैं उत्पन्न करूँ, इसप्रकार ईक्षण करके उस परमात्माने—इन लोकोंको उत्पन्न किया।

प्रश्न—सृष्टिके आदिमें एकमात्र आत्मा ही था, अन्य कुछ नहीं

था। ऐसा श्रुतिका कहना श्रुतिसे ही विरुद्ध है। क्योंकि–अन्य श्रुति कहती है–'**मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्**' (श्वे० ४। १०) माया जगत्की प्रकृति है; अर्थात् परिणामी उपादान कारण है। अतः जगत्की उत्पत्तिसे प्रथम माया भी विद्यमान थी। और मायाके विना परमात्मामें विवर्तोपादानकारणत्वकी सिद्धि भी कैसे हो सकती है ?। इसलिए वह श्रुति, ब्रह्मसे भिन्न–विजातीय वस्तुका निषेध कैसे कर सकती है ?।

उत्तर–माया आत्माकी अनिर्वचनीय–शक्ति होनेके कारण ब्रह्मसे वस्तुतः भिन्न नहीं है। ब्रह्ममें वह आरोपित है; और आरोपित अधिष्ठानसे पृथक् सिद्ध नहीं होता, इसलिए श्रुतिका पूर्वोक्त कहना यथार्थ है।

इसप्रकार श्रुतियोंके द्वारा चेतन परमात्मा ही जगत्का कारण सिद्ध होता है, और वही सर्वज्ञ हो सकता है, जड-प्रधान नहीं। सत्त्वगुणसे उत्पन्न होनेवाली केवल जडवृत्तिका नाम ज्ञान नहीं है। किन्तु साक्षीरूप बोध–विशिष्ट वृत्तिका नाम ज्ञान है,–अथवा वृत्तिमें अभिव्यक्त बोधका नाम ज्ञान है। अतः साक्षीरहित सत्त्वगुणकी जडवृत्ति किसी भी अर्थको नहीं जान सकती। इसलिए अचेतन प्रधानमें साक्षीत्व एवं सर्वज्ञत्व नहीं हो सकता। अतएव मुण्डक-श्रुति भी कहती है कि–

'**यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः।**
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते॥'

(१। १। ९)

सामान्यरूपसे जो सर्वको जानता है, वह सर्वज्ञ है, तथा विशेषरूपसे जो सर्वको जानता है, वह सर्ववित् है। उसका सृज्यमान-सर्व-

पदार्थोंकी अभिज्ञतारूप ज्ञानमय तप है, क्लेशरूप नहीं। उससे ब्रह्म यानी कार्यरूप-हिरण्यगर्भ, उत्पन्न होता है, एवं उससे समस्त देवदत्त यज्ञदत्तादि नाम, नीलपीतादि—रूप एवं व्रीहियवादि-अन्न उत्पन्न होते हैं।

इसप्रकार समस्त श्रुतियाँ सर्वज्ञ परमात्माको ही जगत्का सनातन बीजरूपसे बोधन करती हैं—जडप्रधानको नहीं। यद्यपि वेदान्तमें प्रकृतिको भी जगत्का परिणामी उपादान कारण माना गया है; परन्तु वह जड होनेके कारण स्वतः कारण नहीं हो सकती, न सृष्टि-रचनामें स्वतः प्रवृत्त हो सकती है; किन्तु चेतन-परमात्माके सहकारसे ही उसकी चैतन्य-स्फूर्तिको लेकर ही प्रवृत्त हो सकती है। इसलिए प्रकृति स्वतन्त्र कारण नहीं है।

शून्यवादी बौद्ध कहता है कि—**'असद्वा इदमग्र आसीत्'** (छां० ६।२।१) (सृष्टिसे प्रथम असत् ही था) इत्यादि श्रुति सिद्ध जो अभाव है—सत्तारहित—शून्य पदार्थ है—वही जगत्का कारण है। लोकमें भी सभी कार्य अभावसे ही उत्पन्न हुए देखे जाते हैं। जैसे बीजके अभावसे अंकुर पैदा होता है।—**'नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्'** यह हमारा सिद्धान्त है। जबतक मिट्टीमें बीजका सर्वथा उपमर्द (विनाश) नहीं होजाता, तबतक अंकुरकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। जब बीज सर्वथा नष्ट होजाता है—उसका अस्तित्व नहीं रहता, तब अंकुररूप कार्यका प्रादुर्भाव होता देखनेमें आता है। इसलिए इस विश्वका अभावरूप-शून्य ही कारण होसकता है, भावरूप परमात्मा नहीं।

शून्यवादी बौद्धका यह मत सर्वथा अयुक्त है, अनुभव एवं तर्कसे विरुद्ध है। अभावसे भावका कदापि प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। यदि विनष्ट बीज अंकुरको उत्पन्न करता है, तो अग्निमें बीजको जलाकर

या उसे पत्थरसे पीसकर जमीनमें बो देनेपर वह अंकुरको क्यों उत्पन्न नहीं करता ?। मरा हुआ पिता पुत्रको क्यों उत्पन्न नहीं करता ?। क्या लोकमें ऐसा देखनेमें आता है ?। अतः सर्वथा नष्ट बीज अंकुरका कारण नहीं हो सकता। अतः भावसे ही भावका प्रादुर्भाव होता है—अभावसे नहीं। बीजमें भी अंकुरोत्पादन समर्थ अपने भावरूप-अवयव विद्यमान रहते हैं—उनसे ही अंकुरका निर्माण होता है। शून्यका अर्थ है—अभाव, नास्तित्व, कुछ नहीं। यदि कोई कहता है कि—**नास्ति**। तब तुरन्त यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि—**कुत्र नास्ति ?**। निषेधका अधिकरण कौन है ? कहाँ नहीं है, यदि उसका कोई आधार माना-जाता है तो वह शून्य ही नहीं रहता। शून्यसे पृथक् उसका भावरूप आश्रय सिद्ध हो जाता है। आत्माश्रय दोष होनेसे शून्यका आश्रय, शून्य ही है, ऐसा भी नहीं कह सकते।

शून्यवादी आयुष्यमान् भदन्तजी ! एक और बात बतलाइये—अच्छा, इस शून्यको किसने जाना ? अर्थात् शून्यका साक्षी (ज्ञाता) कौन है ?। यदि उसका जाननेवाला साक्षी नहीं है, तो उसकी सिद्धि कैसे मानी जायगी। शून्य है, ऐसा कौन कहेगा ?। यदि कहें कि—शून्य है, ऐसा शून्य ही कहेगा, तो वह कहनेवाला शून्य-जड है, या चेतन ?। यदि वह जड है, तो कह नहीं सकता। जड पत्थर कभी कहता हुआ देखा नहीं गया। यदि चेतन है, तो शून्यवादका ही खण्डन होजाता है। क्योंकि—ज्ञाता भावरूप चेतन पदार्थ कदापि शून्य नहीं होसकता। अमुक स्थानमें रात्रिके बारह बजे, कोई नहीं था, शून्य था, इस कथनसे सर्वथा शून्यकी सिद्धि नहीं होती। कहने-

वालेका निषेध सिद्ध नहीं होता। परन्तु कहनेवाले साक्षीसे अतिरिक्त कुछ नहीं था। कहनेवाला साक्षी चेतन तो वहाँ विद्यमान था ही। जो अपनेसे अतिरिक्त (अमुक) पदार्थोंका निषेध कर रहा था।

यदि किसी लडकेसे पूछा जाये कि–तुम्हारा पिता कौन है?। और यदि वह कहे कि–कुछ नहीं, तो वह पागल ही समझा जायगा। कुछ नहीं का– वह पुत्र कदापि नहीं हो सकता। इसप्रकार कुछ नहींरूप–शून्यसे जगत् उत्पन्न नहीं हो सकता। किन्तु भावरूप सनातन सर्वेश्वर-बीजरूप परमात्मासे ही इस निखिल विश्वका प्रादुर्भाव होता है, यह सिद्धान्त, युक्तियुक्त अनुभवसिद्ध एवं प्रामाणिक ही सिद्ध होता है। वस्तुतः '**सर्वं शून्यं शून्यं**' यह भगवान् बुद्धका उपदेश, आत्माकी भी शून्यताके प्रतिपादनके लिए कदापि नहीं था। किन्तु जगत्की आस्था हटानेके लिए तथा केवल वैराग्यकी उत्पत्तिके लिए एकमात्र नामरूपात्मक जगत्की शून्यता दिखलानेके लिए था। परन्तु उनके कई यथाश्रुतार्थग्राही-तात्पर्यानभिज्ञ-दुराग्रही-अनुयायी सचमुच ही अपने ग्रन्थोंमें स्वतः सिद्ध आत्माकी भी शून्यताको सिद्ध करने लग गये। जिससे बुद्धानुयायी जनता भगवान् बुद्धके असली उद्देश्यसे प्रच्युत हो गई। अतएव अन्य वेदसिद्धान्तानुयायी दार्शनिक–विद्वानोंने भी उस मतका खण्डन करना ही उचित समझा। अतएव आस्तिकोंके सभी न्याय-मीमांसादि दर्शन-ग्रन्थोंमें बुद्धमतका खण्डन बडे जोरोंसे किया गया देखा जाता है।

अतएव भगवान् प्रभु श्रीकृष्ण, गीतामें कहते हैं कि–मैं ही सर्वका सनातन मूलकारण हूँ, मेरा कोई कारण नहीं। दार्शनिक

विद्वानोंका सिद्धान्त है कि—'**मूले मूलाभावात्, मूलममूलम्**'—मूलका मूल न होनेसे मूल अमूल ही होता है। इसलिए मुझ अनादि परमात्माकी कोई आदि नहीं दिखा सकता। इसलिए मेरा नाश भी नहीं हो सकता। मैं सबका अपना आप आत्माराम हूँ। कोई भी बुद्धिमान् मानव अपने आपका निषेध नहीं कर सकता। 'मैं नहीं हूँ' ऐसा कोई भी मानव पागलको छोडकर बोल नहीं सकता। अतः चिदात्मा भगवान् सब भूतोंके भीतर सनातन बीजरूपसे विद्यमान् हैं, वे ही सबके उत्पादक हैं, एवं संचालक हैं।

प्रश्न—अच्छा, स्वामीजी! यह तो बतलाइये कि—आपका वह सर्वेश्वर भगवान् शरीरसहित हुआ जगत्का निर्माण या संचालन करता है, या शरीररहित। यदि कहें कि—शरीररहित, तो शरीरसे रहित हुआ कोई भी निर्माण या संचालन आदि कार्य करता—लोकमें देखा नहीं जाता। और यह नियम है कि—'**दृष्टानुसारित्वात् अदृष्टकल्पनायाः**'। दृष्टके अनुसार ही अदृष्ट कल्पना करनी चाहिए—न कि दृष्टविरुद्ध। यदि आप कहें कि—वह परमात्मा शरीरसहित होकर निर्माण आदि करता है तो—उसका वह शरीर कैसा है? उसका भी कुछ विवेचन करना होगा। वह शरीर नित्य है, या अनित्य। यदि ईश्वरके शरीरको नित्य मानते हैं, तो जिसप्रकार ईश्वरके सावयव शरीरको आपने नित्य माना, उसप्रकार इस सावयव जगत्को भी नित्य मानिये। जगत्को नित्य माननेपर तो उसके कारणरूपसे ईश्वरकी ही सिद्धि नहीं होगी। क्योंकि—नित्य पदार्थका कोई भी कारण नहीं होता। यदि उसका कोई कारण होता है, तो वह नित्य ही

नहीं रहता । यदि आप कहें कि—ईश्वरका शरीर नित्य नहीं है, किन्तु अनित्य है, तो आपको अनित्य शरीरका ईश्वरसे अतिरिक्त कोई कारण बतलाना होगा। परन्तु सृष्टिके आदिमें ऐसा कोई कारण ही नहीं मिलता। यदि कहें कि—ईश्वर ही अपने शरीरका कारण हो जायगा, तो ऐसा कहना नियमसे विरुद्ध हो जाता है—क्योंकि—शरीररहित आत्मा किसीका—(अपने शरीरका या अन्य किसी भी पदार्थका) कारण ही नहीं माना जाता।

उत्तर—सर्वेश्वर भगवान् शरीरसे रहित हैं—तथापि उनमें विशिष्ट—अनन्त-सामर्थ्य होनेके कारण वे जगत्का निर्माण-संचालन आदि कार्य कर सकते हैं। यह कोई नियम नहीं है कि—शरीररहित पदार्थ कुछ कार्य कर नहीं सकता। पृथिवी जल आदि अनेक पदार्थ—शरीररहित हुए भी अंकुरनिर्माणादि अनेकविध कार्य करते देखे गये हैं। यदि आप कहें कि—पृथिव्यादि तो सावयव हैं—इसलिए कार्य कर सकते हैं—परन्तु आपका ईश्वर तो निरवयव है, इसलिए कार्य नहीं कर सकता। तो यह भी नियम नहीं है कि—निरवयव पदार्थ कुछ कार्य नहीं कर सकता। शब्द निरवयव है, तथापि वह द्रुत-गतिसे गमनागमन करता है। इसके लिए टेलिफोन रेडियो आदि देखिये। इसप्रकार लोकमें बहुत निरवयव पदार्थ, अपनी विलक्षण-शक्ति द्वारा कार्य करते हुए देखे जा सकते हैं। इसलिए हमारी प्रामाणिक-कृष्णयजुर्वेदकी श्वेताश्वतर श्रुति कहती है कि—

'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते,
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।

परास्य शक्ति र्विविधैव श्रूयते,
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥६।८॥

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता,
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता,
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥३।१९॥

उस जगत्स्रष्टा परमात्माका कार्य (शरीर) नहीं है, तथा करण (इन्द्रिय समूह) नहीं है, और उस परमात्माके सम (समान-कक्षावाला) तथा अभ्यधिक (उससे भी बढ़ाचढ़ा) भी देखनेमें नहीं आता। और उस सर्वेश्वरकी मायाशक्ति, परा है अर्थात् आकाशादि स्वकार्यकी अपेक्षासे पर है। तथा वह विचित्र कार्य करनेसे विविधा है। 'श्रूयते' पदसे वह प्रत्यक्षादि-प्रमाणोंसे सिद्ध नहीं है, किन्तु ऐतिह्यमात्रसे सिद्ध है, ऐसा ज्ञापन होता है। जिसप्रकार इस वटवृक्षमें प्रेत रहता है, इस ऐतिह्यसे वस्तुतः अविद्यमान होनेपर भी आरोपसे प्रेत सिद्ध होता है। उसप्रकार माया भी वस्तुतः विद्यमान नहीं है, किन्तु आरोपित है। और ईश्वरीय ज्ञानरूप बलद्वारा-जगत्की सृष्टिरूपा जो क्रिया है, वह भी स्वाभाविकी है अर्थात् मायारूप स्वभावसे प्रयुक्त है। और वह परमात्मा, हाथोंसे रहित है, तो भी ग्रहण करता है, पैरोंसे रहित है, तो भी वेगसे चलता है। चक्षुसे रहित है, तो भी सबको एकसाथ देखता है, कानसे रहित है; तो भी सभी शब्द सुनता है। और वह परमात्मा जाननेयोग्य समस्त पदार्थोंको जानता है, एवं उसको कोई नहीं जानता। ब्रह्मवेत्ता महापुरुष उसको अनादि महान् एवं पूर्ण-पुरुष कहते हैं।

और वह सर्वेश्वर भगवान् सृष्टिके बाद जब शरीरद्वारा करने योग्य कोई कार्य (भक्त-परित्राण दुष्टदमनादि) उपस्थित होजाता है, तब बीच बीचमें अनेक मायिक-विग्रहोंको भी स्वेच्छासे धारण करता हैं। और उनके द्वारा अपनी असाधारण-दिव्य-विभूतियोंका भी प्रदर्शन करता है। तथापि भगवान्‌के वे विग्रह-अलौकिक एवं विविध-प्रकारकी सिद्धियोंसे संयुक्त होनेपर भी नित्य नहीं माने जा सकते। क्योंकि-ब्रह्मभिन्न समस्त पदार्थ सान्त हैं, बाधित हैं, ऐसा श्रुतिका सिद्धान्त हैं। इसलिए परमेश्वर शरीररहित हुआ या शरीरसहित हुआ भी लीलामात्रसे सब कुछ करनेके लिए समर्थ हैं।

प्रश्न-तथापि वह परमेश्वर जगत्का निर्माण, किस प्रयोजनके लिए करता हैं? इसका भी कुछ विवेचन होना चाहिए। क्योंकि-प्रयोजनके विना कोई साधारण मानव भी कुछ करता हुआ, देखा नहीं जाता। अर्थात् प्रयोजनको लक्ष्यमें रखकर ही कर्त्ताओंके द्वारा लोकमें-कार्य होते देखे जाते हैं। प्रयोजन है-अनिष्टका हान, एवं इष्टका लाभ। इस कार्यसे, यह अनिष्ट दूर होगा, एवं इस इष्टका लाभ होगा, ऐसा जब निश्चय करता है, तभी ही वह कार्य करनेमें प्रवृत्त होता है, अन्यथा नहीं। जब ऐसी बात है-तब आपको बतलाना होगा कि-वह परमेश्वर स्वप्रयोजनके लिए या परप्रयोजनके लिए जगत्का निर्माण करता हैं। यदि आप कहें कि-स्वप्रयोजनके लिए, तो उसमें परमेश्वरके लक्षण ही नष्ट होजाते हैं। परमेश्वरके लक्षण हैं-आप्तकामत्व पूर्णतृप्तत्व आदि। आप्तकाम एवं पूर्णतृप्त परमेश्वरका अपना प्रयोजन कुछ नहीं होता। उसके समक्ष कोई भी अनिष्ट खडा ही नहीं रह सकता, जैसा

प्रकाशके समक्ष अन्धकार। इसप्रकार उस परिपूर्ण—आनन्दघनके लिए कोई भी इष्ट प्राप्तव्य नहीं है। इसलिए उस दुःखरहित सुखपूर्ण परमेश्वरके लिए न कुछ हेय है, न कुछ उपादेय है। न कुछ कर्तव्य है, न कुछ वक्तव्य है। '**आप्तकामस्य का स्पृहा?**' आप्तकामको किसकी स्पृहा? ऐसा आपके परमाचार्य भी कहते हैं।

यदि आप कहें कि—जगत्का निर्माण, भगवान्की लीला—क्रीडा मात्र है। भगवान्का—अपना प्रयोजन कुछ नहीं। परन्तु लीला भी प्रयोजन विना नहीं होती। लोकमें जो भी कोई कुछ क्रीडा करता है, वह आनन्दके लिए ही करता है। भगवान् आनन्दके अर्थी (इच्छुक) नहीं हैं, क्योंकि—वे दुःखरहित तथा पूर्णानन्द—स्वरूप हैं। किसी दुःखके निवारण एवं किसी सुखकी—प्राप्ति के लिए ही क्रीडा होती है। इसलिए आप 'जगत्का निर्माण लीलामात्र है' ऐसा भी नहीं कह सकते।

यदि आप कहें कि—विश्वमें विविधरूपसे फैली हुई अपनी अचिन्त्य-दिव्य-विभूतियोंके प्रख्यापनके लिए ही भगवान् जगत्का निर्माण करता है। तो यह भी कहना, वैसा ही है। कैसे? सुनिये! विभूतियोंके प्रख्यापनसे क्या आपके ईश्वरमें कुछ अतिशयता (गौरव)का लाभ होता है? एवं उनका प्रख्यापन न करनेसे ईश्वरको अपनेमें कुछ हीनताका अनुभव होता है। जिसप्रकार कोई अच्छा वक्ता विद्वान् अपनी आकर्षक—वक्तृता जब प्रगट करता है, तब सभी लोग उसे सुनकर वाह वाह धन्य धन्य करने लगते हैं, तब वह अपनेमें कुछ अतिशयताका अनुभव करता है, जबतक वह अपनी वक्तृता प्रकट नहीं करता, तबतक लोगोंका सम्मान न मिलनेके कारण वह अपनेमें

हीनताका अनुभव करता हैं। अपनेमें अतिशयताका अनुभव, सुखका संपादक, तथा हीनताका अनुभव; दुःखका प्रयोजक होता है, ऐसा लोकमें देखा जाता है। यदि ईश्वरके विषयमें भी ऐसी बात मानी जायगी, तो वह पूर्णतृप्त ईश्वर ही नहीं रहता, साधारण जीव कोटिका होजाता है। इसलिए यही निश्चयसे मानना होगा कि—ईश्वर अपने प्रयोजनके लिए-जगत्का निर्माण नहीं कर सकता। क्योंकि—उसका अपना प्रयोजन कुछ भी सिद्ध नहीं होता।

यदि आप कहें कि—परमेश्वर, जीवोंके प्रयोजनके लिए—जगत्का निर्माण करता है—तो ऐसा आप नहीं कह सकते। क्योंकि—जगत्के निर्माणसे जीवोंका कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। प्रत्युत प्रयोजनसे विरुद्ध (सुखलाभके बदले अपार दुःख लाभ, एवं दुःख निवारणके बदले सुख—निवारण) अनर्थ ही सिद्ध होता है। जगत्के निर्माणसे जीवोंको जन्म-मरणादिके अनेकविध दुःख ही दुःख मिल रहे हैं, चाहनेपर भी जगत्में उन्हे सुखका गन्ध भी नहीं मिलता। यह सबके प्रत्यक्षकी बात है। अतएव 'नैषधीय-चरित' नामके महाकाव्यमें महाकवि—श्रीहर्षने भगवान् के प्रति इसप्रकार कहा है—

'आप्तकाम! सृजसि त्रिजगत् किं?
किं भिनत्सि यदि निर्मितमेव?।
पासि चेदमवतीर्य मुहुः किं?
स्वात्मनाऽपि यदवद्यविनाश्यम् ॥'
(२१। १०६)

हे आप्तकाम! परमेश्वर! किस प्रयोजनके लिए तू त्रिजगत्का

सर्जन करता है ?। अर्थात् जगत्के सर्जनमें अपना अथवा दूसरोंका प्रयोजन कुछ भी सिद्ध नहीं होता। अतः निष्प्रयोजन ही तू जगत्का सर्जन करता है। यदि तूने जगत्का निर्माण किया है तो फिर इसका विध्वंस क्यों करता है ? अच्छे, सुन्दर—मनोहर शरीरादि पदार्थोंको बनाकर निर्दयतापूर्वक उनका विनाश करना किसी भी प्रकारसे उचित नहीं माना जाता। नाश ही करना था तो उनको बनाया क्यों ?। बनाये थे, तो उनका नाश नहीं करना था। और यदि तू कहे कि—यह जगत् स्वयं ही कालवश हुआ नष्ट होजाता है, इसमें मैं क्या करूँ ? तो इस अवश्य-विनाशी जगत्की—वार वार अवतार लेकर क्यों रक्षा करता रहता है। अर्थात् तेरी रक्षा तभी ही सफल मानी जा सकती है कि—जब इसका सर्वथा विनाश होना समाप्त हो जाय।

उत्तर—जगत्का निर्माण वास्तविक नहीं है, किन्तु मायामय है। इसलिए जगत्के निर्माणमें माया ही प्रयोजक है, और कुछ नहीं। अतएव वेदान्तके मर्मज्ञ पूज्य गौडपादाचार्यजीने कहा है कि—

'भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये, क्रीडार्थमिति चापरे।
देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा॥'
(मा० उ० आ० प्र० ९)

सृष्टि भोगके लिये है, ऐसा कुछ लोग मानते हैं, और कुछ लोग, क्रीडाके लिये है, ऐसा समझते हैं, परन्तु वास्तवमें यह जगन्निर्माणादि भगवान्का मायामय स्वभाव ही है। क्योंकि—पूर्णकाम परमेश्वरको इच्छा ही क्या हो सकती है ? जिसप्रकार अविद्यारूप अपने स्वभावके बिना, रज्जु आदिका सर्पादिकी अभिव्यक्तिमें कारणत्व नहीं बतलाया

जा सकता। इस प्रकार विश्वकी अभिव्यक्तिमें मायामय स्वभाव ही प्रयोजक है, और कुछ प्रयोजन नहीं दिखाया जा सकता।

अपने अद्वैत–स्वरूपमें मायाद्वारा इस द्वैत जगत्‌की कल्पना करनेवाला और इसका साक्षी आप ही है, अन्य कोई नहीं।

'कल्पयत्यात्मनाऽऽत्मानमात्मा देवः स्वमायया।
स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्त–निश्चयः॥'
(मा० वै० प्र० १२)

स्वयंप्रकाश–अद्वय–आत्मा अपनी मायासे स्वयं ही द्वैतकी कल्पना करता है और वही सब भेदोंको जानता है, यही वेदान्त (उपनिषदों) का निश्चय है। जिसप्रकार स्वप्नमें एक ही आत्मा निद्रासे अपनेमें अनेक विध–दृश्यको कल्पना करता है, एवं उनके भेदोंको जानता है।

'अनिश्चिता यथा रज्जुरन्धकारे विकल्पिता।
सर्पधारादिभिर्भावैस्तद्वदात्मा विकल्पितः॥
निश्चितायां यथा रज्ज्वां विकल्पो विनिवर्तते।
रज्जुरेवेति चाद्वैतं तद्वदात्मविनिश्चयः॥'
(वै० प्र० १७। १८)

जिसप्रकार अपने स्वरूपसे निश्चय न की हुई रज्जु अन्धकारमें सर्प-धारा आदि भावोंसे कल्पना की जाती है, उसीप्रकार आत्मामें भी उसके अज्ञानद्वारा तरह तरहकी कल्पनाएँ हो रही हैं। जिसप्रकार रज्जुका निश्चय हो जानेपर उसमें सर्पादिका विकल्प निवृत्त होजाता है, तथा 'यह रज्जु' ही है, ऐसा अद्वैत निश्चय होता है, उसप्रकार अद्वैत आत्मतत्त्वका निश्चय (अपरोक्ष–अनुभव) हो जानेपर उसमें आरोपित

द्वैतप्रपञ्च निवृत्त हो जाता है, 'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते' एकमात्र अद्वय-अधिष्ठान—आत्मा ही परिशिष्ट रह जाता है।

'स्वप्नमाये यथा दृष्टे, गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥'
(वै० प्र० ३१)

जिसप्रकार स्वप्न और माया (असद्रूप—मिथ्या) देखे गये हैं, तथा जैसा गन्धर्वनगर (आरोपित) जाना गया है, उसप्रकार विचक्षण पुरुषोंने वेदान्तोंमें इस द्वैत—जगत्को भी पारमार्थिक नहीं, काल्पनिक देखा है।

प्रश्न—तब यह माया क्या चीज है? जिसको प्रयोजक बनाकर जगत्का निर्माणादि होता है, वह कहाँसे आई है? क्यों आई है? कबसे आई है? इसका कुछ विवेचन कीजिये।

उत्तर—मायाका विवेचन हम 'दैवी ह्येषा गुणमयी' इस आगेके श्लोकके प्रवचनमें करेंगे। यहाँ इसके विवेचनका अवसर नहीं है।

इसप्रकार भगवान् परमेश्वर माया द्वारा ही इस चराचर—जगत्का कारण होता है, स्वतः नहीं।

और इस जगत्की रचना, स्रष्टा परमेश्वरकी महिमा जाननेके लिए, तथा उसमें श्रद्धाभक्ति बढाकर तन्मय हो जानेके लिए—की है। इसलिए सभी जीव, विश्वमें भगवान्की अपार महिमाको जानकर, उसकी ज्ञान-भक्तिद्वारा अपना उद्धार करें, यही विश्व रचनाका प्रयोजन है। अतएव उसी ही सनातन—बीजरूप भगवान्का ही आश्रय (शरणागति) ग्रहण करना चाहिए। एवं उसका ही अन्वेषण एवं उसीकी ही जिज्ञासा

संपादन करनी चाहिए। वही एकमात्र पारमार्थिक—सत्य वस्तु है, उसके विज्ञानसे एवं उसकी भक्तिके द्वारा ही मानव कृतकृत्य एवं धन्य होजाता है। जो जगत् परिच्छिन्न है, नाशवान् है, आज है कल नहीं है, मिथ्या है, इसके ज्ञानसे मानव शान्ति एवं सुखका लाभ प्राप्त नहीं कर सकता। जो वस्तु पूर्ण है, महान् है, सनातन है, अमृत-अभय है, एवं परमानन्दस्वरूप है, वही एकमात्र ज्ञेय एवं ध्येय है। इसलिए ऐसे भगवान्को सभी चाहते हैं। अतएव ऋग्वेदसंहिताकी प्रशस्ता—श्रुति भी कहती है—

'ॐ इन्द्रं परेऽवरे मध्यमास इन्द्रं,
यान्तोऽवसितास इन्द्रम्।
इन्द्रं क्षियन्त उत युध्यमाना इन्द्रं,
नरो वाजयन्तो हवन्ते॥'
(४।२५।८)

उत्तम, मध्यम एवं कनिष्ठ, सभी लोग, एकमात्र उस आनन्दनिधि आत्मस्वरूप इन्द्र परमेश्वरका ही आह्वान करते हैं, अर्थात् उसके अभिमुख हुए सभी उसीको ही बुलाते हैं-चाहते हैं। एवं किसी भी अभिप्रेत कार्यकी सिद्धिके लिए इधर—उधर जानेवाले प्रवृत्ति—परायण लोग तथा निवृत्ति—परायण लोग, या सर्व परिग्रह रहित संन्यासी योगीजन भी इन्द्रका ही आह्वान करते हैं, तथा गृहोंमें निवास करनेवाले गृहस्थ, एवं युद्ध करनेवाले योद्धा लोग, अन्नकी इच्छा रखनेवाले क्षुधार्त्तजन, तथा नेता सदुपदेशक आदि सभी उस इन्द्र परमात्माका ही आह्वान करते हैं।

ॐ 'यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो,
यं युध्यमाना अवसे हवन्ते ।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव,
अच्युतच्युत् स जनास इन्द्रः ॥'
(ऋ० २।१२।९) (अथर्व० २०।३४।९)

हे जन-समुदाय! वह इन्द्र परमात्मा है, जिसके विना अर्थात् जिसकी कृपा एवं सहायताके विना, कोई भी जन, चाहे वह देवजन हो या योगीजन हो या साधारण जन हो-या और कोई हो, विजयी नहीं हो सकता। अर्थात् उसकी कृपा एवं सहायताद्वारा ही लौकिक, पारलौकिक एवं पारमार्थिक, सभी प्रकारकी विजय प्राप्त कर सकते हैं। अतएव युद्ध करते हुए सभी लोग, अपने रक्षणके लिए उसका ही आह्वान करते रहते हैं। एवं भगवान् इस विश्वकी प्रतिमा बना हुआ है, अर्थात् विश्वके उस उस जड चेतन सभी पदार्थोंमें, सत्त्वचित्त्वादिरूपसे प्रतिबिम्बित हुआ प्रतीयमान हो रहा है। इसलिए वह अच्युतोंका अच्युत है; अर्थात् परिणामी-नित्य-पृथिव्यादियोंमें कूटस्थ नित्यरूपसे अवस्थित है, अतएव वह '**नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां**' (क० उ० २।६।१३) है, उसका अन्वेषण करो, उसको यथावत् पहिचानो। वही सर्वविध-अभ्युदय एवं निःश्रेयसका मूल है; अतः उसका ही आश्रय ग्रहण करो।

केनोपनिषत्‌में एक आख्यायिका है। देवजन, दुष्ट बलवान् असुरोंसे युद्धमें वार बार हार जाते थे। असुर लोग, देवोंके सभी आवास-स्थानोंको एवं समस्त ऐश्वर्योंको छीनकर उन्हें अकिञ्चन बना देते थे।

उन्हें अनेक प्रकारका त्रास देते थे। देवलोग, दीन—हीन होकर असुरोंसे सदा भयभीत बने रहते थे। देवोंने मिलकर विचार किया कि—इस संकटसे हम किसप्रकार मुक्त होवें, हमारे आवासस्थान एवं ऐश्वर्य किसप्रकार हमें पुनः प्राप्त हों, हम इन दुष्ट असुरोंपर विजय किसप्रकार प्राप्त करें। विचारद्वारा देवोंने निर्णय किया कि—देवाधिदेव विश्व-नियन्ता भगवान्‌की आराधना करनेसे ही हम सभी प्रकारके संकटोंसे मुक्त हो सकते हैं, तथा विजय ऐश्वर्य आदि सब कुछ, उसकी कृपासे एवं सहायतासे ही प्राप्त कर सकते हैं। निर्णयके अनुसार देवोंने मिलकर भगवान्‌की आराधना किया। आराधनासे भगवान् देवोंपर प्रसन्न हुए। भगवान्‌की कृपासे एवं सहायतासे देवोंने विजय प्राप्त की। अपने आवास, ऐश्वर्य आदि सब कुछ उन्होंने सम्पादन कर लिया।

'दुःखमें सुमिरन सब करें, सुखमें करे न कोय।
जो सुखमें सुमिरन करें, तो दुःख काहेको होय॥'

देवोंने दुःखके समय भगवान्‌का स्मरण किया था, परन्तु सुख समृद्धि मिलनेपर वे विजय दिलानेवाले भगवान्‌को भूल गये। ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त हो गये। भगवान्‌की बडाईके नहीं, किन्तु अपनी ही बडाईके गीत गाने लगे। वे अभिमानके साथ बोलने लगे कि—'**अस्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति**' हमारी ही यह विजय है, और हमारी ही यह महिमा है। हमारे ही बलने एवं महत्त्वने असुरोंको पराजित किया है। इसमें ब्रह्म—परमेश्वरकी न कुछ कृपा है, न कुछ सहायता है, न कुछ उसका महत्त्व है, इसलिए वे सभामें अपनी ही प्रशंसा एवं सत्कार परस्पर करने लगे; परमेश्वरका नहीं।

परमेश्वरने देवताओंके इस मिथ्या अभिमानको जान लिया—जो पराभवका प्रयोजक है; उसका विनाश करनेके लिये वे उनकी सभाके सामने—अपनी योगमायाके प्रभावसे सबको विस्मित करनेवाले अति अद्भुत यक्षके रूपमें प्रकट हुए। जिसे देखकर देवता भी यह न पहचान सके कि—यह सहसा प्रकट होनेवाला, अति—दिव्य—रूपवाला पूजनीय महान् प्राणी कौन है ?। उसे यथावत् न जाननेवाले एवं उसके तेजः—पूर्ण—प्रभावसे भीतरमें डरनेवाले देवताओंने उसे जाननेकी इच्छासे सबके आगे अकडकर चलनेवाले जातवेदा—अग्निदेवसे कहा—हे अग्निदेव! तुम हम सबमें तेजस्वी हो, एवं अग्रगण्य हो, इसलिए हम—सबके नेत्रोंके सम्मुख स्थित इस दिव्य यक्षका विशेषरूपसे परिचय प्राप्त करो कि-वह कौन है ? कहाँसे आया है? और यहाँ क्यों आया है ?।

अग्निदेव, देवताओंके अग्रसर—नेता थे, विशेषाधिकारसे सम्पन्न थे। अतएव वे सबसे बडे अभिमानी बने हुए थे। उन्होंने देवताओंकी बात सुनकर—कहा, बहुत अच्छा, मैं उसका अभी ही पता लगाता हूँ। आप लोग शान्त रहें। ऐसा कहकर अग्निदेव सभासे ऊठकर उस यक्ष भगवान्के समीप जाने लगे—जाते जाते मनमें अभिमानवश सोच रहे थे कि—उसका पता लगाना, कौनसी बडी बात है, मेरे सामने वह क्या चीज है ? देवता लोग व्यर्थ ही उसे देखकर भयभीत—से होगये हैं, उसके विषयमें अनेक प्रकारकी अनिष्ट शंकाएँ कर रहे हैं। वह मेरा प्रभाव देखकर हक्का बक्का हो जायगा। मैं उसके सामने जाकर बडे रोबके साथ ऐसे प्रश्न पूछूँगा कि—उनका उत्तर ही देना उसके लिये

मुश्किल हो जायगा। ऐसा सोचते हुए अग्निदेव उस यक्ष भगवान्‌के समीप ज्यों ज्यों जाते हैं—त्यों त्यों—सिंहके समक्ष शृगालकी भाँति दबते हुए प्रभावहीनसे होते जाते हैं। आखिर उसके अतिनिकट पहूँचकर अग्निदेव उस भगवान्‌के दिव्य तेजसे इतना दब गये कि—उनके मुखसे एक शब्द भी निकलना मुश्किल हो गया। मन भीतरसे कहता है—अरे! बोल, बोलता क्यों नहीं, प्रथम तो तू बातोंकी बडी गर्जना कर रहा था, अब तू चूपचाप क्यों खडा है? जैसे नंगा मनुष्य हिमालयकी ठण्डीसे कांपता है, तैसे उसके सामने भीतर हो भीतर कांप क्यों रहा है? क्या यह तुझे खाये जाता है?।' मनकी इस प्रकारकी आन्तरिक फट-कार सुनकर भी अग्निदेव दिग्मूढसे चूपचाप खडे हो रहे—कुछ बोल नहीं सके। तब यक्ष भगवान्‌ने अग्निदेवसे पूछा—कि—'**कस्त्वमसि**' तू कौन है? तब अग्निदेव भगवान्‌के पूछनेपर कंपित स्वरसे बोले-जी! मैं अग्नि हूँ!। भीतर अभिमान तो था हो। उससे प्रेरित होकर—अपना विशिष्ट प्ररिचय देनेके लिए पुनः बोले—मैं केवल रोटी पकानेवाला चूलेका साधारण अग्नि नहीं हूँ, किन्तु जातवेदा हूँ, मेरे द्वारा सभी वेदोंका प्रचार हुआ है, इसलिए मुझे 'जातवेदा' ऐसा टाईटल प्राप्त हुआ है। 'जातवेदा' नाम प्रदर्शनकर अग्निदेव अपनी प्रशस्ति बताने लगे।

फिर यक्ष भगवान्‌ने अग्निदेवसे पूछा—'**तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यम्?**' उस जातवेदारूप तुझमें क्या सामर्थ्य है?, अग्निने अपना सामर्थ्य बतलानेके लिए कहा—पृथिवीमें यह जो कुछ है, उस सभीको मैं क्षणमात्रमें एकसाथ जलाकर भस्म कर सकता हूँ, इतनी बडी सामर्थ्य मैं रखता हूँ। तब यक्ष भगवान्‌ने अग्निकी सामर्थ्यकी अत्यल्प परीक्षा

लेनेके लिए एक तिनका रख दिया और कहा—कि तू इतनी बडी सामर्थ्य रखनेवाला इस तुच्छ तिनकाको जलाकर दिखा। अग्निदेव, उस तृणके समीप गया, परन्तु अपनें समग्र वेगसे भी उसे जलानेमें समर्थ नहीं हुआ। इससे वह बहुत लज्जित हो गया। जिसप्रकार कोई विद्यार्थी किसीसे बडे गर्वके साथ कहे कि—मैं व्याकरण—शास्त्रका पारंगत पण्डित हूँ, मैंने सिद्धान्तकौमुदी तो क्या? परन्तु उसकी प्रौढ—मनोरमा, शब्दरत्न, शब्देन्दुशेखर आदि अनेक व्याख्याएँ पढ ली हैं, व्याकरण—महाभाष्य भी खूब घोंटकर पी गया हूँ। मैं अब व्याकरणका विद्यार्थी नहीं रहा किन्तु उद्भट विद्वान् हो गया हूँ।' तब वह व्यक्ति, उससे लघुकौमुदीके मंगलाचरणका ('नत्वा सरस्वतीं देवीं' श्लोकका) अर्थ पूछे और वह उसका अर्थ गडरियाके समान बिल्कुल ही न बतला सके और वह बहुत ही लज्जित हो जाय, उसप्रकार अग्निदेवकी भी दशा होगई। वे चूपचाप, वहाँसे सिर नीचाकर वापस आगये। अग्निदेव-जाते समय तो 'सट्टेमें एकदम पांच लाख कमानेंवाले व्यापारीके समान' मुख उँचाकर छाती फुलाकर अकड कर गये थे। परन्तु वापस आते समय 'पांच लाख गँवानेवालेके समान' मुख नीचा लटकाकर रोती सुरत बनाकर आते हुए अग्निको देवताओंने देखा। 'आकृतिरेव हृदयभावं कथयति' मुखकी आकृति ही हृदयके भावको बिना बोले कह डालती है। तो भी देवताओंने पूछ ही डाला कि—अग्निदेव! क्या हुआ?, कौन है वह, कुछ पता चला?। अग्निदेव सभाके एक कोनेमें रक्खे हुए आसन पर दोनों हाथोंसे सिर दबाकर चुपचाप बैठ गए। और यक्ष भगवान्के विषयमें कुछ न बता सके, 'आज मेरा सिर ठीक नहीं है, बहुत पीडा हो रही है,

इसलिए ज्यादा मैं कुछ नहीं कह सकता। ऐसा वहाना बनाकर चूप हो गये।

उस सभामें अग्निदेवके समकक्ष उसके साथ स्पर्धा रखनेवाले वायुदेव भी विराजमान थे। वे भी अधिकार सम्पन्न थे, अग्रगण्य थे, इसलिए खूब अभिमानसे भरे हुए थे। अग्निदेवको इसप्रकार विफल एवं निराश होजानेपर सभी देवोंने वायुदेवसे कहा कि—हे वायो! अब तुम इस बातका पता लगाओ कि—यह दिव्य यक्ष कौन है?। उसने कहा—बहुत अच्छा। अग्निकी तुच्छता एवं अपनी महत्ताका प्रदर्शन करनेके लिए वे गर्वके साथ पुनः बोले कि—यह बिचारा अग्नि उसका पता नहीं लगा सका, अब मेरी बारी आई है—मैं तुरन्त ही उसका पता लगाता हूँ, आप लोग अब मेरा प्रभाव देखें। ऐसा कहकर अभिमानसे अकडते हुए छाती फुलाकर अग्निदेवके समान वायुदेव भी यक्ष भगवान्के समीप गये। परन्तु समीपमें जानेपर उनकी भी वैसी ही दशा हो गई, वे भी यक्ष भगवानके प्रभावसे दब गये, बोल नहीं सके। चूपचाप खडे रहे। तब यक्ष भगवान्ने वायुदेवसे पूछा कि—तू कौन है?। उसने कहा—मैं वायु हूँ। परन्तु अपना असाधारण परिचय देनेके लिए पुनः अभिमानके साथ बोले कि—मैं साधारण पंखेकी वायु नहीं हूँ, किन्तु मातरिश्वा हूँ। मातरि यानी अन्तरिक्षमें स्वतन्त्र वेगसे चलनेवाला प्रचण्ड पवन हूँ।

तब यक्ष भगवान्ने पूछा कि—उस मातरिश्वारूप तुझमें क्या सामर्थ्य है?। तब वायुदेवने कहा—अच्छा, आप मेरी सामर्थ्य पूछ रहे हैं, मेरी सामर्थ्यका क्या ठिकाना?। मैं अपार सामर्थ्य रखता हूँ। पृथिवीमें यह जो कुछ है—उस सभीको एकसाथ एक क्षणमें उड़ाकर

अन्तरिक्षमें करोडों कोस दूर ले जा सकता हूँ। तब यक्ष भगवान्ने वायुदेवके समक्ष परीक्षाके लिए एक तिनका रक्खा। और कहा कि— इसे उडाओ। यक्ष भगवान्के आदेशके अनुसार वह तृणके समीप गया। परन्तु अपने समग्र वेगके प्रयोगसे भी वह उसे उडानेमें क्या? हिलानेमें भी समर्थ नहीं हुआ। तब वह उसके समीपसे लज्जित होकर अग्निके समान ही नीचा मुँहकर सभामें लौट आया, और अग्निके साथ कोणेमें बैठ गया। और आँखके इशारेसे अग्निसे कहने लगा-कि—जैसी तेरी दशा वैसी मेरी भी, तेरी भी चुप, मेरी भी चुप। देवताओंके पूछने पर कहा कि—यह यक्ष कौन है, इस बातको मैं नहीं जान सका। इसप्रकार यक्ष भगवान्ने अग्नि एवं वायु दोनोंके प्रचण्ड—गर्वका एक क्षणमें दलन कर डाला। भगवान्ने अपनी अचिन्त्य एवं अनन्त सामर्थ्यसे तृणको भी बहुत वजनदार एवं अतिकठिन वज्र बना डाला, तभी तो अग्नि उसे न जला सका, न वायु हिला सका। अथवा सभीको सामर्थ्य देनेवाले भगवान् ही तो हैं—भगवान्की ही सामर्थ्यसे सभी नाच कूद रहे हैं— भगवान्ने अपनी सामर्थ्य अग्नि एवं वायुसे खींच ली, वे दोनों सामर्थ्य रहित हो गये। इसलिए वे अतिलघु—तृणके प्रति अपना कुछ भी प्रभाव न दिखा सके।

अब देवताओंने विचार किया कि—हममेंसे ये दो बडे बडे अग्रगण्य देव भी जब विफल होगये हैं, तब दूसरे साधारण देवोंकी तो बात ही क्या करना? परन्तु इसका पता तो अवश्य लगाना ही चाहिए। तदनन्तर उन्होंने उंचे सिंहासनपर बैठे हुए सबसे बडे देवराज इन्द्रसे कहा— हे मघवन्! यह यक्ष कौन है? इस बातको अब तुम ही मालूम करो।

क्योंकि—आपसे बडा और कोई देव नहीं है। तब इन्द्रने 'बहुत अच्छा, अभी ही मैं इसका पता लगाता हूँ, आप लोग किसी प्रकारसे गभरायें नहीं।' ऐसा कहकर बहुत सजा धजा हुआ देवराज इन्द्र उसकी ओर चला। अपने समीप आये हुए—उस इन्द्रके सामनेसे वह यक्ष भगवान् अन्तर्धान होगया। देवराज होनेके कारण इन्द्रका सबसे बढा चढा हुआ इन्द्रत्वका अभिमान नष्ट करना चाहिए; इसलिए यक्ष भगवान्ने इन्द्रको संवाद-मात्रका भी अवसर नहीं दिया।

इसप्रकार अभिमान शान्त हो जानेपर इन्द्र उस ब्रह्मस्वरूप-यक्षका अत्यन्त जिज्ञासु होकर उसी आकाश प्रदेशमें—जिसमें कि—यक्ष भगवान्का दिव्य—साकार—विग्रहसे आविर्भाव एवं तिरोभाव हुआ था—खडा रहा। अग्नि आदिके समान पीछे नहीं लौटा। खडा रहकर वह शान्त एवं एकाग्र—चित्तसे हृदयमें उस यक्ष भगवान्का—जो दूरसे देखे थे—भक्तिपूर्वक ध्यान किया। भक्ति एवं ध्यानके प्रभावसे उस आकाश प्रदेशमें—इन्द्रपर अनुग्रह करनेके लिए स्त्रीवेषधारिणी अत्यन्त शोभामयी हैमवती उमारूपा विद्यादेवी प्रकट हुई। यह उस यक्षके जाननेमें समर्थ होगी, ऐसा सोचकर इन्द्र उसके समीप गया। और उससे नम्रतापूर्वक पूछा कि—हे देवि! कृपया बतलाइये, इसप्रकार दर्शन देकर छिप जाने वाला—वह यक्ष कौन था?। तब उस विद्यादेवीने कहा-'वह ब्रह्म था—परमेश्वर था—जिसकी तुमने प्रथम अभ्युदय प्राप्त करनेके लिए—आराधना की थी। जिसकी कृपा एवं सहायतासे तुम विजयी हुए थे। समृद्धि वैभव प्राप्तकर इस प्रकारकी महिमासे युक्त हुए थे—वही तुम्हारे विजय एवं अभ्युदयका हेतु था। असुरोंको उस ब्रह्म परमेश्वरने ही जीता था, तुम तो उसमें

निमित्तमात्र थे। उसकी ही विजयमें तुम्हें यह महिमा मिली थी। परन्तु अविद्यावश 'यह हमारी ही विजय है, यह हमारी ही महिमा है' ऐसा तुम मानने एवं बोलने लगे थे। यह तुम्हारा मिथ्या अभिमान था। उसका दलन करनेके लिए वह तुम्हारे समक्ष प्रकट हुआ था।' इस-प्रकार विद्यादेवीके उपदेशसे इन्द्रने यक्ष भगवान्को ब्रह्म स्वरूपसे जाना। स्वतन्त्रता से नहीं। इसलिए इन्द्र, अन्य सब देवताओंसे महान् हुआ। क्योंकि—उसने ही प्रथम ब्रह्मको जाना था। ब्रह्मज्ञानसे ही प्रशंसनीय महत्ता प्राप्त होती है। पश्चात् इन्द्रके उपदेशसे अग्नि एवं वायुने उस ब्रह्मको जाना; इसलिए वे भी देवोंमें श्रेष्ठ कहलाये।

जिसप्रकार बिजली सघन-अन्धकारको विदीर्ण करके सब ओर प्रकाशित हो जाती है, उसी प्रकार वह ब्रह्म, देवताओंके सामने सब ओर दिव्य-प्रकाश-युक्त होकर अभिव्यक्त हुआ था, इसलिए बिजलीके सर्वव्यापी प्रकाशके समान उसकी व्यापक-प्रकाशरूपसे उपासना करनी चाहिए। और वह ब्रह्म मनकी यावत् संकल्प-स्मृति आदि प्रतीतियोंके समय भी उनमें स्फूर्ति देनेके लिए अभिव्यक्त होता है; इसलिए वह स्वप्रेरित-मनका साक्षी प्रत्यगात्म-स्वरूप है; उस रूपसे भी उसका चिन्तन करना चाहिए। अतएव वह ब्रह्म वन है, अर्थात् पूर्ण-आनन्दका निधि होनेसे सबके द्वारा वननीय-संभजनीय (सेवन करने योग्य) है।

इस आख्यायिकाका यह तात्पर्य है-जो पुरुष शमादिसाधनसे रहित है; तथा अभिमान और रागद्वेषादिसे युक्त है, ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिमें उसकी सामर्थ्य नहीं हो सकती। इन्द्रादिको तभी ही ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति हुई; जब उनके अभिमान-रागद्वेषादि-दोषोंका प्रशमन होगया और वे

श्रद्धाभक्तिपूर्वक ब्रह्मके चिन्तनमें तन्मय होगये। अतएव यह आख्यान-रूप–भूतार्थवाद, शमादि–साधनोंके तथा सगुण–ब्रह्मकी उपासनाके विधानके लिए है–ऐसा निश्चय होता है। तथा वह ब्रह्म ही समस्त विश्वका सर्वप्रकारसे शासक, देवोंका भी परम देव, ईश्वरोंका भी परम ईश्वर एवं दुर्विज्ञेय है। वही दैवी–सम्पत्तिवाले देवोंकी जयका हेतु तथा आसुरी–सम्पत्तिवाले असुरोंकी पराजयका हेतु है। तथा वह निराकार भी है, साकार भी है, ऐसे परमेश्वरको कौन कह सकता है कि–वह नहीं है। उसके विज्ञानके विना प्राणियोंका कर्तृत्वभोक्तृत्वादि-विषयक मिथ्या अभिमानका विनाश नहीं होता। इसलिए अनर्थकारी मिथ्या अभिमानके नाशके लिए तथा परमशान्ति एवं आनन्दकी प्राप्तिके लिए उस सनातन–बीजरूप परमेश्वरकी उपासना अवश्य करनी चाहिए तथा उसका विज्ञान शास्त्र गुरुके सहकार द्वारा अवश्य प्राप्त करना चाहिए।

और भगवान् कहते हैं कि–बुद्धिमानोंकी मैं बुद्धि हूँ, तत्त्वातत्त्वके विवेककी सामर्थ्यका नाम बुद्धि है, वह मेरा स्वरूप है, उसरूपसे विशिष्ट मुझ परमात्मामें सभी बुद्धिमान् ओतप्रोत हैं। लोकमें प्रायः सभी लोग अपनेको बुद्धिमान् मानते हैं, एवं कहते हैं। परन्तु शास्त्रदृष्टिसे वास्तविक बुद्धिमान् वही हो सकता है कि–जिसमें तत्त्वातत्त्वके विवेककी सामर्थ्य है। पारमार्थिक सत्य तत्त्व क्या है?, मिथ्या अतत्त्व क्या है? उसका जिसने यथावत् ज्ञान प्राप्त किया है, उसको तत्त्वदर्शी भी कहते हैं। जो सत् एवं असत्का यथावत् निर्णय करता है, 'स बुद्धिमान् मनुष्येषु' (गी० ४। १८) वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है। 'एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्, कृतकृत्यश्च भारत!।' (गी० १५।२०) इस

तत्त्वको जानकर मनुष्य बुद्धिमान् और कृतार्थ हो जाता है। जो सत् वस्तु है, उसका कभी अभाव (नास्तित्व) नहीं हो सकता। भले ही मूढलोग उसे न जानें, या न मानें। इसमें सत्य वस्तुका कुछ भी अपराध नहीं। **'न ह्येष सूर्यस्यापराधो यदेनमन्धो न पश्यति।'** सूर्यका वह अपराध नहीं माना जाता–जो अन्धा सूर्यको नहीं देखता। अन्धेका ही अपराध है, उसप्रकार उन मूढोंका ही अपराध है, जो अपनी मूढताके कारण उस सत्य वस्तुको न जानते हैं, न मानते हैं। तथापि उनके न जाननेपर या न माननेपर उसका कभी प्रतिषेध नहीं हो सकता। वह सदा सत्य ही रहता है, **'नाभावो विद्यते सतः।'** (गी० २। १६) सत्का अभाव नहीं है। सत् सत् ही रहता है। इसप्रकार जो असत् वस्तु है–उसका अस्तित्व नहीं हो सकता। असत् असत् ही रहता है। भले ही मूढ लोग–उस असत्को, सद्रूपसे जानें या मानें, तो भी वह कभी सत् नहीं होता। कोई मूढ पित्तलको सुवर्ण मान ले, एतावता पित्तल कभी सुवर्ण नहीं हो सकता। बजारमें उसको सुवर्णकी किमत नहीं मिल सकती। पित्तल पित्तल ही रहता है। पानी मिलानेपर कभी, चूना सफेद कोमल–मक्खनका पिण्ड जैसा दीखता है, उसको कोई भ्रान्तिसे मक्खन मानकर खाने लगे तो उसको मक्खन जैसा स्वाद नहीं मिलता, न वह उससे कुछ पुष्टि प्राप्तकर सकता है, प्रत्युत वह लाभके बदले हानि ही करेगा।

इसप्रकार यहाँ सत्य अबाधित वस्तु परमात्मा है, और असत्य बाधित वस्तु नामरूपात्मक संसार है। इसलिए जो सर्वदा परमात्माका सत्यरूपसे एवं संसारका मिथ्यारूपसे निश्चय एवं चिन्तन करता रहता

है, वह बुद्धिमान् है। एवं जो असत्यको सत्य मानकर उसमें आसक्त बना रहता है; तथा सत्यको असत्य–सा समझकर उसकी उपेक्षा कर देता है, वह बुद्धिहीन माना जाता है।

अतएव किसी शिष्यके प्रश्नका उत्तर देते हुए गुरुदेवने कहा है कि—

'अहर्निशं किं परिचिन्तनीयं ?
संसारमिथ्यात्वशिवात्मतत्त्वम्।'

रात्रि दिन क्या चिन्तन करना चाहिए? संसारके मिथ्यात्वका तथा कल्याणस्वरूप–परमार्थ–सत्य–आत्मतत्त्वका ही रात्रिदिन चिन्तन करते रहना चाहिए।

'उमा कहूँ मैं अनुभव अपना,
सत्य हरिभजन जगत् सब स्वप्ना।'

इसप्रकार जिसमें विवेकशक्ति है, वही प्रशस्त–बुद्धि है, विवेकशक्ति न रहनेपर वह बुद्धि नहीं कहलाती, किन्तु अन्तःकरण कहलाता है। विवेकशक्ति द्वारा ही वह द्वन्द्वमय-संसारमें सदा निर्द्वन्द्व रह सकता है। निर्द्वन्द्व हुए विना कोई भी मानव न बन्धनोंसे छूट सकता है, न पूर्ण–विशुद्ध–आनन्दका उपभोग कर सकता है। इसलिए विवेक–शक्तिवाली बुद्धिका बडा ही महत्त्व है–जिसे भगवान् स्वयं अपना स्वरूप बतलाते हैं। अतएव **'विवेकी सर्वथा मुक्तः'** अर्थात् विवेकी सर्वथा मुक्त (निर्लेप) माना जाता है। **'विवेको दशमो निधिः'** विवेक आनन्द देनेवाला दसवाँ निधि है। इसके द्वारा वह हेयको उपादेय एवं उपादेयको हेय नहीं समझता, किन्तु जो पदार्थ जैसा है–उसको वैसा

ही समझकर सदा शान्त एवं सन्तुष्ट रहता है ।

कोई दुष्ट गाली देता है, अविवेकीजन उसको ग्रहणकर दुःखी होजाते हैं, परन्तु विवेकी उसको ग्रहण ही नहीं करता । वह समझता है कि–जिसप्रकार कोई मनुष्य, सडे फल चिल्ला चिल्लाकर बेच रहा है, समझदार उन खराब फलोंको नहीं लेता, न लेनेके लिए कुछ प्रयत्न ही करता है, किन्तु उनकी उपेक्षा कर देता है । तब वे सडे फल उस बेचनेवालेकी ही पासमें रहते हैं, जो उनको नहीं लेता, उसके पासमें वे क्यों आने लगें? इसप्रकार इन खराब गालियोंको मैं लेना नहीं चाहता, ऐसी दशामें उसके ही पासमें वे गालियाँ रहेंगी, मेरी पास क्यों आयेंगी? अतएव किसी विवेकी महात्माने कहा है कि—

'गालिमद्भिर्भवद्भिश्च वितीर्यन्ते हि गालयः ।
तथापीच्छा मदीयेयं गालिसंग्रहणे न हि ॥
अतएव च गालीनां संग्रहो भवतां भवेत् ।
संग्रही दोषभागी स्यात्, परित्यक्ता सुखी भवेत् ॥'

आप गालियाँवाले हैं, इसलिए उन्हें दे रहे हैं, परन्तु इनको लेनेकी मेरी तनिक भी इच्छा नहीं है । इसलिए इनका संग्रह आपके ही पास रहेगा । जो उन खराब चीजोंका संग्रह कर्ता होगा, वही दोषभागी बनेगा । मैं तो उनका परित्याग कर देता हूँ, इसलिए सदा आनन्द-प्रसन्न ही रहूँगा ।

'जाकी जैसी बुद्धि है, वैसा कहत बनाय ।
वाका बुरा न मानिये लेन कहाँसे जाय ॥'

जैसे किसीकी दुकानमें कोयले ठोसकर भरे हैं, इसलिए वह जिस

किसीको कोयले ही देता रहता है, किसीको शर्करा नहीं दे सकता, क्योंकि--उसकी दुकानमें शर्करा है ही नहीं, तब वह कहाँसे दे ?। इसलिए वह कोयला क्यों देता है, शर्करा क्यों नहीं देता ? ऐसा आग्रह रखना व्यर्थ है । तैसे यह शरीर भी एक प्रकारकी दुकान (दो कान-वाली) है। उसमें जब खोटे संस्कार, खराब विचार एवं अनेक–प्रकारके दुर्गुणरूपी कोयले भरे हों, तब वह खराब ही तो बोलेगा। अच्छी बुद्धि उसके पासमें है नहीं। इसलिए वह अच्छा कहाँसे बोलेगा ? नहीं बोल सकता । ऐसी दशामें वह अच्छा क्यों नहीं बोलता, खराब क्यों बोलता है ? ऐसा सोचना व्यर्थ है, अतएव उसके ऐसे आचरण पर बुरा नहीं मानना चाहिए। क्या किया जाय ? वह बिचारा अपनी खराब बुद्धिके सामने लाचार है, जो उसके वशमें हो गया है । जबतक उसकी दुष्ट–बुद्धि निवृत्त नहीं होती, तबतक वह अच्छा नहीं बोल सकता। ऐसा समझकर चुप एवं शान्त हो जाना चाहिए। विवेकद्वारा दुष्टोंकी इन कटु–बातोंको चुपचाप सहन कर लेना चाहिए। उनसे विक्षिप्त होना बुद्धिमानोंका काम नहीं। कटु वचनोंका सामना, जो कटु वचनोंसे करता है, वह विवेकी नहीं माना जाता । किन्तु वह भी उसके जैसा अविवेकी ही बन जाता है, 'गधेसे गधा मिले, दे ले दो दो लात' वाली बात हो जाती है। आपसके कटु–वचनोंके द्वारा लडाई होजाती है, एक–दूसरेका सिर फूट जाता है। अनेक प्रकारकी हानि उठानी पडती है, लोग इस मूर्खता पर हँसते हैं, अकीर्ति आदिका कटु अनुभव करना पड़ता है। इसलिए विवेकीजनका यह गुरुमन्त्र है कि–'**कम खाना, गम खाना और हवा खाना**' इससे यह निर्णय हो जाता है कि–

अविवेक हर हालतमें दुःखदायक ही होता है, और विवेक सुखदायक। इसलिए अविवेकका विषके समान परित्यागकर अमृतके समान विवेकका ही ग्रहण करना चाहिए।

एवं अपनी निन्दाके विषयमें भी विवेकी इसप्रकारका विवेक रखता है—

'आत्मानं यदि निन्दन्ति, निन्दन्ति स्वयमेव हि।
शरीरं यदि निन्दन्ति, सहायास्ते जना मम॥
निन्दावमानावत्यन्तं भूषणं यस्य योगिनः।
धीविक्षेपः कथं तस्य, वाचाटैः क्रियतामिह॥'

यदि वे आत्माकी निन्दा करते हैं, तो वे अपनी ही निन्दा करते हैं क्योंकि—सभी शरीरोंमें एक ही आत्मा है, यदि वे शरीरादिकी निन्दा करते हैं, तो वे मेरे सहायक होजाते हैं। क्योंकि—शरीरादिकोंकी हम भी निन्दा करते हैं। हम भी कहते हैं कि—यह शरीर मलमूत्रका थैला है—इसमें गन्दगी ही गन्दगी भरी पडी है—कुछ भी अच्छी वस्तु नहीं, इत्यादि। इसप्रकारके विमल—विवेक द्वारा योगीजनके लिए—शरीरकी निन्दा एवं अपमान दूषणके बदले भूषण बन जाते हैं, दुःखके बदले सुख देते हैं। इसलिए दुर्गुणी बकवादी लोग, विवेकी-भद्रपुरुषकी विवेकवती-बुद्धिमें निन्दा आदि द्वारा विक्षेप कैसे पैदा कर सकते हैं? नहीं पैदा कर सकते।

दुनियामें तृप्ति करनेवाले कई प्रकारके रस हैं, खाने, देखने, सुनने आदिके जुदे जुदे रस होते हैं। इसलिए लोग कहते हैं—अमुक चीज बडी सरस बनी थी, खाने पर बडा आनन्द आया। कल सिनेमा

या नाटक देखनेमें बडा रस मिला। लोग वाह वाह करते हुए इसके लिए तालियाँ पीटते रहें। उसका लेक्चर या गाना ऐसा सरस था, क्या कहना भाई? उसने कमाल कर दिया। हँसते हँसते हम तो लोटपोट हो गये। इसप्रकार पराई निन्दा भी एक प्रकारका मनः तृप्तिकर रस है। इसके भी संसारमें कम नहीं, सबसे ज्यादा रसिक मिलेंगे। जिसके रसका आस्वादन वाणी एवं कान दोनोंसे लिया जाता है। इससे मूढ-मानवको बडी तृप्ति एवं आनन्द मिलता है। इसलिए वह अपने अमूल्य-समयका बडा हिस्सा इसमें बरबाद कर देता है। विवेकी विचार करता है कि—मेरी निन्दासे यदि कोई मनुष्य प्रसन्न होता है, तो इससे मुझे नाराज नहीं, किन्तु प्रसन्न होना चाहिए। क्योंकि—विवेकीका ऐसा स्वभाव है कि—किसी भी प्रकारसे जनरूप—जनार्दनको प्रसन्न रखना, नाराज नहीं होने देना। इसलिए अद्वैत—ब्रह्मविद्याके आचार्य श्रीविद्यारण्य स्वामीने जीवन्मुक्ति—नामक संस्कृत ग्रन्थमें इस-प्रकार कहा है—

'मन्निन्दया यदि जनः परितोषमेति,
नन्वप्रयत्नसुलभोऽयमनुग्रहो मे ।
श्रेयोऽर्थिनस्तु पुरुषाः परितुष्टिहेतोः,
दुःखार्जितान्यपि धनानि परित्यजन्ति ॥

सततसुलभदैन्ये निःसुखे जीवलोके,
यदि मम परिवादात् प्रीतिमाप्नोति कश्चित् ।
परिवदतु यथेष्टं मत्समक्षं तिरो वा,
जगति हि बहुदुःखे दुर्लभः प्रीतियोगः ॥'

कोई मनुष्य यदि मेरी निन्दासे सन्तुष्ट होता है, तो उसका मेरे पर विना प्रयत्नका यह सुलभ अनुग्रह है। क्योंकि—वह निन्दाद्वारा स्वयं सन्तुष्ट होता हुआ साथमें मेरे पापोंको नष्ट कर मुझे पवित्र भी बनाता है। यह उसका अनुग्रह नहीं तो क्या है? जैसे कोई प्रसन्नता-पूर्वक मुफतमें किसीके मैले कपडे धोकर साफ कर देता है—उसको कोई समझदार खराब नहीं किन्तु भलामानस—उपकारी ही मानता है। उसकी कृपादृष्टि ही मानी जाती है। कल्याणकी चाह रखनेवाले—भद्र-पुरुष दूसरोंके संतोषके लिए क्या क्या नहीं करते? भारी कष्टसे इकट्ठे किये हुए—धनोंका भी परित्याग कर देते हैं। कोई दानी उदार—पुरुष धर्मशाला, तो कोई कुवा, तो कोई औषधालय, या विद्यालय इत्यादि लाखों रूपये लगाकर बनाता है, किसलिए? जनता जनार्दनके संतोषके लिए ही तो। अर्थात् किसी भी रीतिसे प्राणियोंको सन्तुष्ट एवं सुखी करना, यह सत्पुरुषोंका कर्तव्य है। योगवासिष्ठमें—

**'येन केन प्रकारेण, यस्य कस्यापि प्राणिनः।
संतोषं जनयेत् राम! तदेवेश्वरपूजनम्॥'**

वसिष्ठजी कहते हैं—हे राम! जिस किसी भी प्राणीको जिस किसी भी प्रकारसे सन्तुष्ट बनाना, यह भी ईश्वरका पूजन है।

इस दुनियामें जिधर देखो उधर, जिसको देखो उसमें दीनता ही दीनता सुलभतासे दीख रही है। दीनता रहित, निःस्पृह, शान्त, लाखोंमें क्या? करोडोंमें कोई एक महामानव भाग्यसे भले ही मिल जाय। कोई धनके लिए दीन हो रहा है, तो कोई मनचाही स्त्रीके लिए, कोई पुत्रके लिए गिडगिडा रहा है, तो कोई हुकूमतके लिए बिल बिला रहा है।

इसलिए यह जीवलोक अनेक प्रकारकी दीनताओंके कारण सुखसे रहित हो गया है। जहाँ अनेक प्रकारकी इच्छाएँ भरी हों, वहाँ दीनताका ही दुःख रहता है—निःस्पृहताका शुद्ध महान् सुख नहीं रहता। मूढ मानव, जीवन पर्यन्त अनेक प्रकारकी इच्छाएँ रखता हुआ उनके द्वारा दीनताके दुःखोंका अनुभव करता हुआ ही मर जाता है, रोता हुआ आता है—रोता हुआ जीता है, और रोता हुआ ही चल बसता है। कोई फक्कड ही हँसना जानता है। वह आनन्दमें जीता है, और आनन्दमें ही मर जाता है। विवेकीजन, विचार करता है कि—इसप्रकारके दुःख—बहुल संसारमें यदि कोई मेरे परिवाद(निन्दा)से प्रसन्न होता है तो उसको उससे नहीं हटाना चाहिए। इसलिए वह भले ही मेरे सामने या परोक्षमें मेरी निन्दा करता रहे, इससे मैं उद्विग्न नहीं होता; किन्तु प्रसन्न ही होता हूँ। क्योंकि—इस जगत्में प्रसन्नताका संयोग, दुर्लभ माना गया है। सुखका संयोग बडी कठिनाईसे मिलता है—दुःखका संयोग तो पदपदपर जबरदस्तीसे नहीं चाहनेपर भी आ धमकता है। यह सबके प्रत्यक्षकी बात है।

अच्छे बुरे यावत् शब्द आकाशके गुण हैं, अतएव वे समवाय—सम्बन्धसे आकाशमें ही रहते हैं, मुझ निर्गुण—विशुद्ध—अन्तरात्मामें नहीं रह.सकते, इसलिए उनसे मैं विकृत नहीं हो सकता। इसप्रकारके विवेकोंका सामर्थ्य सर्वथा प्रशंसनीय है; एवं नितान्त स्पृहणीय है। जो असार वस्तुओंसे भी सार ग्रहणकर सदा आनन्दमय जीवनका हेतु बन जाता है।

यह संसार काँचके विशाल महलके समान है, प्रायः जो मनुष्य

जैसा होता है, उसका वैसा ही प्रतिबिम्ब पडता है, अर्थात् जो मनुष्य जैसा होता है, प्रायः (उसमें अपवाद भी होता है) उसको संसार वैसा ही कहने लग जाता है। इसलिए यदि कोई आपकी किसी विषयमें निन्दा करता है, तो उसे सुनकर अभिमानवश क्रुद्ध मत हो जाइए। किन्तु शान्तप्रज्ञासे उसका विचार कीजिये। यदि वह निन्दा वास्तविक है, तो आपका नाराज होना व्यर्थ है। आपको अपना जीवन सुधारना चाहिए, जिन त्रुटियोंको देखकर संसारके मानव आपकी निन्दा कर रहे हैं, उनको निकालनेका प्रयत्न कीजिये। वे निन्दक केवल आपकी निन्दा ही नहीं कर रहे हैं, किन्तु आपको इन त्रुटियोंसे सावधान भी कर रहे हैं। इसलिए वे आपके उपकारी भी हैं।

यदि वे झुठी ही निन्दा कर रहे हैं, तो पूर्वोक्त विवेककी सामर्थ्य सम्पादनकर आनन्दके साथ सहन कर लीजिये। अतएव श्री रामकृष्ण परमहंसदेव कहते थे कि—सब अक्षर एक एक हैं, परन्तु 'स' अक्षर तीन हैं, श ष एवं स, अर्थात् तालव्य, मूर्धन्य एवं दन्त्य सकार। इनका तात्पर्य है– सहो सहो और सहो। संसारमें जो जितना सहन कर सकता है—वह उतना ही महात्मा बनता है। इसलिए किसीसे विरुद्ध बातें सुनकर उसका विरोधी न होना चाहिए। किन्तु विचारशील पवित्र मनसे विरोधका कारण ढूंढना चाहिए। उसको हटाना चाहिए। विरोध मिटानेके लिए शान्ति एवं प्रेमसे व्यवहार करनेकी चेष्टा करनी चाहिए। अतएव विवेकी बनकर अपने दोषोंको देखो, पराये गुणोंको देखो, दोषोंको मत देखो। जो अपने दोषोंको देखता रहता है—उसे दूसरोंके दोष देखनेका एवं उससे विरोध करनेका अवसर ही नहीं मिलता।

'या लोकद्वयसाधिनी तनुभृतां सा चातुरी चातुरी।

बुद्धिका यह चातुर्य है—जिससे वह इहलोक एवं परलोक दोनोंको सुधारकर सुख शान्ति प्राप्त करता है। वह बुद्धिद्वारा देखता है कि—

'अनित्यानि शरीराणि, विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः, कर्तव्यो धर्मसंग्रहः॥'

ये शरीर अनित्य हैं, एकदिन अवश्य ही नष्ट होकर धूलमें मिल जायेंगे। किसीके भी शरीर न सदाके लिए रहे हैं—न रह सकते हैं। अतः यह नियम है कि—**'आया है सो जायगा, राजा रंक फकीर। कोउ सिंहासन चल चढा, कोउ बाँध जंजीर।'** और यह धनादि वैभव भी शाश्वत अर्थात् हंमेशा रहनेवाला नहीं है, आज है तो कल नहीं है, एकदिन उससे तेरा वियोग होकर ही रहेगा। **'संयोगाः विप्रयोगान्ताः'** संयोगका अन्त वियोग है। जिस पदार्थसे संयोग हुआ है, उससे एकरोज वियोग अवश्य होगा ही। दुनियामें दो पदार्थ देखनेमें आते हैं—एक भोक्ता और दूसरा भोग्य। स्त्री, पुत्र, धन, मकान, जमीन आदि पदार्थ भोग्य हैं एवं उनको मेरा मेरा कहनेवाला एवं उनमें आसक्ति बढानेवाला भोक्ता है। ऐसा ध्रुव नियम देखा गया है कि—कभी भोग्य, भोक्ताको छोड चल बसते हैं, तो कभी भोक्ता, भोग्योंको छोडकर चल देता है।

कुछ वर्ष प्रथम बिहारमें भूकम्प हुआ था। उस समय हम काशीमें पढते थे। अखबारोंमें भूकम्पके अनिष्ट समाचार विस्तारसे छपते थे। उन्हें पढकर दो तीन महात्माओंको विचार हुआ कि—वहाँ चलकर वहाँका दृश्य आँखोंसे देखना चाहिए कि—वहाँ कितना भारी

नुकसान हुआ है। तथा लोगोंको किसप्रकार कष्टोंका सामना करना पड़ रहा है। विचारके अनुसार हम तीन महात्मा, काशीसे रीटर्न (आनेजानेकी) टिकिट लेकर बिहारके मूँगेर नगरमें पहुँचे। स्टेशनपर उतरतेके साथ ही हमने लोगोंसे पूछना शूरू किया कि—कहो भाई! क्या क्या हुआ? लोग प्रश्नके उत्तररूपसे वहाँके रोमाञ्चकारी अनिष्ट—दृश्योंका वर्णन करते थे। उतनेमें वहाँपर एक मारवाडी सज्जन आया—जिसके कंधेपर एक कम्बल तथा हाथमें डोरी लोटा था। उससे भी हमने पूछा—बतलाओ, क्या हुआ? उसने कहा—महाराज! इस बैंच पर कृपया बैठ जाइये। मैं अपना भूकम्प सुनाता हूँ। मैं मारवाडका रहनेवाला वणिक् हूँ। करीब ३० वर्ष प्रथम यहाँ कुछ कमानेके लिए आया था। अच्छे भाग्यसे यहाँ आते ही मेरा काम धंधा लग गया। प्रथम तो मैं नौकरी करता रहा, परन्तु धीरे धीरे सेठकी भागीदारीमें व्यापार करने लगा। भगवान्की कृपासे मेरी तरक्की होती गई, अब मैं मुनीमके बदले एक छोटासा सेठ बन गया। पीछे अपना स्वतन्त्र व्यापार करना शुरू किया। व्यापारमें खूब कमाई हुई। लाखोंका धनी हो गया। मकान बनाया, दुकान बनाई। शादी हो गई। बालबच्चे हो गये। औरत भी बिचारी बहुत अच्छी थी, इसलिए मेरी घरगृहस्थी भी खूब अच्छी चल रही थी। देखते देखते ही ३० वर्ष खतम हो गये, अठारह वर्षका लडका मैं अब अडतालीस वर्षका अधेड बन गया।

कौन जानता था कि—कब क्या हो जायगा?। मैं अपनी दुकानसे किसी कार्यके लिए दो मीलकी दूरी पर एक देहातमें गया हुआ था। और भूकम्प हो गया। पृथिवी हिलने लगी। वहाँसे आकर देखता हूँ

कि—सारा नगर मिटियामेट हो गया है। बडे बडे मकान, अब मिट्टी एवं रोडेके ढेररूपसे दिखाई दे रहे हैं। मेरी दुकानकी एवं मकानकी भी यही दशा हुई। इन टिंबोके बीच खोजनेपर भी पता नहीं चलता था कि—दुकान कहाँ थी? मकान कहाँ था। सारा गुड गोबर हो गया। मकानमें स्त्री एवं चार बच्चे भी दबकर समाप्त हो गये। नगद सोना चांदी आदि सामान कुछ भी नहीं मिला। अब मुझे ३० वर्ष प्रथमकी अपनी दशा याद आगई। उस समय मैं मारवाडसे कन्धेपर कम्बल डालकर हाथमें डोरी लोटा लेकर अकेला ही यहाँ आया था, मेरी पास और कुछ नहीं था। इससमय भी मैं ऐसा ही बनकर यहाँसे अकेला ही अपने देशमें जा रहा हूँ। बीचके ३० वर्षमें मुझे एक स्वप्नसा हो गया। प्रथम मैं कभी कभी सत्संगमें जाता था। परन्तु वहाँकी बातें मेरे समझमें नहीं आतीं थीं। महात्मा लोग कहते थे कि—यह संसार स्वप्नके समान—मिथ्या है। तब मैं हँसता था कि—ये बाबा लोग—इस संसारको स्वप्न कैसे कहते हैं? जो प्रत्यक्ष दीख रहा है—वह झूठा कैसे हो सकता है?। अब मुझे इस भूकम्पने दृढ—निश्चय करा दिया कि—यह जगत् बिल्कुल स्वप्न ही है। इसमें मेरा प्रत्यक्ष अनुभव है। आया अकेला अब जाता अकेला हूँ। आया खाली हाथ मैं जाता खाली हाथ हूँ। यही मेरा भूकम्पका वृत्तान्त है। महाराज! आप लोग परमात्माको ही सच्चा कहनेवाले सच्चे निकलें, एवं हम संसारी लोग संसारको सच्चा कहनेवाले झूठे हो गये। अब मैं जाता हूँ-नमस्कार।

इस वृत्तान्तसे यह सिद्ध होता है कि—भोक्ता तो ऐसा ही रह गया, परन्तु उसके प्रारब्धके निमित्तसे कुछ समयके लिए भोग्य पदार्थ

आये और चले गये। कभी इससे विपरीत भी देखनेमें आता है कि—भोग्य यहाँ ही रह जाते हैं, और भोक्ताको चलना पडता है। भोक्ताने बहुत परिश्रमसे भोग्य पदार्थ इकट्ठे किये। अच्छा मकान बनाया, कारखाना खोला, मोटर ली, स्त्री—पुत्रादि परिवार इकठ्ठा हो गया। खूब धन जमा किया। परन्तु उससमय काल देवताकी अकस्मात् घण्टी बज जाती है। सभी मनके मनोरथ, मनमें ही रह जाते हैं। और यहाँसे अकेला ही, नहीं चाहनेपर भी रोते हुए चलना पडता है। इस विषयमें किसी महानुभावने क्या ही अच्छा कहा है—

'धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे,
नारी गृहद्वारि जनाः श्मशाने।
देहश्चितायां परलोकमार्गे,
धर्मानुगो गच्छति जीव एकः॥'

जिससमय यह जीव यहाँसे चल बसता है, उस समय खूब परिश्रमसे कमाया हुआ धन भी जहाँका तहाँ ही रह जाता है। पृथिवीमें गडा है, या तिजौरी एवं बैंकमें रक्खा है, तो वह वहाँ ही रह जाता है। उस झूठे मालिक बननेवालेके तथा जिसके लिए अनेक प्रकारके छल कपट आदि पाप करनेवालेके साथ नहीं चलता। हाथी घोडे आदि पशु गोष्ठमें ही बधे रह जाते हैं, वे भी साथ नहीं चलते। अत्यन्त प्यारी अर्धाङ्गिनी कहानेवाली स्त्री भी अपने स्वार्थके लिए (उसके लिए नहीं) रोती हुई घरके द्वार पर ही रह जाती है, वह भी साथ नहीं चलती। भाई बन्धु आदि कुटुम्बी लोग भी श्मशानतक साथ जाते हैं—आगे वे भी साथ नहीं चलते। औरकी तो बात क्या?

परन्तु यह शरीर भी साथ नहीं चलता—जिसके लालन-पालनके लिए किसी भी प्रकारकी कसर नहीं रक्खी थी; जिसकी खूबसूरतीके लिए खूब-साबून तेल फूलेल आदि लगाते रहे, बालोंकी फैन्सी पटियाँ पाडते रहे—जिसको खास आत्मा ही मानते रहे—वह हरामी शरीर भी चितातक ही साथ रहता है। अर्थात् चिताकी अग्निसे जलकर यहाँ ही भस्म होजाता है। इसप्रकार इस जीवके साथ और कोई नहीं चलता। एकमात्र धर्म ही साथ चलता हैं, और वही अनेक प्रकारके संकटोंसे रक्षा करता है, एवं सुख देता है।

इसलिए—कबीर पुत्र—कमालने कहा है कि—

'आसरा लेहूँ उस राम रघुनाथका,
बैठ चौगानमें गाड टाटी।
एक रहेगा वही जिन खलक पैदा किया,
और सब होजायेंगे खाख माटी।
अमीर उमराव दिन चारके चोंचले,
छोड जायेंगे बाजार हाथी।
कहे कमाल कबीरका बालका,
धर्म और भजन दोनों जायेंगे साथी।'

अविवेकी मानव समझता है कि—मेरा शरीर बलवान् है, धनादि सम्पत्ति भी बहुत है, इसलिए अभी तो अनेक प्रकारके सांसारिक-विषयोंका खूब उपभोग कर लूँ, पीछे बूढा हो जानेपर धर्मानुष्ठान-एवं भगवद्भक्ति करलूँगा। परन्तु उसकी यह भ्रान्त अभिलाषा है-क्योंकि—'नित्यं सन्निहितो मृत्युः' है, अर्थात् मृत्यु सदा शिरपर ही गरज रहा है।

पता नहीं—वह किस क्षणमें आकर जीवन नष्ट कर दे, घडी भर भी जीनेका विश्वास नहीं है। इसलिए कहा है कि—

'अरे! भज हरे र्नाम, क्षेमधाम क्षणे क्षणे।
बहिः सरति निःश्वासे विश्वासः कः प्रवर्तते ॥'

अरे मूढ! श्रीपरमेश्वरका शुभ नाम—जो कल्याणका धाम है—प्रतिश्वास श्रद्धासे जपता रह। इस श्वासको बाहर निकलने पर फिर वापस भीतर लौटेगा ही, ऐसा विश्वास किसको हो सकता है?। क्या कोई यमराजसे जीवनकी पक्की गारन्टी कराके उसकी मुहर छाप लगाके यहाँ आया है?। इसलिए—

'काल करे सो आज कर, आज करे सो अब।
अवसर बीतो जात है, फिर करेगो कब? ॥'

इसलिए विवेकी इस क्षणभंगुर एवं महामलिन शरीरसे अहंताका तथा धनादि—पदार्थोंसे ममताका परित्यागकर अपने कल्याणके लिए एकमात्र उस विश्वात्मा—सत्य—सनातन—नारायणकी ही अनन्य—प्रेमसे आराधना करता रहता है—यही उसकी बुद्धिकी सार्थकता है। इस-प्रकारकी सारासार—विवेचन—कुशला बुद्धि भगवान्का स्वरूप है। तथा तेजस्वियोंका तेज भी भगवान्का स्वरूप है। उनमें जो प्रागल्भ्य है; वही उनका तेज है, जो अन्योंके अभिभव करनेकी सामर्थ्य रखता है, तथा अन्योंसे कभी अभिभूत नहीं होने देता है। ऐसा तेज धर्मानुष्ठानसे, संयम-सदाचारसे, ईश्वरकी उपासनासे एवं तत्त्वज्ञानसे ही प्राप्त होता है। ऐसे तेजस्वी महापुरुष ही श्रद्धेय हैं, दर्शनीय हैं, वन्दनीय हैं एवं मान्य हैं। जिनके भीतर स्वयं भगवान् तेजरूपसे दर्शन दे रहे हैं।

(११)

'बलं बलवतामस्मि, कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु, कामोऽस्मि भरतर्षभ! ॥'

(गी० ७ । ११)

हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन ! मैं बलवानोंका काम और रागसे रहित बल—अर्थात् सामर्थ्य हूँ। और सब—भूतोंमें धर्मशास्त्रके अनुकूल काम हूँ।

जगदीश्वर—आनन्दनिधि—भगवान् श्रीकृष्ण पुनः अपना परिचय दे रहे हैं। बलवानोंमें मैं बलरूपसे विद्यमान हूँ। जगत्में बलको कौन नहीं चाहता ?। बल विना कोई भी कार्य नहीं हो सकता। जो जो कार्य होते हैं, वे सब बलद्वारा ही होते देखे गये हैं। बल होनेपर ही आँखें देखती हैं, कान सुनते हैं, जिह्वा बोलती है, हाथ लेते देते हैं, पैर चलते हैं। बल न हो तो, आँख कान आदि कोई भी अपना कार्य नहीं कर सकते। इसलिए संसारमें सभी अपने अपने कार्य करनेके लिए बलवान् होना चाहते हैं। जिसप्रकार विद्या, विवेक आदि अन्दरके पदार्थोंसे बल प्राप्त होते हैं। उसप्रकार धन, जन, अधिकार आदि बाहरके पदार्थोंसे भी बल प्राप्त होते हैं। इसलिए विद्याबल, विवेकबल आदि अन्दरके बल, तथा धनबल, जनबल, अधिकारबल आदि बाहरके बल माने गये हैं।

परन्तु ये बल दो प्रकारके हैं, एक कामरागविवर्जित और दूसरा कामराग—संयुक्त। जो कामरागरहित बल है, वह भगवान्का स्वरूप है— इससे दुःखनिवृत्त होते हैं तथा परमसुखकी प्राप्ति होती है। इसलिए यही प्रशंसनीय एवं उपादेय है। दूसरा जो कामराग—संयुक्त है, वह

मायाका स्वरूप है, यह बल गर्हणीय एवं उपेक्षणीय है। इससे सकल सुखोंका विनाश एवं विविध-दुःखोंकी प्राप्ति होती है। प्रथमके बलसे जीवोंका अभ्युदय एवं निःश्रेयस सिद्ध होता है; और दूसरे बलसे पतन, एवं विनाश सिद्ध होजाता है। काम और राग क्या हैं? इनको बतलाते हैं। जो अभीष्ट पदार्थ, अप्राप्त हैं, प्राप्तिके कारण भी कोई उपस्थित नहीं हैं; भविष्यमें उनके मिलनेकी न संभावना ही है, तथापि वह प्राप्त हो, ऐसी अभिलाषारूप रजोगुणी तीव्र–चित्तवृत्तिविशेषका नाम काम है। किसी भी प्रकारसे वह इष्ट पदार्थ प्राप्त होगया, उसके क्षय एवं विनाशके कारण भी अनेकविघ्न उपस्थित हैं, तथापि वह प्रिय–विषय, क्षीण न हो, नष्ट न हो, इसप्रकारकी तद्विषयक-प्रेमातिशयवाली–रञ्जनरूप चित्त-वृत्तिविशेषका नाम राग है। काम और रागसे रहित सात्त्विक बल, ब्रह्मज्ञानी–विवेकी–भगवद्भक्त–महापुरुषोंमें विद्यमान है, तथा संसारासक्त-विवेकहीन–मूढ–प्राणियोंमें कामरागसंयुक्त राजसतामस बल है। इसलिए राजर्षि भर्तृहरिजीने विवेकी एवं मूढकी परस्पर विलक्षण–दशाओंका वर्णन करते हुए वैराग्यशतकमें कहा है—

> 'ब्रह्मज्ञानविवेकिनोऽमलधियः कुर्वन्त्यहो दुष्करं,
> यन्मुञ्चन्त्युपभोगभाञ्ज्यपि धनान्येकान्ततो निःस्पृहाः।
> न प्राप्तानि पुरा न संप्रति न च प्राप्तौ दृढप्रत्ययो,
> वाञ्छामात्रपरिग्रहाण्यपि परं त्यक्तुं न शक्ता वयम्॥'

ब्रह्म–अन्तरात्माके यथावत् ज्ञानसे जिन्हें सत्–असत् हेय–उपादेय आदिका यथार्थ विवेक होगया है; तथा जिनकी बुद्धि निर्मल है, काम-राग रहित है; वे महानुभाव मूढोंके लिए बडा दुष्करकार्य करते हैं।

वे उपभोगके साधन अनेकप्रकारके धनोंका परित्यागकर सर्वथा निःस्पृह हो जाते हैं। उनकी यह विरक्त–दशा कितनी अच्छी है, जो सदा शान्ति एवं आनन्दको ही देती है। परन्तु हम मूढोंकी उद्वेग एवं दुःख देने-वाली इस गर्हित–दशाको देखिये। हमें–उपभोगके सम्पादक धन, न प्रथम ही कभी प्राप्त हुए हैं; न वर्तमानमें प्राप्त हैं; और न भविष्यमें उन्हें प्राप्त होनेका दृढ विश्वास है। तथापि उनको हमनें वाञ्छा (चाहना) मात्रसे पकड रक्खे हैं, अर्थात् प्रत्यक्षसे उनका लाभ तो कुछ नहीं है, मनोरथमात्रसे उनमें हम रमण कर रहे हैं–आसक्ति बांध बैठे हैं। और वे महापुरुष तो विवेक–बलसे प्रत्यक्ष प्राप्त विषयोंका परित्याग कर देते हैं–उनसे निस्पृह होजाते हैं। परन्तु हम मूढ तो मूढताके कारण उन अप्राप्त-विषयोंका भी परित्याग नहीं कर सकते हैं, यह कितने खेद एवं लज्जाकी बात है।

यह संसार चलाचलीका मेला है। कोई आज चला, कोई काल चला, कोई चलनेको तैयार खडा। जो कोई पदार्थ जड या चेतन यहाँ आता है, जानेके लिए ही, सदा रहनेके लिए नहीं। न कोई सदा रहा है, न रह सकता है, न कोई उसे रख सकता है। बाप आया और गया, स्त्री सुख देनेके लिए आई और दुःख देकर चली गई। हँसानेके लिए पुत्र आया और रुलाकर चला गया। धन आया और गया। रात्रि एवं दिवस, सुदी एवं वदी, शरद् एवं वसन्त, फाल्गुन एवं चैत्र आये और दबादब चलते बने। होली और दीवाली आई, देखते देखते ही चली गई, कहाँ गई? किसीको कुछ पता नहीं। इसप्रकार आने जानेका यह ध्रुवनियम सर्वत्र देखा गया है। तथापि मूढ–मानव उन

विनाशी पदार्थोंमें काम एवं राग बाँधकर दुःखी होता है। और विवेकी कामरागका परित्यागकर सुखी होता है। यह भी राजर्षि भर्तृहरिजीने कहा है—

'अवश्यं यातारः चिरतरमुषित्वाऽपि विषयाः,
वियोगे को भेदः त्यजति न जनो यत्स्वयममून्।
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यात् अतुलपरितापाय मनसः,
स्वयं:त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति॥'

ये स्त्री-पुत्र-धनादि विषय, चिरकालतक रहनेपर भी आखिर अवश्य जावेंगे ही। अर्थात् वे हमको एक रोज आगे पीछे छोड देंगे ही। वे हमारे पास सदाके लिए रहेंगे नहीं, उनसे वियोग अवश्य ही होगा। तथापि उसमें क्या विशेषता है? कि—यह मानव स्वयं सोच समझकर उनका त्याग नहीं करता। यदि ये जबरदस्तीसे स्वतः चले जाते हैं तो आसक्तिके कारण वे मनको अतुल सन्ताप दे जाते हैं। यदि कोई विवेक-विचारवान् स्वयं उनका त्याग कर देता है, उनमें किसी भी प्रकारका काम-राग नहीं रखता है—तो वे परित्यक्त पदार्थ, अनन्त सुख शान्ति समर्पण करते हैं।

इसप्रकार कामरागविवर्जित बल भगवत्स्वरूप होनेके कारण मुक्ति-सुख देता है, और कामराग-संयुक्त बल मायाका स्वरूप होनेके कारण बन्धन-दुःख देता है। श्रीराम एवं श्रीकृष्ण भी बलवान् थे, तथा रावण एवं कंस भी बलवान् थे। उनमें श्रीराम एवं श्रीकृष्णके बलकी सभी मुक्त-कण्ठसे प्रशंसा करते हैं, और रावण एवं कंसके बलकी सभी निन्दा करते हैं। क्या कारण है?। यही कारण है कि—श्रीराम एवं श्रीकृष्णका

बल, कामरागविवर्जित था, सात्त्विक था, ऐसे प्रशस्त बलकी कभी पराजय नहीं होती। और रावण एवं कंसका बल, कामराग संयुक्त था, राजस–तामस था, ऐसे निन्दित बलकी कभी विजय नहीं होती। यह उनके चरित्रोंसे ही निश्चय हो जाता है।

लंकाके मैदानमें एक तरफ वानरोंकी सेना खडी है, और दूसरी तरफ राक्षसोंकी। वानर सदा शाकाहारी ही होते हैं, वे कभी मद्य-मांसका सेवन नहीं करते। फल फूल–मूल ही खाकर जीते हैं; इसलिए वानर सात्त्विक-बलवाले हैं। राक्षस मद्यमांसादिका सेवन करते हैं, इसलिए वे तमोगुणी हैं और उनके पास तामस बल है। दोनों बलोंका संग्राम होता है। इसमें सात्त्विक बल ही तामस बलपर विजयी होता है, और तामस–बल सात्त्विक–बलसे पराजित होजाता है।

इसप्रकार जगत्में सात्त्विक बल, चाहे वह विद्याका हो, या धनका हो, या शरीरका हो–लोगोंके दुःखोंका निवारणकर सुख–शान्ति प्रदान करता है। और तामस–बल दुःखोंको बढाता है, एवं सुखोंका विनाश करता है। अतएव सात्त्विक–बलवाला सज्जन एवं तामस–बलवाला दुर्जन कहाता है। एक जगत्का भला करता है, दूसरा बुरा। एक स्वयं सुखी होता है–दूसरा दुःखी। इसलिए किसी नीतिशास्त्रज्ञ–महोदयने यह ठीक ही कहा है—

'विद्या विवादाय धनं मदाय,
शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधोः विपरीतमेतत्,
ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥'

खल (दुर्जन) मनुष्यका विद्याबल—तामस है, इसलिए वह विवादके लिए ही होता है, विवाद तत्त्व—निर्णयके लिए नहीं करता, किन्तु अपनेको ऊँचा और दूसरोंको नीचा दिखानेके लिए ही करता है। उसका विद्याबल, अभिमान, दंभ, राग, द्वेष आदि दोषोंको बढाता है; और विनय, विवेक, आदि सद्‌गुणोंका नाश कर देता है—इसमें विद्याका दोष नहीं, किन्तु आधार पात्रका दोष है। जिसप्रकार वही निर्दोष—जल है—जिसको गायने पिया, उससे मधुर दूधका निर्माण हुआ और उसी जलको साँपने पिया, उससे कटु मारक—विषका सर्जन हुआ। वह खल है, दुष्ट है इसलिए वह अपने दोषोंके कारण विद्याका क्या फल होना चाहिए ? यह नहीं समझता है, या समझता हुआ भी—'**दीपं गृहीत्वा हि पतन्ति कूपे**' (दीपक लेकर कुएमें गिरते हैं) की तरह उसकी दशा होती है। शास्त्रोंमें विद्याका यह फल बतलाया है कि—'**विद्याफलं स्यादसतो निवृत्तिः**' असत्‌की निवृत्ति ही विद्याका वास्तविक फल है, असत् संसार है—उसकी निवृत्ति हो एवं सत् परमात्माकी प्राप्ति हो, यही विद्याका खास प्रयोजन है। '**सा विद्या या विमुक्तये।**' विद्या वह है, जो विमुक्तिके लिए होती है—जो अनेक प्रकारके दुर्गुणोंसे संसारके सन्तापोंसे तथा अविद्यासे मुक्ति दिलाती है—वही विद्या है।'

दुष्ट—पुरुषोंका धन—बल, मद(गर्व)के लिए ही होता है। धनमदसे उन्मत्त हुए वे मूढलोग इसके द्वारा पुण्यके बदले पाप कमाते हैं, स्वर्गके बदले नरक खरीदते हैं, जगत्‌की भलाईके बदले बुराई कर जाते हैं। कीर्तिके बदले अपयश यहाँ रख जाते हैं। तथा जगत्पिता परमेश्वरको प्रसन्न करनेके बदले क्रुद्ध कर देते हैं। इसप्रकार दुष्टोंका शारीरिक—बल

भी लोगोंको कष्ट पहुँचाता है, संरक्षण नहीं करता। शापका हेतु हो-जाता है—आशीर्वादका नहीं। कौन मनुष्य स्वर्गमें जाता है, तथा कौन नरकमें ?। इसका यहाँ ही पता लग जाता है। उनके शुभाशुभ आचरण, उनकी निन्दा-स्तुति, विद्या, धन एवं शक्तिका सदुपयोग तथा दुरुपयोग, ये सब उसके सूचक हो जाते हैं।

एक नगरमें एक सत्संगी धार्मिक बुद्धिमान व्यापारी सेठ रहते थे। उनकी दुकान नगरके विख्यात राजमार्ग पर थी। वे अपनी दुकानमें—उन्हीं मुनीम एवं नौकरोंको रखते थे—जो सत्संगी एवं धार्मिक होते थे। उसके लिए वे उनकी अनेक प्रकारकी परीक्षाएँ भी करते थे। एक रोज—उनकी दुकानमें दो मनुष्य—नौकरी करनेके अभिप्रायसे आये। सेठजीसे मिले। उन्होंने नौकरीकी अभिलाषा बतलाई। सेठने कहा—मुझे नौकरकी आवश्यकता है। परन्तु मैं ऐसे ही अर्थात् परीक्षा किये विना नौकर नहीं रखता, परीक्षा करके—उसमें उत्तीर्ण होनेपर ही उसको नौकरी देता हूँ। तुमको भी परीक्षा देनी होगी। परीक्षामें यदि फेल हो गये तो मैं नहीं रक्खूँगा, पास हो जावोगे तो रख लूँगा। उन दोनोंने कहा—बहुत अच्छी बात, आप जैसे चाहें, वैसे हमारी परीक्षा ले सकते हैं। हम परीक्षा देने तैयार हैं। सेठने एकसे—हाथका इशारा करते हुए कहा—अच्छा यह बतलाओ कि—यह मरा हुआ मानव कहाँ जायगा, स्वर्गमें या नरकमें। उस समय उस राजमार्गसे एक मृत व्यक्तिकी ठठरी जा रही थी, उसके सगे—सम्बन्धी लोग 'राम बोलो भाई! राम' की आवाजें लगाते हुए उसके पीछे पीछे जा रहे थे।

सेठकी बात सुनकर वह एक—नौकरीकी अभिलाषा रखनेवाला

विचारमें पड गया कि–यह कैसी विलक्षण परीक्षा है? इसका कैसे पता लग सकता है?। तथापि वहाँ चले चलें, किसीसे पूछनेपर पता लग जायगा। ऐसा विचारकर वह सेठकी अनुमति लेकर वहाँ पहुँच गया। अरथीके सबसे पीछे चलनेवाले एक मनुष्यसे कहने लगा कि–महाशयजी! मैं आपसे एक बात पूछना चाहता हूँ। आपकी सम्मति हो तो पूछुँ। उसने कहा–अच्छा, कहिये, क्या बात पूछना चाहते हो?। वह बोला–बात यह है कि–यह मरा हुआ मानव–जिसकी ठठरी आगे जा रही है–किधर जायगा, स्वर्गमें या नरकमें?। उसका प्रश्न सुनकर वह व्यङ्ग्य कसता हुआ बोला कि–ऐसा करो, महाशयजी! आप भी इसके साथ चल पडें, साथमें जानेपर आपको पता लग जायगा कि–वह किस तरफ जा रहा है। अब वह अपनी अनभिज्ञता प्रकट करता हुआ बोला कि–अरे भलामानस! यह कैसे पता लग सकता है कि–वह स्वर्गमें जा रहा है कि–नरकमें।' उसकी ऐसी बात सुनकर वह वापस सेठके समीप आया, और बोला–सेठजी! यह किसीको भी पता नहीं लग सकता है कि–मरा हुआ प्राणी कहाँ जाता है। सेठने उससे कहा–तुम परीक्षामें फेल हो गये। अतः तुमको मैं अपनी दुकानमें नहीं रख सकता। मालूम होता है कि–तुमने कभी सत्संग नहीं किया। वीतराग अनुभवी विद्वान् महात्माओंके प्रवचन भी नही सुनें। इसलिए तुमको इस बातका पता नहीं लग सकता।

अब सेठने नौकरीकी अभिलाषा रखनेवाले उस दूसरे व्यक्तिसे कहा–कहिये, तुम परीक्षा दे सकते हो। उसने कहा–हाँ जी, आप मेरी परीक्षा ले सकते हैं। सेठ इशाराकर बोले–अच्छा, तुम इसका पता

लगाओ—यह कहाँ जा रहा है ? उससमय एक और मुरदा वहाँसे जा रहा था। वह दूसरा व्यक्ति सत्संगका प्रेमी था, उसने अनेक महात्माओंके प्रवचन सुने थे—इसलिए वह वहाँसे उठकर उस अरथीके पीछे चलनेवालोंके समीप पहुँच गया। उनमेंसे वह एकसे विवेकपूर्वक पूछने लगा कि—कृपया कहिये, महोदयजी! कि—इस मरनेवाले महानुभावका क्या शुभ नाम था ?। उसका ऐसा प्रश्न सुनकर वह मुँह बिगाडकर बोलने लगा कि—अरे भाई! जाने दे—इसका नाम पूछकर क्या करेगा ?। उसका सवेर नाम लिया जाय तो शाम तक खानेको नहीं मिले, यह आदमी ऐसा मक्खीचूस—कंजुस था—न पूछो बात, चाम टूटे पर दाम न छूटे, उसने जूठे—हाथसे कभी एक कौवा भी नहीं उडाया था। लडाकू बदमाश ऐसा था कि—उसने सभी कुटुम्बियोंके तथा मुहल्लेवालोंके नाकोंमें दम कर रक्खा था। यह महानुभाव क्या महानीच था। इसके मरनेसे लोगोंको बडी राहत मिली। छल—कपटसे उसने बहुत धन कमाया परन्तु उसने कभी दान पुण्य नहीं किया, आयुभर पाप ही पाप कमाता रहा, अच्छे पुरुषोंकी निन्दा ही करता रहा, न कभी वह सत्संगमें और न कभी देवदर्शनके लिए गया। उसके प्रिय साथी थे—एक बिल्ला और एक कुत्ता। अन्त समय उसको ही पुकारता रहा। बडे कष्टसे उसके प्राण निकले। उपेक्षाका भाव बताता हुआ फिर कहने लगा कि—अरे ! भाई ! जाने दे, इसकी बात, **'कथाऽपि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः।'** अर्थात् पापियोंकी बातें भी, पाप ही प्रदान करती हैं, उनसे किसीका कुछ भी भला नहीं होता। क्या करे, बिरादरीकी शरमसे हमको इसकी अरथीके पीछे चलना पड रहा है, नहीं तो हम कभी चलते ही नहीं।' ऐसा

कहकर वह चुप होगया।

वह व्यक्ति, अब सेठजीके समीप आकर कहने लगा कि–सेठजी! इस मरे हुए मानवको नरक जानेकी टिकिट मिल गई है। वह यहाँसे सीधा नरक ही जा रहा है। सेठजीने पूछा–यह तुमने कैसे जाना?। उसने कहा–जिसकी यहाँ बहुत निन्दा होती हो, जिसका अपयश फैला हो–जिसके नामपर लोग नाक–भौ सिकोडते हों–यही नरक जानेकी सूचना देता है। उसका ऐसा उत्तर सुनकर सेठ बहुत प्रसन्न हुए। पुनः कहने लगे कि--अच्छा! यह बतलाओ कि–यह मरा हुआ कहाँ जायगा? उससमय एक अरथी फूलोंसे खूब सजी धजी हुई--हजारों व्यक्ति जिसके पीछे चल रहे थे--वहाँसे जा रही थी। उसका भी पता लगानेके लिए–वह उस समुदायके समीप जाकर किसीसे पूछने लगा कि--प्रिय भाईजी! यह किस महानुभावकी अरथी है?। उनका क्या शुभ नाम था?। वह आदरके साथ बोला कि--यह महानुभाव जिसका अमुक शुभ नाम था–हमारी बिरादरीमें (ज्ञातिमें) बडे--भले पुरुष थे। बहुत उदार एवं परोपकारी थे। अच्छे धार्मिक एवं भगवद्भक्त थे। अपने जीवनमें उन्होंने बुरा करनेवालोंका भी भला किया। किसीकी भी वे बुराई करना जानते ही नहीं थे। सत्संग और सेवा तो उनको प्राणके समान प्रिय थे। नीतिसे कमाये हुए धनका उन्होंने अच्छा सदुपयोग किया, अनेक अच्छे काम किये। और वे विनय एवं नम्रताकी साक्षात् मूर्ति थे। उनका मैं क्या बखान करूँ?, संक्षेपमें वे अनेक शुभगुणोंके रत्नाकर थे। भगवान् भले–पुरुषोंको दुनियामें ज्यादा रोज रहने नहीं देता, वह शीघ्र अपने समीप बुला लेता है। सचमुच आज हम उनके वियोगसे

बहुत खिन्न हो रहे हैं। परन्तु भगवान्‌की मरजीके सामने सभीको लाचार होना पडता है। इतना कहकर वह चुप होगया। वह व्यक्ति सेठके पास आकर कहने लगा कि--सेठजी ! यह महानुभाव स्वर्ग जा रहे हैं। जिनकी यहाँ मुक्त--कण्ठसे प्रशंसा होती हो--वह व्यक्ति अच्छे सुख--पूर्ण धाममें ही जा सकता है, खराब स्थानमें नहीं जा सकता।' उसकी ऐसी बात सुनकर सेठ खूब प्रसन्न हुए, और कहने लगे कि--तुमने खूब सत्संग किया है--अतः मेरी परीक्षामें तुम पास हो गये, इसलिए मैं अपनी दुकानमें आपको सच्चे मित्रके समान अमुक तनख्वापर मुनीमके पदपर रखता हूँ। मेरा विश्वास है कि--आप प्रामाणिकता--पूर्वक कामकर अपनी एवं फर्मकी दोनोंकी उन्नति करेंगे।

सज्जन विवेकी अपने बलोंका सदुपयोगकर यशस्वी पुण्यवान् एवं भगवान्‌का कृपापात्र बनता है। वह विद्याके बलसे दूसरोंको ज्ञान देता है--अज्ञान निद्रामें सोये हुओंको--जगाता है, दुर्गुण हटाकर सद्‌गुणी बनाता है। सभी जगह वह शान्ति प्रेम एंव सद्भावका प्रसार करता है। इसप्रकार वह ज्ञानका दानकर जगत्‌को सुखी बनाता है। जगत्‌में सब दानोंसे बढकर ज्ञानका दान है। ज्ञानका रस सभी रसोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ रस है। मानव उस रसका रसिक बनकर ही अपने देव--दुर्लभ मानव जीवनको सफल एवं धन्य बनाता है। नर से नारायण बन जाता है। एवं वह अपने धन--बलसे भी पुण्य स्वर्ग आदिका लाभ ही कमाता है। शारीरिक--शक्तिसे वह दूसरोंका रक्षण करता है। अन्यायका दुःख हटाकर न्यायका सुख फैलाता है। जिस बलमें काम एवं राग नहीं होते, उसका कभी दुरुपयोग नहीं होता, सदुपयोग

ही होता है। इसप्रकारके पवित्र-बलके भीतर वह भगवान्के पूर्ण आनन्द स्वरूपका अनुभव करता है।

जिसप्रकार सात्त्विक बल मेरा स्वरूप है, उसप्रकार सात्त्विक काम भी मेरा स्वरूप है। सात्त्विक काम, वह कहलाता है—जो धर्मसे विरुद्ध नहीं होता। धर्मशास्त्रके विरुद्ध जो काम है—वह अविद्याका स्वरूप है, अतएव वह सर्वथा निन्द्य है, एवं हेय है। इसलिए भगवान्ने गीतामें कहा है कि—

'आवृतं ज्ञानमेतेन, ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय! दुष्पूरेणानलेन च॥' (३।३९)

यह धर्मविरुद्ध-राजस-तामस काम, ज्ञानियोंका सदा वैरी है, अर्थात् ज्ञानी उसको अपने समीप नहीं आने देते। वह ज्ञानको ढक देता है, अग्निके सदृश भोगोंसे वह कभी तृप्त नहीं होता, दुष्पूर ही रहता है। इसलिए हे अर्जुन! तू—

'पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्।' (३।४१)
'जहि शत्रुं महाबाहो! कामरूपं दुरासदम्।' (४।४१)

ज्ञान और विज्ञानके नाश करनेवाले—इस बडे पापी कामका निश्चय-पूर्वक विनाश कर। हे महाबाहो! तू इस दुर्जय कामरूप शत्रुको मार।

प्राणियोंमें धर्मशास्त्रके अनुकूल जो काम है—वह उच्छृङ्खल नहीं होता। वह संयम सदाचारकी मर्यादाओंसे युक्त होता है। इससे योग्य-पवित्र-संतानोंका ही निर्माण होता है।

वर्तमान समयमें अश्लील-सीनेमा और गंदे-साहित्य द्वारा धर्म-शास्त्र-विरुद्ध कामका बडी तेजीसे फैलावा हो रहा है। इससे सदाचारका

बुरी तरहसे नाश हो रहा है। साथमें समय, धन, स्वास्थ्य, तथा धर्मका भी बहुत तेजीसे ह्रास हो रहा है। सिनेमाके बीभत्स—दृश्य एवं अश्लील चरित्रके चित्रोंको देखकर एवं गन्दे-शृङ्गार—प्रचुर उपन्यास आदिको पढकर कौन ऐसा मनुष्य है कि—जिसकी बुद्धि विचलित और भ्रष्ट न हो जाती हो। इसलिए इनसे देशमें सामाजिक, नैतिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक पतन ही हो रहा है। किसी प्रकारका अभ्युदय नहीं। नौजवान छोकरे, एवं छोकरियाँ इनके द्वारा इतने उच्छृङ्खल हो रहे हैं कि—न पूछो बात। उनके हृदयमें—हरदम कामाग्निकी ज्वालाएँ धधकती ही रहती हैं। परपुरुषोंके साथ, तथा पराई स्त्रियोंके साथ हँसी—मजाक करना, ताश शतरंज आदि खेलना, सैर सपाटा लगाना, गुप्त रूपसे पत्र व्यवहार करना, तथा नाचना आदि विना संकोचके खूले आम खूब हो रहे हैं। इसलिए समाजमें ऐसे ऐसे भ्रष्ट—काण्ड, समाचार—पत्रों द्वारा सुननेमें आ रहे हैं कि—

एक जगह विवाहित 'एम. ए.' डीग्री पास युवक युवती रहते थे। युवक प्रतिदिन काम करने आफिसमें जाता था। और उसकी पत्नी उसके एक-मित्रके साथ घूमने फिरने जाया करती थी। वह मित्र उसके घर भी आता जाता था। युवकने देखा कि—मेरी पत्नी मेरे मित्रकी तरफ बहुत ही आकृष्ट होती जा रही है। एक रोज उसने अपने मित्रके समक्ष अपने घरमें ही पत्नीसे पूछा—तुम मुझे देखकर उतना प्रसन्न नहीं होती, जितना कि—मेरे मित्रको देखकर। तुम क्या चाहती हो? यदि तुम मुझे नहीं चाहती, या मित्रको चाहती हो तो उसका नाम लिखकर एक कागजका टुकडा इस सिगरेटके डब्बेमें डाल दो।

ताकि माळुम हो जाय कि—तू मेरे साथ रहना चाहती है, या मित्रके साथ । उस शिक्षित पत्नीने तुरन्त ही बिना लज्जित हुए मित्रका नाम लिखकर कागजका टुकडा डब्बेमें डाल दिया । बस, अब क्या था, उस युवकने अपनी पत्नीको मित्रके साथ रवाना कर दी । वाह रे ! कलयुगी मित्र महोदयजी । तुम खूब अच्छे रहे । अपने मित्रका घर उजाडकर अपना घर बसाकर बैठ गये । आप समझ सकते हैं कि—उस औरतका अब मित्रके वहाँ भी स्थिर होकर रहनेका विश्वास कौन रख सकता है ?। उसे कोई तीसरा मन चाहा मित्र मिलेगा तो वह उसके साथ भी चलती बनेगी । यह प्रेम नहीं किन्तु महा अनर्थकारी मोह है ।

अश्लील—सिनेमा देखनेवाली एवं गन्दा—साहित्य पढनेवाली आज-कलकी पढी लिखी लडकियाँ, पतिकी क्या बात ? अपने माता पिताको भी नहीं मानती । एक समाचार पत्रमें छपा था कि—एक वृद्ध सज्जनने स्त्रीसहित इसलिए महादुःखी होकर प्राण दे दिये थे कि—उनकी शिक्षिता जैंटलमेन लडकी, माता पिताकी इच्छा विरुद्ध अपना मनमाना विवाह करना चाहती थी । न्यू—लाईटके लोग कह सकते हैं कि—लडकीको स्वतन्त्रतासे मनमाना पति—वरण करनेका अधिकार है, मा—बापको बीचमें बोलनेकी क्या आवश्यकता है ?। विष खाकर वे मर गये, उसमें उनकी निरी मूर्खता थी । बस, यही तो धर्मविरुद्ध काम है। यही तो अनार्य—आदर्श है। जिन माता पिताने बडे कष्टसे अपनी सन्तानका लालन पालन किया था, वही सन्तान, उनकी कुछ भी लज्जा न रक्खे, आज्ञाका पालन न करे, यह कितनी बडी धर्मविरुद्ध बात है । भगवान् श्रीरामके पवित्र आदर्शको देखिये । वे अपने

माता पिताकी आज्ञासे कितने बडे साम्राज्यका भी परित्याग कर वनमें तपस्वी वेश धारणकर चले गये थे।

एक अठारह वर्षके युवकने एक सोलह सालकी लडकीको दिन-दहाडे बीच बाजारमें सैकडों मनुष्योंके सामने इसलिए छूरेसे मार डाला था कि—वह लडकी प्रथम उस युवकसे प्रेम करती थी, आपसमें विवाह होनेकी बात निश्चित हो गई थी। परन्तु पीछेसे उस लडकीने किसी कारणवश उससे प्रेम करना छोड दिया था। यह सब मनमानी-कुत्सित—प्रवृत्तिका मूलकारण सिनेमा एवं गन्दासाहित्य है, जिसके वशमें हुए युवक एवं युवतियाँ विवेक—भ्रष्ट हो जाते हैं। लडका या लडकी, किसीके साथ भी हँसें, खेलें, घूमने जाँय, सिनेमामें जाँय, होटल या क्लबमें जाँय, शराब पीयें, कुछ भी करें, पितामाता उसे कुछ भी नहीं कह सकते, क्योंकि–ये ही तो सभ्यताके चिह्न हैं।

जिसप्रकार दीप—सौन्दर्यके लोभी पतिंगे, उसकी शिखा देखकर सुखभोगकी दृष्टिसे उसमें विना विचारे कूद पडते हैं; और तडप तडपकर मरते हैं; तथा जलकर भस्म हो जाते हैं। उसप्रकार गन्दा साहित्य एवं सिनेमाके रसिक, तरुण तरुणियाँ भी विषय--भोग—विलास-रूपी धधकती हुई प्रचण्ड आगमें कूद—पडकर अपना सर्वस्व—नाश कर बैठते हैं। यह बात वर्तमानकी अनेक-घटनाओंके द्वारा भी सिद्ध हो जाती है। यदि यह कालकूट—विष मनोरञ्जनके नामपर हमारे समाजमें उत्तरोत्तर बढता ही गया तो, हमारा तरुण--समाज, निश्चयसे अपने स्वस्थ--जीवनसे सदाके लिए हाथ धो बैठेगा, और हमारे राष्ट्रका उत्थानके बदले पतन हो जायगा। इसलिए हमारी अपनी समझदार

सरकारका तथा देशके विज्ञ--नेताओंका यह कर्तव्य है कि—वह इस विषके फैलावेको तुरन्त अनेक उपायोंसे रोक दे।

धर्मशास्त्रके अनुकूल जो काम है, वह गृहस्थके लिए एक प्रकारका ब्रह्मचर्य है। इसलिए हमारे शास्त्रोंमें कहा है कि—

'परदारपरित्यागात्, स्वदारपरितुष्टितः।
ऋतुकालाभिगामित्वात् ब्रह्मचारी गृहीरितः॥'

गृहस्थ परदाराका सर्वथा त्याग करे, उसमें भूलसे भी कभी राग न करे। अपनी विवाहित--भार्यामें ही सन्तुष्ट रहे, और योग्य--सन्तानकी उत्पत्तिके लिए ऋतुकालमें ही भार्यासे सम्बन्ध करे, ऐसे धर्मशास्त्रीय--नियमका पालन करनेवाला सद्गृहस्थ ब्रह्मचारी है, उसका संयमपूर्ण काम, धर्मशास्त्रके अविरुद्ध है। उस रूपसे वह भगवदीय--दिव्य--आनन्दका उपभोग कर सकता है। इसलिए हमारे धर्मशास्त्रोंने ब्रह्मचर्यका बडा महत्त्व बतलाया है कि—

'अधीहि भो! किं पुण्यं इति, ? ब्रह्मचर्यमिति,
किं लोक्यमिति? ब्रह्मचर्यं एवेति।'
(अथर्ववेदीय-गोपथ-ब्राह्मण-२।५)

गुरुदेवसे शिष्य प्रश्न करता है—कृपया कहिये, भगवन्! इस लोकमें पुण्य क्या है? गुरुदेव उत्तर देते हैं कि—ब्रह्मचर्य। यही एक बडा प्रत्यक्ष पुण्य है, जिसका महान् प्रशस्त फल शीघ्र यहाँ ही मिल जाता है। फिर शिष्य पूछता है—कृपानिधानजी! उत्तम--लोककी प्राप्तिका साधन क्या है?। गुरुदेव कहते हैं—ब्रह्मचर्य। ब्रह्मचर्य ही एक ऐसा प्रशस्त साधन है कि—जिसके द्वारा इस लोकमें या परलोकमें

मानव प्रचुर--सुख--शान्तिका लाभ प्राप्त कर सकता है। अतएव—

'ब्रह्मचर्ये स्थितो धर्मो, ब्रह्मचर्ये स्थितं तपः।
ब्रह्मचर्यात्परं नास्ति, धर्मसाधनमुत्तमम्॥'

ब्रह्मचर्य व्रतमें ही धर्म तथा तप, अवस्थित रहते हैं। ब्रह्मचर्य विना, धर्म एवं तपकी सिद्धि ही नहीं होती, इसलिये ब्रह्मचर्यसे बढकर और कोई भी धर्मका उत्तम साधन नहीं माना गया है। अर्थात् धर्मका उत्तम साधन ब्रह्मचर्य ही है।

वीर्यका संरक्षण करना, उसका धर्मविरुद्ध अपव्यय नहीं होने देना, यही ब्रह्मचर्यका स्वरूप है। इसलिये कहा है कि—

'आहारस्य परं सारं शुक्रं तद्रक्ष्यमादरात्।
क्षये ह्यस्य बहून् रोगान् मरणं वा निगच्छति॥
तस्माद्वीर्यं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः।
यावद्वीर्यं स्थिरं देहे तावद्रोगभयं कुतः॥'

आहारका उत्तम सार शुक्र है—जिसप्रकार पुष्पोंका सार इत्र और दुधका सार मक्खन। अतएव उसका आदरपूर्वक संरक्षण करना चाहिए। इसका व्यर्थ क्षय होनेपर बहुत रोग तथा अकालमरण भी प्राप्त हो जाते हैं। इसलिए वीर्यका तथा मनका, बुरी—संगति, बुरे विचार, खराब—आहार आदिसे प्रयत्नपूर्वक संरक्षण करना चाहिए। जबतक शरीरमें वीर्य स्थिर एवं सुरक्षित रहता है—तबतक रोगोंका भय कैसे होसकता है? इसलिए—

'मृत्युव्याधिजरानाशि, पीयूषं परमौषधम्।
ब्रह्मचर्यं महद्वलं सत्यमेव वदाम्यहम्॥

शान्तिं कान्तिं स्मृतिं, ज्ञानमारोग्यं शुभसंततिम् ।
यदीच्छति महद्धर्मं ब्रह्मचर्यं चरेदिह ॥'

ब्रह्मचर्य, मृत्यु व्याधि एवं बुढापेका नाशक, श्रेष्ठ—औषध है, अमृतके समान सुखदाता है। ब्रह्मचर्य ही शारीरिक बौद्धिक एवं आत्मिक महान् बल है। यह मैं सत्य ही कहता हूँ। यदि तू, मनकी शान्ति, शरीरकी कान्ति, बुद्धिकी स्मृति एवं ज्ञानशक्ति, आरोग्य तथा शुभसन्तान चाहता है तो महान् धर्मरूप ब्रह्मचर्यका पालन कर।

कुछ लोग कहते हैं कि-हम तो गृहस्थ हैं, विवाहित हैं, इसलिए हमारे लिए ब्रह्मचर्य कैसा ?, साधु संन्यासी त्यागी ब्रह्मचारीको ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये। हमारे लिए तो किसी प्रकारका संयमका बन्धन नहीं होना चाहिये। अर्थात् हम मनमाना जैसा चाहे वैसा उच्छृङ्खल जीवन व्यतीत कर सकते हैं। उनका ऐसा कहना भ्रान्तिपूर्ण है। उनको समझ लेना चाहिये कि—विवाह क्या चीज है ? उसका क्या उद्देश्य है ? विवाहका उद्देश्य अनर्थकारी-विलास कदापि नहीं। वह विवाहित स्त्री, भोगपत्नी नहीं, किन्तु धर्मपत्नी मानी गई है। जिसके द्वारा धर्मका पालन कर अभ्युदय एवं निःश्रेयस प्राप्त किया जा सके। इसलिए शास्त्रोंमें कहा है—

'विवाहो न विलासार्थः, प्रजार्थं एव केवलः ।
तेजोबुद्धिबलध्वंसो विलासात्प्रभवेत्खलु ॥
अतएव परित्यज्य विलासं मोहकारणम् ।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं विचारेण सुखी भवेत् ॥'

विवाह, विलासके लिए नहीं है, किन्तु योग्य--प्रजाकी उत्पत्तिके लिए है। विलाससे तेज बुद्धि एवं बलका निश्चय ही विध्वंस हो जाता

है । इसलिए मोहरूपी कारणसे होनेवाले विलासका परित्यागकर, इन्द्रिय समुदायका संयमकर, विचारद्वारा सुखी होना चाहिए ।

इस विषयमें हमारे विशुद्ध--चरित--मान्य--पूर्वजोंका कैसा उत्तम आदर्श था । वे शास्त्रीय मर्यादाओंमें रहकर किसप्रकार अपने मनको संयत रखते थे । अतएव उनके शिक्षाप्रद कुछ प्रशस्त--चरित्रोंका यहाँ अनुसन्धान किया जाता है—

विश्वामित्र महर्षिके साथ भगवान् श्रीराम एवं श्रीलक्ष्मण, महाराज जनककी मिथिलापुरीमें जब धनुषयज्ञ देखने गये थे । तब किसीसमय भगवान् श्रीराम, लक्ष्मणजीको साथ लेकर जनककी पुष्पवाटिकामें टहलने गये थे । उससमय वहाँ गौरीपूजनके लिए—सखियोंके साथ आई हुई भगवती जनकनन्दिनी सीताजीको देखकर भगवान् श्रीरामने लक्ष्मणजीसे इसप्रकार कहा था कि—

'तात ! जनकतनया यह सोई, धनुषजग्य जेहि कारण होई ।
पूजन गौरी सखी लै आईं, करत प्रकासु फिरइ फुलवाई ।

जासु विलोकि अलौकिक-शोभा ।
सहज पुनीत मोर मनु छोभा ।
सो सबु कारन जान विधाता ।
फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता ।'

हे-तात लक्ष्मण ! यह वही जनकजीकी कन्या है, जिसके लिए धनुषयज्ञ हो रहा है । सखियाँ इसे गौरीपूजनके लिए ले आयी हैं, यह फुलवाडीमें अपने अनुपम-सौन्दर्यका प्रकाश करती हुई फिर रही है । जिसकी अलौकिक--सुन्दरता देखकर स्वभावसे ही पवित्र मेरा मन क्षुब्ध

होगया है। अर्थात् उसमें अनुराग उत्पन्न होगया है। उसका सब कारण तो विधाता जाने, किन्तु हे भाई! सुनो, मेरे मंगलदायक—दाहिने अंग फडक रहे हैं।

रघुवंसिन्ह कर सहज सुभाऊ।
मनु कुपंथ पगु धरई न काऊ।
मोहि अतिशय प्रतीति मन केरी।
जेहि सपनेहुँ परनारि न हेरी।
जिन्हकै लहहिं न रिपु रन पीठी।
नहिं पावहिं परतिय मनु डीठी।
मंगन लहहि न जिन्हकै नाहीं।
ते नरवर थोरे जग मांही।

रघुवंशियोंका यह सहज अर्थात् जन्मगत स्वभाव है कि—जिनका मन कभी कुमार्गपर पैर नहीं रखता। मुझे तो अपने मनका अत्यन्त ही विश्वास है कि—जिसने जाग्रतकी कौन कहे? स्वप्नमें भी पराई स्त्रीपर दृष्टि नहीं डाली है। रणमें शत्रु जिनकी पीठ नहीं देख पाते, अर्थात् जो युद्धके मैदानसे भागते नहीं, पराई--स्त्रियाँ जिनके मन और दृष्टिको नहीं खींच पातीं, और भिखारी जिनके यहाँसे 'नाहीं' नहीं पाते, अर्थात् खाली हाथ नहीं लौटते, ऐसे श्रेष्ठपुरुष संसारमें थोडे हैं।

भगवान् श्रीरामका, विदेहकुमारी—श्रीजानकीमें इसीलिए ही अनुराग उत्पन्न हो गया था, वह भविष्यमें उनका पाणिग्रहण करेगी—धर्मपत्नी बनेगी। यदि वह धर्मपत्नी न बनती, तो भगवान् श्रीरामके पवित्र--मनमें उसके सौन्दर्यके प्रति कदापि आकर्षण या अनुराग उत्पन्न

नहीं होता। अनुराग द्वारा तथा अंगफडकन द्वारा भगवान् श्रीरामने परोक्षरूपसे लक्ष्मणजीको यह सूचन कर दिया था कि—उसके साथ मेरा विवाह अवश्य होगा।

पवित्र एवं संयमी अन्तःकरणकी गवाही सर्वथा निर्भ्रान्त होती है। अतएव इस विषयमें महाकवि भारविने अपने किरातार्जुनीय नामके महाकाव्यमें ऐसा कहा है कि—'**सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाण-मन्तःकरणप्रवृत्तयः।**' अर्थात् संदेहयुक्त-वस्तुओंके निर्णयके लिए सत्पुरुषोंके पवित्र-अन्तःकरणकी वृत्तियाँ ही प्रमाणभूत हो जाती हैं। क्योंकि—संयमी—महापुरुषोंके हृदयके शुद्धभाव कभी मिथ्या नहीं हो सकते। यह है—आर्यवीर भगवान् मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामका संयमपूर्ण धर्माविरुद्ध मर्यादाका विशुद्ध आदर्श। उनके हृदयमें काम है—अनुराग है, परन्तु धर्मकी मर्यादासे अविरुद्ध।

एवं श्रीलक्ष्मणजीका जीवन भी कितना आदर्शपूर्ण था। श्रीरामकी सेवाके लिए ही वे, अपनी नवयुवती धर्मपत्नीका चौदह मास नहीं किन्तु चौदह वर्षके लिए—परित्यागकर कैसा अच्छा प्रशंसनीय संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं। यह उनके एक चरित्रसे आप समझ सकते हैं—जिस-समय दुष्ट—रावण, भगवती जगदम्बा श्रीसीताजीको आकाशमार्गसे ले जा रहा था, उससमय भगवतीने परिचयके लिए अपने कुछ आभूषण नीचे जमीन पर डाल दिये थे। भगवान् श्रीराम, लक्ष्मणजीके साथ श्री-सीताजीको इधरउधर ढूंढते हुए—उस जगहपर आये, जहाँ वे आभूषण पडे थे। आभूषणोंको देखकर उस समय भगवान् श्रीरामने लक्ष्मणजीसे कहा था कि—हे प्रिय भाई! देखो तो, ये आभूषण किसके हैं? जानकीके

तो नहीं हैं, इनको पहिचानो, उससमय श्रीलक्ष्मणजीने आभूषणोंको देखते हुए—इसप्रकार कहा था—

'नाहं जानामि केयूरे, नाहं जानामि कुण्डले ।
नूपुरे त्वभिजानामि, नित्यं पादाभिवन्दनात् ॥'

मैं श्रीसीताजीके केयूरोंको नहीं पहिचानता, क्योंकि--ये हाथके आभूषण हैं, तथा मैं कुण्डलोंको भी नहीं पहिचानता; क्योंकि—ये कानके आभूषण हैं । इसलिए नहीं पहिचानता हूँ कि—वहाँ तक तो मेरी दृष्टि कभी जाती ही नहीं थी । मैं—केवल इन चरणोंके आभूषण-नूपुरोंको पहिचानता हूँ—क्योंकि-मैं नित्यप्रति श्रीजानकीमाताके चरणोंकी वन्दना करने जाता था, इसलिए मेरी दृष्टि चरणोंकी तरफ जाती थी । इसलिए निश्चयसे मैं कहता हूँ कि—ये नूपुर भगवती श्रीसीताजीके ही हैं ।

प्रिय सज्जनों! ध्यान देवें, श्री लक्ष्मणजीका और स्त्रियोंकी तो क्या बात? किन्तु अपने भ्राताकी पत्नीके विषयमें भी कितना अच्छा—उँच्च कोटिका प्रशंसनीय मनःसंयम था। यह है--सनातन धर्मकी प्रशस्त मर्यादा तथा आर्यजातिका धर्मानुकूल पवित्र-आचारण । इस वर्तमान समयके—देवर भावज आदिके हँसी ठठ्ठा दिल्लगी आदि असभ्य व्यवहारकी—उस पावनव्यवहारसे तुलना करें तो आपको जमीन आसमान--सा अन्तर मालूम पडेगा, स्वर्गका वह पावन दृश्य, नरकके बीभत्स दृश्यसे परिणत हुआ प्रतीत होगा ।

आइये, अब आप अर्जुनके पावन चरित्रको सुनें । अर्जुन गृहस्थ था, अतएव वह सर्वथा निष्काम तो नहीं था । उसके हृदयमें काम था—परन्तु वह धर्मविरुद्ध नहीं था । धर्मविरुद्ध कामको वह सर्वथा

निन्द्य एवं हेय समझता था। और धर्मानुकूल कामको ही वह स्तुत्य एवं उपादेय मानता था।

जिससमय भगवान् कृष्णद्वैपायन--वेदव्यासकी शुभ प्रेरणासे महारथी वीर अर्जुन—स्वर्गमें देवाधिपति इन्द्रसे धनुर्विद्या सीखनेके लिए—गया था। देवराज इन्द्रने अर्जुनसे तब कहा था कि—आप यहाँ स्वर्गमें कुछ रोज निवास करें, यदि आपको उस विद्याके लिए योग्य अधिकारी समझूँगा तो अवश्य उसकी शिक्षा मैं दूँगा। अर्जुन वहाँ देवराजकी सम्मतिके अनुसार एकान्तकी एक अच्छी जगह पर रहने लगा। इन्द्रने उस समय अर्जुनके संयम--सदाचारकी परीक्षाके लिए-उर्वशी नामकी अप्सराको अर्धरात्रिके समय भेजा था। उर्वशी समस्त अप्सराओंमेंसे परम रूपवती एवं युवती थी। उसको अपने सौन्दर्य एवं यौवनका बडा घमण्ड था। वह समझती थी कि—मुझे देखकर बडे बडे देव भी सुधवुध खो बैठते हैं तो इस भूतलवासी साधारण मानवको अपने चंगुलमें फँसाना कौनसी बडी बात है?। इसलिए वह इन्द्रकी प्रेरणासे विविध प्रकारके वस्त्राभूषणोंसे समलङ्कृत होकर अर्जुनको मोहित करनेके लिए उसके निवास स्थानपर पहुँची। वहाँ जाकर उसने द्वार खटखटाया। आवाज सुनकर अर्जुन जागकर उठ बैठा और सोचने लगा कि—इस समय यहाँ कौन आया है? मेरा क्या प्रयोजन है?। स्त्रीके कण्ठकी आवाज सुनकर उसने दरवाजा खोला। वह देखता है कि—दरवाजेपर एक रूपवती युवती खडी है। उससमय अर्जुनने एक साथ उससे इस प्रकार अनेक प्रश्न कर डाले—कि—

'का त्वं शुभे! कस्य परिग्रहोऽसि?
किं वा मदभ्यागमकारणं ते?।'

हे शुभे! तू कौन है?, किसकी भार्या है?, इससमय मेरे समीप आनेका तुम्हारा क्या प्रयोजन है?। यह सब मुझे स्पष्ट बतलायें।

उर्वशी अप्सरा अर्जुनके समीप कुछ विलक्षण भाव लेकर ही आई थी। उसके विलक्षण--हावभाव एवं कटाक्ष देखकर बुद्धिमान् अर्जुन तुरन्त ही समझ गया कि—अवश्य कुछ दालमें काला है। किसी बुरी नियतसे यह यहाँ आई मालूम होती है। उससमय अर्जुन गंभीर एवं शान्त होकर वीररससे सने हुए शब्दोंसे इसप्रकार कहने लगा कि—

'आचक्ष्व मत्वा वशिनां कुरूणां,
मनःपरस्त्रीविमुखप्रवृत्तिः।'

हे देवि! तुझे यह भी याद रखना चाहिए--कि--हम भारतवासी हैं, आर्यसन्तान हैं, और इसमें भी हम पवित्र कुरुवंशमें उत्पन्न हुए हैं, इसलिए हमारे मन दूसरोंकी स्त्रियोंकी तरफ कदापि नहीं झुक सकते।

इतना कहनेपर भी उर्वशीने जब निर्लज्ज होकर शब्दोंद्वारा भी अपना गन्दाभाव प्रकट किया, और अपनी मायाजालमें फँसानेके लिए कामुकतापूर्ण--ढंगसे अनेक प्रकारके स्पष्ट हावभाव भी किये। तो भी शान्तभावसे—सिरको नीचाकर अर्जुन चुपचाप खडा रहा। उसके पवित्र मनमें किसी भी प्रकारका विकार न होता देखकर उस समय वह हताश होकर कहने लगी कि—हे अर्जुन! मेरी बात न मानकर तू बडी मूर्खता कर रहा है, तू मुझे पहिचानता तो तू ऐसी कभी मूर्खता न करता। मैं स्वर्गलोककी सभी अप्सराओंमेंसे श्रेष्ठ अप्सरा हूँ। मेरे जैसी रूपयौवन--सम्पन्ना सुन्दरी तीन लोकमें भी और कोई नहीं है। बडे बडे देव भी मेरी कृपादृष्टिकी चाह रखते हैं। मैं त्रैलोक्यसुन्दरी ऊर्वशी हूँ।

भूतलवासी मनुष्यके लिए मेरी प्राप्ति तो दूरकी बात रही, परन्तु मेरा दर्शन भी दुर्लभ है। अतः तू मेरा अनादरकर अपनी मूर्खताका ही प्रदर्शन कर रहा है। उसकी ऐसी बातें सुनकर **'मातृवत् परदारेषु'** का भाव प्रकट करता हुआ अर्जुन कुछ आश्चर्यके साथ उसके प्रति इस प्रकार कहने लगा कि—हे देवि! मैं अभी तक तो यही मानता था कि—तीनों लोकों में मेरी माता कुन्ती देवी के समान सुन्दरी स्त्री और कोई नहीं है। इसलिए—मुझे इस बात पर बडा गर्व था कि—मैं एक परम--रूपवती त्रैलोक्य—सुन्दरी माताका पुत्र हूँ। यदि तू मेरी मातासे भी अधिक सुन्दरी है तो, जगन्नियन्ता भगवान् तुम्हारे उदरसे मेरा जन्म करता तो, मैं अपनेको और भी अधिक गौरवान्वित एवं धन्य मानता।

अर्जुनके ऐसे मार्मिक--वचन सुनकर उर्वशी लज्जित हो गई। उसका खिला हुआ चेहरा मुरझा गया। कुत्सित--भाव प्रकट करनेके लिए अब उसके मुखमें ताला—सा लग गया। सिर नीचाकर चुपचाप खडी हुई उर्वशी के प्रति अर्जुनने फिर भी मातृभाव प्रकट करते हुए इस प्रकार कहा—

'गच्छ मूर्ध्नि प्रपन्नोऽस्मि पादौ ते वरवर्णिनि!।
त्वं हि मे मातृवत्पूज्या रक्ष्योऽहं पुत्रवत्त्वया॥'

हे अत्यन्त--रूपवती देवि! कृपया तू यहांसे लौट जा। मैं तुम्हारे चरणोंको अपने मस्तकमें रखकर उनकी शरण लेता हूँ। तू मेरी माताके समान पूज्य है, इसलिए मैं तुम्हारे द्वारा पुत्रके समान रक्षण करने योग्य हूँ।

तुम जिस निन्दनीय इच्छा लेकर यहाँ आई हो, उसकी पूर्ति मेरे

द्वारा तीन कालमें भी नहीं हो सकती। हे दयाशील देवि! हम भारत-वासी हैं, आर्य--संतान हैं, शुद्ध--क्षत्रिय वंशमें उत्पन्न हुए हैं, जिसमें--विश्वविख्यात बालब्रह्मचारी भीष्म जैसे धर्मवीर पैदा हुए हैं। इसलिए मैं धर्मविरुद्ध--आचरण द्वारा अपने पावन देश, पवित्र आर्य--ज़ाति, एवं विशुद्ध--क्षत्रिय वंशको कभी कलंकित नहीं होने दूँगा। ऐसा निन्दित--आचरण करनेपर तो मैं सदाके लिए नरकका कीडा बन जाऊँगा, लोग मेरी मुक्त--कण्ठसे निन्दा करते रहेंगे। इसलिए तू मुझे अपना पुत्र समझ, मेर पर कृपादृष्टि रख, आशीर्वाद देकर यहाँसे विदा हो। अर्जुनके ऐसे पवित्र, निःस्पृह एवं धर्मयुक्त--वचन सुनकर उर्वशी अपना--सा फीका मुँह लेकर इन्द्रके समीप वापस लौट गई। और इन्द्रके समक्ष आर्यवीर अर्जुनके धर्मानुकूल--पवित्र--आचरणकी भूरि भूरि प्रशंसा करने लगी।

अर्वाचीन युगके भारत--सम्राट् विक्रमादित्यको कौन नहीं जानता?। वे बडे प्रजावत्सल, परोपकारी एवं धर्मनिष्ठ थे। अतएव उनको जनता जनार्दनने **'परदुःखभञ्जन'** ऐसा प्रशंसनीय--बिरुद (टाईटल) प्रदान किया था। इसलिए वह बडे हर्षके साथ परदुःखभञ्जन--विक्रमादित्यके नामका जयकारा लगाती रहती थी। उनके पावन नामकी स्मृतिके लिए विक्रम संवत्‌को चालु कर दिया था, जो अभीतक चलता आ रहा है। स्वदुःखभंजन करना कौन नहीं जानता? सभी जानते हैं, परन्तु परदुःखभञ्जन करना, साधारण व्यक्तिका काम नहीं है। परदुःखोंका भंजन वही नरवर कर सकता है कि--जो धर्मनिष्ठ संयमी एवं भगवद्भक्त है। विक्रमादित्य इसलिये परदुःखभंजन हो सके थे कि--वे धर्मनिष्ठ--संयमी एवं भगवद्भक्त थे। ये सद्गुण आप उनके चरित्रसे समझ सकते हैं।

जब वे नवयुवक थे, उनके बडे भाई भर्तृहरिजी—राज्यसिंहासनमें आरूढ थे। वे केवल नवयुवक ही नहीं थे, किन्तु मनको मुग्ध करने वाले उत्तम कोटिके परम--सुन्दर भी थे। लोग, उत्तम—मध्यम—एवं कनिष्ठ तीन कोटिके सुन्दर होते हैं। कनिष्ठ कोटिका सुन्दर वह है—जो शरीरसे ही सुन्दर है—मनसे नहीं। उसकी सुन्दरता इसप्रकार की है—

'मन मलिन तन सुन्दर कैसे ?।
विष–रस भरा कनक–घट जैसे ॥'

जो शरीरसे सुन्दर नहीं है—काला--कलुटा है—परन्तु मनसे बडा सुन्दर है—जिसके मनमें पवित्र--विचारोंकी पावन मंदाकिनी हरदम बहती रहती है—वह मध्यम कोटिका सुन्दर माना गया है। तथा जो शरीरसे भी सुन्दर है, तथा मनसे भी। वह उत्तम कोटिका प्रशस्त तम-सुन्दर माना गया है। हमारे विक्रमादित्य भी ऐसे ही सुन्दर थे।

उनकी सुन्दरता देखकर उनके बडे भ्राता—महाराजा भर्तृहरिकी महारानी पिंगला भी मोहमुग्ध हो गई थी। इसलिए उनको अपने फन्देमें फँसानेके लिए उसने बहुत अनुनय विनय की। अनेक उपाय किये। तो भी वह किसी-प्रकार सफल न हो सकी। आखिर उसने महाराणीत्वके गर्वसे धमकी भी देना शुरु किया; परन्तु विक्रमादित्य उस अपने ज्येष्ठ—भ्राताको--पत्नीमें मातृभाव प्रकट करते हुए विनयके साथ इसप्रकार कहने लगे कि—हे माताके समान पूजनीय देवि! इस विक्रमादित्यके द्वारा चाहे प्राण भी चले जाँय तो भी—धर्मविरुद्ध—निन्दनीय आचरण कदापि नहीं हो सकता। प्राण समर्पण करने पर भी यदि धर्मका पालन होता है-तो—बडे हर्षके साथ धर्म रक्षाके लिए

प्राणोंका उत्सर्ग कर देना चाहिये। प्राण बचानेके लिए भी कभी धर्मका नाश नहीं होने देना चाहिए। इसलिए—हमारे प्रामाणिक--धर्मशास्त्रोंमें ऐसा ही कहा है कि—

'न जातु कामान्न लोभान्न मोहात्
धर्मं जह्यात् जीवितस्यापि हेतोः।'

(महाभारत)

काम, लोभ, एवं मोहके वशमें होकर कभी भी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिए। और तो क्या? जीवनके लिये भी—धर्मका नाश नहीं होने देना चाहिए। जीवन जाता है--तो जाने देना चाहिए, परन्तु धर्मको किसी कष्टमयी दशामें भी नहीं जाने देना चाहिए। अतः हे देवि! तुम भी धर्म-विरुद्ध--निन्दनीय--आचरण मत करो, मेरे तथा अपने पर कृपादृष्टि रक्खो।

अपने देवर विक्रमादित्यके ऐसे धार्मिक वचन सुनकर भी उसके हृदयमें शान्तिके बदले अपनी मूढताके कारण 'सर्पके पयःपानके समान' क्रोध उत्पन्न हुआ। और उसने अपने पति—महाराज भर्तृहरिके प्रति निर्दोष विक्रमादित्यकी झूठी शिकायत कर उसको वनमें निवास करने की आज्ञा दिलाई। विक्रमादित्य अपने ज्येष्ठ भ्राताकी आज्ञा शिरोधार्य कर प्रसन्न-मनसे वनमें चले गये। वहाँ भी वे पावन-नदी-पुलिनके किसी एकान्त स्थानमें निवास करने वाले—वीतराग—विद्वान् महात्मा-ओंके दर्शन एवं सत्संग, तथा शिवभक्ति एवं तत्त्वविचार करते हुए अपनेको धन्य समझते थे। और अपने आराध्य देवसे कहते थे कि—

'उसमें हैं हम राजी, जिसमें तेरी रजा(इच्छा) हो,
इधर भी वाह वाह, और उधर भी वाह वाह।'

वनमें इधर-उधर भ्रमण करते हुए-वे किसी समय एक आरण्यक भील-राजाके अतिथि हुए थे। वे सुन्दर एवं युवक तो थे ही, इसलिए उस भील-राजाकी राणी भी उनके प्रति-आकृष्ट होकर एकान्तमें प्रेम प्रकट करती हुई इसप्रकार प्रार्थना करने लगी थी कि-'मैं बहुत दुःखी हूँ, दुःखनिवारणके लिए आपसे आपके जैसा सुन्दर पुत्र-उत्पन्न करना चाहती हूँ, अतः आप मेरी इस प्रार्थनाको अवश्य सफल करें।' उसकी ऐसी धर्मविरुद्ध-अनुचित बात सुनकर धर्मनिष्ठ, जितेन्द्रिय, शिवभक्त-विक्रमादित्यने एक श्लोक बोलकर उसके विह्वल मनको इसप्रकार शान्त कर दिया था कि—

'माता च पार्वती देवी, पिता देवो महेश्वरः।
बान्धवाः शिवभक्ताश्च स्वदेशो भुवनत्रयम्॥'

मेरी माता भगवती पार्वती देवी है, और पिता भगवान् महेश्वर है। शिवके भक्त मेरे बान्धव हैं, और तीन भुवन मेरा स्वदेश है।

मेरी माताका नाम पार्वती है, और तेरा भी नाम पार्वती है, इस-लिए तू निश्चयसे मेरी माता हो गई। सम्भव है कि-मेरे द्वारा मेरे जैसा पुत्र उत्पन्न न भी हो सके-तथा उसके लिए-धर्मविरुद्ध- निन्दित कार्य भी करता पडता है-जिसकी मेरे लिए स्वप्नमें भी कल्पना नहीं हो सकती। तुझे मेरे जैसे पुत्रकी आवश्यकता है, तो 'जैसे' को छोडकर साक्षात् मुझे ही तू अपना पुत्र मान ले। आजसे मैं तेरा पुत्र हो गया। इसलिये मैं पुत्रके समान तुझ माताके चरणोंमें श्रद्धापूर्वक वन्दन करता हूँ। विक्र-मादित्यकी ऐसी-धर्म एवं युक्तियुक्त बात सुनकर वह लज्जित हो गई, और वह कुत्सित-भावका परित्यागकर विक्रमादित्यको तबसे अपने पुत्रके

समान—निर्दोष प्यार करने लगी। इसप्रकार विक्रमादित्य बडे संयमी थे, धर्मविरुद्ध—निन्दनीय कामका मर्दन कर वे सदा पवित्र धर्मका ही पालन करते थे।

धर्मविरुद्ध—निन्दनीय उच्छृङ्खल कामका मर्दन करनेके लिए—शुद्ध-वातावरण, सात्त्विक--आहार, शुभ—संगति, भगवद्भक्ति, विवेकविचार आदि अनेक-साधनोंकी आवश्यकता होती है। इन साधनोंके विना कोई भी धर्मविरुद्ध--कामका मर्दन नहीं करसकता। यह प्राणी काममय है। पद पद पर काम आकर खडा हो जाता है। अतः उसके निवारणके लिए प्रतिपल पवित्र--विचारोंकी मंदाकिनी बहाते रहना चाहिये। जिसकी आपात--रमणीयता पर तथा—सुखभावना पर मानव आकृष्ट होकर धर्म विरुद्ध आचरण कर पाप एवं अपयशका संचयकर बहुत दुःखी होता है। अतएव कवि—कुलगुरु—कालिदासने—भ्रान्त मानवोंको अन्योक्तिके द्वारा उपदेश देनेके लिए भ्रान्त--भ्रमरके वृत्तान्तका वर्णन इसप्रकार किया है—

‘गन्धश्चास्या भुवनविदितः केतकी स्वर्णवर्णा,
पद्मभ्रान्त्या चपलमधुपः पुष्पमध्ये पपात।
अन्धीभूतः कुसुमरजसा कण्टकैर्लूनपक्षः,
स्थातुं गन्तुं द्वयमपि सखे! नैव शक्तो द्विरेफः॥’

केतकी--पुष्प सुवर्णके समान पीतवर्ण है, और उसकी सुगन्धि अत्यन्त उत्कृष्ट, विश्वविदित है, इसलिए पुष्पमधुलुब्ध--भ्रमर उस पुष्पके बीच, कमलकी भ्रान्तिसे कूद पड़ता है। अर्थात् उसका आपात--रमणीय रंग देखकर, तथा उसकी सुगन्धिसे आकृष्ट होकर उसकी वास्तविकताको

न जानकर उसमें गिर जाता है, और उसको सुखके बदले दुःख मिलता है। उस पुष्पके पराग, उसकी आखोंमें घुस जाते हैं, इसलिए वह अन्धा बन जाता है। तथा उसके कांटोंसे उसकी पांखें छिद जाती हैं। ऐसी हालतमें वह भ्रान्त–भ्रमर, बैठने एवं चलनेके लिए समर्थ नहीं होता; वहां ही उसे अनेक–प्रकारका कष्ट भोगकर मर जाना पडता है। उस प्रकार यह भ्रान्त मानव भी–शव्दादि–विषयोंकी आपात रमणीयताको देखकर तथा उनमें सुखभावनाकर अपना सर्वनाश कर वैठता है। भ्रान्तिसे समझता है कि–इनके द्वारा मुझे बडी तृप्ति एवं बडा सुख मिलेगा। परन्तु उसे तृप्तिके बदले बडी–तृष्णा और सुखके बदले प्रचुर–दुःख ही मिलता है।

अतएव श्रीमद्भागवतके सप्तम–स्कंधमें भगवान् श्रीनृसिंहकी स्तुति करते हुए भक्तप्रवर प्रह्लादजीने कहा था कि—

'यन्मैथुनादि गृहमेधिसुखं हि तुच्छं,
कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम्।
तृप्यन्ति नेह कृपणा बहुदुःखभाजः,
कण्डूतिवन्मनसिजं विषहेत धीरः॥'
(७।९।४५)

हे प्रभो! गृहस्थके जो मैथुनादि विषय–सुख हैं, वे खुजलीके समान हैं। जिस प्रकार हाथोंसे खुजाने पर खुजलीमें प्रथम कुछ चैन पडने पर भी फिर अधिकाधिक–जलनका दुःख ही बढता है। उसी प्रकार ये विषयभोग, अत्यन्त तुच्छ एवं दुःखोंके ही बढाने वाले हैं। किन्तु–भ्रान्त जन, अनेकों दुःख भोगने पर भी इनसे तृप्त नहीं होते।

परन्तु—इनके लिए—तृष्णावश—दीन ही बने रहते हैं। अतः धीर—विवेकी पुरुष—विचार द्वारा खुजलीके समान कामादिके वेगोंको सहन कर लेता है। उनके वशमें नहीं होता।

इसप्रकार जो विवेक—वैराग्यादि द्वारा धर्म—विरुद्ध कामका मर्दन कर धर्मानुकूल भगवत्स्वरूप कामका सेवन करता है, उसे अवश्य, भक्ति एवं ज्ञानद्वारा मोक्षकी सिद्धि होती है।

(१२)

'ये चैव सात्त्विका भावाः, राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि, न त्वहं तेषु ते मयि॥'

(गी. ७। १२)

जो ये सात्त्विक, राजस तथा तामस भाव हैं, ये सब मेरेसे ही हुए हैं, ऐसा जान, और ये सब मेरे में रहते हैं, परन्तु मैं उनमें नहीं रहता।

आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्ण उपदेश देते हैं कि—चित्तके भीतर तीन—प्रकारके भाव देखे जाते हैं; शम, दम, धर्म, ज्ञान, वैराग्य आदि सात्त्विक—भाव हैं, सत्त्वगुणकी अभिवृद्धि होने पर ये भाव प्रकट होते हैं। द्वेष, दर्प, लोभ, प्रवृत्ति आदि राजस भाव हैं, रजोगुणकी अभिवृद्धि होने पर ये भाव प्रादुर्भूत होते हैं। तथा शोक, मोह, निद्रा, आलस्य आदि तामस—भाव हैं, तमोगुणकी अभिवृद्धि होने पर ये भाव उत्पन्न होते हैं। सात्त्विक—भाव सुख, तथा राजस—भाव दुःख देते हैं, और तामसभाव, मोह बढाते हैं। हृदयमें सत्त्व, रज तथा तम, इन तीनों गुणोंका प्रतिक्षण युद्ध होता रहता है। वे एक दूसरेको परास्त करते

हुए एक दूसरेके ऊपर अपना शासन कायम करते रहते हैं। कभी तमोगुण, सत्त्व एवं रज को दबाकर विजयी होता है, उस समय आप अकेला ही बढा चढा रहता है, और इन दोनोंको अपने अधीन कर लेता है। कभी मौका आने पर रजोगुण विजयी होजाता है, उससमय सत्त्व एवं तमको दबना तथा उसके अधीन होना पडता है। एवं कभी सत्त्वगुण विजयी हो जाता है, तो उससमय रजःतमको दबना तथा उसके अधीन होना पडता है। इसप्रकार प्राणियोंके हृदयमें—अविद्या काम—एवं कर्मोंके अनुसार तीनों गुणोंका युद्ध तथा तीनों भावोंका—आविर्भाव—तिरोभाव अनादिकालसे होता चला आ रहा है।

जैसे हृदयमें भाव होते हैं, उनके अनुसार ही संसारके पदार्थ, कभी प्रियरूपसे, कभी अप्रियरूपसे, कभी सुखरूपसे, कभी दुःखरूपसे, कभी मित्ररूपसे तथा कभी शत्रुरूपसे प्रतीत होते हैं। इसलिए इन पदार्थोंमें—सुखदुःख—प्रियाप्रियादि द्वन्द्व नहीं हैं। किन्तु चित्तके शुभाशुभभावोंमें ही द्वन्द्व भरे हुए हैं, हैं ये वस्तुतः अन्दर, परन्तु उनका बाहरके पदार्थोंमें आरोप किया जाता है।

इसलिए विद्वान्—आचार्योंने कहा है—

'मित्रोदासीनशत्रुत्वं, यथैकस्यान्यकल्पनात् ।

(सुरेश्वराचार्य)

'वस्त्वेकमेव दुःखाय, सुखायेर्ष्योद्भवाय च ।
कोपाय च यतस्तस्माद्, वस्तु वस्त्वात्मकं कुतः ॥

तस्माद् दुःखात्मकं नास्ति, न च किञ्चिद् सुखात्मकम् ।
चित्तस्वभावानुसारेण कल्प्यते विविधं हि तत् ॥

प्राणियोंकी भिन्न-भिन्न कल्पनाओंसे एक ही वस्तु, कभी मित्ररूपसे; कभी शत्रुरूपसे एवं कभी उदासीन रूपसे प्रतीत होती है। पदार्थ एक ही है, वह कभी किसीको एक ही समयमें दुःख तो, किसीको सुख देता है। कभी किसीके ईर्ष्याका तथा क्रोधका भी कारण हो जाता है। ऐसा क्यों? विचार करने पर मालूम होगा कि--वह पदार्थ वस्तुतः न दुःखरूप है; न सुखरूप है, चितके भावोंके अनुसार--उस एकमें ही अनेक प्रकारके परस्पर--विरुद्ध प्रियत्वाप्रियत्व सुखरूपत्व--दुःखरूपत्वादियोंका आरोप होता है। इसलिए यह विचित्ररूपसे प्रतीयमान पदार्थ, वास्तविक नहीं है, किन्तु आरोपित है, चित्तको कल्पनासे ही उसका अस्तित्व है।

इसलिए मैत्रेय्युपनिषद्में बृहद्रथ नामके राजाके प्रति महर्षि शाकायन्यने कहा है कि—

'चित्तमेव हि संसारः, तत्प्रयत्नेन शोधयेत्।
यच्चित्तस्तन्मयो मर्त्यो गुह्यमेतत् सनातनम्॥'

त्रिगुणात्मक—भावोंवाला चित्त ही संसार है, मैं कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी, इत्यादि भावोंका ही दूसरा नाम संसार माना गया है, ईंट-पत्थर-मकान-स्त्री-पुत्रादिका नाम संसार नहीं। इसलिए विवेक-वैराग्य-ब्रह्मविचार आदि साधनों द्वारा उस चित्तका ही प्रयत्नके साथ संशोधन करना चाहिए। क्योंकि—जैसा चित्त होता है, वैसा ही मरण-धर्मा प्राणी हो जाता है। चित्तमें अच्छे भाव होते हैं, तो वह अच्छा बन जाता है, बुरे भाव होते हैं तो बुरा बन जाता है। सांसारिक-कर्तृत्व, भोक्तृत्वादिके भाव भरे हैं—तो वह सुखी-दुःखी मरनेवाला—जन्मने-

वाला संसारी ही बना रहता है। एवं यदि पारमार्थिक नित्य—शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, असंग-अद्वय पूर्णानन्दरूप ब्रह्मभाव भरे हैं तो वह बना-बनाया ब्रह्म ही हो जाता है; यह वेदान्तका सनातन गुह्य रहस्य है।

एवं पूज्यपाद-गौडपादाचार्य भी कहते हैं-कि—

'मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत्किञ्चित् सचराचरम्।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते॥'

(माण्डूक्योपनिषत्—अद्वैत—प्रकरण० ३१)

यह जो कुछ चराचर जगद्रूप द्वैत है, वह सब मनका दृश्य है, अर्थात् अविद्या—कामादि द्वारा विकल्पित होनेवाले मन द्वारा दिखाई देने योग्य है, इसलिए यह सम्पूर्ण द्वैत-प्रपञ्च, मन ही है, ऐसा निश्चय करना चाहिए। क्योंकि—मनके रहने पर यह रहता है, और मनके न रहने पर सुषुप्ति एवं समाधि—दशामें इस द्वैतकी कुछभी उपलब्धि नहीं होती। इसलिए द्वैत—प्रपञ्चकी कल्पनाके अतिरिक्त वास्तविक सत्ता सिद्ध नहीं होती।

'भावैरसद्भिरेवायमद्वयेन च कल्पितः।
भावा अप्यद्वयेनैव तस्मादद्वयता शिवा॥

(मा. उ. वैतथ्य—प्रकरण ३३)

वह एक ही अद्वय-आत्मा, प्राणादि—अनेक—असद्भावोंसे तथा अद्वैतरूपसे कल्पित है। इन असद्भावोंकी भी अद्वैतसे ही कल्पना की गयी है। इसलिए अद्वैतभाव ही कल्याणमय है। जिस प्रकार रज्जुमें अविद्यमान सर्प धारा आदि-भावोंसे तथा विद्यमान रज्जु द्रव्यसे 'यह सर्प है, यह धारा है, यह दण्ड है, इस प्रकार रज्जु द्रव्यकी ही अनेक

रूपोंसे कल्पना की जाती है। उस प्रकार असंख्य-प्राणादि (जो परमार्थसे विद्यमान नहीं हैं) भावोंसे-अविद्या द्वारा एक-अद्वय आत्मा ही विकल्पित होता है। आत्मा निश्चल-पूर्ण है, अतः उसमें-किसीभी प्रकारका प्रचलन नहीं हो सकता। चित्त, सत्त्वादि गुणोंका कार्य होनेके कारण चलायमान है, अतः उसमें ही ये द्वैतभाव उपलब्ध होते हैं, चित्तके चलायमान न होने पर अर्थात्-ब्रह्मभावमें विलीन हो जाने पर-कोईभी द्वैतभाव उपलब्ध नहीं होता, इसलिए ये सब भाव, चित्त-कल्पित हैं, परमार्थ-सत्य नहीं हैं, ऐसा दृढ-निश्चय होता है। कोईभी कल्पना निराधार नहीं होती, उसका कोई न कोई अधिष्ठान मानना ही पडता है। जिस प्रकार सर्पादि-कल्पनाका अधिष्ठान रज्जु है, उस प्रकार द्वैत-प्रपञ्चकी कल्पनाका अधिष्ठान अद्वय ब्रह्म है। और उस अधिष्ठान अद्वय स्वरूपका कभी व्यभिचार नहीं होता। वह सदा-ज्योंका त्यों कल्पनाके समय भी अवस्थित रहता है। इसलिए मिथ्या-द्वैत-कल्पना अनर्थकारिणी होनेसे अमङ्गलमयी है, और सत्य, अमृत, अभय एवं आनन्दरूप होनेके कारण अद्वयता ही मङ्गलमयी है, अतः उसकी ही दृढ-निष्ठा सम्पादन करनी चाहिए।

जैसे भाव होते हैं, वैसा ही यह जगत् दीखता है। अविद्याके अहंममादि-मिथ्याभाव होने पर, मोह-शोक पूर्ण यह संसार प्रतीत होता है, विद्याका सत्य-ब्रह्मभाव होने पर अखण्ड-एकरस-आनन्द-पूर्ण ब्रह्म ही सर्वत्र बाहर-भीतर प्रतीत होता है, मिथ्या संसार गायब हो जाता है। पदार्थ, एकरूपसे अवस्थित रहता है; परन्तु काल्पनिक-भावोंके भेदसे वह अनेक-रूपसे प्रतीत हो जाता है, इस-विषयमें यह लौकिक

उदाहरण भी है—

कल्पना करो कि—एक—स्थान पर एक युवती स्त्री खडी है, उसके चारों तरफ जुदे जुदे भाववाले सात व्यक्ति खडे हैं। वे उस एक स्त्रीको अपनी जुदा जुदी दृष्टिद्वारा अनेक रूपसे देखते हैं। एक तरफ उसका पिता खडा है, उसका उस स्त्रीके प्रति--पुत्री होनेके कारण वात्सल्यभाव है, इसलिए वह उसको निर्विकार प्यार--भरी दृष्टिसे देखता है। तथा दूसरी तरफ उसका पति खडा है, उसका उसमें कान्ताभाव है, इसलिए वह उसको विकारवाली प्यार—भरी दृष्टिसे देखता है। तीसरी तरफ उसका एक छोटा-सा दो वर्षका पुत्र खडा है। उसका उसके प्रति मातृभाव है, इसलिए वह उसको निर्दोष—प्रेमवाली—दृष्टिसे देखता है। चौथी तरफ उस स्त्रीकी सौत (सपत्नी) खडी है। उसका उसके प्रति बडा द्वेषभाव है। इसलिए वह उसको 'अंगारोंसे भरी हुई अंगीठीके समान' हृदयको खूब सन्ताप देनेवाली समझती है। अतएव उसकी दृष्टिमें वह स्त्री किसी और रूपसे दिखाई दे रही है। पिता, पति एवं पुत्रके समान उसमें उसको किसी भी प्रकारका प्यार नहीं दीखता। किन्तु प्यारका विरोधी द्वेषभाव ही दीखता है। पाँचवी तरफ एक बदमाश कामी खडा है, वह अपनी कुत्सित—दृष्टिसे उसको किसी और रूपसे देखता है। उसका उसके प्रति प्यार तो है, परन्तु पतिके समान, वह प्यार, सुख देनेवाला नहीं है। किन्तु वह अप्राप्त होनेके कारण संताप बढाने वाला प्यार है। क्योंकि--अप्राप्त—प्रिय—वस्तु, संताप देती है, यह प्रसिद्ध है। छठी तरफ एक भूखा चीता (शेर) खडा है--वह उसको लड्डू--जलेबीके समान भक्ष्यरूपसे देखता है। वह प्रतीक्षा

कर रहा है कि--कब मौका मिले और इसको मैं चट्ट कर जाऊँ। इसका ताजा गरमागरम खून पीकर तथा स्वादु--मांस खाकर संतृप्त होजाऊँ। सातवीं तरफ एक वीतराग--तत्त्वदर्शी--संन्यासी खडा है, वह उसको किसी और दृष्टिसे देखता है--उसकी दृष्टिमें न तो पति आदिका प्यार है, न सौतका द्वेष है, न कामीका मोह है, न चीता जैसा भक्ष्यभाव है। किन्तु वह नासरूपकी दृष्टिसे उस स्त्रीके शरीरको मलमूत्रका गंदा थैला समझता है--या अस्ति--भाति--प्रिय--दृष्टिसे उसको ब्रह्मस्वरूप समझता है। पदार्थ एक है--परन्तु भिन्न भिन्न भावोंवाली दृष्टियोंके भेदसे वह अनेक रूपसे दीखता है। उस एकमें इस अनेक--रूपताका आरोप है, कल्पना है, अनेक--दृष्टिसे देखने पर भी वह ज्योंका त्यों अवस्थित है। इन सातों व्यक्तियोंमें से पिता--पति आदिमें सुख देनेवाला सात्त्विक भाव है, सौतमें दुःख देनेवाला राजसभाव है। कामी आदिमें मोह बढाने वाला तामसभाव है। तथा यति--संन्यासीमें त्रिगुणातीत ब्रह्मभाव है। या वास्तविक--भाव है।

लोकमें कहावत है कि--'**आप अच्छा तो सब जग अच्छा, आप बुरा तो सब जग बुरा।**' अर्थात् अच्छे--भाववाले सज्जनको सब जगत् अच्छा दीखता है, तथा बुरे--भाववाले दुर्जनको सब जगत् बुरा दीखता है। हस्तिनापुरमें एक -समय सब राजाओंकी सभा हुई थी। उसमें कौरव, पाण्डव तथा भारतके सभी राजा इकट्ठे हुए थे। उस समय किसीने दुर्योधनसे पूछा था--कि--यहाँ आये हुए ए राजा लोग कैसे हैं? दुर्योधनने मुँह बिगाडकर कहा कि--ये राजा लोग सब दुष्ट हैं, बदमाश हैं, इनमें एक भी सज्जन नहीं।

फिर उससे पूछा गया कि- ये महाराज युधिष्ठिरं तो अच्छे हैं न? दुर्योधन व्यङ्गच कसता हुआ बोला--कि यह युधिष्ठिर--ऊपर ऊपरसे भला आदमी बगुला--भगतका जैसा मालूम होता है, परन्तु वह भी बडा दुष्ट है। '**पथिका नैव जानन्ति, जानन्ति सहवासिनः।**' पथिक लोग इसको नहीं जानते, किन्तु सहवासी ही जानते हैं--कि यह कैसा है?।

उस समय किसीने महाराज युधिष्ठिरसे पूछा कि—हे राजन्! इस सभामें आए हुए राजा लोग कैसे हैं? युधिष्ठिरने कहा—ये राजा लोग सबके सब अच्छे हैं, सज्जन हैं, कोई खराब नहीं? फिर पूछा कि—यह दुर्योधन कैसा है?। युधिष्ठिरने कहा कि--यह भी सज्जन है, भला है, लोग इसे व्यर्थमें ही दुर्योधन कहते हैं--मैं तो इसको सुयोधन ही कहता हूँ, दुर्योधन कभी नहीं कहता।

एक गाँवके प्रान्त—भागमें एक बुद्धिमान् वृद्ध बैठा हुआ सूत कात रहा था। उसके समोप एक मुसाफिर आया, और बोला-वृद्धजी! बतलाइये--इस गाँवमें कैसे लोग रहते हैं, अच्छे कि--खराब?। उस वृद्धने कहा कि--प्रथम तुम यह बतलाओ कि--तुम किधरसे आ रहे हो? उसने २० मील दूरके एक ग्रामका नाम बतलाकर वहाँसे अपना आगमन बतलाया। वृद्धने पूछा कि--तुम वहाँ कितने रोज रहे, उसने कहा--छः मास। वृद्धने फिर पूछा कि--उस ग्रामके लोग कैसे हैं?। उसने नाक--भौं सिकोडकर कहा कि--वहाँके लोग बड़े खराब हैं, दुष्ट हैं, लडाकू हैं, वहाँ रहकर मैं बड़ा हैरान हो गया। तब उस वृद्धने कहा कि--भाई! इस ग्रामके लोग भी खराब ही हैं--अच्छे नहीं हैं। तुम यहाँ रहकर हैरान ही हो जाओगे। वृद्धकी बात सुनकर वह

वहाँसे चलता बना।

एक घण्टेके बाद उस वृद्धके समीप एक और पथिक आया। उसने भी वैसा ही ग्रामके लोगोंके विषयमें पूछा। वृद्धने उससे भी वही पूछा कि—तुम किधरसे आ रहे हो, वहाँ कितने रोज रहे, वहाँके लोग कैसे हैं? उसने प्रसन्नताके साथ ग्रामका नाम आदि बतलाकर कहा कि-उस ग्रामके लोग बड़े ही भले हैं, वहाँ मैं एक—वर्ष तक रहा-- खूब सुख पाया; उन लोगोंकी सज्जनता तथा प्रेमभावको यादकर मुझें रोमाञ्च हो जाते हैं, बड़ी कठिनाईसे मैं वहाँसे आया हूँ, वे भले—लोग मुझे आने ही नहीं देते थे। उसका उत्तर सुनकर वृद्धने कहा कि-- इस ग्रामके लोग भी बड़े अच्छे एवं सज्जन हैं। यहाँ रहकर तुम खूब सुख पाओगे।

इन संवादोंका यही तात्पर्य है कि--हृदयके अच्छे—पवित्र भाव, सर्वत्र अच्छाई दिखाते हैं, सुख एवं प्रसन्नता बढ़ाते हैं, तथा बुरे—भाव, बुराई दिखाते हैं, दुःख एवं शोक बढाते हैं। इस प्रकार भीतरके सात्त्विक—भाव सुखके, राजस—भाव दुःखके तथा तामस—भाव मोहके हेतु होते हैं। बाहरका कोईभी पदार्थ न तो सुख देता है न दुःख, मनके अच्छे बुरे भाव ही सुख दुःख देते रहते हैं। इसलिए कहा है कि—

‘सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता,
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
अहं करोमीति वृथाऽभिमानः,
स्वकर्म-सूत्र-ग्रथितो हि लोकः॥’

सुख दुःखका दाता और कोई बाहरका पदार्थ नहीं है। अन्य

पदार्थ सुख-दुःख देता है, ऐसा मानना कुबुद्धि है। अर्थात्—हृदयके शुभाशुभ—भाव ही सुखदुःख देते हैं। 'मैं करता हूँ' ऐसा मानना वृथा अभिमान है। वस्तुतः जड—देहादिमें तथा शुद्ध—आत्मामें कर्तृत्वादि नहीं है, अविद्यासे ही—आत्मामें कर्तृत्वादि—भावोंका आरोप होता है। अपने अपने शुभाशुभ--कर्मरूपी सूत्रसे सब बँधे हैं, इन कर्मोंके कारण अविद्या एवं वासनाएँ हैं, उनके द्वारा ही जीव अनेक प्रकारके सुख-दुःखादियोंका अनुभव करता है।

चित्तके ये सभी, सात्त्विक, राजस एवं तामस—भाव, अन्तर्यामी मुझ भगवान्की सत्तासे ही प्रादुर्भूत होते हैं, मेरी प्रेरणा (चैतन्य--स्फूर्ति) प्राप्त करके ही बाहरके पदार्थोंको निमित्त बनाकर सुखदुःख प्रदान करते रहते हैं। वे सब भाव, मुझ अन्तरात्मामें अध्यस्त हैं। इसलिए मुझ परमात्मासे उनकी पृथक् सत्ता नहीं मानी जाती। जिसप्रकार रज्जुमें अध्यस्त सर्पादि, रज्जुसे अनन्य हैं। इस प्रकार ये सब भाव, वस्तुतः मेरेसे अनन्य हैं। अनन्यत्वका अर्थ है, उस--अधिष्ठानका व्यतिरेक होने पर अभाव। जैसे सूत्रके व्यतिरेकसे पटका अभाव हो जाता है। अतएव वाचस्पतिमिश्र--भामतीकारने कहा है कि—

'न खल्वनन्यत्वमित्यभेदं ब्रूमः, किन्तु भेदं व्यासेधामः।'

(ब्र० सू० २।१।१४)

अर्थात् अनन्यत्व--पदसे हम अधिष्ठानसे अध्यस्तका अभेद नहीं कहते हैं। किन्तु भेदका ही निषेध करते हैं। इसलिए वे सब आरोपित--भाव मुझ परमात्मामें ही अवस्थित हैं, परन्तु उनमें मैं अवस्थित नहीं हूँ। जिसप्रकार आकाशमें बादल रहते हैं; आकाशसे उत्पन्न होते हैं; एवं

उसीमें ही विलीन हो जाते हैं, तथापि बादलोंमें आकाश नहीं रहता। क्योंकि—आकाश अतिविस्तृत है, बादल न होने पर भी रहता है, तथा आकाशकी अपेक्षा बादल बहुत ही छोटे हैं, तथा उसके अत्यल्प-प्रदेशमें रहते हैं। इसलिए आकाश इन बादलोंसे सदा निर्लिप्त रहता है। उस प्रकार प्रकृतमें आकाशके स्थानपर अन्तरात्मा है, तथा बादलोंके स्थान पर, सभी सात्त्विकादि भाव हैं। अतएव इन भावोंसे अन्तरात्मा कदापि लिप्त नहीं होता।

आप बम्बईमें रहते हैं, आपके समीप हरिद्वारसे पत्र आया है। उसमें लिखा है—वहाँ अतिवृष्टि हो रही है। सारा आकाश काले काले बादलोंसे ढक गया है। किन्तु आप बम्बईमें देखते हैं कि--आकाश बिल्कुल साफ है, उसमें एक भी बादल दीखता नहीं। ऐसी दशामें आप इस बातको कैसे मान सकते हैं कि—सारा आकाश बादलोंसे ढक गया है, नहीं मान सकते। आप स्वयं विचार कर, या किसी अभिज्ञ विचारकसे पूछ कर, निर्णय कर लेते हैं कि—आकाश, बादलोंसे ढक गया है, ऐसा कहना भ्रान्ति है। अत्यल्प--बादलोंसे अति--विस्तृत आकाश नहीं ढक सकता, किन्तु देखनेवाली दृष्टियाँ ढक जाती हैं, परन्तु उसका आरोप भ्रान्तिसे आकाशमें किया जाता है। इस विषयका समर्थन, हस्ता-मलकाचार्य भी इस प्रकार करते हैं कि:—

घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं, यथा निष्प्रभं मन्यते चातिमूढः।
तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः, स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥

वस्तुतः मेघसे दृष्टि ढक जाती है, परन्तु मूढ--मानव, मेघसे सूर्य ढक गया है, अतएव वह प्रभारहित हो गया है, ऐसा मान बैठता है।

उसप्रकार मूढ--दृष्टिवाला, नित्य--शुद्ध--बुद्ध--मुक्त-स्वरूप आत्मा वस्तुतः बद्ध न होने पर भी भ्रान्तिसे बद्ध समझता है। वही अखण्ड-विशुद्ध--ज्ञानस्वरूप आत्मा मैं हूँ।

आप हरिद्वारसे रेलगाडी द्वारा बम्बई आते हैं, गाडी बम्बईके निकट पहुँचने पर लोग चिल्ला उठते हैं--कि--बम्बई आगई, बम्बई आगई। यह भी भ्रान्तिका एक नमूना है। विचार करनेपर माळूम होता है कि--बम्बई नहीं आती-बम्बईमें वस्तुतः आना जाना सम्भव नहीं, किन्तु हम बम्बई पहुँचते हैं-बम्बईमें आते हैं-परन्तु भ्रान्तिसे लोग उल्टा कहने लग जाते हैं। इसप्रकार परमात्मा, सृष्टिके इन भावोंसे पृथक् हैं। तथापि उसकी अनुस्यूतता प्रदर्शित करनेके लिए कहा जाता है--**सर्वभूतस्थ-मात्मानं** (गी० ६।२९) '**यो मां पश्यति सर्वत्र**' (गी० ६।३०) सब--भूतोंमें आत्मा है, मुझ परमात्माको जो सबमें देखता है। परन्तु महान् अनन्त--स्वरूप आत्मा इन अल्प-परिमाण-वाले भूतोंमें कैसे रह सकता है? नहीं रह सकता। बड़ी वस्तुमें छोटी वस्तु रह सकती है, परन्तु छोटी--वस्तुमें बड़ी वस्तु नहीं रह सकती है, यह लोकमें भी देखा गया है।

सुवर्णमें आभूषण रह सकते हैं, क्योंकि--आभूषणोंका आरोप सुवर्णमें ही होता है, सुवर्णके विना आभूषणोंका अस्तित्व एवं भान ही नहीं हो सकता। सुवर्ण कारण है, आभूषण कार्य हैं, कारणमें कार्य रहता है, यह लोकप्रसिद्ध बात है। क्योंकि--आभूषणोंकी उत्पत्ति स्थिति एवं विलयका आधार एकमात्र सुवर्ण है। तथापि आभूषणोंमें सुवर्ण नहीं रह सकता, इसलिए कि--सुवर्ण की दृष्टिमें वस्तुतः आभूषण हैं ही

नहीं। तब सुवर्ण उनमें कैसे रह सकता है? सुवर्ण यदि आभूषणोंमें रहता हो, अर्थात् उनके विना न रह सकता हो तो आभूषणोंके न रहने पर सुवर्ण नहीं रहना चाहिए, परन्तु उनके विना भी रहता है। अतः आभूषणोंमें सुवर्ण नहीं रहता, किन्तु सुवर्णमें आभूषण रहते हैं। इसलिए आभूषण सुवर्णको कभी भी छोड़ नहीं सकते, सुवर्णको छोड-कर और जगह नहीं रह सकते, परन्तु सुवर्ण आभूषणोंको छोड़ देता है। इसप्रकार परमात्मा, सृष्टिको छोड़ सकता है, परन्तु सृष्टि, परमात्मा-को छोड़ नहीं सकती, अतएव परमात्मामें सृष्टि रहती है, सृष्टिमें परमात्मा नहीं रहता। वह तो अपने पूर्णाद्वय—महिमामें रहता है। अथवा वह स्वयं अप्रतिष्ठित है, इसलिए वह किसीमें भी कैसे रह सकता है?। अतएव छान्दोग्योपनिषद्में नारदजीने श्रीसनत्कुमारके प्रति इसप्रकार पूछा था कि—

'स भगवः! कस्मिन् प्रतिष्ठितः? इति।

हे भगवन्! वह भूमा ब्रह्म, किसमें प्रतिष्ठित है?

श्री सनत्कुमारजी बोले—

'स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति।' (७।१४।१)

वह अपनी महिमामें अर्थात् अनन्त--विभूतिमें प्रतिष्ठित है। अन्यत्र वह प्रतिष्ठित नहीं है। अथवा परमार्थ--दृष्टिसे वह अपनी महिमामें भी प्रतिष्ठित नहीं है। क्योंकि- वह भूमा, वस्तुतः स्वयं अप्रतिष्ठित है अर्थात् अनाश्रित है। किसी अन्यमें उसके प्रतिष्ठितत्वका प्रतिषेध करनेके तात्पर्यसे ही प्रथम कहा था कि—वह अपनी महिमामें प्रतिष्ठित है।

प्रश्न था, उसका आधार कौन है? उत्तर दिया—उसका अन्य कोई आधार नहीं है- स्वयं अनाधार है।

महाराष्ट्रके एक साधु--महात्मा थे। वे श्रीगणेशजीके उपासक थे। एकान्तमें रहकर श्रीगणेशकी आराधना करते थे। एक श्रद्धालु--भक्तने उनको ५० तोला सुवर्ण भेंट किया। महात्माने विचार किया--सुवर्ण बड़ी उत्तम--धातु है, इसका हित--रमणीय दर्शन है, इसलिए इसको पण्डित--लोग हिरण्य कहते हैं।

अतः इससे अपने आराध्यदेवकी मूर्ति तथा उनके वाहनका निर्माण किया जाय तो बड़ा अच्छा होगा। विचारके अनुसार उनके एक सुवर्ण-कार भक्तने २५ तोलासे श्रीगणेशमूर्तिका तथा २५ तोलासे उनके वाहन चूहाजीका निर्माण कर दिया। कई वर्ष तक श्रद्धाभक्तिपूर्वक उस मूर्तिकी पूजा करते रहे।

बारह--वर्षके बाद हरिद्वारका कुम्भ आता है, कुम्भमें बड़े बड़े सन्त महात्माओंका आगमन होता है। गङ्गातट--पर मास दो मास तक उनका निवास रहता है, वहाँ सत्सङ्ग भजन खूब होता रहता है। महाराष्ट्रके उस महात्माने सोचा कि--कुम्भमें अवश्य चलना चाहिए, ऐसा दुर्लभ लाभ बड़ी कठिनाईसे मिलता है, भगवत्कृपा विना नहीं मिलता, मानस--रामायण में कहा है—

सत्संगति मुद-मङ्गल-मूला,
सोई फल-सिद्धि सब साधन फूला।
शठ सुधरहिं सत्सङ्गति पाई,
पारस परसि कुधातु सुहाई।

सबसे दुर्लभ मनुज शरीरा,
सत्सङ्गति दुर्लभ संसारा।

गिरिजा! सन्त-समागम, सम न लाभ कछु आन।
हरिकृपा सो पावहिं, गावहि बेद-पुरान॥

परन्तु कुम्भमें जाकर-सन्त महात्माओंकी कुछ सेवा हो तो सुवर्णमें सुगन्धकी तरह बडा अच्छा रहे। ऐसा विचारकर उनकी दृष्टि इन सुवर्णकी दो मूर्तियों पर पड़ी। प्रसन्नतासे महात्माका चेहरा खिल उठा, बस इनका सोना बेचकर जो रुपये मिलेंगे; वे सब गङ्गाके पावन तट-पर सन्तोंके भण्डारेमें लगा दिये जायेंगे। अब वे महात्मा, ये दो मूर्तियाँ लेकर बाजारमें पहुँचे। एक परिचित-शराफकी दुकानमें जाकर सुवर्ण-का भाव पूछकर उन्हें तुलाने लगे। सराफ ने कहा-२५ तोला गणेश तथा २५ तोला चूहा। एक तोलाके ५०) रुपये भाव; अतः गणेशजीकी भी बारह सौ पचास रुपया कीमत हुई। तथा चूहा की भी इतनी ही कीमत। समान वजन, समान कीमत। सराफकी बात सुनकर महात्मा बोले-हें हें ऐसा कैसे हो सकता है? स्वामी एवं सेवककी बराबरी नहीं हो सकती। सेवक चूहाकी अपेक्षा स्वामी गणेशकी कीमत ज्यादा होनी चाहिए। सराफ बोला-महाराज! आपकी दृष्टिमें गणेश है-चूहा है, परन्तु मेरी दृष्टिमें न गणेश है, न चूहा है, किन्तु एक-मात्र सुवर्ण ही है, मैं सुवर्णकी ही कीमत दे रहा हूँ, गणेश-चूहाकी नहीं। सोनेमें गणेश एवं चूहा रह सकते हैं, परन्तु गणेश तथा चूहेमें सुवर्ण नहीं रह सकता, क्योंकि-सुवर्णको अलग करने पर गणेश तथा चूहा रहते ही नहीं, तब उनमें सुवर्ण कैसे रहे? सुवर्णकी दृष्टिमें गणेश तथा चूहा

न थे, न हैं, न होंगे, उनका त्रैकालिक–प्रतिषेध है। यदि आप सोनेसे गणेश तथा चूहेको निकाल कर ले जा सकते हैं, तो निकाल लीजिये, और हमारा सोना रहने दीजिये।

महात्मा वेदान्त पढे हुए थे ही, इसलिए सराफकी बात तुरन्त समझ गये। दोनोंकी बराबर कीमत लेकर चलते बने।

गणेश तथा चूहाकी मूर्तिमें, तथा आभूषणोंमें सुवर्ण रहता है, जहाँ ऐसा कहा जाता है; वहाँ उसका यही तात्पर्य माना जाता है कि– मूर्ति कुछ नहीं, आभूषण कुछ नहीं, एकमात्र सुवर्ण ही है। इनको अग्निमें गलाने पर सुवर्ण ही अवशिष्ट रह जाता है। मूर्ति एवं आभूषण नहीं रह सकते।

अत एव भगवत्पाद–आचार्य–श्रीशंकरस्वामीने शतश्लोकीमें पट-सूत्रके दृष्टान्तसे यही बात समझाई है कि—

'ओतः प्रोतश्च तन्तुष्विह विततपटश्चित्रवर्णेषु चित्रः,
तस्मिञ्जिज्ञास्यमाने ननु भवति पटः सूत्रमात्रावशेषः।
तद्वद्विश्वं विचित्रं नगनगरनरग्रामपश्वादिरूपम्,
प्रोतं वैराजरूपे स वियति तदपि ब्रह्मणि प्रोतमोतम्॥'

एक लम्बा–चौडा रंग–विरंगा कपडेका थान, कई रंगके धागोंमें ही ओत–प्रोत रहता है। यदि उस थानके वास्तविक स्वरूपकी खोज की जाय तो वह तन्तुरूपसे ही परिशिष्ट रह जाता है, थानका रूप उसमें गायब होजाता है। उसी प्रकार पर्वत, नगर, मनुष्य, ग्राम–और पशु आदि रूपवाला यह विचित्र जगत् भी विराट्में ओत–प्रोत है, और वह आकाश (अव्यक्त–प्रकृति)में, तथा आकाश, विशुद्ध–ब्रह्ममें ओतप्रोत

२४

है, इसप्रकार यह सब कुछ परमार्थतः ब्रह्मस्वरूप ही है; ब्रह्मसे अतिरिक्त नहीं। ब्रह्म ही परिशिष्ट रहता है—उसमें अध्यस्त—जगत् उसके ज्ञानसे गायब होजाता है।

अब भगवत्पाद—आचार्य घृतके दृष्टान्तसे—भूतोंसे ब्रह्मकी पृथक्ता बतलाते हुए कहते हैं कि—

'क्षीरान्तर्यद्वदाज्यं मधुरिमविदितं तत्पृथग्ऽभूतमस्माद्,
भूतेषु ब्रह्म तद्वद् व्यवहृतिविदितं श्रान्तविश्रान्तिबीजम्।
यं लब्ध्वा लाभमन्यं तृणमिव मनुते, यत्र नोदेति भीतिः,
सान्द्रानन्दं यदन्तः स्फुरति तदमृतं विद्ध्यतो ह्यन्यदार्तम्॥'

जिसप्रकार दूधके अन्दर मधुरता द्वारा पहिचाना गया घृत, वस्तुतः दूधसे पृथक् ही होता है। उसप्रकार जगत्के अनेकविध—व्यवहारों द्वारा उनके प्रकाशकरूपसे जाना गया—तथा सुषुप्तिमें श्रान्त (थके—हुए) पुरुषोंके विश्रामका मूल कारण—ब्रह्म भी वास्तवमें भूतोंसे पृथक् ही है। जिसको प्राप्तकर मानव, संसारके अन्य सभी लाभोंको तृणके समान तुच्छ मानता है। तथा जहाँ उसे किसी प्रकार के भयका प्रादुर्भाव नहीं होता। उस आनन्दघन परमात्माको ही—जो सदा अन्दर हृदयमें प्रभासित होता है—अमृत स्वरूप जानो, उससे अतिरिक्त और सब नाशवान् मिथ्या है, ऐसा निश्चय करो।

सांख्यवादी कहते हैं कि—अंदरमें ही सात्त्विकादि भाव होते हैं, ऐसी बात नहीं, बाहरके सभी पदार्थोंमें भी सात्त्विकादि—भाव रहते हैं। पदार्थ—गत विशेषताके विना उसके सन्निधान-मात्रसे सुखादिरूप—चित्त—वृत्तियोंका उदय नहीं हो सकता। इसलिए चित्तगत—सुखादिके प्रयोजक

रूपसे पदार्थोंमें भी सत्त्वादि--रूपोंको विशेषता माननी ही चाहिए। पदार्थ एक होने पर भी—जिसके चित्तमें जब धर्मका प्राकट्य होता है, तब उस पदार्थसे सुख प्राप्त होता है, अधर्म प्रकट होने पर उसी ही पदार्थसे दुःख मिलता है, तथा अविद्याकी अपेक्षाकर उसके ही द्वारा मोह प्राप्त होता है। इसलिए एक ही समयमें एक ही पदार्थ द्वारा किसी पुण्यवान्‌को सुख, किसी पापीको दुःख, तथा किसी मूढको मोह प्राप्त होता है। अतएव सांख्य—तत्त्व--कौमुदीमें वाचस्पति--मिश्रने कहा है कि—

'तद् यथा एकैव स्त्री रूपयौवनकुलसम्पन्ना स्वामिनं सुखाकरोति, तत्कस्य हेतोः? स्वामिनं प्रति तस्याः सुखरूपसमुद्भवात्, सैव स्त्री सपत्नीर्दुःखाकरोति, तत् कस्य हेतोः? ताः प्रति तस्याः दुःखरूपसमुद्भवात्, एवं पुरुषान्तरं तामविन्दमानं सैव मोहयति, तत् कस्य हेतोः? तं प्रति तस्या मोहरूपसमुद्भवाद्, अनया च त्रिधा सर्वे भावाः व्याख्याताः।'

जिसप्रकार रूप, यौवन, एवं कुलसे सम्पन्न एक ही स्त्री स्वामीको सुख देती है। ऐसा किस कारणसे है? इसलिए है कि—वह स्वामीके प्रति—सत्त्वगुणात्मक--सुखरूपसे समुद्भूत (प्रकट) होती है। वही स्त्री सौतोंको दुःख देती है, ऐसा किस कारणसे है? इसलिए है कि—वह उनके प्रति रजोगुणात्मक--दुःखरूपसे समुद्भूत होती है। तथा उसको प्राप्त नहीं करनेवाले अन्य कामी पुरुषको वह *मोह पैदा कर देती है, ऐसा किस कारणसे है? इसलिए है कि—वह उसके प्रति तमोगुणात्मक

---

*मोहका अर्थ यहां—विषाद है, चैत्रकी भार्या देखकर कामी मैत्र इसप्रकार विषाद करता है कि—यह चैत्र पुण्यवान् है—जिसे ऐसी सुन्दर भार्या मिली है। हाय! मुझ मन्दभागीको नहीं मिली। या मोह—द्वारा ऐसा विषाद कराती है।

मोहरूपसे समुद्भूत होती है। इस स्त्रीके उदाहरण द्वारा सभी पदार्थोंमें भी सत्त्वगुणात्मक-सुखादिरूपता है, ऐसा बतला दिया है। जैसे मेघ किसानोंको सुख, पथिकोंको दुःख, तथा विरहियोंको मोह उत्पन्न करते हैं। तथा न्याय-परायण राजा, सज्जनोंको सुख एवं दुष्टोंको दुःख तथा मोह प्रदान करता है। ऐसे असंख्य उदाहरण जगत्में मिल जाते हैं, जिनके द्वारा बाहरके पदार्थोंमें भी सात्त्विकादि-भावोंकी सिद्धि होती है।

यह जगत् त्रिगुणात्मक कहा जाता है; इसलिए जगत्के सभी पदार्थोंमें तीन गुण अवश्य रहते हैं। अतएव सभी पदार्थ एकसे नहीं रहते, क्षण क्षणमें बदलते रहते हैं, क्योंकि-गुणोंका स्वभाव चलायमान है। इसलिए कोई गुण जब उत्कृष्ट होता है, तब वह अन्य दो गुणोंको निरुद्ध कर देता है। और उसका धर्माधर्मादि-निमित्त अभिभावक हो जाते हैं। निरुद्ध हुए वे दो गुण, अपने अपने कार्य जननमें अशक्त होजाते हैं, इसलिए उनके निमित्त भी अभिभूत रहते हैं। जब जिसके चित्तमें धर्मरूप--निमित्त, फलोन्मुख होकर उत्कृष्ट होता है, तब उसके चित्तमें तथा उस चित्तके सन्निहित-पदार्थमें सत्त्वगुण उत्कृष्ट होकर रजःतमको तिरस्कृतकर उसके प्रति सुखज्ञानको उत्पन्न कर देता है। जब अधर्म उत्कृष्ट होता है अर्थात् फल देनेके लिए अभिमुख होता है, तब रज या तम उत्कृष्ट होकर दुःख--ज्ञान या मोह--ज्ञानको उत्पन्न कर देता है। इसलिए धर्माधर्म--निमित्त कभी कभी किसी किसीमें प्रकट होनेके कारण सभीको सदा सबमें समान ज्ञान नहीं होता।

जब कभी धर्म प्रकट होता है; तब वही पदार्थ उसको सुख देता है-तथा अधर्म प्रकट होनेपर वही पदार्थ दूसरे समयमें उसीको

दुःख दे जाता है। इसलिए कोई पदार्थ हरदम किसीको न सुख दे सकता है, न दुःख। कर्मोंके अनुसार चक्रनेमिके समान सुखदुःखकी दशाएँ बदलती रहती हैं।

वेदान्तवादी अनेक प्रमाण देकर बडे जोरके साथ कहते हैं—कि **दृष्टि-सृष्टि।** दृष्टिके अनुसार ही सृष्टि होती है। दृष्टि न हो तो सृष्टि नहीं रह सकती। दृष्टि विना सृष्टिका भान ही नहीं हो सकता। एक मनुष्य पलंगमें गाढ निद्रावश सो रहा है, उसके एक पार्श्वमें विषधर सर्प लेट रहा है, उससे उसको कुछ भी भय--कम्पादि नहीं होते, तथा दूसरे पार्श्वमें किसीने गिन्नियोंकी एक थैली रक्खी है, उससे उसको कुछ हर्ष नहीं होता। ऐसा क्यों है? अर्थात् भयका हेतु सर्प, तथा हर्षका हेतु थैली विद्यमान है, परन्तु उसको भय एवं हर्ष क्यों नहीं होता? आपको बाध्य होकर कहना पडता है—सर्प एवं थैली पर उसकी दृष्टि नहीं है। आप कह सकते हैं कि—सर्प था, थैली थी, तब न उन पर दृष्टि हुई? वे न होते तो दृष्टि कैसी होती?। परन्तु आपका यह कहना सर्वथा भ्रान्त है; रज्जुस्थलमें सर्प न होनेपर भी भ्रान्तिसे सर्पकी दृष्टि होती है, और इसीसे ही उसको सच्चे सर्पके समान सर्प दीखता है, भयभीत होता है, कांपता है, और चिल्लाता हुआ भाग जाता है। सर्प था, थैली थी, ऐसा भी कहनेवाला तभी ही कह सकता है कि—जब उसकी दृष्टि होती है, दृष्टिके विना उसके अस्तित्वका भान किसको होगा? इसलिए दृष्टि भी भीतर है—उसका निमित्त--धर्माधर्म, तथा धर्माधर्मके निमित्त कामनाएँ तथा अविद्या भी भीतर ही है। इन निमित्तोंके द्वारा जिस समय दृष्टि होती है; उस समय वही दृष्टि सुख

दुःख देनेवाली सृष्टिकी कल्पना कर देती है।

दृष्टि—सृष्टिका अर्थ है—'**दृष्टिसमसमया विश्वसृष्टिः**' '**यदा यत्पश्यति तत्समकालं तत्सृजति।**' अर्थात् दृष्टि समकालीन ही संसारकी उत्पत्ति है, जिस समय जिसको देखता है, उस समय ही उसको उत्पन्न करता है। वृत्तिसे उपहित चैतन्यका नाम दृष्टि है। अतएव हमारी प्रामाणिक—अतिधन्य श्रुतियाँ कहतीं हैं कि—

'स यत्र प्रस्वपिति, अस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय, स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति, अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति। न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति, अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते, न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्ति, अथानन्दान्मुदः प्रमुदः सृजते। न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्ति, अथ वेशान्तान्पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते स हि कर्ता।'

(बृ० ४।३।९।१०)

जब वह सो जाता है, तब वह इस जागृत—लोककी वासनाओंको ग्रहण कर तथा इस जागृत शरीरको निश्चेष्ट—बेभान बनाकर एवं कल्पनासे स्वप्नके शरीरका निर्माण कर, वासनामयी—वृत्तियोंके अपनें प्रकाशका अपनी अलुप्त—दृक्स्वभाववाली—ज्योतिसे अवगाहन करता हुआ—सो जाता है। इस स्वप्नमें यह अन्तरात्मा पुरुष ही स्वयंज्योति है। स्वप्नमें न घोडे हैं, न रथ हैं, न मार्ग हैं, परन्तु वह वासनावाला आत्मा अपनी—वासनामयी दृष्टियोंके समकालमें ही रथ—घोडे एवं मार्गोंका सर्जन करता है। तथा वहाँ आनन्द, हर्ष, (पुत्रादि--लाभ--जन्य) तथा

प्रमोद (उत्कृष्ट—हर्ष) नहीं हैं, न उनके उत्पादक साधन भी हैं। किन्तु वह साधन सहित आनन्द—हर्ष आदिका तत्काल ही सर्जन कर देता है। न वहाँ वेशान्त (छोटे तलाव—पल्वल) पुष्करिणी (कमल-वाले बडे तलाव) एवं बहनेवाली नदियाँ भी नहीं हैं, परन्तु वह दृष्टि समयमें उनका सर्जन करता है। वासनावाली—अन्तःकरणकी वृत्तिरूप दृष्टियोंके द्वारा ही वह स्वप्न--प्रपञ्चके सर्जनका कर्ता बनता है।

'अथ यदा सुषुप्तो भवति, तदा न कस्यचन वेद।'
(बृ० २।१।१९)

स्वप्नके अनन्तर जब यह सुषुप्त होता है अर्थात् सुषुप्ति अवस्थाका अनुभव करता है, तव वह किसी भी पदार्थको नहीं जानता है। क्योंकि—उससमय समस्त इन्द्रियाँ तथा उनका नायक मन भी विलीन हो जाता है। इसलिए उनकी दृष्टियाँ न होनेके कारण किसी प्रकारकी क्रियाकारकफलादि--रूप सृष्टिका अनुभव नहीं कर सकता। **'सुषुप्ति-काले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति'** (कै० उ.) अर्थात् सुषुप्तिकालमें अन्तःकरणकी दृष्टि न होनेसे समस्त द्वैत प्रपञ्चका विलय होजाता है। उस समय वह एकमात्र अज्ञानसे अभिभूत हुआ अपने शुद्ध सुखस्वरूपका अनुभव करता है। **'न तु तद्द्वितीय-मस्ति, ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्।'** (बृ० ४।३।२२) सुषुप्तिमें दृष्टिका विषय अन्य पदार्थ ही नहीं है, इसलिए दृष्टा—आत्मासे अन्य विभक्त पदार्थका दर्शन ही नहीं होता। यह श्रुति भी सुषुप्तिमें सकल कार्य--प्रपञ्चके लयका बोधन करती है। सुषुप्तिसे जब उत्थान होता है, तब दृष्टियोंके साथ ही समस्त सृष्टिका प्रादुर्भाव होता है।

इस विषयको अतिस्पष्ट शब्दोंमें बृहदारण्यक--श्रुति कहती है कि—

'स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेत्, यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति, एवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति, तस्योपनिषत् सत्यस्य सत्यमिति, प्राणा वै सत्यं, तेषामेष सत्यम्।'

(बृ० २।१।२०)

जिसप्रकार वह ऊर्णनाभि (लूताकीट—मकडी) अपनेमें से ही तन्तुओंको निकालकर उनसे जालका सर्जन करता है, उसके सर्जनमें स्व--अतिरिक्त साधन की उसको अपेक्षा नहीं होती। तथा जिसप्रकार एकरूपवाली अग्निसे छोटी—छोटी अनेक चिनगारियाँ उसके चारों तरफ प्रकट होजाती हैं। इस प्रकार इस सुषुप्त--आत्मासे सभी प्राण अर्थात् चक्षुरादि इन्द्रियाँ, सभी भूर्भुवः आदि लोक, सभी देव (जो इन्द्रियों तथा लोकोंके अधिष्ठाता हैं) तथा सभी ब्रह्मासे आदि लेकर—स्तम्ब (क्षुद्रजन्तु—विशेष) पर्यन्त समस्त भूत--प्राणी अर्थात् स्थावर, जङ्गम समग्र जगत् उत्पन्न होता है। उसकी यह उपनिषद् है—अर्थात् रहस्य विद्या है। वह सत्यका सत्य है। प्राणादि यह जगत् प्रातिभासिक सत्य है, और उसमें यह अन्तरात्मा पारमार्थिक सत्य है।

इस श्रुतिके द्वारा यह निर्णित होता है—कि जाग्रतमें--यह आत्मा अपनी अविद्या एवं वासनामयी दृष्टिके समकालमें ही सुषुप्तिमें विलीन सब जगत्का सर्जन करता है।

'वेदान्त--सिद्धान्त--मुक्तावली' नामक संस्कृत ग्रन्थके प्रणेता स्वामी प्रकाशानन्द सरस्वती—दृष्टि—सृष्टिवादका ऐसा विलक्षण--अर्थ करते हैं

कि–'दृष्टिरेव विश्वसृष्टिः, दृश्यस्य दृष्टिभेदे प्रमाणाभावात्।' अर्थात् दृष्टि ही विश्वसृष्टि है, स्वप्रकाश--ज्ञानस्वरूपा दृष्टि ही अविद्या द्वारा प्रपञ्चकी सृष्टि है। दृष्टिसमकालीन अन्य प्रपञ्चकी सृष्टि नहीं है, क्योंकि--दृश्य -पदार्थको स्वप्रकाश--ज्ञान--स्वरूपसे पृथक् माननेमें कोई प्रमाण नहीं है। इस विषयको यह स्मृति भी प्रमाणित करती है कि––

'ज्ञानस्वरूपमेवाहु –र्जगदेतद्विचक्षणाः।
अर्थस्वरूपं भ्राम्यन्तः पश्यन्त्यन्ये कुदृष्टयः॥'

अर्थात् विवेकी--पुरुष इस प्रत्यक्षसिद्ध जगत्को ज्ञानात्मक ही कहते हैं। परन्तु कुछ कुदृष्टिवाले भ्रान्त--पुरुष इस चैतन्य--ज्ञानरूप (ब्रह्मरूप) जगत्को ज्ञानसत्तासे भिन्न देखते हैं।

इसलिए उन्होंने अनेक--युक्तियोंके द्वारा यह सिद्धान्त किया है कि––

प्रत्येतव्यप्रतीत्योश्च, भेदः प्रामाणिकः कुतः?।
प्रतीतिमात्रमेवैतद्, भाति विश्वं चराचरम्॥

ज्ञानज्ञेयप्रभेदेन यथा स्वप्नं प्रतीयते।
विज्ञानमात्रमेवैतत्, तथा जाग्रच्चराचरम्॥

तन्तोर्भेदे पटो यद्वत्, शून्य एव स्वरूपतः।
आत्मनोऽपि तथैवेदं, भानमात्रं चराचरम्॥

रज्जुर्यथा भ्रान्त-दृष्ट्या सर्परूपा प्रकाशते।
आत्मा तथा मूढ-बुद्ध्या जगद्रूपः प्रकाशते॥

आत्मन्येव जगत्सर्वं, दृष्टिमात्रं सतत्त्वकम्।
उद्भूय स्थितिमास्थाय विनश्यति मुहुर्मुहुः॥

पूर्णानन्दाद्वये शुद्धे, पाप्मदोषादिवर्जिते ।
प्रतिबिम्बमिवाभाति दृष्टिमात्रं जगत् त्रयम् ॥
(वेदान्त-सिद्धान्त-मुक्तावलिः)

ज्ञान और ज्ञेयका भेद प्रामाणिक कैसे हो सकता है ?। यह-सम्पूर्ण चराचर विश्व, प्रतीतिमात्र (ज्ञानरूप ही) भास रहा है। तात्पर्य यह है कि-जड-ज्ञेय-प्रपञ्चको अपनी सिद्धिके लिए ज्ञानकी अपेक्षा अवश्य है, परन्तु ज्ञानको ज्ञेयकी अपेक्षा नहीं है । क्योंकि—ज्ञेयके विना भी ज्ञान सुषुप्त्यादिमें रह सकता है, परन्तु ज्ञानके विना ज्ञेय नहीं रह सकता, इसलिए ज्ञानमें ही ज्ञेयका अन्तर्भाव मानना चाहिए । अर्थात् ज्ञान-ज्ञेयका भेद नहीं मानना चाहिए । जिसप्रकार स्वप्नका जगत् विज्ञान-स्वरूप होने पर भी ज्ञान ज्ञेय आदि भेदसे प्रतीत होता हैं, अर्थात् स्वप्नमें विज्ञान-रूप आत्मा ही ज्ञेयरूपसे और ज्ञानरूपसे प्रतीत होता है । उस प्रकार यह विज्ञान-मात्र आत्मा ही जाग्रत्कालीन चराचररूप जगत्से कहीं भेदसे और कहीं अभेदसे भासमान होता है । जैसे—वास्तवमें तन्तुओंसे पृथक् करने पर पट शून्य हो जाता है । अर्थात् पट तन्तुरूप ही है, उनसे भिन्न पट कोई चीज नहीं है । वैसे ही प्रतीति--सिद्ध यह चराचर जगत् भी आत्मासे यदि भिन्न किया जाये तो यह शून्य ही हो जाता है । आशय यह है कि—कारण की सत्ता ही कार्यकी सत्ता है, स्वतन्त्ररूपसे कार्यकी सत्ता नहीं मान सकते । यदि कार्यकी स्वतन्त्र सत्ता होती तो तन्तुके अभावमें भी पट रहना चाहिए । परन्तु रहता नहीं । इसलिए यह सर्व जगत् भानमात्र है, अर्थात् स्वयंप्रकाश--चैतन्यरूप है । जगत्की प्रकाशता वस्तुतः आत्मामें ही पर्यवसित होती है, इसलिए

भानरूप यह जगत् आत्मासे पृथक् होनेपर सत्ता--शून्य हो जाता है। जैसे भ्रान्त--दृष्टिद्वारा रज्जु--सर्परूपसे प्रतीत होती है, वैसे ही आत्मा भी, मूढ दृष्टिसे जगत् रूपसे भासता है। अर्थात् भ्रान्त दृष्टिसे भासमान सर्प वस्तुतः कुछ नहीं है, रज्जु ही यथार्थ है, तद्वत् भ्रान्तदृष्टिसे भास-मान यह जगत् वस्तुतः कुछ नहीं है, एकमात्र अन्तरात्मा ब्रह्म ही यथार्थ है। तत्त्वोंके सहित यह समस्त जगत् आत्मामें उत्पत्ति और स्थितिको प्राप्त होकर वार वार लयको प्राप्त होता है, तथापि यह दृश्य जगत् दृष्टिमात्र ही है, दृष्टिसे अतिरिक्त कुछ नहीं। समस्त पाप--दोषादिसे रहित शुद्ध--पूर्ण आनन्द और अद्वितीय आत्मामें जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति कालीन तीनों जगत् प्रतिबिम्बके समान दृष्टि-मात्र ही प्रतीत होते हैं, अर्थात् जैसे बिम्बके समीप दर्पण प्रतिबिम्बरूपसे प्रतिभासित होता हुआ भी अपने स्वरूपको नहीं छोडता, क्योंकि--प्रतिबिम्बाकार मिथ्या है, वैसे ही आत्मा भी जगदाकारके मिथ्या होनेसे जगदाकार--रूपसे प्रतीत होता हुआ भी अपने स्वरूपको नहीं छोडता, अपने अविकृत--शुद्ध--पूर्ण स्वरूपमें जगत्को दृष्टिके समयमें भी ज्यों का त्यों अखण्ड, एकरस-रूपसे अवस्थित रहता है।

दृष्टिसृष्टिवादमें दो सत्ता मानी गई हैं, एक परमार्थिकी सत्ता, ब्रह्मकी तथा ब्रह्मातिरिक्त-जगत्की प्रातिभासिकी सत्ता। दृष्टिसृष्टिवादी जगत्की व्यावहारिक--सत्ता नहीं मानते। अज्ञात--सत्ताको व्यावहारिक सत्ता तथा ज्ञात सत्ताको प्रातिभासिक सत्ता कहते हैं। उनका यह सिद्धान्त है कि--जो पदार्थ कल्पित है, उसकी अज्ञात-सत्ता हो ही नहीं सकती। ब्रह्मभिन्न यह सम्पूर्ण जगत् कल्पित है, इसलिए उसकी

ज्ञातसत्ता ही माननी चाहिए, अर्थात् प्रतीतिके समय ही उसकी सत्ता है, आगे पीछे कुछ सत्ता नहीं। ज्ञानका उदय होनेपर अज्ञान किसी कालमें भी नहीं रह सकता, उससमय अज्ञान--मूलक--विश्वसृष्टिका भी बाध हो जाता है। आचार्योंने बाधका ऐसा स्वरूप बतलाया है कि--

'साक्षात्कृते त्वधिष्ठाने, समनन्तरनिश्चितिः।
अध्यस्यमानं नास्तीति बाध इत्युच्यते बुधैः॥'

अधिष्ठानका साक्षात्कार होनेके अनन्तर ही जो यह निश्चय होता है कि--अध्यस्यमान (कल्पित) कुछ नहीं है, वह बाध कहा जाता है।

इसप्रकार दृष्टिसृष्टिवाद, जगत् तरफकी सभी वृत्तियोंको हटाकर पारमार्थिक--ब्रह्ममें ही तन्मयता सम्पादन करानेके लिए बडा जोर देता है। दृष्टिसृष्टिवादसे भी अजातवादका बहुत उँचा सिद्धान्त है। गौड-पाद--कारिकाओंमें तथा योगवासिष्ठमें इसका विशद वर्णन मिलता है। साधन--सम्पन्न उच्चाधिकारी ही अजातवादके सिद्धान्तको ठीक ठीक हृदयंगम कर सकते हैं। गौडपादाचार्यने--सद्वाद, असद्वाद, बीजाङ्कुर--सन्ततिवाद, विज्ञानवाद, एवं शून्यवाद आदि सभी विपक्षी मतोंका खण्डन करके अजातवादकी ही स्थापना की है। इस एक ही कारिकामें वे समस्त पक्षोंकी अनुपपत्ति दिखलाते हुए कहते हैं कि--

'स्वतो वा परतो वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते।
सदसत्सदसद्वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते॥'
(मा० उ० का० ४।२२)

अर्थात् कोईभी वस्तु न तो स्वतः (अपने--आपसे) उत्पन्न हो सकती है, और न किसी अन्यसे ही। जो घट अभीतक तैयार नहीं हुआ, उससे वही घट कैसे उत्पन्न होगा? तथा तैयार हुए घटसे भी

कोई अन्य घट अथवा पट कैसे उत्पन्न होगा ? इतना ही नहीं; सत्, असत्, अथवा सदसत् रूपसे भी कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती। जो वस्तु है, उसकी उत्पत्ति क्या होगी ? और जिसका अत्यन्ताभाव है, उसकी भी कहाँसे उत्पत्ति होगी ? तथा जो है, और नहीं भी है, ऐसी तो कोई वस्तु ही होनी सम्भव नहीं है। अतः किसी भी प्रकार किसी वस्तुकी उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती। यदि कहो कि--मिट्टीसे घडा उत्पन्न होता है, और पितासे पुत्रका जन्म होता है, तो ठीक है, परन्तु उत्पन्न होता है, ऐसा शब्द, वस्तुतत्त्वके अनभिज्ञ--मूर्ख ही बोलते हैं, तथा उसकी प्रतीति भी उन्हींको ही हुआ करती है। विवेकी लोग तो उन शब्द और प्रतीतिकी—वे सत्य हैं, या मिथ्या ?, इस प्रकार परीक्षा किया करते हैं। किन्तु परीक्षा करने पर तो शब्द और उसकी प्रतीतिका विषयभूत घट केवल शब्दमात्र अर्थात् कल्पित-बाधित ही सिद्ध होता है। 'वाचारम्भणं' इत्यादि छान्दोग्य-श्रुतिने भी कार्यवर्गकी कल्पितता ही प्रमाणित की है।

इसप्रकार परमाचार्यने अलात-शान्तिप्रकरणमें भी यही बात सिद्ध की है। अलात शब्दका अर्थ उल्का या मसाल है। मसालको घुमाने पर अग्निकी गोल आदि तरह तरहकी आकृतियाँ दिखाई देती हैं; और उसका घुमाना बन्द करते ही उनका दिखाई देना बन्द हो जाता है। यदि विचार किया जाय तो वस्तुतः वे आकृतियाँ मसालसे नतो—निकलती हैं, न उनमें लीन होती हैं, और न कहीं अन्यत्रसे ही उनका आना जाना होता है। उनकी प्रतीति, केवल मसालके स्पन्दनका ही फल है, वस्तुतः उनकी कुछ सत्ता नहीं है। इसप्रकार यह दृश्य--प्रपञ्च,

केवल मनके स्पन्दनसे ही प्रतीत होता है, और मनको अमनीभाव (ब्रह्मभाव) प्राप्त होने पर, दृश्य जगत् न जाने कहाँ चला जाता है। परमार्थ दृष्टिसे न उसकी उत्पत्ति होती है, और न लय। इसलिए प्रपञ्चकी प्रतीति और अप्रतीति दोनों ही भ्रान्तिसे कल्पित हैं। इस भ्रान्तिका अधिष्ठान परब्रह्म पूर्णात्मा है, यही एकमात्र अजतत्त्व, सत्य है। अत-एव अद्वैत-प्रकरणके अन्तमें कहा है कि—

'न कश्चित् जायते जीवः, संभवोऽस्य न विद्यते ।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते ॥'

कोई भी जीव उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि—उसका कोई कारण ही नहीं है। जिस अजन्मा सत्यब्रह्ममें कोई भी वस्तु अणुमात्र भी उत्पन्न नहीं होती। वही सर्वोत्तम सत्य है।

ऐसा योगवासिष्ठमें भी कहा है—

'यदस्ति यद्भाति तदात्मरूपं,
नान्यत्ततो भाति न चान्यदस्ति ।
स्वभाव-संवित्प्रतिभाति केवला,
ग्राह्यं ग्रहीतेति मृषा विकल्पः ॥'

अविद्यायोनयो भावाः सर्वेऽमी बुद्बुदा इव ।
क्षणमुद्भूय गच्छन्ति ज्ञानैकजलधौ लयम् ॥

जो कुछ है, तथा जो कुछ दीखता है, वह सब आत्मस्वरूप ही है। उससे अन्य न कुछ दीखता है, न कुछ अन्य ही है। पारमार्थिक —विज्ञानरूप ब्रह्म ही एक--मात्र अन्दर बाहर प्रभासित हो रहा है। ज्ञेय ज्ञाता आदि जो कुछ द्वैत प्रतीत होता है, वह सब मिथ्या, विकल्प-

मात्र है। विकल्प यानी वस्तुरहित—भ्रान्तप्रतीतिमात्र। ये सम्पूर्ण--दृश्य नामरूपात्मक भाव (पदार्थ) हैं, वे सब अविद्यारूप कारणसे ही प्रतीत होते हैं। बुद्‌बुदोंकी तरह क्षणमात्रमें ही मिथ्या प्रतीत हो ज्ञान--समुद्रमें विलीन हो जाते हैं।

अद्वैत-वेदान्तके चित्सुख आदि अन्य आचार्य, दृष्टिसृष्टिवाद तथा अजातवादमें—जाग्रत्प्रपञ्चमें प्रातिभासिकत्वका अंगीकार, आकाश आदि सृष्टिका अपलाप आदि अनेक दोष दिखाकर मन्दाधिकारियोंके लिए सृष्टिदृष्टिवादका प्रतिपादन करते हैं। वे कहते हैं कि—श्रुतिमें जिस आकाशादि क्रमसे सृष्टिका प्रतिपादन किया है, उसी क्रमसे परमेश्वरसे सृष्टि उत्पन्न होती है, और वह अज्ञात--सत्तावाली है। तत्तत्—घटादि विषयोंमें तत्तच्चक्षुरादि—प्रमाणोंकी प्रवृत्ति होनेके अनन्तर आवरण--भंग द्वारा तत्तत् विषयोंका अपरोक्षावभासरूप दृष्टि होती है। अतः दृष्टि-सृष्टिवाद नहीं है, किन्तु सृष्टि—दृष्टिवाद है। इसमें जगत्की व्यावहारिक-सत्ता मानी गई है। और शुक्ति--रजतादिकी प्रातिभासिकी सत्ता।

इसप्रकार वेदान्तके इन सभी वादोंमें द्वैतप्रपञ्चशून्य—अद्वय--शुद्ध ब्रह्मका ही बोधन कराया जाता है। अध्यारोप एवं अपवाद द्वारा निष्प्रपञ्च ब्रह्मकी अवगतिके उपायरूप से ही श्रुतियोंमें सृष्टि और प्रलयका कथन किया है। वस्तुतः सृष्टि आदिका प्रतिपादन करना श्रुतियोंका तात्पर्य—विषयीभूत अर्थ नहीं है, इसप्रकार प्रस्थानत्रयी--भाष्य, भागवत--आदि बड़े बड़े वेदान्तके निबन्धोंमें आचार्योंने शतशः प्रतिपादन किया है।

भगवान् श्रीकृष्ण भी गीताके उस श्लोकमें '**न त्वहं तेषु ते मयि**' से वे सब भाव मुझमें अध्यारोपित हैं, कल्पित हैं, इसलिए मैं

अधिष्ठानरूप परमात्मा, उनमें नहीं रह सकता, न उनके वश में ही हो सकता हूँ, एवं न उनके विकारोंसे विकृत ही हो सकता हूँ। क्योंकि—यह नियम है—**तत्रैवं सति यत्र यदध्यासः तत्कृतेन दोषेण गुणेन वाऽणुमात्रेणापि स न सम्बध्यते।'** (ब्र० सू० शारीरक भाष्य—प्रथम सूत्रे) ब्रह्म--परमात्मामें जगत्का अध्यास आविद्यक सिद्ध होने पर वह अधिष्ठान—ब्रह्म, अध्यासके गुण एवं दोषसे अणुमात्र भी सम्बद्ध नहीं होता। जैसे रज्जुमें सर्पके अध्याससे सर्पके दोषका तथा शुक्तिमें रजतके अध्याससे रजतके गुणका लेश भी सम्बन्ध नहीं होता। अध्यस्त पदार्थ केवल दृष्टिका ही विकार है, वास्तव में वह कुछ नहीं। मूल--पदार्थ कुछ और होता है, परन्तु विभिन्न--दृष्टिसे कुछ और ही दीखता है। अतएव लौकिक--व्यवहारमें भी ऐसा देखा गया है कि—बाहरके पदार्थ तभी सुख—दुःख दे सकते हैं कि--जब उनके साथ अहं मम--भाववाली दृष्टियाँ होती हैं। उनके विना कोई भी पदार्थ स्वरूपतः न सुख दे सकता है, न दुःख। दृष्टियाँ ही सुख दुःख, राग द्वेष, आदि विकारोंका सर्जन करती हैं।

एक मारवाडका रहनेवाला सेठ था। उसका चार वर्षका लडका, उसके किसी-सम्बन्धीके साथ बर्मा—रंगुन चला गया था। वह वहाँ ही पढ़, लिख, लायक होनेपर व्यापार भी करने लगा। पिताकी अनुपस्थितिमें उसका विवाह भी हो गया। पितापुत्रका आपसमें पत्रव्यवहार भी बराबर चलता रहता था। पिता लिखता था कि 'भाई ! मैं क्या करूँ, यहाँ मैंने व्यापार रोजगार बहुत फैला रक्खा है। इसलिए मुझे बिलकुल छुट्टी नहीं मिलती। और कोई कारोबार संभालनेवाला भी तो विश्वा-

सनीय नहीं है। इसलिए मैं तेरे विवाहमें भी न आ सका। मन तो बहुत था कि–मैं तेरे विवाहमें पहुँचूं। तेरेको देखे करीब २० वर्ष हो गये। इतनी लम्बी–अवधितक पिता–पुत्रके वियोग होनेमें विधिका कुछ कठोर विधान ही कारण होगा। अब तू अपनी पत्नीके साथ देशमें आ जाय तो बड़ा अच्छा हो।' इधर रंगूनसे पुत्र लिखता था कि–'पिताजी! आपके दर्शनकी मनमें बहुत ही चाह है। परन्तु यहाँ का मेरा व्यापार भी इतने जोरों पर चल रहा है कि न–पूछो बात। कमाई भी दिन दूगुनी रात चौगुनी हो रही है। इसलिए मन मसोसकर चुप-चाप रहना पड़ता है। क्या किया जाय?। आप यहाँ पधारें तो अच्छा रहे, एक नवीन देश भी देखनेमें आयेगा।' परन्तु दोनोंमेंसे न पुत्र इधर आया, न पिता उधर गया। दोनों ही बहानाबाजी बनाते रहे। इधर पिताके मनमें एकदम विचार आया कि–प्रिय पुत्रको देखे २५ वर्ष हो गये, बहुत--बहुत लिखने पर भी वह इधर नहीं आता है, तो मुझे ही चलना चाहिए। धंधे रोजगार तो जिन्दगीभर चलते ही रहेंगे, इनसे छुट्टी तो मिलनी मुश्किल है, ऐसा विचार कर वह देशसे चल पड़ा। उधर पुत्रके हृदयमें भी ऐसा ही विचार आया कि–मैंने पूज्य–पिताजीका दर्शन बहुत छोटी अवस्थामें किया था। बहुत लिखनेपर भी वे यहाँ न आ सकें, इसलिए मुझे ही चलना चाहिए। ऐसा विचारकर पुत्र भी वहाँसे चल पड़ा। दोनों ही एक–साथ कलकत्तेमें पहुँचे। २५ वर्षके बाद अत्यन्त परिचितको भी पहिचानना कठिन हो जाता है। क्योंकि–इतनी लम्बी अवधिमें शरीरकी शकल ही बदल जाती है। बोलना चालना आदि व्य-वहार भी अन्य--प्रकारका होजाता है। बालक, जवान और जवान बुड्ढा

होजाता है।

प्रथम पिता कलकत्तेकी एक धर्मशालाके भीतरके कमरेमें ठहरा। उस रोज मुसाफरोंसे भीतरके सभी कमरे रुक गये थे। उसके बाद अपनी पत्नी सहित—पुत्र भी वहाँ आया। पिताने पुत्रको देखा, और पुत्रने पिताको देखा, परन्तु न पहिचाननेके कारण पिताने उसको पुत्ररूपसे नहीं देखा, तथा पुत्रने उसको पितारूपसे नहीं देखा। **'पश्यन्नपि न च पश्यति'** 'देखने पर भी नहीं देखता' वाली बात हुई। इसलिए देखने पर भी पितापुत्रके बीचमें जैसा अनुराग होना चाहिए, वैसा नहीं हुआ। पुत्र बाहरके दालानमें ही पिताके कमरेकी खिड़कीके पास ठहरा। उस समय कलकत्तेमें बड़े जोरोंसे हैजाका प्रकोप था। लोग दबादब मर रहे थे। रात्रिके समय पुत्रको भी हैजा हो गया, उसको बड़े जोरोंके साथ वमन एवं टट्टियाँ होने लगीं। वह हाय हाय मचाने लगा। भीतरके कमरेमें ठहरे हुए पिताको मनमें--अपनी बड़ी चिन्ता होने लगी कि--हैजा संक्रामक रोग है, कहीं इस व्यक्तिके समान मुझे भी लागू हो गया तो यहीं पर मर जाना पड़ेगा, प्रिय--पुत्रका मिलाप ही न होगा। इसलिए वह खिड़कीसे ही उसकी औरतको धमकाता हुआ कहने लगा कि—'तू इसको दूसरी जगह लेजा, यह हमारी निद्रा खराब कर रहा है। हम बहुत दूरसे आये हैं। इसलिए रेलमें कई रात्रि सोये भी नहीं हैं।' उसकी बात सुनकर वह पत्नी नम्रतासे कहने लगी कि—'बाबूजी! इस समय मैं इनको कहाँ ले जाऊं। दूसरी कोई जगह भी तो नहीं है। हमभी बड़ी दूरसे आये हैं।' उसकी ऐसी लाचारी-भरी बात सुनकर भी वह उस रोगीके प्रति दयाभावके बदले नितान्त-उपेक्षाका भाव तथा द्वेषका भाव बतलाता

हुआ बोला कि–'इसमें हम क्या करें, क्या यह स्वयं मरता हुआ दूसरोंको भी मारेगा।' ऐसा बडबडाता हुआ वह धर्मशालाके प्रबन्धकके समीप गया और उसने उससे उस रोग–पीडित व्यक्तिको वहाँसे हटानेके लिए बड़े जोरसे अनुरोध किया। परन्तु उस प्रबन्धकने कहा–'चाहे कुछ भी हो, परन्तु मैं उस मुसाफरको ऐसी हालतमें किसी भी प्रकार हटा नहीं–सकता। वह इस समय कैसी दयनीय स्थितिमें पड़ा है?, उसका भी आपको ख्याल रखना चाहिए, इतना घोर-स्वार्थी नहीं बनना चाहिए।

वहाँसे निराश होकर मनमें--प्रबन्धकको तथा उस पुत्ररूपसे अपरिचित–रोगीको भी--गालियाँ देता हुआ अपने कमरेमें वापस आया और लेट गया। परन्तु हैजाका प्रबल--भय उसके हृदयमें घुसा रहनेके कारण निद्रा नहीं आई। कहीं यह रोगी मुझे भी हैजा देनेमें निमित्त बन गया, तो मेरी भी हालत ऐसी ही खराब हो जायगी। इसलिए वह उसके प्रति बडा द्वेष करने लगा। सुख एवं सुखके कारणोंमें रागके समान, दुःख एवं दुःखके कारणोंमें प्राणियोंको स्वभावसे द्वेष होता ही है। राग द्वेष ही तो संसार है, राग-द्वेष न रहे तो संसार ही न रहे, सर्वत्र ब्रह्मका ही साक्षात्कार हो जाय। इस प्रकार हैजाका भय रखता हुआ, तथा इस रोगीसे द्वेष करता हुआ, तथा इस रोगी-रूपसे अतिसमीप विद्यमान अपरिचित पुत्र पर नहीं, किन्तु अतिदूर रंगूनमें अविद्यमान पुत्र पर, अनुराग रखता हुआ वह पिता--सेठ रात्रिपर्यन्त निद्राविना शय्या पर इधरसे उधर पासा बदलता रहा।

इधर उस रोगीका रोग बढता ही जा रहा था। पत्नीने यथाशक्य अनेक उपाय किये, परन्तु सब विफल हो गये, आखिर वह प्रातः

५।। बजे अपने उस अव्यक्त--असली--देशमें जहाँसे आया था, वहाँ चलता बना। उसकी पत्नी छाती पीटती हुई बडे--जोरोंसे रोने लगी। औरतें जब किसीके लिए रोती हैं, तो अपने रोनेमें उसके चरित्रका चित्रण करती हुई--उसकी सात पेढियाँ तक याद कर लेती हैं। वह भी रोती हुई अपने पतिका वृत्तान्त सुनाने लगी। अमुक देश था, अमुक ग्राम था, अमुक बाप--दादा थे। उधर हम रहते थे, इधर जा रहे थे। निर्दयी--विधाताने हाय रे! क्या कर डाला। मनकी मनमें ही रह गई।

भीतरके कमरेमें लेटा हुआ वह बाप भी उसका रोना सुन रहा था। उसके करुण--शब्द धीरे धीरे उसके हृदयको अब हिलाने लगे। अरे! वह ग्राम मेरा, वह नाम मेरा। तब तो यह मरने वाला मेरा ही पुत्र है। अब क्या था? उसमें पुत्रभावका निश्चय होनेपर उसके हृदयमें द्वेषके स्थान पर प्रबल--अनुराग आ धमका। प्रथम जिसको अप्रिय समझता था, उसको अब प्रिय समझने लगा। उसका मन प्रथम कहता था कि--यह मेरा नहीं हैं, अब कहता है कि--यह मेरा है। जबतक--मेरा नहीं, ऐसा भाव था। तबतक उसके बीमार होने पर एवं मरने पर भी उसे किसी प्रकारका दुःख नहीं हुआ था। अब यह मेरा पुत्र है, ऐसा भाव आजाने पर--वह भी रोने लगा, उस मुरदेके पास आकर छाती पीटने लगा। उसकी पत्नीसे कहने लगा कि--'मैं नहीं जानता था कि--यह मेरा पुत्र है, तू मेरी पुत्रवधू है। हाय रे! मैं लुट गया, मेरा सर्व-नाश हो गया। अब मैं रंगून जाकर क्या करूंगा।

इस उदाहरणका तात्पर्य यह है कि--संसारमें पुत्रभाव, पितृभाव

आदि जितने भाव हैं, वे सब आरोपित ही हैं। मूल--पदार्थ कुछ और है, जिसको यथार्थरूपमें एक--मात्र तत्त्वदर्शी ही पहिचानता है। मूढलोग--उसमें अनेक प्रकारके आरोप कर कभी द्वेष करते हैं, तो कभी अनुराग। कभी उससे सुख पाते हैं, कभी दुःख। ये आरोपित भाव सभी अविद्यामूलक हैं। अविद्या भी आरोपित है, अविद्याके आरोपमें अविद्या ही हेतु है। विद्याके द्वारा अविद्या निवृत्त होने पर उसके सभी आरोपित--भाव निवृत्त होजाते हैं। परिशेष एकमात्र--अद्वय--असंग--निर्लेप ब्रह्मभाव ही रह जाता है। इसी ब्रह्मभावको अपना कर मुमुक्षु मुक्त बन जाता है, और जिज्ञासु ज्ञातज्ञेय होकर धन्य एवं कृतार्थ होजाता है।

(१३)

'त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति, मामेभ्यः परमव्ययम्॥

(७। १३)

गुणोंके कार्यरूप--सात्त्विक, राजस एवं तामस इन तीनों प्रकारके भावोंसे अर्थात् राग, द्वेष, मोह आदि विकारोंसे तथा शब्दादि--विषयोंसे यह सब प्राणिसमुदाय मोहित हो रहा है। इसलिए इन तीनों गुणोंसे पर मुझ अविनाशी--निर्विकारी परमात्माको नहीं जानता है।

अनन्तानन्दस्वरूप--भगवान् श्रीकृष्ण--अर्जुनसे कहते हैं कि--यह सम्पूर्ण जगत् मुझे नहीं जानता है, इसका एकमात्र कारण यह है कि--यह मोहित हो गया है। मोहित होनेसे अन्धा हो गया, और अंधा होनेसे मुझे यथार्थतः नहीं देख पाता। मोहका अर्थ है, भ्रान्ति--

विवेकका अभाव। जब प्राणी भ्रान्त होजाता है, तब उसमें विवेक-ज्ञान नहीं रहता। विवेक--ज्ञान न रहनेसे वह व्याकुल होजाता है। और व्याकुल--प्राणी यथार्थ स्वरूपको नहीं जान सकता। '**यथा रज्ज्वां सर्पभ्रमेण व्याकुलः सर्पात्परां रज्जुं न जानाति, तद्वत्**—' जिस प्रकार रस्सीमें सर्पभ्रमसे व्याकुल हुआ मानव, सर्पसे पर रस्सीको नहीं जानता, तद्वत् त्रिगुणात्मक—भावोंसे मोहित हुआ यह प्राणी समुदाय, यथोक्त--गुणोंसे पर अर्थात् व्यतिरिक्त—विलक्षण—नित्यशुद्ध—बुद्ध—मुक्त-स्वभाव, सर्व—भूतात्मा—निर्गुण-निराकार—इन गुणमय-भावोंकी कल्पनाका अधिष्ठान, समस्त विक्रियासे रहित, द्वैत—प्रपञ्चशून्य—आनन्दघन—सबके अत्यन्त सन्निहित—परमेश्वरको नहीं जानता। इसलिए स्वस्वरूपका परिचय न होनेके कारण यह जगत्—अनेकविध-कष्टमय--संसारका अनुभव कर रहा है, यह विवेकशून्य भ्रान्त—प्राणियोंका दुर्भाग्य है। ऐसा भगवान् उनपर अनुक्रोश (दयायुक्त--खेद) दिखा रहे हैं।

अत एव हमारे स्वतः प्रमाण—अतिधन्य वेदोंमें भी त्रिगुणात्मक पाशोंसे छूटनेके लिए कोई ऋषि, भगवान्—अन्तर्यामीसे इसप्रकार प्रार्थना करता है कि—

'ॐ उदुत्तमं वरुण! पाशमस्मद्,
अवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्य! व्रते तव,
अनागसो अदितये स्याम॥'

(ऋ० १।२४।१५। यजु० १२।१२।
(अथर्व० ७।८३।३)

हे वरुण! अर्थात् भक्तजनोंसे वरण करने योग्य! सत्यानन्दनिधि देव! हे आदित्य! अर्थात् चराचर–विश्वात्मन् स्वयं ज्योतिःस्वरूप–प्रभो! हमारे उत्तम, मध्यम एवं अधम पाशोंका कृपया विवेकज्ञानका बल प्रदान द्वारा विच्छेद कर। और तुझ भगवान्–विश्वनाथके व्रतमें अर्थात्–भजन--निष्ठामें निरन्तर निरत हुए हम, समस्त–पापोंसे एवं अपराधोंसे रहित निर्द्वन्द्व होकर दीनता-शून्य अखण्ड–अद्वय परमानन्दघन ब्रह्मभाव-को प्राप्त करनेके लिए योग्य बनें। ऐसी हम प्रार्थना करते हैं।

जबतक त्रिविध–पाशोंका विच्छेद नहीं होता, तबतक हम ब्रह्म-भावको प्राप्त नहीं कर सकते। इन तीन पाशोंमें से–उत्तम–पाश–सत्त्व-गुणात्मक है। उत्तम लोकका प्रापक होनेसे उसे उत्तम पाश कहा है। मध्यम लोकका प्रापक होनेसे रजोगुण मध्यम पाश है, और अधोगति-का हेतु होनेसे तमोगुण अधमपाश है। ऐसा कृपालु भगवान् भी गीतामें कहते हैं—

'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः, मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधोगच्छन्ति तामसाः॥'

(१४ । १८)

अर्थात् सत्त्वगुणमें स्थित हुए पुरुष, स्वर्गादि–उत्तम लोकोंको जाते हैं, और रजोगुणमें स्थित हुए राजस–पुरुष मध्यमें अर्थात् मनुष्य लोकमें ही रहते हैं, एवं तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आल-स्यादिमें स्थित हुए तामस--पुरुष अधोगतिको अर्थात् कीट–पशु आदि–अधम योनियोंको प्राप्त होते हैं।

ये तीनों ही गुण–पाशोंके समान बन्धनके हेतु होनेसे पाश कहे

जाते हैं। उनमें जो उत्तम सत्त्वगुण है, वह यद्यपि—निर्मल होनेके कारण प्रकाशक एवं ज्ञानका जनक है, तथा अनामय होनेके कारण सुखका भी जनक है। तथापि वह भी--ज्ञान एवं सुखको उत्पन्न करके--उनमें 'मैं सुखी हूँ, मैं ज्ञानी हूँ' 'यह मेरे सुखका साधन है' इत्यादि अहं मम के अभिनिवेश द्वारा बन्धनका हेतु होता है। जिस प्रकार लोहेकी साँकल देखनेमें खराब होने पर भी बन्धनमें डाल देती है। उसी प्रकार चांदी एवं सुवर्णकी साँकलें भी देखनेमें सुन्दर होने पर भी बन्धनका हेतु मानी जाती हैं। इसलिए परम—सात्त्विक, वीतराग—सर्वसंगपरित्यागी-सम्राट् आदि—भरत, सत्त्वगुणका कार्यरूप--दयाद्वारा किसी एक हरिणके बच्चेमें आसक्त--मनवाला होगया था।

एक—समय राजा भरत महानदी गण्डकी (नारायणी)में स्नान कर, उसके तट पर एकान्त अरण्यमें बैठकर ॐकारका जप करते रहे। इसी समय एक अकेली--हरिणी प्याससे व्याकुल हो, जल पीनेके लिए सामने किनारे पर आई। जब वह जल पीने लगी तो पास ही एक गर्जते हुए--सिंहकी अति--भयंकर गर्जना हुई। उसको सुनते ही उसका हृदय सिंहके भयसे और भी व्याकुल हो उठा। उसके नेत्र कातर हो गये। और वह अत्यन्त भयभीत हो प्यास दूर होनेसे प्रथम ही--सहसा नदीके दूसरी ओर उछली। वह हरिणी गर्भिणी थी। जब वह उछलने लगी तो अत्यन्त भयके कारण, उसका गर्भस्थ बच्चा योनिद्वारसे निकल-कर नदीके प्रवाहमें गिर गया। वह प्रथम तो अपने झुण्डसे बिछुडी हुई थी, फिर गर्भस्राव, उछलने और सिंहके भयसे व्याकुल होकर वह बहुत ही थक गई थी. अतः वह कूदकर पर्वतकी गुफामें गिरी, और

गिरते ही मर गई ।

राजर्षि भरतने देखा कि--यह दीन सद्योजात मृगका बच्चा, अपने माता--पिता आदि बन्धुओंसे बिछुडकर नदीके प्रवाहमें बहा जा रहा है, तो वे करुणावश हो उस मातृहीन बच्चेको अपने आश्रम पर ले आये। भरतजीको उस मृग--बालकमें धीरे धीरे स्नेह होने लगा । अतः वे नित्यप्रति उसके खाने--पीनेका प्रबन्ध--करने, व्याघ्रादिसे रक्षा करने, लाडलडाने, और पुचकारने आदिमें व्यस्त रहने लगे । इसके कारण-- उनके--भगवान्‌की पूजा--स्मरण--ध्यान आदि साधन दिनों--दिन--एक एक करके छूटते छूटते--अन्तमें सभी छूट गये । मोहवश वे इस प्रकार सोचते रहते थे कि--इस बिचारे--दीन--मृग बालकको कालचक्रके वेगने अपने सम्बन्धियोंसे दूर करके मेरी शरणमें पहुँचा दिया है । यह मुझे ही माता, पिता, भाई--जातिबन्धु समझकर मेरे पास आया है । इसे मेरे सिवा और किसीका कुछ भी पता नहीं है । इसका मुझमें अत्यन्त विश्वास है । मैं भी शरणागतकी उपेक्षा करनेमें जो दोष है--उसे जानता हूँ । इसलिए मुझे अपने इस आश्रितका भली प्रकार सावधानीपूर्वक लालन--पालन--पोषण और प्रीणन करना चाहिए । दीनोंकी रक्षा करने वाले--साधुजन--ऐसे शरणागतकी रक्षाके लिये अपने बडेसे बडे--स्वार्थोंका भी परित्याग कर देते हैं ।

इस प्रकार उस हरिणके बच्चेमें आसक्ति बढ जानेसे राजा भरतका चित्त उसके स्नेहपाशमें बँध गया । और वे बैठने, सोने, भोजन करने आद सभी कार्योंके समय उसको अपने समीप रखने लगे । उस मृगको साथ लेकर ही कन्द--मूल--फल--फूल आदि लानेके लिए वनमें जाते ।

मार्गमें संमोहवश जहाँ तहाँ, अति-स्नेहके कारण अधीर होकर उसे अपने कन्धे पर भी चढा लेते। इसी प्रकार उसे छातीसे लगाकर दुलारते हुए आनन्द विभोर हो जाते। जब कभी वह अकेला ही वनमें चला जाता, उन्हें दिखाई न देता, तो वे-जिसका धन नष्ट हो गया हो, उस कृपण पुरुषके समान-अत्यन्त दुःखी होते। उसके विरहसे व्याकुल हो उत्काण्ठत होकर उसका ही चिन्तन एवं संतप्तहृदयसे उसकी ही प्रतीक्षा करते। जब वह सामने आ जाता तो स्वस्थ-चित होकर उससे अतिप्यार करते हुए-उसके लिए मंगल-कामना करते हुए-उसकी पीठ पर हाथ फेरते हुए और पुचकारते हुए कहने लगते थे कि-बेटा! तेरा सर्वत्र कल्याण हो, अब तू अकेला कहीं मत भाग जाना हो? मेरे साथ ही रहना हो?।'

इसप्रकार तपस्वी राजा भरत, उस मृगके बालकमें-अति दया के कारण-अपनी मन्द-प्रारब्धके योगसे भगवदाराधनारूप-कल्याण मार्गसे भ्रष्ट हो गये। जिन्होंने प्रथम-अपने ही शरीरसे उत्पन्न पुत्रादियोंके दुस्त्यज स्नेहका-तथा विपुल-साम्राज्यके ऐश्वर्योंके एवं भोग-विलासोंके अत्यन्त प्ररूढ मोहका मोक्षमार्गमें साक्षात् विघ्नरूप समझकर परित्याग कर दिया था। उन्हींको-अन्यजातीय मृगके बालकमें ऐसी आसक्ति कैसे हो सकती थी?। इसमें सात्विक-भावमय अति-दयारूप पाश, तथा मन्द-प्रारब्धका योग ही कारण माना जा सकता है। इसी समय जिसका टालना सबके लिए अत्यन्त कठिन है-वह प्रबल-वेगशाली कराल-काल--जैसे चूहेके बिल पर कोई सर्प आ पहुँचे-ऐसे आ पहुँचा। उस समय भी अपने समीप बैठे हुए-पुत्रके समान

शोक करनेवाले—उस प्यारे—मृगको देखते देखते—उसीमें आसक्त चित्त हो—उसीकी ही भावना करते हुए उन्होंने इस शरीरको छोडा। आनन्द-कन्द भगवान्ने गीतामें कहा है कि—

> यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
> तं तमेवैति कौन्तेय! सदा तद्भावभावितः॥ (८।६)

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस जिस भी भाव (पदार्थ)का स्मरण करता हुआ, शरीरको त्यागता है, उस उसको ही प्राप्त होजाता है, परन्तु सदा उस ही भावका चिन्तन करता हुआ। क्योंकि—सदा जिस भावका चिन्तन करता है, अन्तकालमें भी प्रायः उसीका स्मरण होता है।

इसलिए राजर्षि भरत भी—साधारणजनोंकी भाँति—मृग शरीरको प्राप्त हुये। तथापि पूर्वजन्मकी भगवदाराधनाके प्रभावसे पूर्वजन्मकी स्मृति नष्ट नहीं हुई। वे मृगरूप होनेका कारण जानकर अत्यन्त पश्चात्ताप करते हुए—इसप्रकार अपने मनमें कहने लगे—'अहो! बड़े खेदकी बात है कि—मैं कल्याणमार्गसे भ्रष्ट हो गया। मैंने सब प्रकारकी आसक्तियोंका परित्यागकर एकान्त और पवित्र वनका आश्रय लेकर भक्ति एवं ज्ञान द्वारा अपने चित्तको सबके अन्तरात्मा भगवान् वासुदेवमें सावधानता पूर्वक लगाया। परन्तु हाय! मुझ मूर्खका वही चित्त प्रारब्धवश या सात्त्विक—पाशमय—दयावश एक मृगके बालकमें आसक्ति करने पर पतित हो गया।' इसप्रकारकी वैराग्य--भावना द्वारा अनशन व्रत धारण कर उसी ही गण्डकी नदीमें अपने मृग शरीरका परित्याग कर दिया। पश्चात् वे तृतीयजन्ममें जडभरत हुये, और अपनी दृढ

ज्ञाननिष्ठा द्वारा मुक्त हो गये ।

राजर्षि भरतके इस वृत्तान्तसे यह निश्चय होता है कि—उत्तम सत्त्वगुण भी कहीं बन्धनका कारण होजाता है। इसलिए--इस सत्त्वगुणके दया आदि कार्योंसे भी मुमुक्षुको सावधान रहना चाहिए।

एवं रजोगुणके भाव हैं, राग, तृष्णा, संग एवं कर्माभिनिवेश। वे भी प्राणियोंको—अपने पाशोंमें बाँधकर उनका अनिष्ट करते हैं। यहाँ रागका नाम काम है, स्त्री एवं पुरुषकी परस्पर स्पृहाको काम कहते हैं। शब्दादि--विषयोंकी स्पृहाका नाम तृष्णा है। पुत्र, मित्र आदि सम्बन्धियोंके मिलनेकी स्पृहाका नाम संग है। 'मैं यह कर्म करता हूँ' 'इसका यह फल मैं भोगूंगा' इत्यादि भावका नाम कर्माभिनिवेश है। यह दृष्टार्थक एवं अदृष्टार्थक शुभाशुभ--कर्मोंमें वस्तुतः अकर्तारूप पुरुषको अभिमान द्वारा प्रवृत्त कराके पुण्य—पापकी उत्पत्ति द्वारा- उनके फलानुभवके साधनरूप—ऊँचनीच योनियोंमें जन्मका हेतु होता है। इस प्रकार राजस भाव भी बन्धनके हेतु होनेके कारण पाश कहे जाते हैं।

इस प्रकार तमोगुणके भाव हैं प्रमाद, आलस्य एवं निद्रा। वे भी बन्धनके हेतु होनेसे पाश हैं। उनमें असावधानताका नाम प्रमाद है। वह चिकीर्षित (करनेके लिए इष्ट) कर्तव्य--कर्मके परित्यागका एवं अन्यवृथा--कर्मकी प्रवृत्तिका हेतु होता है। और अनेक--जन्मोंमें उपार्जित पुण्य--पुञ्जसे प्राप्त होनेवाले-देवदुर्लभ—एवं मोक्षप्राप्तिमें एक मात्र कारण-अमूल्य मनुष्य जीवनको वृथा ही बरबाद कर देता है। इसलिए कहा है कि—

'आयुषः क्षण एकोऽपि, सर्वरत्नैर्न लभ्यते।
स वृथा नीयते येन, स प्रमादी नराधमः॥

जीवनका गया हुआ एक क्षण भी समस्त रत्नोंके द्वारा भी किसीको वापस फिर नहीं मिल सकता। ऐसे अमूल्य-जीवनका एक क्षण भी जो व्यर्थमें व्यतीत करता है, वह प्रमादी नराधम है।

अत एव श्रीमद्भागवतके द्वितीय स्कन्धमें—इस प्रमादी नराधमका जीवन, किस प्रकार व्यर्थ बरबाद हो जाता है—उसका कुछ दिग्दर्शन इस प्रकार किया है—

'निद्रया ह्रियते नक्तं, व्यवायेन च वा वयः।
दिवा चार्थेहया राजन्! कुटुम्बभरणेन वा॥
देहापत्यकलत्रादिष्वात्मसैन्येष्वसत्स्वपि।
तेषां प्रमत्तो निधनं पश्यन्नपि न पश्यति॥'

(भा० २।१।३-४)

उन प्रमादी विषयासक्त-पुरुषोंकी समस्त आयु रात्रिमें निद्रा अथवा स्त्रीप्रसङ्गसे और दिनमें अर्थसंग्रहकी धूम—धाम या कुटुम्बका लालन—पालन करनेमें बीत जाती है। वे मूढ-लोग, देह, स्त्री, पुत्र आदि अपने झूठे सम्बन्धियोंमें ऐसे आसक्त हो जाते हैं—कि-उनका नाश होना, देखकर भी नहीं देखते।

प्रमादी—विषयी मानवोंके चिरजीवनसे कुछ भी लाभ नहीं, हानि ही हानि है। प्रमाद-रहित विवेकी मानवका एक मुहूर्तका अत्यल्प जीवन भी महान् लाभ प्राप्त करा देता है। इस विषयका राजर्षि खट्वाङ्गके दृष्टान्त द्वारा श्रीमद्भागवतमें ऐसा वर्णन किया है कि—

'किं प्रमत्तस्य बहुभिः परोक्षैर्हायनैरिह।
वरं मुहूर्तं विदितं घटेत श्रेयसे यतः॥
खट्वाङ्गो नाम राजर्षि-र्ज्ञात्वेयत्तामिहायुषः।
मुहूर्तात्सर्वमुत्सृज्य गतवानभयं हरिम्॥

(भा० २।१।१२-१३)

भगवान्‌से विमुख और विषयासक्त रहकर, संसारमें बहुत वर्षों तक जीनेसे भी क्या लाभ ? हानिके सिवाय कुछ भी नहीं। हमें तो जिससे निःश्रेयस (कल्याण)की प्राप्ति हो, ऐसा ज्ञान, भक्ति एवं वैराग्य-युक्त एक मुहूर्तका जीवन भी अच्छा प्रतीत होता है। राजर्षि खट्वाङ्गको जब अपनी आयुका अन्त विदित हुआ तो एक मुहूर्तमें ही सर्वस्व त्यागकर वे अभय देने वाले श्रीहरिको प्राप्त हो गये।

मोक्षप्राप्तिके लिए अनेक प्रकारकी सुलभ अनुकूलताएँ प्राप्त होने पर भी—जो उनसे मानव—जीवनका मुख्य उद्देश्य-मोक्षकी सिद्धिके लिए प्रयत्न नहीं करता है, वह प्रमादी आत्मघाती है। अतएव श्रीमद्भाग-वतके एकादश--स्कंधमें इसी ही प्रमादको आत्महत्या नामसे कहा है—

'नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं, प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयाऽनुकूलेन नभस्वतेरितं, पुमान् भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा॥

(११।२०।१७)

यह मनुष्य शरीर आद्य है, अर्थात् समस्त अभीष्ट-शुभ-फलोंकी प्राप्तिका आदिकारण है। यह सुकर्मियोंके लिए सुलभ है, और दुष्क-र्मियोंके लिए अति-दुर्लभ है। संसार-सागरसे पार होनेके लिए सुदृढ नौकारूप है। गुरु ही इसके कर्णधार हैं, तथा अनुकुल-वायुरूप मेरे द्वारा अर्थात् मुझ भगवान्‌की कृपा द्वारा ही प्रेरित होकर यह नौका पार

लग जाती है,–ऐसे इस मानव शरीरको पाकर भी जो पुरुष संसार समुद्रसे पार नहीं होता, वह आत्मघाती ही है, आप ही अपना शत्रु है, नाशक है।

अनुद्यम यानी स्तब्धता है—अन्य नाम जिसका, उसे आलस्य कहते हैं। वह निश्चेष्ट होनेके कारण उत्साहका प्रतिरोध करता है। स्वाप (सो जाना)का नाम निद्रा है। समस्त—बाह्येन्द्रियोंकी उपरति रूप—तमोगुणकी अवस्था--विशेषको निद्रा कहते हैं। इसप्रकार तमोगुण भी अपने प्रमादादि--भावोंके द्वारा बन्धनका हेतु सिद्ध होता है। एवं यह समग्र—चराचर जगत्, गुणोंके सात्त्विक, राजस एवं तामस भावोंसे अनादिकालसे बंधा हुआ है, एवं मोहित हुआ है, इसलिए वह इनसे पर—परमात्माको नहीं जान सकता है। अतएव वह वारंवार जन्म-मृत्यु आदि सैकडों एवं हजारों दुःखोंका सतत अनुभव करता रहता है।

शव्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, ये पाँच विषय भी तीन गुणोंके विकार हैं, इनसे भी सभी प्राणी मोहित हो रहे हैं। मोहके कारण कर्ण, त्वक्, चक्षु, जिह्वा एवं नासिका ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ अपने अपने विषयकी तरफ हरदम आकृष्ट रहा करती हैं। इससे जीवात्माको अनेक प्रकारके कष्ट भोगने पडते हैं। इसलिए श्रीमद्भागवतमें भक्तप्रवर—प्रह्लादजी, भगवान् श्रीनृसिंहकी स्तुति करते हुए कहते हैं कि—

'जिह्वैकतोऽच्युत! विकर्षति माऽवितृप्ता,
शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित्।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्तिः
बह्व्यः सपत्न्यः इव गेहपतिं लुनन्ति॥'
(७।९।४०)

हे अच्युत ! प्रभो ! जिसप्रकार बहुत-सी सपत्नियाँ (सौतें) अपने स्वामीको अपनी ओर खींचती हुई कष्ट देती हैं, उसी प्रकार इस प्राणीको अतृप्त-रसना (जिह्वा) एक ओर, गुह्येन्द्रिय—उपस्थ, दूसरी ओर, त्वचा, उदर एवं कर्ण तीसरी ओर, घ्राण और चञ्चल नयन किसी ओर तरफ, तथा हस्तपादादि कर्मेन्द्रियाँ भी किसी और ही स्थानकी ओर खींचती हुई महान् कष्ट देती हैं।

भागवतके गेहपति एवं सपत्नियोंके दृष्टान्तमें वहुत सपत्नियोंकी तो बात ही क्या करना ?। परन्तु दो भी सपत्नियाँ हों तो वे अपने स्वामीको हैरान कर देती हैं। इस विषयका एक उदाहरण सुनिये।

एक नगरमें एक बाबू रहता था, उसे दो औरतें थीं। वे बडी बलिष्ठ एवं लडाकू थीं। ईर्षा एवं द्वेषवश हर समय आपसमें झगडा-टंटा किया करतीं थीं। बाबू दिनभर आफिसमें काम करता था। कभी कभी ज्यादा काम होनेके कारण वह सायं बडी देरसे घर पहुँचता था। इन औरतोंको समझाते समझाते वह तंग हो गया था। किसी भी प्रकार वे शान्तिसे नहीं रहती थीं। एक रोज वह बडी देरसे घर पहुँचा। वहाँ उसने देखा कि—दोनोंका अखाडा खूब जमा हुआ है, एक दूसरेको मुँहफट गालियाँ दे रही हैं। एक औरत ऊपर रहती थी और एक नीचे। जब बाबू सीडी द्वारा ऊपर जाने लगा तो नीचेवाली औरतने उसका पैर पकड लिया और गर्जनाके साथ ताना देती हुई बोलने लगी कि—'तू ऊपर क्यों जाता है? इस घरमें प्रथम मैं आई हूँ, इसलिए मैं तेरेको कभी ऊपर उस रांडके पास नहीं जाने दूंगी, चाहे कुछ भी हो जाय।' जब ऊपरवाली औरतको मालूम हुआ कि—नीचे

वाली मेरी सौत—उसे ऊपर नहीं आने देती है—तब वह सौतको गालियाँ देती हुई उसके हाथको ऊपर पकड लिया। और कहने लगी कि—छोड इसके पैरको रांड ! ऊपर आने दे, यह नीचे तेर यहाँ नहीं रहेगा, तेरे फंदेसे छूटनेके लिए ही तो यह मेरेको इस घरमें लाया है।

बाबू प्रथमसे ही दुर्बल था, घरकी लडाईसे और भी ज्यादा दुर्बल हो गया था। और आफिसमें लगातार कई घण्टे काम करते करते बहुत ही थका माँदा हो गया था। भूखा प्यासा भी था। इसलिए उसमें न तो पैर या हाथ छुडानेकी ताकत थी। दोनोंको अनुनय—विनयके साथ समझाता था, परन्तु दोनोंने ही हठ पकड रखा था। एक कहती थी कि—मैं नहीं मानूंगी, पैर कभी नहीं छोड़ूंगी, तू अपनी ऊपरवालीको मना। ऊपरवाली कहती थी—चाहे कुछ भी हो जाय, मैं न तो इसका हाथ ही छोड़ूंगी, न इसे नीचे ही रहने दूँगी। इसको ऊपर लेकर ही छोड़ूंगी।

इसप्रकार सारी रात्रि—पर्यन्त खींचातानीका घमासान युद्ध चलता रहा। बाबू रोता रहा परन्तु उन निर्दयी—औरतोंको उसके रोनेकी एवं कष्टकी भी कुछ परवाह नहीं थी। वे अपना अपना हठ पूरा करनेके लिए दृढ--प्रतिज्ञ थीं। आसपासके पडोसी सब खा—पीकर सो गये थे, इसलिए वे भी इसको कष्टसे छुडानेके लिए नहीं पहुँच सके। प्रातःकाल हुआ, पडोसी जब जागे और इस बिचारे बाबूकी पुकार सुनी, तब वे वहाँ पहुँचकर दोनों औरतोंको धमका—फटकारकर बडी मुश्किलसे उसको छुडाया। दैवयोगसे उस बाबूके घरमें रात्रिमें चोरी करनेके लिए एक चोर भी आया हुआ था। वह भी घरके एक अंधेरे—कोनेमें छिपा हुआ,

यह तमाशा देख रहा था। वह प्रतीक्षा कर रहा था कि—कब यह मामला समाप्त हो और मैं अपना काम करूं। परन्तु चोरके दुर्भाग्यसे खींचातानीका मामला जल्दी समाप्त नहीं हुआ, सारी रात्रि पर्यन्त चलता रहा—और वह अपना काम न कर सका, प्रातः पडोसियोंने उसको भी कोनेमें छिपा हुआ देख लिया और पकड लिया। और उसको पुलिसके थानेमें पहुँचा दिया। थानेदारने उससे पूछा—उसने सच्ची ही बात कह डाली कि—मैं चोरी करने गया था। परन्तु मैं चोरी न कर सका—इसमें कारणरूपसे उस घमासान युद्धका आँखों देखा आबेहूब वर्णन किया, और उसने हँसते हुए थानेदार साहबसे कहा कि—साहब! मेरे इस अपराधका आप जो भी दण्ड देंगे, उसको मैं सहर्ष भोग लूंगा, परन्तु आप उस बाबूका दण्ड मुझे मत देना। दो ओरतोंका आदमी मुझे मत बनाना। उसकी बात सुनकर थानेदार भी ठहाका मारकर हँस पडा।

इस उदाहरणका तात्पर्य यह है कि—ये विषयासक्त—इन्द्रियाँ भी उन झगडालू औरतोंके समान हैं, और वे अपने स्वामी जीवात्माको अनेक प्रकारके कष्ट देती रहती हैं। इनमें विषयोंका मोह ही कारण है। मोहित—इन्द्रियाँ दुःख देती हैं, और मोहरहित इन्द्रियाँ निर्मल—आनन्द देती हैं। इसलिए जिसे दुःख—निवृत्तिकी तथा शाश्वत—सुखकी अभिलाषा है, वह विवेक—वैराग्य द्वारा अपनी इन्द्रियाँको विषयोंके मोहसे मुक्त करे।

'आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः।
तज्जयः संपदां मार्गः येनेष्टः तेन गम्यताम्॥'

इन्द्रियोंका असंयम अर्थात् विषयलोलुपता, विपत्तियोंका ही मार्ग कहा गया है; और इन्द्रियोंकी विजय अर्थात् विषय–लोलुपताका अभाव ही सुख–सम्पत्तियोंका मार्ग है, जो मार्ग इष्ट हो, उससे जायें।

यह सबके प्रत्यक्षकी बात है कि–हमारी ये इन्द्रियाँ अपने अपने विषयोंमें मोहित होनेके कारण उनकी तरफ आकृष्ट रहा करती हैं। यदि विषयोंका मोह न हो तो उनकी तरफका आकर्षण ही न रहे। अतः मोह ही आकर्षक माना गया है। विषयोंका मोह इतना प्रबल है कि–इन विषयोंका जितना ज्यादा भोग किया जाय, उतना ही वह ज्यादा बढता जाता है। और प्रभूत रोग, शोक, संताप देता रहता है। तो भी वह कभी घटता नहीं। अतएव विषयोंके भोगसे इन्द्रियोंको कभी तृप्ति नहीं होती। इस जिह्वाको ही लीजिए। इस रांडको आपने अपने जीवनमें कितना अच्छा सुस्वादु–रुचिकर षड्रस–सम्पन्न माल मसाला खिलाया है, उसका यदि हिसाब लगाया जाय तो एक विशाल दुकानमें भरा हुआ सामानके समान सामग्रियोंका ढेर लग जायगा। परन्तु इसको इनसे कभी तृप्ति नहीं हुई। इसकी तृष्णा अधिकसे अधिक बढती ही गई। और भी अच्छे से अच्छा दिनमें तीन वार क्या? दसवार खाती ही रहूं, विविध–रसोंका स्वाद लेती ही रहूं, ऐसी उसकी उत्कृष्ट इच्छा बनी ही रहती है। इसलिए वह हरदम अपने प्रिय विषय रसकी तरफ आकृष्ट बनी रहती है। एवं यह गुह्येन्द्रिय भी अपने तुच्छ विषय–सुखसे इतनी मोहित बनी हुई है कि–वह अनेक जन्म–जन्मान्तरों के दुःख भोगने पर भी अपने विषय–सुखसे उपरत नहीं होती किन्तु उसके लिए सदा–लालायित बनी रहती है। वह भी कभी तृप्त नहीं

होती। 'अग्निमें घृतकी आहुतिके समान' उसकी विषय-भोगेच्छा बढती ही रहती है। इसलिए वह भी अपने अभीष्ट विषयकी तरफ आकृष्ट बनी रहती है। उसकी प्राप्ति न होने पर वह अनेक प्रकारके सन्तापोंका भी अनुभव करती है।

एवं यह त्वक्-इन्द्रिय भी स्त्री-पुत्रादि-प्रिय-शरीरोंके अनेक प्रकारके आश्लेषोंको तथा अच्छे वस्त्र-आभूषण कोमल-शय्या, पाउडर-स्नो आदिको सदा चाहती रहती है। उसका भी प्रिय पदार्थोंके मिलनका मोह खूब बढा चढा है। इस पेट--सेठकी तो बात ही मत पूछो, यह भी अच्छेसे अच्छे भक्ष्य, भोज्य, लेह्य एवं चोष्य चतुर्विध पौष्टिक-माल मसालोंको अपने भीतर ठोंसकर भरके हरदम तना ही रहना चाहता है। कुछ कम मसाला मिलने पर रोने लगता है। सर्वथा न मिले तो उसके मुंह फट रोनेमें किसी प्रकारकी कसर ही नहीं रहती। एवं ये कानदेव गान-तानके बडे शौकीन हैं। सिनेमाकी अश्लील-तर्जोंके सुननेकी तरफ ये कलियुगी-कान खूब आकृष्ट बने रहते हैं। एवं यह नासिका विविध-प्रकारकी सुगन्धियोंकी तरफ आकृष्ट बनी रहती है। और ये चपल-नयन, सुन्दर-मनोरम-रूपोंकी तरफ दौडते रहते हैं। परन्तु उनको अपने विषयोंके भोगसे कदापि तृप्ति नहीं होती। वे हरदम अतृप्त ही बने रहते हैं। इसलिए ये मोहित-इन्द्रियाँ, विषयोंकी तरफ जीवात्माको खींचती ही रहती हैं। और उसको सौतोंकी तरह अनेक प्रकारके कष्ट देती रहती हैं। इसलिए प्रश्नोत्तरीमें आचार्य-शंकर भगवत्पादने कहा है कि—

'दुःखी सदा को? विषयानुरागी।'
'के शत्रवः सन्ति? निजेन्द्रियाणि।'

शिष्यने गुरुदेवसे प्रश्न किया—हे भगवन्! इस संसारमें सदा दुःखी कौन रहता है? गुरुदेव बोले—विषयोंमें अनुराग रखने वाला ही सदा दुःखी बना रहता है। फिर शिष्यने पूछा—कृपानिधान! इस प्राणीके शत्रु कौन हैं? गुरुने उत्तर दिया—विषयोंसे मोहित हुई अपनी इन्द्रियाँ ही अनिष्टकारी शत्रु हैं।

अत एव राजर्षि—मनुमहाराजने कहा है—

'इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेत विद्वान् यन्तेव वाजिनाम्॥'
(म० स्मृ० २।८८)

मोह द्वारा आकर्षण करने वाले—विषयोंमें उच्छृंखल भावसे विचरने वाली इन्द्रियोंके संयमके लिए विचारशीलको खूब प्रयत्न करना चाहिए, जैसे घोडोंके नियमनके लिए सारथी प्रयत्न करता है।

विषयोंका मोह सभी प्राणियोंको दुःख देता है। अतएव शास्त्र-कारोंने कहा है कि—

'कुरङ्गमातङ्गपतङ्गभृङ्ग-मीनाः हताः पञ्चभिरेव पञ्च।
एकः प्रमादी स कथं न हन्यते, यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च॥'

जब हरिण, हाथी, पतिङ्गा, भ्रमर एवं मछली, शब्दादि एक एक विषयोंके मोहके कारण नष्ट हो जाते हैं। तब वह प्रमादी—विषयलम्पट मानव जो एक साथ पांचों—विषयोंमें आसक्त होकर पांचों इन्द्रियोंसे उनका सेवन करता है, उसका विनाश क्यों नहीं होगा? अवश्य होगा।

हरिणोंको शब्द—विषयमें बडा मोह होता है। उनको पकडनेके लिए शिकारी—लोग सुरीले—वीणा आदि बाजें लेकर अरण्यमें जाते हैं।

वहाँ वे बडे-मोहक-स्वरसे बाजें बजाते हैं। इन बाजोंका मधुर स्वर सुनकर हरिण उनके समक्ष आकर खडे हो जाते हैं, उसके सुननेमें वे इतने मस्त हो जाते हैं कि-उनको अपने शरीरका भी कुछ भान नहीं रहता। शिकारी लोग जब देखते हैं कि-ये हरिण बाजोंके स्वरोंमें अत्यन्त मोहित हो गये हैं, बेभान हो गये हैं, तब उनको बाणोंसे वेधकर मार डालते हैं। देखिये इस एक शब्द-विषयके मोहने हरिणोंका विनाश कर दिया।

हाथी स्पर्श-विषयमें बडा आसक्त रहता है। उसको पकडनेके लिए शिकारी लोग, जंगलमें एक लम्बा चौडा गहरा खड्डा बनाते हैं, और उसके ऊपर एक कमजोर-वांसोंका मचान बनाकर उसके चारों तरफ हरा घास डालकर उसके ऊपर एक कागजकी बनी हुई नकली हथिनीको खडा कर देते हैं। अरण्यमें स्वच्छन्द-गतिसे विचरने वाला मस्ताना हाथी जब हथिनीको देखता है, तब वह उसके स्पर्शके मोह-वश भान भूल जाता है; अतः इसमें असली एवं नकलीके पहिचाननेके लिए विवेक-बुद्धि नहीं रहती। वह उसको भेटनेके लिए दौड पडता है। दौडता हुआ जब वह खड्डेके उस मचान पर आ जाता है, तब उसके भारसे मचान टूट जाता है; और धडाम देकर हाथी खड्डेमें गिर पडता है। उसको बडी चोट लगती है, खड्डा गहरा होनेके कारण वहाँसे स्वतः निकल नहीं सकता। वहाँ वह कई रोज तक भूखा-प्यासा रहकर खूब कमजोर हो जाता है। तब शिकारी लोग उसको वाहर निकालकर सदाके लिए अपना गुलाम बना लेते हैं। हाथीकी यह दुर्दशा एक स्पर्श विषयके मोहके कारग हुई।

पतिङ्गा रूपसे मोहित हो जाता है। दीप-शिखाका सुन्दर रूप देखकर वह भान भूलकर उसमें कूद पडता है। और जलकर भस्म हो जाता है। वह प्रथम देखता है कि—मेरे जैसे अनेक पतिङ्गे इस दीपशिखासे जलकर मर गये हैं, मैं भी यदि उस पर गिरूंगा तो अवश्य मर जाऊंगा, ऐसा विवेक, उसके भीतर रूपका मोह पैदा नहीं होने देता। देखता हुआ भी अंधा हो जाता है, इसलिए उसकी भी वही गति—जो सब प्राणियोंके लिए एक—रोज किसी न किसी निमित्तसे मिलती है—होती है। रूपका मोह पतिङ्गोंके विनाशका कारण बनता है।

भ्रमर गन्धका बडा प्रेमी होता है। वह अनेक प्रकारके पुष्पोंकी सौरभ लेता हुआ अन्तमें सरोवरके कमलोंकी उत्कट—सौरभ लेनेके लिए जाता है। कमलकी सुगन्धसे वह इतना मोहित होजाता है कि—कमलके भीतर ही बैठा रहता है। सूर्यास्त होने पर जब कमल मुकुलित होने लगते हैं, तो भी वह वहाँसे नहीं हटता। कमलके मुकुलित होने पर भ्रमरको भीतरमें पवन न मिलनेके कारण बडा कष्ट उठाना पडता है— तो भी वह—कठोर—लकडीके छेद करनेकी क्षमता रखने वाला—भ्रमर कमल के कोमल पत्तोंका मोहवश छेद करनेके लिए निष्क्रिय होजाता है।

'दारुभेदनिपुणोऽपि षडङ्घ्रिर्निष्क्रियो भवति पङ्कजकोशे।'

कमलकोशके भीतर बैठा हुआ, कष्ट भोगता हुआ भी वह शुभ समयकी प्रतीक्षा करता हुआ इसप्रकार कविके शब्दोंमें कहता है कि—

'रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं,
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति पद्मगते द्विरेफे,
हा हन्त हन्त—नलिनीं गज उज्जहार॥'

यह कष्टदायिनी रात्रि चली जायगी, अच्छा प्रभात अवश्य होगा, भगवान् भास्वान् अवश्य उदित होंगे। और यह कमलोंकी विकसित शोभा फिर हँस पडेगी। इस प्रकार कमलमें अवस्थित हुआ और शुभ समयका चिन्तन करता हुआ—भ्रमर—जब कोई हाथी कमलको तोडकर खा लेता है—तब हा—हा—बडे खेदकी बात है कि—कमलके साथ नष्ट हो जाता है। उसके मनके मनोरथ मनमें ही रह जाते हैं; और उसको उसके बीचमें ही समाप्त होजाना पडता है। संसारासक्त—मानवोंकी भी ऐसी ही दशा होती है, उनके मनोरथ पूरे नहीं होने पाते और काल-देवताकी बीचमेंही घण्टी बज जाती है। तब रोता हुआ यहाँसे सब कुछ छोडकर उसे चलना ही पडता है। विश्व-शासक—कालदेवताके सामने उसकी किसी प्रकारकी बहाना बाजी नहीं चलती। नहीं चाहने पर भी मरनेके लिए तैयार रहना पडता है।

भ्रमर की यह दुर्दशा गन्धके मोहसे हुई। एवं मछली रस विषयमें बडा स्नेह रखती है। उसको पकडने वाले लम्बी डोरीके आगे एक—लोहेका कांटा बांधते हैं—और उसके ऊपर खानेकी कोई चीज लगा देते हैं। मछली रसके मोहसे भान भूलकर—उसको खानेके लिए जब जोरसे मुँह लगाती है, तब उसके भीतरमें छिपा हुआ वह कांटा उसके तालुमें घुस जाता है। और उससमय पकडनेवाला पानीसे डोरी खींच लेता है—उसके साथ वह मछली भी आकृष्ट होकर आजाती है और तडफ तडफ कर मर जाती है। इसप्रकार रसका मोह ही मछलीकी मृत्युका कारण बना।

जब एक—एक—विषयके मोहके कारण इन अबोध—प्राणियोंकी ऐसी

दुर्दशा एवं विनाश हुआ, तब एक साथ इन पाँचों विषयोंमें प्रबल मोह रखनेवाले मानवकी दुर्दशा एवं विनाश होनेमें तो कहना ही क्या ?। वे प्राणी इनकी बुराइयोंको यथावत् जानते तो कभी भी उनमें नहीं फँसते। और न अपनी दुर्दशा होने देते। परन्तु नहीं जाननेसे ही उनकी ऐसी दुर्दशा होती है। परन्तु अपनेको बुद्धिमान् कहनेवाला एवं समझदार समझनेवाला मानव इन विषयोंके मोहकी बुराइयोंको जानता हुआ भी जब उनमें फँसकर अपनी दुर्दशा करा लेता है। तब बडा आश्चर्य एवं खेद होता है, और मोहकी महिमा बडी गहन है, ऐसा कहकर चुप होजाना पडता है।

इसलिए राजर्षि–भर्तृहरिजीने वैराग्यशतकमें कहा है कि—

'अजानन्माहात्म्यं पतति शलभो दीपदहने।
स मीनोऽप्यज्ञानात् बडिशयुतमश्नाति पिशितम्॥
विजानन्तोऽप्येते वयमिह विपज्जालजटिलान्।
न मुञ्चामः कामान्, अहह गहनो मोहमहिमा॥'

देखो! यह पतङ्ग, दीपकी ज्वालामें इसलिए गिरकर भस्म होजाता है कि—वह यह नहीं जान सकता था कि—यह लुभावना--रूप मुझे नष्ट कर देगा। यदि ऐसा वह जानता तो उसमें आकर कभी भी न गिरता। इसप्रकार यह मछली भी इसलिए अन्दर छिपे हुए कांटेवाले मांसको खानेके लिए मुँह मारती है कि—वह नहीं जानती थी कि—उसके भीतर प्राण लेनेवाला काँटा छिपा हुआ है। यदि वह उसे जान लेती तो कभी भी उसे खानेके लिए नहीं दौड पडती। परन्तु हम विषयासक्त मानवोंको देखो तो सही--हम सब जानते हैं कि--ये विषय अन्तमें बडे

दुःखदाई ही होते हैं, तथापि हम उनकी अभिलाषा क्यों नहीं छोड रहे हैं ? इसमें केवल मोहकी गहन—महिमा ही कारण है ।

इसलिए राजर्षि-भर्तृहरिजी अपने चित्तको विषयोंके मोहका त्याग करनेके लिये उपदेश देते हैं कि—

'मोहं मार्जयतामुपार्जय रतिं चन्द्रार्धचूडामणौ,
चेतः ! स्वर्गतरंगिणीतटभुवामासङ्गमङ्गीकुरु ।
को वा वीचिषु बुद्बुदेषु च तडिल्लेखासु च स्त्रीषु च;
ज्वालाग्रेषु च पन्नगेषु च सरिद्वेगेषु च प्रत्ययः ॥'

हे चित्त ! विवेक—वैराग्यद्वारा तू अपने विषयोंके मोहका मार्जन कर, और मोहके स्थान पर तू--जिसके मस्तकमें अर्द्ध—चन्द्र चूडामणि नामक—भूषणके समान सुशोभित हो रहा है--उस भगवान् कृपालु श्रीशंकर महादेवमें उस प्रसिद्ध प्रीतिका उपार्जन कर। जिसका बडे बडे ऋषियोंने एवं सन्त—भक्तोंने उपार्जन किया था। अत एव तू मोह छोडने एवं प्रीति करनेके लिए पावन गंगातटके वृक्षोंके नीचे विश्रान्ति लेता हुआ--शान्तिसे बैठ। और विचार कर कि--ये मोहके हेतु शब्दादि विषय, तरङ्गोंके समान आगमापायी हैं। बुद्बुदोंके समान आपात—रमणीय हैं। विद्युत्की रेखाओंके समान क्षणभंगुर हैं, ज्वालाओंके अग्र-भागके समान सद्यः संतापकारी हैं। सर्पोंके समान हृदयमें मोह--विषका संचारकर सर्वनाशके हेतु हैं। नदीके प्रचण्ड--वेगोंके समान आकर्षक हैं। तथा स्त्रियोंके समान लुभावने एवं परिणाममें बडे दुःख दाई हैं। इसलिए तू इनमें सुख--शान्ति मिलनेका विश्वास मत रख। अथवा युवती सुन्दरी स्त्रियोंमें एक ही साथ शब्दादि पाँचों विषयोंकी उपलब्धि

होती है। इसलिए इनके आपात रमणीय चञ्चल शरीरोंके विलासोंमें सुख शान्ति मिलनेका विश्वास मत कर। अथवा विवेकी, वीचि--आदिके समान अनेक प्रकारकी बुराइयोंसे भरे हुए--विषयोंमें कैसे विश्वास रख सकता है? नहीं रख सकता। वह तो अविनाशी परम–रमणीय अमृत-स्वरूप--सत्यानन्दनिधि स्वयंज्योतिःस्वरूप भगवान् सर्वेश्वर-श्रीशंकरका ही प्रबल विश्वास रख उसमें ही परा-प्रीति जोड सदा आनन्दित रहता है।

ये शरीर भी तीन गुणोंके कार्य हैं। अतएव सात्त्विकादि त्रिविध भावोंसे समन्वित हैं, इनमें भी एक साथ शब्दादि–विषयोंकी उपलब्धि होती है, इसलिए ये भी मोह शोकादिके उत्पादक हैं। अविद्या द्वारा इनमें सभी प्राणियोंको अहंभाव एवं ममभाव हो रहा है। यद्यपि ये शरीर इदमर्थ हैं, अनात्मा हैं, तथापि उनको सभी प्राणी अहमर्थ आत्मा ही मान बैठे हैं, यह स्वाभाविकी–भ्रान्ति लोकप्रसिद्ध है। अत एव ये शरीर मोहके आस्पद हो रहे हैं, इनमें सभी प्राणी मोहित बन गये हैं। अतः आचार्य–भगवत्पादने विवेक–चूडामणिमें कहा है—

'मोह एव महामृत्युर्मुमुक्षोर्वपुरादिषु।
मोहो विनिर्जितो येन, स मुक्तिपदमर्हति॥'
मोहं जहि महामृत्युं देहदारसुतादिषु।
यं जित्वा मुनयो यान्ति तद्विष्णोः परमं पदम्॥'

शरीर–इन्द्रियादियोंमें जो मोह है, वही मुमुक्षुके लिए महामृत्यु है। जिसने इस मोहका विजय किया है; वही मोक्ष--पद प्राप्त करनेके लिए योग्य होता है। इस लिए देह, स्त्री, पुत्रादिमें जो महामृत्युरूप

मोह है; इसका तू परित्याग कर। मननशील-तत्त्वदर्शी—महामानव, मोहका विजयकर जिसे प्राप्त होते हैं, वही विष्णुका परं पद है।

शरीरादियोंके प्रबल मोहके कारण ही इनके वर्णाश्रमादि—धर्मोंका सकल धर्म विनिर्मुक्त—अन्तरात्मामें अभिनिवेश होता रहता है। यह अभिनिवेश इतना बड़ा सुदृढ़ है कि—वेदान्तकी बड़ी बड़ी बातें कतरने-वाले लोग भी इससे अविमुक्त देखे जाते हैं। अपने को जो संसार—त्यागी एवं विरक्त मानते हैं; ऐसे साधु लोग भी सबसे ज्यादा वर्णाभिमानसे युक्त देखे जाते हैं। जो ब्राह्मणवर्णका साधु होता है, वह गलेमें अभि-मानका ढोल बाँधकर पद पद पर 'यह ब्राह्मणका शरीर है रे! ब्राह्मण-का शरीर' ऐसा डंका बजाता रहता है। छाती निकालकर गर्वसे फूला नहीं समाता है, और दूसरोंको घृणाकी दृष्टिसे देखता रहता है। जो ब्राह्मणेतर साधु होता है; वह चोरके समान गुपचुप बना रहता है। और इस बातसे डरता रहता है कि—कहीं कोई मेरी जातिके विषयमें घटस्फोट न कर दे। इसलिए वह अनजान स्थल पर शब्दान्तर या प्रकारान्तरसे अपनेको उच्च—कुलीन वंशका सिद्ध करनेका भरसक प्रयत्न करता रहता है—जिससे लोग मेरेमें अर्थात् मेरे शरीरमें गौरवका अनु-भवकर मेरे भक्त बन जाँय। यही उसकी आकाङ्क्षा बनी रहती है। ये सब अनात्मा—देहादिमें आत्मत्वाभिनिवेशके ही दुर्भाव हैं, इनको दूर किये विना कोई भी चाहे वह सकल—शास्त्र—पारंगत—महाकुलीन त्यागी संन्यासी भी क्यों न हो? विशुद्ध—आत्मस्वरूपका अनुभव नहीं कर सकता। न वह निर्द्वन्द्व हो सकता है। एवं न मोक्ष-सुख ही प्राप्त कर सकता है। अत एव मैत्रेय्युपनिषद्में कहा है—

'वर्णाश्रमाचारयुताः विमूढाः कर्मानुसारेण फलं लभन्ते।
वर्णादिधर्मं हि परित्यजन्तः, स्वानन्दतृप्ताः पुरुषा भवन्ति ॥'

जो वर्ण, आश्रम एवं उनके आचारके अभिमानसे युक्त हैं; वे ज्ञानवान् नहीं, किन्तु महामूढ हैं। अत एव वे कर्मबन्धनसे कभी मुक्त नहीं हो सकते, उनको कर्मोंके अनुसार फल भोगना ही पड़ता है। जो सत्पुरुष, विवेक-वैराग्य द्वारा वर्णादि-धर्मोंके अभिमानका परित्याग कर देते हैं; वे ही अपने आत्मस्वरूपके विशुद्ध आनन्दसे तृप्त हो जाते हैं।

सात दिन तक मेरे द्वारा श्रीमद्भागवतका श्रद्धा एवं एकाग्रता पूर्वक-श्रवण करने पर तू मृत्युभयसे अवश्य ही मुक्त हो जायगा, तथा अभय, आनन्दपूर्ण-ब्रह्मधामको प्राप्त कर लेगा, ऐसी प्रतिज्ञाके साथ अवधूत-शिरोमणि श्रीशुकदेवजीने राजा परीक्षित्को श्रीमद्भागवत-श्रवणमें प्रवृत्त किया। परन्तु जब परीक्षित् छः रोज तक भागवत श्रवण करने पर भी मृत्युभयसे मुक्त नहीं हुये, और न उन्हें अभय, आनन्द, अद्वय ब्रह्म-पदका कुछ अनुभव ही हुआ। तब परीक्षित्ने विनयके साथ श्री शुकदेवजीसे कहा-भगवन्! श्रीमद्भागवतका श्रवण करते हुए मेरे छः रोज समाप्त हो गये, एक रोज ही अब बाकी बचा है, अभी तक मैं अभय नहीं हुआ। जिसप्रकार कोई रोगी, सात दिवस तक-इस रसायनका अमुक पथ्य एवं अनुपानके साथ सेवन करने पर अवश्य तू रोगसे मुक्त हो जायगा, ऐसे प्रवीण एवं प्रामाणिक-वैद्यराजके आश्वासनपूर्वक-छः दिवस तक रसायनका सेवन करने पर थोडा भी रोग मुक्त नहीं होता, उसे अल्प भी स्वास्थ्य लाभ नहीं मिलता, तब एक रोज परिशिष्ट रहने पर वह निराश हो जाता है-उसी प्रकार राजा

परीक्षित् भी निराश हो गया। मनमें सोचने लगा कि—छः रोज तक जिस औषधिने मुझे कुछ भी लाभ नहीं पहुँचाया, वही औषधि आगेके एक रोजमें पूर्ण लाभ पहुँचायेगी, ऐसा विश्वास कैसे किया जा सकता है?।

राजा परीक्षित्के निराशा—सूचक वचन सुनकर तथा चिन्ताग्रस्त उदास—मुख देखकर वीतराग परम—श्रद्धेय श्री शुकदेवजीने राजा परीक्षित्के प्रति—मानव जबतक अनात्मा—देहादिमें अहंभावका सर्वथा परित्याग नहीं करता, तबतक वह निर्भय नहीं हो सकता—इस तात्पर्यका सूचक एक दृष्टान्त इस प्रकार कहा—हे राजन्! तू एक दृष्टान्त सुन, इसके श्रवण द्वारा तेरी निराशा एवं चिन्ता अवश्य दूर होगी, इसके सिद्धान्तको यथावत् समझ लेने पर, एवं धारण कर लेने पर तू अवश्य ही अभय—ब्रह्मनिर्वाण पद प्राप्त कर लेगा। एक विख्यात सम्राट् राजाधिराज था। वह बड़ा प्रतापी, सत्यप्रतिज्ञ, धर्मनिष्ठ एवं शूरवीर था। एक रोज वह कुछ अनुचरोंको साथ लेकर अश्वारूढ होकर शिकारके लिए घोर अरण्यमें गया। एक मृगके पीछे उसने अपना घोड़ा दौड़ाया, उसके पीछे वह कई मीलों दूर निकल गया, तथापि वह उस मृगको पकड़ नहीं सका। सब साथी उसके पीछे रह गये, राजा अकेला ही बियावान जंगलमें भटक गया। वह रास्ता भूल गया था। इतने में सूर्यास्त होने आया। राजा चिन्तामें पड़ गया—इस अरण्यमें सिंह—व्याघ्रादि—अनेक भयानक प्राणी रहते हैं—रात्रिमें तो उनका उपद्रव खूब ही बढ़ा चढ़ा रहता है। सुरक्षित रहनेका कोई आश्रय कहीं दीखता नहीं। अब क्या किया जाय?। तथापि

वह आश्रयके लिए—इधर उधर घूमने लगा—उसके अच्छे भाग्यसे—एक स्थल पर एक कुटिया दिखाई दी। तुरन्त ही वह वहाँ पहुँचा—देखता है—उस कुटियाके द्वार पर एक चाण्डाल बैठा है, कुटिया बड़ी गन्दी है। एक तरफ मलमूत्रके ढेर लगे हैं तो दूसरी तरफ हड्डी-मांस-रक्त-चर्मके ढेर लगे हैं। मक्खियाँ भुनभुन कर रही हैं, नाक फट जाय ऐसी—दुर्गन्धि आ रही है—तथापि राजाने चाण्डालसे कहा—मैं रात्रिपर्यन्त यहाँ निवास करना चाहता हूँ। इस अरण्यके भयंकर प्राणियोंसे सुरक्षित रहनेके लिए मुझे यहाँ तू आश्रय दे। चाण्डालने बड़े आदर एवं विनयसे कहा—आप राजाधिराज हैं, सुन्दर—परिष्कृत महलोंके रहनेवाले हैं। अतः यह गन्दी कुटिया यद्यपि आपके निवास योग्य नहीं है। तथापि सुरक्षाके लिए अन्य कोई इससे अच्छा स्थान नहीं है। इसलिए—आप यहाँ रात्रिपर्यन्त निवास करना चाहते हैं, तो निवास कर सकते हैं। परन्तु प्रातःकाल होते ही आप इस गन्दी कुटिया छोड़ देना और अपनी राजधानीकी तरफ चले जाना। यहाँ रहना नहीं।

राजाने बड़ी दृढताके साथ कहा—प्रातः सूर्यदर्शनसे प्रथम ही उषाका दर्शन होते ही मैं चला जाऊंगा। ऐसी गन्दी कुटियामें—आपत्तिका समय छोड़कर कौन महलोंका निवासी सम्राट् रह सकता है ?। इसलिए तुम निश्चिन्त रहना—रात्रिपर्यन्त ही मैं यहाँ रहूंगा, ज्यादा समय नहीं रहूंगा। राजाकी बात सुनकर चाण्डालने अपनी कुटियामें उसे रहनेकी अनुमति दी। वह रात्रिपर्यन्त उसमें रहा। प्रातःकाल हो गया, तथापि वहाँसे चलनेके लिए कुछ प्रयत्न नहीं करता देखकर

उससे चाण्डालने कहा—राजन् ! यहाँसे चलनेका तथा आपकी सुन्दर एवं उत्तम राजधानीमें जानेका समय हो गया, इसलिए आप यहाँसे निकलिये तथा राजधानीकी तरफ प्रयाण कीजिये। महाराजा उसकी कुटियामें लम्बे पैर पसारकर सोया पड़ा था। चाण्डालकी बात सुनकर भी वहाँसे नहीं उठा, जभाई लेता हुआ आँखें मलता हुआ—आलस्य-भरी अवाजसे कहने लगा—जल्दी क्या पड़ी है ? प्रातःकाल हो गया है, यह मैं भी देख रहा हूँ, अभी तो हम यहाँ मौजसे लेटे पड़े हैं, जब उठेंगे, तब जायेंगे। चाण्डाल महाराजाकी बात सुनकर चुप हो गया—सोचने लगा कि—महाराजाकी अभीतक थकावट दूर नहीं हुई है, इसलिए वे उठ नहीं रहे हैं, जब थकावट दूर हो जायगी, तब उठकर अवश्य चले जायेंगे। परन्तु प्रातःकालके बाद मध्याह्न—काल आगया तो भी महाराजा वहाँसे नहीं निकल रहा है, जानेके लिए कुछ प्रयत्न नहीं कर रहा है—देखकर चाण्डाल उनकी कही हुई बातोंको याद दिलाता हुआ कहने लगा—कि—राजन् ! आप तो कहते थे कि—प्रातःकाल मैं चला जाऊंगा, परन्तु प्रातःके बदले मध्याह्न होने आया—आप देख रहे हैं—सूर्य शिर पर अवस्थित होकर अपनी प्रचण्ड—रश्मियोंसे सर्वत्र उष्ण-आतप फैला रहा है—अतः कृपया आप यहाँसे चल पड़ें, तो अच्छा रहे, आप राजाधिराज हैं, सम्राट्—चक्रवर्ती हैं, आप अपनी महान्ताको याद करें। आपके लिए यह गन्दी कुटिया कदापि निवासके योग्य नहीं है। छोड़िये इसे, आलस्य छोड़कर उठ बैठिये। यहाँसे चल पड़िये। दिवस होते होते अपनी राजधानीमें पहुँच जाइये। चाण्डालकी हितकारी अच्छी बातें सुनकर भी महाराजा सचेत नहीं हुआ, जानेके

लिए तैयार नहीं हुआ। प्रत्युत त्यौरियाँ चढ़ाकर--कडक--आवाजसे, उसे धमकाता हुआ कहने लगा-- ' अपनी मौज आयेगी, तब जायेंगे। तू कौन होता है ? यहाँसे जानेके लिए कहनेवाला, खबरदार अब आगे यहाँसे जानेके लिए मुझे मत कहना। ' महाराजाकी ऐसी धमकी-भरी हुई कडक--बातें सुनकर चाण्डाल डर गया। चुपचाप वहाँसे कुछ दूर जाकर एक तरफ बैठ गया। सायं हो गया, रात्रि हो गई, तो भी महाराजा बड़े आराम एवं निश्चिन्तताके साथ वहाँ ही पड़ा रहा। दूसरे रोज चाण्डाल डरता डरता महाराजासे नम्रतापूर्वक कहने लगा--राजन् ! आप अपने महलोंके उत्तम--रमणीय--सुखप्रद--निवासको याद कीजिए, इस गन्दी कुटियाकी कष्टप्रद आसक्ति छोड़ दीजिए। चाण्डालकी ऐसी अच्छी बात सुनकर भी प्रसन्नताके बदले मोहवश महाराजाको बड़ा क्रोध आया। क्रोधावेशमें वह उसके प्रति कहने लगा कि--' मैंने तुझे मना किया था--कि यहाँसे जानेके लिए मुझे मत कहना। फिर क्यों तू व्यर्थका कान खाता है, मैं यहाँसे नहीं जाऊँगा। यह कुटिया मेरी है, मैं इसका मालिक हूँ, यदि तू यहाँसे जानेके लिए फिर कहेगा तो मार खायेगा, शिर पर डण्डे पड़ेंगे। ' इसप्रकार वह इक्ष्वाकु--कुल प्रसूत--सूर्यवंशी क्षत्रियप्रवर महाराजा सम्राट्, चाण्डालके अनुनय विनयके साथ वार वार कहने पर भी कुटियासे नहीं निकलता है, इसमें बड़ी--भारी आसक्ति बांधकर बैठ गया है। दिवसोंकी बात क्या ? कई पक्ष, मास एवं वर्ष व्यतीत हो गये। तथापि वह वहाँसे निकलनेके लिए कुछ भी प्रयास नहीं करता, उसको उस अशुचि कुटियामें शुचि--बुद्धि हो गयी है, गंदी चीजें उसको रमणीय प्रतीत हो रही हैं। अपने सर्वोत्तम

महलको एवं समस्त--वैभवपूर्ण राजधानीको भूल सा गया है, याद दिलाने पर भी वह याद नहीं करता।

उस समय राजा परीक्षित्ने श्रीशुकदेवजीसे बड़े आश्चर्यके साथ पूछा कि–ऐसा मूढ महाराजा कौन था–जो इसप्रकार चाण्डालकी गन्दी कुटियासे निकल नहीं रहा था, वहाँ ही जबरदस्तीसे अपनी मालिकी जमाकर बडी आसक्ति बांधकर बैठ गया था–उसका आपने नाम तो नहीं सुनाया, कौन था वह ?।

शुकदेवजीने तुरन्त ही कहा–ऐसा मूढ--महाराजा और कोई नहीं था। उसके सन्मुख अङ्गुलिका निर्देशकर बतलाया कि–वह तू ही है, तू ही गंदी चाण्डालकी कुटियामें बैठा है, निकलता नहीं है।

राजा परीक्षित् अपनी अनभिज्ञता प्रकट करता हुआ कहने लगा कि–भगवन्! मैं कब चाण्डालकी गन्दी कुटियामें बैठा हूँ। आपने मेरी तरफ अङ्गुली निर्देश कर मुझे ही मूढ महाराजा बतलाया, यह मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है।

मुस्कराते हुए श्री शुकदेवजीने कहा–राजन्! इसमें आश्चर्यकी कौनसी बात है ?। यह शरीर ही चाण्डालकी गन्दी कुटिया है, इसमें ही तू अहंममभाव बाँधकर बैठ गया है, इसकी तू मोहासक्ति नहीं छोड़ता है, अपने वास्तविक स्वस्वरूप नित्य–शुद्ध–बुद्ध-मुक्त-स्वभाव-असंग-अद्वय-आनन्दपूर्ण-ब्रह्मधाम जो महलोंके समान सर्वोत्तम महान् है, उसको तू याद नहीं कर रहा है। उसमें अवस्थित होने के लिये कुछ प्रयत्न नहीं कर रहा है, उसमें तू अवस्थित तभी ही होगा, जब तू इस निन्द्य--गन्दी--कुटियारूप शरीरकी मोहासक्ति छोड़ेगा। अहं--मम--भावका

परित्याग करेगा। तभी ही तू स्वस्वरूपावस्थित होकर निर्भय हो सकेगा। यह शरीर, प्रत्यक्ष ही चाण्डालकी गंदी कुटियाके समान–अशुचि है–मल-मूत्रका थैला है।

अत एव भगवत्पाद–आचार्य श्रीशंकर स्वामीने कहा है कि—

'त्वङ्मांसरुधिरस्नायु–मेदो–मज्जाऽस्थिसंकुलम्।
पूर्णं मूत्रपुरीषाभ्यां स्थूलं निन्द्यमिदं वपुः॥

त्वचा, मांस, रक्त, स्नायु (नसें), मेद, मज्जा और अस्थियोंका समूह, तथा मलमूत्रसे भरा हुआ, यह स्थूल देह अतिनिन्दनीय है।

इसकी अशुचिता (गंदापन) अनेक प्रत्यक्ष-हेतुओंसे भी निश्चित होती है, इसलिए योगशास्त्रके व्यास–भाष्यमें कहा है कि—

स्थानाद्बीजादुपष्टंभात्, निस्यन्दान्निधनादपि।
कायमाधेयशौचत्वात्, पण्डिताः ह्यशुचिं विदुः॥

जिस स्थानसे यह शरीर प्रादुर्भूत हुआ है–वह स्थान है–माताका गंदा उदर। तथा–जिस बीजसे यह उत्पन्न हुआ है–वह बीज है, माताका रज एवं पिताका वीर्य। उसकी अशुचिता प्रत्यक्ष है–उसका स्पर्श होनेपर सचैल स्नानका शास्त्रोंने विधान किया है। तथा जिन मांस, रुधिर, मेदादि--पदार्थोंसे इसका उपष्टम्भ हुआ है। जिनके द्वारा यह मोटा ताजा दिखाई दे रहा है–वे पदार्थ भी अतीव घृणास्पद अशुचि हैं। तथा नाक, मुख, गुदा आदि स्थानोंसे–अत्यन्त घृणित-श्लेष्म-मल-मूत्रादि, गंदे पदार्थोंका हर समय निर्गमन होता रहता है। इससे तथा निधनसे अर्थात् प्राण--वियोगसे भी इसकी अशुचिता–अभद्रता प्रत्यक्षतः निश्चित होती है। प्राणके निकल जाने पर इस

शरीरको कोई देखना भी पसंद नहीं करता। जो लोग प्रथम इसको अत्यन्त प्यारा समझते थे, वे भी इससे नाक-भों सिकोडते हैं। तथा इसकी शुचिता, जलादिसे ऊपर ऊपरकी ही होती है। यह मूढोंको साफसुथरा—आकर्षक—मोहक दिखने पर भी वस्तुतः यह शुचि—पवित्र होता ही नहीं, अशुचि ही बना रहता है। जिसप्रकार हजारों मन सफेद साबुनसे तथा स्वच्छ—जलसे धोनेपर भी काले कोयले कभी सफेद नहीं होते। इसप्रकार अनेक--प्रत्यक्ष--कारणोंसे, विवेक--विचारशील-पण्डित महानुभाव इस शरीरको अशुचि ही समझते हैं। उसको रमणीय समझकर आसक्त नहीं होते, इसमें अहं—ममभाव नहीं बांधते।

इसलिए हे राजा परीक्षित्! तू इस गंदे शरीरसे बाहर निकल, अहं--ममभावका परित्याग कर, यह तू नहीं, तेरा नहीं, तू अविनाशी है, यह विनाशी है, तू चेतन है, यह जड है, इसका आदि--अन्त प्रत्यक्ष है, परन्तु तेरा आदि अन्त कोई बतला नहीं सकता। अतएव तू महान् है, शुद्ध है, पूर्ण है, अनन्त है। तू इस तुच्छ—गंदे—देहको मैं मत समझ, जब तू यह शरीर नहीं है, तब इसके मर जाने पर तू कैसे मर जायगा?। तू मर नहीं सकता। तू अजर अमर है, तुझे कोई मार नहीं सकता। तू मृत्युका भी मृत्यु है, अमृत है, अभय है, देव है, देह नहीं, शिव है, शव नहीं, द्रष्टा है, दृश्य नहीं।

यही उपदेश--श्रीशुकदेवजीने श्रीमद्भागवतके अन्तिम--भाग द्वादश-स्कन्धमें सबके संक्षिप्त साररूपसे—इसप्रकार राजा परीक्षितके प्रति दिया था—जैसा भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रति अन्तमें **'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'** (गी. १८।६६)का दिया था—

'त्वं तु राजन्! मरिष्येति, पशुबुद्धिमिमां जहि।
न जातः प्रागभूतोऽद्य देहवत्त्वं न नङ्क्ष्यसि॥
न भविष्यसि भूत्वा त्वं, पुत्रपौत्रादि–रूपवान्।
बीजाङ्कुरवद्देहादेर्व्यतिरिक्तो यथाऽनलः॥
स्वप्ने यथा शिरश्छेदं, पञ्चत्वाद्यात्मनः स्वयम्।
यस्मात्पश्यति देहस्य तत आत्मा ह्यजोऽमरः॥
घटे भिन्ने यथाऽऽकाश आकाशः स्याद्यथा पुरा।
एवं देहे मृते जीवो ब्रह्म संपद्यते पुनः॥'

(श्रीमद्भाग० १२।५।२–३–४–५)

हे राजन्! तुम 'मैं मर जाऊंगा' ऐसी पशुबुद्धिको त्याग दो। अर्थात् देहको मैं समझना और उसके जन्म--मरणादि-धर्मोंको अपने आत्मामें मानना, यह अज्ञानी-पशुओंके मिथ्या भाव हैं, इनको छोड। देहके समान तुम पहिले नहीं थे, और अब उत्पन्न हुये हो, ऐसी बात नहीं है। देह प्रथम नहीं था, और अब उत्पन्न हुआ है, इसप्रकार तुम नहीं। तुम प्रथम भी विद्यमान थे, इसलिए तुम्हारी उत्पत्ति नहीं, इसलिए तुम नाशको भी प्राप्त न होंगे। जो उत्पन्न होता है, उसका नाश हो सकता है, ऐसा शरीर है, आत्मा नहीं। आत्मा अजन्मा एवं अविनाशी है, वही तुम हो। जिसप्रकार बीजसे अङ्कुर, और अङ्कुरसे बीज उत्पन्न होता है, उसप्रकार तुम इस समय उत्पन्न होकर अन्न पुत्रपौत्रादिके रूपमें पुनः उत्पन्न न होंगे। क्योंकि–बीजसे अंकुरकी भाँति, देहसे देह उत्पन्न होता है, आत्मा नहीं। तुम तो--काष्ठमें व्याप्त हुआ--अग्नि जैसे काष्ठसे सर्वथा पृथक् होता है। उसी प्रकार शरीरमें व्याप्त होकर भी शरीरसे सर्वथा पृथक् असंग–निर्लेप–निर्विकार--महान् आत्मा हो। जिस

प्रकार आत्मा, स्वप्नमें शरीरका शिर कट जाना तथा मृत्यु आदि देखता है, उसी प्रकार जाग्रत्--अवस्थामें भी इस देहके मरणादि देखा करता है। अतः वह आत्मा अजन्मा एवं अमर है। शरीर और उसकी जाग्रदादि--अवस्थाएँ दृश्य हैं, और आत्मा द्रष्टा है—दृश्यसे द्रष्टा पृथक् ही होता है, दृश्यरूप नहीं हो सकता। जिसप्रकार घडेके फूट जानेपर घटाकाश पहिले ही के समान, फिर महाकाशरूप हो जाता है, उसी प्रकार देहके नष्ट होनेपर जीव फिर ब्रह्मरूप हो जाता है। वह ब्रह्म था ही, अविद्या--भ्रान्तिवश वह अपनेको दीनहीन जीवरूप तथा जन्म--मरण-वाला देहरूप मान बैठा था। विद्या द्वारा अविद्या--भ्रान्ति एवं शरीरादि उपाधि दूर होनेपर अपना असली स्वरूप ब्रह्म ही हो जाता है।

महावाक्यका परिशीलन किये विना कोई भी मिथ्या--मोहसे नहीं छूट सकता। अतः श्रीशुकदेवजी महावाक्यका उपदेश देते हैं—

'एवमात्मानमात्मस्थ-मात्मनैवामृश प्रभो ! ।
बुद्ध्याऽनुमानगर्भिण्या वासुदेवानुचिन्तया ॥
अहं ब्रह्म परं धाम, ब्रह्माहं परमं पदम् ।
एवं समीक्षन्नात्मानमात्मन्याधाय निष्कले ॥
दशन्तं तक्षकं पादे लेलिहानं विषाननैः ।
न द्रक्ष्यसि शरीरं च विश्वं च पृथगात्मनः ॥'

(श्रीमद्भाग० १२।५।२-११-१२)

अतः हे राजन्! तुम, भगवान्--विश्वात्मा वासुदेवका अभेदभावसे चिन्तन करनेवाली तथा द्रष्टा--दृश्य--विषयक--अन्वय व्यतिरेकके विचारसे

युक्त, अपनी विशुद्ध एवं एकाग्र-बुद्धिके द्वारा देहादि उपाधिमें स्थित अपने आत्माकी ही निरन्तर भावना करते रहो। 'जो मैं हूँ, वही परमपद रूप ब्रह्म है, और जो परंपद-रूप ब्रह्म है, वही मैं हूँ' इसप्रकार दृढतर सतत ब्रह्मानुसंधान करते हुए, अपने आत्माको निष्कल परमात्मामें स्थित कर लेनेपर तुम अपने पैरोंमें काटते हुए—विषयुक्त जिह्वासे ओठ चाटने-वाले तक्षक सर्पको एवं अपने शरीर और सम्पूर्ण विश्वको भी अपनी आत्मासे पृथक् नहीं देखोगे।

श्रीशुकदेवजीके इस अन्तिम उपदेशको श्रद्धा एवं एकाग्रतासे धारण कर लेने पर—अर्थात् तुच्छ—देहभावका त्याग एवं विमल—ब्रह्म-भावका प्राकट्य हो जानेपर—राजा परीक्षित् सर्वथा निर्भय होकर इस प्रकार कहने लगा कि—

'भगवँस्तक्षकादिभ्यो मृत्युभ्यो न बिभेम्यहम्।
प्रविष्टो ब्रह्मनिर्वाणमभयं दर्शितं त्वया॥
अनुजानीहि मां ब्रह्मन्! वाचं यच्छाम्यधोक्षजे।
मुक्तकामाशयं चेतः प्रविश्य विसृजाम्यसून्॥
अज्ञानं च निरस्तं मे ज्ञान-विज्ञान-निष्ठया।
भवता दर्शितं क्षेमं, परं भगवतः पदम्॥'

(श्रीमद्भा० १२।६।५-६-७)

हे भगवन्! आपने मुझे निश्चयपूर्वक निर्भयस्थान दिखा दिया है, जिससे मैं ब्रह्मनिर्वाणमें प्रविष्ट हो गया हूँ। अतः अब मैं तक्षकादि-मृत्युओंसे तनिक भी भय नहीं मानता। हे ब्रह्मन्! अब मुझे आज्ञा दीजिए। मैं वाणीका संयम अर्थात् मौन धारण करूंगा। और काम

वासनासे रहित हुआ अपना चित्त विश्वानन्य–स्वस्वरूप–श्रीअधोक्षज भगवान्‌में लगाकर अब प्राणत्याग करूंगा। आपने कृपावश ज्ञान एवं विज्ञानमें मेरी निष्ठा कराकर मेरा अज्ञान दूर करके भगवान्‌का अति-कल्याणमय स्वरूप दिखा दिया है।

गुजरात आदि देशोंमें श्रीमद्भागवतका सप्ताह बहुत लोग करवाते हैं, परन्तु सप्ताह–वांचनेवाला पण्डित–महोदय, केवल कथा भाग ही प्रायः बांच देता है। उन कथाओंका सारभूत तात्पर्य प्रायः नहीं कहता, न तो श्रोताओंमें इसकी जिज्ञासा ही होती है। कथाओंके लिए ही कथा होती है, ऐसी बात नहीं, किन्तु उनका सार–तात्पर्य–सिद्धान्त समझनेके लिए ही होती है। जिज्ञासु–मुमुक्षुओंके लिए–श्रीमद्भागवतमें बडा ही सुन्दर–अध्यात्मवादका तात्पर्य ठोंसकर खूब भरा हुआ है, परन्तु उसके ग्रहण करनेवाले विरले ही साधन–सम्पन्न अधिकारी होते हैं।

भगवान् श्रीकृष्णने गीताके उस प्रवचनीय–श्लोकमें अर्जुनको यही समझाया है कि–जब तक मानव, त्रिगुणात्मक–सत्त्वादि–भावोंसे युक्त शरीरादियोंसे एवं शब्दादि–विषयोंसे अपना नाता नहीं तोडता, उनका मोह नहीं छोडता, तबतक वह कदापि मुझ परमात्माके वास्तविक स्वरूपको नहीं जान सकता। अर्थात् '**मोहितं नाभिजानाति**'का अर्थ है '**मोहरहितं जगत् मामभिजानाति**' है। मोहसे रहित जगत् अर्थात् लोग, मुझ परमात्माको यथावत् जान पाता है। भगवत्तत्त्व-विज्ञानकी सिद्धिमें एक-मात्र मोह ही प्रबल अवरोध है। उसको विवेक-वैराग्यादि के द्वारा हटाये विना कोई भी जन तत्त्व–विज्ञानको सिद्ध नहीं कर सकता। हरिः ॐ तत्सत्।

(१४)

दैवी ह्येषा गुणमयी, मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते, मायामेतां तरन्ति ते ॥ (७।१४)

मुझ देवके आश्रयमें रहनेवाली यह अति-अद्भुत-त्रिगुणमयी मेरी माया बडी दुस्तर है। परन्तु जो मानव मेरी शरण होकर मेरा ही निरन्तर चिन्तन करते रहते हैं, वे इस मायाको उलङ्घन कर जाते हैं; अर्थात् मायामय—संसारसे तर जाते हैं।

आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्ण, अर्जुनसे मायाके स्वरूपका एवं उससे तरनेके उपायका उपदेश देते हैं—यह माया दैवी है, अर्थात् मैं परमात्मा देव हूँ, एक एवाद्वय हूँ, समस्त—भूतोंमें छिपा बैठा हूँ, स्वतः—प्रकाशमान चैतन्यानन्दघन हूँ, और निर्विभाग—अपरिच्छिन्न हूँ, ऐसे मुझ देवके आश्रयमें रहती है, और यह मुझ देवको ही विषय करती है, अर्थात् आच्छन्न कर देती है, इसप्रकार यह माया मुझ निर्विभाग एक–देवमें आश्रयता एवं विषयता प्रयुक्त विभागकी कल्पना खडी कर देती है। अत एव 'हि' शब्दसे भगवान् इस मायामें भ्रमोंकी उपादान—कारणता भी अर्थात् सिद्ध करते हैं। जगत्में जो जो भ्रम, अनात्मामें आत्माका—आत्मामें अनात्माका इत्यादि देखनेमें आते हैं—उन सबका उपादान कारण यह माया ही है। इसी मायाका दूसरा नाम है अविद्या, इसलिये यह 'एषा' है, अर्थात् साक्षी प्रत्यक्षसे सिद्ध है, 'मैं अज्ञ हूँ' मैं अपनेको यथावत् नहीं जानता, इस प्रकार यह सबके अनुभवसे जानी जाती है, अतः इसका कोई भी अपलाप नहीं कर सकता।

और यह त्रिगुणात्मिका है, 'तिगुणीकी हुई रस्सीके समान' अति दृढ होनेके कारण यह जीवोंके अति--दृढ--बन्धनका हेतुभूत है। तथा यह सर्व जगत्का कारण--सर्वज्ञ--सर्वशक्तिमान् मुझ परमेश्वरकी स्वभूत है अर्थात् मेरे स्वाधीन है, इसलिए मेरे आधीनमें रहकर यह जगत्की सृष्टि स्थिति आदिका निर्वाह--करती रहती है। अत एव यह समस्त द्वैत--प्रपञ्चकी प्रकृति है अर्थात् परिणामी उपादान कारण है। श्रुति भगवती भी यह कहती है—

'मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्, मायिनं तु महेश्वरम्।'
(श्वे० उ० ४।९)

मायाको प्रकृति जानो और मायावालेको महेश्वर समझो। इसलिए यह माया आवरणशक्ति एवं विक्षेपशक्तिसे युक्त है। पारमार्थिक--तत्त्वके प्रतिभासका यह प्रतिरोध करती है, इससे इसमें आवरण शक्तिका, तथा मिथ्या--पदार्थके प्रतिभासका हेतु होनेसे इसमें विक्षेप--शक्तिका निश्चय होता है।

अत एव भगवत्पादाचार्य--श्री शंकरस्वामीने विवेकचूडामणिमें कहा है—

'एषाऽऽवृत्तिर्नाम तमोगुणस्य,
शक्तिर्यया वस्त्वभासते ऽन्यथा।
सैषा निदानं पुरुषस्य संसृते,-
र्विक्षेपशक्तेः प्रसरस्य हेतुः॥
अभावना वा विपरीतभावना,
ऽसंभावना विप्रतिपत्तिरस्याः।

संसर्गयुक्तं न विमुञ्चति ध्रुवं,
विक्षेपशक्तिः क्षपयत्यजस्रम् ॥
(११५-११७)

जिसके द्वारा पारमार्थिक-वस्तु अपने यथार्थ रूपसे प्रतीत न होकर अन्यथा अर्थात् कुछकी कुछ प्रतीत होने लगती है-वह मायाके तमोगुणकी आवरण-शक्ति है। यही पुरुषके जन्म-मरणादि संसारका आदि कारण है, और यही विक्षेप-शक्तिके प्रसारका भी हेतु है। क्योंकि-आवरण हुए विना विक्षेपका प्रादुर्भाव नहीं होता, अर्थात् जब अज्ञान द्वारा रज्जु-स्वरूप आवृत्त होता है, तभी ही मिथ्या सर्पका विक्षेप खडा हो जाता है। इस आवरण-शक्तिके संसर्गसे युक्त पुरुषको, अभावना, विपरीतभावना, असम्भावना, और विप्रतिप्रति, ये तमोगुणकी शक्तियाँ नहीं छोडतीं और विक्षेपशक्ति भी उसे विविध प्रकारके मिथ्या-ऽऽभासोंके द्वारा निरन्तर कष्ट देती हुई डाँवाडोल ही रखती है। 'ब्रह्म परमात्मा नहीं है' जिससे ऐसा ज्ञान हो, वह '**अभावना**' कहलाती है। 'मैं साडे-तीन--हाथका शरीर ही हूँ' 'जन्मनेवाला, मरनेवाला हूँ,' यह '**विपरीत-भावना**' है। 'है या नही' इस प्रकारके सन्देहको '**असंभावना**' कहते हैं। विरुद्ध--प्रतिप्रत्तिका नाम **विप्रत्ति-पत्ति** है-किसीके द्वारा सुना कि-'जगत् सत्य है, एवं जीव ब्रह्मसे भिन्न है। और-तदन्य किसीके द्वारा उससे विरुद्ध सुना कि-'जगत् मिथ्या है, एवं जीव ब्रह्मसे अभिन्न है।' इस प्रकारके परस्पर विरुद्ध संवादके श्रवणसे '**विप्रतिपत्ति**' उत्पन्न होती है। द्वैत प्रपञ्चका अहं ममादि--मिथ्या--व्यवहार-जो अनेक प्रकारके उद्वेगोंका कारण है-यह

—मायाकी विक्षेप शक्ति है।

यह माया अनादि है, इसका आदि कोईभी नहीं बतला सकता, इसलिए हमारे सभी शास्त्रोंने तथा आचार्योंने—माया एवं मायामय संसारका अनादि-रूपसे ही वर्णन किया है। मायाका आदि मानने पर अनेक प्रकारके दोष आ जाते हैं, जो आदिमान् पदार्थ होता है—उसका कोई न कोई कारण हुआ ही करता है। ब्रह्म निर्विकार एवं असंग होनेसे—वह मायाका कारण नहीं हो सकता। ब्रह्मसे अतिरिक्त कोई पदार्थ ही उस समय नहीं था—जो मायाका कारण माना जाय, इसलिए माया ब्रह्मके समान अनादि है। अनादि होने पर भी उसकी ब्रह्मविद्यासे निवृत्ति हो जाती है, इसलिए माया अनादि और सान्त है, ब्रह्म अनादि और अनन्त है।

यह माया अविद्यासे अतिरिक्त नहीं। '**अविद्या प्रकृतिर्माया तमोऽज्ञानमजाऽनृतम्। प्रधानं च जडं विद्धि क्षयिष्णु त्रिगुणात्मकम्॥**' इत्यादि शास्त्र-वचनोंसे माया एवं अविद्याका अभेद ही निश्चित होता है। आप एक साधारण—अज्ञानकी भी—आदि नहीं बतला सकते हैं, तो इस जगत्का परिणामी उपादान कारणरूप महा-अज्ञानकी आदि कैसे एवं कौन बतला सकता है?। आपसे कोई प्रश्न करे कि—आप फ्रेंच भाषा जानते हैं? आप कहेंगे, मैं नहीं जानता। फिर वह आपसे पूछेगा कि—आप फ्रेंचभाषा कबसे नहीं जानते, अर्थात् उसका अज्ञान कबसे है?। आप उसका प्रश्न सुनकर उसकी आदि बतलानेके लिए असमर्थ हो जायेंगे। उसकी आदि है ही नहीं, तब कैसे एवं कौन बतला सकता है?। आप उससे स्पष्ट

कहेंगे—फ्रेंचभाषा मैं कबसे नहीं जानता ? यह मैं बतला नहीं सकता। उसके अज्ञानके आदिका मुझे ज्ञान नहीं। इसलिए वह अर्थात् अनादि ही सिद्ध होता है। जब एक फ्रेंचभाषाका साधारण अज्ञान भी आदिरहित माना जाता है—उसके आदिका किसीको पता नहीं चलता, तब इस महान् अज्ञानके आदिका पता कौन लगा सकता है ? अर्थात् वह आदिरहित—अनादि ही माना जाता है।

एवं यह माया अनिर्वचनीय है। अनिर्वचनीयका यह अर्थ नहीं है कि--उसका किसी भी प्रकारसे निर्वचन नहीं होता। लक्षणोंके द्वारा उसका निर्वचन होता है। अतएव चित्सुखाचार्यने तत्त्वप्रदीपिका--चित्सुखीमें अज्ञानका इस प्रकारके लक्षणसे निर्वचन किया है—

'अनादि भावरूपं यद्विज्ञानेन विलीयते।
तदज्ञानमिति प्राहुः, प्राज्ञो वेदान्तवेदिनः॥'

जो अनादि एवं भावरूप है--तथा विज्ञानसे जिसका विलय हो जाता है, उसे वेदान्त—जाननेवाले प्राचीन आचार्य अज्ञान कहते हैं।

इसलिए अनिर्वचनीयका अर्थ है--जिसका सत्त्वादिरूप नव प्रकारसे निर्वचन न हो सके, वह अनिर्वचनीय है। अत एव भगवत्पाद--आचार्यश्री शंकरस्वामीने कहा है—

'सन्नाप्यसन्नाऽप्युभयात्मिका नो,
भिन्नाप्यभिन्नाऽप्युभयात्मिका नो।
साङ्गाऽप्यसाङ्गाऽप्युभयात्मिका नो,
महाऽद्भुताऽनिर्वचनीयरूपा॥'
(विवेकचूडामणिः)

वह माया--अविद्या, न सत् है, न असत् है, और न सदसत्--उभयरूप है, न ब्रह्मसे भिन्न है, न अभिन्न है, और न भिन्नाभिन्न--उभयरूप है, न अंग (अवयव) सहित है, न अंग रहित है, और न सांगानंग--उभयात्मिका है, किन्तु अत्यन्त अद्भुत--आश्चर्यप्रचुर और सत्वादिसे जिसका निर्वचन न हो सके--ऐसी अनिर्वचनीया है।

अविद्या, तमः, अज्ञान, प्रकृति आदि अनेक शब्दोंके द्वारा प्रतिपाद्य वह माया सत्या नहीं है ? क्योंकि--उसकी विद्यासे निवृत्ति होती है। आत्माके समान सत्या मानने पर वह अबाध्य हो जाती है। **'नाभावो विद्यते सतः'** (गी० २। १६) इस वचनसे भगवान्ने गीतामें पारमार्थिक--सत्य--पदार्थके अभाव (बाध)का प्रतिषेध किया है। परन्तु हमारे सभी श्रुत्यादि--शास्त्र मायाके बाधका निरूपण करते हैं। श्रुति कहती है-**'तस्याभिध्यानात्--योजनात्तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः।'** (श्वे. उ० १। १०) उस एक-आनन्दपूर्ण--अद्वय सर्वात्मा ब्रह्मके दृढ--ध्यानसे, उसमें मनको तन्मय करनेसे, और ब्रह्मभाव प्राप्त करनेसे, प्रारब्ध--कर्मकी समाप्ति होने पर विश्वमायाकी निवृत्ति हो जाती है। ऐसा गीता भी कहती है--**'ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां--नाशितमात्मनः'**। (५। १६) आत्माके ज्ञानसे जिनका अज्ञान नष्ट हो गया है। इन श्रुति, स्मृतिके वचनोंसे मायाकी निवृत्तिका प्रतिपादन किया है। अतः माया सती-अबाध्या नहीं हो सकती है। इसलिए उसका सत्त्वसे निर्वचन नहीं किया जा सकता है। जब माया सत्या नहीं है, तब उसे असत्या मानिये, परन्तु मायाको असत् भी नहीं मान सकते। क्योंकि--मायाको असत् अर्थात्--'वन्ध्या पुत्रके समान'

तुच्छ मानने पर, माया-कार्य द्वैत–संसारका भान नहीं होना चाहिए। असत् पदार्थका भान नहीं होता। परन्तु माया तत्कार्य--संसारका भान सभीको होता है, इसलिए वह असत्से विलक्षण है। और माया, कल्पित द्वैत–संसारका मूल कारण है, इसलिए भी वह असत् नहीं हो सकती। असत् मानने पर संसारबन्ध निर्मूल हो जाता है। क्योंकि– असत् पदार्थ किसीका मूल कारण नहीं होता। इसलिए मायाका असत् रूपसे भी निर्वचन नहीं हो सकता। सत्त्व–असत्त्वका परस्पर विरोध होनेके कारण माया सत्–असत् उभयरूप भी नहीं हो सकती। इसलिए वह सत्से असत्से एवं उभयरूपसे विलक्षण है।

इसप्रकार वह माया, ब्रह्मसे भिन्न है, ऐसा भी नहीं कह सकते। भिन्न मानने पर मायाकी आत्मासे भिन्न आश्रयमें उपलब्धि होनी चाहिए। परन्तु वह अन्यत्र अग्निकी उष्णताकी भाँति, उपलब्ध न होनेके कारण– मायाकी आत्मासे अत्यन्त भिन्नता नहीं हो सकती। और असंग, अद्वय, आत्मामें भिन्न–मायाका सम्बन्ध न होनेसे आवरणादिकी असिद्धि हो जाती है, इसलिये वह ब्रह्मसे भिन्न है, ऐसा भी नहीं कह सकते हैं, अतः ब्रह्म–भिन्नत्वसे मायाका निर्वचन नहीं हो सकता। जब माया ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, तब उसे अभिन्न मानिये। परन्तु अभिन्न मानने पर उसका ब्रह्मसे विरुद्ध–जडत्व–दृश्यत्वादि--स्वभाव नहीं होना चाहिए। और मायाका बाध होने पर ब्रह्म–बाधकी भी आपत्ति हो जाती है। इसलिए माया ब्रह्मसे अभिन्न है, ऐसा भी नहीं कह सकते। तृतीय भिन्नाभिन्न पक्ष तो पूर्वकी तरह विरुद्ध होनेसे असंभव है। अतः भिन्नत्वादि– रूपसे भी मायाका निर्वचन नहीं हो सकता।

तथा वह माया, साङ्ग अर्थात् सावयव भी नहीं मान सकते, क्योंकि—सावयव मानने पर उसमें जन्यत्व—क्रियानाश्यत्वादिकी प्रसक्ति हो जाती है, अनन्त--अवयवोंकी कल्पनाका गौरव भी हो जाता है। एवं उसमें मूल--कारणता भी असंभव हो जाती है। तथा उसे निरवयव मानना भी ठीक नहीं। क्योंकि—निरवयव—पदार्थका परिणाम नहीं हो सकता। परिणाम है—अवयवोंका अन्यथाभाव। जिस प्रकार दूधका दही रूपसे परिणाम हो जाने पर दुग्धके अवयवोंकी अन्यथा भावापत्ति—देखनेमें आती है। इसलिए जगत्‌रूपसे परिणत होने वाली मायाको सर्वथा निरवयव भी नहीं मान सकते। अतः जिसप्रकार उसका सावयवत्वरूपसे निर्वचन नहीं हो सकता, उसप्रकार उसका निरवयवत्वरूपसे भी निर्वचन नहीं होसकता। विरोध होनेके कारण सावयव एवं निरवयव उभयरूप भी नहीं मान सकते। इसलिए वह माया, जिसका सत्त्वादिरूप--नव--प्रकारसे निर्वचन नहीं होता, ऐसी अनिर्वचनीया है।

अतएव तमः पद प्रतिपाद्य--चेतनके आवरणका हेतु भूत--मायाका ऋग्वेद--संहिताके नासदासीय--सूक्तमें--सद्-असद्से विलक्षण, अनिर्वचनीय रूपसे प्रतिपादन किया है—

'नासदासीन्नो सदासीत् तदानीम्'।

(ऋ० १०। १२९। १)

'तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतम्'......

तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्'

'तपसस्तन्महिनाऽजायतैकम्।'

(ऋ० १०। १२९। ३)

'आनीदवातं स्वधया तदेकं,
तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास।'
(ऋ. १० । १२९ । २)

प्रलयमें वह जगत्का परिणामी–उपादान कारणरूप तमः–(अज्ञान) असत् (तुच्छ) नहीं था, तथा वह सत् (पारमार्थिक-सत्य) भी नहीं था। किन्तु सत्-असत्से विलक्षण अनिर्वचनीय था। वह अनिर्वचनीय पदार्थ तम ही था। सृष्टिसे प्रथम यह जगत् उस तमसे गूढ (आच्छादित) था। इसलिए यह जगत् प्रलयमें स्पष्टरूपसे जाननेके लिए अशक्य था। वह तमः तुच्छ था। अर्थात् पारमार्थिक–सत्तासे रहित था। उस तुच्छ–तमसे एक अद्वय–विभु–सर्वगत ब्रह्म समावृत हो गया था। इसलिए वह एक ब्रह्म, अपने मायिक–संकल्परूप–तपसे अनेक (द्वैत–प्रपञ्च) रूपसे आविर्भूत हो गया। और वह तमः स्वधा है, स्वधा यानी 'स्वस्मिन् स्वसत्तया धार्यमाणा।' ब्रह्मके आश्रयमें रहनेवाली माया। जो प्राणादिसे रहित निश्चल है–ऐसा वह प्रसिद्ध एक–अद्वय ब्रह्म–उस समय मायाके साथ था। इसलिए प्रलयमें माया विशिष्ट–ब्रह्मसे अन्य कुछ भी उत्कृष्ट एवं निकृष्ट पदार्थ नहीं था। अर्थात् स्थूल–सूक्ष्म चराचर–अभिव्यक्त–जगत् नहीं था।

यही माया, श्रौत–दृष्टिसे तुच्छ, यौक्तिक–दृष्टिसे अनिर्वचनीय एवं लौकिक–दृष्टिसे वास्तवी सिद्ध होती है। पञ्चदशीमें श्रीविद्यारण्य–स्वामी भी ऐसा ही कहते हैं—

'युक्तिदृष्ट्या त्वनिर्वाच्यं, नासदासीदिति–श्रुतेः।
नासदासीद्विभातत्वान्नो सदासीच्च बाधनात्॥

विद्यादृष्ट्या श्रुतं तुच्छं, तस्य नित्यनिवृत्तितः ।
तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा ॥
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौत-यौक्तिक-लौकिकैः ।'

(चित्रदीपः)

युक्तिकी दृष्टिसे माया अनिर्वचनीय है, 'नासदासीत्' इस श्रुतिसे भी यही सिद्ध होता है । कार्य जगत्-रूपसे प्रतीत होनेके कारण माया असत् नहीं है, विद्यासे बाधित होनेके कारण सत् भी नहीं है । सर्वदा निवृत्त होनेके कारण विद्याकी दृष्टिसे उसका रूप तुच्छ सुना गया है । लौकिक दृष्टिसे माया वास्तविक-सी प्रतीत होती है ।

जो पदार्थ अनिर्वचनीय सिद्ध होता है, वह मिथ्या ही होता है । जिसप्रकार शुक्तिमें रजत, रस्सीमें सर्प, मरुभूमिका जल, स्वप्नसृष्टि आदि भ्रान्तिसे प्रतीयमान पदार्थ अनिर्वचनीय होनेके कारग मिथ्या ही माने गये हैं । आरोपित-रजतादि, शुक्त्यादि ज्ञानसे बाधित होनेसे सत् नहीं हो सकते, भ्रान्तिके समय प्रतीयमान होनेके कारण शशशृङ्गके समान असत् भी नहीं हो सकते । और विरोध होनेके कारण सद्-असद् उभयरूप भी नहीं हो सकते । इसलिए वे सदादिसे विलक्षण अनिर्वचनीय ही माने जाते हैं । अनिर्वचनीयका अर्थ ही है मिथ्या । अतएव पञ्च-पादिकाकार पद्मपादाचार्यजी कहते हैं कि—'**मिथ्याशब्दोऽनिर्वचनीयतावचनः**' इति । मिथ्या-शब्द, अनिर्वचनीयतारूप अर्थका ही प्रतिपादन करता है ।

इसलिए अद्वैतसिद्धिकार-आचार्य श्रीमधुसूदन स्वामीने मिथ्या-पदार्थके पाँच लक्षण इसप्रकार बतलाये हैं—(१) '**त्रिकालाबाध्य-विलक्षणत्वे सति क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीयमानत्वं, मिथ्या-**

त्वम्। (२) प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं वा मिथ्यात्वम्। (३) ज्ञाननिवर्त्यत्वं वा मिथ्यात्वम्। (४) स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं वा मिथ्यात्वं, तच्च स्वात्यन्ताभावाधिकरण एव प्रतीयमानत्वम्। (५) सद्विविक्तत्वं वा मिथ्यात्वं, सत्त्वं च प्रमाणसिद्धत्वं प्रमाणत्वं च दोषासहकृतज्ञानकरणत्वम्।' (अद्वैतसिद्धि) (१) माया एवं तत्कार्य यह द्वैतप्रपञ्च, त्रिकालाबाध्य–ब्रह्मसे विलक्षण है, और ब्रह्मरूप अधिष्ठानमें ब्रह्मकी सत्ता द्वारा सत्त्वसे प्रतीयमान है, इसलिए मिथ्या है। शुक्ति-रजतादि आरोपित पदार्थोंमें भी मिथ्यात्वका यह लक्षण घट जाता है। (२) प्रतिपन्नोपाधिका अर्थ है–**स्वप्रकारकधीविशेष्याभिन्नाधिकरण।** स्वप्रकारक–धीका अर्थ है–'द्वैतप्रपञ्चवाला ब्रह्म' ऐसी जो भ्रान्त–लोगोंकी बुद्धि, उसमें विशेष्यरूपसे वर्तमान–ब्रह्मरूप अधिकरण (अधिष्ठान), उसमें है–**'नेह नानाऽस्ति किञ्चन'** (बृ. ४।४।१९) इस श्रुतिसे बोधित–ब्रह्म भिन्न–माया–तत्कार्य द्वैतप्रपञ्चका त्रैकालिक–निषेध–(**'नासीद् अस्ति भविष्यति'** न था, न है, न होगा) उसका प्रतियोगी है, माया तत्कार्य–द्वैतप्रपञ्च, उसमें तादृश प्रतियोगित्व–रूप मिथ्यात्व है। ऐसा मिथ्यात्व, शुक्ति रजतादि–आरोपित पदार्थोंमें भी है। (३) ज्ञानसे जो निवर्त्य है, वह मिथ्या है, माया तत्कार्य द्वैत प्रपञ्च, ब्रह्मज्ञानसे निवर्त्य है–बाध्य है, तथा आरोपित–रजतादि भी शुक्त्यादि–ज्ञानसे निवर्त्य है। इसलिए तादृश निवर्त्यत्वका नाम मिथ्यात्व है। (४) स्वाश्रयनिष्ठमें स्वपदसे माया तत्कार्य द्वैतप्रपञ्च लीजिए, उसका आश्रय (अधिकरण) है ब्रह्म, उसमें श्रुति–बोधित अत्यन्ता-

भाव है–माया तत्कार्य द्वैतप्रपञ्चका। तत्प्रतियोगित्व, माया तत्कार्य द्वैत प्रपञ्चमें है, यही उसका मिथ्यात्व है। और वह द्वैत–प्रपञ्च अपने अत्यन्ता-भावके अधिकरणमें प्रतीयमान है, जिसप्रकार शुक्तिमें वस्तुतः रजतका अत्यन्ताभाव है। और रस्सीमें सर्पका अत्यन्ताभाव है, उसके शुक्त्यादि –अधिकरणमें ही रजत एवं सर्प प्रतीयमान होता है। उसी प्रकार ब्रह्ममें वस्तुतः माया तत्कार्यद्वैत–प्रपञ्चका अत्यन्ताभाव है। उसके अधिकरण ब्रह्म में ही माया तत्कार्य द्वैतप्रपञ्चकी प्रतीयमानता है। (५) पारमार्थिक सद्वस्तु ब्रह्मसे जो भी पदार्थ भिन्न होगा, वह नियमसे मिथ्या ही माना जायगा। प्रमाणसे जो सिद्ध होता है, वही पारमार्थिक–सद्वस्तु है, यहाँ प्रमाण वही लेना चाहिये, जो दोषरहित है, एवं ज्ञानका करण है, ऐसा प्रमाण एकमात्र श्रुति ही है। श्रुति ही निर्दोष प्रमाण है। और उसके द्वारा ही सद्ब्रह्मका ज्ञान होता है। श्रुति–भिन्न सभी प्रत्यक्षादि–प्रमाण, सदोष हैं, उसमें अविद्यादि–दोष रहते हैं। इसलिए उनके द्वारा पारमार्थिक–सद्ब्रह्मका बोध नहीं होता।

इस प्रकार ब्रह्मभिन्न मायातत्कार्य–द्वैत–प्रपञ्च, अनिर्वचनीय है, उसमें ये सभी–मिथ्यात्वके लक्षण घट जाते हैं, इसलिए अनिर्वचनी-यत्वका दूसरा नाम ही–मिथ्यात्व है। जो पदार्थ मिथ्या होता है, वह अपने अधिष्ठानमें अविद्या–द्वारा–आरोपित (कल्पित) ही हुआ करता है। जिस प्रकार रस्सीके अज्ञान द्वारा रस्सीमें सर्पका आरोप होता है। उसी प्रकार ब्रह्ममें माया द्वारा द्वैत–प्रपञ्चका आरोप होता है।

शंका—ब्रह्ममें द्वैतप्रपञ्चका माया द्वारा आरोप होता है, तो मायाका ब्रह्ममें किसके द्वारा आरोप होगा, माया द्वारा मायाका ब्रह्ममें

आरोप मानने पर तो आत्माश्रय दोष हो जाता है। मायाके आरोपके लिए अन्य-माया मानने पर तो अन्योऽन्याश्रयता आदि अनेक दोष आ जाते हैं। इसलिए मायाके आरोपका द्वार कौन है? यह बतलाना चाहिए। द्वार नहीं बतलाने पर या न होने पर मायाका आरोप कैसे होगा? नहीं हो सकेगा। मायाका आरोप न मानने पर तो वह ब्रह्मके समान वास्तविक हो जाती है।

समाधान—मायाका आरोप माया द्वारा ही होता है, माया अनेक दोषोंका खजाना है, इसलिए उसमें यदि—आत्माश्रय दोष आ जाता है—तो वह दूषण नहीं, किन्तु भूषण ही माना जायगा। जगत्में स्वपर-निर्वाहक अनेक पदार्थ—देखे जाते हैं, जैसे दीप, अपना प्रकाश करता हुआ अन्योंका भी प्रकाश करता है, अपने प्रकाशके लिए उसे अन्य दीपकी अपेक्षा नहीं होती। तथा जैसे 'शब्द' यह भी एक शब्द है, वह जगत्के समस्त शब्दोंका प्रतिपादन करता हुआ अपना भी शब्द-रूपसे प्रतिपादन करता है। वह अन्य शब्दको अपने प्रतिपादनके लिए अपेक्षा नहीं करता। तैसे माया भी द्वैत—प्रपञ्चका ब्रह्ममें आरोप करती हुई अपना भी आरोप करती है, अपने आरोपमें वह अन्य मायाकी अपेक्षा नहीं करती। इसलिए संक्षेपशारीरकाचार्य—श्रीसर्वज्ञात्ममुनि भी, ज्ञान आत्मा एवं भेदके दृष्टान्तत्रय द्वारा मायामें भी स्वपर—निर्वाहकत्वका समर्थन करते हुए कहते हैं कि—

'संविद् धुरं वहति तद्विषयोपयुक्तां,
स्वात्मन्यपि स्वरसतः स्वकरूपसिद्धेः।
कार्य-प्रपञ्च-परिकल्पनमात्ममोहात्,

मोहप्रकल्पनमपीति तथोपपन्नम् ॥

आत्मा प्रसाधयति वेद्यपदार्थजातं,
स्वात्मानमप्यवगतिक्षमशक्तियोगात् ।
स्वाज्ञानमेवमिदमात्मपरप्रकल्प्तौ,
शक्तं भवेदिति न किञ्चन दौःस्थ्यमस्ति ॥
भेदं च भेद्यं च भिनत्ति भेदो, यथैव भेदान्तरमन्तरेण ।
मोहं च कार्यं च बिभर्ति मोहस्तथैव मोहान्तरमन्तरेण ॥

जैसे घटादिका ज्ञान, घटादि विषयकी सिद्धिके लिए—घटादि विषयका प्रकाशरूप कार्य करता हुआ स्वरूपकी सिद्धिके लिए स्वभावसे अपना भी प्रकाश करता है, तैसे आत्माका अज्ञान (माया) स्वकार्यद्वैत—प्रपञ्चकी कल्पना करता हुआ, अपनी भी कल्पना करता है, यह युक्ति—संगत है। जैसे आत्मा (प्रमाता—जीव) प्रकाश करनेमें समर्थ—ज्ञानरूप शक्तिके बलसे, वेद्य—घटादि पदार्थ समुदायको तथा अपनेको सिद्ध करता है। तैसे यह साक्षी सिद्ध अज्ञान भी स्वकल्पनामें तथा स्वकार्य-द्वैत--प्रपञ्चकी कल्पनामें समर्थ है। ऐसा माननेमें कुछ भी अनिष्ट—दूषण नहीं है। जैसे भेद, (अन्योन्याभाव) घट—पट—रूप (अनुयोगी—प्रतियोगी) भेद्यको भिन्न करता हुआ, अन्य भेदके विना घटादि—भेद्यसे अपनेको भी भिन्न करता है, तैसे ही अज्ञान भी अन्य-अज्ञानके विना ही द्वैत—प्रपञ्चरूप—कार्यकी तथा अपनी (अज्ञानकी) भी ब्रह्ममें कल्पना करता है।

इसप्रकार माया अनादि है, अनिर्वचनीय है, एवं अधिष्ठान—ब्रह्ममें द्वैत—प्रपञ्चकी कल्पनाका हेतु बनती हुई—अपनी कल्पनामें भी आप ही हेतु बनती है। तथा वह भावरूप है।

नैयायिक कहते हैं—जिसप्रकार अन्धकार, प्रकाशका अभाव है, और सुख दुःखका अभाव है, उसप्रकार अज्ञान भी ज्ञानका अभावरूप ही मानना चाहिए। परन्तु नैयायिकोंका अन्धकार एवं सुख ये दो दृष्टान्त ही भ्रान्तिपूर्ण हैं। जिसप्रकार प्रकाश, तथा दुःख भावरूप हैं, उस प्रकार अंधकार एवं सुख भी भावरूप ही हैं। यदि अंधकार, प्रकाशका अभाव हो तो उसके द्वारा किसी भी पदार्थका आवरण नहीं होना चाहिए। क्योंकि—अभाव किसीको भी आवृत्त नहीं करता, यह प्रमाण सिद्ध बात है। घटमें पटाभाव है, और भी असंख्य अभाव बैठे हैं, क्या वे घटको आवृत्त करते हैं? नहीं करते। यदि आवृत्त करते तो किसी भी प्रकारसे किसीको कहीं भी घटका भान नहीं होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिए अभाव आवरक नहीं होता। अन्धकार, घट—पटादिको आवृत्त करता है, इसलिए वह प्रकाशका अभावरूप कदापि नहीं। किन्तु प्रकाशके समान भावरूप ही है। इस प्रकार सुख भी दुःखका अभावरूप नहीं हो सकता। क्योंकि—जिस प्रकार दुःखसे प्राणी रोने लगता है, इस प्रकार सुखसे हँसने लगता है। इस-लिए दुःखके समान सुख भी हास्यका हेतु होनेसे भावरूप ही है। तद्वत् अज्ञान भी आवरणका हेतु होनेसे भावरूप ही है, ज्ञानका अभाव-रूप नहीं।

इसलिए सर्वज्ञात्ममुनि संक्षेप—शारीरकमें कहते हैं कि—

'नाभावताऽस्य घटते वरणात्मकत्वात्,
नाभावमावरकमाहुरभावशौण्डाः।
अज्ञानमावरकमाह च वासुदेवः,
तद्भावरूपमिति तेन वयं प्रतीमः॥

'जाड्यं जगत्यनुगतं खलु भावरूपं,
मौढ्यं च पुंगतमिति प्रतिभाति तादृक् ।
जाड्यं च मौढ्यमिति चानुभवप्रसिद्ध-
मज्ञानमाहुरपवर्ग-विधान-दक्षम् ॥'

अज्ञान आवरणका हेतु है। इसलिए उसमें अभावरूपता किसी भी प्रकारसे घट नहीं सकती। अभाव कभी भी आवरक नहीं होता। ऐसा—अभाव पदार्थके निरूपण करनेमें समर्थ-वैशेषिकादि विद्वान् भी कहते हैं। भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण भी गीतामें—अज्ञानको आवरक कहते हैं—'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।' (५।१५) अज्ञानसे ज्ञान आवृत्त हो गया है, इसलिए सभी प्राणी मोहित हो रहे हैं। इसलिए अज्ञान भावरूप ही है, ऐसा हम निश्चयसे जानते हैं। अत एव उस अज्ञानकी जडता भावरूप होकर ही जगत्के घटपटादि पदार्थोंमें अनुगत हुई प्रतिभासित होती है। और उस अज्ञानकी मूढता सभी प्राणियोंमें अनुगत हुई जडताके समान भावरूपसे ही प्रतिभासित हो रही है। इसलिए यह घट-पट आदि पदार्थ जड हैं, ऐसा, तथा यह सब प्राणी मूढ हैं, विवेकहीन हैं, ऐसा व्यवहार होता है। इस प्रकार अनुभवसिद्ध जडता एवं मूढता ये दो धर्मवाला अज्ञान भावरूप ही है। इसलिए वह मोक्षस्वरूप—ब्रह्मके छिपा देनेमें निपुण बना बैठा है।

माया शब्दका अर्थ है—'मा=निषेधं, अधिष्ठानसाक्षात्कारे सति या=याति प्राप्नोतीति माया। अथवा मा वस्तुतोऽविद्य-मानाऽपि विद्यमानवत् या=याति—प्रतीतिविषयतामिति माया।' अधिष्ठानका साक्षात्कार हो जाने पर जो निषेधको प्राप्त हो जाती है,

अर्थात् अधिष्ठान—साक्षात्कारके अभाव समयमें ही जिसका—भान होता है, वह माया है। तथा जो वस्तुतः विद्यमान नहीं है, परन्तु विद्यमानकी भाँति प्रतीत होती है—वह माया है। मायाका स्थूल अर्थ है—आत्म—विस्मृति, अर्थात् भूल। भूल होनेमें कारण खोजने—पर अन्य कोई भी कारण नहीं मिलता। आप हाथमें छत्री लेकर शाक लेनेके लिए—बाजारमें गये। शाक लेकर छत्री वहाँ ही छोडकर वापस घरमें आ गये। आपकी श्रीमतीने तुरन्त ही पूछ डाला कि—आप शाक तो ले आये, परन्तु छत्री कहाँ छोड आये ?। आपको अभीतक छत्रीकी विस्मृति थी। श्रीमतीके कहने पर वह विस्मृति दूर हुई। आप कहने लगे—शाकवालेकी दुकानमें मैं छत्री भूल आया। श्रीमती पुनः जोर देकर पूछने लगी कि—छत्री क्यों भूल आये ? कहिए, कारण बतलाइये। आप उस समय झुंझलाकर कहेंगे कि—भूल गया, क्यों भूल गया ? यह नहीं कह सकता। भूलसे अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं बता सकता। फिर भी यदि वह पूछती है कि—क्यों भूल गये ? तो आप तुरन्त ही कुछ नाराज होकर बोल पड़ेंगे कि—भूल गया, बाबा भूल गया, क्यों व्यर्थका कान खाती है, मेरा मिजाज गरम करती है, ऐसा बोलकर छत्री लेनेके लिए चल पड़ेंगे। जब आप एक साधारण भूलके विषयमें यह नहीं बतला सकते कि—यह भूल क्यों हुई ?। उसका कारण क्या था ?। तब उस असाधारण—अज्ञानरूपी बड़ी भूलके विषयमें अज्ञानके अतिरिक्त और कोई भी कारण कौन बतला सकता है ?, नहीं बतला सकता। भूलके कारण खोजनेमें बुद्धिमत्ता नहीं है। किन्तु उसके निवारणमें। भूल हो गई, क्या किया जाय ? अब उसको

प्रयत्नसे हटाइये, यही बुद्धिमानी है।

आप सफेद-स्वच्छ धोती पहिनकर बाजारमें कई दुकानों पर गये। वहाँ अनजान-दशामें आपकी धोतीमें काला धब्बा लग गया। घर आने पर उसका पता चला। अब आप उसका पता लगानेके लिए-बाजारकी उन दुकानों पर घूमते एवं पूछते फिरते हैं कि-यह धब्बा कहाँ लग गया, क्यों लगा?। तो आपको कोई बुद्धिमान् नहीं कह सकता। धब्बा लग गया, न लगा नहीं हो सकता, अब उसे दूर करनेके लिए प्रयत्न करना चाहिए। तभी ही प्रयत्नकी सफलता है, उसके कारण खोजनेके लिए प्रयत्न करना व्यर्थ है। इस प्रकार अज्ञान, सर्वानुभव सिद्ध है, वह आवरण-शक्ति द्वारा मोह तथा विक्षेप-शक्ति द्वारा शोकका हेतु होता है। वह अन्तरात्मामें क्यों आया? कबसे आया? इसको समझनेके लिए प्रयत्न करना व्यर्थ है। उस अनर्थकारी अज्ञानको हटानेके लिए प्रयत्न करना ही बुद्धिमानी है, और प्रयत्नकी सफलता है।

विस्मृति स्वाभाविकी है, वह मिथ्याज्ञानको भी उत्पन्न कर देती है। उसके विषयमें एक प्रत्यक्ष घटना इस प्रकार हुई थी। देहलीसे कुछ पंजाबी-माई, गंगा स्नानके लिए हरद्वार आई थीं। अपने कनखल -सुरतगिरि-बंगला-आश्रममें दो मास ठहरीं थीं। उनमें एक वृद्धा माई-जो विधवा थी-अपने पास छिपाकर ५४०) रु. की नोटें रखती थीं। आश्रमका नियम है कि-कोईभी यात्री विशेष जोखम अपने पास न रक्खे, आश्रमके प्रबन्धक श्री कोठारीजी महाराजके पास जमा करे -जाते समय-या खर्चके लिए-वापस ले लेवे। चोरी आदिका डर

होनेके कारण—ऐसा नियम बनाया गया था। परन्तु उस माईने झूठ ही कह दिया था कि—मेरे पास कुछ नहीं है। दो मासके बाद वह वहाँसे मोटर द्वारा दिल्लीके लिए चल पड़ी। मोटर मेरठ पहुँचने पर, उसको अपनी नोटोंकी विस्मृति हो गई। जो कि—अपने कपड़ोंमें ही छिपीं पड़ीं थीं। उसने समझा कि—मेरी नोटें मेरे समीप नहीं हैं, मैं कनखल आश्रमकी कुटियामें ही भूल आई हूँ, ऐसा उसे विस्मृति—वश—विपरीत—ज्ञान (भ्रान्ति) हो गया। वह मोटरमें ही रोने लगी, साथ-वाली माइयोंसे कहने लगी—मेरी इतनी नोटें आश्रममें रह गयीं। हाय! कोई नौकर आदि ले लेगा। मैं पंजाबसे पाकिस्तान बनने पर बड़ी सावधानीसे उन्हें छिपाकर लाई थीं। मेरा यही सर्वस्व था, मैं लुट गई, मर गई, ऐसा बोलती हुई—आँसू बहाती हुई मोटरमें ही बेहोश हो गई। साथवाली माइयोंने उसे खूब समझाया, धैर्य दिया और एक तार इस विषयका आश्रममें भेजा। आश्रममें—तलाश हुई परन्तु नोटोंका पता नहीं चला। इधर कोठारीजी महाराज भी बड़े गरम हुये। कहने लगे कि—ऐसी माइयोंको कभी आश्रममें ठहरने नहीं देना चाहिए। वह रोती हुई—दिल्ली पहुँची। सारी रात्रि—उसे शोक—संतप्त होनेके कारण निद्रा नहीं आई। हाय हाय करती हुई पड़ी रही। प्रातः उसको स्नानादि करनेके लिए साथवालोंने समझाया। जब वह स्नान करनेके लिए कपड़े उतारने लगी, तब उसको अपने अन्दरके लहँगेके भीतर छिपी हुई नोटोंका पता चला। उसकी विस्मृति दूर हुई; अब रोनेके स्थान पर नोटोंके मिलनेकी खुशी पर खूब हँसने लगी। फिर आश्रममें नोट मिलनेका तार तथा समग्र घटनाका पत्र भेजा गया।

इस प्रकार इन मूढ प्राणियोंको भी अपने पूर्ण—शुद्ध—स्वरूपकी विस्मृति—स्वभावसे ही हो गयी है। विस्मृति द्वारा अनेक मिथ्याज्ञान भी उत्पन्न हुये हैं, जो अनेकविध अनर्थोंके कारण हैं, यह विस्मृतिरूपा ही माया है।

प्रश्न—माया अन्धकारके समान है, जैसे प्रचण्ड—प्रकाश—स्वरूप सूर्यमें अन्धकार नहीं रह सकता, तैसे स्वयंप्रकाश प्रत्यगभिन्न—ब्रह्ममें माया कैसे रह सकती है ?

उत्तर—यद्यपि सूर्यमें वस्तुतः अन्धकार नहीं रह सकता, परन्तु अन्धकारका आरोप तो हो सकता है—जिस प्रकार दिवान्ध—उल्लू सूर्यमें अविद्यमान अन्धकार देखते—हैं, उसप्रकार मूढ प्राणी-स्वयंप्रकाश-आत्मा-ब्रह्ममें अविद्यमान मायाका अनुभव करते हैं। वस्तुतः प्रकाश दो प्रकारका है—एक प्रौढ और दूसरा सामान्य। यद्यपि प्रौढ—प्रकाशमें अन्धकार नहीं ठहर सकता। परन्तु सामान्य—प्रकाशमें अन्धकार रह सकता है। यदि सामान्य प्रकाश न हो तो अन्धकारके अस्तित्वका भान ही किसीको न होगा। आप आँखें बन्दकर कहते हैं—'**कृष्णं तमः पश्यामि**' काला अन्धकार मैं देखता हूँ। यह काला अंधकार आप किसके द्वारा देखते हैं ? अंधकारके द्वारा तो अन्धकार देखा नहीं जा सकता। परिशेषात् आपको कोई प्रकाश मानना होगा—जिसके द्वारा अन्धकार आप देख रहे हैं। वह प्रकाश सामान्य है, वह अन्धकारका भासक है, अतएव वह अन्धकारका विरोधी नहीं। अन्धकारका विरोधी तो प्रौढ—प्रकाश है, प्रौढ प्रकाश आने पर अन्धकार नहीं रहता। इस प्रकार सामान्य ब्रह्म—चैतन्य, अज्ञानका साधक है—भासक है,

'मैं अज्ञानी हूँ' ऐसा अज्ञानका अनुभव आप किसी ज्ञानके द्वारा ही करते हैं। किसी भी प्रकारका कुछ ज्ञान–प्रकाश ही न हो तो जड अज्ञानका भान क्यों और किसको होगा? इसलिये–सामान्य–ज्ञान–स्वरूप ब्रह्ममें अज्ञान, कल्पितरूपसे रह सकता है, इसमें किसी भी प्रकारका विवाद एवं विरोध नहीं।

ब्रह्मविद्याके द्वारा निवर्त्य होनेके कारण वह माया, पारमार्थिक सद्वस्तु नहीं है, किन्तु आरोपित–मिथ्यावस्तु ही है। अत एव हमारे वेदादि–शास्त्रोंमें मिथ्या निवर्त्य अर्थमें ही माया शब्दके प्रचुर–प्रयोग देखनेमें आते हैं*। 'मायिनो दानवस्य माया अपादयत्' (ऋ० २।११।१०)'मायिनाममिनाः प्रोत मायाः (ऋ०१।३२।४) 'निर्माया उ त्ये असुरा अभवन्' (ऋ०१०।१२४।५) 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।' (ऋ०६।४७।१८) 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' (श्वे० उ०१।१०) 'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां

---

* इन्द्रके वज्रने मायावी दानवकी मायाओंका विनाश किया। मायावी असुरोंकी मायाओंका अच्छी-प्रकारसे नाश किया। अग्निदेवके आने पर असुरोंकी सभी माया दग्ध हो गई–इसलिए वे मायारहित हो गये। इन्द्र–परमात्मा, मायाओंके द्वारा ही एक होता हुआ भी अनेक रूपसे प्रतीत होने लगता है। देह–विनाशके बाद समस्त मायाकी निवृत्ति होती है, अर्थात् प्रारब्ध कर्मसे लेशा माया रह जाती है, उसकी भी अन्तमें निवृत्ति हो जाती है। हे नारद! जिस साकार–विग्रहसे तू मुझे देख रहा है, यह विग्रह मेरी माया द्वारा सृष्ट है, अतः वह पारमार्थिक–नहीं, किन्तु मायिक है। भगवान्ने अपने प्रचण्ड–ज्वालाओंकी माला–वाले शीघ्रगामी सुदर्शनचक्रसे शम्बरासुरकी हजारों मायाओंका विनाश किया।

पश्यसि नारद !।' (महा० भा. १२।३९।४५) **'ज्वालामालि सुदर्शनं, तेन मायासहस्रं तच्छम्बरस्याशुगामिना....छदितम् ।'** (वि० पु० १।१९-२०)

इत्यादि अनेक--शास्त्रीय--वचन 'बाध्य ही माया है' अबाध्य नहीं, ऐसा स्पष्ट निरूपण करते हैं। इसलिये पारमार्थिक-विचित्र-शक्तिका नाम माया है, ऐसा द्वैतवादी आचार्योंका कहना सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है। क्योंकि-बाध्य पदार्थ विचित्र-शक्तिवाला होने पर भी मिथ्या ही होता है, अबाध्य-पारमार्थिक नहीं हो सकता। इस लिए माया वही है, जो भ्रमकी उपादान कारण है, जिसके द्वारा अनेक-भ्रमोंका सर्जन होता है, अतः वह ज्ञान द्वारा बाध्य अज्ञानरूपा मानी गई है।

सुदामा विप्र भगवान् श्रीकृष्णका लँगोटिया मित्र था, वे दोनों सांदीपनि-ऋषिके गुरुकुलमें एक-साथ एक ही गुरुसे अध्ययन करते थे। परन्तु एकका भाग्य राजाधिराज बननेका था, और दूसरेका भाग्य दरिद्र। दरिद्रता लक्ष्मीदेवीकी बड़ी बहिन है। इसलिए बड़ी बहिनका पाणिग्रहण सुदामाके साथ हुआ, और छोटी बहिन लक्ष्मीरूप रुक्मिणी-का पाणिग्रहण भगवान् श्रीकृष्णके साथ हुआ, इसलिए वे दोनों केवल सहाध्यायीरूप मित्र ही नहीं थे, परन्तु सम्बन्धीरूप साढू भी थे। दरिद्र होने पर भी सुदामा विषयोंकी स्पृहा से रहित, शान्त-चित्त, जितेन्द्रिय, एवं ब्रह्मज्ञानी भगवद्भक्त था। एक-रोज, दारिद्र्य दुःखसे सदा सन्तप्त रहनेवाली, सुदामाकी पत्नीने सुदामाजीसे कहा-ब्रह्मन्! आपके मित्र तो साक्षात् लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्ण हैं, वे बडे ही दयालु, ब्राह्मणभक्त एवं शरणागत-वत्सल हैं, आप उनके समीप जाइये, वे

आपको बहुत–सा धन देंगे, और आपके दारिद्र्य दुःखका निवारण करेंगे। इसप्रकार स्त्रीके नम्रतापूर्वक अनेकों वार प्रार्थना करने पर सुदामाने यही सोचकर कि–सबसे बडा लाभ–आनन्दकन्द सर्व–समर्थ प्रभु भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन होगा–द्वारकापुरी जानेका निश्चय किया। और स्त्री से कहा कि–भगवान् के लिए कुछ भेट सामग्री होनी चाहिए। क्योंकि–शास्त्रमें कहा है–'**रिक्तहस्तो न गच्छेत राजानं देवतां गुरुम्**'। राजा, देवता अथवा गुरुके समीप खाली हाथ नहीं जाना चाहिए। कुछ न कुछ उपहार हाथमें लेकर जाना चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण तो एक साथ हमारे राजा हैं, देव हैं, एवं जगद्गुरु हैं। तब पत्नीने पड़ोसीसे चार मुट्ठी चिउडा मांगकर उन्हें एक फटे पुराने कपडेमें बांध अपने पतिको भेटके लिए दिया।

सुदामा भेट लेकर द्वारकापुरीमें भगवान्के महलमें गया। अपनी प्रियाकी शय्या पर बिराजमान भगवान् श्रीहरि अपने मित्र सुदामाको देखकर सहसा उठ खड़े हुये, और आगे बढ़कर बड़े हर्षके साथ उन्हें दोनों भुजाओंसे कसकर गले लगा लिया। बड़े भाईके समान उनका बड़ा स्वागत सत्कार किया। उस समय भगवान् सुदामासे बाल्यकालकी गुरुकुलमें रहनेके समयकी बातें करने लगे। प्रिय सखा सुदामाको ओर प्रेमदृष्टिसे निहारते हुए–भगवान्ने चिथड़ोंमें बंधे हुए–चिउडोंको–यह क्या है? ऐसा कहकर स्वयं छीन लिया, और बड़े आदरके साथ, ये चिउडे तो मुझे बहुत प्रिय हैं, ऐसा कहकर खाने लगे। उसके बदले भगवान्ने गुप्तरूपसे सुदामाको बहुत–सा धन सम्पत्ति एवं ऐश्वर्य दिया। भगवान् श्रीअच्युतके भवनमें कुछ रोज रहकर पश्चात्–आज्ञा प्राप्त

कर सुदामा भगवद्--दर्शनसे आनन्दित हो अपने घरकी तरफ चले। चलते हुए सुदामा विचार करने लगे कि—

'क्वाऽहं दरिद्रः पापीयान्, क्व कृष्णः श्रीनिकेतनः।
ब्रह्मबन्धुरिति स्माहं बाहुभ्यां परिरम्भितः॥
अधनोऽयं धनं प्राप्य माद्यन्नुच्चैर्न मां स्मरेत्।
इति कारुणिको नूनं धनं मे भूरि नाददात्॥'
(श्रीमद्भाग० १०।८१।१६-२०)

कहाँ मैं महापापी दरिद्र ब्राह्मण, और कहाँ लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्ण? तथापि यह--ब्राह्मण है, ऐसा जानकर उन्होंने मुझे भुजाओंमें भरकर गले लगा लिया। तथापि उन करुणासिन्धुने यह समझकर ही कि--यह निर्धन है, धन मिलने पर उन्मत्त हो जायगा, इसलिए वह मेरा स्मरण नही करेगा--मुझे थोडा बहुत धन भी नहीं दिया।

ऐसा विचार एवं भगवत्स्मरण करते हुए जब सुदामा अपने घरके पास पहुँचे तो वहाँ उसने अपनी टूटी-फूटी झोंपड़ीके स्थान पर बड़ा भारी भवन देखा। सुदामा पूछने लगे कि--यह किसका स्थान है? और मेरा झोंपड़ा कहाँ गया? उस समय सुदामाकी पत्नी उस भवनसे--पतिका आगमन सुनकर राणीके समान विविध--वस्त्रालङ्कारोंसे विभूषित होकर स्वागत करनेके लिए सहसा दौड आई। भगवान् द्वारा गुप्तरूपसे दी हुई धन सम्पत्ति आदि देखकर भगवान्की दयालुता एवं उदारताका विचार करते हुए सुदामा, भगवान्में अत्यन्त ही प्रेमविभोर हुये--और अनासक्त भावसे सम्पत्तिपूर्ण उस भवनमें रहने लगे।

किसी समय भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रिय--सखा सुदामासे मिलनेके लिए एवं उसकी दशा देखनेके लिए उसके यहाँ आये। अपने यहाँ

भगवान्का दर्शन कर–सुदामा अत्यन्त प्रसन्न हुआ। सुदामा भक्त एवं ज्ञानवान् था ही, इसलिए वह भगवान्से किसीभी प्रकारकी लौकिक बातें न कर ब्रह्मचर्चा ही करने लगा। ब्रह्मचर्चाके साथ ब्रह्मके आश्रयमें रहनेवाली एवं ब्रह्मको ही विषय करनेवाली मायाकी भी चर्चा होने लगी। सुदामाने पूछा भगवन्! आपकी यह माया क्या है? भगवान्ने कहा–जो वस्तुतः अविद्यमान होने पर भी विद्यमान–सी भासे, अनेक प्रकारके विभ्रमोंको खड़ा कर दे, यही मेरी माया है। सुदामा बोले–जो पदार्थ अविद्यमान है, वह कैसे दीख सकता है? वन्ध्यापुत्र अविद्यमान है, इसलिए वह किसीको दिखाई नही देता। इसप्रकार अविद्यमान माया भी अनेक–विभ्रमरूपसे नहीं दिखाई देनी चाहिए। भगवान्ने कहा–वह वन्ध्या पुत्र जो अलीक है–अत्यन्त–तुच्छ है–उससे भी विलक्षण है, इस लिए दीख सकती है? जिसप्रकार जादूगर–अपनी जादू विद्यासे अविद्यमान पदार्थोंको सच्चे–पदार्थोंके समान दिखाता है। उसी प्रकार मैं मायावी परमेश्वर माया द्वारा अविद्यमान-द्वैत-प्रपञ्चको दिखाता हूँ। सुदामाने नम्रतासे कहा–भगवन्! यह बात कुछ समझमें नहीं आती कि–अविद्यमान पदार्थोंको सच्चे पदार्थोंके समान दिखाने वाली माया भी तो अविद्यमान है, उसमें ऐसी क्या विचित्र शक्ति है? जो स्वयं अविद्यमान होती हुई भी विद्यमान-सी हो जाय, और अपने द्वैत प्रपञ्चको भी विद्यमान-सा दिखा दे। यह बात स्पष्ट प्रमाणपूर्वक समझानेकी कृपा करें। भगवान्ने कहा–मायाको समझनेके लिए–क्या मैं शास्त्र–प्रमाण दूँ? कि–प्रत्यक्ष–प्रमाण। सुदामाने कहा–प्रभो! शास्त्र–प्रमाण तो मैं बहुत–सुन चुका हूँ, प्रत्यक्ष प्रमाण दें, तो बड़ा अच्छा रहे।

भगवान्‌ने कहा—अच्छा, कभी दिया जायगा। परन्तु इस समय समीपकी नदीमें स्नानके लिए अपने चलें। और मेरी इच्छा है कि—मेरी इस भाभी (सुदामाकी पत्नीकी तरफ अङ्गुलि निर्देश करके)के हाथकी बनाई हुई गरमागरम रोटी आज मुझे खानी है—इसलिए वह अपने स्नान करके आने तक बनाकर तैयार रक्खे। पत्नीकी अनुमति प्राप्त कर वे दोनों स्नानके लिए नदीतट पर पहुँचे। भगवानने शीघ्र ही प्रथम स्नान कर लिया, किनारे पर खड़े होकर रेशमी पीताम्बर पहिनने लगे। सुदामासे कहा—देखते क्या हो? जल्दी स्नान करो, मुझे भूख लगी है। सुदामाने स्नानके लिए जब नदीमें डुबकी लगाई, उस समय भगवान्‌ने सुदामाको प्रत्यक्षरूपसे माया दिखानेका संकल्प किया। सुदामा स्वप्नकीभाँति देखता है कि—नदीमें बड़े जोरोंका पूर आ गया है, उसमें मैं वहा जा रहा हूँ। मैं कौन हूँ, कहाँका हूँ, यह सब वह भूल गया। बहता हुआ वह बहुत दूर निकल गया, बड़ी मुश्किलसे वह एक किनारे पर लगा। उसे सामने एक बड़ा परिष्कृत नगर दिखाई पड़ा। वहाँसे स्नानके लिए आते हुए हजारों स्त्री-पुरुष दिखाई दिये। उनमें वहाँके राजाकी एक—नवयुवती कुमारी भी आई। उसने सुदामाको देखा, भगवान्‌की मायाने सुदामाको भी अति सुन्दर--नवयुवक बना दिया था। राजकुमारी सुदामाको अपने महलमें ले गई। पिता—महाराजकी सम्मतिसे उसके साथ उसने विवाह किया। अब सुदामा उस मायावती नगरीमें अपनी भार्या-राजकुमारीके साथ आनन्दपूर्वक रहने लगे। समय पाकर पुत्र भी उत्पन्न होने लगे। वहाँ रहते हुए सुदामाको ३५ वर्ष व्यतीत हो गये। इतने समयमें छः पुत्र एवं एक पुत्री उत्पन्न हुई। वे भी युवक होकर विवाहित हुये,

पुत्रोंके वहाँ भी पुत्र बढने लगे। सुख–चैनके दिवस पसार होते उसे मालूम हो नहीं पड़ा। अकस्मात् सुदामाकी पत्नी बीमार हो गई। बहुत उपचार करने पर भी वह बच न सकी, उसका देहावसान हो गया। सुदामा छाती पीट रोने लगा। जिसप्रकार प्रथम अपने भारतमें यह नियम था कि--पतिके मरने पर पत्नी सती हो जाय, उसीप्रकार उस मायावती--नगरीमें इससे विपरीत नियम बना रक्खा था कि--पत्नीके मरने पर पतिको अवश्य सत्ता होना ही चाहिए। वहाँ पत्नीके मरजाने पर पतिका दर्शन अशुभ माना जाता था। इसलिए उसे नहीं चाहने पर भी बलात् पत्नीकी चितामें डालकर जला दिया जाता था। यह नियम लोगोंने रोते हुए--सुदामाको बतलाया, और कहा--आप पत्नीके लिए क्यों रोते हो? आपको हम उसकी चितामें जलाकर उसके साथ ही भेजते हैं। अब सुदामाजीकी आँखें खुलीं, प्रथम पत्नीके लिए वह रोता था, अब अपने लिए बडे जोरोंसे रोने लगा। हाथ जोडकर वहाँके लोगोंसे कहने लगा कि–' मैं परदेशी हूँ, मेरे लिए तुम्हारे देशका नियम लागू नहीं होना चाहिए। मैं अभी मरना नहीं चाहता। मैं तुम्हारे देशमें भी नहीं रहूंगा, कहीं चला जाऊंगा। तुम मुझे मत जलाओ।' लोगोंने कहा--आप परदेशी हैं--इसमें सन्देह नहीं, परन्तु आपका विवाह इस देशकी कुमारीसे हुआ था, इसलिए आपको इस देशका कानून लागू होगा, पत्नीकी चितामें जलना ही पडेगा। सुदामा बहुत गभराये, लोगोंको--सविनय अपने बचावके लिए--समझाने लगे। परन्तु सभीने एक स्वरसे कहा--आप किसी भी प्रकारसे जिन्दा नहीं रह सकते। पत्नीके पीछे सत्ता बनना ही पडेगा। अपने युवक–लड़कोंकी तरफ सुदामाने

बड़े कातर भावसे देखा, परन्तु लड़कोंने भी कहा-पिताजी ! आपको देशके नियमका पालन करना ही चाहिए। हमारी माताके साथ आपको जाना ही चाहिए। इस पर भी जब सुदामा आनाकानी करने लगा, तथा भागनेके लिए उद्यत हुआ। तब लोगोंने जबरन् रोते चिल्लाते सुदामाको पत्नीकी अरथीके साथ बाँध दिया, तथा श्मशान ले गये।

सुदामाको अब कई वर्षोंके बाद संकटके समय भगवान्‌की स्मृति आई। भगवान्‌की मन ही मन इस संकटसे बचनेके लिए प्रार्थना करने लगा। हे प्रभो! हे दीनबन्धो ! कृपया सुदर्शनचक्र लेकर शीघ्र आइये, गजराजके समान, इन दुष्ट-ग्राहोंसे मुझे बचाइये। मैं अभी मरना नहीं चाहता, ये जबरदस्तीसे मुझे मार रहे हैं-अग्निमें जला रहे हैं। हे कृपासागर ! यहाँ आकर मेरी शीघ्र रक्षा करें, इसप्रकार बहुत प्रार्थना करने पर भी जब भगवान् नहीं आये, तब सुदामाने सोचा—अब मुझे अग्निमें जलकर मरना ही पडेगा। परन्तु अग्निमें जलकर मरनेमें बहुत कष्ट होगा। इसकी अपेक्षा जलमें डूबकर मरना अच्छा रहेगा। अग्निकी ज्वलनकी अपेक्षा जलकी ठण्डी कम कष्ट देगी। ऐसा सोचकर लोगोंसे कहने लगा—मैं मरनेको तैयार हूँ—परन्तु मैं ब्राह्मण हूँ, मरनेसे प्रथम इस समीपकी नदीमें स्नान कर--शुद्ध होकर स्वस्थ मनसे इष्टदेवका मैं चिन्तन करना चाहता हूँ, इसके लिए मुझे कुछ छुट्टी मिलनी चाहिए। लोगोंने कहा--बडी अच्छी बात है, आप स्नान आदि कर सकते हैं, परन्तु वह ऐसा बहाना बनाकर कहीं भाग न जाय, ऐसा सोचकर उन्होंने सुदामाके पीछे कुछ दण्डेवाले युवक लगा दिये। अब सुदामा रक्षक दलके साथ नदी तट पर गया, नदीमें जाकर नाक बंदकर--प्राण छोडनेके उद्देशसे

जलमें डुबकी लगाई । परन्तु प्राण छोडना साधारण बात नहीं है, बडा कठिन कार्य है। जलमें उसके प्राण व्यथित होने लगे । सुदामासे नहीं रहा गया, तब उसने जलसे शिर बाहर निकाला तो तटपर दण्डेवाले युवकोंके बदले भगवान्--आनन्दकन्द श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण पीताम्बर पहिनते हुए मन्द मन्द हँसते हुए—दीख पडे । भयभीत--अतिव्यथित सुदामाको भगवान्के दर्शनसे कुछ आश्वासन मिला । सुदामा श्रीकृष्णसे भय-गद्‌गद्—वाणीसे पूछने लगा कि--भगवन् ! आप यहाँ कबसे खडे हैं ? वे दण्डेवाले कहाँ चले गये ?। भगवान् आश्चर्य प्रकट करते हुए बोले-- अरे ! तू क्या बोल रहा है । तेरा दिमाग ठिकाने है कि--नहीं, अभी तो अपने यहाँ आये हैं, जल्दी निकल जलसे, मुझे बहुत भूख लगी है, शीघ्र घरमें चलें । सुदामा कांपता हुआ जलसे बाहर निकला । इधर-- उधर देखने लगा कि—कहीं वे दण्डेवाले—पकडनेके लिए तो नहीं खडे हैं ? भगवान्ने सुदामाका हाथ पकड लिया, और कहा—तू इतना क्यों गभरा रहा है—कांप रहा है, क्या बात है ?, सुदामा भगवान्से आप बीती सब बातें बडे आश्चर्यके साथ कहने लगा । प्रभो ! मैंने यह क्या देखा ? वह- सब सच्चा दृश्य था, परन्तु इस समय कुछ देखनेमें नहीं आता । ३५ वर्षके लम्बे समयमें—मैंने ऐसे ऐसे अनुभव किये, मेरी सुन्दरी-राजकुमारी पत्नी थी, कई अच्छे बेटे थे, यों था, यों होगया, चितामें जलानेके लिए लोग मुझे श्मशानमें ले आये थे ।

हँसते हुए—भगवान्ने कहा—यह सब मेरी माया थी, वह अघट-- घटना पटीयसी है, असंभवको संभव कर दिखा देती है । उसीने इस मिथ्या—दृश्यको सत्य—सा खडा कर दिया था । एक क्षणमें ३५ वर्षके

लम्बे समयका मिथ्या भान करा दिया था। वह सब वास्तवमें कुछ नहीं था। परन्तु तुझे उस अविद्यमान दृश्यसे कितना सुख-दुःख भोगना पडा। आत्म-विस्मृति कराके अविद्यमान दृश्य दिखाकर अनेक प्रकारके विक्षेपोंका सृजन करना ही मायाका स्वभाव है। तेरी प्रार्थनाके अनुसार हमनें मायाके स्वभावके विषयमें यह प्रत्यक्ष प्रमाण दिया। इसप्रकार सुदामा भगवान्‌की प्रत्यक्ष-माया देख आश्चर्य मुग्ध हुआ भगवान्‌के साथ घरमें पहुँचा। वहाँ अपनी पत्नीको रोटी बनाती हुई देख सुदामा कहने लगा-अरे! क्या तू भी ३५ वर्ष तक रोटी ही बनाती रही। सुदामानें पत्नीके प्रति भी मायाकी प्रत्यक्ष घटनाका सविस्तार वर्णन किया।

श्रीभगवान्‌के इस अद्‌भुत चरित्रसे भी मायाका यही लक्षण निश्चित होता है कि-जो वस्तुतः अविद्यमान होती हुई भी अनेक-मिथ्या भ्रमोंका सर्जन करती है-जिसका अधिष्ठान ज्ञानसे बाध हो जाता है, वह माया है।

तथापि वह माया-दुरत्यया है, उसका अतिक्रमण करना वडा कठिन है। उसके फंदेसे छूटना साधारण बात नहीं। ब्रह्म-साक्षात्कारके विना अन्य उपायोंसे उसका अतिक्रमण अर्थात् बाध नहीं होता। जिस प्रकार प्रकाशसे ही अन्धकारका विनाश होता है। प्रकाशके विना, अन्य उपाय, अन्धकारको निवारण नहीं कर सकते। इसप्रकार माया भी-ब्रह्म-विज्ञानसे ही निवृत्त होती है। इसलिए भगवान् अर्जुनके प्रति-उक्त मायाके अतिक्रमणका वही उपाय बतलाते हैं-'**मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।**' अर्थात् जो मेरे महान् अधिष्ठान स्वरूपका साक्षात्कार करते हैं, वेही मायाका अतिक्रमण कर सकते हैं। 'मामेव'

इस पदमें स्थित 'एवकार' द्वितीय–ज्ञेय पदार्थका निषेध करता हुआ मुझ अद्वितीय–परमात्माके ज्ञानका ही प्रदर्शन करता है। अर्थात् मैं परमात्मा स्वगतादि–समस्त–भेदोंसे रहित हूँ, निरुपाधिक हूँ, एवं नित्य-शुद्ध -बुद्ध--मुक्त--प्रत्यगभिन्न आनन्दाब्धि–ब्रह्म चैतन्य हूँ–उस मुझको जो 'प्रपद्यन्ते' अर्थात् जानते हैं–साक्षात्कार करते हैं, वे ही इस त्रिगुणात्मिका–समस्त अनर्थोंकी कारण–मायाका अतिक्रमण करते हैं–अर्थात् ज्ञान द्वारा मायाका विनाश करते हैं। 'सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि।' (४। ३६) (ज्ञानरूप नौकाद्वारा तू समस्त पापोंसे अच्छी प्रकार तर जायगा) 'यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।' (२। ५२) (जिससमय तेरी बुद्धि मोहरूप दलदलको बिल्कुल तर जायगी) इन श्लोकोंमें 'तरति' धातुका नाशरूप–तात्पर्य अर्थमें ही प्रयोग देखा गया है। यद्यपि ज्ञानमें नौकाका आरोप किया है, इसलिए पापमें समुद्रका आरोप मानकर तरण प्रदर्शित किया गया है। तथापि पापोंका सम्बन्ध हृदयमें है, और उसमें ही ज्ञानका प्राकट्य होता है, इसलिए ज्ञानद्वारा पापोंके नाशमें ही पूर्वोक्त–श्लोकका तात्पर्य निश्चित होता है। इसप्रकार मोहकलिल भी बुद्धिमें ही है। विवेक–ज्ञानद्वारा जब उसका नाश होजाता है, तभी ही बुद्धि शुद्ध होती है। इसलिये उस श्लोकमें भी मोह–कलिलका विनाश ही व्यतितरण है। ऐसा निश्चित तात्पर्य अवगत होता है।

अतएव 'सर्वं पाप्मानं तरति' (बृ. उ. ४। ४। २३) 'तरति ब्रह्महत्यां' (शतपथ०) 'तरति शोकमात्मवित्' (छां० उ० ७। १। ३) इत्यादि–श्रुतियोंके वचनोंमें 'तरति'का अर्थ

'नाशयति' ही माना गया है, वहाँ नाश—अर्थके विना अन्य अर्थ न उपयुक्त है, न उपपन्न है। और 'विश्वमायानिवृत्तिः' (श्वे. १। १०) 'ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।' (गी. ५। १६) इत्यादि श्रुतिस्मृतिके वचनोंमें ज्ञानद्वारा मायारूप—अज्ञानका विनाश ही स्पष्ट सुना गया है।

इसलिए 'प्रपद्यन्ते' में ज्ञान ही प्रपत्ति समझनी चाहिए। क्योंकि—ज्ञानके विना मायारूप अज्ञानका विनाश नहीं होसकता। 'पद् धातु'का गति अर्थ है। और गतिके ज्ञान, गमन और प्राप्ति, ये तीन अर्थ प्रसिद्ध हैं। अतः प्रकृतमें गत्यर्थक पद्—धातुका ज्ञान अर्थ हो सकता है। और ज्ञान ही अविद्यारूप मायाका निवर्तक है। इसलिए 'प्रपद्यन्ते'का जानना या साक्षात्कार अर्थ प्रामाणिक एवं युक्तियुक्त है। और वह ज्ञान है--अखण्ड--अनवच्छिन्न--ब्रह्माकार—चितवृत्ति,जिसका वेदान्तके वचनोंके एकाग्र--विचारसे ही प्रादुर्भाव होता है। जो समस्त—सुकृतोंका फल-रूप है। निदिध्यासनका परिपाक होने पर ही जिसका लाभ होता है; विद्वान्—लोग जिसे निर्विकल्प—साक्षात्काररूप कहते हैं। तथा जिसके द्वारा अज्ञान—तत्कार्य मोह—शोकादिका विनाश होता है, उस चित्तवृत्ति द्वारा—मुझ चित्सुखघन—अखण्ड—अद्वय--आत्माका अनुभव करना ही प्रपत्ति है। इस प्रकारके अनुभव द्वारा ही--दुरतिक्रमणीय--मायाका--अनायास ही अतिक्रमण होता है।

इसलिए वह सदात्मा परब्रह्म ही एकमात्र विज्ञेय है। अतएव 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।' (बृ. ४।४।२१) (अविकृत्त—प्रज्ञावाला ब्राह्मण उसको ही जानकर उसमें ही प्रज्ञाको

तन्मय बनावे) 'तदात्मानमेवावेत्' (बृ. १।४।१०) [उसने अपने आपको ही जाना] 'आत्मेत्येवोपासीत' (बृ. १।४।७) [वह परब्रह्म मेरा आत्मा ही है--अभिन्न स्वरूप ही है, ऐसा दृढ-निश्चय कर उसकी ही उपासना करे] 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' (शु० य० ३१।१८) [उसको ही जानकर अविद्यारूप मृत्युका अतिक्रमण होता है] इत्यादि श्रुतिवचनोंके भी द्वारा वही एकमात्र जानने योग्य है--अन्य नहीं, ऐसा निश्चय होता है। इसलिए--श्रुति-मूलक--स्मृतिरूप--गीतामें भी भगवान्ने केवल 'मां' न कहकर 'मामेव' ऐसा कहा है। इससे श्रुति--स्मृतिकी एक--वाक्यता सिद्ध होती है।

प्रश्न--तब तो 'प्रपद्यन्ते' के बदले 'प्रपश्यन्ति' कहना चाहिए था। परन्तु भगवान्ने 'प्रपश्यन्ति' न कहकर 'प्रपद्यन्ते' कहा है--उसका क्या तात्पर्य है?।

उत्तर--धात्वर्थके अनुसार साधन दशामें--'प्रपद्यन्ते'का अर्थ है--'मदेकशरणाः सन्तो मामेव वासुदेवमनवरतं चिन्तयन्ति' एक-मात्र मेरी ही शरणमें रहते हुए जो मुझ वासुदेव परमात्माका निरन्तर चिन्तन करते हैं। वे मेरी कृपा द्वारा ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। और जब ज्ञानकी सिद्धि होती है, तब वे मेरा अपरोक्ष--अनुभव कर मायाका अतिक्रमण कर मुक्त हो जाते हैं। इसलिए भगवान्ने 'प्रपश्यन्ति' न कहकर 'प्रपद्यन्ते' कहा है, ऐसा कहनेसे साधन एवं फल दोनोंका ग्रहण होता है, और 'प्रपश्यन्ति' कहने पर तो केवल फलका ही ग्रहण होता है, साधनका नहीं। और साधनके विना फलका लाभ किसी भी प्रकारसे नहीं होता, इसलिए--साधनपूर्वक--फल--लाभ--प्रदर्शित करनेके

तात्पर्यको लक्ष्यमें रखकर ही सर्वज्ञ भगवान्ने 'प्रपद्यन्ते' ऐसा कहा है। अतएव 'प्रपत्ति'का साधन दशामें--'शरणागति' अर्थ तथा सिद्धि दशामें 'साक्षात्कार' अर्थ दोनों ही समझना चाहिए।

(१५)

'न मां दुष्कृतिनो मूढाः, प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययाऽपहृतज्ञानाः, आसुरं भावमाश्रिताः॥'

(गी० ७।१५)

माया द्वारा जिनके विवेकज्ञान अपहृत हुए हैं, तथा जो आसुरी-स्वभावको सदा धारण किये हुये हैं, अतएव दूषित कर्म करते रहते हैं, ऐसे मूढ, तथा मनुष्योंमें नीचलोग मेरी शरणमें नहीं आते, एवं मेरा भजन नहीं करते हैं।

आनन्दनिधि—सच्चिदानन्द—भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—हे अर्जुन! मेरी शरणमें कौन लोग नहीं आते? सर्वहितकारी मुझ सुखपूर्ण-परमात्मासे कौन जन सदा विमुख बने रहते हैं? और किन्हें मैं अद्वय-शुद्ध-सुख-सागर भगवान् अच्छा नहीं लगता हूँ। जो लोग मायाके मिथ्या फँदेमें फँसकर अपना विवेकज्ञान खो बैठे हैं, वे मेरी शरणमें नहीं आते। वे ही कल्पवृक्षकी सुखद-छाया छोड़कर मरुभूमिकी उत्तप्त बालुकामें रहना चाहते हैं। माया बड़ी राक्षसी है, उसने जीवोंको अनादि-कालसे उलटी पट्टी पढ़ा रक्खी है। अतएव उसने जीवोंके गलोंमें अनेक प्रकारके अनर्थकारी अहं--मम—भावादि—दोष दृढ रस्सीके समान बाँध रक्खे हैं। इसलिए तैत्तिरीय श्रुतिमें कहा है कि—'यत्ते देवी निर्ऋति-राबबन्ध, दाम ग्रीवास्वविचर्त्यम्। इदं ते तद् विष्यामि....'

कोई ऋषि कहता है—हे परमेश्वर ! यह जो तुझ देवके आश्रयमें रहने वाली दैवी माया है, वह निर्ऋति है, अर्थात् राक्षसी है। उसने असंख्य—जीवोंकी ग्रीवाओंमें मोह-ममता आदि दोषोंकी अविचल (मजबूत) रस्सी बाँध रक्खी है। इससे वे जीव अनेक-प्रकारके कष्टोंको भोगते रहते हैं। परन्तु मैं तेरी कृपा द्वारा विवेकज्ञान-प्राप्तकर उस मायाके बन्धनोंसे द्वेष कर रहा हूँ, और उससे मैं छूटना चाहता हूँ।

माया बड़ी ठगनी है, वह जीवोंको अनेकप्रकारके मोहकरूप दिखाकर अपने वास्तविक-कल्याणसे हटाकर-पाप-दुःखोंके भयंकर गर्तोंमें जबरन् धकेल रही है। अतएव मायाके चार प्रकारके उत्कट-दुष्ट स्वभावोंका वर्णन करता हुआ—ऋग्वेद कहता है कि—

'चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा, घृतप्रतीका वयुनानि वस्ते ।
तस्यां सुपर्णा वृषणा निषेदतुर्यत्र देवा दधिरे भागधेयम् ॥'
(ऋ० १०।११४।३)

वह माया सदा तरुणी सुन्दरी ही बनी रहती है, कभी वह बूढी नहीं होती। उसके फंदेमें फँसनेवाले जीव तो मायाको भोगते भोगते बूढे हो जाते हैं, परन्तु उनको फँसाने-वाली माया कभी बूढी नहीं होती, किन्तु सदा जवान अलमस्त ही बनी रहती है, और वह अपनी प्रवल-ताकतके द्वारा जीवोंको अपने फंदोंमें जकड़कर रखती है, वे उससे छूटना चाहें, तो भी वह उनको नहीं छूटने देती है, ऐसी वह बलवती युवती है। यह उसका एक कपर्द है, अर्थात् उत्कट-दुष्ट स्वभाव है। और उसका दूसरा उत्कट स्वभाव है—सुपेशा-अर्थात् अत्यन्त-निपुणता। इसलिए उसे विद्वान् लोग—'**अघटितघटनापटीयसी**' कहते हैं।

अघटित (असंभवित) कार्यको भी वह घटित करके दिखा देनेमें अत्यन्त प्रवीण है। जो आत्मा अजन्मा एवं अमर है, उसको वह जन्मनेवाला एवं मरनेवाला बना देती है। जो महान् विभु है--उसे वह छोटासा साडे तीन हाथवाला खाकका पुतला रूपसे समझाकर दीन हीन बना देती है। जो मिथ्या जगत् है, उसको सत्य-सा समझा देती है। इस-लिए कहा है कि—'यथा स्वप्नमुहूर्ते स्यात् संवत्सरशतभ्रमः। तथा मायाविलासोऽयं जायते जाग्रति भ्रमः॥' जिस प्रकार स्वप्नके एक मुहूर्तमें सैकड़ों वर्षोंकी भ्रान्ति हो जाती है, उसी प्रकार जाग्रत-दशामें मायाका विलासरूप यह मिथ्या-भ्रम-संसार सत्य-सा प्रतीत हो जाता है। इसप्रकार वह माया असंभवको भी संभव करके दिखानेमें अत्यन्त कुशल है। तथा वह माया घृतप्रतीका है, अर्थात् मायाका प्रतीक यानी आरम्भ-आदिमभाग घृतके समान मधुर प्रतीत होता है, परन्तु उसका परिणाम (अन्तिम-भाग) विषके समान अत्यन्त कष्टदायी हो जाता है। इसलिए विवेकहीन मूढ—लोग उसकी प्रारम्भिक लुभावनी—मधुरतासे-जो एक रत्तीके समान अत्यल्प है--आकृष्ट होकर उसमें फँस जाते हैं, और परिणाममें अनेक प्रकारके सैकड़ों मन-अत्यधिक शोक—संताप भोगते रहते हैं। यह उस मायाका तृतीय उत्कट—स्वभाव है। और उस मायाने अपने विविध—भ्रमोंके द्वारा जीवोंके वयुनोंको अर्थात् विवेकज्ञानोंको आच्छन्न कर रक्खे हैं। इसलिए वे जीव मूढ—से अन्धे-से बने रहते हैं। इसप्रकार जीवोंके विवेकज्ञानको चुराकर उन्हें अन्धा बना देना, यह मायाके दुष्ट-स्वभावका चतुर्थ उत्कर्ष है। उस प्रकारकी मायामें सुपर्ण यानी पारमार्थिक-पूर्ण ब्रह्म स्वरूपवाले अपनेको भूले हुए

जीव, अनादिकालसे बैठ हुये हैं। जिसके द्वारा वे स्वकृत--शुभाशुभ कर्मोंके विविध सुख एवं दुःखरूपी फलोंका सदा अपने लिए वर्षा (भोग) करते रहते हैं। और जिसके आश्रयमें रहे हुए देव यानी चक्षुरादि--इन्द्रियाँ, अपने अपने मोहक एवं आकर्षक-रूपादि विषयोंके प्रकाशकी सामर्थ्य प्राप्त करते रहते हैं। जिनसे ये जीव अपने पूर्ण--ब्रह्म--स्वरूपसे सदा विमुख ही बने रहते हैं। उसको यथावत् नहीं जानते।

ऐसी माया ब्रह्मासे लेकर चींटी पर्यन्त समस्त-उच्चावच प्राणियोंमें बैठी हुई है। अतएव महात्मा तुलसीदासने मायाका स्थूल-स्वरूप इस प्रकार बतलाया है कि---

'मैं अरु मोर तोर यह माया, जाके वश यह जीव निकाया।'

मैं अर्थात् अहं, जो शरीरादि-इदं पदार्थ अनात्मा हैं--उनको अहं--रूपसे समझावे, तथा जो पदार्थ मेरे नहीं हैं, जिनसे वियोग होना अवश्यंभावी है, ऐसे स्त्री-पुत्र-धनादिमें मेरा भाव दृढरूपसे बँधा दे। जब मेरापन आता है, तब उसके साथ तेरापन भी आ जाता है। यह मैं, यह मेरा, और यह तू, यह तेरा, ऐसे भाव इन प्राणियोंमें अनादिकालसे भरे हुए हैं, ये ही माया है; जिनके वशमें जीवोंका समुदाय हो गया है।

'सो मायावश परयोउ गुंसाई।
बँध्यो कीर-मर्कटकी नांई।'

वह जीव, उस प्रकार मायाके वशमें पड गया है, जैसे तोता एवं बंदर भ्रान्तिवश विपरीत--समझकर दुःख पाते हैं।

बन्दर पकडनेवाले शिकारी--लोग, जंगलमें जाकर एक छोटासा

गड्ढा खोद देते हैं, उसमें छोटा मुंहवाला एवं बडा पेटवाला एक हण्डाको बेर आदि फलोंसे भरकर अच्छी प्रकारसे गाड देते हैं; और समीपके वृक्षपर छिपकर वे बैठ जाते हैं। जब जंगलका बन्दर वहाँ आता है, और उस हंडाके अन्दरके फलोंको देखता है, तब उन्हें लेनेके लिए लोभवश एक--साथ अपने दोनों हाथोंको उसमें घुसेड देता है। और दोनों हाथोंमें फल पकडकर मुट्ठी बाँध लेता है। प्रथम तो हण्डेमें दोनों हाथ खाली होनेके कारण चले जाते हैं, परन्तु बादमें फलोंसे भरी हुई मुट्ठियाँ मोटी होजानेके कारण हाथ निकलते नहीं हैं, उसके लिए वह बहुत जोर लगाता है; परन्तु फँसे हुए हाथ किसीप्रकार उससे निकलते नहीं हैं। बन्दरका एक अजब स्वभाव होता है कि--वह मुठ्ठी बाँधना जानता है; परन्तु मुट्ठीके फलोंको जबतक मुँहमें न डाले, तब--तक खोलना नहीं जानता। उसको उस समय अपनी मूर्खतावश भ्रान्ति हो जाती है कि--इस हण्डामें कोई भूत--प्रेत होगा, जिसने मेरे दोनों हाथ जोरसे पकड रक्खे हैं। यद्यपि उसके हाथोंको कोई और पकडने--वाला वहाँ नहीं है, तथापि उसे मुट्ठी न खोलनेके कारण ऐसा भ्रम हो जाता है। और वह भ्रमवश चिल्लाने लगता है, समझता है कि--अब यह भूत मेरेको छोडेगा नहीं। इसप्रकार वह बन्दरभाई, अपनी गिरफ्तारीमें आप ही कारण बनता है; परन्तु उसकी कारणता अन्यमें समझता है। वैसी ही इस माया--विमोहित जीवकी भी दशा होती है। यह संसार भी एक प्रकारका गोल--मटोल हण्डा है, उसमें असंख्य जड--चेतन पदार्थ भरे पडे हैं उनमें यह जीव अहंभाव--ममभावरूपी दो मुट्ठियाँ बाँध लेता है। जबतक यह अहं--मम भावका त्याग नहीं

करता, तबतक इसके संतापोंकी निवृत्ति किसी भी उपायसे नहीं होती। अहंममभाव ही विविध संतापोंके कारण हैं। संतापोंकी निवृत्ति--चाहता हुआ भी यह जीव, अपनी मूढताके कारण संतापहेतु--अहं--मम--भाव नहीं छोडता। इसलिए जो संतापोंकी निवृत्ति चाहता है--उसे संतापोंके कारण अहं--मम--भाव, विवेक--वैराग्य द्वारा छोडने ही चाहिए। क्योंकि--कारणकी निवृत्ति विना कार्यकी निवृत्ति कदापि नहीं होती। अतएव श्रीमद्भागवतके माहात्म्यमें गोकर्णने अपने पिताके प्रति संताप--निवारणके लिए यही उपदेश दिया था कि----

'देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमतिं त्यज त्वं,
जायासुतादिषु सदा ममतां विमुञ्च।
पश्यानिशं जगदिदं क्षणभङ्गनिष्ठं,
वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः॥'
(अ० ४। श्लो० ७९)

हे पिताजी! आप इस हड्डी, मांस और रुधिरके घृणित संघात-रूप शरीरमें अहंभावका अभिमान छोड दीजिए, और स्त्री, पुत्र, धनादिमें मम--भावका परित्याग कर दीजिए। अर्थात् **'नाहं देहो न मे देहः'** (यह देह मैं नहीं, एवं मेरा भी नहीं) और **'नाहं कस्यचित् न मे किञ्चित्'** (मैं किसीका नहीं एवं मेरा कोई नहीं) ऐसा दृढ निश्चय रख असंग हो जाइये, इस जगत्को अहर्निश क्षणभंगुर देखिये, और एकमात्र--वैराग्यरूप शान्त-रसके ही रसिक होकर सर्वदा भगवद्भक्ति--परायण हो जाइये।

बंदरके समान यह जीव भी अपने संतापोंके कारण, अपने ही मिथ्याभावोंको न समझकर अन्यको ही कारण मान लेता है। कहता

है--मुझे अमुक--अन्यकारणसे शोक हुआ, सन्ताप हुआ, परन्तु वास्तविक-कारणको नहीं जानता, यही उसकी विपरीत भ्रान्ति है। संतापोंके कारण, मिथ्या-अहंमम-भाव ही हैं। जब उनका त्याग करदेता है, तब उसको सकल-संतापोंकी निवृत्तिरूप परम-शान्तिकी प्राप्ति होती है। इसलिए किसी विवेकी विद्वान् महात्माने कहा है कि—

'यस्मिन् वस्तुनि ममता, मम तापस्तत्र तत्रैव।
यत्रैवाहमुदासे परमुदाऽऽसे स्वभाव-सन्तुष्टः ॥'

जिस जिस स्त्री-पुत्र-धनादि वस्तुमें मेरी ममता है--उसके कारण उस उसके लिए मुझे संताप होता रहता है। जब मैं विवेक--वैराग्य द्वारा उससे उदासीन हो जाता हूँ, अर्थात् ममताका परित्याग कर देता हूँ, तब मैं स्वभावसे ही सन्तुष्ट हुआ परम-आनन्दका अनुभव करता हूँ, अर्थात् ममता दूर होते ही मेरे सकल सन्ताप भी दूर होजाते हैं। ममता रहने पर ही संताप होते हैं, ममता न रहे तो संताप भी न रहें। हृदयमें जब सन्ताप नहीं रहते, तब स्वाभाविकी प्रसन्नता प्रकट होती है। यह बात लौकिक-व्यवहारमें भी देखी जाती है।

किसी गोपालदास नामके व्यक्तिने दो लाख रुपये लगाकर एक अच्छी बिल्डिङ्ग बनाई है, उसके प्रवेशद्वारमें उसने अपने नामसे अङ्कित 'गोपालभवन'का साइनबोर्ड भी बडे बडे अक्षरोंसे बना रक्खा है। उस भवनकी एक--एक ईंटमें क्या ? एक-एक-कणमें उसकी ममता व्याप्त हो गयी है। इसलिए उसका मन 'मेरी बिल्डिङ्ग, मेरा भवन' ऐसा रात-दिन रटता रहता है। कोई उस भवनकी ईंट उखेड देता है, तो उसको बडा सन्ताप हो जाता है। ममतावश वह गरजकर बोल उठता

है कि–'कौन है–ऐसा? जो मेरे भवनकी ईंट उखेडता है, मैं उसको मिट्टीमें मिला दूंगा। वही व्यक्ति–जब किसी कारणवश, उस बिल्डिङ्गको बेच देता है–लेने वालेसे रुपया ले लेता है। तब उसकी उस बिल्डिङ्गमें भरी हुई समग्र–ममता उन रुपयोंमें आजाती है। बिल्डिङ्गकी ममता नष्ट होजाती है। किसी कारणवशात् जब उस बिल्डिङ्गमें बडे–जोरोंसे आग लग जाती है, तब–उसके सभी कमरे भड–भड जलते हुए देखकर भी उसको थोडासा भी सन्ताप नहीं होता, प्रत्युत वह सन्तोषका अनुभव करता है। अपने मित्रोंसे कहता है कि–बडा अच्छा हुआ? हमने बिल्डिङ्ग बेच दिया। नहीं तो मुझे २॥ लाखका नुकशान होता, मुझे बडा दुःखी होना पडता। अब बिल्डिङ्गकी दुर्दशासे वही दुःखी होगा, जिसने उसको खरीदा है, उसमें ममता बाँधी है। अब उस व्यक्तिकी ममता बिल्डिङ्गसे हटकर रुपयोंमें या नोटोंके बण्डलोंमें हो गई है–उनमेंसे यदि कोई रुपया या नोट चुरा लेता है, तो उसको बडा दुःख हो जाता है। जब वह नोटें बैंकमें रख आता है–तब बैंकसे कोई उन नोटोंको उठा ले जाय, तो उसको संताप नहीं होता, क्योंकि–वह समझता है–बैंकके नोटोंकी चोरी हुई है, मेरे नोटोंकी नहीं। इससे यह निश्चय होता है कि–ममता ही दुःखका कारण है।

आप प्रतिदिन समाचार–पत्र (अखबार) पढ़ते हैं। उनमें टूटने-फूटनेका–चोरी डकैतीका–मरनेका आदि समाचार आते रहते हैं–तथापि आप उन अनिष्ट-समाचारोंसे व्यथित नहीं होते। परन्तु आप सन्तोषकी श्वाँस लेते हुए कहते हैं कि–इतनी लम्बी चौड़ी दुनियाँ है, इसमें कई चीजें टूटती-फूटती रहती ही हैं। चोरियाँ डकैतियाँ भी होती रहती हैं, जीने

वाले समय पर मर ही जाते हैं, इसमें अपनेको क्या ? । घोड़ा मर गया, मोटर टूट गई, छोकरा मर गया, धन डाकू ले गये, इन बातोंको सुन-कर आपको कुछ भी दुःख नहीं होता। परन्तु यदि उन बातोंके साथ 'मेरा' पद जोड़ दिया जाय तो तुरन्त ही सन्तापका अनुभव हो जाता है। हाय ! मेरा घोड़ा क्यों मर गया ? मेरी मोटर क्यों टूट गई ? मेरा छोकरा क्यों मर गया ? मेरा धन डाकू क्यों ले गये ? ऐसा सोचता हुआ वह रोने लगता है। इसलिए मेरापन (ममत्व) ही दुःख देता है, पदार्थ दुःख नहीं देते। यही मायाका स्वरूप है। बाहरके स्त्री, पुत्र, धनादि—पदार्थोंमें मेरापन तभी होता है; जब इस भोक्ता शरीरमें अहंभाव होता है। इसमें होनेवाला अहंभाव ही ममभावका कारण है। जब विवेक-विचारके द्वारा इस इदं-पदार्थ—अनात्मा देहसे अहंभावका परित्याग कर देता है; तब ममभाव भी स्वतः दूर हो जाता है। अहं—ममभावके परित्यागसे ही यह मानव स्थिर—शान्ति एवं विशुद्ध आनन्दका अनुभव करता है।

विपरीत—भ्रान्तिमें दूसरा दृष्टान्त तोताका है। तोताको पकड़नेके लिए एक नीचे घूमनेवाली लकड़ी रक्खी जाती है। जब तोता उसके ऊपर बैठता है—तब वह लकड़ी नीचे घूम जाती है ? तोता नीचे लटकता हुआ अपने पंजोंसे लकड़ी पकड़ रखता है। वह उस लकड़ीको छोड़ता नहीं, उसको ऐसी भ्रान्ति हो जाती है कि—लकड़ीने मेरे पैर पकड़ लिए हैं—इसलिए वह चिल्लाता है। मैंने लकड़ीको पकड़ा है, ऐसा मूढतावश वह नहीं समझता, परन्तु लकडीने मुझे पकड रक्खा है, ऐसा समझता है। ऐसी विपरीत—मिथ्या समझसे उसे जीवन पर्यन्त पिञ्जरेमें गिरफ्तार

रहना पडता है। इसप्रकार यह मूढ–जीव भी ऐसा ही समझकर कहता है, कि–क्या करें? माया छोडती नहीं, उसने हमको पकड रक्खा है। परन्तु विचार कर देखा जाय, तो जड–माया चेतन–जीवको कैसे पकड सकती है? नहीं पकड सकती। चेतन--जीव ही स्वयं मायाको पकडे बैठा है–छोडना नहीं चाहता। किन्तु समझता है उलटा, यह उलटी समझ ही उसके संतापोंका कारण हो जाती है। इसको विवेक-ज्ञान ही हटा सकता है। अतः विवेकके विना कोई भी संसारके संतापोंसे मुक्त नहीं हो सकता।

मायाके इन मिथ्याभिनिवेशोंसे जिनके विवेकज्ञान नष्ट हो गये हैं, वे सच्चित्–अद्वय–आनन्दपूर्ण–भगवत्स्वरूपसे सदा विमुख रहते हैं। इस-लिए उनमें '**दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।**' (१६।१४)। इत्यादिसे आगे कहे जाने वाले निन्दनीय आसुरभाव ही भरे रहते हैं। प्रशंसनीय दैवभाव नहीं रहते। जिसप्रकार ग्रीष्मकालीन मरु-भूमिमें चलने वालोंको प्रचण्ड-उष्णताका ही अनुभव होता है, शीतलताका नहीं। इसप्रकार भगवद्विमुख जीव, दुःखोंके हेतु-आसुरभावोंका ही अनुभव करते रहते हैं, दैव–भावोंका नहीं, जो दुःखोंके निवारक एवं सुखोंके हेतु हैं। आसुरभावोंके आजानेसे शान्ति, प्रसन्नता, तेज, बल, विजय एवं धर्म नष्ट हो जाते हैं और उद्वेग, अनृत, दुर्बलता, दीनता आदि दोष आजाते हैं। जहाँ दैवभाव, अभय–सत्त्वसंशुद्धि. आदि रहेंगे, वहाँ ही शान्ति, विजय आदि रहेंगे। उद्वेग आदि दोष भाग जायेंगे। इसके एक नहीं, अनेक उदाहरण आपको अपने शास्त्रोंमें मिलेंगे। महाभारतके देखने पर आपको यही ज्ञात होगा। युधिष्ठिरादि-पाण्डवोंमें

दैवभाव थे, और दुर्योधनादि-कौरवोंमें आसुरभाव थे। पाण्डवोंका श्री-भगवान् के प्रति दृढ-विश्वास था, इसलिए वे नम्रताके साथ कहते थे-जो भगवान् करेंगे, वही होगा। कौरवोंका ईश्वरके प्रति कुछ भी विश्वास नहीं था, इसलिए वे गर्वके साथ कहते थे कि-हम जो करेंगे, वही होगा। अत एव महागुजरातके प्रसिद्ध भक्त-नृसिंह महेताने इन आसुर-भाववालोंको उद्देश्य करके यह व्यङ्गरूपसे बहुत ही अच्छा कहा है कि—

'हुं करुँ हुं करुँ एज अज्ञानता,
शकटनो भार जेम श्वान ताणे।
तू अल्या कोण? ने कोने वलगी रह्यो,
वगर समझे कहे मारुं मारुं॥'

आसुर-भावोंका प्रमुख एवं उत्पादक कारण है, अहंकार, इसलिए अहंकारी-मानवमें शिष्टपुरुषोंकी-अवज्ञा, उद्दण्डता, निर्दयता, अत्याचार आदि अनेक निन्दनीय दोष भरे ही रहते हैं। अहंकारी दुर्योधन-गीतामें '**भवान् भीष्मश्च कर्णश्च**' (१। ८) इस वचन द्वारा अपने पूजनीय गुरुकी अवज्ञा करता है। संस्कृत-साहित्यमें ऐसा नियम है कि-पूज्य गुरुजनोंके सम्मान-द्योतनार्थ बहुवचनका '**भवन्तः**' ऐसा प्रयोग करना चाहिये। जो व्यक्ति, गुरुजनोंके लिए बहुवचनका प्रयोग न कर एक-वचनका प्रयोग करता है, वह गुरुजनोंके सम्मान-विरुद्ध उनकी अवज्ञा करता हुआ अपना अहंकार प्रदर्शित करता है। इसलिए वह '**पश्यैतां पाण्डुपुत्राणां**' '**तव शिष्येण धीमता**' (१। ३) इन वचनोंके द्वारा अपने आचार्य गुरु-द्रोणसे कहता है कि-हे आचार्य! इन पाण्डु-

पुत्रोंकी सेना देख। ये पाण्डु–पुत्र तुम्हारे ही शिष्य हैं, तुमसे ही इन्होंने धनुर्विद्याकी शिक्षा पाई है, अब वे तुमको ही मारनेके लिए मैदानमें शस्त्रास्त्रसे सुसज्जित होकर खड़े हुए हैं। तुम्हारा ही कुत्ता–तुम्हें ही काटनेके लिए मुंह फाड खडा रहा है। और यह द्रुपद–पुत्र धृष्ट-द्युम्न भी तुम्हारा ही तो शिष्य है, परन्तु वह कैसा धीमान् है–'गायका दूध निकाल लिया, पीछे गायको डण्डा लगाकर निकाल दिया' की तरह–यह तुम्हारी हालत कर रहा है। इससे तुम बुद्धिहीन–मूर्ख ही सिद्ध हो रहे हो, यह अर्थात् सूचित करता है। इसलिए वह अहंकारी मानव कदापि गुरुजनोंकी कृपाका पात्र नहीं होता। विदुरजी दुर्योधनादि-कौरवोंके चाचा थे, भगवद्भक्त थे, सबके हितचिन्तक थे, एवं साधु–प्रकृतिके महामानव थे। इसलिए उन्होंने कौरवकुलके हितके लिए ही दुर्योधनको प्रेमसे समझानेके लिए बड़ा प्रयत्न किया, अच्छी–हितकारी शिक्षा दी। परन्तु अहंकारी दुर्योधनके लिए **'पयः पानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्धकं।'**की तरह हुआ। उसने विदुरजीका घोर अपमान किया। भरी सभामें विदुरजीके प्रति निष्ठुर–उद्दण्डता प्रदर्शित की। तथा उस अहंकारीने रजस्वला देवी–द्रौपदी पर भी बड़ी निर्दयताके साथ अत्याचार किया। इसप्रकार अहंकारादि–आसुरभाववाले मनुष्यके सभी आचरण निन्दनीय ही हुआ करते हैं, इसलिए वे '**दुष्कृतिनः**' ही कहे जाते हैं '**सुकृतिनः**' नहीं। दैवभाववाले मानव ही 'सुकृतिनः' होते हैं। इनके सभी आचरण पुण्यमय एवं प्रशंसनीय ही हुआ करते हैं। वे अपकारीके प्रति भी अपकार करना नहीं जानते। वे अप-कारका बदला उपकारके द्वारा एवं द्वेषका बदला प्रेमके द्वारा चुकाना–

जानते हैं ।

जिस समय युधिष्ठिरादि-पाण्डव वनमें निवास कर रहे थे। और साधु-महात्माओंके समान अकिञ्चन होकर झोंपडियोंमें रहकर वन्यफल-मूलादिसे उदर निर्वाह किया करते थे। उस समय दुर्योधनादि-कौरवोंने पाण्डवोंको नीचा दिखानेके लिए एवं संताप देनेके लिए-उनके निवासके समीप ही गङ्गा-तट पर बडा भारी वन--महोत्सवका आयोजन किया। अच्छे अच्छे वस्त्रालङ्कारोंसे सुसज्जित होकर अपनी अपनी राणियोंके साथ अच्छे अच्छे वाहनोंमें बैठकर अपने वल-ऐश्वर्यादियोंके सूचक-गलगर्जन हँसी मजाक आदि करते हुए वहाँसे जाने लगे। बलवान् गन्धर्वोंसे इन कौरवोंका ऐसा नीच-कृत्य नहीं देखा गया। वे वहाँ आकर उनके सभी वस्त्राभूषण आदिको छीनकर, मार पीटकर उन्हें बन्दी बना दिये। गन्धर्वोंके बलके आगे वे अपनी सब उद्दण्डता भूल गये। जो दूसरोंको नीचा दिखानेका प्रयत्न करता है, उसे कभी स्वयं नीचा देखना पडता ही है। जब किसीके द्वारा साधुस्वभाव-महाराज युधिष्ठिरको कौरवोंकी इस दुर्दशाका पता चला तो वे तुरन्त ही दयार्द्र हो उठे। भीम, अर्जुन आदको बुलाकर कहने लगे कि-भीम! अर्जुन! तुम शस्त्र लेकर शीघ्र वहाँ पहुँचो-अपने दुर्योधनादि-भाइयोंको गन्धर्वोंसे छुडा लो। विलम्ब न करो, वे बड़े दुःखी होते होंगे। भीमने युधिष्ठिरजीसे कहा-भाई! आप क्या कह रहे हैं? उन नीचोंको अपने कुकृत्यका फल मिल रहा है। उनको अपने किये हुए दुष्ट--कर्मोंका फल भोगने दो। उन दुष्टोंको छुडानेके लिए हमें आदेश क्यों दे रहे हो?। वे तो अपने जन्मजात विरोधी हैं। उन्होंने हमारा सब कुछ छीनकर-हमें कंगाल बना दिया है।

युधिष्ठिरजीने भीमसे कहा—भीम ! वे अपने भाई हैं, घरमें भाइयोंसे लडाई—टंटा होताही रहता है । परन्तु इस समय वे संकटमें फँसे हुए हैं, दूसरे लोग उन्हें कष्ट दे रहे हैं, उनको छुडाना अपना कर्तव्य है । दूसरोंके साथ मुकाबला करनेके लिए हम पाँच भाई नहीं, किन्तु १०५ भाई हैं । महाभारतमें युधिष्ठिरके ये—शब्द बडा ही महत्त्व रखते हैं ।—

'शतं च ते, वयं पञ्च, स्वकीये विग्रहे सति ।
अन्यैश्च कलहे प्राप्ते वयं पञ्चोत्तरं शतम् ॥'

वे कौरव सौ हैं, हम पाण्डव पाँच हैं, जब स्वकीय यानी आपसका विग्रह होता है तब,। परन्तु जब दूसरोंके साथ कलह होजाता है, तब हम पाँच भाई ही नहीं रहते, किन्तु (१०५) एकसौ पाँच भाई होजातें हैं । इस प्रकार साधु स्वभावके मानव, अपनेको व्यथित करने वालोंकी भी व्यथा देखकर स्वयं व्यथित होजाते हैं, और उनको व्यथासे मुक्त करनेके लिए प्रयत्न किये विना नहीं रह सकते । महाराज—युधिष्ठिरसे प्रेरित हुए भीमार्जुनादि, वहाँ जाकर गंधर्वोंसे युद्धकर उन्होंने कौरवोंको छुडाया । यही है—सज्जनोंकी सज्जनता । दुर्जन, जब अपनी दुर्जनता नहीं छोडता, तब सज्जन अपनी सज्जनता क्यों छोड़ेगा? नहीं छोड-सकता । इसलिए सज्जनोंके लिए कहा है कि—

'उपकारिषु यः साधुः, साधुत्वे तस्य को गुणः ।
अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते ॥'

उपकारीके प्रति जो साधुता प्रदर्शित करता है, अर्थात् उपकार करता है, उसकी साधुतामें क्या गुण है? उपकारके लिए उपकार किया, इसमें कौनसी प्रशंसाकी बात हुई । जो अपकारीके प्रति भी

साधु बना रहता है, अर्थात् अपकार न कर उपकार करता है। वही प्रशंसनीय साधु है, सज्जन है।

जो तुझको काँटा बोवे, बो तू उसको फूल।
तुझको फूलका फूल है, वाहीको त्रिशूल॥
'नारायण' दो बातको दीजै सदा विसार।
करी बुराई और :ने आप कियो उपकार॥

असुरभाववाला मानव जहाँ बड़ा अहंकारी, अविवेकी एवं उद्दण्ड होकर धार्मिक-मर्यादाओंका तिरस्कार करता है, तो इसके विपरीत दैवभाववाला--मानव अभिवादनशील, विवेकी, विनयी होकर धार्मिक-मर्यादाओंका यथावत् पालन करता है। जब कुरुक्षेत्रके समरांगणमें आमने--सामने कौरव एवं पाण्डवोंकी अठारह अक्षौहिणी--सेना युद्ध करनेके लिए कटिबद्ध हो गई थी। उस समय पाण्डव--सेनासे महाराज--युधिष्ठिर--धनुष् बाणादि शस्त्रोंको नीचे रखकर, शिरका मुकुट उतारकर, बालोंको खुले रखकर कौरवोंकी सेनाकी तरफ जाने लगे। बड़े भाई--महाराजको इस प्रकार जाते देखकर--विना ही कहे भीम, अर्जुनादि लघु--भ्राता भी उनके पीछे पीछे मुकुट उतारकर निःशस्त्र हुए जाने लगे। पार्थसारथी भगवान् श्रीकृष्ण भी इन सबके पीछे चल पड़े। परन्तु एकमात्र भगवान्को छोड़कर महाराज युधिष्ठिरके इस कौरव सेनाभिगमनका प्रयोजन किसीको भी ज्ञात नहीं हुआ। पाण्डव सेनामें बड़ा आश्चर्य माना जा रहा था कि--युद्धके प्रारम्भ--कालमें महाराज युधिष्ठिर वहाँ क्यों जा रहे हैं? और कौरव सेनामें--मूर्खतावश योद्धा लोग उलटा ही समझकर अनाप--सनाप बोल रहे थे कि--देखो--देखो! पाण्डव--सेनाका यह महाराज युधिष्ठिर, हमारी विपुल, एकादश--अक्षौ-

हिणी सेना तथा इसके प्रसिद्ध--पराक्रमी भीष्म--द्रोण--कर्णादि सेनापति-योंको देखकर भयभीत--हो गया है । इसलिए यह शस्त्र छोड़कर, मुकुट उतारकर, खुले बाल रखकर अपने भाइयोंके साथ शरणागति स्वीकार करनेके लिए या सन्धि करनेके लिए या माफी मांगनेके लिए यहाँ आ रहा है । अरे क्षत्रियाधम ! तुझे धिक्कार है, जब तेरेमें युद्ध करनेका बल नहीं था, तो युद्धके लिये इतना बड़ा आयोजन क्यों किया ? । अरे ! तू क्षत्रियकुलमें पैदा होते ही क्यों न मर गया ? । जो तूने क्षत्रिय--जातिके उज्ज्वल--मुखमें कलंक लगा दिया ।

'अनारम्भो हि कार्यस्य प्रथमं बुद्धिलक्षणं ।
आरम्भस्यान्तगमनं द्वितीयं बुद्धिलक्षणम् ॥'

किसीभी कार्यको पूर्ण--करनेकी जब हमारेमें सामर्थ्य नहीं है, योग्यता नहीं है, तो उस कार्यका आरम्भ ही न करना चाहिए। यह भी एक--प्रकारकी प्राथमिक बुद्धिमत्ता है । और जब हमने कार्य आरम्भ कर दिया तो चाहे कुछ भी हो जाय, हजारों विघ्न--बाधाएँ भी क्यों न उपस्थित हो जाँयें, तथापि हमारेमें इतनी जबरदस्त--दृढता एवं पूर्ण--उत्साह होना चाहिए कि--हम अवश्य ही इस प्रारम्भित कार्यको सफल एवं पूर्ण सिद्ध करके ही रहेंगे। इन अनेकविध-विघ्न बाधाओंका वीरकी भाँति मुकाबला करते ही जायेंगे, परन्तु आगे बढ़े हुए पैर कदापि हम पीछे नहीं हटने देंगे। ऐसी विश्वासभरी--हिम्मत बुद्धिमत्ताका द्वितीय लक्षण है ।

परन्तु महाराज--युधिष्ठिर, ये लोग भ्रान्तिवश ऐसा बोल रहे हैं-- इसलिए उनको उपेक्षणीय मानकर प्रसन्नतापूर्वक कौरव--सेनामें आगे

बढ़ते हुए—वहाँ पहुँच गये—जहाँ कुरु-वृद्ध भीष्म-पितामहका रथ खड़ा हुआ था। वहाँ जाकर अपने पितामह--पूज्य--भीष्मके चरणोंमें श्रद्धाके साथ मस्तक झुकाया। और हाथ जोड़कर युद्ध करनेके लिए अनुज्ञाकी एवं विजयलाभके लिए शुभाशीर्वादकी याचना करने लगे। महाराज युधिष्ठिरका ऐसा निष्कपट--विनय, नम्रता एवं धार्मिक--मर्यादाओंके पालनकी अभिरुचि देखकर भीष्मपितामह बड़े प्रसन्न हुये। युधिष्ठिरके शिरके ऊपर छत्रकी भाँति अपने दोनों हाथ रखकर युद्धानुज्ञाके साथ इस प्रकार आशीर्वाद देने लगे कि—

'प्रीतोऽस्मि! पुत्र युध्यस्व, जयमाप्नुहि पाण्डव!।
यत्तेऽभिलषितं चान्यत् तदवाप्नुहि संयुगे॥'

हे पुत्र--युधिष्ठिर! मैं तुम्हारे इस शुभाचरणसे अतीव प्रसन्न हूँ, हे पाण्डव! तू युद्ध कर, अवश्य ही विजय प्राप्त करेगा। और इस संग्राममें और भी जो तेरा अभिलषित मनोरथ होगा, उसे भी तू अवश्य प्राप्त कर लेगा।

युधिष्ठिरके बाद भीमादि अन्य भ्राताओंने भी ऐसा ही अनुकरण किया एवं वृद्ध--पितामहका शुभाशीर्वाद प्राप्त किया। पश्चात् महाराज युधिष्ठिर, गुरु--द्रोणाचार्यके समीप गये और वहाँ भी ऐसा ही विनय प्रदर्शित कर युद्धानुमति एवं--शुभाशीर्वाद प्राप्त किया। जब कौरवदलके लोगोंको युधिष्ठिरके इस आचरणकी—वास्तविकताका पता लगा; तो वे अपनी मूर्खता पर पश्चात्ताप, और युधिष्ठिरके इस सद्भाग्यकी ईर्ष्या करने लगे। दुर्योधन तो भीष्म एवं द्रोणके इस आशीर्वादसे हृदयमें बहुत ही जल—भुन गया; और भीष्म, द्रोणको अपने मनमें खरीखोटी सुनाने लगा।

राजर्षि मनुने कहा है—

'अभिवादनशीलस्य, नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते, आयुर्विद्या यशो बलम्॥'

जो सदा मान्य—पुरुषोंका निष्कपट--विनयके साथ अभिवादन (नमस्कार चरण—स्पर्श आदि) तथा धर्मवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, कुलवृद्ध आदि वृद्धोंका श्रद्धासे सेवन करता रहता है। उसके आयु, विद्या, यश एवं बलकी अभिवृद्धि होती रहती है।

दैवभाववाले--मानव जहाँ सुकृती होकर नरोत्तम बन जाते है। वहाँ आसुरभाववाले--मानव दुष्कृती होकर नराधम बन जाते हैं। हृदयमें अच्छे -भावोंको धारण कर उत्तमता. एवं खराब--भावोंको धारण कर अधमता प्राप्त होती है। नरोत्तमोंका धर्ममय, प्रभुमय, शान्ति, आनन्द एवं प्रसन्नतासे भरा हुआ प्रशंसनीय दिव्य--जीवन होता है, तो नराधमोंका अधर्ममय, प्रभुविमुख, उद्वेग, दुःख एवं दुष्टतासे भरा हुआ निन्दनीय पशुमय जीवन होता है। पेट भरना, खा पीकर सो जाना, च्याउं—म्याउं पैदा करना यानी वंशवृद्धि करना एवं बात--बातमें भय-भीत हो जाना, यह पशु भी करना जानते हैं, मनुष्यने अपने जीवनमें इतना ही करना जाना तो पशुओंसे मनुष्योंकी क्या विशेषता? कुछ भी नहीं। **'धर्मेण (ज्ञानेन) हीनाः पशुभिः समानाः'** अर्थात् धर्म एवं ज्ञानसे हीन मानव पशुओंके समान हैं। उनका पशुतुल्य ही जीवन है, वे शृंगपुच्छ विनाके एक--प्रकारके पशु ही हैं। इस विषयमें महात्मा लोग एक--काल्पनिक दृष्टान्त इसप्रकार देते हैं।

सृष्टिके आदिमें परमेश्वरने स्वसृष्ट—मनुष्यसे लेकर सभी प्राणियोंका

निरीक्षण किया। निरीक्षण करने पर भगवान्‌को विदित हुआ कि—इन पशुओंके जीवनसे भी इन मानवोंका जीवन अत्यन्त—अधम, स्वार्थ—प्रचुर एवं पापमय होगा। इसलिए इन मानवोंको पशुओंकी अपेक्षा कम ही आयु देनी चाहिए। ऐसा निश्चय—कर परमेश्वरने मनुष्योंको सिर्फ २० वर्षकी एवं पशुओंको उनसे दुगुनी ४० वर्षकी आयु दी। मनुष्य ज्यादा आयु न मिलनेसे बड़े संतप्त हुए। भगवान्‌से पुनः पुनः प्रार्थना करने लगे—भगवन्! हमें पशुओंसे भी कम आयु क्यों दी? उनसे भी हमें तो ज्यादा आयु मिलनी चाहिये थी, हम मनुष्य हैं, पशुओंसे भी उत्तम हैं, बुद्धिमान् हैं, समझदार हैं, इसलिए हमें कृपया ज्यादा आयु दीजिये। भगवान्‌ने कहा—बस जितना आयु तुम्हें मिला है, इतनेमें सन्तोष करो, ज्यादा आयु अब हम नहीं दे सकते। तथापि मनुष्य भगवान्‌के समक्ष इसके लिए रोते रहें—एवं अनुनय विनय करते रहें। प्रभो! हमारे पर कृपा करो, हमको ज्यादा आयु मिलेगी तो हम उसका सदुपयोग करेंगे, दुरुपयोग न करेंगे। भगवान्‌ने विचार कर कहा अच्छा—हम तो तुम्हें ज्यादा आयु नहीं दे सकते, परन्तु ये पशु, यदि राजीखुशीसे अपनी आयुमेंसे कुछ हिस्सा दे दें, तो तुम ले सकते हो। इसलिए तुम इन पशुओंसे अधिक आयु प्राप्तिके लिए प्रार्थना करो। मनुष्य स्वार्थी तो था ही, स्वार्थ साधनेमें इसकी प्रवीणता प्रसिद्ध है ही। स्वार्थ—सिद्धिके लिए वह गधाको भी बाप बनानेमें हिचकता नहीं। वह झट इन पशुओंके समीप गया और आयुके लिए प्रार्थना करने लगा। सांड, कुत्ता आदि पशुओंने विचार किया—यह मनुष्य आयु मांगता है—देनी चाहिए, दूसरोंका हित करना श्रेष्ठ धर्म है—ज्यादा आयु अपने

पास रहेगी तो हमें ज्यादा कष्ट उठाना पडेगा। इसलिए मनुष्योंको अपनी आधी आयु देना अच्छा ही रहेगा, एक तरफ दानका पुण्य-फल भी मिलेगा, तो दूसरी तरफ विशेष कष्ट--भोगसे भी हम बच जायेंगे। विशेष जीनेपर बोझा ढोना, मार खाना आदि दुःख ही उठाने पडेंगे। ऐसा विचार कर पशुओंमेंसे सांड, कुत्ता, बगुला, एवं ऊंटने अपनी अपनी ४० वर्षकी आयुमेंसे २०—२० वर्षकी आयु मनुष्यको दे दी। और कहा—हमारेसे ली हुई इस आयुका सदुपयोग करना, इससे आप सुखी रहना तथा अन्योंको सुख देना, कभी किसीको दुःख मत देना, सबका हित ही करते रहना, अहित नहीं। भगवान्‌का भजन कर अपना कल्याण करना। इसप्रकार इन सांड आदि चार—प्राणियोंकी अनुकम्पासे चार--बीस अर्थात् अस्सी वर्षकी आयु इनसे दानमें प्राप्त की और इनमें अपनी भगवद्दत २० वर्षकी आयु मिलाकर मानव शतायु अर्थात् सौ वर्षकी आयुवाला बना।

मनुष्य अपनी बीस वर्षकी आयु तक पढ़ता रहा, इस आयुमें मनुष्यताके कुछ भाव उसमें बने रहे। परन्तु जब उसने युवावस्था प्राप्त की, तब वह मायाके चक्करमें फँस गया। मायाके विमोहोंने उसके विवेकज्ञानको हर लिया। वह युवावस्थाकी मस्तीसे विवेकहीन एवं उद्दण्ड हो गया। जिस प्रकार वर्षा ऋतुके आगमनसे आकाशमें बादल छा जाते हैं, इसप्रकार युवावस्थाके आगमनसे इसमें कामादि--आसुर-भाव छा गये। सांडकी तरह वह चार-पैरवाला बनकर क्रीडा-मस्त बना। 'तरुणस्तावत्तरुणीरक्तः' हो गया। मानवजीवनका क्या लक्ष्य है? यह सर्वथा भूल गया। सांडकी आयुका सदुपयोगके बदले दुरुपयोग

किया। ४० वर्षके बाद २० वर्ष तक कुत्तेकी आयु आई। युवानीकी मस्ती अब इसको कुछ कम हो गई। चार छः बच्चे हो गये हैं, बेटोंकी भी बहुएँ आ गयी हैं, परिवार फैल गया, आवश्यकताएँ बढ़ गईं। व्यय विशेष होने लगा, और कमाई कम पड़ने लगी, इसलिए वह कुत्तेके समान कभी किसीके ऊपर तो कभी किसीके ऊपर झुंझलाता रहता है। कभी किसीको डांटता रहता है। इसप्रकार भों भों करनेमें ही इसके २० वर्ष समाप्त हो जाते हैं। अब वह ६० वर्षका बुड्ढा-डोसा हो जाता है, साठ वर्षके बाद बगुलेकी आयु आती है। अब इसको चिन्ता हो जाती है कि—हाय ! मेरो जिन्दगीके ६० वर्ष तो ऐसे ही चुटकी बजानेके समान चले गये, मैंने अपने जीवनमें कुछ भी अच्छा कार्य नहीं किया। अब मेरे सब अंग गल गये हैं। बाल रुईके समान श्वेत हो रहे हैं। मुख दांतोंके गिर जानेसे पोपला बन गया है। जवानीमें घोडेके समान धमकते हुए चलनेवाले मुझको अब लकड़ीके सहारे चलना पड़ रहा है, चलते चलते श्वास भी फूल जाता है। मरनेके दिन अब नजदीक ही मालूम पड़ रहे हैं। तब वह मौतके भयसे हाथमें माला पकड़ता है, नींदके झोकोंसे माला गिर भी जाती है। एक पैरसे बगुला तप करता है, परन्तु किसी लालचसे, कैसे स्वर्ग मिले? सुख मिले? जवानी मिले?, इत्यादि अनेक लालचें रखकर माला फेरता है। परन्तु मन भगवान्की तरफ फिरता नहीं, क्योंकि—मनमें अनेक-प्रकारकी सांसारिक चिन्ताएँ एवं कामनाएँ ही प्रचुर मात्रामें भरी पड़ी हैं। इस प्रकार वह २० वर्ष तक बगुलेकी आयु बिताता है। ८० वर्षके बाद ऊँटकी जिन्दगी आती है। नाकमें नकेल डालकर डोरी

बांधकर जैसे एक आदमी ऊँटको दोरता है, ऐसी ही उस अति--बूढेकी दशा हो जाती है। आँखोंसे दिखाई नहीं देता, न कानोंसे सुनाई देता है, चक्षुरादि--इन्द्रियोंने अपना अपना कार्य करना छोड़ दिया है। परन्तु यह बूढा देखने, सुननेकी आसक्ति नहीं छोड़ता। इसके लिये बार बार पश्चात्ताप करता रहता है कि-हाय! अब मुझे दीखता नहीं, सुनाई नहीं देता। देखने एवं सुननेके लिए अनेक प्रकारके उपाय करता रहता है।

मनुष्योचित शुभ कार्य नहीं किये, प्रेम एवं एकाग्रतासे भगवद्भजन एवं सत्संग नहीं किया, तो वह मनुष्य नहीं, पशु है। पशुसे भी अधम है। पशुके तो अस्थि, चर्म आदि उपयोगमें आते हैं, परन्तु मनुष्यके कुछ नहीं। '**देह धरेका यह फल भाई, भजिये राम सब काम बिहाई।**' '**मोह–मूल बहु शूल प्रद त्यागहुँ तुम अभिमान। भजहुँ राम--रघुनायक कृपासिन्धु भगवान।**' मनुष्य–जीवनकी सार्थकता राम भजनसे ही है। परन्तु आसुरभाववाला मानव, किसी भी प्रकारसे रामका भजन नहीं कर सकता। जब सत्सङ्ग एवं विवेक-विचार द्वारा आसुर--भावोंका उन्मूलन कर दैव-भावोंको धारण करता है, तभी ही वह राम--भजन कर सकता है। इसलिए भगवान्ने गीतामें कहा है कि—

> **'महात्मानस्तु मां पार्थ! दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।**
> **भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥'**
> **(९।१३)**

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! दैवी--प्रकृतिके आश्रयमें रहनेवाले अर्थात्

आसुर--भावोंको हटाकर दैव--भाव धारण करनेवाले जो महात्मा--जन हैं। वे मुझ परमात्माके--सब भूतोंका सनातन कारण, अव्यय, विकार-रहित--पूर्णस्वरूपको जानकर अनन्य--मनसे युक्त हुए, मेरा निरन्तर भजन करते रहते हैं।

राजर्षि भर्तृहरिजीने-आसुर-भाववाले—इन प्रमादी मनुष्योंको लक्ष्यमें रखकर उनके नितान्त उद्विग्न--चित्तमें निर्मल, शाश्वत सुखके लेशके भी अभावका वर्णन करते हुए--यह क्या ही अच्छा कहा है—

'आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं, रात्रौ तदर्धं गतम्,
तस्यार्द्धस्य परस्य, चार्धमपरं बालत्ववृद्धत्वयोः।
शेषं व्याधिवियोगदुःखसहित सेवादिभिर्नीयते,
जीवे वारितरङ्गचञ्चलतरे सौख्यं कुतः प्राणिनाम् ?॥'

प्रथम तो विधाताने मनुष्यका जीवन सौ वर्षका ही परिमित बनाया है। उसमेंसे आधा यानी पचास वर्षका जीवन, रात्रिमें खर्राटे-ताननेमें ही समाप्त हो जाता है। निद्राके वशीभूत हुआ यह, पचास वर्षकी समस्त रात्रिएँ व्यर्थ ही बरबाद कर देता है। परिशिष्ट जीवनके पचास वर्षमेंसे, पच्चीस वर्ष बालपने एवं वृद्धपनेमें व्यतीत करता है। अर्थात् साडे बारह वर्ष (१२॥) बाल्यकालकी अज्ञानतामें तथा उतने ही वर्ष, वार्धक्यकी अशक्ततामें नष्ट हो जाते हैं। वह इन दोनों दशा-ओंमें अपने कल्याणके लिए कुछ भी प्रयत्न नहीं कर पाता। न उसमें महान् सुखका ही अनुभव कर सकता है। प्रत्युत वह मूढता एवं अशक्तता प्रयुक्त विविध--दुःखोंका ही अनुभव करता रहता है। बाकी बचे हुए पच्चीस वर्ष, वह उनका विविध प्रकारके रोगोंमें; पुत्र, कलत्र,

वित्तादि–इष्ट–पदार्थोंके वियोगजन्य–दुःखोंमें, धनके लिए धनवालोंकी सेवामें, तथा कलह, हर्ष, शोक, हानि, लाभ आदिके कष्टोंमें ही व्यतीत कर डालता है। इसप्रकार इस मूढ–मानवको सौ वर्ष पर्यन्त जीवनका लाभ मिले तो भी वह अपने–जीवनमें वास्तविक–सुखका लेश भी अनुभव नहीं कर सकता। परन्तु यह जीवन तो जल–तरङ्गके समान अत्यन्त क्षणभङ्गुर है, इसमें इन प्रमादी अज्ञ–प्राणियोंको कहाँसे शाश्वत–एवं निर्मल सुख प्राप्त होगा।

इस क्षणभंगुर–द्वन्द्वमय मानवजीवनमें वही शाश्वत–शान्ति सुखका अनुभव कर सकता है, जो इस संसाररूपी मुसाफिरखानेमें अपनेको एक–मात्र मुसाफिर समझकर दृढ़–असंगभाव धारण करता है, तथा विवेक–विचार द्वारा–अहंकार, राग, द्वेष–आदि सभी आसुरभावोंको हटाकर अपने मन–मधुपको भगवान्‌के पावन एवं चिन्मय–चरणकमलोंमें तन्मय बना देता है। इसलिए किसी विद्वान् महात्माने अपने मनमधुपको इसप्रकार उपदेश दिया है–कि–

'रे रे मानसभृङ्ग! मा कुरु मुधा झङ्कारकोलाहलम्,
निःशब्दं हरिपादफुल्लकमले माध्वीकमास्वादय।
तस्मिन् सर्वतृषापहारिणि चिदानन्दे मरन्दे सकृत्,
निष्पीते क्व नु ते प्रयास्यति लयं साहङ्कृतिर्झङ्कृतिः॥'

अरे मनमधुप! तू व्यर्थ झङ्कार–कोलाहल न कर, अर्थात् अहंकारादि–आसुरभावोंके वशमें हो उद्विग्न मत बन। मौन होकर शान्त–भाव धारण कर श्रीहरिके पादरूपी–प्रफुल्ल–कमलके मकरन्द (पुष्परस) का निरन्तर आस्वादन कर। सारी–तृषा (विषय–तृष्णा) बुझाने वाले

उस चिदानन्दरूप मकरन्दका एक बार भी पान कर लेने पर तेरी यह अहंकारयुक्त–झङ्कार (द्वन्द्वमयी–मिथ्या–कल्पनाएँ) न जाने कहाँ विलीन हो जायगीं। अर्थात् तू निरहंकार–निर्द्वन्द्व–निर्विकार एवं पूर्ण–आनन्दमय बन जायगा।

जो कोई इस देव–दुर्लभ मानव–शरीरको प्राप्त कर श्रद्धा एवं एकतानतापूर्वक अन्तरात्मा पूर्णानन्द निधि–भगवान्‌का भजन नहीं करता है, वह बडा मन्दभागी है, वह बडी बेढंगी भूल कर रहा है, उसे अन्तमें बडा भारी अनुताप ही करना पडेगा। अतएव राजर्षि–भर्तृहरिने इसकी उपहासास्पद–मूर्खताका वर्णन अनेक उदाहरणोंके द्वारा इसप्रकार किया है–कि—

'स्थाल्यां वैदूर्य्यमय्यां पचति स लशुनं चान्दनैरिन्धनौघैः,
सौवर्णैः लाङ्गलाग्रैर्विलिखति वसुधामर्कमूलस्य हेतोः।
छित्वा कर्पूरखण्डान् वृतिमिह कुरुते कोद्रवाणां समन्तात्,
प्राप्येमां कर्मभूमिं न चरति मनुजो यस्तपो मन्दभाग्यः ॥'

जिस प्रकार वैदूर्य्य (रत्न–विशेष)की बनी हुई बहुमूल्य कड़ाहीमें चन्दन–काष्ठकी नीचे आग लगाकर शास्त्रनिषिद्ध लहसुन–पकाना, बड़ी बेढंगी भूल है, सुवर्णनिर्मित–हलसे पृथ्वीको जोतकर उसमें आकका बोना सुवर्ण–हलका दुरुपयोग है। एवं कर्पूरखण्डोंको काट काट कर कोदों (निकृष्ट–धान्य–विशेष)की रक्षा करना अत्यन्त मूर्खता है। उसी प्रकार जो मानव इस कर्मभूमिको प्राप्तकर तपश्चर्यापूर्वक भगवान्‌का भजन नहीं करता है, वह बड़ा मन्दभागी है।

'इयमेव परा हानिरुपसर्गोऽयमेव हि।
अभाग्यं परमं चैतद्, वासुदेवं न यत्स्मेरत्॥'

मनुज शरीर पाकर जो वासुदेव–भगवान्‌का स्मरण–भजन नहीं करता है, यह इसकी बडी भारी हानि है, यह उसकी एक बडी बेढंगी चूक है, सबसे बड़ा दुर्भाग्य है।

(१६)

'चतुर्विधा भजन्ते मां, जनाः सुकृतिनोऽर्जुन!।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ!॥'
(७।१६)

हे भरतवंशमें श्रेष्ठ--अर्जुन! पुण्यकर्मवाले, चार प्रकारके उत्तम--जन मेरा भजन करते हैं। एक आर्तजन है, जो विविध-रोग-संकटादि--जन्य-दुःख निवारणके लिए मेरा भजन करता है, दूसरा जिज्ञासुजन है, जो मुझ भगवान्‌को यथार्थरूपसे जाननेकी इच्छा रखकर भजन करता है। तीसरा अर्थार्थीजन है–जो ऐहिक एवं पारत्रिक–इष्टपदार्थ-लाभके लिए भजन करता है, और चतुर्थ ज्ञानीजन है, जिसे निष्काम-भावसे भगवद्भजन करना स्वाभाविक हो गया है।

आनन्दकन्द, सर्वसमर्थ-भगवान्-श्रीकृष्ण अपने प्रिय शिष्य-भक्त अर्जुनके प्रति अपने चार प्रकारके भक्तजनोंका वर्णन करते हैं। किसी भी उद्देश्यसे जो मेरेमें अनुराग रखकर मेरा भजन करता है, वह मेरा भक्त हो जाता है। मेरा भजन सभी जन नहीं कर सकते, किन्तु जो सुकृतीजन हैं, जिनके जन्मजन्मान्तरोंके पुण्योंका उदय हुआ है, वे ही पुण्यकर्मा-मानव मेरा भजन बड़ी रुचिके साथ श्रद्धा एवं एकाग्रता-

पूर्वक करते हैं। जिस प्रकार कड़ी भूख लगनेपर ही भोजन रुचिपूर्वक होता है, और उससे बड़ा स्वाद-सुख मिलता है। भूख न हो तो भोजनमें न रुचि रहती है, न इससे कुछ स्वाद-सुख ही मिलता है। इसप्रकार पुण्योदय होनेपर ही भगवद्भजनमें रुचि होती है और उससे बड़ा आनन्द मिलता है। पुण्योदय न हो तो उसकी भगवद्भजनमें न रुचि होती है, न तो उससे कुछ आनन्द ही मिलता है। इसलिए सुकृती पुण्यवान् जन ही भगवद्भजन कर सकते हैं। दुष्कृती—पापीजन कदापि भगवद्भजन नहीं कर सकते। दुष्कृतियोंके मन हरदम भगवद्विमुख रहकर संसारके द्वन्द्वोंमें ही जिसप्रकार फंसे रहते हैं, इसप्रकार सुकृतियोंके मन द्वन्द्वमय—संसारसे विमुख रहकर भगवान्के ही मुनिमनहारी—कलिकल्मष-निवारी-पुनीत चरणारविन्दोंमें फंसे रहते हैं।

इन सुकृतियोंकी चार प्रकारकी कक्षाएँ हैं। आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी एवं ज्ञानी। आर्त वे हैं—जो संसारके जन्म—मरणादि विविध--दुःखोंसे अतीव व्यथित हो गये हैं। एवं अनेक-प्रकारके संकटोंसे घिरे रहते हैं; जो इन विविध-दुःख एवं संकटोंसे अपना परित्राण करना चाहते हैं। जब संसारका कोईभी पदार्थ इनसे परित्राण करता देखनेमें नहीं आता है। एवं वह जब सबसे निराश हो जाता है, तब वह भगवान्की शरणमें जाता है। भगवान्को पुकारता है—भगवान्के अभिमुख होकर भगवान्के पावन—नामोंको जपता है। भगवान्को ही एकमात्र अपना परित्राण-कर्ता निश्चय करता है। ऐसा आर्तभक्त था, गजराज। किसी विद्वान् महात्माने सरोवरके अगाध--जलमें निमग्न गजराजके ही कथनका इसप्रकार उल्लेख किया है—

'मातङ्गाः कलभाः करेणुसहिताः मामेव ये संश्रिताः,
ते ऽमी क्षीणबलं निरीक्ष्य सुहृदोऽप्युज्झित्य मां प्रस्थिताः।
कर्तारं जगतां समस्त-विपदां हर्तारमेकं श्रियां,
भर्तारन्तु विना न संकट-समुद्धर्तारमीक्षे परम्॥'

हथिनियोंके सहित बड़े बड़े हाथी, एवं उनके छोटे बच्चे, ये सब मेरे सुहृद् बन्धु थे। जो मुझ बलवान्‌के ही सदा आश्रयमें रहते थे। जब मैं ग्राह द्वारा सरोवरमें आकृष्ट होकर सरोवरके अगाध-जलमें निमग्न हो गया, तब वे सब, मुझे बलरहित समझकर मेरा परित्याग कर यथेष्ट स्थान पर चले गये। जब मैं अकेला ही संकटमें फँसा हुआ रह गया, तब मैंने सबसे निराश होकर ऐसा निश्चय किया कि—समस्त जगत्‌के कर्ता, निखिल--विपत्तियोंके हर्ता, सम्पूर्ण--श्रियोंके भर्ता, एकमात्र श्री-नारायणके विना इस संकटसे मेरा समुद्धार करने वाला और कोई नहीं है, अर्थात् एकमात्र कृपासिन्धु, सर्वशक्तिमान् भगवान् नारायण ही इस संकटसे मेरा समुद्धार कर सकते हैं? ऐसा—मुझे यथार्थ भान हुआ।

श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंमें गजराजका समग्र वर्णन इस प्रकार किया है—त्रिकूट नामसे विख्यात एक श्रेष्ठ—पर्वत था। वह अत्यन्त उच्च शृङ्गोंसे, भाँति भाँतिके वृक्ष लता एवं गुल्मोंसे और झरनोंके पानीके घोषसे अत्यन्त शोभा सम्पन्न था। उसकी अधित्यकाओंमें तरह तरहके हाथी, सिंह, व्याघ्र आदि जंगली प्राणियोंके झुण्ड रहकर, तथा तरुवरोंमें निवास करनेवाले विविध—प्रकारके पक्षीगण, मधुर कलरव कर, उसकी शोभा बढ़ाते थे। उसके प्राङ्गणमें बहुतसी नदियाँ बहती थीं, तथा वरुणदेवका एक सुन्दर—विशाल बगीचा बना हुआ था। वह मन्दार, पारिजात,

पाटल, अशोक, चम्पक, चूत, पनस, प्रियाल, साल, ताल, तमाल, रसाल, वट, पिप्पल, उदुम्बर, किंशुक, देवदारु, बेर, वेल, बहेडा, हरीतकी. आँवला आदि वृक्षोंसे तथा उनके दिव्य--पुष्प एवं फलोंसे भरा हुआ सुशोभित हो रहा था। उसके समीप विविध रंगके कमलोंसे सुशोभित एक बहुत--बड़ा सरोवर था। वह मतवाले--भ्रमरोंके तथा हंस-कारण्डव, सारस, चक्रवाकादि जलचर--प्राणियोंके मधुर कूजनसे मुखरित (शब्दायमान) हो रहा था।

एक दिन उस पर्वतके मनोहर--वनमें रहने वाला एक बड़ा बलिष्ठ --भारी डील--डौलवाला यूथपति गजराज, उस सरोवरकी कमलकेसरसे सुवासित पवनकी गन्ध सूंघकर अपनी प्रियतमा-हथिनियोंके साथ घूमता हुआ तथा बाँस, बेंत आदिकी बड़ी बड़ी झाड़ियोंको रोंदता हुआ अपने तृषातुर यूथके सहित वहाँ आया। जिसके कपोलोंसे मद चू रहा था, जिसके गण्डस्थल पर मदका आस्वादन करने वाले, मधुकरोंके झुण्ड जुटे हुये थे। जो सूर्यके प्रचण्ड--आतपसे घबडाया हुआ था, जिसके चारों ओर बहुतसे हाथी और हथिनी चल रहे थे। तथा जिनके बच्चे पीछे पीछे दौडे आ रहे थे। शीघ्रतासे चलनेवाले वजनदार पैरोंकी धमकसे वह सम्पूर्ण पर्वत एवं वनको कम्पायमान कर देता था। उस गजराजने वहाँ आकर उस सरोवरमें घुसकर स्नान किया और कमल केसर--सुवासित, सुधा--सदृश जल यथेष्ट पिया। वह अन्य गृहस्थोंके समान मोहग्रस्त होकर अपनी सूंडके अग्रभागसे जलकी फुहारें छोडकर अपने साथकी हथिनियों एवं बच्चोंको नहलाने तथा जल पिलाने लगा। परन्तु वह मायासे मोहित-हुआ उन्मत्त हाथी आने वाले कष्ट को सोच न सका।

इसी समय दैवेच्छासे किसी बलवान् ग्राह ने रोषमें होकर उसका पैर-पकड़ लिया। अकस्मात् विपत्तिग्रस्त होने पर उस महाबली गजेन्द्र ने उसके मुखसे अपने पैर छुडानेके लिए अपनी शक्तिके अनुसार बहुतेरा जोर लगाया, परन्तु वह सफल न हुआ। अपने यूथनायकको अति-बलवान् ग्राह द्वारा बलपूर्वक खींचे जानेसे अतिदुःखी देख उसके समीप खडे हुए अन्य हाथी और हथिनियाँ भी अति-आतुर होकर चिंघाडने लगे। किन्तु उसका उद्धार करनेमें समर्थ न हुए। अन्तमें निराश होकर गजराजको ऐसी ही दुःखमयी दशामें छोड़ वे सब अपने-अपने यथेष्ट स्थानको चले गये। इस प्रकार गज और ग्राहको एक दूसरेको जलके भीतर एवं बाहर खींचते हुए कई वर्ष व्यतीत हो गये। अन्तमें बार-म्बार जलके भीतर खींचे जानेके कारण गजराज अत्यन्त थकित हुआ, और उसका बल एवं उत्साह क्षीण हुआ। इस घोर--संकटके समय उसके पूर्व-जन्मके शुभ संस्कार जाग उठे।

यह गजेन्द्र अपने पूर्व--जन्ममें इन्द्रद्युम्न नामसे विख्यात पाण्ड्य-देशका राजा था। वह विष्णु भगवान्का भक्त था। मलयाचल--पर्वत पर मौन धारणकर तपस्वी बनकर अच्युत भगवान् श्रीहरिकी आराधना कर रहा था। इसी समय अगस्त्य मुनिके सत्कार न करनेके कारण मुनिके द्वारा शापित होनेसे उसे हाथीकी योनि प्राप्त हुई। और उसे इस घोर-संकटके समय पूर्वजन्मकी भगवदाराधनाके प्रभावसे सहसा अच्युत-भगवान्की स्मृति जाग उठी और वह सर्वतोभावेन भगवान् नारायणकी शरणापन्न होकर स्वरक्षणके लिए इस प्रकार स्तुति करने लगा कि—

'यः कश्चनेशो बलिनोऽन्तकोरगात्,
प्रचण्डवेगादभिधावतो भृशम्।
भीतं प्रपन्नं परिपाति यद्भयात्,
मृत्युः प्रधावत्यरणं तमीमहि ॥'
(भा० ८।२।३३)

जो अतिबलवान् कालरूप--सर्पके प्रचण्ड--वेगसे भयभीत होकर भागते हुए शरणागत-व्यक्तिकी रक्षा करता है, तथा जिसके भयसे मृत्यु भी दौड़ता है, अर्थात् अपने कार्यमें प्रवृत्त होता है, ऐसा जो कोई सर्वेश्वर भगवान् श्रीनारायण है—उस शरणप्रद प्रभुकी हम शरण लेते हैं।

'यस्मिन्निदं यतश्चेदं, येनेदं य इदं स्वयं।
योऽस्मात्परस्माच्च परः, तं प्रपद्ये स्वयंभुवम् ॥'

'यः स्वात्मनीदं निजमायया ऽर्पितं,
क्वचिद्विभातं क्व च तत्तिरोहितम्।
अविद्धदृक् साक्ष्युभयं तदीक्षते,
स आत्ममूलोऽवतु मां परात्परः ॥'
(भा० ८।३।३-४)

जिनमें यह जगत् अवस्थित है, जिनसे यह चराचर उत्पन्न हुआ है, जिनसे यह बाहर-भीतर व्याप्त है, अतएव जो यह स्वयं ही जगत् है, तथा जो इस कार्य-कारणरूप जगत्से पर है, उन भगवान् स्वयंभूकी मैं शरण लेता हूँ। जिनकी स्वयंज्योति—प्रकाशरूपी दृष्टि कभी लुप्त नहीं होती, ऐसे जो सर्वात्मा अद्वय प्रभु हैं, वे अपने भीतर अपनी माया द्वारा अध्यारोपित—कभी प्रकट और कभी तिरोहित हो जानेवाले इस

कार्यकारणरूप--द्वैत--प्रपञ्चको तथा इसके अभावको साक्षीरूपसे निरन्तर देखते रहते हैं। वे आत्मयोनि–परात्पर–प्रभु मेरी रक्षा करें।

पुनः वह मार्मिक-भाषासे भगवत्स्वरूपका वर्णन करता हुआ भगवान्‌को पुनः पुनः नमस्कार करने लगा—

'तस्मै नमः परेशाय, ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये।
अरूपायोरुरूपाय नमः आश्चर्यकर्मणे॥
नमः शान्ताय घोराय मूढाय गुणधर्मिणे।
निर्विशेषाय साम्याय नमो ज्ञानघनाय च॥
क्षेत्रज्ञाय नमस्तुभ्यं सर्वाध्यक्षाय साक्षिणे।
पुरुषायात्ममूलाय मूल-प्रकृतये नमः॥'
(भा० ८।३।९-१२-१३)

अनन्त-शक्ति, आश्चर्य--कर्मा, रूपरहित होकर भी अनेकों रूप धारण करनेवाले उन परब्रह्म परमेश्वरको नमस्कार है। मायाके सत्त्वादि-गुणोंके धर्मोंका अनुसरण कर कभी जो सात्त्विक–शान्त हो जाते हैं, कभी राजस--घोर बन जाते हैं, तथा कभी तामस--मूढ हो जाते हैं–ऐसे विचित्र वेषधारी भगवान्‌को नमस्कार है। तथा जो वस्तुतः निर्विशेष हैं–अर्थात् मायिक एवं भौतिक-जाति, गुण, कर्म, सम्बन्धादि कल्पित--विशेषताओंसे विवर्जित हैं, तथा जो समानभावसे सर्वत्र अवस्थित हैं, विज्ञानघन हैं, ऐसे परमात्माको नमस्कार है। जो भगवान् क्षेत्रज्ञ प्रत्यगात्मा हैं, सबके अध्यक्ष एवं साक्षी हैं, उन्हें नमस्कार। तथा जो पुरुष हैं अर्थात् सबमें पूर्ण तथा समस्त--शरीररूपी--पुरियोंमें द्रष्टारूपसे अवस्थित हैं। प्रतिबिम्बभूत सभी जीवात्माओंके मूलभूत-बिम्बके समान

वास्तविक स्वरूप हैं। तथा समस्त विश्वकी मूल-प्रकृति हैं, अर्थात् अभिन्न–निमित्तोपादान--कारण रूप हैं, उन परमात्माको नमस्कार है।

'नमो नमस्तेऽखिलकारणाय, निष्कारणायाद्भुतकारणाय।
सर्वागमाम्नायमहार्णवाय, नमोऽपवर्गाय परायणाय॥'
(श्रीमद्भा० ८।३।१५)

जो सबके कारण, स्वयं कारण-रहित तथा कारण होनेपर भी मृत्तिका आदिके समान विकारको प्राप्त न होनेसे अद्भुत कारण रूप हैं। जो सम्पूर्ण वेद एवं शास्त्रोंके अनन्त-ज्ञानके महासागररूप, निर्वाण-कैवल्यात्मक-मोक्ष स्वरूप, तथा श्रेष्ठ-ब्रह्मवित्-पुरुषोंके परम आश्रयरूप हैं, ऐसे आप श्रीनारायणको मेरा बारंबार नमस्कार है।

'प्रत्यग्दृशे भगवते बृहते नमस्ते'
'अनन्तमाद्यं परिपूर्णमीडे'
'निषेधशेषो जयतादशेषः*'
'करोतु मेऽदभ्रदयो विमोक्षणम्।'
(भा० ८।३।१७–२१–२४–१९)

---

* द्वैत–प्रपञ्चका निषेध तभी हो सकता है, जब यह अध्यारोपित हो। परमार्थ–सत्य–वस्तुका कभी निषेध नहीं होता। जिस प्रकार भ्रान्तिसे रज्जु ही सर्परूपसे प्रतीत होती है, इसप्रकार अविद्यासे अधिष्ठान ब्रह्म ही आरोपित–अशेष–विश्वरूपसे प्रतीत होता है। इसप्रकार अध्यारोपापवाद–न्याय द्वारा द्वैत–जगत्का मिथ्यात्व, एवं अधिष्ठान–परिशिष्ट अद्वय–ब्रह्मका सत्यत्व सिद्ध होता है। **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'** सिद्धान्त माने विना भागवतके इस वचनका कोई भी बुद्धिमान् विद्वानोंके समक्ष अन्य अर्थ कर ही नहीं सकता।

प्रत्यक्-द्रष्टारूप अपरिच्छिन्न उन भगवान्को नमस्कार है। अनन्त--आद्य--परिपूर्ण--परमात्माकी मैं स्तुति करता हूँ। जो अशेष विश्वरूप हैं, तथा 'नेति नेति'के द्वारा समस्त द्वैत--प्रपञ्चका निषेध करने पर जो निषेधावधि-पूर्ण-अद्वय अधिष्ठानरूपसे परिशिष्ट रहते हैं--उन परब्रह्मकी जय हो। वे महान् दयाके सागररूप प्रभु मेरा उद्धार करें।

गजेन्द्रकी--इसप्रकार आर्तभावसे आध्यात्मिक--भावमयी--मार्मिक स्तुति सुनने पर सर्वमय--श्रीहरि प्रकट हुये। वेदमय--गरुड पर आरूढ हो हाथमें सुदर्शन--चक्र धारण कर श्रीनिवास भगवान् नारायण--जहाँ गजेन्द्र था, वहाँ बहुत शीघ्र आये।

'सोऽन्तः सरस्युरुबलेन गृहीत आर्तो,
दृष्ट्वा गरुत्मति हरिं ख उपात्तचक्रम्।
उत्क्षिप्य साम्बुजकरं गिरमाह कृच्छ्रात्,
नारायणाऽखिलगुरो! भगवन्नमस्ते॥'
(श्रीमद्भा० ८।३।३२)

उस समय सरोवरके भीतर महाबली ग्राहद्वारा पकडे हुए अत्यन्त आर्त--गजराजने आकाशमें चक्रधारी श्रीहरिको गरुड पर चढ़कर आते देख भगवान्को समर्पण करनेके लिए अपनी सूंडमें एक कमल पुष्प ले, उसे ऊपरकी ओर उठा, बड़े कष्टसे इसप्रकार कहा--'हे नारायण! हे अखिल--गुरो! हे भगवन्! आपको--नमस्कार है।'

भक्त गजेन्द्रको अत्यन्त पीडित देख, भगवान् श्रीहरिने अति कृपा-पूर्वक उसे ग्राह सहित सरोवरसे बाहर निकाल लिया तथा अपने तीक्ष्ण--चक्रसे नक्रके वक्रको काटकर गजेन्द्रको छुडा दिया।

यह जो ग्राह था, वह पूर्व—जन्ममें गन्धर्वश्रेष्ठ-हू-हू था। उसको देवल-ऋषिके शापसे यह ग्राह--योनि प्राप्त हुई थी। उसने भगवच्चक्र द्वारा इस योनिसे मुक्त होकर तुरन्त ही दिव्य शरीर धारण किया। और वह उन उत्तम—श्लोक—अविनाशी जगदीश्वर--श्रीनारायणको शिर झुकाकर प्रणाम करनेके अनन्तर उनका सुयश गाने लगा, फिर भगवान्की कृपासे पापहीन हो अपने लोकको चला गया।

भगवान्का स्पर्श होनेसे गजेन्द्रभी अज्ञान--बन्धनसे मुक्त हो गया, तथा पीताम्बरसे सुशोभित चतुर्भुजरूप धारण कर भगवान्के सारूप्यको प्राप्त हुआ। इस प्रकार गजराजका उद्धारकर भगवान् पद्मनाभ--प्रभु अपने पार्षदत्वको प्राप्त हुए उस गजेन्द्रको भी साथ ले गरुडारूढ हो अपने दिव्यधामको चले गये।

इस गजेन्द्र—उपाख्यानका आध्यात्मिक रहस्य इस प्रकार है। क्योंकि—श्रीमद्भागवतका यह सिद्धान्त है कि—

'बर्हिष्मन्नेतदध्यात्मं, पारोक्ष्येण प्रदर्शितम्।
यत्परोक्षप्रियो देवो भगवान्विश्वभावनः॥'
(४।२८।३५)

हे बर्हिष्मन्! मैंने तुम्हें यह अध्यात्मज्ञानका वर्णन—उपाख्यान द्वारा परोक्षरूपसे सुनाया है, क्योंकि—जगद्रचयिता भगवान्को अप्रकट—(गुप्त) वर्णन ही प्रिय है।

यह अविद्यावशवर्ति जीव ही गज है, जो अनेक उच्चावच योनियोंमें बार बार जन्म लेता है, और क्रमशः एक एक योनिको छोड़ छोड़कर कर्माधीन हुआ अन्य अन्य—योनिको प्राप्त होता रहता है। इसलिए

गजका यौगिक अर्थ है–'**गच्छतीति गः, जायत इति जः' 'गश्चासौ जश्चेति गजः'**। अर्थात् पुनः पुनः जो अनेक-योनियोंमें उत्पन्न होता है, और एक--शरीर छोड़कर दूसरे शरीरमें जाता रहता है, वह चौरासी-लक्ष--योनियोंमें भ्रमण--करनेवाला जीवात्मा ही गज है। वह अपने स्त्री-पुत्रादि--परिवारके साथ शब्दादि--विषय--समुदायरूप सुन्दर वनमें उन्मत्त हुआ सतत भ्रमण करता रहता है। भ्रमण करता हुआ वह अत्यन्त श्रान्त हो जाता है, तो भी उसकी भोगेच्छाएँ कभी शान्त नहीं होतीं। '**भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः' 'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः'** (भर्तृहरिः)–(सम्पूर्ण-भोग, हाय! हम न भोग सके, मनकी मनमें ही रह गई, परन्तु उन भोगोंसे हम ही भोगे गये, विषयतृष्णा हमारी जीर्ण न हुई, परन्तु हमारे शरीर ही जीर्ण–शीर्ण हो गये)--वाली दशा होती है। तब वह आसक्तिरूपी सरोवरमें प्रविष्ट हो जाता है। वहाँ उसे प्रबल-मोहरूपी मगर पकड लेता है। बहुत जोर लगाने पर भी वह उस मोहके पाशसे नहीं छूट पाता और न उसको कोई बन्धुवर्ग ही छुडा सकता है। मोह--पाशमें वह अत्यन्त-कष्ट पाता हुआ जब संसारसे मुखमोड-कर विषयासक्त-मन रूपी कमलको भगवान् सर्वात्मा अच्युत नारायणको समर्पित कर देता है, तब वह भगवत्कृपासे सम्यक्-ज्ञान प्राप्त करता है। यह सम्यग्–ज्ञान ही विष्णुका सुदर्शन–चक्र है। '**सम्यक्–अपरोक्ष-तया प्रत्यगभिन्नब्रह्मदर्शनं यस्मात् तत् सुदर्शनम्।**' यही चक्रा-युधके समान मोहरूप–ग्राहका छेदन कर सकता है। अविद्यारूप मोह-की निवृत्ति होने पर वह स्वस्वरूपावस्थानरूप--कैवल्य--मोक्ष प्राप्त कर धन्य हो जाता है।

दूसरा आर्तभक्त था-द्रौपदी। कौरवोंके साथ पाण्डवोंने द्यूत खेला। द्यूतमें--युधिष्ठिर अपना समग्र ऐश्वर्य हार गये, और दुर्योधन-कपट-निपुण-मामा--शकुनिकी सहायतासे जीतता ही गया। द्यूतके पणमें और कुछ न रहने पर पाण्डवोंने अपने आपको लगाया, और वे सभी अपने आपको भी हार गये। इसलिए पाण्डवोंको कौरवोंकी दासता स्वीकार करनेका प्रसङ्ग आया। अन्तमें युधिष्ठिरने अपनी महाराणी परमसुन्दरी देवी द्रौपदीको भी पणमें लगा दिया। और वे द्रौपदीको भी हार गये। बस फिर क्या था, नीच--दुर्योधनने द्रौपदीको अपनी दासी समझकर-उसे सभामें ले आनेके लिए दुःशासनको भेजा। उस समय द्रौपदी रजस्वला एवं एक--वस्त्रा थी। द्रौपदीने अपनी अस्पृश्य दशा बतलाई, और अनुनय-विनय किया, तो भी दुष्ट--दुःशासन उसे जबरदस्तीसे केश पकड़कर घसीट कर सभामें ले आया। तथा सबके समक्ष दुर्योधनकी आज्ञासे उसका वस्त्र खींचकर उसे नङ्गी कर देना चाहा। और सभासदोंमेंसे किसीका साहस न हुआ कि--इस अमानुषी--अत्याचारको रोके। नीचों-की इस नीचता पर भीष्मादि-सज्जनोंको तरस तो अवश्य ही आया होगा, परन्तु उन्होंने भी किसी अदृष्ट-कारण-वशात् कुछ भी सहायता न की। युधिष्ठिरादि-पाण्डव सत्यप्रतिज्ञाकी जंजीरसे बंधे हुए होनेके कारण शिर नीचा करके गुम-सुम बैठे हुये थे। द्रौपदीने आर्त हो प्रथम भीष्मादि-को पुकारा, फिर अपने पतियोंको पुकारा, किन्तु जब कोई कुछ भी न कर सके, तब अपनी लाज बचानेका कोई दूसरा उपाय न देख अत्यन्त आतुर होकर भगवान् श्रीकृष्णको इस प्रकार पुकारा—

'गोविन्द ! द्वारकावासिन् ! कृष्ण ! गोपीजनप्रिय ! ।
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि ? केशव ! ॥

हे नाथ! हे रमानाथ! व्रजनाथार्तिनाशन! ।
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन! ॥
कृष्ण! कृष्ण! महायोगिन्! विश्वात्मन्! विश्वभावन! ।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द! कुरुमध्येऽवसीदतीम्॥'
(महा० भा० सभापर्व ६८। ४१-४४)

हे गोविन्द! हे द्वारकावासी! हे सच्चिदानन्द स्वरूप—प्रेमघन श्रीकृष्ण! हे गोपीजनवल्लभ! हे केशव! मैं कौरवोंके द्वारा अपमानित हो रही हूँ। इस बातको क्या आप अन्तर्यामी भगवान् नहीं जानते?। हे नाथ! हे रमानाथ! हे व्रजनाथ! हे आर्तिनाश—जनार्दन! मैं कौरव-रूपी समुद्रमें डूब रही हूँ, आप मुझे इससे निकालिए। हे कृष्ण! कृष्ण! महायोगी विश्वात्मन्! विश्वके जीवनदाता गोविन्द! मैं इन दुष्ट—कौरवोंसे घिरकर कसाइयोंके हाथमें पडी हुई गौके समान बडे संकटमें पडी हुई हूँ, आपकी शरण हूँ, मेरी रक्षा कीजिये।

सच्चे हृदयकी करुण--पुकार भगवान् तुरन्त सुनते हैं। भक्त-वत्सल--भगवान्ने उस समय स्वयं प्रकट होना अनुचित समझकर द्रौपदीकी लज्जा रखनेके लिए तथा दुष्टोंके अखर्व--गर्वका दलन करनेके लिए दशावतारसे अतिरिक्त—ग्यारवां जडरूपसे प्रतीयमान वस्त्रावतार लिया। द्रौपदीकी साडी अनन्त गुना बढ गई। दुःशासन उसे जितना खींचता था, उतनी ही वह बढती जाती थी। देखते देखते वहाँ वस्त्रका ढेर लग गया। वस्त्र-मारकीटके समान, सभाका दृश्य हो गया। महा-बली दुःशासनकी दसहजार हाथियोंके बलवाली-प्रचण्ड भुजाएँ थक गयीं। परन्तु साडीका छोर हाथ नहीं आया।

'दश हजार गजबल थक्यौ, घटचौ न दस गज चीर।
बाल न बांका कर सके, जो सहाय यदुवीर॥'

द्रौपदी साडीके बीच छुप गई। **'साडी बिच नारी है कि–नारी बीच साडी है'** किसीको कुछ भी पता न चला। अन्तमें थककर दुःशासन शिर नीचा कर बैठ गया। कुछ निर्लज्ज--लोग वस्त्रों-की ढेर देखकर कुछ वस्त्र उठाकर ले जाने लगे, किन्तु ज्योंही दोनों--हाथोंसे वस्त्र उठाये, त्यों ही वे गायब हो गये। उपस्थित समग्र-समाजने भक्ति एवं प्रार्थनाका अद्भुत चमत्कार देखा। प्रभुने अपनी भक्त द्रौपदी की लाज रख ली। सभ्य--लोगोंने दुर्योधन दुःशासनादि दुष्टोंको धिक्कारा। और द्रौपदीकी प्रशंसा की। अन्धा–धृतराष्ट्र भी इस घटनासे विस्मित होकर रुष्ट--द्रौपदीको प्रसन्न करनेके लिए वर देने लगे। द्रौपदीने वर नहीं, प्रार्थना की कि--वे उसके पाँचों पतियोंको कौरव--लोग दासतासे मुक्त कर दें, और उनका राज्य-ऐश्वर्य उन्हें लौटा दें। विदुरके कहने पर धृतराष्ट्रने इस प्रार्थनाको स्वीकार किया।

द्रौपदीके इस चरित्रका आध्यात्मिक--रहस्य इस प्रकार है। द्रु वृक्षका नाम है, उपलक्षण--विधया उसके काष्ठसे निर्मित पादुकाएँ भी 'द्रु' नामसे कह सकते हैं, वे हैं पद (पैर)में जिसके, उसका नाम द्रुपद है। इसप्रकार 'द्रुपद' पदका त्यागी-विरागी-साधक-यति अर्थ सिद्ध होता है। जो पादत्राणके लिए काष्ठ-निर्मित पादुकाएं ही पहिनता है, चर्मनिर्मित उपानह (जूता) नहीं पहिनता। उस द्रुपदकी दैवभावोंसे भरी हुई निर्मल--बुद्धिका नाम द्रौपदी है। उसके ब्रह्मचर्य-संयम-अभय-भक्ति-विराग आदि दैवभाव--रूप वस्त्रोंको काम-क्रोधादि--रूप कौरव

खींचकर उसे दैवभाव–शून्य नग्ना बनाना चाहते हैं। परन्तु वह संन्यासी-भक्त-साधक अपनी दैवी पवित्र–बुद्धिकी रक्षाके लिए आनन्द-निधि भगवान्की पुनः पुनः श्रद्धा–भक्तिपूर्वक स्तुति-प्रार्थना करता रहता है। भगवान्की अनुपम कृपासे उसकी बुद्धि-रूपी द्रौपदीका परित्राण हो जाता है। क्षीणता कभी नहीं होती, किन्तु उसके दैवभावोंकी अनन्त–गुणा अभिवृद्धि ही होती रहती है। भगवदीय-विमल–अनुग्रहके प्रतापसे इन प्रतिरोधक–आसुरभावोंको कुचल कर वह कल्याणमार्गमें निर्भय होकर आगे ही आगे बढता रहता है–श्रेयोमार्गसे भ्रष्ट कभी नहीं होता। इसलिए–श्रीमद्भागवतमें कहा है कि—

'तथा न ते माधव! तावकाः क्वचित्,
भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः।
त्वयाऽभिगुप्ता विचरन्ति निर्भयाः,
विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो!॥'

(१०।२।३३)

हे माधव! जो आप ही में सुदृढ़–प्रेम रखनेवाले आपके श्रद्धालु भक्तजन हैं, वे उन केवल निर्गुणोपासक–ज्ञानाभिमानियोंकी तरह दैव–भाव–विभूषित–पवित्र–कल्याण-पथसे कदापि भ्रष्ट नहीं होते। क्योंकि–आप स्वयं, अपने भक्तोंकी रक्षा करते रहते हैं। अतएव हे प्रभो! वे ज्ञानीभक्त–आपसे सुरक्षित हुए–निर्भय होकर विघ्नोंकी सेनाके सरदारके शिरपर पैर रखते हुए, अमन्दानन्दमग्न बनकर विचरते हैं।

भक्त–चरित्रोंके आध्यात्मिक–रहस्योंका यह तात्पर्य कभी नहीं समझना चाहिए कि–पूर्वोक्त–भक्त ऐतिहासिक–दृष्टिसे कभी हुए ही

नहीं थे, उनका चरित्र केवल कवियोंकी कल्पनामात्र है। इस पावन धराधाममें वे सभी भक्त अवश्य ही हुये हैं, और उनका श्रद्धेय-चरित्र भी वैसा ही हुआ है। इसमें किसी भी प्रकारसे श्रद्धालुओंको सन्देह ही नहीं करना चाहिए। उनका आध्यात्मिक-रहस्य प्रदर्शित करनेका यह अभिप्राय है कि-हम भी वैसा चरित्र अपनेमें लागू कर सकते हैं। और प्रत्यक्षरूपसे आध्यात्मिक-श्रेयः प्राप्तकर अपने जीवनको प्रशस्त एवं धन्य बना सकते हैं।

संसारमें सभीके ऊपर थोड़ा बहुत संकट-दुःख आते ही रहते हैं, ऐसा कोई न होगा कि-जिसके ऊपर किसी भी प्रकारका संकट ही न आया हो। परन्तु सुकृतिजन संकटके समय भगवान्‌को पुकारते हैं, भगवान्‌का पावन-नाम जपते हैं, श्रद्धा एवं विश्वासके साथ भगवच्चिन्तन करते हुए भगवान्‌में एकतान हो जाते हैं, जिससे उन्हें दुःखका, दुःख-देनेवालेका एवं शरीरका भान ही नहीं रहता। परन्तु भगवद्विमुख दुष्कृतिजन, हाय रे! मरा रे! बप्पा रे! ऐसा निरर्थक चिल्लाते रहतेहैं, भगवान्‌का भजन कीर्तन नहीं करते। इसलिए उनका दुःख डबल बढ़ जाता है, शारीरिक-दुःखके साथ मानसिक-दुःख और भी आ मिलता है। इसलिए सज्जनो! संकटके समय गभराओ मत, धैर्य धारण कर एकतानतापूर्वक भगवान्‌का भजन करो। सर्वसमर्थ--कृपालु श्रीभगवान् हमें अवश्य ही संकटोंसे पार कर देंगे, ऐसा दृढ विश्वास रक्खो।

व्रजवासियों पर मखभङ्गसे इन्द्र बहुत ही कुपित हुआ। बिजलीकी चमक, बादलोंकी कडक एवं प्रचण्ड--शीतल-पवन वेगके साथ वह मूसलाधार--जल बरसाकर तथा मोटे मोटे-ओलें गिराकर व्रजवासियोंको

अत्यन्त पीडित करने लगा। उस समय सभी व्रजवासी श्रीहरिके शरणापन्न होकर इसप्रकार प्रार्थना करने लगे कि—

'कृष्ण! कृष्ण! महाभाग! त्वन्नाथं गोकुलं प्रभो!।
त्रातुमर्हसि देवान्नः कुपिताद्भक्तवत्सल!॥'

(भा० १०।२५।१३)

हे कृष्ण! हे कृष्ण! महाभाग! इस गोकुलके एकमात्र स्वामी आप ही हैं। हे प्रभो! हे भक्तवत्सल! इस क्रुद्ध-हुए इन्द्र--देवतासे हमारी रक्षा कीजिए।

अपने आर्तभक्त--व्रजवासियोंकी रक्षा करनेके लिए श्रीकृष्णने जैसे कोई बालक छत्राक--पुष्पको अनायासतः उठाले। वैसे अपने एक हाथसे गोवर्धन—पर्वतको उखाड़कर उठा लिया। और कहा कि--हे व्रजवासियो! मेरे हाथसे पर्वत गिरनेकी शंका न करके वर्षा, वायु आदिके भयसे बचनेके लिए इस पर्वतके गड्ढेमें आकर सुखपूर्वक बैठ जाओ। इस प्रकार भगवान्‌ने सात दिवस तक गोवर्धनको उठाकर व्रजवासियोंकी रक्षा की,--और इन्द्रके अखर्व--गर्वका दलन किया।

जरासंधके कारागारमें पड़े हुए राजा लोग भी भगवान्‌के आर्तभक्त थे। संकटके समय वे--भी संसारसे उपराम बनकर श्रद्धापूर्वक भगवान्‌की ऐसी स्तुति करने लगे थे—

'नमस्ते देवदेवेश! प्रपन्नार्तिहराव्यय!।
प्रपन्नान्पाहि नः कृष्ण! निर्विण्णान्घोरसंसृतेः॥
नैनं नाथान्वसूयामो मागधं मधुसूदन!।
अनुग्रहो यद्भवतो राज्ञां राज्यच्युतिर्विभो!॥

राज्यैश्वर्यमदोन्नद्धो न श्रेयो विन्दते नृपः ।
त्वन्मायामोहितोऽनित्यान्मन्यते सम्पदोऽचलाः ॥
मृगतृष्णां यथा बाला मन्यन्ते उदकाशयं ।
एवं वैकारिकीं मायां, अयुक्ता वस्तु चक्षते ॥'

(भा० १०।७३।८-९-१०-११)

हे शरणागत-भयभञ्जन! अविनाशी देवदेवेश्वर ! आपको प्रणाम है। हे कृष्ण ! हम घोर-दुःखमय संसारसे उपरत होकर आपकी शरणमें आये हैं; आप हमारी रक्षा कीजिए। हे नाथ ! हे मधुसूदन ! हे विभो ! इस जरासन्ध पर हम किसी प्रकारका दोष नहीं लगाते। क्योंकि—इसके द्वारा जो हम राजाओंका राज्य छिना गया, वह आपका अनुग्रह ही था। राज्य और ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त रहनेके कारण राजाको श्रेयः (कल्याण)की प्राप्ति नहीं होती। वह तो आपकी मायासे मोहित रहनेके कारण अनित्य और चञ्चल सम्पत्तिको नित्य और निश्चल ही मानता रहता है। जिस प्रकार भ्रान्त—लोग मृगतृष्णाके मिथ्या—उदकको वास्तविक-जलाशय मान बैठते हैं, उसी प्रकार वे अज्ञानी मूढ-द्वैत प्रपञ्चरूप विकारवाली-मायाको परमार्थ सत्यवस्तु मानते हैं।

'तं नः समादिशोपायं येन ते चरणाब्जयोः ।
स्मृतिर्यथा न विरमेदपि संसरतामिह ॥
कृष्णाय वासुदेवाय, हरये परमात्मने ।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः ॥'

(भा० १०।७३।१५-१६)

अतः हे प्रभो ! अब हमें वही उपाय कृपया बतलाइये, जिससे इस

संसारके विविध–द्वन्द्वोंका अनुभव करते हुए भी हमें आपके चरण–कमलोंकी स्मृति नष्ट न हो। वासुदेव, हरि, परमात्मा और शरणागतोंके क्लेश नष्ट करनेवाले गोविन्द–श्रीकृष्णको पुनः पुनः प्रणाम है।

इस प्रकार आर्तभक्त–राजाओंकी स्तुति–प्रार्थना सुनकर श्रीभगवान्‌ने भीमसेन द्वारा जरासंधको मारकर राजाओंको बन्दीगृहसे छुडा दिया। और कहा कि—

'अद्य प्रभृति वो भूपाः ! मय्यात्मन्यखिलेश्वरे।
सुदृढा जायते भक्तिर्बाढमाशंसितं तथा॥'
(भा० १०।७३।१८)

हे नृपतिगण ! तुमने जो कुछ प्रार्थना की है, वह ठीक ही है, तुमने जो मेरा भजन करनेका निश्चय किया है, यह बड़े सौभाग्यकी बात है। आजसे सबके आत्मारूप–मुझ सर्वेश्वरमें तुम्हारी सुदृढ़-भक्ति होगी।

'उदासीनाश्च देहादौ, आत्मारामा धृतव्रताः।
मय्यावेश्य मनः सम्यङ् मामन्ते ब्रह्म यास्यथ॥'
(भा० १०।७३।२३)

देहादिमें उदासीन, आत्माराम एवं ब्रह्मचर्यादि–व्रतोंके पालन करने वाले होकर मनको अच्छी प्रकार मुझ परमात्मामें लगाकर अन्तमें तुम मुझ ब्रह्मको ही प्राप्त हो जाओगे।

इस प्रकार भक्तवत्सल–भगवान्‌ने राजाओंको उपदेश देकर सभी प्रकारसे प्रसन्न बनाकर अपने अपने देशोंको भेज दिया।

अतः अद्वैत–सिद्धान्त–महारथी मधुसूदन स्वामीने–अपनी गीताकी

संस्कृत-व्याख्यामें आर्तभक्तोंकी गणनामें प्रधानरूपसे इन चारोंका ही उल्लेख किया है-'**आर्तः-आर्त्या शत्रुव्याध्याद्यापदा ग्रस्तः, तन्निवृत्तिमिच्छन्, यथा मखभङ्गेन कुपित इन्द्रे वर्षति व्रजवासी जनः, यथा वा जरासन्धकारागारवर्तिराजनिचयः, द्यूतसभायां वस्त्रावकर्षणे द्रौपदी च, ग्राहग्रस्तो गजेन्द्रश्च।**' अर्थात् शत्रु, व्याधि-आदिसे जन्य-विपत्तिरूप आर्तिसे ग्रस्त है, एवं उसकी निवृत्तिकी अभिलाषा रखता है; वह आर्तभक्त है। जैसे मखभङ्गसे इन्द्रको कुपित होने पर प्रचण्ड-वर्षाके समय व्रजवासी जन, या जैसे जरासन्धके कारागारमें वर्तमान राजाओंका समुदाय, तथा धूतसभामें वस्त्रके खींचने पर द्रौपदी एवं ग्राहसे ग्रस्त गजराज।

ऐसे और भी बहुत उदाहरण आर्तभक्तोंके दे सकते हैं। वर्तमान समयमें भी आर्तभक्तोंके अनेक वृत्तान्त सुननेमें आते हैं। अमुक-स्थल पर अमुक दुर्घटना हो गई। सच्चे हृदयसे उसने भगवान्को पुकारा, भगवान्ने रक्षा की। उसका संकट दूर हो गया, इत्यादि।

आर्तभक्तके बाद जिज्ञासु-भक्तका नम्बर आता है। जिज्ञासु-भक्त वह कहा जाता है-जो संसारके सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंकी परवाह न कर उनसे नितान्त उपरत होकर एकमात्र उस पूर्ण-परमात्माको अच्छी प्रकारसे जाननेकी इच्छा रखता है, इसलिए जो भगवान्के शरणापन्न होकर भगवान्का ही एकाग्रचित्तसे भजन करता रहता है, ऐसा जिज्ञासु भक्त था-उद्धव।

जब उद्धवने द्वारकापुरीमें अनेक-प्रकारके अनिष्टसूचक-उत्पात देखें। भगवान्के द्वारा उसे माल्म हुआ कि-यह द्वारकापुरी कुछ

समयके बाद समुद्रमें डूब जायगी। समस्त यादवोंका विनाश हो जायगा। मैं (भगवान्) भी इस धराधामको छोड़कर स्वधामको चला जाऊँगा। तब उद्धवके हृदयमें इस अनित्य एवं असार--दुःखमय--संसारसे वैराग्य हुआ और परमार्थ--सत्य--तत्त्व--परब्रह्मको जाननेकी प्रबल--इच्छा हुई। तब उसने जिज्ञासा--शमनार्थ एकान्तमें--अवस्थित जगद्गुरु--भगवान् श्रीकृष्णके समीप जाकर उपदेशके लिए प्रार्थना की। श्रीभगवान्‌ने उसको जिज्ञासुभक्त समझकर अनेक प्रकारका उपदेश दिया। श्रीमद्भागवतके एकादश—स्कन्धमें उद्धवके प्रति भगवान्‌का दिया हुआ उपदेश संक्षेपसे—साररूपसे इस प्रकार था—

'यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः ।
नश्वरं ग्रह्यमाणं च विद्धि माया-मनोमयम् ॥'

(भा० ११।७।७)

हे उद्धव ! मन, वाणी, नेत्र और कर्ण आदिसे यह जो कुछ नाम-रूपात्मक- द्वैत--जगत् प्रतीत होता है, वह सब नाशवान् है, और मनः—कल्पित--मिथ्या- मायामय है, ऐसा जानो।

मिथ्यात्व-भावनाके विना वैराग्य दृढ नहीं होता, इसलिए भगवान्‌का यह उपदेश वैराग्यकी दृढताके लिए था। अत एव दृढ—वैराग्यवान् भद्र—मानव ही सर्वात्मा--अद्वय--परब्रह्ममें अपने मनको अनन्य--भावसे स्थापित कर सदा मस्त एवं आनन्दमग्न बना रहता है। इसलिए भगवान् कहते हैं कि—

'त्वं तु सर्वं परित्यज्य स्नेहं स्वजनबन्धुषु ।
मय्यावेश्य मनः सम्यक् समदृग्विचरस्व गाम् ॥'

(भा० ११।७।६)

हे उद्धव ! तुम अपने कुटुम्बी-बन्धुजनोंका सम्पूर्ण मोह छोड़कर मुझ-अद्वय-सच्चित्-सुख-परमात्मामें अनन्यभावसे मनको लगाकर सर्वत्र समदृष्टि रखते हुए निर्भयतापूर्वक मस्तीके साथ पृथ्वी पर विचरण करो।

'आत्मानुभवतुष्टात्मा नान्तरायैर्विहन्यसे।'

(भा० ११।७।१०)

आत्मा देहादिसे विलक्षण एवं भगवत्स्वरूप है, इस प्रकारके अनुभवसे ही तू संतुष्ट हो जायगा, फिर तू शीतोष्णादि-द्वन्द्वरूप--विघ्नोंसे कदापि व्यथित न होगा।

'पश्यन्मदात्मकं विश्वं न विपद्येत वै पुनः।'

(भा० ११।७।१२)

सम्पूर्ण विश्व मुझ परमात्माका ही स्वरूप है, ऐसा जो देखता है, वह फिर रागद्वेषरूपी--विपत्तिमें नहीं फँसता।

'प्रायेण मनुजा लोके लोकतत्त्व-विचक्षणाः।
समुद्धरन्ति ह्यात्मानमात्मनैवाशुभाशयात्॥
आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषतः।
यत्प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रेयोऽसावनुविन्दते॥'

(भा० ११।७।१९-२०)

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! संसारके स्वरूपका आलोचन करने-वाले विवेक--विचारशील मनुष्य प्रायः स्वयं ही अपने चित्तकी अविद्या-मयी--अशुभ--वासनाओंसे अपना उद्धार कर लेते हैं। अपने हित या अहितके जाननेमें विशेषरूपसे मनुष्यका आत्मा ही अर्थात् आप ही अपना गुरु है। क्योंकि—वह प्रत्यक्ष एवं अनुमान द्वारा या श्रुति—

स्मृति द्वारा अपने श्रेयका निर्णय कर सकता है।

'क्षेत्रज्ञं सर्वभूतेषु समत्वेन यजेत माम्।'

(भा० ११।११।४५)

सम्पूर्ण–भूतोंमें क्षेत्रज्ञ–मैं परमात्मा ही हूँ, ऐसा निश्चय कर सर्वत्र *समभाव (एकभाव-अभेदभाव) रखना ही मेरी वास्तविक पूजा है।

सर्वत्र मैं सम हूँ, एक हूँ, अद्वय हूँ, मुझ परमात्मासे भिन्न कुछ नहीं, सर्वत्र मैं ही मैं हूँ, इस सिद्धान्तका मैंने प्रथम ब्रह्माजी एवं उनके मानस--पुत्र--सनकादियोंके प्रति उपदेश दिया था। किसी समय मैं उनकी प्रार्थनासे उनकी जिज्ञासाशमनार्थ उनके समक्ष हंसरूपसे प्रकट हो गया था। तब उन्होंने मेरेसे इस प्रकार प्रश्न किया था—

'दृष्ट्वा मां त उपव्रज्य, कृत्वा पादाभिवन्दनं।
ब्रह्माणमग्रतः कृत्वा, पप्रच्छुः को भवानिति॥
इत्यहं मुनिभिः पृष्टस्तत्त्वजिज्ञासुभिस्तदा।
यदवोचमहं तेभ्यस्तदुद्धव! निबोध मे॥
वस्तुनो यद्यनानात्वमात्मनः प्रश्न ईदृशः।
कथं घटेत वो विप्राः! वक्तुर्वा मे क आश्रयः॥
पञ्चात्मकेषु भूतेषु समानेषु च वस्तुतः।
को भवानिति वः प्रश्नो वाचारम्भो ह्यनर्थकः॥
मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥'

(भा० ११।१३।२०-२१-२२-२३-२४)

---

* समत्वका यहाँ एकत्व अर्थ है। 'समाने वृक्षे, समकालः' इत्यादि-स्थलोंमें समशब्दका एक-अभेद अर्थ प्रसिद्ध है। इसलिए समका सदृश-अर्थ नहीं समझना चाहिए।

मुझे हंसरूपमें देखकर सनकादियोंने अपने पिता ब्रह्माजीको आगे कर मेरे समीप आ, मेरा चरण--वन्दन करनेके अनन्तर पूछा कि—आप कौन हैं?। हे उद्धव! उस समय उन तत्त्वजिज्ञासु—मुनियोंके इस प्रकार पूछने पर मैंने उनसे जो कुछ कहा—सो सुनो। मैंने कहा—हे विप्रगण! यदि तुम्हारा यह प्रश्न आत्माके विषयमें है, तो आत्मवस्तु तो एक—अद्वय ही है, अर्थात् उसमें किसी प्रकारका भी सजातीय—विजातीय एवं स्वगत--भेदरूप नानात्व नहीं है। अतः तुम लोगोंका यह प्रश्न हो ही कैसे सकता है? और इसका उत्तर देनेवाले मेरा भी क्या आश्रय हो सकता है, अर्थात् मैं निर्विशेष--चिन्मात्र--पूर्णानन्दघनरूप होनेके कारण किस जाति, गुण या व्यक्ति-रूप विशेष का आश्रय लेकर इसका उत्तर दूं?। और यदि तुम पञ्चभूतात्मक-शरीरको लेकर ऐसा पूछते हो तो समस्त--शरीर भी पञ्चभूतरूप होनेसे वास्तवमें अभिन्न ही हैं, अतः तुम्हारा यह प्रश्न कि—आप कौन हैं?। वाणीका आरम्भ मात्र (व्यर्थ—आडम्बर) ही है। मनसे—वाणीसे दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे भी जो कुछ प्रतीत होता है, निश्चय जानो—वह सब मैं परमात्मा ही हूँ, मुझसे पृथक् कुछ भी नहीं है।

'आत्मानं चिन्तयेदेकमभेदेन मया मुनिः।
आत्मक्रीड आत्मरत आत्मवान् समदर्शनः॥'

(भा० ११। १८। २१-२०)

मनन—शील मुनि एक आत्माका ही—मुझ भगवान्के साथ अभेद भावसे ही चिन्तन करे। आत्मामें ही क्रीडा (रमण) करे, आत्मामें ही रति (प्रीति) रक्खे, आत्माका ही भाववाला बने, एवं सर्वत्र समरूपसे

अभेदभावसे आत्माका ही दर्शन करे।

'विरक्तः क्षुल्लकामेभ्यो लब्ध्वाऽऽत्मनि सुखं महत्।
नैतद्वस्तुतया पश्येद् दृश्यमानं विनश्यति॥'
(भा० ११। १८। २३-२६)

आत्मामें ही महान् निरतिशय आनन्दका अनुभव कर, तुच्छ-सांसारिक-कामनाओंसे विरक्त हो जाय, इस दृश्यमान-द्वैत-प्रपञ्चको कभी वास्तविक न देखे, किन्तु, मिथ्या ही समझे, क्योंकि--यह नष्ट हो जाता है। इसलिए यह वास्तविक कैसे हो सकता है?।

तथा भगवान्ने जिज्ञासु-भक्त-उद्धवके अनेक प्रश्नोंका उत्तर संक्षेपसे इस प्रकार दिये हैं—

'शमो मन्निष्ठता बुद्धेः' मुझ परमात्मामें बुद्धिका लग जाना, अर्थात् शास्त्र--गुरुद्वारा परमात्म--तत्त्वका दृढ निश्चय कर उसमें तन्मय हो जाना, शम है। **'जिह्वोपस्थजयो धृतिः'** जिह्वा एवं गुह्येन्द्रियका निग्रह करना, अर्थात् उनके विषयोंकी आसक्ति छोडना धैर्य है। **'कामत्यागस्तपः स्मृतम्।'** भोगवासनाओंका त्याग परम-तप है। **'स्वभावविजयः शौर्यं।'** राग-द्वेष--प्रचुर स्वभावका विजय करना ही शौर्य है। **'सत्यं च समदर्शनं।'** समदर्शनका नाम सत्य है। **'धर्म इष्टं धनं नृणाम्।'** मनुष्योंका इष्ट धन अर्थात् सुख ही देने वाला धन धर्म है। **'दक्षिणा ज्ञानसंदेशः।'** ज्ञानका उपदेश (देना या लेना) ही वास्तविक दक्षिणा है। **'लाभो मद्भक्तिरुत्तमः।'** मेरी उत्तम भक्तिकी प्राप्ति होना ही बडा लाभ है। **'विद्याऽऽत्मनि भिदाबाधः।'** आत्मामें भेद-बुद्धि न रहना ही विद्या है, अर्थात् समस्त-शरीरोंमें एक

ही अजर—अमर आत्मा है, और वह परमात्मासे भिन्न नहीं है, ऐसा यथार्थ अभेद-ज्ञानका नाम ही विद्या है, भेद-ज्ञानका नाम विद्या नहीं, किन्तु अविद्या है, ऐसा भी अर्थात् सूचित होता है। इस लिए भेददर्शी अज्ञानी है, और उसे मृत्यु उत्कट-भय सदा देता रहता है, ऐसा अन्यत्र भी स्पष्ट कहा है। **'तस्य भिन्नदृशो मृत्युर्विदधे भयमुल्बणम्।'** (भा० ३। २९। २६) **'सुखं दुःखसुखात्ययः।'** सांसारिक-सुख-दुःखसे परे होजाना, अर्थात् उनकी अपेक्षा न रखना, निर्द्वन्द्व हो जाना ही परम सुख है। **'दुःखं कामसुखापेक्षा'** विषयोंके सुखोंकी अपेक्षा करना ही दुःख है, क्योंकि—विषय एवं तज्जन्य-सुख क्षणभंगुर हैं, न मिलने पर, मिलकर नष्ट हो जाने पर—तथा अनेक-कष्टमय-उपायोंसे सम्पादन करने पर वे दुःख ही दुःख देते रहते हैं। **'मूर्खो देहाद्यहंबुद्धिः।'** देहादि—अनात्मवर्गमें अहं-बुद्धि रखने वाला ही मूर्ख है। **'स्वर्गः सत्त्वगुणोदयः।'** हृदयमें सत्त्वगुणका उदय होना, अर्थात् चित्तको सभी अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियोंमें आनन्दमय, प्रसन्न एवं शान्त रखना ही स्वर्ग है। **'नरकस्तम—उन्नाहः।'** तमोगुणका बढना अर्थात् चित्तमें उद्वेग—मूढता—चिन्ता—आदि तामसिक-भाव भर जाना ही नरक है। **'गुणाढ्यो ह्याढ्य उच्यते।'** विद्या, विवेक, विनय आदि गुणवान् मानव ही सच्चा धनाढ्य है। **'दरिद्रो यस्त्वसन्तुष्टः।'** जो असन्तुष्ट है, अर्थात भगवान्के सभी इष्टानिष्ट-विधानोंमें सन्तुष्ट नहीं रहता, वह दरिद्र है। **'कृपणो योऽजितेन्द्रियः।'** जो अजितेन्द्रिय है, अर्थात् जो सदा विषयलोलुप बना रहता है, वह कृपण (दीन-हीन-कंगाल) है। **'गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः।'**

गुण एवं दोषोंका देखना ही दोष है, और गुण-दोष--दृष्टि छोड देना ही अर्थात् सर्वत्र अच्छे--बुरेमें ब्रह्मदृष्टि रखना ही गुण है। इत्यादि प्रश्नोत्तर-श्रीमद्भागवतके एकादश--स्कन्धके उन्नीसवें अध्यायमें हैं।

इसप्रकार अर्जुनके समान श्रीभगवान्से अनेकविध प्रश्न करनेसे एवं कल्याणकारी--उपदेश ग्रहण करनेसे उद्धव भी जिज्ञासुभक्त सिद्ध होता है। उसने अन्तमें भगवान्की ही आज्ञासे हिमालयके बद्री-नारायण-धाममें जाकर ज्ञान-विज्ञान संपन्न होकर ब्रह्मनिर्वाण-पद प्राप्त किया।

राजा--जनक भी जिज्ञासु--भक्त था। ब्रह्मवेत्ताओंके द्वारा ब्रह्मतत्त्व सम्बन्धी अनेकविध प्रश्न कर समाधान प्राप्त करना जिज्ञासुकी प्रकृष्ट--अभिरुचि होती है। इसलिए राजा जनकने महर्षि याज्ञवल्क्यसे यही वर प्राप्त किया था-'**तस्मै ह याज्ञवल्क्यो वरं ददौ, स ह कामप्रश्नमेव वव्रे, तं हास्मै ददौ।**' (बृ० उ० ४।१।२) याज्ञवल्क्य-महर्षि, राजा जनककी श्रद्धा-भक्ति देखकर बहुत सन्तुष्ट हुये। और जनकको उन्होंने वरदान दिया। जनकने कहा-मैं आपसे यही वरदान चाहता हूँ, कि-जो मैं ब्रह्मात्म-सम्बन्धी प्रश्न करूं, उसका कृपया आप यथार्थ उत्तर देकर समाधान करें, याज्ञवल्क्यने उसको वही वरदान दिया।

बृहदारण्यकोपनिषद्में राजा जनकके कुछ प्रश्न एवं याज्ञवल्क्य-महर्षिके उत्तर इसप्रकार वर्णित हैं—

राजा जनकने पूछा-'**भगवन्! 'किं ज्योतिरेवायं पुरुषः'** अर्थात् किस ज्योतिसे पुरुषका अर्थ प्रकाश होता है। यहाँ पुरुषका अर्थ, कार्यकरणसङ्घातस्वरूप--हस्तपादादिविशिष्ट स्थूलादि--शरीर है।

प्रत्यगात्मारूप मुख्य पुरुष नहीं। प्रश्नका यह अभिप्राय है कि—कार्य-कारण--संघातसे बाह्य किसी अन्य ज्योतिसे पुरुष अपना व्यवहार करता है, या शरीरान्तर्वर्ती—ज्योतिसे अपना व्यवहार करता है ?।

महर्षि याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया- हे सम्राट् ! प्रसिद्ध--आदित्यज्योति पुरुष है, अर्थात्-संघात-व्यतिरिक्त-चक्षुकी अनुग्राहक-आदित्यज्योतिसे पुरुष स्वकार्य करता है।

राजा जनक फिर पूछते हैं कि—जब आदित्य अस्त हो जाता है, तब पुरुष कि-ज्योति होता है ?। अर्थात् रात्रिमें भी पुरुष अपना व्यवहार करता ही है; परन्तु उस समय आदित्य है नहीं, ज्योतिके विना व्यवहार नहीं हो सकता, अतः उस समय कौन ज्योति है ?।

याज्ञवल्क्य—चन्द्रमा ज्योति है।

जनक—सूर्य तथा चन्द्रमाके अस्त होने पर भी पुरुष अपना कार्य करता है। उस समय पुरुष की कौन ज्योति है ?।

याज्ञवल्क्य—उस समय अग्निज्योति है, प्रदीपके प्रकाशसे लोक–व्यवहार होता है।

जनक—अग्निके भी शान्त हो जाने पर पुरुष किंज्योति है ?

याज्ञवल्क्य—वाक् ज्योति है। वर्षा ऋतुमें मेघमण्डल युक्त—रात्रिके निबिडान्धकारमें कोई पथभ्रष्ट मानव चिल्लाकर मार्ग पूछता है—कि—मैं अमुक ग्राम पहुँचना चाहता हूँ, उसका कौन मार्ग है ?। किसीका उस समय उत्तर मिलता है--इधर आओ। वाणी सुनकर वह अनुमान करता है कि—अमुक दिशासे, इतनी दूरीसे यह शब्द आया है। अतः उधर ही चलना चाहिये। तदभिमुखगतिसे वह उस मार्ग पर पहुँच जाता

है। अतीत, अनागत एवं सूक्ष्मादि—अर्थकी प्रकाशक वाग्ज्योति तो प्रसिद्ध ही है। यहाँ वाग्से शब्दज्योति—विवक्षित है। वागेन्द्रिय नहीं।

जनक—वाणीको भी शान्त होजाने पर पुरुष किंज्योति होता है?।

याज्ञवल्क्य— 'आत्मैवास्य ज्योतिर्भवति' कार्यकरण-सङ्घात से व्यतिरिक्त-आत्मा ही ज्योति है, यह ज्योति, अभौतिक—चिद्रूप—अन्तःस्थ—स्वतःप्रकाश एवं चक्षुरादि—प्रमाणोंसे ग्राह्य नहीं है।

श्रीविद्यारण्यस्वामीने आत्मज्योतिके विषयमें वार्तिकसारमें इसप्रकार कहा है कि—

'देहेन्द्रियमनोबुद्धि-सुखादीन् यो घटादिवत्।
वेत्त्येनमन्तरात्मानं स्वप्रकाशं विनिश्चिनु॥
द्रष्टृदर्शनदृश्यानि यः स्वप्ने प्रसमीक्षते।
तदभावं सुषुप्ते च स आत्मेत्यभ्युपेयताम्॥
सर्वेषां वादिनां स्वस्व-मतमेतत्प्रसादतः।
सिद्ध्यतीति विवादोऽस्मिन् कर्तुं शक्यो न केनचित्॥'

देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, सुख आदि ये सब घटादिके समान जड हैं। अतः ये आत्मज्योतिके विना अप्रत्यक्ष हैं। इनका प्रत्यक्ष आत्मासे ही है, अतः देहादिको जो जानता है, उसको स्वप्रकाश—अन्तरात्मा जानो। दृष्टा यानी प्रमाता (चिदचिद्—ग्रन्थि) दृश्य यानी घटादि, दर्शन यानी वृत्तिरूप—ज्ञान, इन सबको जो स्वप्नमें देखता है, और इन सबका अभाव जो सुषुप्तिमें देखता है, वही देहादिसे भिन्न आत्मा है, ऐसा समझो। स्वयंप्रकाश—आत्मज्योतिकी कृपासे सभी वादियोंका स्व-स्वमत सिद्ध होता है। उस आत्मामें अर्थात् अपने स्वस्वरूपमें अस्तित्व-

नास्तित्वका विवाद कोई नहीं कर सकता। विवाद अनिश्चित—पदार्थमें होता है। सबको अपने आत्माके विषयमें संशय—विपर्यास आदि नहीं हैं, अतः स्वस्वानुभवसिद्ध—अर्थमें विवादकी संभावना नहीं है।

जो अवाङ्मनसगोचर—निर्गुण—पूर्णाद्वय—ब्रह्म है, वही जीवात्माका वास्तविक स्वरूप है। हे जनक! वही पूर्णज्योति अद्वय ब्रह्म आत्मा तू है, यह शरीरादि तू नहीं है, यह सब तो मिथ्या माया-विजृम्भित है। इसप्रकार जिज्ञासु—भक्त राजा जनकने याज्ञवल्क्य आदि ब्रह्मवित्--मुनियों की कृपासे ब्रह्मतत्त्वका अपरोक्ष अनुभव किया।

जिज्ञासु नियमतः संसारसे उपराम एवं वैराग्यवान् होता है। उपरति एवं वैराग्यके विना जिज्ञासुत्वकी सिद्धि नहीं होती। राजा जनक भी उपरत एवं दृढ--वैराग्यवान् था। उसने संसारमें दृढमिथ्यात्व भावना करके ही दृढ—वैराग्य संपादन किया था।

किसी समय अत्रिमहर्षिने राजा जनककी मिथिलापुरीमें चातुर्मास किया था। नगर के बाहर उपवनमें शिष्योंके साथ महर्षिका निवास था। राजा जनक श्रद्धा एवं--उदारता पूर्वक उनकी सेवा करता था। तथा उनके प्रवचनोंमें भी प्रतिदिन सम्मिलित होता था। राजा जनक सच्चा जिज्ञासु भक्त था, इसलिए अत्रि—महर्षिकी उसे ही खासकर ब्रह्म-प्रवचन सुनानेकी अभिरुचि थी। कभी कभी राज्यकार्यमें विलम्ब हो जाने पर राजा जनक ५—१० मिनिटकी विलम्बसे प्रवचनमें पहुँचता था। अत्रि--महर्षि राजा जनककी बराबर प्रतीक्षा कर उसके आने पर ही अपना प्रवचन आरम्भ करते थे। ऐसा देखकर कुछ लोगोंके मनमें अत्रि—महर्षिके प्रति इसप्रकार अश्रद्धाके भाव प्रकट हुये। यह समदर्शी ब्रह्मवेत्ता ऋषि,

राजाजनकका इतना पक्षपात क्यों करता है ?। राजा जनक समृद्ध एव ऐश्वर्यशाली है, इसलिए उससे कुछ विशेष-ऐश्वर्य प्राप्त करनेके लिए ही ऋषि उसका पक्षपात करता होगा, नहीं तो उस ऋषिको समय पर ही प्रवचन करना चाहिए था। परन्तु उसकी समयकी अवहेलना अपनी किसी स्पृहाको सूचित करती है। सर्वज्ञ ऋषिने लोगोंके भाव जान लिये, जो गुणमें भी दोषारोपणरूप थे। अतः लोगोंको यथार्थ-बात समझानेके लिए ही महर्षिने अपनी योगशक्तिका एकरोज विलक्षण प्रदर्शन किया।

श्रावणी अमावास्या-सोमवारका पुनीत-पर्व था, उस रोज प्रवचन सुननेके लिए लोग विशेष संख्यामें आये थे। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'अतोऽन्यदार्तम्' 'अयमात्मा ब्रह्म' इन श्रुति-वचनोंका प्रवचन चल रहा था। राजा-जनक बडी श्रद्धा एवं एकाग्रतासे सुन रहा था। प्रवचन आधा हुआ होगा—उस समय महर्षिकी योग-शक्तिने मिथिला-नगरीके एक-भागमें श्रोताओंको मिथ्या-अग्निका भान करा दिया। उन्होंने देखा—अरे! नगरकी उत्तरदिशामें बडेजोरोंसे अग्नि लग गयी है। मकान फटाफट जल रहे हैं। अग्नि देखते ही उत्तर दिशाकी तरफ रहने वाले लोग सहसा प्रवचन छोड़ भाग खड़े हुये। शनैः शनैः अग्नि बढ़ती ही गई, समस्त नगरमें फैल गई, लोग गभराकर नगरकी तरफ भागने लगे। परन्तु अत्रिमहर्षिका प्रवचन बन्द नहीं हुआ। वे और भी बड़े जोरोसे ब्रह्मका विवेचन करते रहें। कुछ लोग हाथोंका इशारा कर स्पष्टरूपसे कहने लगे कि—अरे बावा! यह सारा नगर जल रहा है ? अब भी तो तू ब्रह्म-ब्रह्म बोलना छोड़ दे। तथापि ऋषि-वक्ता तन्मयतापूर्वक सुना रहे हैं, और राजा-जनक भी तन्मयतापूर्वक

सुन रहा है। राजा-जनक उन भागनेवाले लोगोंका कोलाहल सुनकर भी नहीं सुनता, स्थिर-चित्तसे वह प्रवचनमें तन्मय ही बना हुआ है। न हिलता है, न चलता है, न इधर उधर देखता ही है। इधर उन साधुओंकी झोंपड़ियोंमें भी आगकी लपटें दीख पड़ीं, गृह-त्यागी साधु-लोग भी प्रवचन छोड़ उधर दौड़ पड़े। कोई कहने लगा—अरे! झोपड़ीमें मेरा बढ़िया कमण्डलु रह गया, दूसरा बोला—मेरी पुस्तकें वहाँ रक्खी हुई हैं। तीसरेने कहा—वहाँ मेरी लंगोटी है। इनको आगसे बचानेके लिए सभी दौड़ा-दौड़ी करने लगे। प्रवचन-स्थलमें इने गिने दो चार गृहस्थ एवं एक दो साधु ही रह गये। वहाँ पहुँचने पर अग्नि गायब, नगरी ज्यों को त्यों है। झोंपड़ियाँ भी सुरक्षित हैं। अग्निका वहाँ नामो-निशान भी नहीं। सबको बड़ा विस्मय हुआ, मृगतृष्णिकाके जलकी भाँति अग्नि दूरसे प्रतीत हुई, परन्तु समीप जानेपर उसका विलोप हो गया। सब वापस लौटकर प्रवचन स्थलपर आये। अत्रिमहर्षिने सबको सम्बोधित करके कहा—तुम अपनेको देखो, और इस राजा जनकको देखो। कौन सच्चा ब्रह्म-जिज्ञासु है?। तुम्हारा तो एक-एक मकान जल रहा था, परन्तु इस राजाका समग्र नगर जल रहा था, तो भी वह इतना शान्त, एवं प्रसन्न ही बना रहा, तन्मयताके साथ ब्रह्मप्रवचन सुनता रहा। इसीलिए ही मैं राजा-जनकका पक्षपात करता रहा कि—यह सच्चा जिज्ञासु—भक्त है। पुराणोंने भी राजा-जनकके चरित्रका ऐसा ही चित्रण किया है—

> 'तथाहि मिथिलानाथो मुमुक्षुरभवत्पुरा।
> आहेदं मिथिलादाहे न मे किञ्चन दह्यते॥
> क्व ममत्वं मुमुक्षूणामनिर्वचनवादिनाम्।'

प्राचीन समयमें मिथिलानाथ राजा जनक मुमुक्षु था। जो मुमुक्षु होता है—वह जिज्ञासु होता ही है। एक तरफ उसमें दुःखमय-भव-बन्धनोंसे छूटनेकी प्रबल इच्छा रहती है, तो दूसरी ओर उसमें आनन्द पूर्ण-अद्वय-ब्रह्मतत्त्व जाननेकी उत्कट इच्छा रहती है। इसलिए राजा जनकने—पूछने पर उस समय कहा था कि—मिथिला नगरी जलने पर भी मेरा कुछ भी नहीं जलता। मैं असङ्ग, उदासीन निर्विकार अन्तरात्मा हूँ। मेरा कोई नहीं, मैं किसीका नहीं। इसप्रकार जगत्को अनिर्वचनीय (मिथ्या) मानने वाले एवं कहने वाले मुमुक्षुओंका किसमें ममत्व हो सकता है? अर्थात् किसीमें नहीं। अत्रिमहर्षिके इसप्रकारके यौगिक-चमत्कारसे ऋषिके प्रति लोगोंकी अश्रद्धा दूर हो गई। तथा सभी लोग ऋषिके चरणोंमें नतमस्तक हुये। तथा राजा जनकके जिज्ञासुत्वके लिए धन्य धन्य कहने लगे।

इसप्रकार राजा जनक 'मैं मेरे'—चक्रसे दृढतम जगन्मिथ्यात्व-भावना द्वारा सर्वथा छूटे हुए थे। वे सदा ब्रह्मस्वरूपमें स्थित रहते हुए भी प्रजापालनका कार्य समुचित रूपसे करते थे।

सारांश यह है कि—जो शास्त्रों एवं गुरुजनोंमें श्रद्धा रखकर उनसे उपदिष्ट रीतिके अनुसार आत्मतत्त्वको जानता है, एवं एकाग्रचित्तसे परमात्माका चिन्तन, कीर्तन, भजन, मनन एवं ध्यान करता रहता है; वह जिज्ञासुभक्त कहाता है। वह मिथ्या तर्क-वितर्ककी जालमें डालकर अपनी बुद्धिका दुरुपयोग नहीं करता।

अब जिज्ञासुभक्तके बाद अर्थार्थी भक्तका नम्बर आता है। अर्थार्थी यानी अर्थान्—धर्मार्थकाममोक्षाख्यान् पुरुषार्थान् चतुर्विधान्

भगवत एवार्थयते नान्यस्मादिति। अर्थात् चार प्रकारके पुरुष-अभि-प्रेत अर्थ (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष)की भगवान्से ही जो प्रार्थना करता है, अन्यसे नहीं, वह अर्थार्थी-भक्त है। लौकिक-दृष्टिसे यद्यपि अर्थका अर्थ है, धन-सम्पत्ति-राज्य-भोग-सुख-स्वर्ग आदि। इनकी भी प्राप्तिके लिए जो भगवान्की भक्ति करता है, भगवान्से ही उनके लाभकी अभि-लाषा रखता है। वह समझता है—भगवान् कल्पवृक्ष हैं, चिन्तामणि हैं, उन सर्वेश्वर-महाप्रभु द्वारा मेरे सभी मनोरथ अवश्य ही पूर्ण होंगे, चिन्तित—अर्थोंकी प्राप्ति होगी ही। इसलिए वह अपनी अभिलाषाकी पूर्तिके लिए उस सर्व-समर्थ भगवान्का ही आश्रय लेता है, अन्यका नहीं। **'मंगे भिखिया इक भगवानकोलो, जेडा देंवदा कभी ना तंग होवे।'** (पंजाबी भाषा) एकमात्र भगवान्से ही भिक्षा मांगनी चाहिए, उन कृपण, बुद्धिहीन दीन-क्षुद्र-संसारियोंसे क्या मांगना?' जो स्वयं भूखे हैं, याचक हैं, वे दूसरोंको क्या दे सकते हैं?।' मंगतोंसे मांगना अच्छा नहीं। जो भगवान् ब्रह्मासे लेकर सभी प्राणियोंको अनादि-कालसे उदारताके साथ विक्षिप्त हुए विना सदा देता आया है, उसीसे ही मैं मांगता हूँ। साथमें वह यह भी समझता है कि—परमार्थतः भगवान् ही एकमात्र परम-अर्थ हैं, तदन्य धनादि-अर्थ वास्तविक अर्थ नहीं है, परिणाममें वे अर्थ अनर्थ हो जाते हैं, परन्तु प्रारम्भमें मोहवश उन अर्थोंमें रहे हुए—अनर्थ देखनेमें नहीं आते। तथापि उनको आव-श्यक-समझकर भगवान्से ही प्राप्त करना चाहता है, इसलिए वह दूसरोंके समक्ष दीनता नहीं प्रदर्शित करता। यही उसमें उदारता है। इसलिए **'उदाराः सर्व एवैते'** (गी. ७।१८) इस वचनसे भगवान्

आर्तादि सभी भक्तोंको उदार कहते हैं, कृपण नहीं, दीन नहीं।

ऐसे अर्थार्थी भक्त जगत्में बहुत ही मिलेंगे। जो अपने किसी मतलबकी सिद्धिके लिए भगवान्से प्रार्थना करते हुए एवं भगवान्की मानता मानते हुए दीख पड़ते हैं। हे प्रभो! मेरा अमुक कार्य पूर्ण करो, उसे पूरा करनेमें मेरी शक्ति नहीं है। आप सर्वान्तर्यामी एवं विश्व-प्रेरक हैं। आपकी ही इच्छासे जगत्के सभी कार्य होते रहते हैं, आप जगत्के संचालक हैं। अतः आप कृपया उस आवश्यक-कार्यकी सिद्धिके लिए मुझे सहायता करें, बल एवं बुद्धि प्रदान करें। आपकी कृपा एवं सहायताके द्वारा ही मेरे सभी विघ्न दूर होंगे, अनुकूल सभी सामग्रियाँ मिल जांयगीं। '**सानुकूले जगन्नाथे सानुकूलं जगत्त्रयम्।**' जगन्नाथ विश्वेश्वर भगवान् जब अनुकूल हो जाते हैं, तब सारा जगत्—जो उसके इशारे पर नाच रहा है—अनुकूल हो जाता है। ऐसे भगवान्का विश्वास रखकर अहंकार छोड़कर आवश्यक—कार्य करता है, वह आलसी, प्रमादी बनकर ईश्वरके भरोसेका दुरुपयोग नहीं करता। किन्तु प्रसन्नताके साथ उचित कार्य करता है, आवश्यक ड्यूटी बजाता है, परन्तु धैर्य एवं भगवान्का विश्वास कभी नहीं छोड़ता। भक्तिपूर्वक सदा भगवच्चिन्तन करता रहता है। वह अर्थार्थी भक्त है।

अतएव श्रीमद्भागवतमें कहा है—

'धर्मार्थकाममोक्षाख्यं य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः।
एकमेव हरेस्तत्र कारणं पादसेवनम्॥'
(४।८।४१)

जो कोई धर्म, अर्थ, काम या मोक्षरूप पुरुषार्थकी इच्छा करता

हो, उसके लिए इन सबको देनेवाले इनका एकमात्र कारण श्रीहरिके मंगलमय-श्रीचरणोंका सेवन ही है।

ऐसे अर्थार्थी भक्तोंमें मुख्यतः अग्रसर रूपसे, ध्रुव, उपमन्यु, सुग्रीव, एवं विभीषण, इन चारोंके नाम लिये जा सकते हैं।

स्वायम्भुव मनुका पुत्र था--उत्तानपाद। उसकी दो रानियाँ थीं, सुनीति एवं सुरुचि। राजा उत्तानपाद अपनी छोटी रानी सुरुचिसे अत्यन्त प्यार रखते थे। एवं ध्रुवकी माता--बड़ी रानी सुनीतिसे प्रायः उदासीन रहते थे। किसी समय बालक-ध्रुव खेलता हुआ पिता महाराजके समीप गया, और पिताकी गोदमें बैठनेकी उत्सुकता प्रकट करने लगा। परन्तु राजाने ध्रुवको गोदमें नहीं बिठाया, न उससे कुछ प्यार ही प्रदर्शित किया। उस समय राजाके समीप बैठी हुई छोटी-रानी सुरुचिने सौतियादाहवश गर्वपूर्वक बालक ध्रुवसे कहा--ध्रुव! तू उस भाग्यहीन माताका पुत्र है। तूने मेरे उदरसे जन्म नहीं लिया, इसलिए तू महाराजके प्यारका एवं उनकी गोदमें बैठनेका अधिकारी नहीं है। अत एव तू साम्राज्यके सिंहासन पर भी बैठ नहीं सकता। यदि तू मेरे पुत्र उत्तमकुमारकी भाँति पिताकी प्यारभरी-गोदमें या सिंहासन पर बैठना चाहता है, तो प्रथम तपस्या एवं आराधना कर भगवान् श्रीनारायणको प्रसन्न कर और उनकी कृपासे मेरे उदरसे नवीन जन्म ले, तब तेरे सभी मनोरथ सफल हो सकते हैं।

तेजस्वी बालक ध्रुवको विमाताके ये वचन बाण-से चुभ गये। मुख क्रोधसे लाल हो गया। रोता हुआ वह वहाँसे अपनी माताके समीप चल पड़ा। माता सुनीतिने अपने रोते हुए पुत्रको गोदमें उठा लिया।

बड़े-स्नेहसे पुचकारकर रोनेका एवं क्रोधका कारण पूछा। सब बातें सुनकर सुनीतिको बड़ी व्यथा हुई। वह भी रोती हुई बोली--बेटा! सभी लोग, अपने शुभाशुभ-भाग्यसे ही मान या अपमान, सुख एवं दुःख पाते हैं। तुम्हारी विमाता ठीक ही कहती है कि—तुमने दुर्भाग्यके कारण ही मुझ अभागिनीके गर्भसे जन्म लिया। और उसने भगवान्की आराधना करनेकी जो शिक्षा दी है, वह यथार्थ है। तुम उसीका आचरण करो। तुम्हें राज्य-ऐश्वर्यकी यदि अभिलाषा है, तो उन कमलनयन-अधोक्षज-भगवान् श्रीनारायणकी प्रेमसे, अनन्यभावसे आराधना करो। भगवान् समस्त-ऐश्वर्योंके स्वामी हैं, उनकी कृपासे तेरे सभी मनोरथ पूर्ण होंगे। इसलिए तुम उन दयासागर-भगवान्की शरण ग्रहण करो।

मातकी बातें सुनकर उसकी आज्ञा लेकर ध्रुव, पिताका नगर छोड़ वनकी ओर चल पड़ा। जो कोई जब भगवान् पर विश्वास रख सर्वतोभावेन भगवान्के अभिमुख होता है। तब भगवान् उसके लिए आवश्यक साधन-सम्पत्ति स्वयं जुटा देते हैं। साधन-संपत्तिके लिए प्रथम गुरुकी आवश्यकता होती है। सच्चे अधिकारीको गुरु प्रयत्न किये विना स्वयं ही मिल जाते हैं। ध्रुव जब वनमें जा रहा था, तब मार्गमें उसे देवर्षि नारदजी वीणा बजाते मस्तीके साथ हरिगुण-गाते-मिले।

बालक ध्रुवको देखकर नारदजीने पूछा—अरे! तू कौन है? कहां किस प्रयोजनके लिए जा रहा है?।

ध्रुवने बड़े विनयके साथ अपना परिचय दिया, और वनमें जानेका प्रयोजन—भगवान्की आराधना कर उन्हें प्रसन्न कर उनसे अभीष्ट वर प्राप्त करना बतलाया।

नारदजीने प्यारके साथ कहा—बेटा ध्रुव ! तू बालक है; अतः तू वन क्या है ? इसको बराबर नहीं समझ रहा है, वनमें अनेक प्रकारके भय भरे हुए हैं। वहाँ तू अनेक प्रकारका कष्ट पायगा। और उसमें भी भगवान्की आराधना करना, और भगवान्को प्रसन्न करना सरल नहीं, यह बड़ा दुरूह कार्य है। बड़े बड़े ऋषि भी हजारों वर्ष तक भगवान्की आराधना करते रहे हैं, परन्तु उन्हें स्वप्नमें भी भगवान्के दर्शनका लाभ नहीं मिला। इसलिए तू वनमें जानेका एवं भगवदाराधना करनेका दुराग्रह छोड़ दे।

तेरा पिता राजा उत्तानपाद मुझे बहुत मानता है, मैं उससे कहकर तेरेको राज्यासन अवश्य दिला दूंगा। मेरे साथ वापस नगरमें लौट।

इसप्रकार नारदजीके द्वारा ध्रुवको अनेक विध भय एवं लोभ दिखलाया, तो भी वह अपने निश्चयसे किसी भी प्रकार विचलित नहीं हुआ। किसी हिन्दके कविने ध्रुवके उस अविचल-पुनीत-निश्चयको इस प्रकार वर्णन किया है—

कहने लगा-मिट जाऊगा मिट—जाऊगा मिटजाऊँगा;
जब तक न पाऊँगा उसे वापस न घरको जाऊँगा।
हैं दुःख जितने विश्वके उनसे न मैं घभराऊँगा,
है लाज यह उसकी कि—जिसके नाम पर मिट जाऊँगा॥

ध्रुवकी दृढ भगवन्निष्ठा एवं अचल-निश्चय देखकर नारद बाबा बड़े प्रसन्न हुए। दोनों हाथ ध्रुवके मस्तक पर रखकर सफलताका आशीर्वाद देने लगे। और ध्रुवको '**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**' इस द्वादशाक्षर—मन्त्रकी उन्होंने दिक्षा दी। भगवान्की आराधनाकी विधि

बतला कर यमुना तट पर स्थित मधुवनमें जानेका आदेश दिया।

भगवान् अवश्य हैं, वे करुणाके सागर हैं, और वे हमें अवश्य मिलेंगे ही, ऐसा दृढ विश्वास जबतक न हो, तबतक भगवानकी आराधनामें प्रेम एवं तन्मयता नहीं—हो सकती। अतएव महात्मा तुलसीदासजीने कहा है—

'बिनु विश्वास भगति नहिं, तेहि बिनु द्रवहिं न राम।
राम कृपा बिनु स्वप्ने हुँ, जीव कि लहहि विश्राम॥'

संसारकी बहुतसी चीजें ऐसी हैं—जो चाहने पर भी प्रयत्नकरने पर भी नहीं मिलतीं। परन्तु सर्वेश्वर भगवान् सच्चे हृदयसे चाहने पर, प्रयत्न करने पर अवश्य ही मिलते हैं। इसमें लेश भी सन्देह नहीं। ध्रुवका भगवान्के प्रति दृढ-विश्वास था। अत एव उसे भगवत्प्राप्तिमें तनिक भी सन्देह नहीं था। वह मधुवनमें यमुनातट पर पहुँचा। श्रीकालिन्दीके पुण्यमय प्रवाहमें स्नान कर एकान्त-स्थलमें आसन लगाकर श्रीनारद-गुरुसे प्राप्त—द्वादशाक्षर मन्त्रका भक्तिपूर्वक अखण्ड-जप करने लगा। वन के जो भी पत्र, पुष्प, फलादि अनायासतः मिल जाते, उन्हें भगवान्को समर्पण कर देह—निर्वाहके लिए पा लेता। इसप्रकार इससे भी कठिन—तपस्या कर भगवान्के ध्यानमें वह तन्मय रहने लगा। ध्यानके प्रभावसे वह जब ध्येय-भगवन्मय बन गया। तब अन्तर्यामी भगवान् गरुड़ पर बैठकर ध्रुवके समीप आये। किन्तु वह इतना तन्मय होकर ध्यान कर रहा था कि—उसे कुछ भी पता नहीं लगा। श्रीहरिने जब अपना स्वरूप उसके हृदयमेंसे अन्तर्हित कर दिया, तब उसने हृदयमें भगवान्का दर्शन न पाकर व्याकुल होकर नेत्र खोलें, तो अनन्त—सौन्दर्य—माधुर्य-

निधि-आनन्दमय-भगवान् श्री नारायणको सामने देखकर उसके आनन्द-की सीमा नहीं रही। नतमस्तक होकर हाथ जोड़कर वह भगवान्की स्तुति करनेके लिए उत्कण्ठित हुआ, परन्तु वह भगवान्की क्या स्तुति करे ? यह समझ ही न सका। दयामय प्रभुने ध्रुवकी उत्कण्ठा देखकर अपने निखिल श्रुतिमय—शङ्खसे उसके कपोलको छू दिया। बस उसी समय ध्रुवके हृदयमें तत्त्वज्ञानका विमल प्रकाश छा गया। वह सकल विद्याओंका पारंगत विद्वान् बन गया। बड़े—प्रेमसे उसने भगवान्की भावपूर्ण स्तुति की। श्रीमद्भागवत-आदि पुराणोंमें ध्रुवकी स्तुति प्रसिद्ध है। उसके ये दो श्लोक भगवान्का वास्तविक स्वरूप क्या है ? इसके निरूपण करनेमें बड़े उत्तम हैं।

'योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां,
सञ्जीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना।
अन्यांश्च हस्तचरण-श्रवणत्वगादीन्,
प्राणान् नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्॥

एकस्त्वमेव भगवन्निदमात्मशक्त्या,
मायाख्ययोरुगुणया महदाद्यशेषम्।
सृष्ट्वाऽनुविश्य पुरुषस्तदसद्गुणेषु,
नानेव दारुषु विभावसुवद्विभासि॥'

(४।९।६-७)

जो सर्व—शक्तिमान्, विश्वात्मा श्रीहरि मेरे अन्तःकरणमें प्रवेश कर अपनी ज्ञानज्योतिसे मेरी सोई हुई वाणीको सजीव करते हैं, अर्थात् मेरी जड-जिह्वामें अर्थानुसन्धान पूर्वक—शब्दोच्चारणकी शक्ति प्रदान करते

हैं। तथा कर, चरण, कर्ण और त्वचा आदि अन्य इन्द्रियोंको भी चैतन्य प्रदान करते हैं, उन आप भगवान्-पूर्ण-पुरुषको प्रणाम है। हे भगवन्! आप अकेले ही अपनी अनन्त-गुणमयी-मायाशक्तिसे इस महदादि-सम्पूर्ण जगत्को रचकर उसके इन्द्रियादि-असत् गुणोंमें जीवात्मा रूपसे अनुप्रविष्ट हो, इसप्रकार अनेकवत् भासते हैं, जैसे नाना प्रकारके काष्ठोंमें अनुप्रविष्ट हुआ अग्नि अपनी उपाधियोंके अनुसार भिन्न भिन्न रूपसे भासता है।

स्तुतिसे प्रसन्न हुए-भगवान्ने ध्रुवको वरदान देते हुए कहा-वत्स! ध्रुव! तुमने मांगा नहीं, परन्तु मैं तुम्हारी हार्दिक-इच्छाओंको जानता हूँ। इसलिए तुम्हें मैं इस भूलोकका साम्राज्यपद देता हूँ। तुम पृथ्वीका दीर्घकाल तक शासन करना, और अनेकविध-भोग वैभवोंके सुखका अनुभव करना। तथा अन्तमें शरीर छोड़नेके बाद तुम्हें वह ध्रुवपद देता हूँ, जो दूसरोंके लिए दुष्प्राप्य है। उस पदकी सभी ग्रह नक्षत्रादि-प्रदक्षिणा करते रहते हैं। इस प्रकार ध्रुवको वरदान देकर भगवान्-श्रीनारायण अन्तर्धान हो गये।

जो व्यक्ति भगवान्के शरणापन्न होता है, सदा प्रेमसे भगवान्का चिन्तन करता रहता है, भगवत्कृपा-पात्र बनता है, उसकी सभी प्रतिकूलताएँ अनुकूलतामें बदल जाती हैं। जिस पर अखिलात्मा-नारायण प्रसन्न हों, उस पर सभी लोग प्रसन्न हो जाते हैं, सभी उसका सन्मान एवं आदर करते हैं। शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। ध्रुवके वनमें चले जाने पर महाराज-उत्तानपादके हृदयमें बड़ा भारी परिवर्तन हो गया। वह ध्रुवके अनादरके लिए बहुत पश्चात्ताप करने लगा। एवं ध्रुवकी

माताका अधिक आदर करने लगा। तथा रात–दिन प्रिय–पुत्र ध्रुवकी चिन्ता करने लगा। जब राजाको ध्रुवके वापस आनेका समाचार मिला, तब उसके हर्षकी सीमा न रही। बड़े उत्साहसे बाजे-गाजेके साथ ध्रुवका स्वागत करनेके लिए वह नगरके बाहर गया। देखते ही बड़े प्रेमसे ध्रुवको गोदमें उठाकर हृदयसे लगा लिया। बड़े सत्कारके साथ ध्रुवको वह राजभवनमें ले गया।

कुछ दिनोंके बाद राजा-उत्तानपादको वैराग्य हो गया। उसने ध्रुवका राज्याभिषेक कर दिया और स्वयं भगवान्का भजन करनेके लिए तपोवनमें चला गया। ध्रुवके लिए भगवान्के सभी वरदान सफल हो गये। वह बहुत कालतक राज्य ऐश्वर्य भोगकर अन्तमें ध्रुव–पदको प्राप्त हुआ।

शिव--भक्त उपमन्यु, महर्षि–व्याघ्रपादका पुत्र था। उसकी भी गणना अर्थार्थी-भक्तोंमें की जाती है। एक दिन उपमन्युने मातासे दूध मांगा। घरमें दूध न होनेके कारण माताने चावलोंका आटा जलमें घोलकर उपमन्युको दिया। उपमन्यु अपने मामाके घर असली दूध पी चुका था। इसलिए इस नकली दूधको तुरन्त पहिचान गया और मातासे बोला कि–माँ! यह तो दूध नहीं है। ऋषि-पत्नी झूठ बोलना नहीं जानती थी। अतः उसने कहा–बेटा! तू सत्य कहता है, यह दूध नहीं है। हम तपस्वी एवं पर्वतोंकी गुफाओंमें जीवन बिताने वाले–अकिञ्चन हैं–इसलिए अपने यहाँ–असली दूध कहाँसे मिल सकता है?। हमारे तो परमाराध्य-सर्वस्व-भगवान् श्रीशंकर हैं, तू यदि यथेष्ट अच्छा दूध पीना चाहता है, तो उस आशुतोष कैलासपति भगवान् महादेवको प्रसन्न कर,

उनकी प्रेमसे आराधना कर। उनके प्रसन्न हो जाने पर वे तुझे दूध क्या? दूधका समुद्र प्रदान करेंगे।

मांताकी बात सुनकर बालक उपमन्युने पूछा—माँ! भगवान् महादेव कौन हैं? कहाँ रहते हैं? उनका कैसा स्वरूप है? मुझे वे किस प्रकार मिलेंगे? और उन्हें प्रसन्न करनेका क्या उपाय है?।

बालकके ये सरल वचन सुनकर स्नेहवश माताकी आँखोंमें आँसू भर आये। माताने उसे शिव-तत्त्व समझाया। और कहा—तू उनका भक्त बन, उन्हींको नमस्कार कर, उनकी शरण हो जा, उनपर विश्वास रख, उनमें मन लगा, उनके दिव्य साकार-स्वरूपका ध्यान कर। उनको प्रसन्न करनेका वैदिक महामन्त्र है—'**ॐ नमः शिवाय।**' उस मन्त्रका निरन्तर एकाग्रता एवं श्रद्धासे जपकर। यों करने पर वे कल्याणस्वरूप भगवान् शिव तेरा निश्चय ही कल्याण करेंगे। तेरे सभी मनोरथ पूर्ण करेंगे।

अपनी माता द्वारा इसप्रकार उपदेश प्राप्तकर बालक उपमन्यु भगवान् श्री शिवको प्रसन्न करनेका दृढ-संकल्प कर घरसे निकल पड़ा। वनमें जाकर प्रतिदिन वह '**ॐ नमः शिवाय**' महामन्त्रका अखण्ड जप करने लगा। पत्र-पुष्पोंसे भगवान् महादेवकी पूजा करता हुआ कठोर-तप करने लगा। भगवान् श्रीशंकरके ध्यानमें वह तन्मय हो गया। उसकी श्रद्धा-भक्ति एवं आराधनासे भगवान्शंकर शीघ्र ही उसके ऊपर प्रसन्न हो गये। प्रथम उसके अनन्यभावकी परीक्षा लेनेकी इच्छासे देव-राज-इन्द्रका रूप धारण कर ऐरावत हाथी पर आरूढ हो उपमन्युके समक्ष भगवान् शंकर प्रकट हो गये। ऋषिकुमार-उपमन्युने इन्द्रको देखकर प्रणाम किया और कहा—देवराज! आपने मेरे समीप

पधारकर मुझ पर बड़ी कृपा की है। बतलाइये, मैं आपकी क्या सेवा करूं ? इन्द्ररूपी शंकरने कहा—हे सुव्रत ! मैं तुम्हारी इस तपस्यासे बहुत ही प्रसन्न हूँ, तुम मुझसे मनमाना वर माँगो। तुम जो कुछ मांगोगे वही मैं तुम्हें दूँगा।

इन्द्रकी बात सुनकर उपमन्युने कहा—देवराज ! आपकी बड़ी कृपा है, परन्तु मैं आपसे कुछ भी नहीं लेना चाहता। मैं तो भगवान् विश्व-नाथ—श्रीशिवजीका अनन्य भक्त—सेवक बनना चाहता हूँ। जबतक वे मुझपर प्रसन्न होकर दर्शन नहीं देंगे, तबतक मैं उनकी आराधना नहीं छोड़ूंगा। जन्म—जन्मान्तरोंमें भी उसी भगवान् शंकरमें ही मेरी अक्षय एवं अनन्य—भक्ति बनी रहे, यही मेरी अभिलाषा है। वे भगवान् कृपा-कर जो भी कुछ मेरा अभिप्रेत वर देंगे, उनको मैं सहर्ष स्वीकार करूंगा। परन्तु मैं अन्य किसीसे कुछ भी नहीं लेना चाहूँगा।

इस प्रकार इन्द्रसे कहकर उपमन्यु फिर अपनी तपस्यामें लग गया। तब इन्द्ररूपधारी शंकरने उपमन्युके समक्ष देवराज इन्द्रके गुणों-की प्रशंसा द्वारा अपनी ही निन्दा करना प्रारम्भ किया। उपमन्यु शिव-निन्दा सुनकर बहुत ही दुःखी हुआ। कभी क्रोध न करने वाले-उसके मनमें क्रोधका संचार हो गया। और उसने शिवनिन्दक—इन्द्रका वध करनेकी इच्छासे अघोरास्त्रसे अभिमन्त्रित भस्म लेकर इन्द्र पर फेंकी। और शिवनिन्दा सुननेके प्रायश्चित्त—स्वरूप अपने शरीरको भस्म करनेके लिए आग्नेयी धारणाका प्रयोग करने लगा।

उसकी ऐसी अनन्यता देखकर भगवान्—शंकर परम—प्रसन्न हो गये। भगवान्के आदेशसे 'आग्नेयी—धारणा'का निवारण हो गया,

और नन्दीने अघोरास्त्रका निवारण कर दिया। इतनेमें ही भक्त-उपमन्युने विस्मय होकर देखा कि—ऐरावत--हाथी चन्द्रमाके समान सफेद कान्तिवाला वृषभ बन गया है, और इन्द्रकी जगह भगवान् कैलासपति शंकर अपने-दिव्यरूपमें जगज्जननी-भगवती-उमादेवीके साथ उस पर बिराजमान हैं। वे करोड़ों सूर्योंके समान तेजसे आच्छादित और करोड़ों चन्द्रमाओंके समान सुशीतल-सुधामयी-किरणमालाओंसे घिरे हुये हैं। उनके प्रकृष्ट-शीतल तेजसे सब दिशाएँ प्रकाशित एवं प्रफुल्लित हो गईं। उनका कर्पूरके समान दिव्य-गौरवर्ण था, धवल-बाल-चन्द्रसे सुशोभित जटा-मुकुट था। दिव्य-सुन्दर-शरीर पर सुवर्ण-कमलोंसे गुंथी हुई और रत्नोंसे जड़ी हुई माला सुशोभित हो रही थी। जगदम्बिका-भगवती उमाका भी सौन्दर्य अवर्णनीय था। ऐसे विश्ववन्दित भगवान् शंकरका भगवती उमाके सहित दर्शन प्राप्तकर उपमन्युके हर्षका पार नहीं रहा। वह गद्गद्-कण्ठसे भगवान्की प्रार्थना करने लगा। उसकी प्रार्थनाका शिवस्तोत्र शिवभक्तोंमें बड़ा प्रसिद्ध है। उसके कुछ श्लोक इसप्रकारके हैं—

'जय शंकर! पार्वतीपते! मृड! शम्भो! शशिखण्डमण्डन! ।
मदनान्तक! भक्तवत्सल! प्रियकैलास! दयासुधाम्बुधे! ॥
न वयं तव चर्मचक्षुषा, पदवीमप्युपवीक्षितुं क्षमाः ।
कृपयाऽभयदेन चक्षुषा सकलेनेश! विलोकयाशु नः ॥'

हे शंकर! हे पार्वतीपते! हे मृड! (सुखाकर) शम्भो! हे शशिखण्डमण्डन! अर्थात् बालचन्द्रको अपने मस्तक पर आभूषणके समान धारण करने वाले! हे मदनान्तक! अर्थात् कामशत्रुके विध्वंसक! हे भक्तवत्सल! हे प्रियकैलास! अर्थात् कैलासवास जिसे प्रिय है, दया-

सुधाम्बुधे ! अर्थात् दयारूपी—अमृतके महासागर ! आपकी जय हो; जय हो ! हे प्रभो ! हम आपके वास्तविक-स्वरूपको चर्म-चक्षुसे देखनेके लिए समर्थ नहीं हैं। अतः हे ईश्वर ! कृपा करके आप अपनी अभय-देनेवाली दिव्यकलापूर्ण-चक्षुसे शीघ्र हमें देखें। अर्थात् आपके करुणा-पूर्ण-नेत्रसे देखने पर हमारा शीघ्र ही कल्याण हो जायगा।

'सविषोऽप्यमृतायते भवान्, शवमुण्डाभरणोऽपि पावनः।
भव एव भवान्तकः सतां, समदृष्टिर्विषमेक्षणोऽपि सन्॥
अपि शूलधरो निरामयो दृढवैराग्यरतोऽपि रागवान्।
अपि भैक्ष्यचरो महेश्वरश्चरितं चित्रमिदं हि ते प्रभो!॥'

आप विषधर सर्पयुक्त होने पर भी अमृतायतन हैं, अमृतके समान आनन्द-प्रद हैं। मुण्डमालाधारी होने पर भी आप अत्यन्त-पवित्र हैं, अपने भक्तोंको भी पावन कर देते हैं। भव अर्थात् संसारके उत्पादक होने पर भी सज्जन भक्तोंके भवके अर्थात् मिथ्या-संसारके विध्वंसक हैं। विषम-नेत्रवाले त्र्यम्बक होने पर भी आपकी समदृष्टि है, अर्थात् तीनकी संख्या, विषम मानी जाती है, इसलिए भगवान् शंकर त्रिनेत्र हैं—यानी विषमेक्षण हैं। तथापि सर्वत्र समदर्शन हैं। शूलधर होने पर भी आप निरामय अर्थात् पूर्ण स्वस्थ हैं, शूल रोगका भी नाम है एवं आयुधका भी। दृढ वैराग्यवान् होने पर भी आप रागवान् हैं, और आप भिक्षाके लिए विचरण करते रहते हैं, तो भी महेश्वर कहलाते हैं। इसप्रकार हे प्रभो ! आपका चरित्र बड़ा अद्भुत है। परस्पर विरुद्ध है। अर्थात् विष-युक्त अमृतनिधि कैसे हो सकता है ?। मुरदोंके मुण्डोंकी अशुचि-मालाधारी, पवित्र नहीं हो सकता ?। जो भव होगा, वह भवान्तक कैसे होगा ?। विषमदृष्टिवाला समदृष्टि कैसे ? शूलधर-निरामय नहीं हो सकता, वैराग्यवान्

भगवान् कैसा ? भिक्षा मांगनेवाला महेश्वर क्योंकर होगा ?। परन्तु आप भगवान्में ये सब विरुद्ध-धर्म सुसंगत हुए प्रतीत हो रहे हैं, यही आपकी विस्मयकारी महानता है।

'वितरत्यभिवाञ्छितं दृशा परिदृष्टः किल कल्पपादपः।
हृदये स्मृत एव धीमते नमतेऽभीष्टफलप्रदो भवान्॥
शिव! सर्वग! शर्व! शर्मद! प्रणतो देव! दयां कुरु व मे॥
नम ईश्वर! नाथ! दिक्पते! पुनरेवेश! नमो नमोऽस्तु ते॥
शरणं तरुणेन्दुशेखरः शरणं मे गिरिराजकन्यका।
शरणं पुनरेव तावुभौ शरणं नान्यदुपैमि दैवतम्॥

जिस प्रकार कल्पवृक्ष आँखसे देख लेने पर वाञ्छित-अर्थ समर्पण करता है, इसप्रकार हृदयमें प्रेमसे आपका स्मरण कर लेने मात्रसे ही आप उस नम्र-बुद्धिमान्-भक्तके लिए अभीष्ट फलप्रद हो जाते हैं, अर्थात् कल्पवृक्षका देखना सबके लिए सुलभ नहीं है, परन्तु आपका स्मरण सबके लिए अत्यन्त सुलभ है। इसप्रकार आप सुलभ साधन द्वारा सकल अभीष्ट समर्पण करते हैं, यही आपमें कल्पवृक्षकी अपेक्षा महती विशेषता है। हे शिव! हे सर्वगत! हे शर्व! (संहारक) हे शर्मद! (सुखप्रद) हे देव! आपके समक्ष प्रणत होनेवाले मुझ पर दया करें। हे ईश्वर! हे नाथ! हे दिशाओंके पति (पालक)! हे ईश! आपको मेरी बारंबार नमस्कार है। तरुणेन्दुशेखर अर्थात् जिसके ललाटमें तरुण चन्द्र सुशोभित है, ऐसे भगवान् शंकरकी मैं शरण हूँ। गिरिराजकन्या--भगवती-उमाकी मैं शरण हूँ। पुनः पुनः मैं उन दोनोंकी ही शरण हूँ, अन्य किसी भी देवताकी शरण मैं स्वीकार नहीं करता।

इसप्रकार भक्त-उपमन्युकी सरल एवं प्रेममयी प्रार्थना सुनकर भगवान् शंकर अत्यन्त प्रसन्न हुये और उससे बोले—हे बेटा उपमन्यु ! मैं तुझपर बहुत प्रसन्न हूँ। मैंने भलीभाँति परीक्षा करके देख लिया कि—तू मेरा दृढ़-अनन्य एवं सच्चा भक्त है। बता तू क्या चाहता है ? तेरे लिए कुछ भी मुझे अदेय नहीं है। जो तू मांगेगा, वही मैं तुझे दूंगा। भगवान् शंकरके स्नेहभरे इन वचनोंको सुनकर उपमन्युके आनन्द की सीमा न रही। उसके नेत्रोंसे आनन्दके आंसुओंका प्रवाह बहने लगा। वह गद्‌गद् स्वरसे बोला—हे प्रभो ! आज मुझे क्या मिलना बाकी रह गया ?। आपके परम पावन मंगलमय प्रत्यक्ष दर्शनमें ही सब कुछ आ गया। इससे अधिक और मुझे क्या चाहिए ?। इस पर भी आप दयालु भगवान् कुछ देना ही चाहते हैं—तो मुझे यही दीजिए कि—आपके श्रीचरणोंकी अविचल—अनन्य भक्ति सदाके लिए बनी रहे।

भगवान् चन्द्रशेखर शंकरने 'तथास्तु' कहकर उपमन्युको भक्तिका वरदान दिया। और उसकी प्राक्कालिक—इच्छाके अनुसार उसे दिव्य—दूध भातकी खीर खानेको दिया। और भगवती उमादेवीने भी अत्यन्त—प्यारके साथ उसके मस्तक पर हाथ रखकर 'षड्मुख—कार्तिकेय'के समान अचल कुमार-पद प्रदान किया। तदनन्तर भगवान् शिवने आशीर्वाद देते हुए कहा—बेटा ! तू आजसे अजर-अमर, दिव्यानन्दमय, तेजस्वी, यशस्वी एवं आत्मज्ञान-युक्त हो गया। तेरे दुःख-दोषोंका सदाके लिए नाश हो गया। तू मेरा अनन्य—भक्त ही सदा बना रहेगा। और तेरा निवास चिरकाल तक क्षीरसागरके तट पर ही होगा। जिससे तुझे प्रिय दूधपानकी कमी कभी न रहेगी। ऐसा कहकर भगवान् शंकर वहाँसे

अन्तर्धान हो गये। यह वही उपमन्यु ऋषिकुमार था—जिसने भगवान् श्रीकृष्णको पञ्चाक्षर-महामन्त्रकी शैवी-दीक्षा दी थी। यह वृत्तान्त महाभारतमें प्रसिद्ध है।

विभीषण भी भगवान्का अर्थार्थी भक्त था। तपश्चर्या कर ब्रह्माजीको प्रसन्न कर, ब्रह्माजीसे उसने भगवद्भक्तिका ही वरदान मांगा था। जब रावण भगवती सीताजीको हर लाया, तब विभीषणने रावणको बहुत समझाया। परस्त्रीका सेवन--यश, आयु और पुण्यका नाश कर देता है। इस पापसे नरककी प्राप्ति होती है। इसलिए भगवती सीताको तुम आदरपूर्वक श्रीरामको सुपूर्द करदो। परन्तु अहंकारी दुष्ट—रावणने उसकी हितकारी बात पर ध्यान ही नहीं दिया।

जब श्रीहनुमान्जी लङ्का पहुँचे, तब रात्रिमें श्रीजानकीजीको ढूंढ़ते हुए उन्हें विभीषणका घर दीख पड़ा। उसके घरकी दीवालों पर चारों ओर भगवान्के मङ्गलमय—नाम सुन्दर अक्षरोंमें अंकित थे। हनुमान्जी आश्चर्यमें पड़ गये कि—राक्षसोंकी इस नगरीमें यह भगवद्भक्तके जैसा घर किसका है? वहाँ विभीषणजीसे मिलाप हुआ। श्रीहनुमान्जीने अपना परिचय दिया। उस समय विभीषणजी बहुत प्रसन्न हुए और कहने लगे कि—

'अब मोहि भा भरोस हनुमन्ता।
बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं सन्ता।

हे हनुमानजी! अब मुझे प्रभु—श्रीरामके मिलनेका दृढ भरोसा हो गया है। क्योंकि—श्रीहरिकी कृपाके विना सन्तका मिलाप नहीं होता। अर्थात् हरिकृपा होने पर ही आप जैसे सन्तोंका दर्शन होता है।

साधु-स्वभाव विभीषण अपने बडे भाई रावणको बारबार समझा-कर यही शिक्षा देता रहा था कि—

काम क्रोध मद लोभ सब, नाथ ! नरकके पन्थ ।
सब परिहरि रघुबीरहिं भजहु, भजहिं जेहि सन्त ॥

देहु नाथ! प्रभु कहँ बैदेही, भजहु राम सब भाँति सनेही ।
ताहि बयरु तजि नाइय माथा, प्रनतारति-भंजन रघुनाथा ॥

हे लंकाके नाथ ! काम, क्रोध, मद एवं लोभ, ये सब नरकके मार्ग हैं, इनका परित्याग कर तू भगवान् श्रीराघवेन्द्रका भजनकर । जिनका भजन बडे-बडे सन्तजन भी करते रहते हैं । हे लंकेश ! प्रभु रामको विदेहकुमारी सीता दे आ । सभी प्रकारसे स्नेहके साथ रामका भजन कर । श्रीरामसे वैरका त्याग कर और अहंकार छोडकर उनके समक्ष मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणामकर । रघुनाथजी प्रणतोंके दुःखोंके विध्वंसक हैं ।

परन्तु दुष्ट-रावणके शिर पर काल नाच रहा था, उसका विनाश-काल उपस्थित था, इसलिए उसे ऐसी हितकारी शिक्षा अच्छी नहीं लगी । भरी सभामें क्रुद्ध होकर रावणने विभीषणका अपमान कर लातें मारकर लङ्कासे निकलजानेकी आज्ञा दी । विभीषण आकाशमार्गसे भगवान् श्रीरामके पास पहुँचनेके लिए चल पडा । वहाँ पहुँचकर विभीषणने श्रीरामको अपने परिचयके साथ स्वशरणागति लाभके लिए संदेश पहुँचाया । जब सुग्रीवने कुछ शंकाएँ कीं और शरण देनेमें कुछ आपत्तियाँ उठाईं, तब शरणागतवत्सल प्रभु श्रीरामने कहा—

'सकृदेव प्रपन्नाय, तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥
(वा. रा. ६ । १८ । ३३)

जो व्यक्ति एकबार भी शरणागत होकर कहता है कि-हे प्रभो! मैं तुम्हारा हूँ, उसे मैं सम्पूर्ण-प्राणियोंसे अभय कर देता हूँ, यह मेरा व्रत है ।

प्रभुकी आज्ञासे हनुमान्‌जी तथा अंगद बडे आदरसे विभीषणको प्रभुके समीप ले गये । राघवेन्द्र-भगवान्‌की वह जटामुकुटधारी दूर्वादल-श्यामल-शरीर-की अनुपम-दिव्य-शोभा देखकर विभीषणके नेत्र निहाल होगये । भूमि पर प्रणाम कर वे चरणों पर गिर पडे । श्रीराम उस समय झपट कर उठे और विभीषणको उठाकर उन्होंने हृदयसे लगा लिया । उसी दिन सर्वेश्वर श्रीरामने विभीषणके हृदयकी चाहना जानकर अपने कर-कमलोंसे सागरके जलसे विभीषणको लङ्काके राज्यासन पर अभिषिक्त कर दिया । और तबसे उसे 'लङ्केश' ही कहकर भगवान् पुकारने लगे । युद्धमें राक्षसोंके सहित रावण मारा गया, और भगवान् श्रीरामने लंकाका राज्य विभीषणको सुपूर्द कर दिया ।

वानरराज सुग्रीव भी भगवान् श्रीरामका सखा एवं अर्थार्थी भक्त था । बडे भाई वालिने उसका राज्य, स्त्री, धन आदि सब कुछ छीन लिया, और वह सुग्रीवको जानसे मारनेके लिए दौडा । वह अपनी प्राणरक्षाके लिए भागा । अपने-हनुमान् आदि कुछ मन्त्रियोंके साथ ऋष्यमूक पर्वत पर रहने लगा । विमल-यश सुनकर सुग्रीवका भगवान्‌में स्नेह हो गया । और वह भगवान्‌के आगमनकी रात्रि-दिन प्रतीक्षा

करने लगा। अन्तर्यामी भगवान् राम भी सुग्रीवको खोजते हुए ऋष्यमूक पर्वत पर आये। सुग्रीवने दूरसे ही श्रीराम एवं लक्ष्मणको देखकर हनुमानजीको भेजा। हनुमानजी उन्हें आदरपूर्वक ले आये। अग्निको साक्षी करके दोनोंमें मित्रता हुई। सुग्रीवने अपना सब दुःख भगवान्को सुनाया, और वापस राज्यलाभकी अभिलाषा बतलाई। भगवान्ने सुग्रीवको अपना प्रभाव दिखाकर वालिको मारकर राज्यलाभका विश्वास दिलाया। सुग्रीवको विश्वास होगया कि—श्रीराम वालिको अवश्य मार देंगे। अतः सुग्रीवको लेकर श्रीराम—वालिके यहाँ गये। वालि लडने आया, दोनों भाइयोंमें बडा युद्ध हुआ। अन्तमें श्रीरामने एक ऐसा बाण तककर—सात ताडोंका भेदन कर—वालिको मारा कि—वह मर गया। वालिके मरने पर भगवान्ने सुग्रीवको राजा बनाया, और वालिपुत्र अंगद को युवराज पद दिया गया। तदनन्तर सुग्रीव ने हनुमानजीके द्वारा श्री सीताजीकी खोज कराई। और श्रीरामजीके साथ असंख्य वानरी-सेना लेकर लंका पर चढ गया। संग्राममें उसने बडा पराक्रम दिखाया, और रावणके नाशके लिए श्रीरामकी बडी सहायता की। लंका विजयके बाद श्रीरामजीके साथ सुग्रीव अयोध्या गये। श्रीरामने इन्हें थोडे दिन अवधपुरीमें रखकर विदा कर दिया। विदा होते समय भगवान्से सुग्रीवने यही वरदान मांगा था—

'त्वत्पादपद्मार्पितचित्तवृत्तिस्त्वन्नामसङ्गीतकथासु वाणी।
त्वद्भक्तसेवानिरतौ करौ मे, त्वदङ्गसङ्गं लभतां मदङ्गम्॥

त्वन्मूर्तिभक्तान् स्वगुरुं च चक्षुः पश्यत्वजस्रं स शृणोतु कर्णः।
त्वज्जन्मकर्माणि च पादयुग्मं व्रजत्वजस्रं तव मन्दिराणि॥

हे प्रभो ! मेरी चित्तवृत्ति सदा आपके चरणकमलोंमें लगी रहे । मेरी वाणी सदा आपके पावन-नामोंका सुगान करती रहे । हाथ आपके भक्तोंकी सेवामें लगे रहें । और मेरा शरीर (आपके पादस्पर्श आदिके मिससे) सदा आपके दिव्य-सौन्दर्य-सौकोमार्य-धाम अंगोंका संग करता रहे । मेरे-नेत्र सदा आपकी अनुपम–शोभाधाम–दिव्यमूर्तिका, आपके भक्तोंका एवं अपने गुरुका दर्शन करते रहें । कान निरन्तर आपके दिव्य जन्म–कर्मोंकी कथा सुनते रहें । और मेरे पैर सदा आपके पावन–मन्दिरोंकी ही यात्रा करते रहें।

इसप्रकार राज्यादि–अर्थलाभके साथ भगवान्‌की भक्ति करने वाले अर्थार्थी–भक्त–सुग्रीवका समस्त जीवन रामकाज एवं राम स्मरणमें ही व्यतीत हुआ।

चतुर्थ ज्ञानी भक्त है, वह सर्वथा निष्काम है। प्रत्यगभिन्न–ब्रह्म-तत्त्वका साक्षात्कार ज्ञान है, ऐसे ज्ञानमें नित्य–रत होनेसे वह ज्ञानवान् कहा जाता है। वह भगवत्तत्वसे अतिरिक्त किसी भी पदार्थका देखना ही नहीं चाहता, न उसे सत्य–रूपसे मानना ही है । इसलिए उसकी समस्त–कामनाएँ निवृत्त हो गयी हैं । '**ज्ञानी च मे**' इत्यत्रका चकार निष्काम-प्रेमी भक्तका भी ज्ञानीमें ही अन्तर्भाव समझानेके लिए है । ज्ञानी कभी भक्तिशून्य नहीं होता, और सच्चा-प्रेमी भक्त कभी अज्ञानी नहीं रहता । इसलिए भगवान्‌ने ज्ञानवान्‌की भक्तोंमें श्रेष्ठ–रूपसे गणना की है । ज्ञान चक्षुके समान है । अतः ज्ञान–विहीन भक्ति अंधी है । अंधापन कभी खड्डेमें भी गिरा सकता है । और भक्ति विनाका ज्ञान शुष्क भाररूप एवं लंगडा है । लंगडा मानव जिस प्रकार चल नहीं

सकता, इसप्रकार भक्ति विनाका ज्ञान कल्याण मार्गमें आगे बढने नहीं देता। इसलिए हमारे सभी शास्त्रोंमें ज्ञान एवं भक्तिका तादात्म्य-संबन्ध माना है। ज्ञानसे भक्तिमें निर्मलता सिद्ध होती है, और भक्तिसे ज्ञानमें तन्मयता सिद्ध होती है। इसप्रकार ज्ञान एवं भक्तिमें परस्पर पोष्य-पोषकता देखी जाती है। अत एव महात्मा तुलसीदासने कहा है कि—

'ज्ञानहि भक्ति-हि नहि कछु भेदा।
उभय हरहि भव-संभव-खेदा॥'

ज्ञानका स्थूल अर्थ है—जानना, तथा भक्तिका मानना। जाने विना हम किसीको भी मानना नहीं चाहते। जब जानते हैं, तभी ही मानने लग जाते हैं। कल्पना करो कि—आपके घरमें एक सच्चे हीरेका कीमती पत्थर पड़ा है। आप उसे असली-रूपमें नहीं जानते, इसलिए आपने नितान्त हेय समझकर उसकी उपेक्षा कर रक्खो है। वह इधर उधर पड़ा हुआ है। आप उससे प्रेम एवं उसका समादर नहीं करते। विपरीत समझते हैं कि—यह कोई विना-कीमतका सामान्य पत्थर है। खांनसे निकला हुआ विना पालिसका हीरा-पत्थर जैसा मैला-सा ही दीखता है। जब आपके घरमें कोई हीराका परीक्षक जौहरी आता है। और उस पत्थरको उठाकर देखता है। उसका असली स्वरूप तथा कीमत चार लाखकी बतलाता है। और पालिश कर उसके प्रोज्वलरूपका दर्शन कराता है। तब आप उसके असली स्वरूपको जान जाते हैं। उसी समय आपका उसमें दृढ-प्रेम होजाता है। उसका बहुत आदर एवं सन्मान करने लग जाते हैं। उसके लिए चांदीकी नहीं सुवर्णकी बढिया डब्बी बना देते हैं। बीचमें मखमलके गद्दे बिछा देते हैं, उसमें रखकर

उसे खास कमरेकी तिजोरीके अन्दर गुप्त खानेमें छिपाकर रखते हैं। प्रेमवश खाते पीते चलते फिरते सभी समय उसकी सुखद स्मृति रखते हैं। बार बार डब्बी खोलकर उसे प्यार-भरे-नेत्रोंसे देखकर प्रसन्न एवं आनन्द विभोर होजाते हैं। ऐसा क्यों हुआ? जब आपने उसे वास्तविक-रूपसे जाना। जाने विना न उसमें प्रेम था, न उसकी अखण्ड-स्मृति ही थी। यह तो एक दृष्टान्त है सिद्धान्त समझनेके लिए। सिद्धान्तमें हीरा है--भगवत्तत्त्व। जबतक उसे शास्त्र एवं गुरुके सहकारसे यथार्थ रूपसे नहीं जानते, तबतक आप नहीं मानते। यथार्थ-रूपसे जान लेने पर ही उसमें परम-प्रेमकी सिद्धि होती है। और दृढ-प्रेमके विना उस ज्ञेय-तत्त्वकी ध्रुवा-स्मृति किसीको भी नहीं होती। ध्रुवा-स्मृतिके विना ज्ञेय तत्त्वका साक्षात्कार-जो वास्तविक ज्ञान है-उसकी सिद्धि नहीं होती। इसप्रकार ज्ञान एवं भक्ति तादात्म्यापन्न होकर स्वस्वरूपावस्थानरूप ब्रह्मनिर्वाण-पदके समर्पक हो जाते हैं। इसलिए ज्ञानी भी भक्त ही है।

ऐसे ज्ञानी भक्त सनकादि, शुक, प्रह्लाद, नारद, पृथु आदि बहुत ही हो गये हैं। इसलिए भगवान्‌ने कहा है-'**बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः।**' (गी. ४। १०) बहुतसे मानव ज्ञानरूप-तपसे पवित्र हुए मेरे स्वरूपको प्राप्त हो चुके हैं। ऐसे ज्ञानवान् जीवन्मुक्त महापुरुष किसी कारणके विना ही भगवान्‌की भक्ति करते रहते हैं। क्योंकि-उनका भक्तिमय ही स्वभाव हो गया है। अतः श्रीमद्भागवतमें कहा है—

'आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥'
(१।७।१०)

जो आत्माराम, आप्तकाम, मायाके समस्त बन्धनोंसे मुक्त मुनिगण हैं, वे भी आत्मस्वरूप-भगवान्में निष्काम-भक्ति रखते हैं, बिना किसी कारणके ही भगवान्से अनन्य प्रेम करना, उनकी आदत-जो छुडाने पर भी नही छूटती-पड गयी है। और भगवान्के मङ्गलमय-पावन गुण ही ऐसे आकर्षक हैं कि-वे ज्ञानवान् भी भगवान्से प्रेम किये बिना नहीं रह सकते।

आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी एवं ज्ञानी ऐसा क्रम बतलानेका भगवदीय तात्पर्य अवश्य ही कुछ होगा। विचार करने पर ऐसा निश्चय होता है कि-श्रीभगवान्ने आर्त एवं अर्थार्थीके मध्यमें जिज्ञासुको इसलिए रक्खा है कि-आर्त एवं अर्थार्थी एक-प्रकारसे जिज्ञासु भी हैं, एवं जिज्ञासु-आर्त एवं अर्थार्थी भी हैं। क्योंकि-जिज्ञासुमें आर्तत्व एवं अर्थार्थित्व दोनों धर्म देखनेमें आते हैं। वह जन्म-मरणादि-भव दुःखसे दुःखी है-आर्त है। इसलिए वह जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख-दोषानुदर्शन द्वारा संसारसे-उपरत होकर जिज्ञासु बना है। और वह परम-अर्थ-परमात्मतत्त्व प्राप्तिकी इच्छा भी रखता है, इसलिए वह एक-प्रकारसे अर्थार्थी भी है। इसप्रकार आर्त एवं अर्थार्थी भक्तोंमें आर्तिनाशकी इच्छा तथा अन्य पदार्थोंकी कामनाओंके साथ मुक्तिकी भी कामना रहती है। इसलिए-उन दोनोंमें जिज्ञासुत्व भी रहजाता है। विवेक-विचार द्वारा सांसारिक-कामनाओंको कष्टदायक समझकर पश्चाद् वे विशुद्ध-जिज्ञासु बनकर ज्ञानवान् भी बन जाते हैं। इसलिए श्रीभगवान्ने अपने चतुर्विध-भक्तजनोंका पूर्वोक्त क्रम ठीक ही रक्खा है; वह इसप्रकारके विशेष तात्पर्यकी सूचना देता है। अतः वह क्रम अपरिवर्तनीय एवं

यथार्थ है।

श्रीमद्भागवतमें आर्तादि-चतुर्विध भक्तोंका विलक्षण—ढंगसे इसप्रकार उल्लेख किया है कि—

'अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥'
(२।३।१०)

कामनाहीन हो अथवा सर्व-कामनाओं वाला हो, या मोक्षकामी हो, बुद्धिमान् पुरुषको चाहिए कि—तीव्र भक्तियोगसे परम-पुरुष भगवान्का भजन करे। यहाँ अकाम, ज्ञानवान् भक्त है, सर्वकामवाला, आर्त एवं अर्थार्थी भक्त है, और मोक्षकामवाला जिज्ञासुभक्त है। ॐ तत्सत्।

(१७)

'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तः, एक—भक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थ—महं स च मम प्रियः॥'
(७।१७)

उन चार—प्रकारके भक्तजनोंमें भी मुझ परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित हुआ, अनन्य-प्रेम भक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है। क्योंकि—मेरेको तत्त्वसे जानने वाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ, और वह ज्ञानी मेरेको अत्यन्त प्रिय है।

आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्ण अपने ज्ञानी भक्तकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि—ज्ञानवान् इसलिए सर्वोत्तम एवं प्रशंसनीय भक्त है कि—वह नित्ययुक्त है, तथा एकभक्ति है। जो नामरूपात्मक असार—मिथ्या द्वैत—प्रपञ्चको सर्वथा भूलकर उसकी उपेक्षा कर नित्य-निरन्तर सच्चित्-सुख-अद्वय-पूर्ण-विश्वात्मा भगवान्में ही अनन्य—भावसे अवस्थित हो

जाता है, उसे नित्ययुक्त कहते हैं। अज्ञानी-मूढ–मानवकी चित्तवृत्तियाँ मिथ्या–संसारके आरोपित–नाम–रूपोंमें ही फँसी रहती हैं, वह उनका ही सतत चिन्तन करता रहता है, इससे वह अनेक प्रकारके मोह एवं शोकका अनुभव कर विक्षिप्त बना रहता है। परन्तु ज्ञानवान् अपनी चित्तवृत्तियोंको वैराग्यके द्वारा उनसे हटाकर ब्रह्माभ्यास द्वारा अद्वयात्मा-आनन्द-निधिमें स्थापित करता है। इसलिए वह सदा आनन्दमग्न बना रहता है। किसी भी पदार्थसे वैराग्य यानी रागका अभाव तभी होता है, जब उसमें उत्कट दोषका दर्शन हो। उत्कट–दोष–दर्शनके विना उससे राग कभी नहीं छूटता। कृष्ण-सर्प अतिकोमल एवं स्निग्ध होता है, परन्तु हम उसका नाम सुनते ही तुरन्त भड़क उठते हैं, भयसे कांपने लगते हैं, इसलिए कि–उसमें प्रबल–दोष-दर्शन है। समझते हैं कि–यह देखनेमें श्यामसुन्दर होने पर भी विषधर है। उसके विषकी एक लघु बिन्दु भी यदि हमारे शरीरमें घुस गई, तो हम समाप्त हो जायेंगे। हमारा सारा जीवन धूलमें मिल जायगा। इसलिए उसका स्पर्श करना तो दूर रहा, परन्तु देखना भी हम पसन्द नहीं करते। इस प्रकार कोई कोई विषैले फल देखनेमें अति सुन्दर होते हैं, अनजान सोचता है–यह खानेमें बहुत ही मधुर होगा। परन्तु जब किसीके द्वारा उसके विषैलेपनका ज्ञान हो जाता है, तब वह उसको छूना भी पसन्द नहीं करता। कई दिनका भूखा मनुष्य भी उसे नहीं खायेगा। क्योंकि –वह समझ गया है कि–इसके भक्षणसे मुझे सदाके लिए निश्चेष्ट होकर धराशायी बन जाना पड़ेगा। इस प्रकार प्रबल–दोष–दर्शन राग-निवृतिका एवं उपरतिका संपादक होता है। ज्ञानवान्का भी द्वैत-प्रपञ्चमें

प्रबल दोष दर्शन है, वह निश्चित-रूपसे समझता है कि-यह द्वैत प्रपञ्च वास्तविक नहीं, अविद्याका आरोपमात्र है, अत एव यह प्राक् अदृष्ट, मध्यमें दृष्ट एवं पश्चात् नष्ट-स्वभाव है। इसलिए वह अपनी तमाम चित्तवृत्तियाँ इस मिथ्या प्रपञ्चसे हटाकर एक-मात्र आनन्द-पूर्ण परमात्मामें ही लगा देता है। अत एव वह 'एकभक्ति' हो जाता है। उस एक-अद्वय-अविनाशी तत्त्वमें ही उसका अविरल-प्रेम तथा तन्मयता बनी रहती है। सर्वत्र एवं सभी-समय उसे सब कुछ परमात्म-स्वरूप ही दीखता है, जिसकी समुदार-पवित्र-दृष्टिमें एकमात्र अद्वय-आनन्दरूप परमात्मा ही समा गया है, इसलिए वह विश्वमें भगवत्तत्त्वसे अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं देखता। उसे वही भगवत्तत्त्व-परमश्रेष्ठ एवं परमप्रिय हो गया है, इसलिए वह उसको ही देखता है, सुनता है, जानता है एवं मानता है। उसीमें ही सदा तल्लीन रहता है। इस प्रकारकी एक-भक्तिसे अर्थात्-एक-मात्र सत्य परब्रह्मकी निष्ठासे उसकी अन्यासक्ति एवं अन्यकाङ्क्षाएँ सदाके लिए निवृत्त हो जाती हैं। अत एव श्री भगवान्ने गीतामें अपने भक्तके ऐसे ही लक्षण बतलाये हैं—

यो न हृष्यति, न द्वेष्टि, न शोचति, न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी, भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥
(१२। १७)

जो न कभी हर्षित होता है। क्योंकि-इष्टलाभसे हर्ष होता है, वह भगवान्से अतिरिक्त किसी भी पदार्थको इष्ट ही नहीं मानता, इसलिये उसको अन्य किसीसे हर्ष नहीं होता। न द्वेष करता है, क्योंकि-द्वेष अप्रिय-पदार्थसे होता है, विश्वमें उसकी दृष्टिमें कोई अप्रिय पदार्थ

ही नहीं रहा। सर्वत्र अनेक-रूपोंसे प्रिय-भगवान् ही उसे दर्शन दे रहे हैं। ऐसी निष्ठावान्को द्वेष भी क्यों होगा ?। न शोक करता है, शोक प्रिय-वियोगसे होता है, प्रिय-भगवान्का कभी वियोग होता ही नहीं, तदतिरिक्त किसी भी पदार्थका वह अस्तित्व ही नहीं मानता। जब अस्तित्व ही उसका नहीं, तब उसमें उसकी प्रियता क्यों होगी ?। इसलिए वह सर्वथा शोकरहित हो जाता है। तथा वह न किसीकी कामना करता है। भगवदतिरिक्त-काम्यमान पदार्थ ही नहीं है, इस-लिए वह सर्वथा अकाम बन जाता है। शुभाशुभ-अर्थात् इष्टानिष्ट-द्वन्द्वका सर्वथा परित्याग कर निर्द्वन्द्व-मस्त-विशुद्ध-आनन्दमग्न जो बना रहता है, वह भक्तिमान्-ज्ञानवान् मुझे अतिप्रिय है।

उसकी एक में ही भक्ति है, समस्त-प्राणियोंमें एक ही परमात्मा अनेक-रूपोंसे प्रतिभासित हो रहा है। ऐसा उसका निर्बाध-अनुभव है। भक्तप्रवर-नरसिंह-महेताका भी यही अनुभव था—

'अखिल-ब्रह्माण्डमां एक तू श्रीहरि,
जुजवे (अनेक) रूपसे तूही भासे।
घाट घड्या पछी, नामरूप जुजवां,
अन्ते तो हेमनु हेम होये।
जहाँ लगी आतमा तत्त्व चिन्यो नहीं,
तहाँ लगी साधना सर्व झूठी।

जो श्रीहरि भगवान् है, वही सर्वात्मा है, वह मैं ही हूँ, मुझसे भिन्न नहीं। श्रीमद्भागवत भी यही कहता है—'प्रत्यक् चकास्ति भगवां-स्तमवेहि सोऽस्मि।' (४।२२।२७) भगवान् श्रीहरि इस कार्य-

करण-संघातमें प्रत्यगात्मारूपसे प्रकाशित हो रहा हैं। प्रति-अञ्चति-असज्जडदुःखरूपदेहादिभ्यः प्रातिकूल्येन सच्चिदानन्दरूपेण प्रकाशत इति प्रत्यक्। प्रति अर्थात् प्रतिकूल, यानी असत् जड एवं दुःखरूप देहादि-अनात्मवर्गसे जो विपरीत सत्-चित्-आनन्दरूपसे प्रकाशित होता है, वह प्रत्यक् है। वही भगवान् हैं। वह प्रत्यगात्मा भगवान् 'मैं ही हूँ' ऐसा तू जान, निश्चय रख, भावना कर और उस एक-अद्वय तत्त्वमें तन्मय हो जा।

एक यानी अभेद, भिन्न नहीं, अन्य नहीं, अनन्य। परमात्मा ही मेरा आत्मा है, अभिन्न स्वरूप है। अपने ऊपर सभीको अव्यभिचारी प्रेम हुए विना नहीं रहता, होता क्या? है ही, आत्माका प्रेम स्वतः सिद्ध होता है। इसलिए ज्ञानवान्का सबमें निःस्वार्थ, निर्मल एकरस प्रेम होता है। सभी प्राणियोंमें-समस्त-आरोपित-नामरूपोंमें वही सच्चित्सुखात्मक-अभिन्न-अखण्ड, रस भरा हुआ है। उसी दिव्य-पूर्ण मधुर-रसका सतत पान कर वह सदाके लिए मस्त होजाता है, प्रसिद्ध तत्त्वमसि महावाक्य भी उस एकका ही बोधन करता है। जीवत्व-ईश्वरत्वका कल्पित-भेद हटाकर एक-अभिन्न तत्त्वका ही निश्चय कराता है। इसलिए संक्षेप शारीरकाचार्य-सर्वज्ञात्ममुनिने स्पष्टतः तत्त्वं-पदार्थोंके अभिन्न लक्ष्यका इसप्रकार उपदेश किया है कि—

'अस्थूलादिवचोनिरस्तनिखिलद्वैतप्रपञ्चं परं,
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिवर्जितमिदं प्रत्यक् स्वरूपं तथा।

एकीकृत्य परस्परेण पदयोरर्थद्वयं तत्त्वतः,
प्रत्यक् चाद्वयमद्वयं च तदिति प्रेक्षस्व निःसंशयम्॥

अद्वैतं परिशोधितं भगवतो विष्णोः परं यत्पदं,
तच्छन्देन समर्पितं परिगृहीतादेयमात्मप्रभम् ।
यच्चोपाधिविवर्जितं तव निजं साक्षात्स्वरूपं तयो-
रेकत्वं परिवर्जितव्यवधिकं प्रत्यक्षमीक्षस्व भो ! ॥'

अनृतजडविभक्तदुःखतुच्छासहनवपुः परमं पदं मुरारेः ।
परिहृतसकलप्रपञ्चमात्मा, तव तदवेहि तमो निरस्य वाक्यात् ॥
(१।२६४-२६५-२६६)

'अस्थूलमनणु' (बृ० ३।८।८) इत्यादिश्रुति--वचनद्वारा द्वैत--प्रपञ्चका निवारण करने पर परमात्मा अद्वैत--स्वरूप सिद्ध होजाता है। तथा तुरीय--दशामें प्रत्यगात्माका यह साक्षात् स्वरूप; जाग्रत--स्वप्न एवं सुषुप्तिरूप उपाधित्रयसे वर्जित अनुभूत होजाता है। 'तत्त्व-मसि' (छां० ६।१२।१) इस महावाक्यके तत्पद एवं त्वंपदके अर्थद्वय परमात्मा एवं प्रत्यगात्माका तात्त्विक- स्वरूप परस्पर एक--अभिन्नकर संदेहरहित होकर हे मुमुक्षु! 'प्रत्यक् आत्मा ही अद्वय ब्रह्म है, और अद्वय ब्रह्म ही प्रत्यग्--आत्मा है' ऐसा तू दृढ निश्चय एवं सतत-अनुसन्धान कर। अभेद--तत्त्वका साक्षात् अनुभव कर! भगवान् विष्णुका 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१।१) इत्यादि--श्रुति द्वारा परिशोधित जो परम पद है, वह अद्वैत स्वरूप है। वही 'तत्त्वमसि'के तत्पद द्वारा समर्पित है। वही स्वयंप्रभ--उपादेय शुद्ध--स्वरूप है। और शरीरादि-उपाधिसे रहित जो तेरा अपना साक्षा-त्स्वरूप है। भो जिज्ञासो! उन दोनों स्वरूपोंके एकत्वका अर्थात् विद्या द्वारा आविद्यक--काल्पनिक परस्पर भेदका निवारणकर पारमार्थिक--

अत्यन्त-अभेदका प्रत्यक्ष अनुभव कर। मुरारि-भगवान् विष्णुका परमपद, अनृत (मिथ्या) जड, विभक्त (परिच्छिन्न) दुःख एवं तुच्छरूप द्वैतका सहन नहीं करनेवाला महान्—पूर्ण-अद्वय स्वरूप है। उसमें विचार द्वारा सकल-प्रपञ्चका परिहार होजाता है। वही तेरा आत्मा है, उसे तू महावाक्यद्वारा अज्ञान हटाकर जान। अर्थात् वह तू है, और तू वह है, ऐसे एकत्वका निश्चय कर।

वह एकत्वका निश्चय एवं अनुसन्धान द्वारा उसमें तन्मय होकर उसके महान्-दिव्य विशुद्ध—अद्वय—आनन्दका सतत उपभोग करता रहता है। जितना जितना उपभोग बढ़ता जायगा; उतना उतना द्वैत-भावका त्याग भी बढता जायगा। इसलिए ईशावास्य-श्रुतिने कहा है—'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' अर्थात् त्याग—वैराग्यसे अद्वयानन्दके उपभोगकी सिद्धि, एवं उपभोगसे त्यागकी वृद्धि होती जाती है। जबतक उत्कृष्ट सरसभोगका लाभ न हो; तबतक तुच्छ—विरस—भोगका त्याग कोई कर नहीं सकता। मनुष्य अपनी टूटी फूटी मैली-झोंपड़ी तभी छोड़ता है; जब उसे उससे भी उत्तम मकान मिल जाय। चित्तका स्वभाव है कि—वह उत्कृष्ट—वस्तुकी प्राप्तिके विना निकृष्ट वस्तुको नहीं छोड़ता। गरीब स्त्रियोंको जबतक सुवर्णके उत्तम आभूषण नहीं मिलते, तबतक वे चांदीके ही निकृष्ट आभूषण पहिने रहती हैं। सुवर्णके आभूषण मिलने पर वे तुरन्त ही रजताभरण छोड देती हैं। सुवर्णसे भी उत्कृष्ट हीरोंके आभूषण उन्हें यदि मिल जाँय तो वे सुवर्णके आभूषणोंको भी तत्काल दे डालेंगीं। इसप्रकार मानवका चित्त जब उत्तम-अद्वय-ब्रह्मका आनन्द प्राप्त कर लेता है, तब वह निरस, तुच्छ, वैषयिक—आनन्दका स्वतः

ही परित्याग कर देता है। उस महान् आनन्दके लाभमें अन्तराय डालने वाले सभी-नामरूपात्मक-मिथ्या भावोंको तुरन्त ही छोड देता है। उनको छोडे विना महान् आनन्दका लाभ नहीं होता, इसलिए त्याग ही पूर्ण आनन्दभोगका समर्पक होता है। यह बात श्रुति—प्रमाणसे तथा ज्ञानवान्के अपने अनुभवसे भी सिद्ध होती है।

दृश्य अनेक हैं, पृथक् पृथक् हैं, वे सब एक—द्रष्टामें आरोपित हैं, उनका मिथ्या प्रतिभासमात्र है। इसलिए ज्ञानवान् उस एकको ही सर्वत्र देखता है, आरोपित-दृश्योंको देखता हुआ भी नहीं देखता। इस-लिए उसकी एक—अधिष्ठान तत्त्वमें ही भक्ति है, दृढ-प्रेम है। अत एव वह उसी एकमें ही नित्य-युक्त है। अर्थात् उसकी तमाम—चित्तवृतियाँ उस एककी तरफ ही लगी हुई हैं, वह उसीको ही देखता है, उसीको ही सुनता है, उसीको ही चखता है, उसीका ही स्पर्श करता है, उसीको ही सूंघता है। उसीमें ही सोता है, उसीमें ही जागता है, उसीमें ही घूमता है, बस वही एकमात्र द्रष्टव्य है, श्रोतव्य है, रसयितव्य है, वह वस्तुतः निर्विषय होने पर भी उसकी सभी वृत्तियोंका विषय बन जाता है। अवेद्य होने पर भी सर्वप्रत्ययवेद्य बन जाता है। इस प्रकार उस एकमें होनेवाली उसकी नित्ययुक्तता, अनेक-युक्तताका प्रतिषेध कर डालती है। एकभक्ति, अनेकभक्तियोंकी व्यावृत्ति कर देती हैं। दृश्यमान अनेकता विकल्पमात्र है। विकल्प वस्तुशून्य होता है। पातञ्जल-योग-शास्त्रमें कहा है—'**शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः।**'(१।९) अर्थात् विकल्प वह कहलाता है कि—जिसके व्यवहारके लिए शब्द प्रयुक्त होते हैं, शब्दजन्य—तद्विषयक ज्ञान भी हो जाता है। परन्तु

उसके अर्थका अन्वेषण करने पर अर्थ गायब हो जाता है । इस विषयको आप एक दृष्टान्त द्वारा समझें-—

एक वीतराग ज्ञानी-महात्मा गंगाके पावन-तट पर ही विचरते थे। गंगा-तट छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जाते थे। गंगाजल-पान एवं गंगाजल स्नान ही करते थे। गंगाजल—निर्मित ही भोजन पाते थे। कभी कभी गंगातट पर ही अच्छा शान्त-स्थान मिल जाने पर वहाँ ही चार छः मास टिक जाते थे। एक बार वे एक स्थानसे अन्यत्र कहीं जा रहे थे। उनको रास्तेमें एक पूर्व-परिचित सत्संगी भक्त मिला, भक्त भी विवेक-विचार-वान् एवं वेदान्तका स्वाध्यायी था। उन महात्माजीको अकस्मात् कई वर्षोंके बाद देखकर भक्त बहुत ही आह्लादित हुआ। उसने प्रेमसे चरणोंमें मस्तक झुकाकर प्रणाम किया, कुशल-क्षेम पूछनेके बाद भक्तने कहा—महाराज ! आपने बहुत दिनोंमें दर्शन दिये हैं, अतः कुछ दिनके लिए मेरे समीपस्थ ग्राममें ही पधारिये। गंगातट पर ही निवासके लिए एकान्तमें कुटियाँ बनी हैं। उनमें आनन्दसे निवास करें। एवं हम भक्तोंको सत्संगका एवं सेवाका अलभ्य लाभ देकर आनन्दित करें। मेरी यह प्रार्थना आपको स्वीकार करनी ही होगी। महात्माजीने भी भक्तकी प्रार्थना स्वीकार करते हुए कहा—अच्छी बात है, चलें, आपके ही ग्राम सही, भक्तने कहा—भगवन् ! आप बहुत दूरसे आरहे हैं, थक गये होंगे। सामने यह मेरी गाडी जा रही है, कृपया आप इसपर बैठ जाइये। महात्माने कहा—हाँ यह शरीर थका हुआ तो अवश्य है। तब तुरन्त ही भक्तने कहा—कृपानिधानजी ! मेरी गाड़ी बड़ी अच्छी है, आपके श्रीचरणोंके साथ गाडी पर मैं भी बैठ जाऊंगा। और गाडीमें बैठे बैठे

आपके मुखारविन्दसे कुछ ब्रह्मचर्चा भी मुझे सुननेको मिलेगी। वाह ! आज कैसा अच्छा सद्भाग्य है। जिससे सन्तका मिलाप हुआ। जिस प्रकार प्यासेको मधुर-शीतल-जल मिल जाय।

महात्माजीने सोचा—यह वेदान्त-रसिक भक्त गाडीमें बैठने पर ही ब्रह्मचर्चा सुनना चाहता है। उसको अभीसे ही ब्रह्मचर्चा क्यों न सुनाई जाय ?। 'शुभस्य शीघ्रं कर्तव्यं' शुभ—कार्यमें एक क्षणका भी विलम्ब करना उचित नहीं। तुरन्त दानं महापुण्यं। ऐसा सोचकर महात्माने विनोदमयी—भाषा द्वारा कहा-भक्तराज ! आप कह रहे हैं कि—सामने गाड़ी जा रही है, उसमें बैठ जाइये। परन्तु मुझे तुम्हारी गाड़ी तो नहीं दीखती है। कहाँ है तुम्हारी गाड़ी ?। आश्चर्यके साथ भक्तने कहा—क्या बात है—महाराज ! सामने ही तो गाड़ी है, आपको क्यों नहीं दीखती, क्या आपकी आँखें कमजोर हैं, इनमें कुछ धुंधलापन तो नहीं छा गया। प्रेमपूर्ण-विनोदसे हँसते हुए महात्माजीने कहा—नहीं—नहीं मेरी आँखें बिल्कुल अच्छी हैं; परन्तु मुझे अपनी अच्छी आँखोंसे भी गाडी नहीं दीख रही है। तुम्हें क्या गाडी दीख रही है ?। भक्तने शीघ्रतासे कहा—हाँ—हाँ महाराज ! मुझे मेरी गाड़ी दीख रही है। बहुत समीप, सामने ही खड़ी है। महात्माने कहा यदि सामने खडी हुई गाड़ी न मिले तो ?। भक्तने कहा -क्यों नहीं मिलेगी। सामने प्रत्यक्ष ही है। महात्माने कहा-तुम तो 'है' कह रहे हो, परन्तु मैं 'नहीं है' कह रहा हूँ। भक्तने अपनी बात पर जोर देते हुए कहा—यदि गाड़ी है, ऐसी मेरी बात सिद्ध न हो तो मेरे मुँहपर कृपया दो चार तमाचे लगा देना।

महात्माजीने कहा—चलो मुझे अपनी गाड़ी दिखाओ, कहाँ है वह तुम्हारी प्रत्यक्ष गाडी ?। भक्त महात्माजीको गाडीके समीप ले गया। और पहिये पर हाथ रखकर कहने लगा—यह है गाडी। महात्माजीने तुरन्त ही कहा—यह तो पहिया है, गाडी दिखलायें। पश्चात् भक्त जुये पर हाथ रखकर कहने लगा—यह गाडी है। महात्माने कहा—यह तो बैलोंके कन्धे पर रहने वाला जुआ (घूमर) है। इसप्रकार भक्तने गाडीके जिस जिस अवयव पर हाथ रखकर गाडी बतलानेका प्रयत्न किया, महात्माजीने उस उस अवयवका नाम लेकर गाडीको गायब कर दिया। भक्त विचारमें पड गया। लज्जित-सा होता हुआ कहने लगा--महाराज! गाडी तो नहीं मिल रही है, मेरी बात झूठी हो गई। अब आप मेरे मुँह पर शर्तके अनुसार तमाचे लगाइये। महात्माने कहा--अच्छा, प्रथम तुम अपना मुँह बतलाओ। भक्तने गाल पर हाथ रखकर कहा--यह मुँह है। महात्माने कहा--अरे भोले-भाले-भगत! यह मुँह नहीं, गाल है। तब उसने ललाट पर हाथ रखकर कहा--यह मुँह है। महात्माने कहा--यह भी नहीं, यह तो ललाट है। इसप्रकार तत्तदवयवोंमें खोजने पर गाडीके समान मुख भी नहीं मिला। हँसते हुए महात्माने कहा--प्रथम तू मुख सिद्ध कर बतला, तब उस पर मैं तमाचें लगाऊँ। मुँह ही जब सिद्ध नहीं हो रहा है; तब तमाचें कैसे लगें ?।

महात्माजीने इस दृष्टान्तको जगत्में घटाया। कहा--इस प्रकार यह नामरूपात्मक समग्र जगत् भी अविद्यमान है। परन्तु अविद्या द्वारा विद्यमान-सा प्रत्यक्ष दीख रहा है, इसके मिथ्या-अर्थ ही राग द्वेष के हेतु हो रहे हैं। पुत्र, स्त्री, धनादि वस्तुतः अविद्यमान पदार्थ ही मूढ-

मानवोंको कभी हँसा रहे हैं, एवं कभी रुला रहे हैं, परिवर्तनशील इन आभासमात्र--पदार्थोंमें पृथिव्यादि-पाँच-भूत ही भिन्न भिन्न कलरोंसे जुदी जुदी डिजाइनोंसे दीख रहे हैं। एवं पृथक्-पृथक् नामोंसे व्यवहृत हो रहे हैं। और ये पाँच भूत भी ब्रह्म के ही विवर्त हैं। इसलिये इस सर्वाधिष्ठान-ब्रह्ममें इन भूतोंका एवं भौतिक--जगत्का मिथ्या प्रतिभासमात्र है। जगत् वस्तुशून्य विकल्प है। शान्त एवं निर्मल चित्तसे विचार करने पर एकमात्र अद्वय-ब्रह्म ही परिशिष्ट रह जाता है। आरोपित जगत् गायब हो जाता है। इसलिए उस एक--ब्रह्मका दर्शन ही वास्तविक दर्शन है। द्वैत प्रपञ्चका दर्शन, दर्शन नहीं अदर्शन है। महाभारतके शान्ति-पर्वमें भी यही सिद्ध किया है—

'एकत्वमक्षरं प्राहु-र्नानात्वं क्षरमुच्यते ।
एकत्वं दर्शनं चास्य नानात्वं चाप्यदर्शनम् ॥'
(३०५। ३६)

'एकत्व' ही अक्षर है—अर्थात् अविनाशी—पूर्ण—समभाव है। नानात्व क्षर है—अर्थात् परिवर्तन शील—मिथ्याभासमात्र है। उस एकत्वका दर्शन ही वास्तविक दर्शन है, यही सकल--शास्त्रतात्पर्यगम्य है। 'नानात्व'का मूढों द्वारा प्रत्यक्ष दर्शन होने पर भी परमार्थतः अदर्शन है।

अत एव श्रीमद्भागवतमें पुत्ररूपसे अवतीर्ण—भगवान् श्री कपिलदेवने अपने पिता प्रजापति कर्दम महर्षिको इसी ही एकत्वतत्त्वका उपदेश दिया था। उपदेश सुनकर कर्दम ऋषि भी आरोपित—दृश्यको नितान्त भूलकर उस एक-अद्वय-तत्त्वमें ही तन्मय हो गये थे। और वे ज्ञानमयी —एकभक्ति द्वारा भवबन्धनोंसे मुक्त होकर ब्रह्मनिर्वाणपदमें विलीन हो

गये थे। अतः भगवान् कृष्णद्वैपायन–व्यासने उनकी अन्तिम दशाका इस प्रकार वर्णन किया है—

'वासुदेवे भगवति, सर्वज्ञे प्रत्यगात्मनि ।
परेण भक्तिभावेन लब्धाऽऽत्मा मुक्तबन्धनः ॥
आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्तमवस्थितम् ।
अपश्यत् सर्वभूतानि भगवत्यपि चात्मनि ॥
इच्छाद्वेषविहीनेन सर्वत्र समचेतसा ।
भगवद्भक्ति-युक्तेन प्राप्ता भागवती गतिः ॥'
(भा० ३।२४।४५-४६-४७)

प्रत्यगात्मारूप—सर्वज्ञ-भगवान् वासुदेवमें ही उन्होंने (कर्दम महर्षिने) परम यानी अनन्य-एक-भक्तिभाव द्वारा अपने आपको तन्मय बना दिया। अर्थात् उस वासुदेवमें ही अपने आत्माकी अभेद रूपसे अपरोक्ष उपलब्धि प्राप्तकर समस्त बन्धनोंसे मुक्त हो गये। वे सम्पूर्ण भूतोंमें अपने आत्मारूप श्रीभगवान्‌को तथा सम्पूर्ण-भूतोंको आत्मारूप श्रीभगवान्‌में अभेदरूपसे अवस्थित देखने लगे। अर्थात् जगत्‌में भगवान् और भगवान्‌में जगत्, ऐसा ओतप्रोत दर्शन ही एकत्व दर्शन है। इसमें किसी भी प्रकारका भेददर्शन नहीं रहता। इस प्रकार कर्दम ऋषि इच्छा और द्वेषसे रहित, सर्वत्र समान चित्त तथा भगवान्‌की एक-भक्तिसे सम्पन्न हो भगवान् श्रीविष्णुके परमपदको प्राप्त हो गये।

इस प्रकार भगवान् कपिलदेवने अपनी माता देवहूतिके प्रति भी ज्ञानवैराग्ययुक्त एक–भक्तिका ही उपदेश दिया था—

'विसृज्य सर्वानन्यांश्च मामेवं विश्वतोमुखम् ।
भजन्त्यनन्यया भक्त्या तान्मृत्योरतिपारये ॥

ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियोगेन योगिनः।
क्षेमाय पादमूलं मे प्रविशन्त्यकुतोभयम् ॥'
(भा० ३।२५।४०-४३)

सभी अन्य-शरीरादि-अनात्मवर्गका मिथ्यात्व-भावना द्वारा परित्याग कर जो सज्जन, मुझ अन्तरात्मा—पूर्णाद्वय—भगवान्‌का—जो सर्व तरफ अभिमुख हुआ—अस्ति भाति प्रियरूपसे प्रतीत हो रहा है- अनन्य भक्तिसे भजन करते हैं, उन्हें मैं मृत्युरूप-संसार-सागरसे पार कर देता हूँ। योगीजन ज्ञानवैराग्ययुक्त—भक्तियोग द्वारा मोक्ष लाभके लिए मेरे निर्भय पादमूलमें प्रविष्ट हो जाते हैं। अर्थात् 'त्रिपादूर्ध्वमुदैत पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।' (शु० य० ३१।४) इस श्रुति द्वारा उपदिष्ट —पादरूप समग्र जगत्‌का मूल जो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-अद्वयानन्द-पूर्ण-त्रिपाद् ऊर्ध्व पुरुष है। उसमें सदाके लिये विलीन हो जाते हैं।

यह द्वैत-प्रपञ्च वस्तुतः 'स्वप्नके समान' अविद्यमान है; अविद्या-भ्रान्तिसे यह विद्यमान-सा दीख रहा है। एवं भय-शोकादिका हेतु हो रहा है। इसकी निवृत्ति ज्ञानमय-तीव्रभक्ति-योग द्वारा ही होती है। यह भी स्पष्टतः कहा है—

'अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥
अत एव शनैश्चित्तं प्रसक्तमसतां पथि।
भक्तियोगेन तीव्रेण विरक्त्या च नयेद्वशम् ॥
(३।२७।४-५)

जिसप्रकार स्वप्नमें भय—शोकादिके कारणोंका अत्यन्ताभाव होने पर भी स्वप्नके पदार्थोंमें आस्था हो जानेके कारण दुःख उठाना पड़ता

है। उसी प्रकार नामरूपात्मक-द्वैत-संसारकी कोई सत्ता न होने पर भी अविद्यावश सत्यत्व-सुखत्वादि-बुद्धिसे विषयोंका निरन्तर चिन्तन करते रहनेसे जीवका भय, शोक, अहं—मम जन्ममरणादिरूप संसारचक्र कभी निवृत्त नहीं होता। इसलिये कल्याणकामीको उचित है—कि-असन्मार्गमें अर्थात् संसारके मिथ्या-नामरूपोंमें फँसे हुए अपने चित्तको-धीरे धीरे ब्रह्मचिन्तन करता हुआ भक्तियोगके द्वारा तीव्र वैराग्यसे अपने वशमें करे।

जीव-ईश्वरके परमार्थिक-स्वरूपमें जो भेद-दृष्टि रखता है, वह मृत्युभयसे मुक्त नहीं हो सकता। अर्थात् अभेदभाव रखनेवाला ही निर्भय हो जाता है। यह भी कपिल-मुनिने कहा है—

'आत्मनश्च परस्यापि यः करोत्यन्तरोदरम्।
तस्य भिन्नदृशो मृत्युर्विदधे भयमुल्वणम्॥'
(३।२९।२६)

जो कोई आत्मा एवं परमात्मामें थोड़ा भी भेदभाव रखता है, उस भिन्नदर्शीको मैं मृत्युरूप होकर संसाररूप-अतिघोर भय देता हूँ।

ज्ञान मात्र—एक परब्रह्म ही अविद्या—भ्रान्तिसे दृश्यादि—अनेक रूपोंसे प्रतीत होता है। अर्थात् विद्या द्वारा अविद्या भ्रान्ति दूर होने पर समस्त आरोपित-दृश्योंका विलय हो जाता है, और एक—अधिष्ठान ब्रह्म-तत्त्व ही परिशिष्ट रह जाता है। उसमें ही तत्त्वदर्शीकी ज्ञानमयी एक-भक्ति रहती है। यह भी कहा है—

'ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान्।
दृश्यादिभिः पृथग्भावैर्भगवानेक ईयते। (३।३२।२६)

कपिलदेव कहते हैं—हे जननि! वह ज्ञानमात्र एक—अद्वय—तत्त्व

ही अविद्या द्वारा दृश्य आदि अनेक आरोपित-भावोंसे प्रतीत हो रहा है। वही उपनिषदोंका परब्रह्म, योगशास्त्रका परमात्मा ईश्वर, सांख्यशास्त्र-का पुरुष, एवं भक्तिशास्त्रका भगवान् कहा जाता है।

श्रीमद्भागवतका यह **'सिद्धानां कपिलो मुनिः'** (गी० १०।२६) अद्वैतवादी है। पूर्वोक्त-वचनोंके द्वारा इसने अपने पिता कर्दम ऋषिको तथा माता देवहूतिको अद्वैती तत्त्वका ही उपदेश दिया है, ऐसा निश्चित होता है। यह 'व्यासमुनिके समान' श्री विष्णुभगवान्का ज्ञानावतार है। **'यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्।'** (३।२९।२२) इत्यादि वचनोंके द्वारा—'सब शरीरोंमें एक ही आत्मा विद्यमान है, और वह ईश्वरसे अभिन्न है, भिन्न नहीं' ऐसा सिद्ध करता है। इसलिए यह सांख्यशास्त्रके प्रणेता कपिलसे भिन्न ही सिद्ध होता है। क्योंकि-वह कपिल-सब भूतोंमें अनेक पृथक्-पृथक्-आत्माएँ मानता है-जगन्नियन्ता-ईश्वरको नहीं मानता, भेदज्ञानसे मुक्ति मानता है, द्वैतवादी एवं प्रधान-वादी है। अतः शास्त्रसमालोचक-विद्वान्-श्रीमद्भागवतके कपिलको एवं सांख्यशास्त्रके कपिलको भिन्न-भिन्न ही मानते हैं। आचार्य जगद्गुरु श्री-शंकरस्वामीकी भी यही सम्मति है। वे शारीरिक-भाष्यमें कहते हैं कि—

'अन्यस्य च कपिलस्य सगरपुत्राणां
प्रतप्तुर्वासुदेवनाम्नः स्मरणात्।' (ब्र० सू० २।१।१)

सांख्यशास्त्रके प्रणेता द्वैतवादी कपिलसे यह अद्वैतवादी कपिल अन्य है। क्योंकि—सगरराजाके साठहजार पुत्रोंको भस्म करनेवाले—वासुदेव नामवाले—इस कपिलका श्रीमद्भागवत आदिमें पृथक्‌रूपसे स्म-रण किया गया है।

ऐसा पद्म-पुराणमें भी कहा है—**कपिलो वासुदेवाख्यः, तत्त्वं सांख्यं जगाद ह। ब्रह्मादिभ्यश्च, देवेभ्यो वेदार्थैरुपबृंहितम्। सर्ववेदविरुद्धञ्च कपिलोऽन्यो जगाद ह। सांख्यमासुरयेऽन्यस्मै कुतर्कपरिबृंहितम्॥**' अर्थात्—वासुदेव नामवाले कपिलने ब्रह्मादि—देवोंको वेदार्थोंसे समृद्ध-सांख्य तत्त्वका उपदेश दिया। और अन्य कपिलने कुतर्कसे अभिवर्धित—सर्ववेदविरुद्ध—सांख्यका अन्य आसुरी नामके ऋषिको उपदेश दिया।

परमात्मा ही एक अद्वय सत्य तत्त्व है, वही अपना आप है, स्व-स्वरूप है, उसमें ही ज्ञानवान् सदा युक्त अर्थात् संलग्न चित्त हुआ रहता है। उसके विना वह अन्य किसीको न जानता है, न मानता है। वह स्वयं '**ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा**' '**मद्भक्तिं लभते पराम्**' (गी० १८।५४) ब्रह्मरूप आनन्द-आत्मा हुआ, पराभक्तिको प्राप्त करता है, यही उसकी एक—भक्ति है। इसलिए गीतामें भक्तिके लिए अनन्य एवं ज्ञानके लिए अद्वैत विशेषण दिया गया है। अनन्य भक्ति, एवं अद्वैत ज्ञानका तात्पर्यार्थ—एक ही है भक्तिमें अन्यका निषेध है, तो ज्ञानमें द्वैतका निषेध। दोनोंका पर्यवसान एक ही पूर्ण—तत्त्वमें है। कुछ अवान्तर—भावका मामूली फरक है। भक्त कहता है—हे इष्टदेव! प्रभो! सर्वत्र तू ही तू है, मैं नहीं। '**तू तू करतां तू भया, मुझे में रही न हूँ**' '**प्रेम प्रकट जब होत है, रहत न पावत आन। तू तू ही रह जात फिर, मैं का मिटत निशान।**' वह, व्यापक-तू भगवान्में अपनी छोटी—सी मैं को मिला देता है [illegible] बना देता है। ज्ञानवान् कहता है—'**अहं ब्रह्मास्मि**' '**ब्रह्मैवेदं सर्वम्**' मैं ही ब्रह्म हूँ, यह

सब भी मैं ही ब्रह्म हूँ, मुझसे अन्य कुछ भी नहीं। इसप्रकार ज्ञानवान् अपने शुद्ध-सच्चिदानन्द रूपी मैं में तू भगवान्‌को मिला देता है। तू नामका अन्य कोई ईश्वर पृथक् नहीं रहने देता।

जिस प्रकार गृहके एक कोनेमें ९९ रुपये रक्खे हैं, और दूसरे कोनेमें १) रुपया रक्खा है। उन दोनोंको मिलाकर सौ रुपयेकी पूरी थैली बनानी है। अब अपनी अपनी रुचि एवं सामर्थ्यके अनुसार कोई एकको उठाकर ९९में मिला देता है, तो कोई ९९) को उठाकर एकमें मिला देता है। किसी भी ढंगसे मिलाइये, सौ रुपये पूरे हो जानेमें किसी भी प्रकारका विवाद नहीं रहता। बिन्दुको सिन्धुमें मिलाइये, या विशेष—सामर्थ्य हो तो बिन्दुमें सिन्धुको भी मिला सकते हैं। यहाँ एकके समान पिण्डोपाधिक--जीवात्मा है, और ९९के समान ब्रह्माण्डोपाधिक ईश्वरात्मा है। दोनोंका अभेद करना है, किसी भी ढंगसे करें। अन्तमें जीवात्मा एवं ईश्वरात्मा एक ही अद्वय हो जाते हैं, तब ज्ञानी, भक्त बन जाता है, एवं भक्त, ज्ञानी। इसलिए गीतामें भगवान्‌ने ज्ञान एवं भक्ति दोनोंका एक ही हृदयमें साथ मिलापकर उसको श्रेष्ठ ज्ञानी भक्त बना दिया है।

इसलिए वह उस एक अद्वय तत्त्वमें ही नित्ययुक्त रहता है। औपाधिक-जाग्रदादि तीनों अवस्थाओंका परित्याग कर उस आनन्द-पूर्ण स्वयं-ज्योतिस्वरूप तुरीय अवस्थामें ही सदाके लिए डटा रहता है। यह अवस्था स्वानुभव- संवेद्य है। उसमें किसी भी प्रकारका कश्मल नहीं रहता। भय, चिन्ता-शोकका नामोनिशान नहीं। वह निर्दोष एवं सम-भावमयी अवस्था है। यही ब्राह्मी स्थिति है। '**एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! नैनां प्राप्य विमुह्यति।**' (गी० २।७२) इसको प्राप्तकर

मानव, मोह--शोकादि तमाम द्वन्द्वोंसे मुक्त हो जाता है। यह दशा प्राणी-मात्रको स्वतः प्राप्त है। परन्तु मूढताके कारण-उस स्वतः सिद्ध दशाको प्राप्त नहीं कर सकता। घरमें खजाना गड़ा हुआ है, परन्तु उसको नहीं जानता, या जानता हुआ भी आवरण हटाकर प्राप्तको प्राप्त नहीं कर सकता।

इस विषयको स्पष्टरूपसे आप अपने चौमंजिलावाले मकानके एक दृष्टान्तसे भी समझ सकते हैं। आपका चार मंजिलोंवाला मकान है। नीचेकी मंजिलमें अतिघना अंधकार है, खूब गरमी है, बड़े-बड़े-मच्छरोंके एवं खटमलोंके झुण्ड हैं; तथा प्रचण्ड--दुर्गन्धि भी भरी है। उसके ऊपरकी द्वितीय मंजिलमें भी सूक्ष्म अन्धकार है, हलकी गरमी है, छोटे छोटे मच्छर एवं खटमल हैं, तथा सूक्ष्म दुर्गन्धि है। एवं तृतीय-मंजिलमें गरमी, मच्छर, खटमल एवं दुर्गन्धि तो नहीं है, परन्तु अन्धकार भरा है। उसके ऊपरकी चतुर्थ मंजिल बहुत ही अच्छी है। वहाँ अंध-कार-बिल्कुल नहीं है, किन्तु शान्त, आह्लादक, मधुर-दिव्य-प्रकाश है। गरमीका नामोनिशान नहीं, परन्तु आनन्द देनेवाली शीतलता है, मच्छर, खटमल एवं दुर्गन्धिका सर्वथा अभाव है। दिव्य-सुगन्धिसे भरा हुआ स्वच्छ-पवित्र-मृदु-पवन वहाँ बह रहा है, परन्तु उसका किवांड बंद है, उसमें जबरदस्त ताला-लगा हुआ है। आपकी ही बिल्डिङ्गका वह अन्तिम-चतुर्थ मंजिल कबसे बन्द है? यह कोई बतला नहीं सकता। वह सबसे बढिया चतुर्थ--खण्ड आपका ही है, आपही इसके स्वामी हैं, सर्वेसर्वा हैं। परन्तु आप अपनी मूढताके कारण उसको नहीं जानते, या जानते हुए भी सामर्थ्य न होनेके कारण, या प्रमादी बन जानेके कारण, न उसका ताला खोल सकते हैं, न तो उसमें निवासकर दिव्य-

आनन्द प्राप्त कर सकते हैं।

कभी आप एकदम नीचेकी मंजिलमें रहते हैं, वहाँ अनेक प्रकारके कष्ट भोगते हैं, अतिघना अंधकार तकलीफ देता है, प्रचण्ड--गरमी भी परेशान कर रही है, बड़े-बड़े मच्छरों एवं खटमलोंके झुण्ड आपको हरदम व्यथित करते रहते हैं, एवं प्रचण्ड--दुर्गन्धि भी बड़ा कष्ट दे रही है। परन्तु उस प्रकारके अनेक--दुःखोंमें भी भ्रान्तिवश सुख मान रहे हैं, इसलिए वहाँसे हटना नहीं चाहते। कभी द्वितीय मंजिलमें जाते हैं, वहाँ भी सूक्ष्म अन्धकारादिओंका सूक्ष्म कष्ट भोगते हैं। कभी तृतीय मंजिलमें चले जाते हैं, वहाँ मच्छरादिओंके तो कष्ट नहीं हैं, केवल अंधकार है, उसमें अचेत होकर आप सो जाते हैं। सब प्रपञ्च भूल जाते हैं, कुछ भी नहीं जानते। इस प्रकार आप अपनी बिल्डिङ्गके तीनों खण्डोंमें घूमते रहते हैं। सबसे अच्छे चतुर्थ खण्डमें जाना नहीं चाहते। आजकलकी--अपनेको बुद्धिमान् मानने वाली--व्यक्तियोंसे पूछा जाय कि--आप अपनी उस बिल्डिङ्गकी कौनसी मंजिल पसंद करेंगे? कहाँ स्थायीरूपसे रहना चाहेंगे? तो वे शीघ्र ही कह डालेंगे कि--वाह! हमें तो चतुर्थ मंजिल ही पसंद होगी, अच्छा स्थान छोड़कर खराब स्थानमें रहना कौन पसंद करेगा?। ताला तोड़कर जबरन् हम ऊपरकी अंतिम--सुखप्रद मंजिलमें ही सदा रहने लग जायेंगे। नीचेकी तीनों कष्टदायी--मंजिलोंमें कभी भी न रहेंगे।

यह तो एक दृष्टान्त है, सिद्धान्त समझनेके लिए। चार मंजिलों-वाली बिल्डिङ्ग, यह शरीर है। इसकी जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय ये चार अवस्थायें, चार--मंजिलें हैं। स्थूल--शरीरकी जाग्रत अवस्था,

सूक्ष्म--शरीरकी स्वप्नावस्था, कारण--शरीरकी सुषुप्ति–अवस्था एवं शरीरी अन्तरात्माकी तुरीय अवस्था है। जाग्रत अवस्थामें नाम-रूपात्मक स्थूल द्वैत–प्रपञ्च है। इसका द्रष्टा विश्वात्मा है, वह स्थूल-शरीरके साथ अविद्यासे तादात्म्यापन्न हो गया है। भ्रान्तिसे इस इदं-पदार्थको ही अहं मान रहा है, छाती ठोककर कहता है–यही मैं हूँ, अमुकका भाई हूँ, जमाई हूँ, अमुक मेरा नाम है, गाम है, साढ़े तीन-हाथका ढांचे वाला यह पुतला ही मैं हूँ। इसका जीवन ही मेरा जीवन है, इसकी मृत्यु ही मेरी मृत्यु है। इसके काले गोरे रूप ही मेरे रूप हैं। इसके सुखसे मैं सुखी, तथा दुःखसे मैं ही दुःखी हूँ। इस प्रकार स्थूल--शरीरकी इस जाग्रत--अवस्थामें अज्ञानका गाढान्धकार भरा हुआ है। आध्यात्मिकादि-प्रचण्ड संताप ही परेशान करनेवाली प्रचण्ड गरमी है। जिसके कारण वह हाय! हाय! मर गया रे! ऐसा बार बार चिल्लाता है। हरदम व्यथित करने वाले काम-क्रोध-लोभ-मद-मत्सरादि ही बड़े वड़े मच्छर इसमें भरे पड़े हैं। एवं विविध--प्रकारकी चिताएँ ही खटमल हैं, चिन्ताओंसे मनुष्य अर्धमृत हो जाता है। कहते हैं–चिता मुर्दोंको जलाती है, परन्तु चिन्ता जिन्दोंको जलाती रहती है। मनुष्यको अच्छेसे अच्छा प्रतिदिन खाना मिले, किन्तु उसके हृदयमें यदि चिन्ताओंकी होली जलती होगी तो वह अच्छा खाना भी हजम नहीं कर सकेगा; न वह कभी स्वस्थ ही रह सकेगा। एक बहुत दुबला--पतला व्यक्ति था। उसका शरीर गार्हस्थ्यकी चिन्ताओंसे जर्जरित हो गया था। उसको संसारसे वैराग्य हो गया, साधु बन गया, अर्थात् चिन्ताओंसे छूट गया। कुछ समय बाद जब वह अपने देशमें आया तो वह साधु-दशामें चिन्ता न रहनेके कारण

इतना मोटा ताजा हो गया था कि—उसको पहिचानना भी कठिन हो गया। तात्पर्य यह है कि—चिन्ताएँ ही खून--पीनेवाले खटमल हैं। एवं मिथ्याज्ञानरूपी भ्रान्ति एवं अहंता--ममता ही कष्ट--देनेवाली प्रचण्ड दुर्गन्धि है। जाग्रत-अवस्थाका अनुभवकर जीवात्मा निद्रा द्वारा स्वभाव-स्थामें चला जाता है। वहाँ भी द्वैत-प्रपञ्च है, वैसा ही अन्धकार, संताप, मच्छर, खटमल एवं दुर्गन्धि है। परन्तु वे सब सूक्ष्म हैं। स्वप्नावस्थाका अनुभव कर वह गाढ--निद्रा द्वारा सुषुप्तिमें चला जाता है, वहाँ उसे द्वैत--प्रपञ्चका दर्शन नहीं होता, क्योंकि—उसके दर्शनका कारण मन विलीन हो गया है। परन्तु वहाँ अज्ञानान्धकार विद्यमान हैं। द्वैत प्रपञ्च एवं उसका कल्पक मन, वहाँ न होनेके कारण वह किसी भी प्रकारके द्वन्द्वोंके दुःखका अनुभव नहीं करता। वहाँ वह आत्माके अज्ञानावृत--सुखका ही अनुभव करता है, परन्तु अन्य किसी पदार्थका अनुभव नहीं करता, इसलिए जाग्रत होकर सुषुप्तिके अनुभवका स्मरण वह इस प्रकार करता है कि -'सुखमहमस्वाप्सं, न किञ्चिद्वेदिषम्' अर्थात् मैं सुषुप्तिमें सुखपूर्वक सोया था, वहाँ कुछ भी नहीं जानता था।

चतुर्थ शरीरी--आत्माकी तुरीयावस्था है। इसका द्वार अज्ञानी मूढोंके लिए सर्वथा बंद रहता है। उसमें अज्ञानावरण रूप बड़ा ताला लगा हुआ है। श्रद्धालु मुमुक्षु ही गुरुकृपासे प्राप्त ज्ञानरूपी कुंजीसे इसका ताला खोलकर--उसमें प्रविष्ट होता है। इस चतुर्थावस्थामें न किसी भी प्रकारका दुःख है, न शोक है, न भय है, इसमें महान्--विशुद्ध--शाश्वत आनन्द ही आनन्द भरा हुआ है। यही ऋतंभरा--प्रज्ञालभ्य ब्राह्मी स्थिति है। जीवन्मुक्त--महापुरुषोंकी यही सदा रहनेवाली दशा है, जाग्रत-

में, स्वप्नमें, तथा सुषुप्तिमें भी उनकी यही दशा रहती है। इसमें जाना एवं रहना सभी चाहते होंगे, परन्तु योग्यता एवं साधन-सामर्थ्य प्राप्त किये विना कोई भी व्यक्ति कोरी चाहना मात्रसे वहाँ न जा सकता है, न रह सकता है। विवेकादि-साधनोंके सामर्थ्यसे एवं अन्तःकरणकी पवित्रता आदि योग्यताद्वारा ही वहाँ जा सकता है, एवं रह सकता है। वहाँ जानेवाला एवं रहनेवाला श्रद्धेय ज्ञानीभक्त है, वह उसमें ही सदा नित्ययुक्त रहता है, उस अद्वय-आनन्दपूर्ण परमात्मस्वरूपमय तुरीय दशामें ही अनन्य प्रेम रखता है। इसलिए वह एकभक्ति कहाजाता है।

एक-भक्ति ज्ञानवान्की उस पूर्णानन्दमयी-चतुर्थ-अवस्थाका वर्णन माण्डूक्योपनिषत्में इसप्रकार किया है—

'अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं, शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते, स आत्मा स विज्ञेयः।'

वह स्वयंप्रकाश चिदात्मा, अदृष्ट है, निर्विशेष होनेके कारण चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रियोंका विषय नहीं है। जो पदार्थ दृष्ट होता है, वही व्यवहारका भी विषय होता है, यह अदृष्ट है, इसलिए अव्यवहार्य है, अर्थात् किसी भी व्यवहारका विषय नहीं। एवं वह कर्मेन्द्रियोंसे भी ग्राह्य नहीं, अर्थात् ग्रहण करने योग्य न होनेसे अग्राह्य है। अलक्षण है—ज्ञापक-लिङ्गरूपी लक्षणोंसे रहित है, अर्थात् प्रत्यक्षकी तरह अनुमान प्रमाणका भी विषय नहीं है। अत एव वह अचिन्त्य है, अर्थात् चित्तके चिन्तनोंका विषय नहीं है। इसलिए वह किसी भी शब्द द्वारा व्यपदेश्य नहीं होता, अर्थात् वाणी भी उसको विषय नहीं कर सकती। वह

एकात्मप्रत्ययसार है, अर्थात् जाग्रदादि-सभी स्थानोंमें एक ही अनुगत आत्मा है, इस प्रकारके प्रत्यय (वृत्तिज्ञान)में साररूपसे यानी सत्य-स्वयंप्रकाशभासकरूपसे वह उपलक्षित होता है। अत एव वह प्रपञ्चो-पशम है, अर्थात् जाग्रदादि सभी स्थानोंमें अनुभूयमान त्रिपुटी द्वैतरूप प्रपञ्चका उस विशुद्ध-आत्मामें उपशम है—अत्यन्ताभाव है। वह शान्त है, अर्थात् रागद्वेषादि—कल्मषोंसे सर्वथा रहित है, अतएव शिव है, कल्याणस्वरूप है. अद्वैत है, वही चतुर्थ है, कूटस्थ—पूर्ण—तुरीय है, अर्थात् प्रतीयमान—जाग्रदादि—अवस्थाओंसे विलक्षण है। ऐसा एक भक्तिमान्—विद्वान् मानते हैं, वही आत्मा है, स्वस्वरूप है, वही शास्त्र एवं गुरुओंके द्वारा जानने योग्य है।

अतएव श्रीशंकराचार्यके परम—गुरु एवं शुकदेव—मुनिके शिष्य पूज्य गौडपादाचार्यने इस श्रुतिका इसप्रकार विवेचन किया है—

'अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो, निद्रा तत्त्वमजानतः।
विपर्यासे तयोः क्षीणे, तुरीयं पदमश्नुते॥

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा॥

प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः।
मायामात्रमिदं द्वैत-मद्वैतं परमार्थतः॥

अन्यथा ज्ञानका नाम स्वप्न है, दोनों अवस्थाओंमें तुल्यरूपसे अन्यमें अन्य—बुद्धिरूप मिथ्याज्ञान होनेके कारण जाग्रत एवं स्वप्न दोनों ही स्वप्न हैं। एवं तत्त्वका अर्थात् परमार्थ—स्वरूपका अज्ञान निद्रा है। वह जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंमें समान है। मिथ्या-

ज्ञानका नाम कार्यबन्ध है, और अज्ञानका नाम कारणबन्ध है। जब तत्त्वज्ञान द्वारा स्वप्न एवं निद्रारूप विपर्ययका क्षय हो जाता है, तब वह निष्प्रपञ्च, शान्त, तुरीय पद-प्राप्त करता है। अनादिमायासे यह जीव अनादिकालसे सोया हुआ है, और संसाररूप विविध स्वप्नोंका अनुभव कर रहा है। जब यह जीव किसी कृपालु-गुरु द्वारा प्रबोध्यमान होता है, अर्थात् तत्त्वज्ञान प्राप्त करता है। तब वह जन्मरहित, निद्रारहित, स्वप्नरहित, पूर्ण-अद्वैत स्वरूपका साक्षात् अनुभव करता है। यह अनुभूयमान द्वैतप्रपञ्च काल्पनिक है, वास्तविक नहीं, इसलिए यदि प्रपञ्च पारमार्थिक-रूपसे विद्यमान हो तो निःसन्देह निवृत्त भी हो सकता है। परन्तु यह तो मायामात्र है, पारमार्थिक नहीं, अतः उसकी क्या विद्यमानता ? एवं निवृत्ति भी क्या ? रज्जुमें आरोपित-सर्प वस्तुतः विद्यमान ही नहीं था, तब उसकी निवृत्ति भी कैसे हो सकती है ?। परमार्थसे अद्वैत ही विद्यमान है, वह मिथ्या-आरोपित-द्वैत-प्रपञ्चके अपवादसे गम्य है।

ऐसे ज्ञानी-भक्तको मैं-भगवान् अत्यन्त प्रिय हूँ, क्योंकि-ज्ञानवान् भगवान्को अपना आत्मा ही मानता है। आत्मा अत्यन्त प्रिय ही होता है। यदि भगवान् आत्मासे भिन्न होते तो वे कभी अत्यन्त प्रिय नहीं हो सकते। इसलिए एक-भक्ति ज्ञानीका ज्ञान अभेद विषयक है, वह, भगवान् एवं आत्मा एक ही है, ऐसा जानता है। भेदविषयक-ज्ञान तो एक प्रकारका अज्ञान है, मिथ्या-ज्ञान है, अभेद-ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है। इसलिए अनुभवियोंने कहा भी है कि—

'देहो देवालयः प्रोक्तः, स जीवः केवलः शिवः ।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं, सोऽहंभावेन पूजयेत् ॥
अभेददर्शनं ज्ञानं ध्यानं निर्विषयं मनः ।
स्नानं मनोमलत्यागः शौचमिन्द्रिय-संयमः ॥

यह देह ही देवालय कहा गया है, यह जीव ही वस्तुतः शिव है। अज्ञानरूपी निर्माल्यका त्याग करे। और उस शिव भगवान्की 'सोऽहं' (वह मैं ही हूँ) भावसे पूजा करे। अभेद-दर्शनका नाम ही ज्ञान है। मनको निर्विषय (निर्विकल्प) बनाना ही ध्यान है। मनके रागद्वेषादि-मलोंका त्याग ही स्नान है, इन्द्रिय-संयमका नाम शौच है।

और ऐसा ज्ञानी भक्त मुझ भगवान्को अत्यन्त प्रिय है। इस-प्रकार भक्त और भगवान्का यह परस्पर-प्रेम अत्यन्त गहन है, विशुद्ध है, निष्काम है, अविच्छेद्य है, अखण्डैकरस है, स्वाभाविक है, इसमें कृत्रिमताका लेश भी नहीं। इसको दूसरा व्यक्ति समझाने पर भी नहीं समझ सकता। केवल-'हृदयं त्वेव जानाति प्रीतियोगं परस्परम्।' परस्परकी प्रीतिका योग हृदय ही जानता है। उसके वर्णन करनेमें शब्दकी गति कुण्ठित होजाती है। भगवान्के प्रेम-रस सागरमें भक्त डूब जाता है तो भक्तके प्रेमरस-सागरमें भगवान् डूब जाते हैं। दोनों परस्पर मिलकर-अखण्डैकरस हो जाते हैं।

इसीलिए भगवान्के दिव्य एवं अनन्य-प्रेमरससे छकी हुई मस्तानी मीराके हृदयके अन्तस्तलसे उठी हुई 'मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई रे।' यह आवाज भक्त एवं भगवान्की अनन्यताको ही

सिद्ध करती है। इस पवित्र आवाजमें-'दूसरा कोई नहीं रहा, न तू रहा-न मैं रहा, न यह जगत् ही रहा, एकमात्र वही श्यामसुन्दर गिरिधरगोपाल ही रह गया' ऐसा अद्वैत-भाव ही अभिव्यक्त होता है। और उत्कट-प्रेमभक्तिका अद्वैतमें ही पर्यवसान होता देखा गया है। उत्कट-प्रेम, द्वैतभाव सहन नहीं कर सकता। इसलिए अनन्य--प्रेमी भक्त-गोपियोंके विषयमें यह कहा हुआ नितान्त ही यथार्थ है कि—

'श्रीकृष्ण! कृष्णेति गिरा वदन्त्यः,
श्रीकृष्णपादाम्बुजलग्न-मानसाः।
श्रीकृष्णरूपास्तु बभूवुरङ्गनाः,
चित्रं न पेशस्कृतमेत्य कीटवत्॥'

वाणीसे तन्मयताके साथ श्रीकृष्ण-श्रीकृष्ण ऐसा बोलती हुई, और श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें मनको संलग्न बनाती हुई-गोपियाँ अपनेको भूलकर या अपनी आत्माओंको श्रीकृष्णमें मिलाकर श्रीकृष्णरूप हो गयीं। इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं। भ्रमरका तदासक्त-चित्तसे चिन्तन करता हुआ कीडा भ्रमर होजाता है; यह दृष्टान्त लोकमें देखा गया है।

'सुनके शब्द कीट भृङ्गीके, सब तन मनकी सुध बिसरावे।
देखहुँ प्रकट ध्यानकी महिमा, सोई कीट भृङ्गी होई जावे॥'

इसप्रकार भगवद्भावुक-भक्त एवं भक्तभावुक उपास्य भगवान् एक ही होजाते हैं, वे एक-क्षणके लिए भी पृथक् नहीं हो सकते। भक्तमें भगवद्भाव आजाने पर फिर उसमें जीवभावका एवं भेदभावका आना असंभव है।

श्रवणादि-नवधाभक्तिमें अन्तिम भक्ति है-आत्मनिवेदन। प्रबल-

भक्तिवश वह भक्त श्रीभगवान्‌में आत्मसमर्पण कर भगवन्मय बन जाता है। भगवान् भी भक्तके हृदयमें अपने भगवत्तत्त्वको प्रकट कर उसे अपने स्वरूपमें मिला देते हैं। आत्मनिवेदनके महाभावकी इस चरम सीमामें समग्र भिन्नताएँ दूर होजाती हैं, और पूरी एकता स्थापित हो-जाती है। इसका तात्पर्य, यों समझिये कि—एकता तो प्रथम भी सिद्ध ही-थी। परन्तु अविद्यादि-प्रतिबन्धवशात् उसका प्राकट्य नहीं था। अब—ज्ञानमयी पराभक्तिद्वारा प्रतिन्बधक दूर होने पर वह एकता जाज्व-ल्यमान होकर प्रकट होजाती है। इस विषयमें श्रीराधाजीका चरित्र प्रमाण है। श्रीराधाका भगवान्—श्यामसुन्दरके प्रति प्रेमकी पूर्णतारूप महाभाव था। अतएव वह भगवान्‌के प्रेमचिन्तनकी प्रगाढताके कारण सर्वथा भगवन्मय हो गई थी। भक्त एवं भगवान्‌में वस्तुतः अद्वैत—भाव होने पर भी भक्तिके लिए कल्पित—द्वैतभाव सुन्दर माना गया है।—

'भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतं अद्वैतादपि सुन्दरम्।'

इसलिए किसी प्रेम-रसिक कविने राधाकृष्णकी नितान्त एकताका एवं भक्त्यर्थ—कल्पित द्वैत--भावका भी सूचक वर्णन इस प्रकार किया है कि—

'अन्योऽन्यचित्तविदुषौ नु परस्परात्म-
नित्यस्थितेरिति नृषु प्रथितौ यदावाम्।
तच्चौपचारिकमहो द्वितयत्वमेव,
नैकस्य सम्भवति कर्हिचिदात्मनो नौ॥

एकात्मनीह रसपूर्णतमेऽत्यगाधे,
एकासुसंग्रथितमेव तनुद्वयं नौ।

कस्मिंश्चिदेकसरसीव चकासदेक-
नालोत्थमब्जयुगलं खलु नीलपीतम्॥ '

भगवान् श्यामसुन्दर श्रीराधासे कहते हैं हम दोनोंके मन, पूर्ण प्रेम से भरे हुए, दोनोंको ज्ञात हैं, क्योंकि—प्रबल--प्रेमके कारण 'हम दोनोंके भीतर हम दोनोंजन परस्पर नित्य ही निवास करते हैं।' ऐसा जो लोकप्रवाद है, वह अयथार्थ है, सत्य नहीं है। क्योंकि—हम दोनोंकी आत्मा एक ही है, और एक आत्मा दो किस प्रकार हो सकती है?। इसलिए दो हुए विना परस्परमें परस्परका निवास असंभव है। हाँ अपने विषयमें ऐसा कह सकते हैं कि—जिस प्रकार किसी एक सरोवरमें एक नालसे समुत्पन्न—नील और पीतवर्णके दो कमल-परस्पर-संश्लिष्ट होकर विकसित हुये हों, उसी प्रकार अत्यन्त--अगाध—प्रेमरस--परिपूर्ण एक ही आत्मासे संयुक्त, एवं एक ही प्राणसे संग्रथित हम दोनोंके नील एवं पीत वर्णके ये दो शरीर परस्पर संश्लिष्ट होकर प्रतीयमान हो रहे हैं।

श्यामसुन्दर—भगवान्के इस कथनसे श्रीराधाको भगवान्के साथ—अपना एकात्मभाव अति--दृढ हो गया। इसकी परीक्षाके लिए किसी समय भगवान् श्रीकृष्ण अतिसुन्दर--देवाङ्गनाका वेष धारण कर श्रीराधाके समीप आये। और कहने लगे कि—मैंने सुना है—तुम्हारा श्रीकृष्णके साथ एकात्मभाव है। क्या यह सत्य है?, यदि सत्य है तो, आपके स्मरणमात्रसे आपके प्रियतम आपसे अभिन्न श्रीकृष्ण यहाँ प्रकट हो जाँय, तो मैं तुम्हारे इस एकात्मभावमें विश्वास कर सकती हूँ। 'श्रीराधाने इस परीक्षाको स्वीकार किया, और कहा कि—यदि अनन्य--प्रेमपूर्ण एकात्मभाव सत्य है, तो मेरे प्रियतम—श्रीकृष्ण यहाँ शीघ्र ही प्रकट हो

जाँय। कहनेकी ही देरी थी—भगवान्-श्रीकृष्ण तुरन्त ही वहाँ प्रकट हो गये। उस समय प्रिय-कृष्णका अन्दर एवं बाहर दर्शन कर श्रीराधा आनन्दमग्न हो गई, उस दशाका वर्णन उक्त--कवि महोदयने इसप्रकार किया है कि—

'रोमाञ्चिताखिल-तनुर्गलदश्रुसिक्ता,
ध्यानागतं तमवबुध्य बहिर्विलोक्य।
आनन्दलीनहृदया खलु सत्यमेव,
योगिन्यराजत निरञ्जन-दृष्टिरेषा॥'

ध्यान द्वारा प्रियतम- कृष्णका हृदयमें आगमन देखकर और बाहर भी उसी ही प्रियतमको देखकर श्रीराधाका समग्र शरीर, रोमाञ्चित हो गया, और प्रेमाश्रुओंकी धारासे सिञ्चित हो गया। और उसका हृदय प्रियतम-दर्शनके आनन्दमें लीन हो गया। एवं वह उस एकात्मभावकी परीक्षामें सत्य ही उत्तीर्ण होकर योगिनीके समान निरञ्जन-दृष्टिको प्राप्त हो गई। इसका तात्पर्य यह है—यहाँ अञ्जनके दो अर्थ हैं, एक चक्षु-स्थित कज्जल, तथा द्वितीय-तत्सदृश हृदय-स्थित अज्ञानान्धकार। अश्रु-धारासे नेत्रका कज्जल निर्गत होनेसे श्रीराधाकी चक्षुदृष्टि निरञ्जना हो गई। और साथमें प्रियतम-आत्मस्वरूप-श्रीकृष्णके साक्षात्कार द्वारा अज्ञानान्धकारसे भी मुक्त होकर हृदयकी ज्ञानदृष्टि भी निरञ्जना हो गई। अर्थात् उस दृष्टिमें अज्ञान तत्कार्य द्वैत-प्रपञ्चका सर्वथा अत्यन्ता-भाव हो गया एवं तदधिष्ठान-प्रियतम आत्मा श्रीकृष्ण ही सर्वत्र अनुभूत हो गया, इससे श्रीराधाका योगिनीत्व सार्थक सिद्ध हुआ।

गर्ग-संहितामें श्रीराधाका यह एक—अन्य चरित्र भी भगवान्के

साथ अनन्य-योग एवं एकात्मभावका समर्थक है। किसी समय भगवान् श्याम-सुन्दर, अपनी रुक्मिणी आदि रानियोंके साथ सिद्धाश्रममें गये थे। जहाँ श्रीराधा, भगवान् कृष्णकी प्रचण्ड-प्रेमाप्लुत- हृदयसे आराधना करती हुई रहती थी। रात्रिमें श्रीभगवान्की—रानियोंने देखा कि—श्रीभगवान्के चरणोंमें छाले पड़ गये हैं। कारण पूछने पर श्रीभगवान्ने कहा कि—तुम लोगोंने श्रीराधाको अधिक गरम दूध पिला दिया था। इसलिये मेरे चरणोंमें ये छाले पड़ गये हैं, क्योंकि—उसके हृदयमें सदा मेरे चरण रहते हैं। यथा—

श्रीराधिकाया हृदयारविन्दे, पादारविन्दं हि विराजते मे।
अहर्निशं प्रश्रय-पाश-बद्धं, लवं लवाद्ध न चलत्यतीव॥
अद्योष्णदुग्धप्रतिपानतोऽङ्घ्रा वुच्छालकास्ते मम प्रोच्छलन्ति।
मन्दोष्णमेवं हि न दत्तमस्यै, युष्माभिरुष्णं तु पयः प्रदत्तम्॥
(द्वारकाखण्ड १७। ३५-३६)

श्रीराधाके हृदयमें मेरे चरण-कमल सदा–दिनरात-परमप्रेमपाशमें बंधे हुए विराजमान रहते हैं, जरा भी हटते नहीं। उनके गरम दूधके पीनेसे मेरे—पगमें छाले पड़ गये। तुम लोगोंने श्रीराधाको थोडा गरम दूध न देकर अधिक उष्ण दूध पिला दिया था।

इस उपाख्यानका यह तात्पर्य कभी नहीं हो सकता कि—भगवान्का चरणकमल अपने श्रीविग्रहसे अलग होकर श्रीराधाके हृदयमें चला गया, और श्रीभगवान् चरण विहीन बन गये। सभी उपाख्यानोंका लक्ष्य सिद्धान्तके समर्थनके लिए ही हुआ करता है। प्रकृतमें सभी शास्त्रोंका सिद्धान्त है—अनन्ययोग एवं एकात्मभाव। इसके समर्थनमें

ही इस उपाख्यानका भी तात्पर्य है। प्रचण्ड-प्रेमाप्लुत हृदयकी-अपने-आराध्य-प्रियतम-इष्टके साथ--ऐसी निरन्तर--स्वाभाविकी-तन्मयता हो जाती है कि—इसमें किसी भी प्रकारका अन्यभाव ही नहीं रहता। इष्टके साथ सर्वथा अभिन्नता ही सिद्ध हो जाती है। भक्तकी भगवान्‌से एवं भगवान्‌की भक्तसे पृथक्ताका लेश भी नहीं रहता। इसलिये नारद—भक्तिशास्त्रने भी अन्तमें यही सिद्धान्त निश्चित किया है कि—

'तस्मिन् तज्जने च भेदाभावात्।'

अर्थात् भगवान्‌में एवं भक्तजनमें अन्ततोगत्वा भेदका अभाव हो जाता है, दोनों एक—अभिन्न हो जाते हैं।

प्रेमी सन्तोंने भी इसी ही सिद्धान्तका समर्थन किया है कि—

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं, हम नाहिं।
प्रेम गली अति—सांकरी, तामें दो न समाहिं॥
ब्रह्म नहीं, माया नहीं, नहीं जीव, नहि काल।
अपनी हू सुधि ना रही, रह्यो एक—नन्दलाल॥

इसप्रकार भक्त एवं भगवान्‌की परस्पर अतिप्रियताका भी पर्यवसान एकात्मभावमें ही हो जाता है। हरिः ॐ तत्सत्।

(१८)

'उदाराः सर्व एवैते, ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा, मामेवानुत्तमां गतिम्॥

(७। १८)

आर्तादि ये सब भक्त, यद्यपि उदार हैं, अर्थात् श्रद्धापूर्वक-किसी भी कामनासे मेरा भजन करते हैं, इसलिये वे उत्तम एवं अच्छे हैं, परन्तु

ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है, ऐसा मेरा मत है। क्योंकि—स्थित-प्रज्ञ-ज्ञानीभक्त, अति—उत्तम- गतिस्वरूप मुझ—परमात्मामें ही एकमात्र अनन्यभावसे सदा अवस्थित रहता है।

आनन्दनिधि भगवान् श्रीकृष्ण अपने भक्तोंका वर्णन करते हुए कहते हैं कि-मेरे आर्त, अर्थार्थी जिज्ञासु एवं ज्ञानी भक्त सभी ही उदार हैं, कृपण नहीं। क्योंकि—वे सब विशुद्ध—आनन्दके महासागररूप मुझ परमात्माके ही अभिमुख हैं, मेरी तरफ ही टिकटिकी लगाये हुये बैठे हैं, उन्हें मेरा ही विश्वास है, दुःखनाश, अर्थलाभ, ज्ञानप्राप्ति भी वे मेरे द्वारा ही प्राप्त करना चाहते हैं। चातकके समान उनकी अनन्य-निष्ठावाली पवित्र—भावना है। किसी कविने चातककी भावनाका इसप्रकार वर्णन किया है—

'पयोद! हे वारि ददासि वा न वा,
त्वदेकचित्तः पुनरेष चातकः।
वरं महत्या म्रियते पिपासया,
करोति नान्यस्य ह्युपासनं क्वचित्॥'

हे जल—बरसानेवाले मेघ! तू चातकको जल दे, या न भी दे, तो भी वह एकमात्र तुझमें ही चित्त लगाकर बैठा हुआ है। आकाशमें तुझको ही वह आशा भरे नेत्रोंसे देख रहा है, उसे तेरा ही दृढ़ विश्वास है कि—मेघराजा मेरे मुखमें अवश्य ही—जलको बिन्दुएँ डालेगा, और मेरी प्यास बुझायेगा। भले ही वह बड़ी भारी प्याससे मर जाय तो भी वह अन्य किसी भी जलका सेवन नहीं करेगा। ऐसी उसकी मेघके प्रति अनन्य—निष्ठा है।

आर्तादि—भक्तोंकी भी भगवान्‌के प्रति ऐसी अनन्य—निष्ठा है। वे कुछ चाहते हैं, तो भी भगवान्‌से ही चाहते हैं, अन्य-किसीसे कुछ नहीं चाहते। जैसे पतिव्रता—साध्वी—नारी रति—सुख प्राप्त करना चाहती है, परन्तु वह अपने प्रियतम—पति द्वारा ही, अन्य किसीके द्वारा नहीं। इसलिए आर्तादि—भक्तोंके मनमें दुःखनाशादिकी चाहना होनेपर भी उनकी वृत्तियोंका लक्ष्य एक-मात्र श्रीभगवान् ही हैं, एवं श्रीभगवान्‌में ही दृढ—अनुराग है, इसलिए तो वे भक्त हैं, भक्त—वह है, जिसका भगवान्‌में अनुराग हो। अत एव श्रीमद्भागवतमें कहा है—

'अजातपक्षा इव मातरं खगाः,
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा,
मनोऽरविन्दाक्ष! दिदृक्षते त्वाम्॥'
(६।११।२६)

हे कमलनयन! प्रभो! जिनके पङ्ख नहीं जमें हैं, वे पक्षियोंके असमर्थ—बच्चे, जैसे माताकी प्रतीक्षा करते हैं, भूखसे पीड़ित—बछड़े जैसे माताका ही दूध पीनेके लिए उत्सुक रहते हैं, तथा जैसे विरह—व्यथित कामिनी अपने प्रवासी—प्रियतमकी बाट जोहती रहती है। उसी प्रकार मेरा मन कल्पवृक्षके समान समस्त-कामनाओंके पूर्ण करनेवाले आप भगवान्‌को ही देखना चाहता है।

उदार वह है-जो तुच्छ—आश्रयका त्यागकर महान् आश्रयको ग्रहण करे। जो स्वयं तुच्छ है, याचक है, वह किसीको क्या देगा?। जो सर्वशक्तिमान् है, दयासागर है, परम—उदार है, जो भी मांगो, सब

कुछ देनेमें समर्थ है, भक्त-हितकारी है, रक्षक है, उस महान् से ही मांगना चाहिए। जो सबको देता है, वह मुझ भक्तको क्यों नहीं देगा?। जानको देत, अजानको देत, जहानको देत, वह मुझको भी देगा ही, ऐसा विश्वास रखकर उस महान् भगवान्की प्रपत्ति ग्रहण कर निश्चिन्त बनकर जो भगवच्चिन्तन करता रहता है, उसके उदार एवं सुकृती होनेमें कुछ भी संशय नहीं।

जिसप्रकार कोई अग्निसे जल रहा है, वह दाड़कर समीपके सरोवरमें कूदकर अपनी दाह--व्यथाका शमन करता है, तो वह बुद्धिका उदार माना जाता है, इसप्रकार जो इस संसारकी विविध—संतापाग्निसे प्राप्त ज्वलन व्यथाका शमन करनेके लिए भक्तिरूपी सरोवरमें कूद पड़ता है, तो वह आर्त-भक्त कृपण नहीं किन्तु उदार ही माना जाता है। क्योंकि—उसने अपनी रक्षाके लिए बुद्धिका सदुपयोग किया है। एवं जाननेकी इच्छा भी प्राणी मात्रमें स्वाभाविकी होती है, संसारकी अनेक वस्तुओंका ज्ञान संपादन किया, परन्तु उससे शान्ति एवं तुष्टि किसीको प्राप्त नहीं हुई, इसलिए वह ऐसी वस्तुको जानना चाहता है कि—जिसके जाननेपर परम शान्ति एवं अक्षय-तुष्टि प्राप्त हो, ऐसी वस्तु एक-मात्र भगवान् विश्वात्मा ही हैं। बस अब वह उसको ही यथावत्—जाननेके उद्देश्यसे उसका ही भजन करता रहता है, इसलिए वह जिज्ञासु-भक्त भी उद्देश्य-साधकसन्मार्गगामी होनेके कारण बुद्धिका उदार ही है। एवं अर्थार्थी-भक्त भी उदार है। उसने भी समस्त ऐश्वर्योंके अधिपति—मुझ भगवान्को ही पकड़ रक्खा है, जो मूलको पकड़ता है, उसे शाखा-पत्र-पुष्पादि-मिलनेमें कुछ भी बाधा नहीं होती। अनायासतः प्राप्त हो जाते हैं। इसप्रकार

कामधेनुरूप–भगवद्भक्ति द्वारा उसे अभिलषित-ऐश्वर्य भी मिल जाता है, एवं ऐश्वर्याधिपति भगवान् भी मिल जाता है। उसकी बुद्धिकी उदारताके विषयमें तो किसीको सन्देह ही नहीं। जिसने इस लोकको भी सुधारा, एवं मानव-जीवनको भी आनन्दके साथ व्यतीत किया, और अन्तमें भगवत्कृपासे ज्ञानकी नौकामें बैठकर भगवद्धाम में भी पहुँच गया।

परन्तु ज्ञानी भक्त तो मेरा आत्मा ही है, ऐसा मेरा निश्चय है। मुझ भगवान्में एवं ज्ञानी भक्तमें तिल-मात्रका भी भेद-भाव नहीं रहता। उसके साथ मेरा एवं मुझसे उसका सर्वथा अभेदभाव हो जाता है। यद्यपि आर्त-आदि अन्य भक्त भी मेरे ही अभिमुख हैं, मेरा ही भजन करते हैं; तथापि उनके एवं मुझ भगवान्के मध्यमें कुछ क्षुद्रस्वार्थरूपी —अन्तराय बना हुआ है। इसलिए वे मेरेसे कुछ दूर पर बैठे हैं, मुझमें सर्वथा नहीं मिल सके हैं। उनमें प्रेम होने पर भी ज्ञानी भक्तके समान परम—प्रेम नहीं है। परम-प्रेम किसी भी अन्तरायको सहन नहीं कर सकता, किसी भी अन्य-इच्छाको रहने नहीं देता। वह प्रेमीको प्रियतम-मय ही बना देता है, उसे जब अपनी ही होश नहीं रहती, तब वह—अन्यको देख ही कैसे सकता है ?। अन्यके ज्ञान विना अन्यकी इच्छाका संभव नहीं। ज्ञान ही इच्छाकी जननी है। इस प्रकार वह परम-प्रेमकी दृढ़-रस्सी, ज्ञानी-भक्तको एवं प्रियतम—भगवान्को ऐसी मजबूतीके साथ बांध देती है कि–जिससे इन दोनोंका—अस्तित्व अभिन्न हो जाता है। किसी भी प्रकारकी पृथक्ता नहीं रहने देती। इसलिए ज्ञानवान् भगवान्का ही आत्मा यानी अभिन्न-स्वरूप हो जाता है। अतः वह उदारतम है। जब ज्ञानवान् भगवान्को अपनी अन्तरात्मा ही मानता है, आत्मासे

भिन्न नहीं मानता। तब भगवान् ज्ञानवान्को आत्मासे भिन्न कैसे मान सकते हैं? नहीं मान सकते। इसलिए तो भगवानकी गीतामें स्पष्ट घोषणा है कि—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'

(४।११)

जो भक्त जैसा भाव रखकर मेरे अभिमुख होते हैं, मेरा भजन करते हैं, मैं भी उनके प्रति वैसा ही भाव रखकर उनको भजता हूँ।

अत एव ऋग्वेद-संहितामें भी भक्तोंकी भगवान्के प्रति अभेद-भावकी चाहनाका इस प्रकार उल्लेख किया है कि—

'ॐ यदग्ने! स्यामहं त्वं, त्वं वा घा स्या अहम्।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः॥'

(८।४४।२३)

हे अग्ने—परमात्मन्! यदि मैं तू हो जाऊँ, तथा तू मैं बन जाय तो बहुत ही अच्छा हो। ऐसी अभेदभावकी सिद्धिके लिए तेरे आशीर्वाद सत्य एवं सफल होने चाहिए।

आत्मा कभी भिन्न नहीं होता, अनात्मा ही भिन्न होता है। स्त्री, पुत्र, धनादि, अनात्मा होनेके कारण भिन्न देखे जाते हैं। यदि आत्मा भी भिन्न माना जाय तो आत्मा एवं अनात्मामें विलक्षणता ही क्या रहेगी?। आत्मा भी भिन्न, अनात्मा भी भिन्न, तब तो दोनों एक ही हो गये। इसलिये आत्मा यानी अभिन्न--स्वरूप, ऐसा ही निश्चयसे मानना चाहिए। अनन्य--प्रेम प्रदर्शित करनेके लिए विश्वमें आत्मासे बढ़कर दूसरी कोई उपमा ही नहीं मिल सकती। 'यह मेरा आत्मा

है' ऐसा कहने पर तमाम–भिन्नताओंकी समाप्ति हो जाती है। इससे अभेदभावका ज्ञापक अनन्य--प्रेम ही सूचित होता है। इस विषयमें कवि--कुलगुरु- कालिदासके जीवनकी एक घटना इसप्रकार है —

भारतीय–इतिहासमें राजा भोज एवं कवि–कालिदासका भी एक खास स्थान है। राजा भोज संस्कृतका अच्छा विद्वान् था, अत एव वह विद्वानोंका बड़ा आदर–सत्कार भी करता था। उसकी सभामें कालिदास, दण्डी–कवि, भारवी आदि बड़े बड़े विख्यात नवरत्न विद्वान् थे। एक समय राजा भोजके मनमें यह जिज्ञासा हुई कि–मेरी सभाके नवरत्नोंमेंसे श्रेष्ठ विद्वान्–कविरत्न कौन है?। यह तो मानी हुई बात है कि–संसारमें सब एकसे नहीं होते। छोटे बड़े हुआ ही करते हैं, किसी की किसी विषयमें योग्यता एवं प्रौढता होती है, तो किसीकी अन्य किसी विषयमें। राजाने यह जिज्ञासा अपनी सभामें प्रकट की। एक मन्त्र-शास्त्र-वेत्ताने सम्मति दी कि–इसका निर्णय, भगवती श्रीसरस्वतीजीके मुखसे ही होना चाहिए। नवरात्रिका शुभ–समय समीप ही आ रहा था, इसलिए उसने राजा भोजसे कहा कि–उस समय विधिपूर्वक कुंभ स्थापन कर मातेश्वरी भगवती–श्रीशारदासे ही इस विषयका प्रश्न करना चाहिए। वे ही कृपया कविश्रेष्ठका नाम बतला देगीं।

सभी नवरत्नोंको अपनी–अपनी विद्वत्ता एवं कवन–नैपुण्यका पूर्ण विश्वास था। कालिदासने विचार किया कि–सरस्वती तो मेरी माता है, उसकी दिव्य-कृपासे ही तो मैं गँवार मिटकर विद्वान्–कविराज बना हूँ। **'जिह्वाऽग्रे मे सरस्वती'** है, अर्थात् माताने मुझे वरदान दिया है कि–वह सूक्ष्मरूपसे मेरी जिह्वा पर सदा अवस्थित रहेगी। इसलिए माता

मुझे ही कविश्रेष्ठ कहेगी।

राजा भोजने घट स्थापन कर पूजा एवं स्तुति करनेके पश्चात् भगवतीसे वही प्रश्न किया। स्थापित-कलशसे तीन वार 'कविर्दण्डी, कविर्दण्डी कविर्दण्डी' ऐसी ध्वनि निकली। माता शारदाने—दण्डी कविकी ही श्रेष्ठता कही। इससे कालिदास बहुत दुःखी हुये। जिसप्रकार बालक मातासे रुठ जाता है, इस प्रकार कालिदास माता सरस्वतीसे रुठ गये। यहाँ तक कि—वे भोजनादि भी करना छोड़ बैठे। माता सरस्वतीने प्रकट होकर कालिदाससे पूछा कि—तू इतना दुःखी क्यों है ? भोजनादि भी क्यों नहीं करता ?। किन्तु कालिदास कुछ न बोला। फिर भी भगवती अपना वात्सल्य-भाव प्रकटकर कालिदासको मनाने लगी। कालिदास रोषके साथ अपना मुँह फुलाकर मातासे कहने लगा—'तूने मेरी इज्जत खराब कर दी, तेरे कथनसे भरी सभामें मेरा घोर अपमान हो गया। लोगोंके सामने अब मैं शिर उठाकर बोलने लायक नहीं रहा।' तब भगवतीने कालिदाससे कहा कि—तू तथा सभी लोग मेरा तात्पर्य नहीं समझ सके। दण्डी श्रेष्ठ कवि है, परन्तु तू तो मेरा पुत्र होनेके कारण मेरी आत्मा ही है। मेरेसे तेरा अभिन्न स्वरूप है, इसलिए मैंने तेरी श्रेष्ठताकी घोषणा नहीं की। यदि मैं तुझे श्रेष्ठ कहती, तो तेरे प्रति जो मेरा आत्मभाव है, वह सिद्ध नहीं होता। दण्डी, कवि—श्रेष्ठ हो सकता है, परन्तु उससे भी बढकर वह मेरा आत्मा नहीं हो सकता। और आत्मासे बढ़कर निरवधिक-प्रीतिके प्रदर्शनके लिए अन्य कोई भी उपमा नहीं मिल सकती। आत्मा ही एक मात्र निरवधिक-प्रीतिका आस्पद होता है। ऐसा तू है, दण्डी नहीं।

भगवती सरस्वती द्वारा ऐसा रहस्य सुनकर कालिदास बहुत ही प्रसन्न हुये, माताके श्रीचरणोंमें बारम्बार प्रणाम एवं क्षमा प्रार्थना करने लगे। और कहा कि--सभामें आपको ऐसा ही रहस्य प्रकट करना होगा, जिससे मेरा सलज्ज--मुख लोगोंके सम्मुख हर्षोद्रेकसे समुन्नत बने। एवं मेरा गौरव सबके समझमें आ जाय। माताने स्वीकार किया। पुनः सभामें राजा भोज द्वारा कुंभ स्थापित किया गया। और भगवतीसे प्रश्न किया कि—यह कालिदास कैसा है ?। कुम्भसे भगवतीकी आवाज आई कि—यह कालिदास मेरी आत्मा है, अर्थात् मेरेसे जुदा नहीं। जो सामर्थ्य मुझमें है, वही इसमें भी है। इस प्रकार 'आत्मा' शब्दके प्रयोगसे भगवती-वाग्देवताने कवि कालिदासका अनुपमेय--गौरव सभाके समक्ष सिद्ध कर दिया।

तात्पर्य यह है—कि निरतिशय-प्रियता एवं अभेदभावको सिद्ध करनेके लिए ही आत्मा--पदका प्रयोग किया जाता है। प्रकृतमें श्रीभगवान्‌ने भी ज्ञानी--भक्तके लिए आत्मा शब्दका प्रयोग कर वही सिद्ध किया है।

यद्यपि भगवान् सबके—प्राणिमात्रके आत्मा हैं, एकमात्र ज्ञानवान्‌के ही आत्मा हैं, ऐसी बात नहीं। इसलिए श्रीमद्भागवतमें 'जो क्षेत्रज्ञ आत्मा है—वही भगवान् वासुदेव है, ऐसा अनेक स्थलों पर स्पष्ट ही सिद्ध किया गया है। जैसे—'**भक्त्या मां प्रत्यगात्मानमिहावरुन्धे**॥' (३। २५। २७)

अर्थात् भक्ति द्वारा मनुष्य प्रत्यगात्मारूप मुझ भगवान्‌को इस देहमें ही प्राप्त कर लेता है।

'परो भगवान् वासुदेवः क्षेत्रज्ञ आत्मेदमनुप्रविष्टः।'
(भा० ५। ११। १४)

सबसे पर भगवान् वासुदेव ही क्षेत्रज्ञ आत्मा है, एवं यही चराचर जगत्‌में आत्मरूपसे प्रविष्ट हुआ है।

'ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेकं, अनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम्।
प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं, यद्वासुदेवं कवयो वदन्ति॥'
(भा० ५। १२। ११)

जो विशुद्ध-ज्ञान, भीतर बाहरके भेदसे रहित, परमार्थ सत्य ब्रह्म है, वही उपाधि--प्रयुक्त--दोष रहित प्रशान्त प्रत्यगात्मा है, उसीका नाम 'भगवान्' है, और उसीको विद्वान् लोग 'वासुदेव' कहते हैं।

महाभारतमें भी भगवान् व्यासने यही सिद्ध किया है—

'आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः, संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः।
तैरेव तु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः॥'
(शान्ति-पर्व० १८७। २४)

प्रकृतिके सत्त्वादि—गुणोंसे संयुक्त होने पर वह क्षेत्रज्ञ आत्मा कहा जाता है। तथा उनसे विमुक्त होने पर वही 'परमात्मा' इस नामसे बोधित होता है।

जिस प्रकार लोकमें कोई मित्र अपने किसी स्नेहीसे पूछता है कि—आपका स्वास्थ्य कैसा है? इसप्रकार किसी समय भगवान् श्यामसुन्दर श्रीकृष्णसे अर्जुनने पूछा था कि—भगवन्! आपका मन कैसा है? आपकी बुद्धि कैसी है? तथा आप क्या हैं?। अर्जुनके इन तीनों प्रश्नोका उत्तर भगवान्‌ने अनुगीतामें इस प्रकार दिया था कि—

'मनो मे ब्राह्मणं विद्धि, बुद्धिं मे विद्धि ब्राह्मणीं ।
क्षेत्रज्ञः इति यश्चोक्तः सोऽहमस्मि धनञ्जय ! ॥'
(म० भा० अनु० २५।१०)

हे अर्जुन ! मेरा मन ब्राह्मण है, अर्थात् ब्राह्मण्य सम्पादक—शम—दम-सन्तोष आदि गुणोंसे संयुक्त है । तथा मेरी बुद्धि ब्राह्मणी है, अर्थात् पूर्ण--अद्वय-ब्रह्मतत्त्वके अनुसन्धानमें सतत निरत रहती है, इसलिए इसमें समता--एकता—सत्यता आदि ब्रह्मभाव समर्पक शुद्धगुण हैं । और क्षेत्रज्ञ नामसे जो सबका आत्मा कहा गया है, वही मैं हूँ । अर्थात् क्षेत्रज्ञ ही मैं परमात्मा हूँ ।

गीतामें भी भगवान्‌ने यही कहा है—

'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ! ।'
(१३।२)

हे भारत ! समस्त--क्षेत्रोंमें जो क्षेत्रज्ञ—आत्मा है, वह मैं ही हूँ, ऐसा जान ।

प्रश्न—संस्कृत-साहित्यमें 'च' का और (तथा) अर्थ होता है । एवं 'अपि' का 'भी' अर्थ होता है । इसलिए 'सर्वक्षेत्रेषु क्षेत्रज्ञं विद्धि, च=तथा मामपि अर्थात् ततः पृथक् विद्धि' ऐसा क्षेत्रज्ञ एवं मत्पदार्थ-परमात्माका भेदसूचक अर्थ सिद्ध होता है । अत एव 'क्षेत्रज्ञ' एवं 'मां' इन दो-पदोंके मध्यमें कुठारके समान विभिन्न करने वाला 'चापि' पदोंका—किया गया प्रयोग सार्थक हो जाता है ।

उत्तर—भगवान्‌ने त्रयोदशाध्यायमें 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयो र्ज्ञानं यत्तत् ज्ञानं मतं मम ।' (१३ । २) ऐसा कहा है । अर्थात् एक पदार्थ

क्षेत्र है—जो दृश्य जड एवं परिच्छिन्न होनेके कारण बाधित—मिथ्या है। तथा द्वितीय पदार्थ क्षेत्रज्ञ है, जो सत्—चित्--आनन्द--पूर्णाद्वय होनेके कारण पारमार्थिक—सत्य है। अत एव हेयरूपसे क्षेत्रका ज्ञान तथा उपादेयरूपसे क्षेत्रज्ञका ज्ञान कहा गया है। जड—चेतनसे अन्य तृतीय पदार्थ कोई नहीं है, इसलिए उसका ज्ञान कैसे हो सकता है?। क्षेत्रज्ञ का ज्ञान एवं उससे पृथक् मत्पदार्थ परमात्माका ज्ञान ऐसा मानने पर तीन पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है—जो भगवान्के पूर्वोक्त-वचनसे सर्वथा विरुद्ध है। अतः 'चापि' निपातका क्षेत्रज्ञ एवं परमात्माका भेदसूचक अर्थ नहीं मानना चाहिए। किन्तु ब्रह्मसूत्रके व्यतिहार-न्यायके अनुसार 'क्षेत्रज्ञं मां विद्धि' च=तथा मामपि क्षेत्रज्ञं विद्धि' ऐसा अद्वय ब्रह्मकी अहंग्रहोपासनाका साधक जीवेश्वरका परस्पर अभेदसूचक अर्थ मानना ही प्रामाणिक एवं सुसंगत है। कृष्ण--द्वैपायन--व्यासने ब्रह्मसूत्रमें कहा है कि—

'व्यतिहारो विंशिषन्ति हीतरवत्।' (३।३।३७)

जीवात्म-परमात्मनोर्मिथो विशेषणविशेष्यभावो व्यतिहारः।' अर्थात् जीवात्मा एवं परमात्माकी एकताका सूचक परस्पर विशेषण—विशेष्य भावका नाम व्यतिहार है। जिसका प्रतिपादन ऐतरेय एवं जाबाल शाखावाले महर्षियोंने इस प्रकार किया है—

'यद्योऽहं सोऽसौ, योऽसौ सोऽहम्' (ऐ० आ० २।४।३)

अर्थात् जो मैं हूँ, सो वह है, और जो वह है, सो मैं हूँ। तथा—

'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते! अहं वै त्वमसि'
(जा० उ० २।३४)

अर्थात् हे भगवन् ! हे देव ! निश्चय ही 'तुम' मैं हूँ और 'मैं' तुम हो।

इसप्रकार पूर्वोक्त दोनों शाखाओंमें व्यतिहार द्वारा अर्थात् एकमें दूसरेके—अपरोक्षत्व-असंगत्वादि--धर्मोंका विनिमय द्वारा अहंग्रहोपासनाकी सिद्धिके लिए एकताका प्रतिपादन किया गया है। जिसप्रकार अद्वय—अभिन्न—पूर्ण--ब्रह्मकी उपासनाके लिए—अन्य शाखाओंमें सर्वात्मत्व--प्रभृति इतर गुण कहे गये हैं, इसप्रकार 'त्वमहमस्मि' 'अहं च त्वमसि' ऐसे—उभयके उच्चारण द्वारा श्रुतियाँ अभेद सूचक परस्पर-विशेषण देकर वर्णन करती हैं। जीवात्माके साथ परमात्माका अभेद-चिन्तन करने पर परमात्मामें विद्यमान परोक्षत्व—भिन्नत्वादि दोषोंकी निवृत्ति होती है। तथा परमात्माके साथ जीवात्माका अभेद चिन्तन करने पर जीवात्मामें विद्यमान —कर्तृत्व--भोक्तृत्व-सद्वयत्वादि-संसार धर्मोंकी निवृत्ति होती है। इस-प्रकार—व्यतिहार द्वारा ब्रह्मका चिन्तन सार्थक होता है, और तन्मय चिन्तन द्वारा असंसारी—असंग-अद्वय—ब्रह्मका अनन्यरूपसे अपरोक्ष—साक्षात्कार होजाता है। अत एव बृहदारण्यकवार्तिक-सारमें परमश्रद्धेय-विद्यारण्य स्वामीने कहा है कि—

> 'प्रत्यक्त्वं ब्रह्मणस्तत्त्वं ब्रह्मत्वं चात्मनस्तथा।
> पारोक्ष्यद्वैतहानेन ह्यात्मा ब्रह्मेति बोध्यते॥
>
> (४।४।७०)

ब्रह्मका प्रत्यक् स्वरूप है, और आत्माका ब्रह्मस्वरूप है। परोक्षत्व एवं सद्वयत्वके त्याग द्वारा आत्मा ही ब्रह्म है, ऐसा बोधन किया जाता है। अर्थात् आत्मामें सद्वयत्वादि एवं ब्रह्ममें परोक्षत्वादि अविद्या प्रयुक्त

हैं, वास्तविक नहीं हैं, विद्याद्वारा अविद्याका विनाश होने पर तत्कल्पित सद्वयत्वादिकी निवृत्ति होजाती है, एवं दोनोंका वास्तविक अभेद सिद्ध होजाता है।

इसलिए क्षेत्रज्ञ ही भगवान् है, एवं भगवान् ही क्षेत्रज्ञ हैं, ऐसा अभेद ही मानना चाहिए। अतः भगवान् सबके आत्मा हैं, एवं सबकी आत्माएँ वस्तुतः भगवद्रूपही हैं, ऐसा अनेक शास्त्रोंके प्रमाणों द्वारा सिद्ध हो जाता है। तब भगवान्ने ज्ञानवान्को ही अपना आत्मा क्यों कहा ?।

इसका समाधान इसप्रकार है। यद्यपि भगवान् सबके आत्मा हैं, इसमें कुछ भी संशय नहीं, तथापि ऐसा सभी नहीं जानते। भगवान् अज्ञानियोंके आत्मा हैं, परन्तु अज्ञातरूपसे। और ज्ञानवान्के ज्ञातरूपसे आत्मा हैं। अज्ञातपदार्थ, अतिसमीप होने पर भी दूरातिदूर, एवं अभिन्न होने पर भी अतिभिन्न माना जाता है। इसलिए श्रुतिने कहा है कि—

'दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च।' (मु० उ० ३।१।७)

वह ब्रह्म भगवान् दूर से भी अत्यन्त दूरमें है, तथा वह यहाँ ही अतिसमीपमें है।

ज्ञानवान्के लिए वे भगवान् अनन्यरूपसे ज्ञात होने के कारण अति—समीप—अभिन्न आत्मा ही हैं। लोकमें भी ऐसा ही देखा गया है। दो मनुष्य हैं, दोनोंके घरमें द्रव्य--निधि गड़ी हुई है। एक मनुष्य जानता है, इसलिए वह निधि उसके अतिसमीप है। जब चाहे तब वह उसे प्राप्त कर सकता है। द्वितीय मनुष्य निधिको नहीं जानता है, इसलिए वह उससे अति—दूर मानी जाती है, भले ही वह उसके ऊपर खटिया बिछाकर सोता ही क्यों न हो ?। परन्तु अज्ञात होनेके

कारण वह समीपस्थ निधि उसके दारिद्रय-दुःखका निवारण नहीं कर सकती।

अज्ञात--पदार्थ दुःखका कारण हो जाता है, एवं ज्ञातपदार्थ दुःख निवारण कर सुख एवं सन्तोष देता है। अतएव महाभारत में कहा है कि—

'सर्पाः कुशाग्राणि तथोदपानं, ज्ञात्वा मनुष्याः परिवर्जयन्ति।
अज्ञानतस्तत्र पतन्ति केचित्, ज्ञाने फलं पश्य यथा विशिष्टम् ॥

मार्गमें पड़े हुए सर्पोंको, कण्टक जैसे चुभजाने वाले कुशाओंके अग्रभागोंको, तथा तृणाच्छन्न कूपको जानकर मनुष्य उनका परिवर्जन कर देते हैं। परन्तु कुछ लोग उनको न जानकर उनमें गिर पडते हैं। सर्पको न जानकर जब मनुष्य उसके ऊपर पैर रख देता है, तब सर्प उसे काट लेता है। और विष द्वारा उसे मृत्यु-दुःख भोगना पड़ता है। कुशाओंके अग्रभाग भी अज्ञात होनेके कारण पैरोंमें चुभ जाते हैं, एवं कष्ट प्रदान करते हैं। तथा तृणाच्छन्न कूपको न ज्ञानकर मनुष्य उसमें गिर पड़ता है, और कष्ट भोगता है। इसप्रकार उनका अज्ञान दुःख-सम्पादक, एवं उनका ज्ञान दुःख—निवारक हो जाता है। इसप्रकार ज्ञान एवं अज्ञानका विशिष्ट-इष्टानिष्ट फल प्रत्यक्ष देख। सर्पादियोंका जाननेवाला-हर्ष प्रकट करता हुआ कहता है कि—मैं इनसे बच गया। नहीं तो मुझे बहुत दुःख भोगना पड़ जाता। नहीं जाननेवाला रोता है, चिल्लाता है एवं दुःख भोगता है।

इसलिए अज्ञान ही दुःख है, भय है, मृत्यु है, एवं बन्धन है। तथा ज्ञान ही सुख है, अभय है, अमृत है, एवं मुक्ति है। इस विषयको आप एक लौकिक--दृष्टान्त द्वारा समझें—

एक छोटेसे ग्राममें एक--ब्राह्मण एवं एक--क्षत्रिय दोनों मित्र रहते थे। एक रोज वे दोनों साथ साथ चार मील दूरमें स्थित एक नगरमें कुछ चीजें खरीदने गये । बहुत चीजें खरीदनी होनेके कारण उस नगरमें ही सूर्यास्त हो गया । चीजें बाँधकर अँधेरेमें ही वे दोनों नगरसे अपने ग्रामकी तरफ जाने लगे । मार्गमें एक गहन जंगल पड़ता था । जिसमें कुछ ऊँचे वृक्ष भी खड़े थे । जंगलमें जाते समय ब्राह्मणने क्षत्रियसे कहा--अपने ग्रामका अमुक बुढ्ढा चाचा कहता था कि--इस जंगलमें एक बड़ा ब्रह्मराक्षस--पिशाच--भूत रहता है, वह कभी अँधेरेमें किसीके समक्ष प्रकट होजाता है, एवं हैरान भी करता है । वह कई व्यक्तियोंको दीख पड़ा भी था । ब्राह्मणकी बात सुनकर क्षत्रियके हृदयमें भी भूतके भयका संचार हो गया, और तुरन्त ही उसकी छाती धक् धक् होने लगी । ब्राह्मणके हृदयमें तो प्रथमसे ही भूतकी भावना थी। दोनों ही भूतकी भावनासे भयग्रस्त हुए जा रहे थे। मार्गमें एक वृक्षका ठूँठ आया । उसे देखते ही उसमें भूतका दर्शन होने लगा । उसकी दो शाखायें ऊपर उठाये हुए--दो हाथोंके समान दीख पड़ीं, बीचमें मुखकी आकृति भी प्रतीत होने लगी । ब्राह्मणने भयभीत हृदयसे क्षत्रिय--मित्रसे कहा--देखो, यह वही पिशाचभूत सामने खड़ा है। क्षत्रियने भी कहा--हाँ है तो वही, मुझे तो उसकी बड़ी बड़ी आँखें भी दीख पड़ती हैं । ब्राह्मणने कहा--आँखें तो दीखती ही हैं, परन्तु वह मुख फाड़कर अपने विकराल बड़े बड़े दांत भी दिखा रहा है। मालूम पड़ता है कि--वह हाथोंसे पकड़कर हमें खाना चाहता है। ब्राह्मणने भी डरके मारे सम्मतिसूचक शिर हिला दिया। परन्तु उससे कुछ बोला नहीं

गया। अब वे दोनों अज्ञातपदार्थ ठूँठ (स्थाणु) में भूतका भ्रान्त दर्शन होनेके कारण काँपने लगे, भयसे शरीरसें पसीना बह निकला, जोरोंसे श्वास चलने लगी। मन सोचने लगा—इस समय हम बड़े गहरे संकटमें फँस गये हैं। यह दुष्ट-पिशाच हमें मार ही डालेगा। साथमें अपने स्त्रीपुत्रादिकों की भी चिन्ता होने लगी। हमारे मरने पर उनकी बड़ी बुरी दशा होगी। उस समय क्षत्रियने धैर्य धारण कर हिम्मतके साथ ब्राह्मणसे कहा—मित्र! अब डरनेसे क्या होगा? दुश्मन सामने खड़ा है। उससे भागना भी ठीक नहीं, भागने पर भी तो वह पीछे पड़कर हमें पकड़ सकता है। इसलिए उसका मर्द बनकर हिम्मतके साथ मुका-बला करना चाहिए। मैं क्षत्रिय हूँ, इसलिए मैं इस जंगलके पत्थरोंका प्रहार कर इससे युद्ध करूंगा, और तू ब्राह्मण है, अतः अपने गलेकी माला निकालकर हनुमान्‌जीके नामोंका जप कर। हनुमान्‌जीकी या काल-भैरवजीकी प्रार्थना कर। वे दोनों देवता यहाँ शीघ्र आकर इस दुष्टको भगायें, और हमारी रक्षा करें।

इसप्रकार ब्राह्मण—मित्र माला जपने लगा, एवं देवताओंको पुका-रने लगा। तथा क्षत्रिय पत्थर इकट्ठे कर भूतके सामने फेंकने लगा। इतनेमें आकाशमें चन्द्रमाकी कला प्रकाशित हुई, और उसका प्रकाश शनैः शनैः जंगलमें भी फैलने लगा। और कुछ कुछ अंधकार-भागने लगा। कुछ समयके बाद क्षत्रिय-मित्र आश्चर्यके साथ ब्राह्मणसे कहने लगा—कि यह भूत कैसा है? पत्थरोंके आघातसे भी हिलता नहीं। अरे! प्रथम उसकी बड़ी बड़ी आँखें दीखतीं थीं, अब क्यों दीखतीं नहीं। ब्राह्मणने कहा—अब दांतोंवाला फाड़ा हुआ मुख भी मुझे नहीं दीखता।

अरे! यह क्या है? विशेष--प्रकाश फैलने पर अज्ञात स्थाणु अब ज्ञात होने लगा। स्थाणुका ज्ञान होने पर तदज्ञानसे कल्पित भूत भी भाग गया। और मिथ्या भूत दर्शनसे होने वाले हृदयके भय--दुःख--चिन्ता आदि कश्मल भी निवृत हो गये। अब वे निर्भय हुए सुख एवं सन्तोषके साथ अपने ग्राममें पहुँच गये।

इस दृष्टान्तका तात्पर्य यह है कि--अज्ञात पदार्थ भ्रान्तिका हेतु होता है। और भ्रान्ति ही भय, शोक, दुःख एवं मृत्यु प्रदान करती है। वही पदार्थ जब यथावत् ज्ञात हो जाता है, तब भ्रान्तिकी एवं तज्जन्य-भयादिकोंकी निवृत्ति होजाती है, एवं वह सुख--सन्तोष एवं तृप्ति प्रदान करता है। प्रकृतमें अज्ञानी मूढोंके लिए भगवान् अज्ञात हैं, भगवान्के अज्ञानसे ही भ्रान्तिरूप विविध मिथ्याज्ञानोंका प्रादुर्भाव होता है, और वे मिथ्याज्ञान ही भय-दुःखादिके प्रदाता हो जाते हैं। ज्ञानवान् भक्तके लिए भगवान् क्षेत्रज्ञ आत्मारूपसे यथावत् ज्ञात हैं। भगवान्का यथार्थ ज्ञान, ही मिथ्या--ज्ञानादि तमाम कल्मषोंका निवारण कर महती--शान्ति, निरतिशय-सुख एवं निरङ्कुश--तृप्ति प्रदान करता है। इसलिए ही भगवान्ने ज्ञानवान्--भक्तको ज्ञात होनेके कारण अपना आत्मा कहा। भगवान् एवं ज्ञानवान्के मध्यमें जो अनादि--अज्ञानका परदा था, वह ज्ञानके द्वारा सर्वथा नष्ट होगया। अब भेद करने वाला अज्ञान न रहनेसे भगवान् एवं ज्ञानवान्का सर्वथा अभेद होजाता है। प्रथम भी अभेद ही सिद्ध था। मिथ्या-भेद-भ्रमकी निवृत्ति ही अभेदकी सिद्धि है। जिसप्रकार आच्छादक-बादल हट जाने पर विद्यमान सूर्य प्रकाशित होजाता है।

इसलिए किसी महर्षिने स्मृतिमें कहा है कि—

'विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते ।
आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति ॥'

आत्मा एवं ब्रह्मके भेदका जनक अज्ञान ही था । उसका ज्ञान द्वारा आत्यन्तिक-नाश होने पर भेद विद्यमान नहीं रहता । कारणके नाशसे कार्यका नाश स्वतः होजाता है । अर्थात् भेद असन्—अविद्यमान होजाता है, तब उस असत् भेदको कौन करेगा ? अर्थात् अज्ञानरूप कारणके विना कोई भी नहीं कर सकता। और अज्ञानरूप कारणका आत्यन्तिक-नाश होगया है । फिर उसका जीवन किसी भी प्रकारसे हो ही नहीं सकता । इसलिए भगवान्का ज्ञानवान्के लिए कहा गया 'आत्मा' शब्दका निर्देश स्वतः सिद्ध—अभेदभावका ही ज्ञापन करता है।

ज्ञानी--भक्त मुझ भगवान्को आत्मारूपसे जानता है, इसलिए वह मेरा आत्मा ही है। मुझसे भिन्न नहीं, मैं ही वह हूँ, ऐसा मेरा निश्चय है। अत एव वह ज्ञानी मुझ-भगवान्में ही सदा युक्तात्मा यानी समाहित-चित्त रखता है । क्योंकि—उसकी निरतिशय-प्रीतिका विषय एकमात्र मैं ही हूँ. मुझसे अतिरिक्त अन्य कोई भी पदार्थ प्रीतिका विषय उसकी दृष्टिमें नहीं रहता। इसलिए उसका चित्त एकमात्र मुझ भगवान्में ही लगा रहता है। चित्तका यह स्वभाव है कि—वह जिसमें प्रीति रखता है, वहाँ ही लगा रहता है । अतः उसने मुझ अनन्त—आनन्दघन—आत्मारूप भगवान्को ही सर्वोत्कृष्ट—गतिरूपसे स्वीकार किया है। गतिका अर्थ है—गन्तव्य (प्राप्तव्य) परम-फल (लाभ)। व्याकरणमें गतिके ज्ञान, गमन एवं प्राप्ति तीन अर्थ प्रसिद्ध हैं । गमन अर्थ यहाँ उपपन्न

नहीं होसकता, क्योंकि–भगवान्–अपरिच्छिन्न–व्यापक हैं। इसलिए–ज्ञान एवं प्राप्ति ये दो अर्थ ही मानना उचित है। प्राप्ति भी यहाँ प्राप्त की ही समझनी चाहिए, अप्राप्तकी प्राप्ति नहीं। प्राप्त प्रदार्थ भी-अप्राप्त-की भ्रान्तिकी निवृत्ति द्वारा प्राप्त होता है। यही लब्धका लाभ है। ज्ञान भी अज्ञातत्व--भ्रमको निवारण कर उस भगवान्को आत्मरूपसे ज्ञात बना देता है। इसलिए ज्ञानीभक्त, मुझसे अन्य किसी भी पदार्थको न ज्ञेय समझता है, एवं न लाभरूपसे ही मानता है। **'आत्म-लाभान्न परं विद्यते'** अर्थात् आत्म–लाभ ही उत्कृष्ट–लाभ है, तदन्य पदार्थको विनाशी होनेके कारण वह लाभरूप नहीं मानता।

अनुत्तमका अर्थ है–जिससे उत्तम (उत्कृष्ट–सरस) अन्य कोई नहीं, वही एकमात्र सबसे उत्तम ही अनुत्तम है। उत्तमताके अनु-सन्धानसे मनुष्य स्वभावतः आनन्दका -अनुभव करता है, यह लोकमें भी प्रत्यक्ष देखा गया है। लौकिक–उत्तमताएँ धनसे, विद्यासे, जाति–कुलसे, युवानीसे, रूप–सौन्दर्यसे, सत्तासे एवं स्त्री-पुत्रादि-परिवारसे प्राप्त होती हैं। संसारासक्त-मूढ-मानव उन उत्तमताओंको सर्वदा याद रखता हुआ फूला नहीं समाता। उनके मदसे शिर ऊँचाकर छाती निकालकर बड़े अभिमानके साथ दूसरोंको अपने सामने नगण्य समझता हुआ ऐंठता हुआ चलता है। मनमें बड़े हर्षका अनुभव करता हुआ कहता है कि–है कोई मेरे जैसा **'कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया'**।

कोई जानता है–मैं बड़ा धनवान् हूँ, बडे ऊँचे परिष्कृत बंगलेमें रहता हूँ, मूल्यवान् मोटरों द्वारा सैर सपाटा लगाता हूँ, अच्छे-सुन्दर वस्त्रोंसे–एवं आभूषणोंसे सुसज्जित रहता हूँ। यह विपुल धन ही मेरी

उत्कृष्टताका सम्पादक है। इसलिए उसे प्रचुर-धन-प्रयुक्त उत्कृष्टताकी बड़ी खुशी बनी रहती है। कोई समझता है—मैं विद्यावान् हूँ, एम-ए-आदि अनेक डिग्रियाँ मैंने प्राप्त की हैं। मेरे सामने कौन जीभ खोल सकता है ?। विद्याके प्रभावसे मैं सबकी बोलती एक क्षणमें बन्द कर सकता हूँ। इसलिए वह विद्याके उत्कर्ष द्वारा अति-हर्षका अनुभव करता रहता है। कोई कहता है—मेरी जाति एवं कुल सबसे उत्तम है। मैं अमुक प्रख्यात गोत्रमें पैदा हुआ हूँ। मेरा दादा एवं मेरा बाप ऐसा था, वैसा था,। इसलिए मैं सर्वोत्तम हूँ, इस प्रकार वह अपनी अमुक जातीयतादि प्रयुक्त—उत्कृष्टताका अनुसंधान करता हुआ प्रचुर—प्रमोदका अनुभव करता है। कोई जोशके साथ कहता है—क्या तुम मुझे जानते हो ?, मैं कलक्टर हूँ, मैं गवर्नर हूँ, बैरिस्टर हूँ, ऐसा हूँ, वैसा हूँ, मैं अपने पास अमुक विशिष्ट-सत्ता रखता हूँ। सत्ताके बलसे जिसे चाहूँ—उसे दबा सकता हूँ, इस प्रकार वह विशिष्टसत्ता—प्रयुक्त—उत्कृष्टताका अपनेमें आरोपकर आनन्दित रहता है। कोई कहता है—मैं नवयुवक हूँ, या नवयुवती हूँ, मैं खूब स्वस्थ रहता हूँ, घोड़ेके समान थमकता हुआ चलता हूँ, मेरा सुन्दर चेहरा है, मैं रूपवान् हूँ, दर्शनीय हूँ, इसलिए वह अपनेमें युवत्व—सुन्दरत्वादि प्रयुक्त उत्कृष्टताका अनुभव करता हुआ अति-प्रसन्न बना रहता है। कोई कहता है—मेरी स्त्री बहुत ही अच्छी मनोहर है, पुत्रादि-परिवार गुणवान् है। बन्धु-वर्ग अनुकूल है, परिवारके सम्बन्धसे वह अपनेमें उत्कृष्टताका अनुभव करता हुआ—वह अपनेको सुखी मानता है।

परन्तु ये लौकिक-उत्कृष्टताएँ क्षणिक—आनन्दकी हेतु होने पर

भी शाश्वत एवं पूर्ण-आनन्दकी हेतु नहीं हो सकतीं। क्योंकि-जिन धनादि-पदार्थोंको निमित्त बनाकर अपनेको उत्कृष्ट समझ रहा है। वे पदार्थ सबके सब क्षणभंगुर हैं, आज हैं, कल नहीं रहते। लक्ष्मी तोय-तरङ्गभङ्गचपला है, अर्थात् जलके तरङ्गोंकी भाँति अस्थिर है। बडे बडे धनी मानी भी कङ्गाल हुए देखे जाते हैं। मोटरोंमें बैठनेवालोंको कभी पैर घिसना भी पड़ जाता है। मूल्यवान् आभूषण भी बेंच देने पड़ने हैं। देखते देखते ही धन-प्रयुक्त-उत्कृष्टता 'तेज-धूपमें पडे हुए बरफके टुकडेके समान' गल जाती है। और धनप्रयुक्त-उत्कृष्टताको खुशी, शोक एवं दुःखमें परिणत हो जाती है। वही हँसनेवाला व्यक्ति अब रात-दिन रोता रहता है। धन तो अनेक-अनर्थोंकी जड़ हैं, उसके सम्बन्धसे अनेक प्रकारकी चिन्तारूपी अग्निमें सदा जलना ही पड़ता है।

लौकिक-विद्या भी मनुष्यको अपना ही पेट भरना सिखाती है, स्वार्थ एवं अभिमानको बढ़ाती है। राग और द्वेषको प्रोत्साहित करती है। इसलिए इसके द्वारा होनेवाली उत्कृष्टताकी खुशी भी तुच्छ है, असार है, 'जादूगरके रुपैयोंके समान' नकली है, क्षणिक है। सद्गुण एवं सत्कर्म विहीन कोरी जातिकुलकी उत्कृष्टता भी हास्यास्पद मानी जाती है। अपने ही मुँहसे मियाँ मिट्ठु बनने पर क्या लाभ?। ऐसी नकली उत्कृष्टता भी-असली-स्थायी हर्षको उत्पन्न नहीं कर सकती। सत्ता एवं अधिकारके मदको भी कर्पूरके समान उड़ जानेमें विलम्ब नहीं लगता, बड़े बड़े सत्ताधारी बादशाहोंको भी सत्ता छोड़कर चोरकी तरह भाग जाना पड़ता है। इसलिए सत्ता-प्रयुक्त-उत्कृष्टता एवं तत्प्रयुक्त-आनन्द भी मृगतृष्णिकाके जलकी भाँति वस्तुशून्य-आभासमात्र मिथ्या ही है। जवानीका जोश

भी १०४ डिग्रीवाला बुखार आने पर स्वतः ठण्डा पड़ जाता है। चेचकका प्रकोप होजाने पर वही सुन्दर शरीर काला एवं भद्दा होजाता हैं। उसकी रूप एवं सौन्दर्यकी उत्कृष्टता तुरन्त ही गायब होजाती है। शरीरका स्वास्थ्य भी स्थायी नहीं। आजका स्वस्थ मानव कल बीमार होजाता है। स्वास्थ्यका सुख व्याधिके दुःखमें परिणत होजाता है। स्त्री--पुत्रादि--परिवारके संयोगका अन्त भी वियोग ही है, जिससे हमारा संयोग हुआ है, उससे एक--दिन वियोग होगा ही, यह ध्रुव--नियम है,

'संयोगा विप्रयोगान्ताः, मरणान्तं हि जीवनम्'।

इसलिए ये लौकिक--उत्कृष्टताएँ स्थायी नहीं हैं, प्रारम्भमें सरस-रूपसे भासमान होने पर भी परिणाममें विरस होजाती हैं। अतः इनके द्वारा वास्तविक-आनन्दका लाभ किसीको नहीं मिलता। वास्तविक--आनन्दका लाभ तो आध्यात्मिक--उत्कृष्टताओंके द्वारा ही मिलता है। ज्ञानवान् भक्त ही पवित्र--विचारोंके द्वारा एवं तत्त्वानुभव द्वारा अपने शुद्ध-जीवनमें आध्यात्मिक--उत्कृष्टताओंको सम्पादन कर सकता है। ज्ञानवान्का दृढतम निश्चय है कि--मैं विनाशी देह नहीं हूँ, किन्तु अविनाशी देव हूँ, मैं परिच्छिन्न एवं जड़ शरीर नहीं हूँ, किन्तु मैं अपरिच्छिन्न--चेतन ब्रह्म हूँ। ज्ञानी एवं अज्ञानीमें-- और कोई फरक नहीं; केवल समझका ही फरक है। एक कहता है--मैं शव हूँ, कुछ रोज हुए मैं पैदा हुआ था, कुछ रोजके बाद मर जाऊँगा। दूसरा कहता है--मैं शिव हूँ, तीन कालमें भी मैं शव--शरीर नहीं हो सकता, मैं कभी पैदा ही नहीं हुआ हूँ, इसलिए कभी मर भी नहीं सकता। अज्ञानी समझता है--मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ। ज्ञानी

समझता है--शरीरादिमें क्रिया एवं भोग होने पर भी उससे विलक्षण मैं प्रत्यगात्मा अकर्ता हूँ, अभोक्ता हूँ, जन्य सुख एवं दुःख अन्तःकरणमें हो सकते हैं। परन्तु सद्घन—चिद्घन मुझ अन्तरात्मामें नहीं हो सकते। मैं आनन्दघन हूँ, वह आनन्द अजन्य है, स्वतः सिद्ध है, निरतिशय है, पूर्ण है, एवं शाश्वत है, वही मैं हूँ। अज्ञानी कर्तृत्वादि--मिथ्या--भावोंका अपनेमें आरोपकर सदा दुःखी बना रहता है, एवं ज्ञानवान् इन मिथ्या-भावोंका सत्य-ब्रह्मभावद्वारा निवारणकर सदाके लिए दुःख-मुक्त होजाता है। एकमें भौतिक-निकृष्ट-भावनाएँ और अन्यमें आध्यात्मिक-उत्कृष्ट—भावनाएँ भरी हुई हैं। अत एव एक अपनेको तुच्छ दीन एवं हीन मानता है, तथा अन्य अपनेको महान्—उदार एवं पूर्ण मानता है। एक वह अज्ञानके वशीभूत हुआ कहता है कि—मैं किसी अन्य—इष्ट या अनिष्टको देखता हूँ, सुनता हूँ, एवं जानता हूँ; इसलिए वह किसी इष्ट पदार्थमें राग एवं किसी अनिष्ट पदार्थसे द्वेष करता है। तदन्य यह, आत्मज्ञानकी दिव्य-ज्योतिमें तल्लीन हुआ कहता है—मैं अन्य किसीको न देखता हूँ, न सुनता हूँ, न जानता हूँ, सर्वत्र सच्चित्सुखघन मैं ही मैं हूँ, मैं अपने आपको ही देख रहा हूँ, सुन रहा हूँ, जान रहा हूँ, अपने आपमें किसीको राग—द्वेष नहीं होता। वह—अपनी ही उत्कृष्ट—महिमाका बाहर—भीतर अवलोकन कर सदा प्रमुदित बना रहता है।

जगद्गुरु—आचार्य श्रीशंकरस्वामीने भक्त ज्ञानवान्का आध्यात्मिक—निश्चय एवं उत्कट-भावनाओंका वर्णन 'स्वात्मनिरूपण' नामक ग्रन्थमें इस प्रकार किया है—

'चिन्मात्रममलमक्षयमद्वयमानन्दमनुभवारूढम्।
ब्रह्मैवास्ति तदन्यन्न किञ्चिदस्तीति निश्चयो विदुषाम्॥

अजरोऽहमक्षरोऽहं प्राज्ञोऽहं प्रत्यगात्मबोधोऽहम् ।
परमानन्दमयोऽहं परमशिवोऽहं भवामि परिपूर्णः ॥
इन्द्रियसुखविमुखोऽहं निजसुखबोधानुभूतिभरितोऽहम् ।
ईशोऽहमीश्वराणामीर्ष्याद्वेषानुषङ्गरहितोऽहम् ॥
ऊर्जस्वलनिजविभवैरूर्ध्वमधस्तिर्यगश्नुवानोऽहम् ।
ऋद्धिरहं वृद्धिरहं तृप्तिरहं तृप्तिदीपदीप्तिरहम् ॥
अम्बरमिव विमलोऽहं शम्बररिपुजातविकृतिरहितोऽहम् ।
ओंकारसारसोल्लसदात्मसुखामोदमत्तभृङ्गोऽहम् ॥
फणधरभूधरवारणविग्रहविधृतप्रपञ्चसारोऽहम् ।
भालतलोदितलोचनपावकपरिभूतपञ्चबाणोऽहम् ॥
जगदानन्दकरोऽहं जन्मजरारोगमरणरहितोऽहम् ।
हरिरहमस्मि हरोऽहं विधिरहमेवास्मि कारणं तेषाम् ॥

चिन्मात्र, निर्मल, अविनाशी, अद्वैत, आनन्दरूप—स्वानुभवैकवेद्य—एकमात्र ब्रह्म ही सदा सर्वत्र है, वही मैं हूँ, इससे भिन्न अन्य कुछ भी नहीं है, ऐसा विद्वानोंका निश्चय है । मैं जरा—रहित हूँ, अक्षर हूँ, अर्थात् व्यापक—अविनाशी हूँ, मैं सर्वज्ञ हूँ, मैं चैतन्यरूप-प्रत्यगात्मा हूँ, परमानन्द-प्रचुर हूँ, कल्याणस्वरूप—परम शिव, परिपूर्ण हूँ । मैं इन्द्रिय-जन्य तुच्छ-सुखसे विमुख हूँ, मैं निज-अखण्ड-विशुद्ध-सुखके अनुभवसे सदा भरपूर हूँ, मैं ईश्वरोंका भी ईश्वर हूँ, मैं ईर्ष्या एवं द्वेषके सम्बन्धसे रहित हूँ । मैं अत्यन्त-प्रभावसम्पन्न ज्योतिर्मय-अद्वयानन्द-पूर्ण अपनी महिमारूप-वैभवोंसे समस्त विश्वके ऊपर, नीचे, चारों तरफ एवं बाहर—भीतर व्याप्त हो रहा हूँ । मैं समस्त-विश्वकी ऋद्धि हूँ, वृद्धि हूँ, तृप्ति हूँ, एवं मैं निरङ्कुश-तृप्तिरूप दीपककी अखण्ड-पूर्ण-भर्गज्योति हूँ । मैं

आकाशके समान विमल हूँ, मैं कामसे समुत्पन्न विकारोंसे रहित हूँ, अत एव मैं ॐकाररूप कमलसे प्रसारित आत्मानन्दरूप-सुगन्धसे मत्त हुआ एक प्रकारका भ्रमर हूँ। मैं शेषनाग, भूधर एवं दिक्-हस्तियोंके विग्रहसे विधारित समस्त चराचर-जगत्का साररूप अधिष्ठान ब्रह्म हूँ। तथा कपालमें उदित—अग्निरूप तृतीय नेत्रसे काम-शत्रुका पराजय करनेवाला त्र्यम्बक-सदाशिव हूँ। मैं ही जगत्को आनन्द प्रदान कर रहा हूँ, एवं मैं जन्म-जरा-रोग, और मरणसे रहित हूँ। मैं ही हरि-विष्णु हूँ, मैं ही हर-शिव हूँ, मैं ही चतुर्मुख—ब्रह्मा हूँ, और उनका कारण परात्पर शुद्ध ब्रह्म भी मैं ही हूँ।

इस प्रकार ज्ञानवान् भक्त इन आध्यात्मिक—उत्कृष्ट एवं पवित्र भावनाओंके द्वारा महान् सर्वोत्तम भगवान्का आत्मा, आनन्दपूर्ण बन जाता है, और अज्ञानी मूढ देहादिकी निकृष्ट एवं विकृत भावनाओंके द्वारा क्षुद्र, दीन, हीन, भगवद्विमुख एवं दुःखपूर्ण बना रहता है। अच्छी-भावनाओंका अच्छा फल एवं बुरी भावनाओंका बुरा फल तत्काल ही मिल जाता है। उत्कृष्ट-भावनासे विजय एवं निकृष्ट भावनासे-पराजय होती है, इस विषयमें अर्जुन एवं कर्णका चरित्र इस प्रकार था—

कुरुक्षेत्रके मैदानमें आमने-सामने कर्ण एवं अर्जुन रथारूढ होकर युद्ध कर रहे थे। अर्जुनके सारथी भगवान् श्रीकृष्ण थे। वे अर्जुनमें उत्कृष्ट-भावनाएँ भर रहे थे। वे कहते थे—हे अर्जुन! तू इन्द्र-पुत्र है, तू बड़ा बलवीर है, तू विशुद्ध क्षत्रिय राजकुमार है, तेरा मुकाबला करनेके लिए कोई भी समर्थ नहीं है, '**पार्थ एव धनुर्धरः**' ऐसी जनश्रुति समग्र—विश्वमें फैले हुए तेरे यशः—सौरभको सूचित करती है। तू और

की तो क्या-बात ? साक्षात्कालको भी परास्त कर सकता है। तू विश्व-विजयी है, महान् है, तेरे समक्ष यह बिचारा कर्ण क्या चीज है ?, जैसे सिंहके सामने गीदड, जैसे सूर्यके सामने जुगनु। तू इसे अभी कुछ ही क्षणोमें पराजित कर देगा। तेरेमें अपार-शक्ति है। इधर कर्णका सारथी शल्य राजा था। वह भीष्मके समान कौरव-पक्षमें रहने पर भी हृदयसे धार्मिक, सदाचारी एवं भगवद्भक्त-पाण्डवोंकी ही विजय चाहता था। इसलिए वह कर्णका सारथी नहीं बनना चाहता था। दुर्योधनने जब बहुत ही अनुनय–विनय किया, तब शल्यने एक-शर्तके साथ कर्णका सारथी बनना स्वीकार किया। वह शर्त यह थी–मैं जो भी, मेरे मनमें आवे, ऐसा अच्छा या बुरा कहूँ, वह सब कर्णको चुपचाप सुनना होगा, यदि उसका कुछ भी वह क्रोधादिके द्वारा प्रतीकार करेगा, तो उसी समय मैं उसके सारथ्यपदसे अलग हो जाऊंगा। हाँ, मैं उसका सारथ्य-वफादारीके साथ करता रहूँगा, परन्तु मेरे कैसे भी वचन हों, वे सब उसको सुनने ही होंगे। कर्णने भी शल्य-राजाकी इस शर्तको स्वीकार किया। कर्णने सोचा–भले ही वह कुछ भी बकवाद करता रहे, उससे अपनेको क्या मतलब ?। समराङ्गणमें मेरे रथका संचालन बराबर होना चाहिए। यह तो वह प्रामाणिक राजा शल्य करेगा ही।

कर्ण सूर्यपुत्र था, असलमें वह पाण्डवोंका ज्येष्ठ भ्राता एवं कुन्ती-का कुमार था। परन्तु कन्यावस्थामें उत्पन्न होनेके कारण लोकापवादसे सुरक्षित रहनेके लिए माता-कुन्तीको उसका त्याग तुरन्त ही करना पड़ गया था। राधा नामकी दासीने बालक-कर्णको पाल–पोसकर बड़ा करनेसे वह दासी–पुत्र एवं हीन-जाति-वाला कहलाया। तथापि वह

अर्जुनकी अपेक्षा विशेष-बलशाली एवं धनुर्विद्यामें अधिक प्रवीण था। युद्धके समय राजा शल्य, कर्णके मानस-भवनमें निकृष्ट-भावनाएँ भरने लगा। वह कहता था कि—अरे कर्ण! तू दासीपुत्र है, हीनवर्णका है, तू उस क्षत्रिय-राजकुमार-अर्जुनका मुकाबला कैसे कर सकता है? क्या गीदड कभी वनराज-सिंहका मुकाबला कर सका है?। तेरा बल उसके महान् बलके समक्ष नगण्य है, तुच्छ है। इसलिए तू उसका किसी भी प्रकारसे विजय कर ही नहीं सकता। उस धीर-वीर-अर्जुनका एक अन्वर्थ नाम विजय है। उसकी कभी पराजय होती ही नहीं, विजय ही होती है। उसने साक्षात् कैलासपति—भगवान् शंकरका मुकाबला किया था। और अपने अतुल-सामर्थ्यका प्रदर्शन कर पशुपति—भोलेनाथको प्रसन्न कर लिया था। भगवान्से उसने अनेक आशीर्वाद, वरदान एवं अजेय-दिव्य-शस्त्रास्त्र प्राप्त किये थे। उस प्रचुर-शौर्यनिधिके द्वारा तू इसप्रकार नष्ट हो जायगा, जिसप्रकार दीपकी ज्वालामें पडकर पतंग नष्ट होजाता है। इस प्रकारके वचन सुनकर कर्णके हृदयमें निकृष्ट—भावनाएँ भर जातीं थीं। मनका उत्साह नष्ट हो जाता था। उत्साहका न रहना ही एक प्रकारकी मनोवैज्ञानिक-पराजय मानी जाती है। उधर अर्जुन उत्कृष्ट-भावनाओंके द्वारा प्रोत्साहित होकर बलवान् हो गया था। तो इधर कर्ण निकृष्ट-भावनाओंके द्वारा हतोत्साह होकर बलहीन बनता जाता था। अन्तमें अर्जुनने कर्णको परास्त किया, और अर्जुन विजयी बना।

यह संसार भी एक—प्रकारका समारांगण है। इसमें हरदम दैवासुर-वृत्तियोंका युद्ध होता रहता है। जैसा बाहर संसार है, वैसा भीतर भी संसार

है। इसमें शुभाशुभ-वृत्तियोंकी खींचातानी बनी ही रहती है। परन्तु जिसमें उत्कृष्ट--भावनावाली शुभ-वृत्तियाँ रहती हैं, वह, अविद्यासे समुद्भूत देहादिकी निकृष्ट-भावनाओंका पराजय कर चिदात्मा-भगवान्की महान् शान्ति एवं अखण्ड--आनन्दका अनुभव कर विजयी बन जाता है। यही भगवान्का अतिप्यारा आत्मा है। जिसकी पावन दृष्टिमें एक--मात्र वही अनुत्तम-गतिरूप-परमानन्द-पूर्ण ब्रह्म-तत्त्व ही सदाके लिए समा जाता है। यही महापुरुष है--धन्य है, उसका ही जीवन सार्थक है।

(१९)

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ (७।१९)

बहुत जन्मोंकी साधनाओंके बाद अन्तिम-जन्ममें वह ज्ञानवान् होता है, और ज्ञान द्वारा वह मुझ परम-प्रेमास्पद-परमात्माको भजता है। वासुदेव भगवान् ही सब कुछ है, अर्थात् वासुदेव-भगवान्के सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं, ऐसा उसका यथार्थ-ज्ञान है। ऐसा ज्ञानवाला ही महात्मा है, वह अत्यन्त-दुर्लभ है।

भगवान् श्रीकृष्ण हम सबके कल्याणके लिए अर्जुनको निमित्त बनाकर उपदेश देते हैं कि--हे पार्थ! ज्ञानकी प्राप्ति, साधनोंके बिना सहजमें नहीं होती। अनेक जन्मोंमें सम्पादन किये हुए-अनेक साधनोंके परिपाक होनेपर ही अन्तिम-जन्ममें ज्ञानका लाभ होता है। '**यल्लाभान्न परो लाभो यत्सुखान्न परं सुखम्।**' आत्म-ज्ञानके सिवाय और कोई वास्तविक-लाभ नहीं, और अन्य कोई पारमार्थिक-सुख नहीं, अर्थात् ज्ञान ही सबसे बड़ा लाभ एवं सुख है। लोकमें भी अमुक साधन जब

अमुक समयकी अवधितक संग्रहीत होते हैं, तब हम उनके द्वारा अभीष्ट लाभ प्राप्त कर सकते हैं। साधनोंके विना लौकिक-लाभ भी प्राप्त नहीं कर सकते। इसप्रकार ज्ञान—लाभके लिए भी साधन सम्पादन करने पड़ते हैं। वे साधन एक ही जन्ममें संग्रहीत नहीं होते। इसलिए सर्वज्ञ भगवान्ने '**बहूनां जन्मनामन्ते**' कहा है।

कुछ मूढ-मनुष्य ऐसा कहते फिरते हैं कि—हमारा अमुक पन्थ है, उसमें जाने पर एक ही जन्ममें मुक्ति मिल जाती है। अमुक गुरुसे कान फुँकाने पर तुरन्त ही मुक्तिका पासपोर्ट मिल जाता है। जहाँ हमें कुछ करना धरना पड़ता नहीं, केवल गुरुकी कृपासे ही हमारा बेड़ा पार हो जाता है। वैदिक—सनातन धर्मके गीता आदि ग्रन्थोंमें तो अनेक जन्मोंकी बड़ी लम्बी मुद्दत लगा रक्खी है, परन्तु हमारे पन्थमें इस एक ही जन्ममें कल्याण हो जाता है। अनेक-जन्मोंके साधनोंके बखेड़ेमें पड़ना नहीं पड़ता। कम कीमत, ज्यादा लाभ, जिस प्रकार एक पैसेसे सेरभर सुवर्णकी प्राप्ति। और गीताका उपदेष्टा वह कृष्ण तो काल है, गीतामें स्वयं अपना परिचय वह इसप्रकार देता है कि—'**कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः**' (११ । ३२) मैं काल हूँ, लोगोंका विनाश करनेके लिए ही बढ चढकर यहाँ आया हूँ। परन्तु हमारे पन्थके गुरु काल नहीं, दयाल हैं, लोगोंका उद्धार करनेके लिए ही वे अलख—निरञ्जन लोकसे यहाँ पधारे हैं। इसलिए तुम हमारे इस नवीन पन्थमें आ जाओ, और पुराने धर्मकी पकड़ी हुई पूँछ छोड़ दो।

ऐसा कहनेवाले लोग नितान्त मूर्ख हैं। उस ढोंगी पन्थके पापी-पेटभरू दलाल हैं। जिस प्रकार व्यापारी लोग अपने मालकी बिक्रीके

लिए अमुक टका कमीशन नियतकर—दलाल रखते हैं, इस प्रकार उस अर्वाचीन कपोलकल्पित—पन्थके चलानेके लिए एवं अक्लके अन्धे एवं गांठके पूरे—लोगोंसे द्रव्य कमानेके लिए उस प्रकारके मिथ्या बकवादी दलाल रक्खे जाते हैं। वे लोग उन दलालोंको सभी धनवानोंके समीप जाकर ऐसा बोलना सिखा देते हैं कि—'हमें कई वर्षोंसे मुक्ति एवं आत्मसाक्षात्कारकी बड़ी अभिलाषा थी। इसके लिए हम काशी—हरद्वारादि अनेक-तीर्थ स्थानों पर गये, अनेक बड़े बड़े महात्माओंसे मिले, परन्तु किसीके द्वारा भी हमारी प्यास नहीं बुझी। अनेक वर्षों तक रखडते रहे, अनेक—साधन किये, परन्तु इनसे कुछ भी सफलता नहीं मिली। जब हम अमुक पन्थके अमुक गुरुके पास गये, उनका शिष्यत्व स्वीकार किया, कानमें जब उन्होंने फूंक लगा दी, तब तुरन्त ही साक्षात्कार हो गया। इसके लिए हमें कुछ भी करना धरना नहीं पड़ा! जैसे मेरा कल्याण सहजमें हो गया, वैसे तुम्हारा भी कल्याण एक ही मिनटमें हो जायगा, बस वही एकमात्र गुरु कल्याणकारी हैं, एवं उनके पन्थमें जाने मात्रसे ही मुक्ति मिल जाती है। इसी ही जन्ममें वे गुरु साधनोंके विनाही कल्याण कर देते हैं।

इसप्रकार कहनेवाले लोग धोकेबाज एवं मिथ्यावादी होते हैं, जहाँ लालची एवं प्रमादी लोग रहते हैं, वहाँ धूर्तोंकी चाल खूब चल पड़ती है। थोड़े रोजके बाद यद्यपि उन लोगोंकी पोल खुल जाती है। तथापि तत्काल वे धूर्त लोग कामयाब हो जाते हैं। और उनके जालमें भोलेभाले विचार-हीन मानव फँस जाते हैं,। परन्तु अन्तमें 'सत्यमेव जयते' ही रह जाता है। जिस प्रकार आपसे कोई प्रोफेसर कहे कि—

'हमने एक ऐसा कॉलेज खोल रक्खा है—जिसमें दाखिल होने पर एक ही वर्षमें लड़का एम. ए. ग्रेज्युएट हो जाता है। अन्यान्य-कॉलेजोंमें तो फिजूलके कई वर्ष बरबाद करने पड़ते हैं, परन्तु हमारी कॉलेजमें ऐसा नहीं करना पड़ता। आपका लडका तीन मासमें मैट्रिक, तीन मासमें इन्टर, तीन मासमें बी. ए. और अन्तके तीन मासमें एम. ए. होजाता है।' तो क्या आप उस प्रोफेसरकी बात सत्य मानेंगे? यदि आप विचारशील हैं, तो तुरन्त ही उस व्यक्तिको मिथ्यावादी एवं धूर्त ही समझकर दूत्कार देंगे। इस प्रकार आपके समीप आकर कोई माली कहे कि—मैं आपके बँगलेके कम्पाउण्डमें बीज बोकर दो मासमें ही बडा वृक्ष बनाकर उसमें आफुस आमके बड़े बड़े पके अनेक फल—लगा सकता हूँ। तो आप उस मालीको क्या समझेंगे?। यदि आपमें वस्तुस्थितिके निरीक्षणकी यथावत् बुद्धि है, तो उसे पागल एवं मूर्ख ही मानेंगे, उसकी बात पर कभी विश्वास नहीं करेंगे। आप लौकिकी-बुद्धि द्वारा समझते हैं कि—कोई भी कार्य तभी ही सफल होता है, जब उसकी सिद्धिके लिए उपयुक्त-साधन प्राप्त हो जाते हैं, अमुक समयकी अवधि पूरी हो जाती है।

प्रमादी संसारासक्त-मूढ मानव ऐसी झूंठी आशा रखते हैं कि—हमें संसारकी आसक्तिका त्याग न करना पड़े, काम-क्रोधादि दोष, मनमें ज्योंके त्यों बने रहें, साधन-भजनके लिए कुछ भी प्रयास न उठाना पड़े, और हमें मुफ्तमें ऐसे ही मुक्ति मिल जाय, तो बड़ी खुशीकी बात है। परन्तु उनकी ऐसी झूंठी आशा रखना सिर्फ उनकी सफेद-मूर्खताका ही परिचय देती है। जैसे कोई विद्यार्थी विद्या-लाभके लिए कुछ भी

प्रयत्न न करे, सदा खेल-कूदमें ही लगा रहे, अजगरके समान खूब खा पीकर खर्राटा तानता हुआ सोता रहे, और साथमें विना प्रयास शीघ्र ही विद्वान् होनेकी आशा रक्खे, तो समझदार लोग उसे बुद्धिका दिवालिया ही समझेंगे।

जिस प्रकार लौकिक कार्य, एकदम सिद्ध नहीं होते, शनैः शनैः मर्यादाके अनुसार साधनोंके द्वारा ही सिद्ध होते हैं। एक साधारण मकान, या बगीचा एकदम साधनोंके विना नहीं बन जाता। विना कुछ करे धरे-धनवान् भी कोई नहीं हो जाता। उसी-प्रकार पारमार्थिक-मोक्षका लाभ साधनोंके विना नहीं होता। और वे साधन एक जन्ममें नहीं, अनेक-जन्मोंमें ही सम्पादित होते हैं। प्रथम जन्ममें वह शुभ कर्म करेगा, अशुभ कर्म शनैः शनैः छोड़ता जायगा, चित्तके अशुभ-संस्कारोंको शुभ-संस्कारोंके रूपमें बदलता जायगा। तब वह द्वितीय-जन्ममें सात्विक-प्रकृतिका होगा, राजस-तामस प्रकृतिकी न्यूनता होगी, हृदयकी कुछ कुछ शुद्धता बढ़ती जायगी, तब वह तृतीय-जन्ममें भगवान्‌की उपासनाका अधिकार प्राप्त करेगा। इस प्रकार उसकी ज्ञान प्राप्त करनेकी योग्यता शनैः शनैः बढ़ती जायगी। और अनेक-जन्मोंके साधनोंका परिपाक होने पर ही अन्तिम-जन्ममें उसे ज्ञानकी प्राप्ति शास्त्रके सहकारसे सद्गुरु एवं भगवान्‌की कृपासे हो जायगी। इसलिए ही हमारे जगद्गुरु भगवान्‌ने '**बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् भवति**' ऐसा प्रामाणिक ही कहा है। और हमारे भगवान् दुष्टोंके लिए काल होने पर भी सज्जनोंके लिए, भक्तोंके लिए, काल नहीं, किन्तु दयाल हैं, रक्षक हैं, उद्धारक हैं। अत एव गीतामें भगवान् अपनेको '**सुहृदं सर्वभूतानां**' कहते हैं।

सुहृद् यानी निरपेक्ष–हितकारी दयालु। वे समस्त प्राणियोंके सुहृत् हैं। कालरूपसे दुष्टोंको दण्ड देने पर भी वे उनके हितकारी ही हैं। जिस प्रकार डाक्टर औपरेशनसे प्रारम्भमें कष्ट देने पर भी रोगीका हितकारी माना जाता है, अहितकारी नहीं।

इसलिए हमारे गीतागायक भगवान्का **'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुं'** ऐसा यथार्थ टाईटिल है। वे जगत्के गुरु हैं, हितोंके उपदेष्टा हैं। अतः भगवान्ने गीतामें विश्वकल्याणके लिए यथार्थ प्रामाणिक ही उपदेश दिया है। जिसके उपदेशों पर बड़े बड़े शंकराचार्य–रामानुजाचार्य आदि सैकड़ों आचार्य–विद्वानोंने भाष्य एवं व्याख्याएँ लिखी हैं। गीता ग्रन्थके ऊपर हमारे देशके पौरस्त्य–विद्वानोंके समान ही विदेशके पाश्चात्य–विद्वानोंने भी अनेक निबन्ध लिखे हैं। जिससे गीताके समग्र उपदेशोंकी प्रमाणिकता एवं हितकारिता ही सिद्ध होती है।

वह अनेक--जन्मोंके साधनोंके द्वारा ज्ञान प्राप्तकर मुझ परमात्माको अनन्य–प्रेमसे भजता है। **'सकलमिदमहञ्च वासुदेवः'** ऐसा उसका दृढ–निश्चय एवं सतत अनुसन्धान है; अर्थात् यह समस्त विश्व एवं मैं वासुदेव स्वरूप ही हैं, इस प्रकारकी उसकी अनन्य–भावमयी अद्वय–ब्रह्मदृष्टि ही सदा सर्वत्र रहा करती है। जब सब कुछ वासुदेव है, तो मैं उससे पृथक् कैसे रह सकता हूँ? सबके भीतर मैं भी तो आगया। अतः मैं भी वासुदेव ही हूँ। इसलिए ज्ञानवान्–भक्त, वासुदेवसे अन्य न किसी पदार्थको जानता है, न मानता है। अतः वह किससे राग करे एवं किससे द्वेष करे?। रागद्वेष भिन्न–पदार्थमें होते हैं, जब सब कुछ अभिन्न वासुदेव ही है। तब ज्ञानवान्को रागद्वेष नहीं हो सकते।

अत एव ज्ञानवान्‌का हृदय सदा पवित्र, शान्त, आनन्दपूर्ण एवं मस्त रहता है। यही दुर्लभ-महात्मा है।

आराध्य–प्रियतम, श्रीभगवान्‌के वासुदेवादि–सभी पावन नाम भी हमें उस एक–पूर्ण–अद्वय–स्वरूपका ही बोधन करते हैं। वासुदेवका अर्थ है–**वसति यः सर्वेषु भूतेषु, वसन्ति च सर्वाणि भूतानि यस्मिन् स वासुदेवः।** जो सर्व भूतोंमें अनन्यरूपसे बसता है, एवं समस्त भूत जिसमें ओतप्रोत हुए बसते हैं, वह वासुदेव है। रामनामका भी वही अर्थ है–जो सबमें अन्दर बाहर रम रहा है, वह राम है। अत एव किसी भक्तने क्या ही सुन्दर कहा है—

'वही राम दशरथका बेटा, वही राम घट घट में लेटा।
उसी रामका सकल प्रसारा, वही राम इन सबसे न्यारा॥

अतः इस आर्यावर्त्तके निवासी धार्मिक–लोग रामरूपसे ही अपना परिचय देते हैं। वे साधारण–व्यवहारमें भी ऐसा बोलते हैं कि–अपने राम वहाँ गये, अपने रामने उसे साफ सुनादिया। तुम राम, हम राम, सभी राम वहाँ चले चलें, इत्यादि। इस प्रकार 'नारायण' नामका भी वही अर्थ सिद्ध होता है। **'नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणि तेषु अयनं यस्य स नारायणः'** नर, परमात्मा है, उससे उत्पन्न सभी भूतोंका–एवं पदार्थोंका नाम नार है, उनमें जिसका अयन–निवास है, उसे नारायण कहते हैं। जिस प्रकार आभूषणोंमें सुवर्णका अनन्यरूपसे निवास है, उस प्रकार समस्त चराचर–विश्वमें जिसका अनन्यरूपसे निवास है, वही परमात्मा-नारायण है।

छान्दोग्योपनिषत्‌के सातवें अध्यायमें भूमा–विद्याका वर्णन है।

उसमें भी यही बतलाया है—कि-साधनोंके द्वारा ही ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति होती है, और लभ्य-ब्रह्मविद्या भी वही है कि—जिसके द्वारा एक—अद्वय-पूर्ण-प्रत्यगभिन्न—ब्रह्मका अपरोक्ष अनुभव हो जाय। भूमाका अर्थ है—व्यापक—पूर्ण ब्रह्म। अत एव आचार्य-मधुसूदन-स्वामीने अद्वैत-सिद्धिमें कहा है कि—

अविद्यातत्कार्यात्मकनिविडबन्धव्यपगमे,
यमद्वैतं सत्यं प्रततपरमानन्दममृतम्।
भजन्ते भूमानं भवभयभिदं भव्यमतयो,
नमस्तस्मै नित्यं निखिलनिगमेशाय हरये॥

ब्रह्मविद्या द्वारा, अविद्या एवं तत्कार्य द्वैत—प्रपञ्चरूप निबिड-बन्धका अपगम होने पर भव्य-मतिवाले महात्मा, जिस सत्य—विस्तृत—परमानन्दरूप—अमृत—अद्वैत—भवभयका मर्दन करनेवाले—भूम-तत्त्वका सेवन करते रहते हैं। उस तत्त्वरूप, समस्त वेदोंके ईश्वर—भगवान् श्रीहरिको सदा नमस्कार है।

किसी समय देवर्षि नारद समित्पाणि होकर भगवान् सनत्कुमारके समीप गये, तथा प्रणामादिके अनन्तर उनसे प्रार्थना की—'भगवन्! मुझे ब्रह्मविद्या यानी आत्मज्ञानका उपदेश दीजिए। सनत्कुमार बोले, हे नारद! प्रथम यह बतलाइये कि—आप क्या जानते हैं? आप किस किस-शास्त्रोंकी विद्यामें प्रवीण हैं।

नारद—'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि, यजुर्वेदँसामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं, वेदानां वेदं पित्र्यँराशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां,

नक्षत्रविद्या ँ सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि ।'

हे भगवन्! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, पञ्चमवेद-इतिहास–पुराण, वेदोंका वेद यानी बोध करानेवाला—व्याकरणशास्त्र, श्राद्धकल्प, गणितशास्त्र, उत्पातादिबोधकशास्त्र, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त, शिक्षा, कल्प, छन्द आदि, धनुर्विद्या, भूतविद्या, शिल्पादि—विद्या, ज्योतिषशास्त्र, सर्प-देव-जनविद्या, नृत्यगीतवाद्यादि संगीतविद्या, इत्यादि विविध-विद्याओंको मैं अच्छीप्रकारसे जानता हूँ।

परन्तु भगवन्! मैं केवल वेदादि-शास्त्रोंके शब्दार्थको जानता हूँ। आत्माका वास्तविक-अपरोक्षानुभव मुझे नहीं है। अतएव मैं शोकसे ग्रस्त हूँ। आपजैसे ब्रह्मनिष्ठ महात्माओंसे मैंने सुना है कि—'**तरति शोक-मात्मवित्**' आत्मवेत्ता शोकसे रहित होजाता है। वह निर्मोह, निर्भय, निर्द्वन्द्व एवं परमानन्द-मग्न बना रहता है। मैं शोक करता हूँ, इसलिए मैं आत्मवेत्ता नहीं हूँ। यदि मैं आत्मवेत्ता होता तो मुझे कदापि शोक नहीं होता। अतः मैं आपसे विनयपूर्वक प्रार्थना करता हूँ—भगवन्! कृपानिधान! मुझे ब्रह्मविद्याका उपदेश देकर शोकरहित बनाइये। आप जैसे श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ—आचार्यके उपदेशके विना ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति नहीं होती। आप ब्रह्मविद्याके आचार्य—ब्रह्मनिष्ठ-विरक्त-महात्मा हैं, और मेरे ज्येष्ठ वन्दनीय भ्राता भी हैं। ब्रह्मविद्या जैसी अमूल्य एवं पवित्र वस्तु अपने प्रिय—योग्य—अधिकारी शरणागत शिष्यको ही दी जाती है। मैं आपके शरणमें आया हूँ, आपका शिष्य हूँ। अतः जिस प्रकार कृष्ण भगवान्ने अपने प्रिय सखा भक्त अर्जुनके प्रति, कपिल भगवान्ने अपने पिता कर्दमऋषिके प्रति तथा अपनी पूज्या माता देवहूतीके प्रति, एवं

याज्ञवल्क्य महर्षिने अपनी प्यारी धर्मपत्नी मैत्रेयीके प्रति ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया था। उसी प्रकार मुझे भी कृपया ब्रह्मविद्याका उपदेश देकर कृतार्थ करें।

इसप्रकार नारदजीकी हार्दिक–निष्कपट तीव्र ब्रह्मजिज्ञासा देखकर महर्षि सनत्कुमार अपने मनमें इसप्रकार विचार करने लगे–यद्यपि नारदजी सकलशास्त्रोंके ज्ञाता हैं, तथापि शास्त्रोंके विविध–विषयोंमें आपाततः परस्पर–विरोध होनेके कारण संशययुक्त हैं। अतः इन्हें परमात्म–तत्त्वका यथार्थ निश्चय नही है। एवं ये विपरीत–भावनाग्रस्त भी हैं, अतः इनके विक्षेपादि–दोषोंकी पूर्णतया निवृत्ति नहीं हुई है। जबतक संशयादि–प्रतिरोधोंकी निवृत्ति न होजाय, तबतक इनको आत्मसाक्षात्कार नहीं होसकता। नारदजी श्रद्धाभक्ति-पूर्वक मेरे समीप आये हैं, इसलिए मेरा कर्तव्य है कि–इनको आत्मज्ञानका उपदेश देकर सदाके लिए शोक-मोहसागरसे पार करदूं। और ऐसा तभी होगा, जब उनको स्थूल–नामोपासनासे प्रारम्भ कर सूक्ष्म–आभ्यन्तर प्राणोपासना पर्यन्त अनेक उपासनायें कराऊँ, एवं इनके द्वारा उनके हृदयको विक्षेपादि-रहित, शुद्ध एवं एकाग्र बना दूँ। पश्चात् भूमविद्याका उपदेश देकर मनन–निदिध्यासन द्वारा संशय एवं विपरीत भावनासे मुक्त कर दूँ–जिससे इनको सर्वाधिष्ठान, परम–सूक्ष्म, सर्वात्मा, सच्चिद्घन, आनन्दनिधि, प्रत्यगभिन्न–भूमाख्य ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार हो जाय।' ऐसा विचार कर सनत्कुमारने सोपान–क्रम–न्यायसे भूमविद्याका अन्तिम उपदेश देनेके लिए, नारदके उत्कृष्ट–ब्रह्मविषयक प्रश्नोंके अनुसार क्रमशः नामादिकोंकी ब्रह्मदृष्टिसे उपासना बताई, और अन्तमें प्राण–ब्रह्मकी उपासनाका

आदेश दिया। नामादिसे प्राण—ब्रह्म ही श्रेष्ठ है। पश्चात् नारदजी प्राणको ही शुद्ध ब्रह्म समझकर प्रश्न करनेसे उपरत हो गये। सनत्कुमारने मनमें विचार किया—नारद, प्राणको ही शुद्ध ब्रह्म समझकर चुप हो गये हैं। इसलिए प्रश्न किये विना भी इन्हें परमतत्त्व सत्य—भूमाका उपदेश देना चाहिए। ऐसा विचार कर सनत्कुमार बोले—हे नारद! तू अतिवादी बन।

नारद—भगवन्! मैं अतिवादी बनना चाहता हूँ, आप मुझे अतिवादी बनायें।

सनत्कुमार—सत्य-भाषण—ब्रह्मचर्यादि—साधनोंसे सम्पन्न हुआ मनुष्य सत्य—परमार्थ वस्तुके विज्ञानसे अतिवादी होता है।

नारद—सत्य-वस्तुका विज्ञान कैसे प्राप्त हो?।

सनत्कुमार—मननसे विज्ञान प्राप्त होता है। ब्रह्मनिष्ठ-आचार्य द्वारा श्रवणरूप—तात्पर्य निश्चय किये हुए—शास्त्रीय तत्त्वका तर्क एवं युक्तियोंके द्वारा एकाग्रतापूर्वक विचार करनेका नाम मनन है।

नारद—भगवन्! मनन कैसे सिद्ध हो?।

सनत्कुमार—श्रद्धासे मननकी सिद्धि होती है। शास्त्र एवं आचार्यके वचनोंमें यथार्थ—बुद्धिका नाम श्रद्धा है।

नारद—श्रद्धा प्राप्तिका क्या साधन है?।

सनत्कुमार—श्रद्धाका साधन निष्ठा है। ब्रह्मचर्य, गुरुसेवा आदि यम—नियमोंके पालनका नाम निष्ठा है।

नारद— निष्ठा कैसे प्राप्त हो?।

सनत्कुमार—कृतिसे निष्ठा प्राप्त होती है। यहाँ शम—दमादिका

नाम कृति है।

नारद—भगवन्! कृतिका क्या साधन है?।

सनत्कुमार—कृतिका साधन अखण्ड-सुखप्राप्तिकी तीव्र-इच्छा है। अत एव सुखकी तीव्र इच्छा उत्पन्न करनेके लिए सुखका वास्तविक-स्वरूप जानना चाहिए।

नारद—हे प्रभो! सुखका स्वरूप बतलाइये।

सनत्कुमार—हे नारद! जो भूमा-व्यापक चेतनतत्त्व है, वही सुखरूप है, यानी निरतिशय, नित्य, दुःख-सम्पर्क-शून्य-सुखरूपता परिपूर्ण वस्तुमें ही होती है। अल्प-परिच्छिन्नमें सुख नहीं है। भूमा ही सुख है। अल्प-वस्तु अधिक-तृष्णाका कारण होती है। दुःखका कारण तृष्णा ही है। लोकमें दुःखके कारण ज्वरादि, सुखके हेतु नहीं देखे गये हैं। इसलिए अल्पमें सुख नहीं है। अतः हे नारद! तुम अल्प-वस्तु-देहादिके स्नेहका परित्याग कर भूमा-व्यापक-वस्तु ब्रह्ममें ही निष्ठा सम्पादन करनेके लिये पुरुषार्थ करो।

नारद—हे भगवन्! भूमाका स्वरूप स्पष्ट बतलानेकी कृपा करें।

सनत्कुमार—हे नारद! उस एक अद्वय-निर्विशेष-आनन्दपूर्ण-भूमतत्त्वमें ब्रह्मवेत्ता अन्यवस्तुको न देखता है, न सुनता है; एवं न जानता है। वह भूमा प्रत्यगभिन्न-पूर्ण तत्त्व है। उसमें द्वैत-प्रपञ्चका अत्यन्ताभाव है। और जहाँ मनुष्य अन्य वस्तुको देखता है, सुनता है, एवं जानता है, वह अल्प है, मिथ्या है बाधित है। जो भूमा है, वही अमृत है, सत्य है। जो अल्प है, वह मर्त्य है।

नारद—हे भगवन्! वह भूमा किसमें प्रतिष्ठित है? यानी उसका

आधार कौन है ? यह बतलाइये ।

सनत्कुमार—वह अपनी निज-अद्वय-महिमामें ही प्रतिष्ठित है, अथवा वास्तवमें वह किसीमें भी प्रतिष्ठित नहीं हो सकता, वह अप्रतिष्ठित एवं अनाश्रित है । न तो वह वृत्तिरूप—ज्ञानक्रियाका कर्ता है, न विषय है । वह स्वयं-चैतन्य-स्वप्रकाश-अखण्ड-ज्ञानरूप है । हे नारद ! गौ, घोड़ा, हाथी, सुवर्ण, दास, स्त्री, ग्राम, राज्य आदि—जो लोकमें महिमारूपसे प्रसिद्ध हैं, वे अन्यके आश्रित हैं । ऐसी महिमा मैं भूमाकी नहीं कहता । उसकी महिमा उसके स्वरूपसे अलग नहीं है । क्योंकि-परमार्थतः भूमा पूर्ण है । अत एव वह किसीभी अधिकरणमें रह नहीं सकता । जो अन्यके आश्रित रहता है, वह अल्प, परिच्छिन्न, विकारी एवं नाशवान् होता है । भूमा-ब्रह्म ऐसा नहीं है । वह स्वयं-अनाधार होता हुआ भी सर्वका अधिष्ठान है, उसमें समस्त यह द्वैत—प्रपञ्च अविद्यासे भास रहा है । तथापि वह ज्योंका-त्यों-निर्विकार-अखण्ड-एकरस ही बना रहता है । क्योंकि—यह द्वैतप्रपञ्च वाचारम्भण-मात्र, अल्प, विनाशी एवं कल्पनामात्र है, कल्पित—वस्तुकी प्रतीतिसे अधिष्ठान-तत्त्व विकृत नहीं होता । हे नारद ! वह भूमा सर्वत्र मौजूद है, हाजराहजूर है, समीपसे भी समीप है, अपना आप है ।

'स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदꣳ सर्वमिति ।'

वही भूमा नीचे स्थित है, वही भूमा ऊपर स्थित है, वही पश्चिममें स्थित है, वही पूर्वमें स्थित है, वही दक्षिणमें स्थित है, वही उत्तरमें स्थित है । वही इस सकल-दृश्यरूपमें वर्तमान है, उससे भिन्न कुछभी

वस्तु नहीं है, वह सर्वत्र है।

इसप्रकार भूमाका उपदेश देकर सनत्कुमार अपने मनमें विचारने लगे कि–मेरे इस परोक्ष उपदेशको सुनकर संभव है–नारदजीके मनमें शंका हो जाय कि–वह भूमा मेरे स्वरूपसे या अन्य–जीवात्माओंसेभिन्न होकर सर्वरूपसे सब ओर अवस्थित होगा। ऐसी शंकाके निवारणार्थ सनत्कुमार द्रष्टा-जीवात्माका परब्रह्मसे अनन्यत्व दिखलानेके लिए अहं-रूपसे उसी भूमाका पुनः उपदेश देने लगे।

‘ अथातोऽहङ्कारादेशः…… अहमेवेदꣳ सर्वमिति। ’

हे नारद! वह भूमा तूही है। उसका मैंरूपसे इसप्रकार अनुसन्धान कर-कि-मैंही नीचे, ऊपर, उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिममें हूँ। मैंही आदि मध्य एवं अन्तमें स्थित हूँ। सब तरफ मैंही-विविधरूपसे मौजूद हूँ। जो कुछ विश्व है, वह सब मैंही हूँ, मुझसे अन्य कुछभी नहीं है। मैंही भूमा-व्यापक ब्रह्म हूँ। सर्व-शरीरोंका साक्षी–द्रष्टा जो जीवात्मा है, वह वस्तुतः भूमा ही है, वही समस्त–विश्वरूप है, वही मैं हूँ, इस प्रकार तुम अपने आपकी पूर्ण ब्रह्मरूपसे सतत भावना करो।

सनत्कुमार पुनः इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए नारदजीसे कहने लगे कि–हे नारद! आत्मानुभवशून्य-बहिर्मुख मूढ-बुद्धिवाले अविवेकी लोग अहंकारका विषय देहादि–अनात्मा ही है, ऐसा मानते हैं, वे विशुद्ध आत्माको नहीं जानते। यदि आपको भी अहंकारादेशसे देहादि –अनात्माकी भावना हुई हो तो उसके निवारणार्थ, केवल नित्य–शुद्ध –बुद्ध–मुक्तस्वभाव सच्चित्सुखघन–आत्मस्वरूपसे ही पुनः उस अहंपद लक्षित–भूमाका उपदेश सुनो—

'अथात आत्मादेशः......आत्मैवेदꣳ सर्वमिति। स वा एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति, तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति, अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति, तेषाꣳ सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति।

हे नारद! जो सजातीय-विजातीय एवं स्वगत भेद शून्य, एक अद्वितीय परम शुद्ध-कूटस्थ निर्विशेष सच्चिद्घन आनन्दनिधि आत्मा है, वही तू है, यह परिच्छिन्न-दृश्य-देहादि तू नहीं है। वह आत्मा-नीचे, ऊपर, पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण सर्वत्र आकाशवत् परिपूर्ण स्थित है। उससे व्यतिरिक्त कुछ भी नहीं। वही सर्वाभिन्न ब्रह्म है। इस प्रकार जो अपने आत्माको सर्वत्र बाहर भीतर देखता है, उसका श्रवण मनन करता है, एवं तत्पर होकर ध्यानद्वारा अपरोक्षरूप से अनुभव करता है, वह आत्माराम होकर आत्मा में ही निरन्तर रमण करता है, आत्मा के साथ क्रीडा करता है, आत्मा से ही संयुक्त रहकर आत्मानन्द को पाकर सम्राटों का भी सम्राट् हो जाता है। सर्व-लोकों में उसका स्वेच्छानुसार निर्द्वन्द्व एवं निर्भय विचरण होता है। और जो लोग आत्मज्ञान रहित हैं, वे सदा पराधीन होकर अनेक-कष्टोंको उठाते हुए नाशवान् लोकों को प्राप्त होते हैं। उनका अनेक दुःखों से परिपूर्ण-योनियों में बारंबार आवागमन होता रहता है।

हे नारद! जो विद्वान् इसप्रकार अपने भूमारूप-आत्मतत्त्व में अहंभाव बाँधकर तन्मय हो जाता है। वह कृतकृत्य एवं पूर्णतृप्त हो जाता है। उसे मृत्यु, भय, रोग एवं त्रिविध-संताप कदापि नहीं होते।

अन्त में वह ब्रह्मदर्शी देहादि–उपाधिका सर्वथा त्यागकर ब्रह्म ही हो जाता है।

हे नारद! वह सत्–चेतन–भूमा आत्मा, सृष्टि से प्रथम एक ही अद्वितीय था। और सृष्टि के अन्त में भी एक अद्वय ही रहेगा। मध्य में भी वह वस्तुतः एक अद्वितीय ही है। परन्तु मायाशक्तिके द्वारा वह तीन रूपसे, पांचरूपसे, सातरूपसे नौरूपसे, ग्यारहरूपसे, सौरूपसे, सहस्ररूपसे विशेष क्या कहें? असंख्यरूपोंसे प्रतीत हो जाता है। इसलिए विश्व में जो भी कुछ प्रतीत हो रहा है, वह सब भूमा–आत्मा–वासुदेव ही है, और वह महान् पूर्ण वासुदेव मैं ही हूँ। इसप्रकार छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित सिद्धान्त का ही गीता-स्मृति में श्रीभगवान् ने वर्णन किया है। उपनिषद् माता है एवं गीता उसकी बेटी है। अतः माता–एवं पुत्री की समानाकृति के सदृश उपनिषत् एवं गीताकी एकार्थ–प्रतिपादन-रूपा समानता प्रशंसनीय है।

अन्त में श्रीसनत्कुमार आत्म–ज्ञान रक्षा का आहार-शुद्ध्यादि साधन बतलाते हुए भूमविद्या का उपसंहार करते हैं—

'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः,
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः,
तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः।'

जब आहार शुद्ध होता है, तब सत्त्व यानी अन्तःकरण शुद्ध होता है, सत्त्व के शुद्ध होने पर ध्रुवा-स्मृति यानी पूर्ण-तत्त्वका निरन्तर स्थायी स्मरण रहता है। उससे चिज्जड-तादात्म्याध्यासादि सभी ग्रन्थियों का विनाश हो जाता है। इस प्रकार मल–विक्षेप एवं आवरण रूप

त्रिविध कषायों से रहित हुए नारदजी को भगवान् सनत्कुमारने अज्ञानका पार दिखलाया, अर्थात् परब्रह्मतत्त्वका अपरोक्ष साक्षात्कार कराया।

यहाँ आहारके दो अर्थ हैं—एक श्रोत्रादि-इन्द्रियों के शब्दादि विषय, और दूसरा भोजन। दोनों की शुद्धि आवश्यक है। इन्द्रिय-द्वारों से उन्हीं शब्दादि-विषयों को ग्रहण करना चाहिए, जिनके ज्ञानसे अन्तःकरण विकृत न हो। राग-द्वेषका प्रवेश ही अन्तःकरण की विकृति है। अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा शब्दादि-विषयों का अवगाहन करने वाली वृत्तियाँ राग-द्वेष रहित निर्मल होनीं चाहिए, यही आहार-शुद्धि है। यदि आहारका अर्थ केवल भोजन ही लिया जाय तो केवल भोजनकी शुद्धिसे ही अन्तःकरण शुद्ध होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता। केवल सात्त्विक-भोजनसे ही अन्तःकरण शुद्ध होता हो तो वही सात्त्विक भोजन, दूध-भात आदि जिंदगीभर बन्दर को खिलाने पर वह चञ्चलता छोड़कर शान्त क्यों नहीं हो जाता? गाय, हरिण आदि भी योगी क्यों नहीं बन जाते। क्योंकि—उनका भी आहार सात्त्विक ही है। इसलिए यहाँ आहार का अर्थ केवल भोजन ही नहीं समझना चाहिए। किन्तु भोजनके साथ शब्दादि-विषय भी आहार का अर्थ मानना योग्य है। आहार यानी आह्रियमाण-अर्थ। चक्षुका ऐसा अर्थ, रूप है, श्रोत्र का शब्द है, जिह्वा का रस है इत्यादि। अतः शब्दादि-विषयोंकी शुद्धि, आहार-शुद्धि का मुख्य अर्थ है। तो भी यह सत्य है कि—पाप सम्पर्क शून्य पवित्र-सात्त्विक भोजन करने से हृदय की निर्मलता-प्राप्ति में विशेष सहायता मिलती है।

जो भोजन, धर्म एवं न्याय से उपार्जित-धन के द्वारा खरीदे हुए

अन्न से शुद्ध स्थान में पवित्रता के साथ पकाया गया हो; एवं बलि वैश्वदेव, भूतयज्ञ तथा अतिथि-सत्कार आदि करने के अनन्तर परिशिष्ट रहा हो, वही भोजन शुद्ध कहलाता है। खाद्य-पदार्थ भी जाति, आश्रय एवं निमित्त, इन तीनों दोषों से दूषित होते हैं। जातिगत दोष कहते हैं-प्रकृतिगत दोष को, जैसे-प्याज, लहसून, आदि स्वभाव से ही अशुद्ध हैं, तामस हैं। दुराचारी मनुष्य के सम्पर्क से भी भोजन दूषित हो जाता है, यह आश्रय दोष है। बाल, कीडा, मक्खी आदि गन्दे पदार्थों के सम्बन्ध से भी भोजन दूषित हो जाता है, यह निमित-दोष है। यथाशक्य ये तीनों दोष भोजन में नहीं होने चाहिए। यह भी आहार शुद्धि है।

इसप्रकार महर्षि सनत्कुमारने नारदजीको भूमा-विद्यारूपी नौकामें बिठाकर आप स्वयं नाविक बनकर अविद्या प्रसूत-अथाह मोह-शोक सागरसे पार कर दिया।

इसलिए भगवान् श्रीकृष्णने भी गीता-स्मृतिमें **'वासुदेवः सर्वं'** ऐसा सर्वत्र अभेदभावका उपदेश, उपनिषत्-श्रुतियोंके अनुसार ही किया है। क्योंकि-**'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्'** इस कविकुल-गुरु-कालिदासकी सूक्तिके अनुसार श्रुतिसिद्ध-अर्थका अनुसरण स्मृतिको करना ही चाहिए। स्मृति कहते हैं-**'स्मर्यते वेदार्थो यत्र सा'** अर्थात् जिसमें वेदोंका अर्थ स्पष्टरूपसे स्मृत होता हो, वह स्मृति है।

छान्दोग्यके समान बृहदारण्यकोपनिषत्में भी भेदभावकी निन्दा-पूर्वक अभेदभावका कल्याणकारी प्रशस्त उपदेश दिया है। जैसे—

मैत्रेयि! आत्मनो वा अरे! दर्शनेन श्रवणेन मत्या
विज्ञानेनेदꣳ सर्वं विदितम्।'

याज्ञवल्क्य महर्षि अपनी भार्या मैत्रेयीको उपदेश देते हैं कि— 'अरे मैत्रेयि ! आत्माके दर्शनसे, श्रवणसे, मननसे एवं विज्ञानसे यह सब विश्व विदित हो जाता है। इसप्रकार उस एकके विज्ञानसे समस्त विश्वका विज्ञान स्वतः सिद्ध हो जाता है, ऐसी प्रतिज्ञाका वर्णन किया।

प्रश्न—आत्मज्ञानसे सब कुछ ज्ञात हो जाता है, यह कैसे हो सकता है ?। क्योंकि—घट-ज्ञानसे पट ज्ञात नहीं होता, इसलिए कि— पट, घटसे भिन्न है। तद्वत् आत्मासे भिन्न यह विश्व है, इसलिए आत्मज्ञानसे विश्वका ज्ञान नहीं हो सकता।

उत्तर—श्रुति—भगवती स्वयं इस प्रश्नका उत्तर देती हैं। श्रुतिका कथन है कि—आत्मासे भिन्न कोई भी पदार्थ नहीं है। जो कुछ दृष्टव्य एवं श्रोतव्य विश्व है, वह सब आत्मा ही है। आत्मभेद आविद्यक है, वास्तविक नहीं। इसलिए श्रुति उस निन्दनीय आविद्यक—भेदका आत्मविद्या द्वारा प्रतिषेध करती है। यथा—

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद,
क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद,
लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान्वेद,
देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान् वेद,
भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद,
सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद,
इदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा
इमानि भूतानीदꣳ सर्वं यदयमात्मा।'

(बृ० उ० २।४।६)

ब्राह्मण-जाति, उस मनुष्यका निराकरण (अनादर–तिरस्कार) करे, जो ब्राह्मण जातिको अपने आत्मासे भिन्न समझता है। क्षत्रिय-जाति, उस मनुष्यका निराकरण करे, जो क्षत्रिय-जातिको अपने आत्मासे भिन्न जानता है। सभी लोग उस मनुष्यका निराकरण करें, जो सभी लोगोंको अपने आत्मासे भिन्न मानता है। समस्त-देव उस मनुष्यका निराकरण करें, जो निखिल देवोंको अपने आत्मासे भिन्न देखता है। सकल–भूत, उस मनुष्यका निराकरण करें, जो समस्तभूतोंको अपने आत्मासे भिन्न कहता है। अखिल-पदार्थ, उस मनुष्यका निराकरण करें, जो निखिल पदार्थोंको अपने आत्मासे-व्यतिरिक्त समझता है। वस्तुतः, यह समग्रब्राह्मण जाति, यह क्षत्रिय जाति, ये सभी लोग, ये सब देव, ये सब भूत, एवं यह समस्त जगत् यह आत्मा ही है, आत्मासे व्यतिरिक्त नहीं है। आत्मा ही यह सब ब्राह्मण–क्षत्रियादि–विश्व है। आत्मासे अनन्य विश्वको अन्यरूपसे समझना ही उसका अपराध है। इसी अपराधके कारण ही वह निराकरणीय हो जाता है।

बृहदारण्यक-वार्तिकसारमें विद्यारण्य-स्वामीने तथा व्यासस्मृतिमें भगवान् वेदव्यासने भी यही कहा है—

> यदस्ति तन्न जानाति, यन्नेहास्ति, तदीक्षते ।
> इत्येवमपराधोऽस्य विद्यते भेददर्शिनः ॥
> योऽन्यथासन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।
> किं तेन न कृतं पापं चौरेणाऽऽत्मापहारिणा ॥

आत्मामें सत्त्व, चित्त्व, आनन्दत्व, अद्वयत्व, परिपूर्णत्वादि, शाश्वत-रूपसे विद्यमान हैं, उनको वह मूढ नहीं जानता, और ब्राह्मणत्व—

क्षत्रियत्वादि जो वस्तुतः अविद्यमान हैं, उनको देखता है, यही भेद-दर्शीका अपराध है। जैसे कर्तव्यको न करनेवाला, और अकर्तव्यको करनेवाला अपराधी माना जाता है, वैसे ही जो आरोपित-अदृष्टव्य है, उसको देखता है, और वास्तविक-दृष्टव्यको नहीं देखता है, वह अपराधी ही समझा जाता है। जो अन्यथा स्थित आत्माको अन्यथा समझता है, उस आत्मापहारी चोरने क्या पाप नहीं किया? अर्थात् निर्विशेष-अद्वय-स्वयं-प्रकाश आत्माको जात्यादिसे विशिष्ट-सद्वयरूपसे समझना, यह मिथ्याज्ञान है, यही दुःख-भयादिका कारण महापाप है।

उस एक-अद्वय वासुदेवमें ही यह नामरूपात्मक विश्वका वस्तु-शून्य विकल्प हुआ है। अतः उसका बाध करके सर्वत्र उस एक वासुदेवका ही निश्चय, उसकी ही सतत भावना, तथा उसमें ही तन्मयता सिद्ध करनी चाहिए। विरक्त-बावाकी गुदडियाके समान वह एक वासुदेव ही अनेक-रूपोंसे भासित हो रहा है। अतः एक भी वही है, अनेक भी वही है।

एक ब्रह्मनिष्ठ-वीतराग महात्मा घूमते-फिरते एक स्थान पर कुछ रोजके लिए ठहर गये। 'बैठे सो पूरा, घूमे सो शूरा' अर्थात् घूमनेवाला साधु शूरवीर माना जाता है, तथा एक जगह स्थिर होकर रहनेवाला साधु पूरा-निष्ठा-सम्पन्न समझा जाता है। ज्ञानवान् साधु महात्माका घूमना एवं बैठना, जनताका कल्याणकारी ही होता है। जहाँ एकान्त-स्थानमें महात्मा ठहरे थे, उसके समीप एक पुलिसकी चौकी थी। उसके कई पुलिस-मैन उस महात्माके समीप आते थे, और महात्माकी सेवा-शुश्रूषा भी करते थे। महात्मा मस्त एवं आनन्दी थे।

चाह गई चिन्ता गई, मनुवाँ बेपरवाह।
जाको कछु न चाहिए, वो है शाहनशाह।

हर आन (वक्त) खुशी, हर आन हँसी,
हर (प्रत्येक) वक्त अमीरी है बाबा।

जब आशिक मस्त फकीर हुये,
फिर क्या दिलगीरी है बाबा।

वे अपने पास ओढने बिछानेके लिए एक गुदड़ी ही रखते थे। और कुछ भी नहीं रखते थे। एक दिन एक पुलिसमैनने उस बावाकी गुदडी छुपादी। बावाजी तुरन्त ही पुलिस-चौकी पर पहुँचे, और थाने-दारसाहबसे कहने लगे—साहब! साधु लूटा गया, उसका सर्वस्व चला गया। थानेदार साहबने कहा—अच्छा, आपका क्या क्या सामान चला गया, उसकी नोंध करायें। बावाजीने कहा—लिखिये हुजूर! मेरा बहुत कुछ सामान गायब हो गया है—एक मेरा बढ़िया गलीचा, दूसरा मेरा अच्छा हाफकोट, तीसरा मेरा गद्दीतकिया, चौथा मेरा सुन्दर-दुशाला, पांचमीं मेरी जाजम, छठा—मेरा छत्रा, सातमी मेरी रजाई, इत्यादि अनेक सामानोंके नाम बावाजी लिखाते गये, और थानेदार लिखते गये। समीपमें ही वह पुलिसमैन छिपा हुआ खड़ा था—और सुन रहा था, जिसने यह गुदडी छिपानेकी शरारत की थी, वह खूब ठहाका मारकर हँसता हुआ सामने आकर कहने लगा कि—अरे महात्माजी! क्या किसी सौदागरकी दुकान लूटी गई है? जो तुम इतने ढेर के ढेर सामान लिखवा रहे हो, अरे! तुम्हारे पास इस गुदड़ीसे अतिरिक्त और था ही क्या?। यह गुदडी ही तो थी। लो—लेलो यह तुम्हारी गुदडी। बावाजीने तुरन्त ही

गुदडी ले ली। प्रसन्न होकर मस्तभावसे थानेदारसे बोल उठे कि—मेरा छूटा गया सब सामान मुझे मिल गया। थानेदारने आश्चर्यके साथ कहा—सब सामान कैसे मिला? यह तो एक गुदडी ही मिली है। बाबाजीने हँसकर कहा—यही तो मेरा सब कुछ था। उसको बिछाकर बतलाया—यह देखो मेरा बढ़िया गलीचा। उसको ओढ़कर कहा—देखिये जनाब! यह मेरा हाफकोट, कितना सुन्दर दीखता है। गद्दीके समान ऊँची दो चार तह लगाकर उसके ऊपर बैठकर कहा—यह मेरी गद्दी यही मेरा तकिया। शिर पर उठाकर कहा—यही मेरा छाता, धूपसे एवं वृष्टिसे तुरन्त बचा देता है। ओढ़कर बतलाया—देखिये, कैसी है यह अच्छी रजाई, कितनी भी ठण्डी हो, नहीं लग सकती। दो चार साधु महात्मा आ जायें तो तुरन्त यही गुदडी जाजम बन जाती है। मस्त बाबाजीकी बातें सुनकर थानेदार भी हँसने लगा।

जिस प्रकार उस बाबाजीकी दृष्टिमें एक—गुदडी ही सब कुछ था। उस प्रकार ज्ञानवान् भक्तकी दृष्टिमें एक वासुदेव ही सब कुछ है। इससे अन्य कुछ नहीं। जिसने सर्वत्र अन्दर बाहर वासुदेव स्वरूपका ही पूर्णरूपसे निश्चय किया है—और जो उसका ही सबमें सतत अनुसन्धान करता हुआ तन्मय होजाता है, वही महात्मा है, ऐसा महात्मा अति दुर्लभ है। अनेक—जन्मोंके सुकृतोंका उदय होने पर ही ऐसे ज्ञानी—महात्माका दर्शन मिलता है।

बिनु हरि-कृपा मिले नहीं सन्ता,
सत्संगति संसृति कर अन्ता।

यस्य प्रसादादहमेव विष्णुः
मय्येव सर्वं परिकल्पितश्च।

इत्थं विजानामि सदाऽऽत्मरूपं,
तस्याङ्घ्रिपद्मं प्रणतोऽस्मि नित्यम्॥'

जिस गुरुदेवकी कृपासे— मैं ही व्यापक—पूर्ण—वासुदेव—विष्णु हूँ, मुझमें ही यह नामरूपात्मक दृश्य परिकल्पित हुआ है, इस प्रकार मैं अपने सत्—पारमार्थिक—आत्मस्वरूपको अपरोक्ष जानता हूँ। उसके चरणकमलकी सदा मैं वन्दना करता हूँ।

(२०)

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः, प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय, प्रकृत्या नियताःस्वया ॥(७। २०)

हे अर्जुन! जो संसारासक्त मानव हैं, वे अपने राजस—तामसस्वभावसे प्रेरित हुए तथा उन उन विषय—भोगोंकी कामनाओंके द्वारा यथार्थ ज्ञानसे भ्रष्ट हुए—उस उस नियमको धारणकरके अन्य क्षुद्र देवताओंकी आराधना करते हैं।

आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णने प्रथम, अपने समदर्शी—निष्काम—अविकृत ज्ञानी--भक्तका वर्णन किया। अब संसारके विषयभोगोंमें आसक्त, क्षुद्र—मनुष्योंका वर्णन करते हैं। जो सर्वात्मा भगवान्को यथार्थ रूपसे नहीं जानते एवं जिनके अन्दर सत्यासत्य--वस्तुका विवेक नहीं है—ऐसे मूढ़ मानव संसारको ही सत्य सुन्दर एवं सुखरूप समझते है। इसलिये वे संसारके विविध--विषयोंकी एवं ऐश्वर्योंकी ही कामनाएँ करते रहते हैं। बृहदारण्यकोपनिषत्में कामनावाले मनुष्यका इस प्रकार वर्णन किया है—

'सोऽकामयत, जाया मे स्यादथ प्रजायेय,
अथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेत्येतावान् वै कामः।'
(बृ० १।४।१७)

उसने कामना की, मुझे जाया (सुन्दर-स्त्री) मिलनी चाहिये। जिसके द्वारा मैं पुत्रादि-संतति रूपसे प्रादुर्भूत हो जाऊं, और मुझे पर्याप्त धन मिलना चाहिये, जिसके द्वारा मैं अनेक प्रकारके सुख एवं आराम देनेवाले कर्म करूं, बस इतना ही काम है।

संसारकी विविध कामनाओंमें लिप्त रहनेवाला जीव सदा दीन-हीन एवं दुःखी ही बना रहता है। जिसको चाहता है, उसका लाभ न होने पर वह दुःखी हो जाता है, उसके लाभके लिये अनेक प्रकारका कष्ट भोगता रहता है। प्रारब्ध--कर्मकी अनुकूलता होने पर कथंचित् उस काम्यमान पदार्थका लाभ होने पर भी उसकी दीनता एवं दुःख निवृत्त नहीं होते। क्योंकि—यह संसार कच्चा धागाके समान है। जिस प्रकार टूटा हुआ कच्चा धागा एक तरफ मुश्किलसे जोड़ने पर दूसरी तरफ कई जगह टूट जाता है। इस प्रकार '**एक सांधे तेरह टूटे**' वाली कहावत संसारमें लागु होजाती है। मुश्किलसे एक इच्छा पूरी होने पर साथमें बीसों अन्य इच्छाएँ खड़ी होजाती हैं। इच्छाओंका होना ही अनिवार्यतः दीनता एवं दुःखका होना है। और इच्छित पदार्थका लाभ भी सदाके लिये नहीं रहता। आजका मिला हुआ पदार्थ 'स्वप्नकी निधिके समान' कल देखते ही देखते गायब होजाता है। और सर्वथा नहीं मिला हुआ इष्ट-पदार्थकी अपेक्षा, मिलकर नष्ट होनेवाला पदार्थ सदाके लिये महाकष्ट देता रहता है, यह लोकमें प्रत्यक्ष है। इसलिये

संसारकी ये विविध कामनाएँ ही जीवोंमें दीनता-हीनता एव दुःखोंकी सर्जिकाएँ हैं।

अतः श्रीमद्भागवतमें कुत्तेकी उपमा देकर इस कामनाग्रस्त जीव की दीनदशाका इस प्रकार वर्णन किया है—

'क्षुत्परीतो यथा दीनः सारमेयो गृहं गृहम्।
चरन्विन्दति यद्दिष्टं दण्डमोदनमेव वा॥
तथा कामाशयो जीवः उच्चावचपथा भ्रमन्।
ऊर्ध्वमधो वा मध्ये वा याति दिष्टं प्रियाप्रियम्॥

जिस प्रकार भूखसे व्याकुल और दीन हुआ कुत्ता घर घर फिरता हुआ, अपने प्रारब्धके अनुसार उसे कहीं लाठी और कहीं भात खानेको मिलता है। उसी प्रकार विविधप्रकारकी कामनाओंसे बंधा हुआ यह जीव उंचे नीचे मार्गसे उत्तम अधम अथवा मध्यम योनियोंमें भ्रमता हुआ इष्ट अनिष्ट प्रारब्धका फल भोगता रहता है।

विविध-सांसारिक कामनाओंसे इस मूढ़ जीवका विवेक ज्ञान नष्ट हो जाता है। इसलिए यह अनन्त-आनन्दनिधि मुझ सर्वेश्वर-परमात्मासे विमुख होकर कामनाओंकी पूर्तिके लिये क्षुद्र-देवताओंकी शरणमें जाता है, और जिस जिस देवताकी पूजाके लिये जो जो नियम लोकमें प्रसिद्ध हैं। उस उस नियमको धारण करके अन्य देवताओंका भजन करता रहता है। देवताओंके द्वारा जब काम्यमान-पदार्थोंका लाभ होता है, तब वह उनमें आसक्त बनकर उनसे भी अधिकाधिक लाभके लिये अपनी रजोगुणी प्रकृतिके वशीभूत हुआ-अधिकाधिक प्रयत्न करता रहता है। **'लाभात् लोभः प्रवर्धते'** अर्थात् लाभसे लोभ बढता है, यह

नियम है। और लोभ ही शान्तिका निवारणकर अधिकाधिक उद्वेगका कारण होता है। इसलिये हमारे वेदादि शास्त्रोंमें भी कामनाओंकी पूर्तिके लिये अनेकानेक उपाय बतलाये हैं। अतः वेदके एक लक्ष मंत्रोंमें से ८० हजार मंत्र कर्मकाण्डके हैं। जिनमें कामियोंकी कामनाओंके इसप्रकार वर्णन मिलते हैं—

'वसु च मे वसतिश्च मे कर्मच मे शक्तिश्च मेऽर्थश्च मे' 'व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे' गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।' महश्च मे क्रीड़ाश्च मे मोदश्च मे जातं च मे' 'दीर्घायुत्वं च मेऽनमित्रं च मेऽभयं च मे सुखं च मे शयनं च मे सूषाश्च मे सुदिनं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।'

(शुक्ल-यजुर्वेद संहिता-अ० १८)

मुझे धन चाहिये, अच्छा गृह चाहिये, धंधा—रोजगार चाहिये, उसके करनेका सामर्थ्य चाहिये, और उसके द्वारा इष्ट—अर्थोंका लाभ मुझे चाहिये। बढिया सरस खानेके लिये मुझे अच्छे—चावल, यव, उड़द, तिल, मूंग, चने, गेहूँ, मसूर आदि पर्याप्त खाद्य—पदार्थ चाहिये। इन्द्रादि—देवोंकी आराधनारूप यज्ञके द्वारा उन सभी अभिलषित—पदार्थोंका लाभ शीघ्र मुझे सिद्ध होवें। शरीरकी सुन्दर-कान्ति चाहिये, मनोहारिणी स्त्री चाहिये, सुन्दर—उपवन, आदिके द्वारा होनेवाली बढिया क्रीड़ा मुझे चाहिये। उसके द्वारा होने वाला अतिहर्ष मुझे चाहिये, और मुझे अच्छी सन्तान उत्पन्न होनी चाहिये। मुझे दीर्घायुत्व चाहिये, क्योंकि—मुझे जल्दी मरना पसन्द नहीं, बहुत समय तक आरामके साथ जीना पसन्द है। मुझे कष्ट-देनेवाले शत्रु नहीं चाहिये, किन्तु

सुख देनेवाले मित्र चाहिये, मुझे किसीसे कभी भी कहीं भी भय नहीं होना चाहिये, सदा सर्वत्र मुझे सुख ही मिलना चाहिये, मेरी रात्रिकी शय्या भी बढ़िया मनःसन्तुष्टकरी होनी चाहिये। उषावाले प्रातःकाल एवं समग्र-दिवस भी प्रमोद बढाने वाले चाहिये, यह सब मैं यज्ञ द्वारा सन्तुष्ट होने वाले देवताओंकी कृपा द्वारा प्राप्त करना चाहता हूँ।

इसप्रकार धन, यौवन, युवती, पुत्र, ऐश्वर्यादि—अनेक काम्यमान पदार्थोंके लाभके लिये वेदों के उन अस्सीहजार—मन्त्रोंमें यज्ञादि—अनेक विध कर्मरूप—उपायोंके वर्णन किये हैं। हमारे वेद, अमरीका की एक जङ्गी दुकान के समान हैं। जिसमें एक पाईकी क्षुद्र—चीजसें लेकर करोड़ोंके मूल्यका रत्न तक भी बिकता रहता है। जो जैसा मांगे, तुरन्त उसे वैसा ही मिल जाये। वेदों के सामने कोई इस लोककी कामना लेकर आया तो उसे उसकी पूर्तिके लिये वैसा ही उपाय बतला दिया। परलोककी कामना लेकर आया तो उसे वैसा ही साधन बतला दिया। कर्म के अधिकारी सबसे ज्यादा होने सें उसका वर्णन भी वेदों को ज्यादा करना पड़ा। जिन चीजों के खाने वाले ज्यादा होवें, तो लोजवालेको उन चीजोंको ज्यादा बनाकर रखना पड़ता है। कर्मकाण्डकी अपेक्षा उपासनाकाण्डके अधिकारी बहुत कम हैं, इसलिये वेदोंने उपासनाके वर्णनके लिये १६०००) (सोलह—हजार) मंत्र रक्खे, और ज्ञानके अधिकारी अत्यल्प होने से केवल ४०००) (चार—हजार) मंत्र ही ज्ञानके वर्णनके लिये नियत किये।

वर्तमान—समयमें आप अपने देश की दशा देख सकते हैं—

कि-१००) व्यक्तियोंमेंसे मुश्किलसे एक या दो ही सत्सङ्गके प्रेमी और ९९) व्यक्ति सिनेमाके प्रेमी मिलेंगे। इसलिए आपको शहर में सैंकडों सिनेमा-भवन यत्र तत्र देखनेको मिलेंगे, और सत्संग-भवन तो एक या दोही कठिनाई से दीख पड़ेंगे। संसार में अच्छी वस्तु कम होती है, और रद्दी ज्यादा। कंकर-पत्थरोंके ढेर के ढेर मिलेंगे। परन्तु उज्ज्वल-रत्नोंकी बोरियाँ भरी हुईं मिलनी मुश्किल होंगीं। उस प्रकार सांसारिक-कामनाओं में आसक्त रहनेवाले मानव बहुत ही मिलेंगे, परन्तु निष्काम-भक्त-ज्ञानवान् कोई एक विरला ही कभी सद्भाग्यसे मिलेगा। और सांसारिक-कामनाओंके द्वारा मानव अनेकविध कष्टों को भोगता हुआ भी वह उनका त्याग नहीं करता। उनका वियोग-मय दुःख-प्रद परिणाम जानता हुआ भी उस सत्य-आनन्द-निधि परमार्थ वस्तु भगवान् के अन्वेषण के लिये प्रयत्न नहीं करता। अन्तमें **'धोबी का कुत्ता न घर का रहा न घाट का रहा'** वाली बात उसके लिये हो जाती है। **'न मिली माया न मिला राम'** इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्ट हो जाता है।

एक मदारी था, उसके पासमें पांच बन्दर एवं पांच बकरियाँ थीं। डमरूकी डुगडुगी बजाकर लोगोंके सामने वह इनको खूब नचाता था। और अनेक प्रकारका अभिनय कर उनको रिझाता था, और उनके दिये हुए रोटियोंके टुकड़े खाकर मैले पुरानें वस्त्र पहिन-कर वह अपना निर्वाह चलाता था। उसके लिये वह अनेक ग्रामोंमें एवं नगरोंमें भी घूमता रहता था। एक रोज वह एक ग्रामसे दूसरे ग्राममें जा रहा था। बीच जंगलमें एक रमणीय-एकान्त-स्थानपर

विशाल घटादार वट-पीपल-निम्बादि वृक्षोंके नीचे एक कौपीन–धारी महात्मा बैठा हुआ उसे दीख पड़ा। वह सूर्यकी गर्मीसे एवं विशेष चलनेसे बड़ा थका मांदा हो गया था। जब उसने ऐसी अच्छी छाया तथा साधुको देखा तो उसको भी वहीं विश्रान्ति करनेका विचार हो आया। तुरन्त ही वह अपना वजनदार झोला वहाँ रखकर वृक्षों के मूलमें बन्दर एवं बकरियोंको बाँध कर उस महात्माके समीप बैठकर सुस्ताने लगा।

मदारीको देखकर महात्माने पूछा–तू किधर जा रहा है, और इन बन्दर और बकरियों को साथ रखकर क्या करता है?। मदारीने कहा–मैं समीपके एक नगरमें जा रहा हूँ। इनको लोगोंके सामने नचाता हूँ, और इससे मैं अपना निर्वाह चलाता हूँ। महात्माने कहा–अच्छा! तू इनको मेरे सामनेभी नचा, अच्छा खेल दिखा। मदारीने सोचा इस साधुको नाच दिखाने से क्या मिलेगा? क्योंकि–इसके पासमें एक लंगोटी एवं एक टेढे–मेढे तूम्बे के सिवाय और कुछ नहीं है। ऐसा सोचकर वह टालमटोल करता हुआ कहने लगा कि–इनका नाच आपके देखने योग्य अच्छा नहीं होता। तथापि वह साधु–महात्मा कहता रहा कि–अरे! जैसा भी नाच हो, मुझे दिखा, ज्यादा नहीं तो थोड़ा भी दिखा। साधुके बहुत आग्रहसे उसने इच्छा न रहने पर भी बन्दर एवं बकरियोंका थोड़ा–सा नाच दिखाया।

नाच दिखाने के बाद साधुने मदारीसे कहा–अब मैं तुझे नाच दिखानेका कुछ इनाम देता हूँ। मेरे सामने आकर पालथी लगाकर बैठजा, और एक-मिनिट के लिये आँखें बन्द करदे। मदारीने विस्मयके साथ

ऐसा ही किया-आँखे खोलनेके बाद वह देखता है कि-साधु गायब, बकरियां, बन्दर, एवं झोला भी गायब। वह विचार कर रहा है कि-यह क्या हुआ ? इतने में दो घुडसवार एवं एक सुवर्ण-निर्मित ओहदा संयुक्त हाथी वहाँ आया और उस मदारीको ओहदे पर बिठाकर नगर में ले गये। वहां उसे राज्य-सिंहासन पर बिठाकर राजाधिराज बना दिया। वह वहां राज्य-ऐश्वर्यके सुखोंको भोगने लगा। अनेक सुन्दर राज-कुमारियोंसे उसका पाणि-ग्रहण हुआ। और उनसे अनेक कुमार एवं कुमारियां उत्पन्न हुईं। वैभव-विलासोंमें वह इतना गरक हो गया कि-मैं क्या था ? और क्या होगया, और किसकी कृपा का यह फल है ? यह सब कुछ बिलकूल भूल गया। अधर्म एवं अनीतिसे वह अपना खजाना भरने लगा। और अनेक लड़ाइयाँ कर लाखों का खून बहाकर अपने राज्यको बढ़ाने लगा। वह अपनी मानवता को भी तिलाञ्जलि दे बैठा। मानवके बदले वह पूरा दानव हो गया। एक रोज वह किसी अन्य राज्यके ऊपर आक्रमण करने के लिये एक बड़ी भारी सेना लेकर जा रहा था-उसको मार्गमें वही जंगल एवं वही साधु-महात्मा उन्ही वृक्षोंकी छाया में बैठा हुआ दीख पड़ा। तुरन्त ही उसे पूर्वानुभवकी स्मृतियाँ जाग उठीं। और वह शीघ्र ही हाथी से उतर पड़ा और कृतघ्नता-निवारणके लिये साधुके समीप जाकर नमस्कार करने लगा। साधुने हँसकर पूछा-कहो-मदारी राजाजी ! कैसे हो ? क्या कर रहे हो ? उसने नम्रताके साथ कहा-आपकी कृपासे बहुत अच्छा हूँ। परन्तु इससमय एक-खास मेरी यह अभिलाषा है-कि जिस राजा को मैं परास्त करना चाहता हूँ, वह बड़ा बलवान् है। इसलिए आपका

आशीर्वाद मांगता हूँ, कि–उसे मैं शीघ्र ही परास्त कर डालूँ, और उसका समस्त राज्य प्राप्त कर लूँ।

साधु-महात्माने मुस्करा कर कहा–अच्छा! अब तू यह चाहता है। यहाँ इसके लिये मेरे सामने पालथी लगाकर सीधा होकर बैठ जा, और एक मिनिटके लिये आंखें बन्द करदे। साधुके आदेशानुसार उसने ऐसा ही किया। पश्चात् आँखें खोलकर देखता है कि–हाथी गायब, सेना गायब, साधु भी अन्तर्धान हो गया। वे ही पांच बन्दर एवं पांच बकरियां बँधी हुई दीख पड़ीं। अब वह अपनेको राजाके बदले फटे मैले कपड़े पहिना हुआ मदारी रूपसे देखने लगा। वह बड़े-सखेद-आश्चर्य में पड़ गया। अरे! यह क्या हो गया। मैं तो जैसे का तैसा ही रह गया। बीच में यह स्वप्न जैसा तमाशा मैंने क्या देखा? वह अपने राज्य–ऐश्वर्योंको तथा रानी आदि परिवारको याद कर रोने लगा। उस समय वे साधु–महात्मा वहाँ प्रगट होकर कहने लगे कि–अरे! मदारि! क्यों रोता है? तेरे थोड़ेसे नाच दिखाने का वह इनाम था–उसकी अवधि अब ख़तम हो गई, अब तू रोना छोड़, तेरा अपना वह अब कुछ नहीं रहा, अपना रास्ता पकड़, बन्दर एवं बकरियों को नचाकर, भीख़ मांग और अपना पेट पाल। ऐसा कह कर साधु महात्मा गायब होगये।

इस दृष्टान्तका दार्ष्टान्तिक इस प्रकार है–कि–मदारी यह जीवात्मा है। चक्षुरादि–पांच ज्ञानेन्द्रेयँा बन्दर एवं हस्तादि–पांच कर्मेन्द्रियँा बकरिया हैं। जिस प्रकार बकरियों की अपेक्षा बन्दर बड़े चंचल होते हैं, उसी प्रकार कर्मेन्द्रियों की अपेक्षा ज्ञानेन्द्रियँा बड़ी चंचल हुआ करती हैं। वह विविध प्रकारकी कामनारूपी डुगडुगी बजाकर लोग-

रूपी विषयोंके समक्ष ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रियोंको अनवरत नचाता रहता है। वह अनेक-योनियों में भटकता हुआ प्रारब्धानुसार यत्-किञ्चित् काम्यमान तुच्छ-पदार्थों को प्राप्त करके भी उसकी असंख्य-कामनाओंकी पूर्ति न होनेके कारण सदा दीन हीन एवं कङ्गाल ही बना रहता है।

साधु-महात्मा सर्वेश्वर भगवान् हैं। संसारकी आधि-व्याधि एवं उपाधियों से संत्रस्त होकर वह विविध-कामनाओं की पूर्तिको ही लक्ष्यमें रखकर भगवान् के सामने जाता है। भगवान् के प्रति प्रेम-भाव एवं आस्था न होने पर भी वह कुछ मिलनेकी अभिलाषासे ही अपनी इन्द्रियों को नचाता है। परन्तु साथमें उसके प्रति अविश्वास भी है कि—वह मुझे क्या देगा? संशय भी है कि—क्या पता, वह है भी या नहीं? इस प्रकार उसमें विश्वास एवं भक्ति न होने पर भी भगवान् उसकी सकाम सेवा का भी बड़ा भारी फल देते हैं। कंगालसे उसे महाराजा बना देते हैं। इतनी बडी सम्पत्ति एवं ऐश्वर्य प्राप्त कर वह उन्मत्त बन जाता है, विषयभोग-विलासोंमें आसक्त हो जाता है। धर्म एवं परोपकार के बदले अधर्म एवं परापकार करता रहता है। तृष्णा एवं आसुरी-सम्पत्तिके चक्कर में पड़कर वह सुख-शान्ति से भी हाथ धो बैठता है। स्वप्नमें भी वह भगवान् को याद नहीं करता, अन्त में उसकी सकाम सेवा के फल की अवधि समाप्त हो जाने पर कंगाल का कंगाल ही रह जाता है।

'सो परत्र दुःख पावहीं सिर धुनि धुनि पछिताय।
कालहिं कर्महिं ईश्वरहिं, मिथ्या-दोष-लगाय।'

अत एव भगवान् ने गीता में कहा है कि—'**शान्तिमाप्नोति न कामकामी**' (२।७०) सांसारिक—कामनाओंवाला कभी शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता, विवेक—वैराग्य के विना यत्किञ्चित् काम्यमान पदार्थका लाभ होने पर भी उस मूढ़के हृदयमें कामनाओंकी कभी समाप्ति नहीं होती। जिस प्रकार बद्रि—केदार हिमालयका यात्री मुश्किलसे एक पहाड़पर चढ़ने पर उसे उससे भी उंचा दूसरा पहाड़ दीख पड़ता है, उसके भी ऊपर चढने पर तीसरा, चौथा, ऐसे अनेक ऊंचे ऊंचे पहाड़ उसके सामने खड़े हो जाते हैं। चारों तरफ़ वह उन्नत शिखरवाले पर्वत ही पर्वत देखता है। उनका अन्त नहीं मिलता। उसी प्रकार कामी मूढ़-मानव की कामनाओं का कभी अन्त नहीं होता। एक—कामना की मुश्किलसे पूर्ति होने पर दश और खड़ी हो जाती हैं।

मनुष्य जब बच्चा होता है, तब वह खेलने कूदने की कामना रखता है। कुछ बड़ा एवं समझदार होजाने पर, पढ़ने की एवं पास हो जानेकी कामना रखता है। पढने—लिखने के बाद नौकरीकी या धंधा-रोजगारकी कामना रखता है। पश्चात् स्त्रीकी, पुत्रकी आदि—आदि कामनाएँ रखता हुआ, उनके ही चक्कर मे फँसा हुआ जीवन व्यतीत करता है। अन्तमें मनकी कामनाएँ मनमें ही रह जाती हैं। और उसके जीवनका दीप अकस्मात् बुझ जाता है। वह दुनियाँ में आया न आया हुआ होजाता है। अत एव किसी विद्वान् महात्माने कहा है कि—

'मित्रं कलत्रमितरः परिवारलोको,
भोगैकसाधनमिमाः किल सम्पदो नः।

एकः क्षणः स तु भविष्यति यत्र भूयो,
नेदं न यूयमितरे न वयं न चैते ॥

एक क्षण वह आयेगा, जहाँ हमारा यह मित्र, हमारी यह स्त्री, अन्य परिवार के लोग, एवं सुख-भोगके साधन ये धन मकान-वाहनादि-सम्पत्तियाँ कुछभी नहीं रहेगीं, एवं न हम, न तुम, न ये, कुछ भी न रहेंगे। फिर उनको हमारा पता भी नहीं रहेगा, न हमें उनका। न हम उनको मिल सकेंगे, न वे हमें। मानव प्रथम अपरिचित-अन्धकार—पूर्णस्थान से आया और वहाँ ही सब कुछ छोड़कर छिप गया।

इस प्रकार कामना—ग्रस्त मानव, विविध—योनियोंमें कर्मोंके अनुसार भटकता हुआ, तथा अनेकविध दुःख भोगता हुआ भी कामनाओंका परित्याग नहीं कर सकता; क्योंकि—उसकी प्रकृति ही कामनामयी हो गई है।

'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ?।'
(गीता० ३।३३)

अर्थात् सभी विवेकहीन प्राणी प्रकृतिके फन्दोंमें इतने गरक हो गये हैं कि—वे यदि उनसे छूटनेके लिये कुछ प्रयत्न करते हैं तो भी उनका प्रयत्न सफल नहीं होता। उस दुर्दान्त—प्रकृतिरूप स्वभाव का नियमन करना उसके लिए कठिन हो जाता है। स्वभावका अर्थ है—जन्मजन्मान्तरीय—अभ्यस्त—वासनाओं (संस्कारों) का समुदाय। वही भावि—जन्मोंके जीवन का नियामक बन जाता है। इस शुभाशुभ-स्वभाव से ही नियन्त्रित होकर प्राणी उसके अनुकूल ही शुभाशुभ चेष्टा करता रहता है। इसलिये वह मूल—रूप परमात्मा को छोड़ शाखा

प्रशाखा—पल्लवादिरूप क्षुद्र-देवताओंका विविध—सांसारिक कामनाओं की पूर्तिके लिये भजन करता रहता है।

मानव शरीरका उद्देश्य है—मोक्ष-प्राप्ति। यह विवेकादि—साधनोंका धाम एवं मोक्षका द्वार है। मूढ-मानव सांसारिक—अनेकविध कामनाओं के फन्दों में फँस कर इसके उद्देश्यको भूल जाता है। लाभ के बदले हानि उठाता है। अमूल्य हीरे छोड़ कर कौड़ियोंका संग्रह करता है। अनेक-जन्म जन्मान्तरोंके पुण्योंके योगसे इस जीवात्माको उस महान् उद्देश्यकी सिद्धिके लिये बड़ी कठिनाईसे इस मानव नगरीका राज्य मिला है, यह मानव-नगरी बहुत ही सुन्दर एवं दुर्लभ है। समस्त—शास्त्रोंने एवं निखिल—महात्माओंने इसकी महिमाका गुणगान मुक्त-कण्ठसे किया है। देवता-लोग भी इसमें निवास करने के लिये तरसते हैं। सभी जीवोंके लिये इसमें रहना कोई आसान नहीं। यहाँ तक पहुँचनेके लिये बहुत बड़ा रास्ता काटना पड़ता है। रास्ता चलते चलते हजारों लाखों वर्ष बीत जाते हैं। उस चौरासी लक्ष—योनियोंके अतिदीर्घ रास्तेमें जो जो कष्ट एवं क्लेशका अनुभव होता है, उसका वर्णन नहीं हो सकता। किन्तु उसे भुक्त-भोगीका हृदय ही मूक-भाषामें जानता है। उस दीर्घ—रास्तेकी यात्रा महा-कठोर है। जिसमें कोई भी जीव थोड़ा–सा भी विश्राम लेने के लिये ठहर नहीं सकता। रोते, चिल्लाते, मरते, खपते सब को आगे ही आगे चलना पडता है। उस राह पर चलने वाला यात्री एक कदम भी पीछे को नहीं हट सकता। राजा, रङ्क, धनी, निर्धन, विद्वान्, मूर्ख, सब के साथ एक—सा वर्ताव किया जाता है। पक्षपात किसी भी हालत में

नहीं होता।

महाकष्ट उठाकर असख्यों वर्षोंके बाद इस मानव-नगरीमें पहुँचने पर भी इसकी महिमा सबको विदित नहीं होती। इससे लाभ सभी नहीं उठा सकते। इसके महान् उद्देश्यको सभी नहीं जान पाते। लाखों एवं करोड़ोंमेंसे कोई विरले ही इसकी महिमा जानकर इससें पूरा लाभ उठाते हैं। साधारण-लोग तो इसको बहुत ही छोटा बताते हैं, वे कहते हैं कि—यह राज्य कुल साड़े तीन हाथका लम्बा ही तो है। तत्त्वदर्शी महापुरुष उनकी ऐसी बात सुनकर हसते हैं। वे कहते हैं कि—वामन भगवान्ने जब बलिराजासे साड़े तीन पाद पृथ्वी मांगी थी, तब बलि-राजाको वामन भगवान् बावन—अंगुलके ही छोटेसे दीखते थे। वह बलिराजाका अज्ञान था। वामन भगवान्की महिमाको नहीं जानता था। इसलिये उसे धोखा खाना पड़ा। सज्जनो! तुम मानव-नगरीके राज्यकी महिमा तत्त्वदर्शी गुरुसे समझो, धोखेमें न रहो। नहीं तो बलि-राजासे भी अधिक नीचेको जाना पड़ेगा। इस मानव नगरीका विस्तार इतना बड़ा है कि—संसारकी तमाम वस्तुएँ इसमें पाई जातीं हैं, उंचे और नीचे समस्त लोकोंके रास्ते इसीसेही निकलते हैं। सारे—संसारकी यदि अद्भुत रचना है तो इस मानव-नगरीमें है। इसलिये तत्त्वदर्शी महात्मा कहते हैं कि—**'यः पिण्डे सो ब्रह्माण्डे'**। जो रचना पिण्ड—शरीरमें है, वही सकल—ब्रह्माण्डमें है। इसके देवगिरि—पर्वतके शीर्ष—शिखर पर चढ़ कर मनुष्य समस्त जगत्की चोटी पर पहुँच जाता है। वहाँ वह तमाम-दुःखोंसे रहित होकर महान् आनन्दको प्राप्त होता है।

यद्यपि इस मानव-नगरीमें जो जो घुसते हैं—वे सभी राजा बनतें

हैं, संसारके और जीव उनकी आज्ञामें रहते हैं, सेवा करते हैं, जड़ पदार्थों पर भी उनकी हुकूमत चलती है। तथापि जिनके पास ज्ञान-शक्ति नहीं होती, उनको राजासे रङ्क, दीन एवं दास बनना पड़ता है। और अन्तमें काल—गढ़ीके जेलमें बलात् ठूँस दिये जाते हैं।

मानव-नगरीके एक प्रमादी राजा अबोधसिंहका वृतान्त इस प्रकार है—

अबोधसिंहने अनेक कष्ट उठाकर लम्बी सफर काट कर सौभाग्य-वश जब काया महलके द्वार प्रर पैर रक्खा, तब आपाराय (अभिमान-सिंह)ने आगे बढकर उसका बड़ा ही आदर—सत्कार किया। मदवाटिकाके अहं-ममरूपी सुंदर—फूलोंका हार उसको पहिनाया। और मोहरूपी गजरा (फूलोंका गुच्छा)सामने रक्खा, पश्चात् हाथ जोड़कर स्वागत करते हुए कहा कि—पधारिये राजन्! इस मानव नगरीका राज्य आपका है, आप इसके अधिपति हैं, इसको आप सोलह आना अपना ही समझिये। यह सदा आपके साथ रहेगा। इसपर सत्यतीर्थ स्वामीने जो उसके पीछे खड़े थे, सत्य—तत्त्वका उपदेश देना जिनका प्रधान कर्तव्य था—कुछ कहनेके लिये अपना मुँह खोला, लेकिन फौरन् आपारायने उनके मुँह पर अपना हाथ रख दिया। जिससे वे बोलनेसे चुप होगये। फिर नवीन राजा अबोधसिंहको आपारायने मानव-नगरीकी सैर अच्छी प्रकार करवाई। इन्द्रिय-द्वारसे विषय—वाटिकामें प्रवेश कर उसकी मनमोहनी—सुगन्धि पर एवं सौन्दर्य—पर राजा सर्वतो भावेन न्यौछावर हो गया। अबोधसिंहको मानव-नगरी बहुत ही सुहावनी लगी। वह इसके रोम रोम पर रीझ गया। जिस आपारायने ऐसी सुन्दर नगरी दिखाई, अतः उसके साथ राजाका

बहुत ही गहरा प्रेम होगया। नगरी सहित दोनों एक-जी होगये। दूध और पानीकी भाँति मिल गये। कोई उनको अलग-अलग नहीं देख सकता था।

राज्यका पूरा अधिकार मिलनेके कुछ दिन पूर्व ही अबोधसिंहका विवाह बुद्धिकुमारीसे-मानवनगरीकी रीतिके अनुसार विना दुल्हा दुल्हिनकी रुचि और अरुचिके देखे-कर दिया गया। परिणाम यह हुआ कि-दोनोंमें जितना प्रेम होना चाहिये था-उतना नहीं हुआ। राजा नवीन सभ्यताका प्रमादी पुतला था, उच्छृङ्खल एवं विलासी था। अतः वह हृदय-महलमें (अन्तर्मुख) रहना ही नहीं चाहता था। इसलिये उसने बुद्धिकुमारीकी तरफ आँख उठाकर देखा भी नहीं। बुद्धिकुमारी भी यही कहती थी कि-जब उनको जरूरत होगी, तब वे आप ही मुझे बुला लेंगे। स्त्रियाँ पुरुषोंके आगे आगे नहीं चलतीं। उनके पीछे पीछे ही चलना उचित है। इसलिये वह सदा राजाके पीछे ही रहती थी। राजाने फिरकर कभी उसकी ओर देखा भी नहीं। इसलिये कभी उसने अपना शृङ्गार भी नहीं किया।

कुछ मूढ-लोग कहते थे कि-रानी बुद्धिकुमारीमें सुन्दरता नहीं है, तभी तो राजा उसकी तरफ देखता तक नहीं है। परन्तु तत्त्वदर्शी ज्ञानवान् महापुरुषोंको रानी बुद्धिकुमारी बहुत ही सुन्दर और साक्षात् सरस्वतीके समान प्रतिभा-संपन्न जान पड़ती थी। वे कहते थे कि-यदि राजा अबोधसिंहने अपनी रानी बुद्धिकुमारीका यथोचित-आदर सत्कार कर उसका सेवन नहीं किया तो राजाको महादुःख उठाना पड़ेगा। अन्तमें ऐसा ही हुआ, उसके शिर पर नित्य नई अनेक-

विपत्तियाँ आकर ताण्डव नृत्य करने लगीं।

कारण यह था कि—आपारायने अपने ज्येष्ठ बेटे कामरायकी भूरि भूरि प्रशंसाके साथ मन्त्री पदके लिये बडी सिफारिश की। बुद्धि-शून्य राजाने उसे अपना मन्त्री बना लिया। थोडे ही समयमें कामरायने राजाको अपने वशमें करलिया। कामरायकी वासनादेवी और इच्छा-देवी नामकी दो बेटियां थीं, उनको देखते ही राजा ऐसा मोहित होगया कि वह—अपनी रानी बुद्धिकुमारीकी सुध तक भूल गया। राजा पर उन दो देवियोंने गजब ढा दिया। राजा उनके हाथमें मोमके नाककी तरह होगया। जिधरको वे चाहतीं थीं उसको मोड़ देतीं थीं। दिनरात उसके पीछे लगी रहतीं थीं। रानी बुद्धिकुमारीने कई वार पुकार पुकार कर कहा भी कि—इनकी इतनी बात न सुनो, इनको इतना मुँह न लगाओ। नहीं तो बदनाम हो जाओगे, घोर दुःखसागरमें पड़ोगे। कुछ मेरीभी बात सुना करो। आखिर मैं तुम्हारी साध्वी रानी हूँ; ये तो व्यभिचारिणी—पुंश्चली—वेश्यायें हैं। तुम्हारा सर्वस्व लूँट लेवेगीं। मुझको त्याग कर तुम सुखकी नींदसे न सो पाओगे। जब जब बुद्धिकुमारी राजाको कुछ कहना प्रारंभ करती थी, तब तब वे दुष्टाएँ विषय—भवनमें नाचतीं थीं, और भोग-विलासके अश्लील गीत गाया करतीं थीं। अपने हावभावोंसे एवं कटाक्षोंसे उन्होंने राजाका चित्त इतना मोह लिया था कि—वह बुद्धिकुमारीकी बात ही कुछ न सुन सकता था। बुद्धिकुमारी थक कर चुप हो जातीं थी; और धीरे धीरे उसने राजाका साथ भी देना छोड़ दिया था। अब वह राजासे कोसों दूर रहती थी,—मानो कि—राजाकी दृष्टिसे वह नष्टप्रायः हो गई हो।

अत एव आनन्दकन्द—भगवान्‌ने गीतामें ठीकही कहा है कि—

'ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते। संमोहात्स्मृति-विभ्रमः, स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥
(२।६२+६३)

विषयोंका निरन्तर चिन्तन करनेवाले मनुष्यकी विषयोंमें आसक्ति (प्रबल-भोगेच्छा) हो जाती है। संमोहसे शुभाशुभ गन्तव्य पथ—विषयिणी स्मृतिशक्ति नष्ट हो जाती है। और स्मृति-नाशसे बुद्धिका नाश हो जाता है। बुद्धि—नाशसे मनुष्यका सर्वनाश हो जाता है।

बुद्धिकुमारीके भाग जाने पर इच्छादेवी और वासनादेवी अपनी मन मानी करने लगी। अब तो उन्होंने खुल्लमखुल्ला ताण्डव नृत्य किया। और बन्दरकी तरह अबोधसिंहको खूब नाच नचाया। दिनरात उन्होंकी अंगुलियोंके इशारे पर वह नाचा करता था। उनके विना उसको पल भर भी चैन नहीं पड़ता था। जब नाचते नाचते राजा थककर बैठ जाता था। तब वे अपनी सखी आशादेवीको भेजकर उसको फुसला-कर पुनः नाचनेके लिये खड़ा कर देतीं थीं। आशाके दर्शन-मात्रसे राजाकी सब शिथिलता दूर होजाती थी। और वह कमर कस कर आशाका पल्ला पकड़कर इच्छा और वासनाके पीछे दौड़ उठता था। आशादेवीकी महिमा अपार है। उसके दर्शन-मात्रसे बूढ़ा जवान—सा, रोगी निरोगी—सा, निर्धन धनी-सा, हारा हुआ विजयी—सा होजाता है। आशादेवी उसे आश्वासन देती हुई कहती थी कि—तू इतना निराश क्यों होता है? अमुक देवताकी तू पूजा कर। उसकी कृपासे तेरे सभी इष्ट-मनोरथ पूर्ण होंगे। सभी कष्ट दूर होजायेंगे। वह देवता बड़ा कृपालु

है, शीघ्र ही अपने भक्त पर प्रसन्न होजाता है। देख, अमुक व्यक्ति पर वह प्रसन्न होगया था। उसने उसके सभी दुःख दारिद्र दूर कर दिये थे। तू भी श्रद्धाके साथ उसकी आराधना कर। उसको प्रसन्न करनेके लिये अमुक अमुक नियम धारण कर, अमुक प्रकारका व्रत—उपवास कर। उसका विश्वास रख। उसकी स्तुति कर। उसके नामका जप कर। वह तेरा अवश्य ही सहायक होगा। तेरे दुर्बल-शरीरको सबल बनायगा। शिथिल—इन्द्रियोंको सशक्त बना देगा। बुढ़ापा दूर करदेगा। तुझको जवान अलमस्त बना देगा। उपभोगकी समग्र सामग्रियोंका ढेर लगा देगा। स्वर्गीय सुख प्रदान करेगा। इसप्रकार वह मूढ़ अबोधसिंह आशादेवीका आश्वासन प्राप्तकर मुर्झाया हुआ भी हरा भरा होजाता था। आशाके समान इस संसारमें शिथिल जीवोंको ढाँढस बधानेवाला और कोई नहीं है। सारा संसार उसके सहारे ही जीता है। उसकी और दौड़ता है। परन्तु आश्चर्यकी बात तो यह है कि—उसको पाता कोई भी नहीं।

जब अबोधसिंह इच्छा, वासना एवं आशा देवियोंका पूरा गुलाम हो गया। तब कामराय मानव नगरीका स्वतंत्ररूपसे शासन करने लगा। वह अपनेको राजा मानने लगा। असली राजा अबोधसिंह अपनी बेवकूफीसे उसका दास बन गया, अब तो कामराय जो चाहता था, वहीं होता था, और किसीकी कुछ भी बात नहीं सुनी जाती थी। इसलिए राजाके परम-गुरु सत्यतीर्थ स्वामीने भी दरबारमें आना छोड ही दिया था। वे इस दुर्दशा-ग्रस्त राजधानीसे बहुत दूर एकान्त जंगलमें रहा करते थे।

एक दिन माया नटनी बडी सजधजकर, राज—दरबार में घुस

आई। और वह विविध रागोंसे गाने एवं नाचने लगी। जो प्रथम सत्यतीर्थ स्वामी के प्रभावसे राजमहलकी ओर देखने तक न पाती थी। इसके नाच गान पर राजा ऐसा मुग्ध हो गया कि—वह अपने को सर्वथा भूल ही गया। माया नटनी भी नाच में ऐसी मस्त हो गई कि—पास में बैठे हुए मर्य्यादाध्यक्ष सरदार शीलदेवके ऊपर गिर पड़ी। इससे उनको चोट लगी, और उनकी छोटी बेटी लज्जा—जो उनकी गोदमें बैठी हुई थी, वह भी बेहोश हो गई। ऐसा देखकर सरदार शीलदेवने उठ कर माया को डांटा फटकारा, परन्तु माया नटनी से भारी स्नेह रखने वाले सेनापति कोपसिंह और उनके भाई कलहसिंह एवं मत्सर-सिंह आदिको बहुत ही बुरा लगा। और वे सबके सब शीलदेवके ऊपर तलवार खींचकर मारने के लिये दौड़ पड़े। शीलदेव अपनी बेहोश लड़की लज्जाको उठाकर भाग गये। यदि बूढ़ी दयाबाई बीचमें न पड़ती तो शीलदेव उनसे बच कर कदापि भागने न पाते। इसलिये राजा अबोधसिंह दयापर नाराज हुआ, और उसने हुकुम दिया कि—इस बुढिया का गला घोंट दो। जिसने हमारे—सेनापतियों के पंजेसे शत्रुको भगा दिया। हुकुम पाते ही कोपसिंह आदि दयाको मारने के लिये दौड़े, और पकड़कर उसके गलेमें उन्होंने फांसी डाल दी। परन्तु सौभाग्य वश फँासी टूट जाने के कारण दया भी रफु-चक्कर हो गई।

मायाका नाच देखकर राजा अबोधसिंह बहुत प्रसन्न हुआ। इसलिये उसने अपने कोषाध्यक्ष सन्तोषनाथको हुकुम दिया कि—सारा खजाना इस मायाको इनाममें दे दो। सन्तोषनाथने खजानेकी चाबी फैंककर कहा कि—खजानेमें कुछ है ही नहीं, मैं क्या दूं? तुम्हारा

खजाना तो बहुत रोजसे उजड़ गया है। यह सुनकर अबोधसिंहने आंखें निकाल कर जब अपना रोष प्रकट किया, तब सन्तोषनाथने वहांसे चला जाना ही अच्छा समझा।

इसप्रकार शीलदेव, सन्तोषनाथ, बुद्धिकुमारी, लज्जाकुमारी, दयादेवी आदि राजधानी छोड़कर सत्यतीर्थ—स्वामीकी कुटीपर जा पहुंचे। वहाँ बैठने भी न पाये थे कि—इतनेमें शीलदेवकी बहिन मर्यादादेवी भी हांफती एवं कांपती हुई दौड़ी आई। उसने कहा कि-मायाका निर्मर्याद-नाच देखकर—मैंने उससे कुछ कहा—इसलिये तृष्णादेवीने मेरी साडी फाड़ डाली, और ज्यों ही वह मुझको मारनेके लिए टूट पड़ी, त्यों ही मैं छपककर वहांसे निकल चली।

सत्यतीर्थ—स्वामीने सबको धैर्य देकर बिठलाया, और कहा कि—अब इस मानव—नगरीके राज्यका नाश होनेका समय बहुतही समीप आगया है, इसीके ये लक्षण हैं—'**विनाशकाले विपरीतबुद्धिः।**'

स्वामीजीका कहना सत्य ही निकला। मानव-नगरीके सभी चक्षुरादि-इन्द्रिय द्वारोंको कामरायने जीर्ण शीर्ण कर दिया। हृदय-भवनमें कोपाग्नि प्रतिदिन भभकती ही रहती थी। शान्ति—वर्षा तो कदापि होने ही नहीं पाती थी। इसलिये राजा अबोधसिंह महाअशान्त एवं दुःखी रहने लगा। उसके सब अधिकार नौकरोंने छीन लिये। वे ही उसके स्वामी बन गये और वह उन सभी नौकरोंका गुलाम हो गया।

अतएव 'बोधसार' नामक ग्रंथमें नरहरि-स्वामीने कहा है—

आत्मभूपतिरयं पुरातनः पीतमोहमदिरामदाकुलः।
किंकरस्य मनसोऽपि किङ्करैः, इन्द्रियैरहह किङ्करीकृतः॥

यह पुरातन जीवात्मा मानव–नगरीका राजा है। इसने मोह मदिराका पान किया, और इससे वह मदोन्मत्त होगया। अर्थात् अपना भान भूल गया। मैं कौन हूँ? उसकी सुधबुध खो बैठा। मनीराम जो उसका नौकर था तथा उसकी नौकरानियाँ जो इन्द्रियाँ थीं–उन सबने राजाको अपना नौकर बना लिया। अर्थात् जो सबका स्वामी था, वह अपने स्वामित्वको भूलकर सबका दास–नौकर होगया।

नेत्रराम द्वार–पाल अपनी ही मौजको देखता था। जिसको चाहता था, उसे अन्दर घुसा देता था, वह भले बुरेका कुछ भी ख्याल नहीं रखता था। परिणाम यह हुआ कि–मानस-महलमें गुंडे-लुच्चे बदमाशोंकी भीड़ सदा लगी रहती थी। और भलेलोगोंकी गुजर वहाँ कदापि नहीं होती थी। श्रवणसिंह किलेदार भी अपनी मौजकी ही बातें सुनता था। उसको भी अच्छे बुरेका भान नहीं था। अतः वहाँसे भी बहुतसे लुच्चे लफङ्गे घुसकर मानस–महलमें उपद्रव मचाया करते थे, और तो क्या? रसना-रसोइया भी अपनी मनमानी किया करता था। वह वही भोजन-सामग्रीको ग्रहण करता था। जिससे उसको रसास्वाद मिलता था। किन्तु बिचारा उदर-मल्ल-भण्डारी सदा चिल्लाता ही रहता था कि–ऐ रसोइयाजी! ऐसे अण्ड–सण्ड भोजन यहाँ न भेजा करो। ये सब विषका काम करते हैं। इनसे नाना प्रकारके विकार एवं रोग उत्पन्न होते हैं। मौज लो तुम, और कष्ट उठावें हम, यह कहाँका न्याय है?। लेकिन उस गरीबकी सुनता ही कौन था, मस्ताने रसोइयेको तो अपनी ही मौजसे–रसास्वादसे मतलब था।

इसीप्रकार मानव-नगरीमें सभी तरफसे गड़बड़ी मचने लगी।

मानस-भवन तो बदमाशोंका प्रधान अड्डा होगया, राजा अबोधसिंहको इससे बड़ा भारी कष्ट रहने लगा। दिनोंदिन राज्यकी अवनति होती गई। रक्तसरोवर प्रतिदिन सूखता ही जाता था। जिससे समग्र राज्यकी सिंचाई होती थी। तमाम राज्य हराभरा रहता था। केशकुञ्ज भी बेरंग होगया। और धीरे धीरे उजड़ने लगा। जिससे राज्यकी शोभा थी। त्वचा भूमि भी उजड़ गई, एवं अदर्शनीय दीखने लगी। जो प्रथम दर्पणके समान चमकीली समतल एवं रेशमके समान कोमल थी। दन्तकिला धीरे धीरे टूटने लगा। चोकीदार, किलेदार द्वारपाल आदि भी अपना अपना काम छोड़कर चले गये। इसप्रकार राजाके समस्त रक्षक गण तो वहाँसे चले गये। परन्तु उसको दुःख एवं कष्ट पहुँचानेवाले, कामराय कोपसिंह वासनादेवी तृष्णादेवी आदि सबके सब बने रहे, और वे प्रथमसे भी दिनोंदिन अधिक बलवान् होते गये।

एक समय अबोधसिंहको अपनी पराधीनता एवं दुःखभरी दुर्दशा-पर बहुत अफसोस हुआ, और वह सुखशान्तिकी खोजमें फिरने लगा। फिरता फिरता वह सौभाग्यवश सत्यतीर्थ-स्वामीजीकी कुटियाके समीप जा निकला। और वह वहाँ थककर बैठ गया, और अपने कष्टोंके लिये रोने लगा। रोनेकी आवाज सुनकर स्वामीजी कुटियासे बाहर आये, और उसको आश्वासन दिया। अबोधसिंहने परम-शान्त प्रसन्न एवं तेजस्वी मूर्तिका दर्शन कर अपनेको धन्य समझा। उसने बडी ही नम्रताके साथ प्रार्थना किया कि—हे भगवन्! कृपानिधान! मैं बडा दुःखी हूँ, परतन्त्र हूँ, शत्रुओंको मित्र समझ बैठा हूँ, कृपया मुझे ऐसे स्थानमें ले जाओ कि—जहाँ इन दुःखदायी शत्रुओंकी पहुँचके बाहर हो। मैं आप दयानिधि-महा-

पुरुषकी शरण आया हूँ।

स्वामीजी—वत्स ! निःसन्देह मैं ऐसे स्थान पर तुझे ले जा सकता हूँ। जहाँ इन तुम्हारे शत्रुओंकी पहुँच किसी प्रकार भी नहीं हो सकती। परन्तु प्रथम जबतक तू अपने शत्रुओंसे नाता तोड़ न दे। तबतक मैं तुझे उस निर्भय—स्थान पर नहीं पहुँचा सकता।

अबोधसिंह—हाय ! अब उनसे मेरा नाता कैसा ? मै अब इन वैरियोंका मुँह भी नहीं देखना चाहता।

स्वामीजी—इस समय तो तू दुःखसे व्याकुल हो रहा है, इसलिये ऐसा कहता है, परन्तु जब इच्छादेवी एवं वासनादेवी, तुझे प्रेमालिङ्गन करेगीं, तब तेरा ऐसा कहना कर्पूरकी तरह जाता रहेगा। इसलिये तो तूने अपने शत्रुओंको मित्र समझकर उनका लालन पालन किया। और सच्चे सहायक मित्रोंको शत्रुओंकी भाँति निकाल दिया। यदि तू प्रथम ही मेरा उपदेश सुनता, तो तेरी ऐसी दुर्दशा क्यों होती। मैं तुझे परम सुखधामकी ओर ही ले चलता। शील, सन्तोष, दया, मर्यादा आदि तेरी सहायता करते, परन्तु तूने अपनी मूर्खतासे कामरायको अपना मन्त्री बना लिया, परन्तु तुझे बराबर माळूम होना चाहिये कि—वह तुझे काल-गढीकी राह पर लिये जाता है। जहां तुझे बहुत कालतक महादुःखरूपी कीचड़में सड़ते रहना पड़ेगा। अच्छा ? अब भी तो सावधान हो जा, '**गई सो गई, अब राख रही को।**'

अबोधसिंह—कृपया अब मेरा सब अपराध क्षमा कर सुखधामका मार्ग बतलाइये, मैं आपहीका कहा मानुँगा।

स्वामीजी—यद्यपि तुझ उच्छृङ्खलका मुझे विश्वास तो नहीं है, कि—तू मेरा कहा मानेगा। परन्तु मैं तुझको परम सुखधामके मार्गकी ओर अवश्य ले चलूँगा। शर्त यह है कि—तू मेरे पीछे पीछे ही चलना, अपनी दृष्टि मुझ पर ही लगाये रखना, अगर इधर उधर देखेगा तो तू विचलित हो जायगा, फिर मैं कुछ भी न कर सकुँगा। याद रख—मानव नगरीके प्रथम जितने सचेत राजा होगये हैं, वे मुझे ही गुरु मानकर मेरे उपदेशके अनुसार ही चले हैं। और मेरी ही सहायतासे परम सुख-धामको पहुँच गये हैं। परम-सुखधाम शीशगिरिके शिखर पर है। जिन्होंने उस धामको पा लिया है, उन्हींका जन्म सफल होगया है। एवं जिन लोगोंने निष्काम होकर वहाँ पहुँचनेका यत्न नहीं किया, जो सांसारिक कामनाओंके गंदे कीचड़में फँसे रहे, उनका जन्म व्यर्थ हो गया।

जब अबोधसिंहने स्वामीजीकी शर्त मान ली, तो स्वामीजी आगे हो लिये और अबोधसिंह कुछ दूर तक उनके पीछे पीछे गया, परन्तु जब पीछेसे कामरायसे प्रेरित हुई इच्छादेवी और वासनादेवीने तालियाँ बजाई, तब अबोधसिंहकी दृष्टि स्वामीजीसे हट गई। तत्काल ही मायादेवीने बडे ही हावभावके साथ अपना नाच प्रारंभ किया। पूर्वके प्रबल संस्कारोंके कारण वह उसके नाचके साथ ही नाचने लगा। अब वह सुखधामके मार्गसे विचलित होगया। एक दिन यमदूतोंने पकड़ कर जबरदस्तीसे कालगढ़ीकी जेलमें उसे ठूँस दिया।

जबतक मानव विवेक—वैराग्य द्वारा सांसारिक—कामनाओंका परित्याग नहीं करता। तबतक वह जन्म—मरणके कष्टप्रद चक्रसे कभी छूट नहीं सकता। आपात-रमणीय कामनाओंके चक्करमें फंसा हुआ

मानव मिथ्याज्ञानके गाढ़ान्धकारमें ही सदा पड़ा रहता है, उसके हृदयमें विवेकज्ञानकी रमणीय-मधुमती-ज्योत्स्ना का संचार होने ही नहीं पाता। जिसप्रकार भ्रान्त हरिण, मृगतृष्णाके जलको प्राप्त कर, उससे प्यास बुझाकर प्रसन्न होना चाहता है, उसीप्रकार विविध-कामनाओं के वशीभूत हुआ यह अन्यान्य क्षुद्र-देवताओंकी आराधना आदि उपायों से ऐहलौकिक एवं पारलौकिक काम्यमान पदार्थोंका लाभ प्राप्त कर उनके द्वारा सुखी होना चाहता है। जैसे मृग-तृष्णा का जल भ्रान्तिसे प्रतीयमान होने पर भी विद्यमान नहीं होता, तद्वत् सांसारिक—काम्यमान पदार्थोंमें भ्रान्तिसे सुख प्रतीयमान होने पर भी विद्यमान नहीं होता। जब वहाँ सुख विद्यमान होता ही नहीं, तब मिले कहांसे? क्योंकि विद्यमान वस्तुकी ही प्राप्ति होती है, अविद्यमान वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिये कामनाग्रस्त मूढ मानवको हरिण की भाँति धोखा खाना पड़ता है। उसे सुख के बदले दुःख मिलता है, लाभ के बदले हानि उठानी पड़ती है। उसे प्रारम्भमें स्वर्गका दर्शन होता है, परन्तु अन्तमें वही स्वर्गका दर्शन नरकके बिभत्स—दर्शनरूपसे परिणत हो जाता है। अत एव भगवान्‌ने गीतामें कामनाग्रस्त मानवको इतोभ्रष्टस्ततोभ्रष्ट कहा है। उसे कभी भी अनन्त-शान्ति सुखकी प्राप्ति नहीं होती। मिथ्याज्ञानके कारण उसके देवाराधनादि—प्रयत्न विफल हो जाते हैं। अन्तमें उसको पश्चाताप करना पड़ता है।

(२१)

'यो यो यां यां तनुं, भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां, तामेव विदधाम्यहम्॥ (७।२१)

जो जो सकाम भक्त, जिस-जिस देवताके स्वरूपको श्रद्धासे पूजना चाहता है, उस-उस भक्तकी उस-उस देवताके प्रति श्रद्धाको मैं अन्तर्यामी भगवान् ही स्थिर करता हूँ।

(२२)

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान् हि तान्॥
(७।२२)

वह मनुष्य उस श्रद्धासे संयुक्त हुआ उस देवताकी आराधनाका प्रयत्न करता है, और उस देवतासे मुझ-विश्व-प्रेरक परमेश्वर द्वारा ही विधान किये हुए-उन अभिलषित-भोगोंको निःसंदेह प्राप्त होता है।

आनन्दनिधि-भगवान् श्रीकृष्ण, इन दो श्लोकोंके द्वारा अर्जुनके प्रति अपनी अन्तर्यामिताका एवं विश्वप्रेरकताका उपदेश देते हुए कहते हैं कि-हे अर्जुन! मैं अन्तर्यामी हूँ। यावत्-प्राणीमात्र के हृदयमें अवस्थित हुआ सबका नियमन करता हूँ, एवं मैं विश्वके सभी विधानोंका प्रेरक हूँ। मेरी प्रेरणा द्वारा ही विश्वके अनेकविध-विधान प्रवर्तित होते हैं। मेरी प्रेरणाके विना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। जो जो भक्त मुझ विश्वात्मा भगवान् के जिस-जिस देवता-विग्रहका पृथक्रूपसे पूजन करना चाहता है, उस-उसके हृदयमें उस-उस देवता-विग्रहके प्रति अचल-श्रद्धा मैं ही देता हूँ। यद्यपि वह भक्त उस देवता विग्रहको मुझ-विश्वात्मासे भिन्न मानता है, अत एव वह उसमें ही श्रद्धा रखता है, मुझमें श्रद्धा नहीं करता। क्योंकि-वह मुझ परमात्माको यथावत् जानता नहीं, और वह संसारकी अनेकविध कामनाओंसे

संयुक्त है। इसलिये वह कामनाओंकी पूर्ति के लिए देवताओंकी आराधना करता है। आराधना, विना श्रद्धाके नहीं होती। श्रद्धासे ही आराधना की सिद्धि होती है। अतः मैं अन्तर्यामी परमात्मा ही उसके हृदयकी भावनाके अनुसार उसदेवताके प्रति होनेवाली श्रद्धाको स्थिर करता हूँ। मैं उसे उस श्रद्धासे विचलित नहीं होने देता। क्योंकि- उसको मुझे आगे बढाना है। यदि मैंने उसको उस श्रद्धासे विचलित कर दिया तो वह ज्योंका त्योंही रह जायगा। श्रद्धासे वह किसीभी देवताके विग्रह की आराधना क्यों न करे? सभी देवताओंके विग्रह वस्तुतः मेरे ही हैं, ऐसा मैं तो जानता हूँ, ऐसा वह न भी जानता हो।

श्रद्धा अतिमहत्त्वका साधन है। श्रद्धाकी स्थिरता होनेपर चित्त उस श्रद्धेयवस्तुमें एकाग्र होजाता है। स्थिर-श्रद्धासे चित्तमें शनैः शनैः निर्मलता आजाती है। मनुष्यकी उन्नतिका एक प्रधान कारण श्रद्धा या विश्वास है। अत एव भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—**'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।'** (१७। ३) अर्थात् मनुष्यका जीवन श्रद्धाप्रचुर है, श्रद्धाविश्वास विना वह जीवित नहीं रह सकता। इसलिये जो जैसी श्रद्धा करता है, वह वैसा ही हो रहता है। और वह श्रद्धाभी अन्तःकरणके उच्चावच सँस्कारोंके अनुरूप ही हुआ करती है।

श्रद्धालु एवं विश्वासीका जीवन सरस—और फलप्रद होता है, और श्रद्धाविश्वास—हीन मानवका जीवन—अनेक संदेह—एवं विविध-कुतर्कोंसे ग्रस्त होनेके कारण नीरस एवं शुष्क होता है। इसलिये ऋग्वेद-संहिताके दशम—मण्डलमें श्रद्धाके महत्त्वका वर्णन करनेवाला एक श्रद्धा-सूक्त है। इस सूक्तकी ऋषि श्रद्धा है। इसमें श्रद्धालाभके लिए इसप्रका-

रकी प्रार्थना की गई है—

'श्रद्धां प्रातर्हवामहे, श्रद्धां मध्यंदिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि, श्रद्धे! श्रद्धापयेह नः॥'
(ऋ० १०।१५१।५)

हमलोग, प्रातः मध्याह्न और सूर्यास्तके समय श्रद्धाको ही बुलाते हैं, हे श्रद्धादेवी! इस जगत्में हमें श्रद्धावान् करो—विश्वासी बनाओ।

श्रद्धा एक दैवीगुण है, इसमें बडा सामर्थ्य रहता है, इसके द्वारा अशक्य कार्य भी शक्य होजाते हैं। प्रातः स्मरणीय जगद्गुरु—आचार्य श्रीशङ्करका एक बडा श्रद्धालु शिष्य था। उसका प्रथमका नाम था-सनन्दन। वह आचार्यके साथ उससमय बद्रिकाश्रममें रहता था। आचार्यकी आज्ञासे वह योगसाधनाके लिए अलकनन्दागंगाके सामने पार एकान्त—कुटीरमें निवास करता था। एकरोज आचार्यगुरुने उसके श्रद्धाविश्वासकी परीक्षा लेनेका विचार किया। अतएव आचार्यने उसी-समय उसे इसपार शीघ्र ही अपने समीप आनेके लिए पुकारा। पुकार सुनकर वह विचारमें पड गया कि—मैं शीघ्र ही गुरुमहाराजके समीप कैसे जा सकता हूँ?। क्योंकि—बिचमें अवरोधरूप यह जोरोंसे बहाने-वाली अलकनन्दा है। पूल आदिका साधन भी समीपमें नहीं है। इतने प्रचण्ड—वेगमें तैरना भी अशक्य है। ऐसे विचारोंके साथ उसके हृदयमें श्रद्धाका आविष्कार हुआ। श्रीश्रद्धादेवी कहने लगी—

'संतारिकाऽनवधिसंसृतिसागरस्य,
किं तारयेन्न सरितं गुरुपादभक्तिः।

इत्यञ्जसा प्रविशतः सलिलं द्युसिन्धोः,
पद्मान्युदञ्चयति तस्य पदे पदे स्म ॥'

(शङ्करदिग्विजय)

अर्थात् जब गुरुमहाराजके चरणोंकी विमलभक्ति, अपारसंसारसागरसे तार देती है, तब क्या वह भक्ति इस छोटीसी नदीसे तार न देगी? अवश्य ही तार देगी, बस अब क्या था?, ऐसी श्रद्धाका वेग जब हृदयमें उमड पडा, तब वह शिष्य तुरन्त ही अलकनन्दामें कूद पडा। गंगाजल केवल जडपदार्थ ही हो, ऐसी बात नहीं, वह श्रद्धालु-आस्तिकोंके लिए साक्षात् ब्रह्मद्रव है। इसमें श्रुतियोंका सर्वस्वरूप शुद्ध-ब्रह्मकी विमल ज्योति ही प्रकाशित होरही है। अतएव श्रीगंगा चिदानन्दमयी ब्रह्मस्वरूपिणी है। श्रीगंगाने उस श्रद्धालु—शिष्यकी रक्षाके लिए उसके प्रत्येक पैरके नीचे दृढ कमलोंका निर्माण कर दिया। जहाँ जहाँ वह पैर रखता है, वहाँ वहाँ एक—एक कमल, उसके पैरको अवलम्बन देनेके लिए तुरन्त ही निकल आता है। वह कमलोंके ऊपर पैर रखता हुआ गुरुमहाराजके समीप उसपार पहुँच गया। आचार्यगुरु, उसकी इस चमत्कारपूर्ण—दिव्यश्रद्धा देख कर बहुत ही प्रसन्न हुए। और उसी समय आचार्यने उस शिष्यको संन्यास दीक्षा देकर उसका अभिनव अन्वर्थ नाम 'पद्मपाद' रक्खा। पद्मपादका अर्थ है—पद्मेषु पादौ यस्य सः। पद्मोंमें जिसके पैर थे, उसका नाम पद्मपाद। पश्चात् यही पद्मपाद, आचार्यगुरुकी कृपासे 'पञ्चपादिका' आदि एकाधिक ग्रन्थोंके प्रणेता एवं प्रधान-पीठाधीश्वर बनकर 'पद्मपादाचार्य' नामसे विख्यात हुआ।

लौकिक-कार्य खाना पीना–लेना देना आदि, एवं पारलौकिक कार्य यज्ञ–दान होमादि भी श्रद्धा विश्वासके द्वारा ही सफल सिद्ध होते देखे गये हैं। यदि श्रद्धा विश्वास न हो, तो पारलौकिक-कार्यकी तो क्या बात? किन्तु लौकिक-कार्य भी हम सिद्ध नहीं कर सकते। और कामकी तो क्या बात? किन्तु हम विश्वासके विना हजामत भी नहीं बनवा सकते। नापित क्षौर करनेके लिए सामने आता है। हम उसका पूरा विश्वास रखकर ही उसके समक्ष–अपना सर्वस्वरूप उत्तमाङ्ग–मस्तक–जिसकी किमत बडेसे बडे खजानेसे भी आंकी नही जाती–जिसके लिए खजाना आदि सब कुछ है–झुका देते हैं। मनमें विश्वासमयी-भावना रखते हैं कि–'यह नापित शिरके बाल ही काटेगा, शिर कभी नहीं काटेगा, इसने अनेकोंका क्षौर कर्म किया है–किसीका भी इसने शिर नहीं काटा। तब वह मेरा शिर क्यों काटेगा? नहीं काट सकता।' विश्वासके बदले मनमें इसप्रकारका संदेह या कुतर्क पैदा हो जाय कि–'क्या पता! **'नराणां नापितो धूर्तः'** नापित मनुष्योंमें धूर्त होता है, इसके सामने मेरा मस्तक झुका हुआ है–और उसके हाथमें तेज धारवाला छुरा भी मौजूद है, कहीं वह गरदनमें ही उसे घूसेड दे, तो बस एक ही मिनीटमें मेरा सब खेल खलास होजाय।' तब तो हम नापितसे हजामत कभी बनवा ही नहीं सकते। सदा पञ्चकेशधारी लटुरियावाला बावाजी हमें बना रहना पडेगा। परन्तु हम ऐसा संदेह एवं कुतर्क नहीं करते, नापितके प्रति विश्वास ही रखते हैं।

श्रद्धा एवं विश्वास, संदेह एवं कुतर्करूपी दुर्गुणको मार भगा देता है। शास्त्रोंके तात्पर्य-रहस्यको भी हम श्रद्धाके द्वारा ही समझ

सकते हैं। कुतर्क अर्थको अनर्थ कर डालता है। अमृतको वह विष बना देता है। कुतर्क, किसप्रकार अर्थको अनर्थ-रूपसे परिणत कर देता है—इस विषयको आप एक लौकिक-घटना द्वारा भी समझ सकते हैं—

एक माई बडी कुतर्ककुशला थी, वह रेलगाडीमें बैठकर कहीं जा रही थी। उसने गाडीमें एक पूरी सीट ही अपना सामान रखकर रोक रक्खी थी। थोडी देरमें उस डिब्बेमें एक ब्रह्मचारी साधु आया। उसने देखा कि—कहीं बैठनेकी जगह मिल जाय तो मैं भी बैठ जाऊँ। इधर उधर देखने पर जब उसे कहीं जगह नहीं मिली तो उसने उस माईसे कहा—माताजी! आप अपना कुछ सामान सीटके नीचे रख लो, तो हमें भी बैठनेकी जगह मिल जाय। ब्रह्मचारीका ऐसा कहना सुनकर वह रोष प्रकट करती हुई एवं अन्य-लोगोंको सम्बोधित करती हुई कहने लगी कि—देखो, देखो, यह साधु मुझे गाली दे रहा है। ब्रह्मचारीने कहा—मैंने कब गाली दी? ऐसा झूठ क्यों बोलती है? मैंने तो माताजी कहा है। उस औरतने कहा—यह माताजी शब्द ही तो गाली है, क्या मैं तेरे बापकी पत्नी हूँ कि—तू मुझे माता कहता है, यह गाली नहीं तो ओर क्या है? तू मुझे अपने बापकी औरत बनाता है। इसपर ब्रह्मचारीने कहा कि—अच्छा माताजी न सही, बहिनजी सही। ब्रह्मचारीजीके इतना कहने पर वह औरत आँखें निकालकर खडी हो गई, और कहने लगी कि—यह प्रथम तो मुझे ही गाली दे रहा था—अब इसने मेरी माँको भी गाली देना शुरू कर दी। मेरी माँ तेरे बापकी स्त्री नहीं थी, जो तू मुझे बहिन कहता है। यह मेरी माँको अपने

बापकी लुगाई बना रहा है, यह गाली नहीं तो और क्या है?। भोला-ब्रह्मचारी चक्करमें पड गया। उसने कहा-'अच्छा, तू माँ भी नहीं बहिन भी नहीं, बेटी सही।' तब तो उस औरतका पारा सातमें आसमान पर पहुँच गया। उसने कहा कि-देखो! यह अब मुझे बेटी कहकर मेरी माँको अपनी स्त्री बना रहा है। यह कितनी बडी गाली है। ब्रह्मचारीने कहा-अच्छा! बेटी न सही, देवीजी! सही। इसपर भी वह कहने लगी कि-यह भी गाली है-देवी तो कालीकलकत्तेवाली बकरे खानेवाली होती है। ऐसा सुनकर ब्रह्मचारी चुप हो गया-विचार करने लगा कि-अब इस औरतको क्या कहा जाय। किस सम्बोधनसे बुलाया जाय?। वहाँ पर एक बुद्धिमान् सज्जन बैठा हुआ था। उसने उस औरतको समझाते हुए कहा कि-इस साधु बाबाके माताजी आदि सम्बोधनोंके ये भाव नहीं हैं। जो भाव तूने गालीरूपसे प्रकट किये हैं। इनके भाव बडे गौरव प्रकट करनेवाले हैं, तू माता आदिके समान बहुत ही आदरणीय है, ऐसे शुभ भाव हैं, परन्तु तूने अपनी कुतर्कबुद्धिसे अर्थको अनर्थ, सुभावको कुभाव कर डाला है। यह कदापि उचित नहीं।

इसप्रकार कुतर्क-बुद्धिवाला मानव शास्त्रोंके अनेक वचनोंके तात्पर्य अर्थको न समझकर-कुछके कुछ ही-विपरीत-अर्थकर-अनर्थकर डालता है। नमूनाके तौर पर '**एकमेवाद्वितीयं**' (छां. ६।२।१) इस श्रुति वचनमें स्थित 'अद्वितीय, पदका अर्थ न द्वितीय-अ-द्वितीय, अर्थात् वह द्वितीय नहीं है, किन्तु तृतीय या चतुर्थ होगा; यह कुतर्क-बुद्धिप्रभव अर्थ है-जो वस्तुतः अर्थ नहीं अनर्थ है। सद्बुद्धिसे श्रद्धाके साथ विचार करने पर निश्चित होता है कि-यह अद्वितीय पद ब्रह्मका विशेषण

है। और ब्रह्म परमार्थतः अखण्ड—एकरस—पूर्ण है, जिसमें—द्वितीय-पद तद्भिन्न—द्वैतप्रपञ्चका निषेध करता है। तृतीय एवं चतुर्थ भी कीसिकी अपेक्षासे द्वितीय हो सकता है—इसलिये अद्वितीयका तृतीयादि अर्थ करनेपर भी उसमें द्वितीयत्व ही रहता है—अद्वितीयत्व नहीं रहता। इसलिए—अद्वितीयपदका तृतीयादि—अर्थ नहीं किन्तु अनर्थ है। इसप्रकार कुतर्क अर्थ के बदले अनर्थ कर डालता है।

इसलिये आचार्य श्रीशङ्करने साधनपञ्चकमें कहा है—

दुस्तर्कात् सुविरम्यतां, श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसंधीयताम्।

दुस्तर्कसे विराम लो, श्रुत्यादिशास्त्रोंके अनुकूल—तर्क का ही अनुसंधान करो।

शास्त्रोंका तात्पर्य, उपक्रम-उपसंहारादि-षड्विध-लिङ्गोंके अनुसंधान द्वारा अवगत होता है। उनका यथावत् अनुसंधान किये विना केवल वचनमात्र से किसी अर्थ की सिद्धि नहीं होती। किसी समय एक ईसाई पादरी भारतमें ईसाई—धर्मका प्रचार करनेके लिए आया था, वह जगह जगह पर अपने धर्मका प्रचार करता था। अपने धर्म की पुष्टिके लिए वह कहता फिरता था कि-यह ईसाई—धर्म बहुत ही पुराना है। आप अपनी रामायण देखें, राजा जनक भी ईसाई था। इसलिये उसने अपने नगरमें 'गिरजाघर' बनाया था। हिन्दी—भाषामें ईसाइयोंके चर्चको गिरजाघर कहते हैं। रामायणमें तुलसीदासने साफ अक्षरोंमें लिखा है कि—

"सर समीप गिरजा गृह सोहा, बरनि न जाइ देखि मन—मोहा;

साधारणमनुष्य, इसवचनको सुनकर मान सकता है कि—राजा जनक ईसाई होगा, तब ही तो उसने सरोवरके समीप गिरजाघर ऐसा बढ़िया

बनाया था—जिसको देखने पर मन मुग्ध हो जाता था। परन्तु बुद्धिमान् मनुष्य रामायणके इस वचनके पूर्वापरवचनोंका भी अनुसंधान करता है—अनुसंधान करने पर वह जान लेता है कि—इस गिरिजागृहमें कौन बैठा है—यूरोपका ईसा, कि— अन्य कोई। आगेके वचन उसमें अवस्थित देवताका इसप्रकार वर्णन करते हैं कि—

जय जय जय गिरिराज-किशोरी,
जय महेशमुख-चन्द्र-चकोरी।
जय गज-वदन षडानन-माता,
जगत-जननि दामिनि-सम-गाता।
नहि तव आदि-मध्य अवसाना,
अमित-प्रभाव वेद नहीं जाना।

इत्यादि वचनोंको सुनकर आपको समग्र-अर्थ समझमें आ जाता है कि—गिरिराज हिमाचलकी कन्या गिरिजा—भगवती पार्वतीदेवीका वह मंदिर था। ईसाइयोंका चर्च नहीं था। यदि ईसा, हमारे फक्कड—बाबा शंकरकी चन्द्रचकोरी हो जाता है, तब तो बात दूसरी है। तात्पर्य यह है कि—शास्त्रके एक टुकडेसे ही किसी वास्तविक—अर्थकी सिद्धि नहीं होती। वास्तविक—अर्थको समझनेके लिए पूर्वापर-वचनोंका श्रद्धा-पूर्वक अनुसंधान करना पडता है—तभी ही हम वास्तविक—अर्थ समझ सकते हैं।

शास्त्रप्रमाणोंके द्वारा गुरु हमें जिस—जिस अर्थका उपदेश देता है—उसमें हमें विश्वास करना ही चाहिये। विश्वास किये विना न हम उस अर्थको निःसंदेह समझ सकते हैं—न तो हम उसका अनुष्ठान ही

कर सकते हैं। पाठशालामें—मास्टर एक बालकको स्लेटमें क, ख, आदि अक्षर लिखकर समझाता है कि—यह अमुक-आकृतिवाला कवर्ण है, यह खवर्ण है, यह अमुक वर्ण है। बालक वैसा ही विश्वासके साथ मान लेता है—उसमें किसी प्रकारका कुतर्क नहीं उठाता। यदि वह कुतर्क उठाकर कहे कि—यह कवर्ण क्यों है? खवर्ण क्यों नहीं?। तो मास्टर उसका कुछ भी उत्तर नहीं दे सकता। वह केवल इतना ही कहेगा कि—मैं जैसा कहता हूँ, वैसा ही विश्वासके साथ मान ले? यह अमुक वर्ण ऐसा क्यों है? ऐसा क्यों–क्यों बोलना छोड दे। यदि ऐसा कुतर्क उठाता रहेगा तो तू कुछ भी नहीं पढ सकेगा, न कुछ समझही सकेगा। देख, ये आगे के विद्यार्थी वैसाही मानकर विश्वास रखकर योग्य बन गये हैं। इसलिए तू भी वैसा ही विश्वास रख, वैसा ही मान ले। अत एव श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है कि—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते, कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ (१६।२४)

अतः तेरे लिए हे अर्जुन! इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है, ऐसा जान कर तू शास्त्रविधिसे नियत किये हुए—कर्मको ही करनेके लिए योग्य है।

इससे यह बात सिद्ध होती है कि—शास्त्रविधि से नियत किये हुए—अर्थको विश्वासके साथ मान लेना चाहिये, इसमें 'ननु-नच' नहीं करना चाहिये। 'ननु न च' करके उसमें कुतर्क उठाना बुद्धिका दुरुपयोग है।

उस–उस देवताकी आराधना करनेवालाभी श्रद्धालु-जन है। वह

शास्त्रके एवं गुरुके उपदेशमें विश्वास रखता है। कभी उसमें न संदेह करता है, न कुतर्क ही उठाता है। तभी ही तो वह अपनी कामनाओं की पूर्तिके लिए श्रद्धाके साथ उस-उस देवताके विग्रहकी आराधना करता है। यद्यपि वह देवताके वास्तविक-स्वरूपको तथा समस्त-देवतामय-विश्वात्मा भगवान्‌के पूर्ण-स्वरूपको यथावत् नहीं जानता है। इसलिए वह अपने आराध्य-देवताको भगवान् से पृथक् मानता है। तथापि वह श्रद्धासंपन्न है, और अन्तर्यामी भगवान् उसको उस श्रद्धासे विचलित नहीं होने देते, किन्तु उसकी उस श्रद्धाको स्थिर बनाते हैं; यह उस विश्वात्मा भगवान्‌की महान्-उदारता है। भगवान् जानते हैं कि-वह देवताका विग्रह भी मेरा ही है। सभी देवता मेरे अङ्ग प्रत्यङ्ग ही तो हैं। अतएव-निरुक्तमें यास्क-महर्षिने कहा है-कि-'**एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गनि भवन्ति** ।' अर्थात् एकही आत्मा (परमात्मा) के दूसरे सभी देवता विभिन्न-अंग हैं। जैसे एक ही शरीरके हस्तपादादि विभिन्न-अंग। अत एव इन्ही परमात्माको याज्ञिकोंने और ब्राह्मणग्रन्थोंने प्रजापति कहा है। सभी देवता उस प्रजापतिकी विशिष्ट शक्ति एवं विभूति ही माने गये हैं। शास्त्रोंमें स्थान-भेदके अनुसार एवं प्राकृतिक-तत्तत्‌दृश्योंके आधार पर एक ही परमात्माके अनेक-देवता-विग्रहोंका निरूपण किया है। इस विषयको स्पष्ट समझानेके लिए यास्क महर्षिने निरुक्तमें उदाहरण दिया है-'**नराराष्ट्रमिव**' अर्थात् तत्तद्व्यक्तिरूपसे भिन्न होते हुए भी जैसे असंख्य मनुष्य-राष्ट्ररूपसे एक ही हैं। वैसे ही प्रकृतिस्थ दृश्योंके विविधरूपोंमें प्रकाशित होने पर भी इन देवताओंके विविध-विग्रहोंमें एक ही परमात्माका निवास है-'**एको**

देवः सर्वभूतेषु गूढः।' यह श्रौत-सिद्धान्त है। इसप्रकार भासमान-भेदमें वास्तविक-अभेद, और प्रतीयमान अनेकतामें पारमार्थिक-एकता है। अत एव वेदोंमें-परमात्माकी-एक होते हुए भी अनेक-रूपोंमें स्तुति की गयी है। ऋग्वेदका यह सिद्धान्त है कि-**'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति।'** (ऋ० १।१६४।४६) **'एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।'** एक ही अद्वय-ब्रह्मतत्त्वका तत्त्वदर्शी-मेधावी विप्र, अनेक नामोंसे एवं अनेक-विग्रहोंसे वर्णन करते हैं। एक ही सद्वस्तुकी अनेक प्रकारसे कल्पना की जाती है। एक ही परमात्माके इन्द्र, रुद्र, अग्नि, सूर्य, पूषा, वरुण आदि अनेक नाम हैं, इसलिये उस एककी ही वैदिक-मन्त्रोंमें विविध-नामोंसे स्तुति की गई है। अतः समस्त वेदभाष्यकार सायणाचार्य कहते हैं कि—

'तस्मात् सर्वैरपि परमेश्वर एव हूयते।'

वस्तुतः वेदोंमें सभी नामोंसे एक-परमात्माकी ही पुकार लगायी गयी है। इसप्रकार वेदमन्त्रोंके आध्यात्मिक-अर्थ करनेवाले विद्वान् भी सभी देवताओंके नामोंको एक ईश्वर ही के नाम कहते हैं। यही वेदोंका एकेश्वरवाद है। यद्यपि-आपाततः देखने पर वेदोंमें अनेक-देवतावाद प्रतीत होता है। अनेक देवताओंमेंसे तीन देवता मुख्य माने हैं-पृथिवी-स्थानीय-अग्नि, अन्तरिक्षस्थानीय-वायु या इन्द्र, और द्युस्थानीय-सूर्य। अन्य सभी देवताओंको गौण मान कर इन तीनोंके साथ सम्बन्ध प्रदर्शित कर दिया है, और इन तीनोंका भी एक महादेवता-परमात्मामें ही मिलाप कर दिया है। इसलिये वेदोंके अनेक-मन्त्रोंमें अग्नि, रुद्र, इन्द्र आदि देवोंकी इसप्रकार स्तुति की गयी है, जिस प्रकार परमात्माकी की जाती

है। अतः देवोंके एकत्ववादमें किसी भी प्रकारकी त्रूटी विचारकोंको मालूम नहीं पडती। इसोलिये ही तो वेदोंके रहस्यको गहन एवं गंभीर कहा गया है।

इसप्रकार पुराणोंमें भी एक ही परमेश्वरका, शिव, विष्णु, गणेश, शक्ति एवं सूर्यरूपसे वर्णन किया है। अत एव पुराणोंके रहस्य–ज्ञाता विद्वान् कहते हैं कि—

रामेन्द्रकृष्णहरिशम्भुशिवादिशब्दाः
ब्रह्मैकमेव सकलाः प्रतिपादयन्ति ।
कुम्भो घटः कलश इत्यभिशस्यमानो
नाणीयसीमपि भिदां भजते पदार्थः ॥
ब्रह्मेति शङ्कर इतीन्द्र इति स्वराडि–
त्यात्मेति सर्वमिति सर्वचराचरात्मन् ! ।
विश्वेश ! सर्ववचसामवसानसीमां
त्वां सर्वकारणमुशन्त्यनपायवाचः ॥

राम, कृष्ण, हरि, शम्भु, शिव आदि समस्त शब्द, एक ही ब्रह्मका प्रतिपादन करते हैं। कुम्भ, घट, कलश, आदि भिन्न–भिन्न नामोंसे कहा गया एक ही पदार्थ, भिन्न–अनेक नहीं होता। हे सर्वचराचरात्मन्! हे विश्वेश्वर! ब्रह्म, शङ्कर, इन्द्र, स्वराट्, आत्मा, सर्वम् इत्यादि नामोंसे ध्वंसरहित–शाश्वतवेदवाणी, समस्त वचनोंके पर्यवसानकी सीमा-रूप--सर्वकारणरूप–आप परमेश्वरका ही प्रतिपादन करना चाहती है।

एक ही जगन्नियन्ता–परमेश्वरका–पृथिव्यादि–पांच भूतोंकी उपाधियोंके अनुसार–पुराणोंमें पांच रूपोंसे वर्णन किया है। पृथिवीका

अधिष्ठाता भगवान् शंकर है, जिस प्रकार पृथिवी मोसंबीके समान गोल-मटोल है, उस प्रकार भगवान् शङ्करका अर्चनीय—नर्मदेश्वर-बाणलिङ्ग-भी प्रायः गोलमटोल ही हुआ करता है। अत एव पृथिवीतत्त्वके अधिष्ठातृत्वका ज्ञापन करनेके लिए श्रावणमासमें भक्तलोग मृत्तिका—निर्मित पार्थिवेश्वरका पूजन करते हैं। पुराणोंमें लिखा है कि—श्री शङ्करकी जटाओंसे श्रीगंगाजीका निष्क्रमण हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि—यह अतिविस्तृत—अत्युन्नत—समग्र हिमालय ही भगवान् शंकरकी जटाएँ हैं। क्योंकि—भगवान् शङ्कर कोई हमारे जैसा छोटा-सा तो है नहीं, वह तो महान् देव है, समस्त-भूगोल ही जिसका महनीय विग्रह है। तब सर्वोन्नत हिमालयको उसका उत्तमाङ्ग—शिरोभाग माननेमें क्या आपत्ति हो सकती है ?। इसलिये वेदोंने भगवान् शंकरके लिए—**'तमीशानं जगतस्तस्थुषः पतिं'** (शु० य० २५। १८। ऋ० १। ८९। ६) कहा है—अर्थात् वह महादेव स्थावर—जंगमरूप समग्र भूमण्डलका नियन्ता एवं पालक है।

जल-तत्त्वका अधिष्ठाता भगवान् गणेश है। जिस प्रकार जलमें स्नान करने पर मलिनताकी निवृत्ति एवं स्वच्छताकी प्राप्ति होती है, उसप्रकार श्रीगणाधिपतिका पूजन करने पर विघ्नोंकी निवृत्ति एवं सफलताकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिये हमारे सभी शास्त्रोंने समस्त-कार्योंके आरम्भमें श्रीगणेशके पूजनका एवं स्मरणका आदेश दिया है। वेद भी कहता है—**'गणानां त्वा गणपतिँ हवामहे'** (ऋ० २। २३। १) **'न ऋते त्वत्क्रियते किञ्चनारे'** (ऋ० ८। ११२। ९) अर्थात् कार्यसिद्धिके लिए गणाधिपति-भगवान्‌को हम बुलाते हैं। गणेशके

पूजनादिके विना आस्तिक-मानव, दूरका एवं समीपका कोई भी कार्य नहीं करता । अत एव वैदिक—सनातन—धर्मके अनुयायिओंकी परंपरा इस समय भी वैसी ही देखनेमें आती है । चाहे वह कट्टर—वैष्णव भी क्यों न हो ? सत्यनारायणका विधिवत् पूजन करनेसे प्रथम वह गणेशका पूजन अवश्य करेगा । गणाधिपतिको अवश्य ही मनायेगा, कहेगा कि— **'श्रीगणेशं आवाहयामि, पूजयामि, भो गणेश ! इहागच्छ, इह तिष्ठ, इहोपविश, प्रसन्नो भव, वरदो भव ।'** इत्यादि ।

अग्नि-तत्त्वकी अधिष्ठात्री है—भगवती जगदम्बिका—दुर्गाभवानी । इसलिए वेद-भगवान् कहता है—**'तामग्निवर्णां तपसा ज्वलन्तीं' 'दुर्गां देवीँ शरणमहं प्रपद्ये'** (तै० आ० १ । १६) अर्थात् वह दुर्गा देवी, अग्निके समान महातेजस्विनी है—एवं अपने प्रचण्ड-प्रकाशसे समग्र-विश्वको प्रज्वलित बना देती है । उसकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ । अग्निके समान वह महाशक्तिशालिनी है । असुरोंको परास्त करनेमें जहाँ ब्रह्मा विष्णु आदि बडे—बडे देव भी निष्फल हो जाते हैं, वहाँ वह महाशक्ति दुर्गा देवी सफल हो जाती है । भगवती की यह कथा सप्तशतीमें अति प्रसिद्ध है । सप्तशती-ग्रन्थ, देवी-भगवतीकी प्रशस्त-विजयकी अमरगाथा है । इसमें देवी, उन असुरोंको चुनौती देती हुई कहती है—कि—तुम आओ, और मेरा मुकाबला करो । तुम यदि मुझे परास्त कर सकोगे तो मैं तुम्हारे आधीन हो जाउंगी । नहीं तो मैं तुम दुष्टोंका शीघ्र ही निकन्दन कर डालूंगी । वहाँ देवीजीके ये शब्द हैं—-

यो मां जयति संग्रामे, यो मे दर्पं व्यपोहति ।
यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्ता भविष्यति ॥

अर्थात् जो कोई संग्राममें मेरा जय करेगा, मेरे अतुलित-बल के दर्पका निरास करेगा, और मेरे प्रचण्ड-बलका मुकाबला करेगा, वह मेरा भर्ता होजासकता है।

शक्तिको कौन नहीं चाहता? कौन नहीं मानता? अर्थात् सभी लोग शक्तिके पुजारी हैं। शक्तिके विना किसीका कुछ भी कार्य नहीं होसकता। शक्ति होनेपर ही आंख देखती है, जिह्वा बोलती है, कान सुनते हैं, पैर चलते हैं, पेट खाना हजम करता है। शक्ति न हो तो सब चुप-शून्यवत् होजाते हैं। इसलिए शक्ति ही सब कुछ है। एक ही शक्तिके अनेक भेद हैं; परन्तु प्रधानरूपसे इसके तीन भेद माने हैं; विद्याशक्ति, धनशक्ति एवं बलशक्ति। इन तीनों शक्तियोंके नाम हैं-महा-सरस्वती, महालक्ष्मी एवं महाकाली।

वायुतत्त्वका अधिष्ठाता है—भगवान्—सविता देव। इसलिये वेदोंने सूर्यकी भी आराधनाका उपदेश दिया है; सूर्यकी महिमा के गीत गाते हुए वेदोंने कहा है कि—'**सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**' (ऋ० १।११५।१) सूर्य स्थावर-जंगम समग्र विश्वका आत्मा है, सर्वस्व है। सूर्य-नारायण, प्रत्यक्ष देव है, भक्तलोग सूर्यमण्डलमें नारायणका ध्यान करते हैं। संध्यामें कियाजानेवाला सूर्योपस्थान प्रसिद्ध है।

और आकाशतत्त्वका अधिष्ठाता है-भगवान् विष्णु। इसलिये विष्णुके श्री-विग्रहका वर्ण भी आकाशके समान श्यामसुन्दर है। वेद कहता है—'**तद्वि-ष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।**' (ऋ० १।२२।२०) वही विष्णु-भगवान्का सर्वोत्कृष्ट पद यानी स्वरूप है—जिसे आकाशके समान सर्वगत व्यापकरूपसे विद्वान् सदा देखते हैं। कृष्णयजुर्वेद, उस एक

ही अद्वय-ब्रह्मके स्वरूपका इसप्रकार वर्णन करता है—कि—

ॐ तत्सत्यं, ॐ तद्ब्रह्म, ॐ तद्वायुः, ॐ तदात्मा, ॐ तत्सर्वं, ॐ तत्पुरो नमः। अन्तश्चरति भूतेषु, गुहायां विश्वमूर्तिषु। त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमिन्द्रस्त्वं रुद्रस्त्वं विष्णुस्त्वं ब्रह्म त्वं प्रजापतिः। त्वं तदाप आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः सुवरोम्।' (तै. आ. १०।६८)

अर्थात् वह वेद एवं वेदान्त प्रतिपाद्य परमार्थ-वस्तु ही एकमात्र सत्य है, वही अतिबृहत्-ब्रह्म है, वही सूत्रात्मारूप वायु है, वही सर्वका आत्मा है, वही सर्व जगत् है, वही सबके सामने सर्वत्र अवस्थित है। वही एकाक्षर ॐकार है—उसके द्वारा उस अद्वय-तत्त्वका ही वर्णन किया जाता है। विश्वकी अनेकविध—देवदानवमानवादि असंख्य—मूर्तियोंकी हृदयगुहामें तथा समस्त—पृथिव्यादि-भूतोंके अंदर वही परमात्मा बिराजमान है। हे परमात्मन्! भगवन्! तू ही यज्ञ है, तू ही वषट्कार-मन्त्र है, तू ही इन्द्र है, तू ही संहारक-रुद्र है, तू ही पालक—विष्णु है, तूही सर्जनहार—ब्रह्मा है, तू ही प्रजापति है। तू ही नदीसमुद्रादिमें वर्तमान जल है, तू ही सूर्यादिकी ज्योति है, तू ही मधुरादि रस है, तू ही अमृत है, तू ही अनन्तज्ञाननिधि शब्दब्रह्मरूप अतिधन्य वेद है। एवं तू ही भुर्भुवःस्वःरूप त्रिलोकात्मक समग्र ब्रह्माण्ड है।

अतएव विष्णु भगवान्—अपनेसे अभिन्न इन शिवादि-पांचरूपोंका वर्णन इस प्रकार करते हैं कि—

'बुद्धिर्गणेशो मम चक्षुरर्कः शिवो ममात्मा मम शक्तिराद्या।
विभेदबुद्ध्या मयि ये भजन्ति, मामङ्गहीनं कलयन्ति मूढाः॥'

यह गणपति मेरी बुद्धि है, यह सूर्य मेरा चक्षु है, यह भगवान् शिव मेरा आत्मा है, यह आद्या भवानी देवी मेरी शक्ति है। इसप्रकार ये पांचोंदेव मेरे ही अभिन्न अंग हैं। परन्तु जो लोग इन पांचोंमें भेद बुद्धि रखकर मेरा भजन करते हैं, वे मूढ हैं, मुझे वे मानो अङ्गहीन बना रहे हैं। किसीको अङ्गहीन बनाना बडाभारी अपराध माना जाता है।

भगवान् पूर्ण हैं, सर्वगत हैं, भगवान्के पूर्ण-स्वरूपको न जानना, पूर्णस्वरूपका भजन न करना ही बडो भारी मूढता है। जिसप्रकार एक हाथको ही समग्र शरीर मान लेना नितान्तमूर्खता है। हस्तादि-अनेक अंगोंसे युक्त शरीरको मानना बुद्धिमत्ता है। हमारे समग्र वेदादि-शास्त्र, उस भगवान्के महान् पूर्ण-स्वरूपका ही वर्णन करते हैं। इस-लिये शास्त्रके अनुसार भगवान् के पूर्णस्वरूपको ही मानना एवं भजना ही पूर्ण-आस्तिकता है। अतएव श्रौतस्मार्त अद्वैत—सम्प्रदाय-पांचोंरूपोंसे भगवान्की पूजाका आदेश देता है। उस संप्रदायके विख्यात आचार्य बादरायणमुनि वेद-व्यासने अष्टादशपुराणोंमें एवं जगद्गुरु आचार्य शङ्करने विविध शिव-विष्णु-आदिके स्तोत्रोंमें यही सिद्धान्त अभिव्यक्त किया है। अद्वैत-सिद्धान्तके झण्डेके नीचे किसीभी प्रकारसे देवभेद नहीं माना जाता। जो लोग शास्त्रचक्षुसे हीन हैं, वे ही उस पूर्ण—अपरिच्छिन्न—परमात्माको परिच्छिन्न—पृथक्-पृथक् मान लेते हैं।

एक ग्राम में एकरोज एक हाथी आया। हाथीका नाम सुनकर उसग्रामके पांच अन्धे हाथी देखनेके लिये गये। अन्धे होनेके कारण वे हाथी देख तो सकते नहीं थे, किन्तु हाथसे टटोलकर समझ सकते थे।

हाथीके समीप पहुँचकर किसी अंधेने उसके टांग पर हाथ फेरा, किसीने सूंडपर, किसीने पेटपर, किसीने पूंछपर तो किसीने कानपर। अर्थात् उस हाथीके एक–एक अंगपर हाथ फेरकर वे पांचों ही अंधे वापस अपने घर चले आये। घर आकर वे अंधे आपसमें हाथीकी चर्चा करने लगे। जिसने हाथीका पैर पकडा था, वह अंधा कहने लगा-हाथी खंभे जैसा होता है। उसकी बात सुनकर दूसरा अंधा–जिसने हाथी की सूंड पकडी थी–उस अंधेसे कहने लगा–तू झुठ बोलता है–हाथी खंभा जैसा कभी नहीं होता, हाथी तो धानकूटनेका मोटा–मूसल जैसा है। तीसरा अंधा–जिसने कान पकडा था-कहने लगा कि–भाई! तू भी झुठ क्यों बोलता है, हाथी तो सूप जैसा होता है। यह सुनकर चौथा अंधा–जिसने पेट पर हाथ फेरा था–मुँह बिगाडकर बोला–कि हाथी, न खंभा जैसा है, न मूसल जैसा, न सूप जैसा है, किन्तु दीवाल जैसा लम्बा चौडा है। तब पांचवा अंधा–जिसने पूंछ पकडी थी बोला–कि अरे! व्यर्थ की क्यों झुठी बातें बनाते हों, वह तो रस्से जैसा पतला है। इसप्रकार वे पांचों अंधे, एक दूसरेको झुठा बनाने लगे, और आपसमें तू–तू मैं-मैं करते हुए लडने लगे। इतनेमें वहाँ एक चक्षुष्मान्–मनुष्य आया। उसने कहा–तुम लोग आपसमें इतनी हुज्जतबाजी क्यों कर रहे हो? क्या बात है?। अन्धोंने अपना सारा किस्सा उसे सुनाया। उसने कहा–भाइयो! तुम लोगोंका कहना पूर्ण सत्य नहीं है, किन्तु आंशिक सत्य है। तुमने अपनी अन्धताके कारण हाथीके एक–एक अंगको ही हाथी मान लिया है। इसलिये ही यह तुम्हारा आपसमें विवाद एवं विरोध खडा हो गया है। उस

उस समग्र अंगोंका समुदाय ही वास्तविक हाथी है। चक्षुष्मान् के इस-प्रकार समझाने पर भी अन्धोंके मनका पूरा-समाधान नहीं हुआ। चक्षुष्मान्ने विचार किया कि—जबतक इन अन्धोंको हाथीका अपरोक्ष दर्शन न होगा, तबतक इनके मनका समाधान नहीं हो सकता। सौभाग्यसे उस चक्षुष्मान् के समीप दिव्याञ्जन था। उसने दयावश उन पांचों अंधोंकी आंखोंमें दिव्याञ्जन लगा दिया। अब सब अंधे देखने लगे। सामने ही हाथी खडा था। चक्षुष्मान्ने कहा-देखो! यह हाथी कितना बडा है। हाथीको अपरोक्ष देखकर अन्धोंके तमाम विवादोंका एवं विरोधोंका शमन हो गया।

सिद्धान्तमें हाथी है—पूर्ण महान् परमात्मा। उसका विष्णु–शिवादि—पांच देवतामय ही पूर्ण स्वरूप है। परन्तु मूढ—अज्ञानी दुराग्रही लोग-अंधोंके समान, उसके एक—एक अंगरूप—विष्णु आद को ही पूर्ण परमेश्वर मान लेते हैं, एवं अन्यअंगरूप—शिव आदिको नहीं मानते हैं। जब वे किसी तत्त्वदर्शी—विद्वान्‌की कृपा द्वारा परमेश्वरके पूर्ण-स्वरूपको समझ लेते हैं। तब भेद—बुद्धिरूपी मूढताको, एवं व्यर्थ—दुराग्रहको छोडकर वे विशाल-हृदय बन जाते हैं। और पांचरूपोंमें अवस्थित—पूर्ण-परमेश्वरकी आराधना कर अपने जीवनको सफल एवं धन्य बना लेते हैं।

अपनी—अपनी रुचि एवं योग्यताके अनुसार चाहे वह इन पांचों—देवोंमेंसे किसीभी देवकी प्रधानरूपसे आराधना करे, परन्तु अपने आराध्य—देवको परिशिष्ट इन चारों देवोंसे अभिन्न एवं पूर्ण भगवान् ही माने। यही वैदिक—स्मार्त संप्रदायकी पंच पञ्चायतन देवोपासना है।

इसलिए अद्वैत-संप्रदायके महान्-उदार आचार्य, अपने प्रधान-इष्टदेव-रूपसे कोई किसीको मानता है, एवं कोई किसीको। जैसे-अद्वैतसिद्धिकार-आचार्य-मधुसूदन, भगवान् श्रीविष्णुरूप कृष्णको, रत्नप्रभाकार-स्वामी गोविन्दानन्दजी श्रीरामको, चित्सुखीकार चित्सुखाचार्य श्रीनृसिंहको एवं खण्डनखण्डखाद्यकार-आचार्य-श्रीहर्ष, भगवान् श्रीशङ्करको इष्टदेव-आराध्य मानकर अपने अपने ग्रन्थके प्रारम्भमें मंगलाचरण करते हैं। तथापि वे कदापि देव-भेद नहीं मानते। अत एव श्रीमद्भागवतमें एकान्त-भक्तिका यही स्वरूप बतलाया है कि-'**एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत्सर्वत्र तदीक्षणं।**' (७।८।५५) अर्थात् गोविन्द-भगवान्में यही एकान्त-भक्ति है कि-सर्वत्र-उसी इष्टदेवका ही दर्शन किया जाय। एकान्तका अर्थ भी यही है कि-सर्वत्र इष्ट-भावनाका परिपाक होने पर अन्तमें वही एक रह जाय। उसमें अनेकताका बाध होजाय। इसी एकान्त-भक्तिका ही दूसरा नाम है-अनन्य-भक्ति। जिसमें-यह अन्य है, ऐसा भाव ही न रहे। इस प्रकार पंचदेवोपासनाका अद्वैत-भावके निर्माणमें ही पर्यवसान होजाता है।

इसलिये हमारे धर्मप्राण-भारतवर्षके सभी खण्डोंमें सामान्य एवं विशेषरूपसे इन पांचों देवोंकी उपासना अनादि-परम्परासे होती चली आ रही है। भगवान् शंकरकी उपासना सर्वत्र-प्रचलित है-द्वादश-ज्योतिर्लिङ्ग-हिमालयसे लेकर कन्याकुमारी तक फैले हुए हैं। आस्तिक-जन इन ज्योतिर्लिङ्गोंका दर्शन एवं पूजन कर अपनेको धन्य समझते हैं। आर्यावर्त-भारतका एक भी ऐसा ग्राम न मिलेगा-कि-जिसमें छोटा या बडा शिवालय न हो। अत एव आस्तिक-समाजमें यह प्रवाद चला

आरहा है कि–'**धिक् भस्मरहितं भालं, धिक् ग्राममशिवालयं।**' अर्थात्–पवित्र–भस्म (विभूति) लेपन विनाका भाल, एवं शिवालय–विनाका ग्राम, धिक्कारके योग्य है। इस प्रकार भगवान् लक्ष्मीनारायणके एवं उनके अवतार-रामकृष्णादिकोंके मंदिर भी सर्वत्र देखनेमें आते हैं। भक्तलोग प्रेमसे भगवान्–विष्णुकी आराधना करते हुए आनन्दमग्न बन जाते हैं। देवी भगवतीकी भी उपासना सर्वत्र है। विष्णुके साथ लक्ष्मी है, तो शंकरके साथ पार्वती। तथापि स्वतन्त्ररूपसे भारतमें सैंकडों शक्ति-पीठ देखनेमें आते हैं। बंगालमें तो प्रधानरूपसे महाकाली शक्तिकी ही आराधना होती है। प्रसिद्ध–सन्तशिरोमणि रामकृष्ण परम-हंसदेव शक्तिके ही परमभक्त थे। भारतके सबसे बडे–दो नगर बम्बई एवं कलकत्ता देवीके ही नामसे विख्यात हैं। मुम्बादेवीके नामपर मुम्बाई (बम्बई) एवं कालीदेवीके नामपर कालिकत्ता पडा है। इस प्रकार गणेश एवं सूर्य भगवान्की भी सर्वत्र मान्यता है। तथापि गणपति–बापाकी विशेष-आराधना महाराष्ट्र देशमें देखनेमें आती है। एवं आर्यजातिका सूर्यनमस्कार एवं सूर्यार्घ्यप्रदान तो प्रसिद्ध ही है।

पश्चात् इन पांचों देवोंका शिव एवं विष्णु में अन्तर्भाव कर दिया जाता है। शिव में गणेश एवं देवीका समावेश माना गया है, तो विष्णु में सूर्य का। अतएव राजर्षि–भर्तृहरिजीने प्रवृत्ति एवं निवृत्तिका उदाहरण देते हुए कहा है कि–

> **एको वासः पत्तने वा वने वा,**
> **एका नारी सुन्दरी वा दरी वा।**

एको मित्रो भूपति र्वा यति र्वा,
एको देवः केशवो वा शिवो वा॥

एक ही स्थानमें निवास करना चाहिये—चाहे वह बडा मनोरम—सुन्दर नगर हो, या रमणीय वन हो। एकही नारी बनानी चाहिये—चाहे वह सुन्दरी—युवती हो, या दरी यानी हिमालय की शान्त गुफा हो। एक ही मित्र बनाना चाहिये, चाहे वह भूपति—राजा हो, या यति—विद्वान् संन्यासी हो। एवं एक ही देवकी आराधना करनी चाहिये, चाहे वह शिव हो, या केशव हो। इसमें नगर, सुन्दरी एवं भूपति प्रवृत्ति—निष्ठ हैं, तो वन, गुफा एवं संन्यासी निवृत्तिनिष्ठ हैं। तद्वत्—भगवान् विष्णु, यज्ञ—दान-होमादि प्रवृत्तिधर्मके अधिष्ठाता हैं तो भगवान् शंकर, ज्ञान—भक्ति—वैराग्यादि निवृत्ति धर्मके अधिष्ठाता हैं। इसलिये भगवान्—विष्णु अलंकारप्रिय हैं, एवं बडे ठाठ—बाठसे रहते हैं, तथा भगवान्—शिव, जटा—भस्म धारण कर एकान्त-स्थल श्मसानमें निवास करते हैं।

अन्ततोगत्वा इन दो—देवोंका भी पुराणोंमें अभेद ही माना गया है, दोनोंको एक ही बना दिये हैं। जैसे—

'स एव हि महादेवः, स एव हि महाहरिः।
शिवाय विष्णुरूपाय, शिवरूपाय विष्णवे॥

वेदानुवर्तिनो रुद्रं देवं नारायणं तथा।
एकीभावेन पश्यन्ति मुक्तिभाजो भवन्ति ते॥
यो विष्णुः स स्वयं रुद्रो, यो रुद्रः स जनार्दनः।
इति मत्वा भजेद्देवं स याति परमां गतिम्॥

अर्थात् वही महादेव—शिव है, एवं वही महाहरि विष्णु है।

शिव विष्णुरूप है तो विष्णु शिवरूप है। वैदिक-सनातन-धर्मानुयायी रुद्रदेवको तथा नारायणदेवको एकरूपसे देखते हैं। इसलिये वे अभेद-भावमयी उपासना द्वारा मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। जो विष्णु है, वही स्वयं रुद्र है, जो रुद्र—शिव है, वही जनार्दन विष्णु है, ऐसा मानकर जो देवका भजन करता है, वह परमगतिको प्राप्त होता है।

पुराणमूर्धन्य-श्रीमद्भागवतमें स्वयं विष्णु भगवान् कहते हैं कि—

'अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परं।
आत्मेश्वर उपद्रष्टा सर्वदृगविशेषणः॥
आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज!।
सृजन् रक्षन् हरन् विश्वं दध्रे संज्ञां गुणोचिताम्॥
तस्मिन् ब्रह्मण्यद्वितीये केवले परमात्मनि।
ब्रह्मरुद्रौ च भूतानि भेदेनाज्ञोऽनुपश्यति॥
त्रयाणामेकभावानां यो न पश्यति वै भिदां।
सर्वभूतात्मनां ब्रह्मन्! स शान्तिमधिगच्छति॥'
(भा० ४।७।५०-५१-५२-५४)

मैं (विष्णु) ब्रह्मा एवं शिव, ये हम तीनों ही अभिन्न होकर जगत्के श्रेष्ठ कारण हैं, आत्मा हैं, ईश्वर हैं, उपद्रष्टा हैं, सर्वद्रष्टा हैं, एवं निर्वि-शेष हैं। हे द्विज! वही मैं अपनी गुणमयी मायाका आश्रय लेकर, विश्वका सर्जन, रक्षण, एवं संहार करता हुआ, तत्तद्गुणोंके योग्य-नामोंको धारण करता हूँ। उस अद्वितीय—केवल—ब्रह्म परमात्मामें—यह ब्रह्मा है, यह रुद्र है, ये पृथिव्यादि भूत हैं—ऐसा भेदभाव रखकर ब्रह्मादि देवोंको जो पृथक् पृथक् देखता है, वह अज्ञानी है, मूढ है। वस्तुतः

ब्रह्मा विष्णु एवं महेश्वर इन तीनोंका एक ही भाव (सत्ता) है, अभिन्न ही स्वरूप है, जो समस्तभूतोंके आत्मा हैं, उनमें जो भेद नहीं देखता है; वह शान्तिको प्राप्त होजाता है। अर्थात् भेद देखनेवाला कभी भी शान्ति-लाभ नहीं कर सकता। भगवदुपासनाका श्रेष्ठफल-शान्तिलाभ ही तो है। उसे अभेददर्शी ही प्राप्त करता है।

इसलिए-अद्वैत-संप्रदायके महान् आचार्य-विख्यात-विद्वान्-परमशिवभक्त-अप्पयदीक्षितने कहा है—

'वस्तां पिशङ्गं वसनं दिशो वा, गरुत्मता यातु ककुद्मता वा।
निद्रातु वा नृत्यतु वाऽधिरङ्गं, भेदो न मे स्यात् परमस्य धाम्नः॥

वह परम ज्योतिरूपअद्वय-ब्रह्म, अपनी माया-शक्तिके द्वारा विष्णु बनकर पीताम्बरका परिधान करे, या शंकर बनकर दिगम्बर धारण करे। वह गरुडारूढ होकर गमन करे, या वृषभारूढ होकर। वह श्रीरंग-तीर्थमें या क्षीरसागरमें शेष-शय्यामें अधिरूढ होकर योग-निद्रामें मग्न बने, या चिदम्बर-क्षेत्रमें पाणिनि-आदि मुनियोंके समक्ष-डमरुवादन करता हुआ-रङ्गभूमिमें ताण्डव नृत्य करे। परन्तु उस उस-विविध-रूपोंसे प्रकट होनेवाले परमात्मामें मैं भेदभाव नहीं रखता।

अतएव काशीसे प्रकाशित होनेवाले 'विश्वनाथ' नामके अपने-मासिक-पत्रमें हमने 'हरि हरका अभेद' शीर्षक एक विस्तृत लेख लिखा था। उसमें हमने-प्रारम्भमें प्रतिज्ञारूपसे इसप्रकार लिखा था कि—

मया पुराणोपपुराणयुक्ताः, साङ्गाश्च वेदाः स्मृतयः समस्ताः।
सर्वाणि शास्त्राणि विलोकितानि, न क्वापि दृष्टः शिवविष्णुभेदः॥

अहं पुनः पण्डितमण्डलस्थान् पृच्छामि सर्वानपि ते ब्रुवन्तु ।
श्रुतौ स्मृतौ शास्त्रपुराणमध्ये, तैः क्वापि दृष्टः शिवविष्णुभेदः ॥

मैंने पुराण, एवं उपपुराणसे युक्त-साङ्गवेदोंका, समस्त-स्मृतियोंका एवं समग्र-शास्त्रोंका यथावत् अवलोकन किया, परन्तु उनमें कहीं भी शिव एवं विष्णुका भेद नहीं देखा। कोई प्रश्न कर सकता है कि—इन शास्त्रोंमें आपने भेद नहीं देखा होगा। परन्तु किसी पण्डितने देखा होगा-इसके उत्तररूपसे कहा गया था कि—मैं इन पण्डितोंके मण्डलमें अवस्थित—सभी विद्वानोंसे पूछता हूँ—कि—उन्होंने, श्रुतिमें स्मृतिमें शास्त्र एवं पुराणोंके मध्यमें कहीं भी शिव-विष्णुका भेद देखा हो, तो वे बतलानेकी कृपा करें। अर्थात् किसी भी शास्त्रमें शिवविष्णुके वास्तविक—भेदका वर्णन ही नहीं है; तो वे कहाँसे कैसे बतला सकते हैं? नहीं बतला सकते।

शिव एवं विष्णुके विविध—नामोंका पर्यालोचन करने पर भी आपको निःसंदेह अभेदभावका ही निश्चय हो जाता है। कल्पना या भावना करो कि—बम्बई-नगरसे एक स्पेशल ट्रेन यात्राके लिए चल पडी है—और उसमें अपने सब श्रोतागण वक्ताके सहित बैठकर तीर्थयात्राका आनन्द ले रहें हैं। अपनी वह ट्रेन घूमती हुई वाराणसी (बनारस) पहुँची है—ट्रेनसे उतरकर काशीके भगवान् शङ्करका दर्शन—पूजन करनेके लिए अपने सब मंदिरमें पहुँच गये हैं। दर्शनपूजनके बाद हम सबने बडे प्रेमसे **'विश्वनाथ भगवान्की जय हो'** ऐसा जयनाद किया। काशीसे अपने सब समुद्रतटमें अवस्थित पुरीक्षेत्रमें गये। वहाँ हमने दिव्य—काष्ठ निर्मित भगवन्मूर्तियोंका दर्शन, पूजन किया, और अन्तमें हमने **'जगन्नाथ**

भगवान्की जय हो' ऐसा जयघोष किया। अब आप विचार कर सकते हैं—कि काशीके विश्वनाथमें एवं पुरीके जगन्नाथमें क्या फरक है?। आपसे पूछा जाय कि—विश्वमें और जगत्में क्या फरक है? तो आप तुरन्त ही बोल उठेंगे कि—विश्व कहो या जगत् कहो, एक ही बात है, कुछ फरक नहीं। तब विश्वनाथमें एवं जगन्नाथमें क्या फरक होसकता है?। जब विश्व एवं जगत् एक है तो उसका नाथ (स्वामी) क्या दो—चार होजायगा? इसलिये काल्पनिक—मूर्ति भेद होने पर भी विश्वनाथ—शिव, एवं जगन्नाथ—विष्णु, वस्तुतः एक ही हैं, ऐसा आप निश्चय कर लेते हैं। जो समस्त—शास्त्रोंसे प्रमाणित हो चुका है।

पश्चात् अपनी यात्रा ट्रेन घूमती हुई वृन्दावन पहुँचती है। वहाँ हमने वंशीवटमें श्रीकृष्णकी रासलीलाका दर्शन किया। रासलीलामें हमने सखियोंके साथ श्रीकृष्णको नाचते हुए देखा, और तुरन्त ही बोल उठे कि—यही तो श्रीकृष्ण नटवर है। गुजरातमें नटवरलाल नाम बहुत प्रसिद्ध है। इसके बाद अपनी ट्रेन दक्षिणभारत पहुँचती है। वहाँ भगवान् शंकरका चिदम्बर-क्षेत्र अतिप्रसिद्ध भव्य एवं मनोहर है। किसीधनी-भक्तने भगवान्के मंदिरके शिखर पर प्रतिदिनके श्वासोंकी गणनाके अनुसार, २१६००) शुद्ध—सुवर्णकी एक एक तोलावाली मुहरें जडा दी हैं। जिससे मंदिर बडा ही आकर्षक मालुम पडता है। उस मंदिरमें जाकर हमने भगवान् सदाशिवका नटराजरूपसे दर्शन किया। जिस समय एक तरफ पाणिनिमुनि—व्याकरण शास्त्रकी प्राप्तिके लिए तथा दूसरी तरफ सनकादिमहर्षि ब्रह्म—विद्याकी प्राप्तिके लिए तपश्चर्या कर रहे थे—उनकी तपश्चर्यासे प्रसन्न होकर भगवान् शंकर प्रकट होगये थे। उस समय

भगवान् शंकरका श्रीविग्रह नटराजरूपका था। भगवान् हाथमें डमरु बजाते हुए ताण्डव नृत्य कर रहे थे। अतएव व्याकरणका प्राथमिक विद्यार्थी भगवान् शंकरको इसप्रकार याद करता है कि—

नृत्यावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धान्, एतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्॥

ताण्डवनृत्यका अवसान (समाप्ति) होनेपर भगवान्—नटराज शंकरने चौदहवार डमरुका नाद किया। इससे सनकादि महर्षियोंको ब्रह्मविद्याकी और पाणिनि—मुनिको व्याकरणके चौदहसूत्रोंकी प्राप्ति होगयी।

अब आप देख सकते हैं कि—उधर श्रीविष्णु नटवर है, तो इधर श्रीशङ्कर नटराज है। नटवरका अर्थ है—नृत्य करनेवालोंमें श्रेष्ठ, और नटराजकाभी यही अर्थ है। इसप्रकार आपको अत्युत्तम—नृत्यरूप-गुणकी समानतासे भी, इनदोनोंमें अभेदभावका भान होजाता है।

पाण्डवगीतामें श्रीविष्णु—नारायणको चोर कहा है, जैसे-—

नारायणो नाम नरो नराणां प्रसिद्धचोरः कथितः पृथिव्यां।
अनेकजन्मार्जितपापसंचयं, हरत्यशेषं स्मरतां सदैव॥

अर्थात् नारायण नामवाला एक प्रसिद्ध चोर भूमण्डलमें है, जो मानव उसका स्मरण करते हैं, उनके अनेक जन्मोंमें संपादित—पापोंके समुदायका हरण कर लेता है। श्रीनारायणका अवतार श्रीकृष्णको तो गोपालसहस्र-नाममें 'चोरजारशिखामणि 'का बिरुद (टाईटल) दियागया है। उसका अर्थ है—चोर एवं जारोंका सरदार। इसलिये किसी रसिक-भक्तने अनेक विध—चोरियोंका आरोप लगाकर—उसे 'चौराग्रगण्य' कहकर नमस्कार किया है, जैसे—

व्रजे प्रसिद्धं नवनीतचौरं, गोपाङ्गनानाञ्च दुकूलचौरं।
अशेषजन्मार्जितपापचौरं चौराग्रगण्यं पुरुषं नमामि ॥'

अब आप किसी विख्यात शिवालयमें जावें, वहाँ वेदपाठी ब्राह्मण यजुर्वेद-संहिताका प्रसिद्ध—रुद्राष्टाध्यायका पाठ करते हुए दिखाई पडेंगे। उनके समीप बैठकर आप उस पाठको सुनते जाँय। आपको सुननेमें आयेगा कि—**दिशां च पतये नमो नमः, पशूनां पतये नमो नमः, जगतां पतये नमो नमः।**' (शु० य० १६। १७—१८) अर्थात् भगवान् श्रीशंकर दिशाओंके पति हैं, अज्ञानी मूढरूप पशुओंके पति हैं, एवं समस्त—जगतोंके पति हैं, उन्हे मेरी बारंवार असंख्य नमस्कार है।' पश्चात् आपको सुननेको मिलेगा—'**तस्कराणां पतये नमो नमः, स्तायूनां पतये नमो नमः।**' (य० वे० १७। ८—१) भगवान् शंकर तस्करोंके एवं स्तायुओंके भी पति हैं, अर्थात् —सरदार हैं। उन्हें मेरी नमस्कार। तस्कर यानी डाकू, जो जबरदस्तीसे सबके देखते ही धनमाल—लूट ले। और स्तायु यानी चोर, जो गुपचुप रात्रिमें आकर चोरी करे। इस प्रकार भगवान् शंकर भी विष्णु भगवान्के समान चोरोंके सरदार सिद्ध होते हैं।

इससे भी इन दोनोंमें समानता ही सिद्ध होती ह।

और हरि एवं हरका भी समान ही अर्थ होता है। **हरतीति हरिः हरश्च।** जो स्मरण-मात्रसे पापसंतापोंका हरण करता है, वह हरि है एवं हर है। इसलिये व्याकरणशास्त्रके विद्वानोंने कहा है कि—

'उभयोरेका प्रकृतिः, प्रत्ययभेदात् भिन्नवद्भाति।
कलयति कश्चिन्मूढः, हरिहरभेदं विनाशास्त्रं ॥'

अर्थात् जैसे—हरि एवं हर दोनों पदोंकी 'हृञ्' हरणे, धातुरूप एक ही प्रकृति है। 'इ' एवं 'अच्' प्रत्ययके भेदसे हरि एवं हर शब्द भिन्नकी तरह प्रतिभासित होते हैं। वैसे हरि एवं हरकी प्रकृति अर्थात् वास्तविक स्वरूप एक ही है। परन्तु प्रत्यय अर्थात्—विश्वास एवं रुचिके भेदसे भिन्न न होने पर भी भिन्नकी भाँति प्रतीत हो रहे हैं। तथापि कोई मूढ हरि एवं हरका वास्तविक भेद मानता है। क्यों मानता है? '**शास्त्रं विना**' अर्थात् श्रोत्रिय—ब्रह्मनिष्ठ—आचार्य गुरुके द्वारा शास्त्रोंके श्रवणके विना ही वह भेद मानता है। शास्त्रश्रवण करता तो वह उनमें भेद नहीं मानता। अथवा हरिहरका भेद—**विनाश—अस्त्रं** है, चतुर्विध—धर्मादि—पुरुषार्थोंके विनाशका अस्त्र है। इसलिये—हरिहरका अभेद—भाव बतलानेके अभिप्रायसे ही चतुर्थाश्रमी—संन्यासियोंके मठ—मंदिरोंमें तथा मण्डलोंमें हरिहरका साथ ही नाम लिया जाता है। जैसे—आरतीकी हरिहर महापुरुषो! भिक्षाकी हरिहर, स्वाध्यायकी हरिहर, कथाकी हरिहर।

'शिव' नामका अर्थ है—**शेते सर्वं जगत् यस्मिन् सः शिवः।** अर्थात् प्रलयके समय जिसमें समस्त जगत् सोजाता है-वह विलयका अधिष्ठान शिव है। विष्णु नामका अर्थ है—**वेवेष्टि—व्याप्नोति सर्वं जगत् इति विष्णुः।** विष्लृव्याप्तौ धातुसे विष्णु शब्द बनता है—जो सर्व जगत्को व्याप्त कर रहा है, वह विष्णु है। इसप्रकार शिव—एवं विष्णु नामोंका भावार्थ एक ही पूर्ण महान्—तत्त्वको सिद्ध करता है। जो तत्त्व (स्वरूप) पूर्ण व्यापक है एवं सर्वका आधार है।

किसी समय काशीमें पण्डितोंकी एक सभा हुई थी। उसमें किसीने

यह प्रश्न किया था कि—भगवान् श्रीविष्णु-नारायण श्यामसुन्दर क्यों हैं?। सत्त्वगुणीमायाके अधिष्ठाता होनेके कारण श्रीविष्णुका शुक्लवर्ण होना चाहिये । क्योंकि—शास्त्रोंमें सत्त्वादि तीनों गुणोंवाली मायाको—लोहित-शुक्लकृष्णा कहा है । अर्थात् रजोगुणका लोहित (लाल) सत्त्वगुणका शुक्ल (सफेद) एवं तमोगुणका कृष्ण (काला) वर्ण माना गया है । इसलिये भगवान् विष्णुका श्यामवर्ण नहीं होना चाहिये । और भगवान् श्रीशङ्करको अनेक-शास्त्रोंमें शुक्लवर्ण क्यों कहा है? जैसे—'**कर्पूरगौरं**' ....'**रजतगिरिनिभं चारुचन्द्रावतंसं**' इत्यादि वचनोंमें (भगवान् शंकर कर्पूरके समान गौर वर्णके हैं, वे रजतगिरिके सदृश—शुक्लवर्णके हैं) वर्णन मिलता है । रजतगिरि अर्थात् चांदीका पहाड, ऐसा नाम सुनकर आप चमक उठेंगे, पूछने लगेंगे कि—ऐसा पहाड कहाँ है? बतलाइये वहाँ जाकर हम भी कमसेकम हजार दोहजार मन चांदी उठा लावें । क्योंकि—चांदीके पर्वतसे चांदी कितनी ही उठा ले जाओ, उसमें कभी कमी नहीं आसकती । और हम मालामाल होजायेंगे । परन्तु रजतगिरिका वैसा अर्थ नहीं है, किन्तु चांदीके समान सफेदवर्णसे चमकनेवाला पहाड अर्थ है । ऐसे पर्वतको यदि आप प्रत्यक्ष देखना चाहते हैं, तो आप पोष—माघ मासमें हरिद्वार आवें, वहाँसे आपको रजतगिरिका दर्शन हो जायगा । शीतकालमें हिमालयके शिखरोंमें खूब बरफ जमी रहती है । प्रातः सूर्यकिरणोंके द्वारा वे शिखर चांदीके समान चमकते हैं । ऐसा मनोरम दृश्य देखकर दर्शकोंके मन आनन्द—मुग्ध हो जाते हैं । तात्पर्य यह है कि—भगवान् शङ्करका रजतगिरि-समशुक्लवर्ण नहीं किन्तु कृष्णवर्ण होना चाहिये । क्योंकि—वे तमोगुणी मायाके अधिष्ठाता हैं ।

भगवान् शङ्करको कुछलोग निन्दाके अभिप्रायसे 'तमोगुणी' कहते हैं। 'तमोगुणी' विशेषण सुनकर शङ्कर—भक्तोंको बडा दुःख होता है। परन्तु विचार करके देखा जाय तो—'तमोगुणी' विशेषणसे निन्दा नहीं किन्तु स्तुति सिद्ध होती है। तमोगुणीका यह अर्थ कदापि नहीं कि—तमोगुणके वशमें होजानेवाला। भगवान् शङ्कर जीव नहीं, किन्तु ईश्वर हैं। जीव, तमोगुणके वशमें हो सकता है, परन्तु ईश्वर तमोगुणके वशमें नहीं होता, प्रत्युत वह उस दुर्दान्त तमोगुणको अपने वशमें रखता है। तमोगुण पर जिसका कंट्रोल रहता है, ऐसा अर्थ है। यदि तमोगुणीका तमोगुणके वशमें होजानेवाला अर्थ करते हैं तो विष्णुका विशेषण सत्त्वगुणी का भी वही अर्थ करना पडेगा। ऐसा अर्थ करनेपर विष्णुमें भी ईश्वरत्वकी सिद्धि नहीं होती। क्योंकि—वह भी सत्त्वगुणके वशमें हो जानेवाला माना गया है। जीव और ईश्वर में यही तो विलक्षणता है। जो मायाके गुणोंके वशमें होजाय, वह जीव; जो मायाके गुणोंको अपने आधीन रक्खे, वह ईश्वर। क्योंकि—जीव प्रकृतिका गुलाम है; तो ईश्वर प्रकृतिका स्वामी है, नियन्ता है।

जिससमय—भगवान् राघवेन्द्र श्रीराम, तथा श्रीलक्ष्मण एवं जनकनन्दिनी भगवती श्रीसीता वनमें जा रहे थे। उससमयका वर्णन गोस्वामी तुलसीदासजीने रामायणमें इस प्रकार किया है—

आगे राम लखन पुनि पाछे, तापस वेष विराजत आछे।
उभय बीच सिय सोहती कैसे; ब्रह्म जीव बिच माया जैसे।

इसमें रामको ब्रह्मकी, लक्ष्मणको जीवकी एवं सीताको मायाकी उपमा दी है। यहाँ प्रश्न होता है कि—राम ब्रह्म क्यों है? इसका उत्तर

यह है कि—सीतारूपी माया उसके पीछे चलती है, जो मायाके पीछे न चले, किन्तु मायाको अपने पीछे चलावे, अर्थात् मायाके ऊपर जो अपना शासन रक्खे, मायाके शासनमें जो न रहे, वह ब्रह्म है, परमेश्वर है। लक्ष्मण जीव क्यों है? इसलिये कि—वह सीता—मायाके पीछेपीछे चल रहा है। तात्पर्य यह है कि-विश्वेश्वर भगवान् शङ्करके लिये तमोगुणी-का अर्थ सत्त्वगुणीके समानही तमोगुणका अधिष्ठाता शासक तमोगुणको अपने वशमें रखनेवाला—ही करना उचित है। अब आप विचार कर सकते हैं कि—सत्त्वगुणका नियमन करना कठिन है कि—तमोगुण का। सत्त्वगुण स्वयं मृदु है—उसका नियमन करना सरल है। परन्तु तमो-गुणका नियमन करना बडा कठिन है। किसी मामुली—दुर्बल व्यक्तिको पछाड देने पर पहलवान की प्रशंसा नहीं होती, किन्तु बडे नामी हट्टे-कट्टे बलवान् पहलवान को जो पछाड देता है—उसकी ही प्रशंसा सर्वत्र होने लगती है। सत्त्वगुण दुर्बल व्यक्ति के समान है तो तमोगुण बलवान् पहलवान के समान है। आप अपनी तरफ देखकर भी समझ सकते हैं कि-जब आपमें तमोगुण भर जाता है—क्रोध एवं आलस्य आजाता है—तब उसको काबू में रखना बडा कठिन काम होजाता है। इसलिये 'तमोगुणी' विशेषण से भगवान् शङ्करकी निन्दा नहीं प्रत्युत स्तुति ही सिद्ध होती है। इसलिये तमोगुणीका वास्तविक-अर्थ समझकर शिवभक्तोंको प्रसन्न होना चाहिये।

पूर्वोक्त—प्रश्नके समाधानके लिए पाण्डतोंका अनेक-प्रकारका वाद-विवाद कई-दिनोंतक चलता रहा। परन्तु वास्तविक—हृदयंगम समाधान कुछ भी न होसका। एकरोज—उस सभामें एक वीतराग—ब्रह्मनिष्ठ—

विद्वान् महात्मा आये। महात्माजीने उस प्रश्नको यथावत् समझकर—पण्डितों से कहा कि—मैं आपकी इस सभामें पुराणोंका एक श्लोक कहना चाहता हूँ। संभव है कि—इसके द्वारा उस प्रश्नका यथार्थ समाधान होजाय। पण्डितोंने हर्ष एवं आदरके साथ कहा—भगवन्! अवश्य ही वह श्लोक कहिये, जिसके द्वारा इस प्रकृत—प्रश्नका वाद-विवाद समाप्त होजाय। पण्डितों की अनुमति पाकर महात्माजी कहने लगे कि—'**शिवस्य हृदये विष्णुः, विष्णोश्च हृदये शिवः। उभयोरन्तरं कृत्वा, रौरवं नरकं व्रजेत् ॥**'

अर्थात् शिवके हृदयमें विष्णु है, एवं विष्णु के हृदय में शिव है। दोनों में भेद करके रौरव नरककी प्राप्ति होती है। शिवके हृदय में विष्णु क्यों है? इसलिये है कि—शिव, विष्णुका भक्त है—उपासक है। उपासक-भक्त का यह स्वभाव होता है कि—वह अपने—उपास्य प्रियतम इष्टदेव का हृदय में हरदम ध्यान करता रहता है। ध्यानके प्रभावसे ध्येय—इष्टदेव, हृदय में अवस्थित हो जाता है, पश्चात् वह इष्टदेवमय बन जाता है। इसप्रकार विष्णु के हृदयमें शिव है—क्योंकि विष्णु, शिवका भक्त है—उपासक है। इसलिये वह भी अपने—उपास्य इष्टदेव—शिवका ध्यान करता रहता है, ध्यानके प्रभावसे वह भी ध्येय शिवमय बन जाता है। परमवैष्णव गोस्वामी तुलसोदासने भी शिव एवं रामका ऐसा ही सम्बन्ध कहा है कि—

'**सेवक-सखा-स्वामी सियपीके।**'

अर्थात् भगवान् सीतापति—राम, शिव के सेवक हैं, सखा हैं, एवं स्वामी हैं। सेवक यानी उपासक—भक्त, एवं स्वामी यानी उपास्य

भजनीय। परस्पर वे एक-दूसरे के कभी सेवक बन जाते हैं, तो कभी सेव्य।

एक नगरमें दो शौकीन मनुष्य रहते थे। एकको घोडेकी सवारीका बडा शौक था-जहाँ भी कहीं जाना हो-वह घोडेके ऊपर बैठकर ही जाता था। पैंदल चलना वह अपनी शानके विरुद्ध समझता था। दूसरा गद्दी-तकियेका शौकींन था। कहीं भी जाना हो-गद्दी तकियेका बंडल अपनी पीठपर लादकर ही जाता था-जहाँ भी बैठना पड जाय, वहाँ अपना गद्दी-तकिया लगाकर बैठता था, गद्दीतकिये विना नीचे बैठना वह अपने गौरवका अपमान समझता था। एक रोज वे दोनों किसी ग्राम में जा रहे थे, मार्ग में दोनोंका साथ होगया। मार्ग में चलनेवाले लोगोंने देखा-एवं समझा कि-'यह जो घोडेके ऊपर बैठकर जाता है-वह तो सेठ होगा, और यह जो पीठ पर गट्ठर लादे जा रहा है- वह इसका नौकर होगा।' इसप्रकार उन लोगोंने घोडेवाले को स्वामी एवं गद्दी तकियेवालेको सेवक मान लिया। पश्चात् वे दोनों साथ ही उसग्राम में पहुँचें। ग्रामके एक चौतरे पर वह गद्दी तकियेवाला अपनी गद्दी एवं तकिया लगाकर बडी शानसे बैठ गया, और वह घोडेवाला-घोडेको घासपानी देने लगा-और उसकी पीठ पर हाथ फेरने लगा। ग्राम के लोगोंने ऐसा दृश्य देखकर समझा कि-यह गद्दीतकियामें बैठनेवाला सेठ होगा। और यह घोडेकी सेवा करनेवाला इस सेठका नौकर होगा। इसप्रकार ग्रामके लोगोंने, मार्ग में चलनेवाले उन लोगोंसे विपरीत ही समझा। जिसप्रकार वे दोनों शौकीन कभी सेठरूपसे तो कभी नौकर-रूपसे दीख पड़े थे। उसप्रकार भगवान् विष्णु एवं भगवान् शिव, एक

दूसरेके कभी सेवक–उपासकरूपसे एवं कभी सेव्य–उपास्यरूपसे प्रतीत होजाते हैं। शिव कैलासमें बैठकर राम राम जपते हैं, तो तो विष्णु वैकुण्ठमें प्रतिदिन एक–सहस्र कमलोंके द्वारा श्रीशिवका पूजन करते हैं। शिव विष्णुका भक्तिपूर्वक ध्यान करता है, तो विष्णु शिवका। और हमारे-शास्त्रोंमें ध्येयस्वरूपकी प्राप्ति होजाना ही ध्यानका फल माना गया है।

जिस समय भगवती–जनकनन्दिनी–श्रीसीता अशोकवाटिकामें बैठी हुई–श्रीराम-राम रटती थीं एवं भक्तिपूर्ण–हृदयसे श्रीरामका ध्यान करती हुई तन्मय होजाती थीं। उस समय देवी सीताने अपने सामने एक कीडेको ध्यानके प्रभावसे भ्रमर रूप होते देखा। तुरन्त ही श्री-सीताजी अपनी गुप्त–सखी त्रिजटासे इसप्रकार कहने लगी थी कि–

"कीटोऽयं भ्रमरीभवत्यतिनिदिध्यासैर्यथाऽहं तथा,
स्यामेवं रघुनन्दनाऽपि त्रिजटे! दाम्पत्यसौख्यं गतम्॥"

हे त्रिजटे! देख, यह कीडा भ्रमरके अत्यन्त-ध्यानसे जिसप्रकार कीडा मिटकर भ्रमर बन गया है, उसप्रकार मैं भी श्रीरामके अत्यन्त ध्यानके प्रभावसे सीता मिटकर यदि मैं रघुनन्दन–राम बन गई तो, सीतारामके दाम्पत्य–सुखकी समाप्ति होजायगी। एक राम अयोध्या-पुरीका राजा होजायगा, तो दूसरा सीतासे बना हुआ राम मुम्बापुरीका राजा बन जायगा। सीता–रामकी युगल–जोडी तो न रहेगी। उसमें जैसा अनन्य–प्रेम एवं परस्परका महान्–सुख रहता है, वैसा प्रेम एवं सुख दो–पृथक्–हुए–रामोंमें कभी नहीं रह सकता। ऐसा सोचकर श्री-सीता बहुत–व्याकुल होगई। और श्रीरामके ध्यानसे उपरत होनेका विचार कर कहने लगी कि–अरे! यह ध्यान अच्छा नहीं है–जो मुझे

सीतासे राम बना देता है। मुझे राम नहीं बनना है; सीता ही बने रहना है।

श्रीसीताजीकी ऐसी बातें सुनकर बुद्धिमती त्रिजटाने सीताजीको आश्वासन देते हुए कहा—कि—

शोकं मा वह मैथिलेन्द्रतनये! तेनापि योगः कृतः।
सीता सोऽपि भविष्यतीति सरले! तन्नो मतं जानकि!॥

हे मिथिलाधिपतिकी कुमारि! तू शोक मत कर, उस रामने भी तेरे जैसा ही योग किया है। तू रात्रि-दिन राम राम रटती है, एवं रामका ध्यान करती है; तो वह राम भी रात्रि-दिन—सीता-सीता रटता है, एवं सीताका ही ध्यान करता रहता है। ध्यानके प्रभावसे तू सीता मिटकर राम होजायगी, तो राम, राम मिटकर सीता होजायगा। सीता-रामकी युगल—जोडीमें किसी भी प्रकारसे ध्यान द्वारा बाधा उपस्थित नहीं होगी। जैसे तेरा हृदय रामके अचल प्रेमसे लबालब भरा हुआ है, वैसे रामका हृदय भी सीताके निश्चल प्रेमसे भरपूर हो रहा है। तू जिसप्रकार राममय बनी रहती है, उसप्रकार राम भी सीतामय बना रहता है। इसलिये हे भोलीभाली देवी! तू रामके ध्यानसे उपरत मत हो, रात्रि-दिन रामका ध्यान, प्रेमपूर्ण हृदयमें करती रह। त्रिजटाके इस कथनसे श्रीसीताजीकी व्याकुलता दूर हुई, और वह बहुत ही प्रसन्न हो गई।

श्रीसीताके इस चरित्रका यह तात्पर्य है कि—ध्यानका प्रभाव ध्येय स्वरूपकी प्राप्तिमें कारण बनजाता है। प्रकृतमें भगवान् शिव विष्णुके ध्यानसे शुक्लवर्णके, एवं भगवान् विष्णु, शिवके ध्यानसे कृष्ण-

वर्णके होजाते हैं। यद्यपि तमोगुणी मायाके अधिष्ठातृत्वसे शिवमें कृष्णवर्ण था, एवं सत्त्वगुणी मायाके अधिष्ठातृत्वसे विष्णुमें शुक्लवर्ण था। तथापि परस्परके ध्यानकी शक्तिसे परस्परके वर्णोंका परस्परमें विनिमय (तब्दिली) होजाता है। इसलिये ही हमारे शास्त्रोंने शिवको कर्पूरगौर एवं विष्णुको श्यामसुन्दर कहा है।

उन महात्माजीका इस प्रकारका प्रामाणिक एवं युक्तिसंगत समाधान सुनकर पण्डितोंकी सभा बहुत ही प्रसन्न हो गई, और धन्य धन्य कहने लगी।

इसलिए श्रीमद्भागवतके—यशस्वी व्याख्याता—प्रसिद्ध श्रीधरस्वामीने शिव—विष्णु दोनोंकी इसप्रकार—अभेदभावमयी—वन्दना की है कि—

माधवोमाधवावीशौ, सर्वसिद्धिविधायिनौ।
वन्दे परस्परात्मानौ परस्परनतिप्रियौ॥

माधव—विष्णु (मा=लक्ष्मी; धव=पति) एवं उमा-धव—शिव, ये दोनों ईश्वर हैं, सर्व—सिद्धियोंके प्रदाता हैं, परस्पर एक दूसरेको नमस्कारादि करनेमें अतिप्रीति रखते हैं, एवं वस्तुतः वे एक दूसरेके आत्मा हैं यानी अभिन्नस्वरूप हैं, उन्हें मैं वन्दन करता हूँ। महात्मा तुलसीदासने भी ऐसा ही कहा है—

राम हि शिव हि एक जो जाने;
भय-तजि नाम-जपत हर्षाने।

इसलिये—पुराणोंमें कहा है—कि—श्रेष्ठ भगवद्भक्त—वही है—जो शिव एवं विष्णुमें समबुद्धि रखता है—

शिवे च परमेशाने, विष्णौ च परमात्मनि ।
समबुद्धया प्रवर्तन्ते, ते वै भागवतोत्तमाः ॥'

परमेश्वर–शिवमें एवं परमात्मा–विष्णुमें समबुद्धि रखकर जो भगवान्की उपासनामें प्रवर्तमान होते हैं–वे ही उत्तम–भागवत–अर्थात् भगवद्भक्त हैं। अर्थात् विषमबुद्धि रखनेवाला–छोटा बडा समझनेवाला कभी भी भगवद्भक्त नहीं होसकता।

कुछ वैष्णवंमन्य–विषमबुद्धिवाले लोग, शिवके निर्माल्यसे, चरणोदकसे एवं नैवेद्यसे घृणा करते हैं, और उनको अग्राह्य बतलाते हैं, परन्तु हमारे शास्त्रोंने इनको कभी अग्राह्य नहीं बतलाया, प्रत्युत इनके ग्रहणसे अनेक लाभोंका वर्णन इसप्रकार किया है कि—

'रोगं हरति निर्माल्यं, शोकन्तु चरणोदकं ।
अशेषं पातकं हन्ति, शम्भोर्नैवेद्यभक्षणम् ॥'

भगवान् शिवके ऊपर चढा हुआ बिल्वपत्र-पुष्पादिरूप निर्माल्य, नेत्र एवं मस्तकके स्पर्शद्वारा रोगोंका निवारण करता है, शिवपादोदक पानद्वारा शोकका नाश करता है, और शम्भुका नैवेद्य भक्षणद्वारा समस्त पापोंका विध्वंस कर देता है। इसलिये कहा है कि—

'शिवनैवेद्यके चैव हरिनैवेद्यके तथा ।
करोति भेदबुद्धिं यो ब्रह्महत्यां लभेत सः ॥'

श्रीशिवके नैवेद्यादिमें तथा श्रीहरिके नैवेद्यादिमें जो मानव ग्राह्या-ग्राह्यत्वप्रयुक्त भेदबुद्धि करता है, वह ब्रह्महत्याके पापको प्राप्त होता है। अतः शिवनिर्माल्यादि परमपवित्र हैं, एवं ग्राह्य हैं।

कुछ लोग त्रिपुण्ड्र धारण करना अच्छा नहीं समझते हैं–वे वस्तुतः

मूर्ख हैं—क्योंकि—वे स्वाभाविक स्वमस्तकस्थित- तिर्यक्—रेखाओंकी उपेक्षा करते हैं। अतः उनके लिये ऐसाही शास्त्रोंमें कहा है—

'तिर्यक्रेखाः प्रदृश्यन्ते ललाटे सर्वदेहिनां।
तथापि मानवा मूर्खा न कुर्वन्ति त्रिपुण्ड्रकम्॥'

कुदरतने ही सभी मानवोंके ललाटमें तिर्यक् (आडी) रेखाएँ खींच रक्खीं हैं, तथापि जो उस स्वाभाविक—दृश्यमान—रेखाओंका अनुसरण न कर त्रिपुण्ड्र नहीं करते हैं, वे मूर्ख हैं।

जिस समय मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम, सीतालाभ एवं दुष्टोंका विध्वंस करनेके लिए तथा शिवभक्तिकी महिमाको सर्वत्र फैलानेके लिए—दक्षिणके समुद्र तटपर श्रीरामेश्वरकी स्थापना कर रहे थे—उस समय नारदबावा वहाँ पहुँचें—और श्रीराम द्वारा वालुकासे निर्मित—लिङ्गका दर्शन कर उसका नाम श्रीरामसे पूछने लगे—श्रीरामने तुरन्त ही उसका नाम रामेश्वर कहा। मैं राम हूँ, और शिव मेरा ईश्वर है, आराध्य है, जिसकी मैंने यहाँ लिङ्गाकार मूर्ति स्थापित की है—इस-लिये **'रामस्य ईश्वरः रामेश्वरः'** ऐसा अर्थ श्रीरामने बतलाया।

नारद जब कैलास गये, तब श्रीशिवसे रामेश्वरका अर्थ पूछा गया —तब श्रीशिव तुरन्त ही बोल उठे थे कि—**'रामः ईश्वरो यस्य सः रामेश्वरः।'** रामेश्वरमें तत्पुरुष समास नहीं है; किन्तु बहुव्रीहि समास है। जिसका अर्थ है—राम है आराध्य-ईश्वर जिस शिवका, वह रामे-श्वर है। नारद संशयमें पड गये कि-राम कहता है—शिव मेरा ईश्वर है, तो शिव कहता है—राम मेरा ईश्वर है। वस्तुतः ये राम एवं शिव हैं क्या?। ब्रह्मलोकमें जाकर अपने पिता—ब्रह्माजीके समक्ष इस संशयको

प्रकट किया--तब ब्रह्माजी कहने लगे कि--'**रामश्चासौ ईश्वरश्च इति रामेश्वरः।**' रामेश्वरमें कर्मधारय समास है, जो राम है वही ईश्वर--शिव है--दोनों एक अभिन्न ही हैं। परन्तु वे एक--दूसरेको अपना आराध्य देव मानते हैं--उसका यही तात्पर्य है कि--शिव एवं विष्णु जिस प्रकार परस्पर अनन्य प्रेम करते हैं--अभेदभाव रखते हैं--उसी प्रकार शैव एवं वैष्णवोंको भी ऐसा ही परस्पर प्रेम करना चाहिये, एवं अभेदभाव रखना चाहिये।

इन सब वृत्तान्तों एवं प्रमाणोंके द्वारा यही निश्चित होता है कि--श्रीविष्णु एवं श्रीशिवमें काल्पनिक--नामरूपोंका भेद होने पर भी वास्तविक--अभेद ही है।

और कल्पित भेद, वास्तविक-अभेदको बाध नहीं सकता, यह भी पुराणों में कहा है--

कल्पितोऽयं द्विजाः! भेदो नाभेदं बाधते सदा।
कल्पितानामसत्त्वाच्च न विरोधश्च सिद्धयति॥

हे द्विज, नाम--रूपोंका 'मृत्तिकामें घटशरावादिकी भाँति' कल्पित भेद वास्तविक--अभेदका बाध नहीं कर सकता, क्योंकि--कल्पित नाम-रूपोंकी वास्तविकी सत्ता नहीं होती, इसलिये कल्पित भेदका अभेदके साथ विरोध, किसी भी प्रकारसे सिद्ध नहीं होता है।

और कल्पित--शिव विष्णु आदि नामोंमें एवं कल्पित--चतुर्भुज--पंचमुखादि विग्रहोंमें भी परस्पर अभेद भाव रखना चाहिये--अर्थात्--शिव शङ्कर शम्भु आदि नाम, विष्णुके हैं, एवं जनार्दन, पद्मनाभ, श्रीधर आदि नाम शिवके हैं, एवं चतुर्भुज-मूर्तिमें शिवकी भावना एवं पंच-

मुख-परमेश्वरमें विष्णुकी भावना भी कर सकते हैं—ऐसा भी पुराणोंमें महर्षियोंने कहा है—

'नामानि तव गोविन्द ! लघूनि च महान्ति च ।
तान्येव मम नामानि नात्र कार्या विचारणा ॥
यस्त्वां द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्त्वामनु स मामनु ।
आवयोरन्तरं नास्ति शब्दैरर्थैर्जगत्पते ! ॥'

भगवान् श्रीशंकर विष्णु भगवान्‌से कहते हैं—हे गोविन्द ! आपके जो भी छोटे बडे नाम हैं, वे सब मेरे ही नाम हैं, अर्थात् मेरे जो भी नाम हैं, वे सब तुम्हारे भी हैं, इसलिये इन नामोंमें भी भेदोंका विचार नहीं रखना चाहिये। जो तुम्हारेसे द्वेष करता है, वह मेरेसे भी द्वेष करता है, जो आपका अनुयायी भक्त है, वह मेरा भी अनुयायी भक्त है। क्योंकि—हे जगत्पते ! अपने दोनोंमें विविध नाम एवं विग्रह प्रयुक्त भी किसी प्रकारका भेद है ही नहीं।

इसलिये भगवान् श्रीरामने कहा है—**'शिवद्रोही मम दास कहावे, सो नर मोहिं स्वप्ने हुं नहि भावे।'**

किसी रसिक कविने—शिव एवं विष्णुमें समानता सिद्ध करनेके अभिप्रायसे—रमा एवं उमाका मनोरञ्जन करनेवाला एक अच्छा संवाद इसप्रकार प्रदर्शित किया है—

'भिक्षु क्वाऽस्ति? बलेर्मखे, पशुपतिः? किं नास्त्यसौ गोकुले,
मुग्धे ! पन्नगभूषणः ? सखि ! सदा शेते च तस्योपरि ।
आर्ये ! मुञ्च विषादमाशु, कमले ! नाहं प्रकृत्या चला,
इत्थं श्रीगिरिजासमुद्रसुतयोः संभाषणं पातु वः ॥'

किसी समय भगवती महालक्ष्मी–रमाने विचार किया कि–मेरी प्यारी सखी भगवती उमागौरीको मिले बहुत समय व्यतीत हो गया। न वह मुझे मिलनेके लिए वैकुण्ठमें आई एवं न मैं उसे मिलनेके लिए कैलासमें गई। इसलिए उसे मिलनेके लिए मुझे ही कैलास चलना चाहिये। ऐसा विचार कर वह शीघ्र ही कैलासमें पहुँच कर मणिमय–भवनका द्वार खटखटाने लगी। जिसमें विशेष प्रेम एवं अभेदभाव होता है, उसके साथ कुछ विनोद (मजाक) भी किया जाता है। इसलिये–देवी इंदिराने भी देवी पार्वतीकी कुछ हंसी करनेका विचार किया। खटखटानेकी आवाज सुनकर दासीने द्वार खोला–और भगवती लक्ष्मी, मणिमय भवनमें प्रविष्ट हुई। लक्ष्मीका नाम सुनकर गौरी स्वागत करनेके लिए दौड पडी। दोनों सखियाँ आपसमें प्रेमसे गंगायमुनाके समान मिलीं। उमाको अकेली देखकर रमाने पूछा कि–**भिक्षु क्वास्ति ?** अर्थात् आपके वे भिक्षु बाबाजी कहाँ हैं ? भिक्षु शब्दका प्रयोग कर रमा, पार्वतीपति–भगवान् शङ्कर पर भिखारिपनेका आक्षेप करती है।

व्यङ्ग्यसे यह सूचित करती है कि–तेरा वर तो भिखारी है, और मेरा वर राजाधिराज है।

बुद्धिमती दुर्गाभवानी तुरन्त ही भिक्षुपदके आक्षेपको समझ गई। और '**कृते च प्रतिकर्तव्यं एष धर्मः सनातनः।**'के अनुसार मंद मंद हँसती हुई प्यार–भरे शब्दोंसे आक्षेपका प्रत्याक्षेप करनेका अभिप्राय रखकर आश्चर्य प्रकट करती हुई कहने लगी–ओहोहो ! मेरी प्यारी सखी भिक्षुको खोजनेके लिए यहाँ आई है। मैं उस भिक्षुका पता जानती हूँ। ऐसा करना, तुम यहाँसे भारतमें जाना, वहाँ एक

पवित्र नदी नर्मदा बहती है, उसके तटमें भृगुकच्छ नामका एक प्रसिद्ध नगर है, उसके सामने एक विशाल एकान्त-स्थल है, वहाँ राजा बलि बडा भारी यज्ञ कर रहा है। वहाँ तुम्हें वामन-(ठिगना) रूपसे साडे-तीन पैर भूमिकी याचना करता हुआ भिक्षु मिलेगा। यजुर्वेदके शत-पथ ब्राह्मणमें लिखा है--'**वामनो ह विष्णु आस।**' विष्णु ही वामन बना था। पार्वती देवीका ऐसा युक्ति-युक्त वचन सुनकर लक्ष्मीदेवी चुप होगई। मनमें समझ गई कि-केवल उमाका वर ही भिक्षु है, ऐसी बात नहीं किन्तु मेरा वर भी भिक्षु है। पश्चात् वह कहने लगी-नहीं, नहीं, मैं भिक्षुको नहीं पूछती हूँ, किन्तु पशुपतिको पूछ रही हूँ। पशुपति कहाँ है ?। पशुपति शब्दके प्रयोगसे भी देवी पद्मालया, गिरिराजकिशोरीके समक्ष भगवान् शंकर पर आक्षेप कर रही है कि-तेरा स्वामी पशुका पति है। जिसप्रकार पशु मोटी बुद्धिका होता है-उसप्रकार तेरा भोलानाथ भी नादिया-पशुके साथ रह कर वैसा ही बन गया है-इसलिये ही तो क्षीरसमुद्रके मंथनसे समुत्पन्न-अमृतका पान और सभी देवोंने किया, और इन बुद्धिमान्-देवोंने मिलकर तुम्हारे उनकी झूठी तारीफें कर उन्हें हलाहल विषका पान कराया। यदि उनमें कुछ अक्ल होती तो वे क्यों विषका पान करते। इसलिये तेरा घरवाला पूरा पशु जैसाही पति है।

भगवती गौरी तुरन्तही पशुपति पदके आक्षेपको समझ गई। और कहने लगी-अच्छा तू पशुपतिको पूछ रही है। वह तुझे गोकुलमें गौवें चराता हुआ नहीं मिला क्या? गौवें भी तो पशु हैं, मनुष्य नहीं। यदि नन्दीके सम्बन्धसे तू मेरे पतिमें जैसा आक्षेप करती है; वैसा

आक्षेप गौओंके सम्बन्धसे तेरे पतिमें भी तो लागु होसकता है। विष-पान बुद्धिहीनताका परिचायक नहीं, किन्तु बडे–बडे विद्वान्–कवियोंने उसे कृपालुताका एवं विश्वसंरक्षकताका परिचायक बतलाया है। इस-प्रकार सुसंगत प्रत्युत्तर सुनकर देवी कमला कहने लगी–कि–मैं पशु-पतिको नहीं पूछती हूँ, किन्तु पन्नगभूषणको पूछ रही हूँ। पन्नगभूषण पदसे भी वह आक्षेप कर रही है कि–तेरा पति कैसा भयंकर आदमी है, जिसने पन्नगोंके ही आभूषण बना रक्खे हैं। इसके शरीरमें जिधर भी देखो–उधर सर्प ही सर्प लिपटे पडे हैं। हाथमें सर्पके ही कडे पहिने हैं, गलेमें सर्पकी ही माला बना दी है और कमरमें सर्पका ही कंडोरा (कटिमेखला) बना दिया है। इसको सोना–चांदी–मुक्ता–किसीके भी आभूषण नहीं मिले। किन्तु, जिनका नाम सुनकर लोग काँपने लग जाते हैं–जिनका यदि दर्शन होजाय तो सभी लोग जान बचानेके लिए भागाभागी करने लग जाते हैं, उन भयंकर सर्पोंके ही उसे आभूषण मिलें। इसलिये जैसे सर्प तमोगुणी हैं, वैसे तेरा वह सर्पधारी पति भी तमोगुणी ही कहा जाता है।

इस आक्षेपको भी देवी राजराजेश्वरी अन्नपूर्णा तुरन्त समझ गई, और कहने लगी कि–देवि! पन्नगभूषणके दर्शन तो तुझे क्षीरसागरमें मिलेगा। वहाँ ही वह सहस्रफणावाले शेषनागकी शय्यामें लेटा हुआ दर्शन देगा। अर्थात् मेरे पतिने तो सर्पके आभूषण बनाये हैं–परन्तु तेरे पतिने तो सर्पकी ही खटिया बना रक्खी है। यदि सर्पके सम्बन्धसे शिव तमोगुणी कहा जा सकता है–तो विष्णु भी सर्पका सहचारी है, इसलिये वह भी तमोगुणी कहा जायगा। ऐसा प्रत्युत्तर सुनकर लक्ष्मी-

देवी सहम गई ।

संस्कृत—साहित्यमें कवियोंके लिये '**कवयस्तु कपयः**' कहा गया है । अर्थात् जैसे कपि—बंदर बडे चंचल होते हैं—वैसे कवि भी कभी-कभी वाणीकी अमर्याद—चंचलता प्रदर्शित करते हैं । हमारा यह कवि भी लक्ष्मीदेवीके मुखसे ऐसी चंचलता प्रदर्शित करता हुआ कहता है कि—हे देवि ! पार्वति ! तूतो बडी-भोली सरल हृदयकी है । इसलिये तूने—इस श्मसानवासी मुण्डमालाधारी कपाली शम्भुका पतिरूपसे वरण किया है । यह तेरी बडी भारी भूल हुई है । अभी भी तू इस भूलको सुधार सकती है । भारतकी पार्लमेन्टमें तलाक बिल पास होगया है । इसलिये तू भी इस विषभक्षणकरनेवाले शंकरको चाहे तो तलाक दे सकती है । और इसके बदले अन्य किसी सुन्दरदेवका वरण कर सकती है । पार्वती देवीने लक्ष्मीदेवीकी इस अमर्याद—व्यङ्गचोक्तिका इसप्रकार जवाब दिया कि-देविजी ! कान खोलकर सुनो, मेरा बाप हिमाचल पर्वत है, जो सदा अपने स्थानमें अचलरूपसे प्रतिष्ठित रहता है, कभी हिलता—डूलता नहीं, अतः मैं उस हिमाचलकी कुमारी पार्वती भी किसी प्रकार चलायमान नहीं हो सकती हूँ, क्योंकि- पिताका अचलत्व-गुण मेरेमें भी अवस्थित है । इसलिये मेरेमें तलाक देनेकी योग्यता नहीं है । किन्तु हाँ ! तेरेमें तलाक देनेकी अवश्य योग्यता है, क्योंकि—तेरा बाप समुद्र है, जो सदा चंचल-सा हरदम उछलता कूदता रहता है । और उसकी पुत्री तू लक्ष्मी भी ऐसी ही लोकमें दीख पडती है—आज पन्नालालके घरमें रहती है—तो कल मन्नालालके घरमें, परसों वहाँ भी नहीं, किसी और जगह अपना डेरा डाल देती है । इसलिये चंचल—बापकी बेटी तू चंचला, अपने

चंचल-स्वभावके अनुसार विष्णुको तलाक दे सकती है, परन्तु मैं अचल-तनया अपने अचल स्वभावके अनुसार अपने पतिदेवको तलाक नहीं दे सकती हूँ। इसप्रकार गिरिजा भवानीका-एवं समुद्रजा लक्ष्मीका आपसमें होनेवाला हँसी-मजाक भरा हुआ यह प्रेम-सूचक संवाद आपकी रक्षा करे। कवि-महोदय, इस संवाद द्वारा शिव एवं विष्णुमें दूषण एवं भूषणोंकी समानता प्रदर्शित कर दोनोंके एकत्वका ज्ञापन कराता है।

कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि-ये चतुर्थाश्रमी संन्यासी, काषायाम्बर एवं भस्मरुद्राक्षधारी शिवमार्गी ही हैं, शिवको ही मानते हैं, विष्णुको नहीं। परन्तु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। क्योंकि-यह संन्यासधर्म, कोई नया चला हुआ-अर्वाचीन-संप्रदाय विशेष नहीं है, किन्तु यह तो वेदादिशास्त्र प्रतिपाद्य-विश्वहितकारी अनादि-धर्मविशेष है। इसलिये इस अन्तिम-श्रद्धेय संन्यासाश्रममें शिव-विष्णु आदि मार्गोंका भेद नहीं माना जाता। इसलिए संन्यासियोंके प्रधान आचार्य श्रीशंकरस्वामीने जिसप्रकार शिवकी स्तुति की है, उसप्रकार विष्णुकी भी स्तुति की है। आचार्यने जैसे भक्तिभावसे '**शिवपादादिकेशान्तवर्णन**' नामका बढिया स्तोत्र लिखा है, वैसे ही भक्तिभावसे '**विष्णुपादादिकेशान्तवर्णन**' नामका वडा सुन्दर स्तोत्र लिखा है। आचार्य-प्रणीत-अच्युताष्टक-स्तोत्रका यह आदिमश्लोक तो भारतके समस्त प्रान्तों एवं नगरोंकी तो क्या बात? किन्तु प्रत्येक ग्रामीण जनतामें भी प्रसिद्धि पा चुका है। वे सब नागरिक एवं ग्रामीण वडे प्रेमके साथ, सत्यनारायणकी कथा, कीर्तन, रामायणपाठादिके अन्तमें मिलकर एक-स्वरसे बोलते हैं कि-

'अच्युतं केशवं रामनारायणं, कृष्णदामोदरं वासुदेवं हरिं।
श्रीधरं माधवं गोपिकावल्लभं, श्रीजानकीनायकं रामचन्द्रं भजे॥

ये कोई सांप्रदायिक-वैष्णवाचार्योंके उद्‌गार नहीं हैं, किन्तु संन्यासियोंके परमाचार्य-जगत्‌गुरु श्रीशंकरस्वामीके पावन उद्गार हैं। अतः ऐसे आचार्य शंकर एवं उनके अनुयायी संन्यासीगण केवल शिव-मार्गी ही कैसे माने जा सकते हैं ?। वे विष्णुको नहीं मानते, ऐसा किस आधार पर कहा जा सकता है। इसलिए अद्वैतसिद्धान्तके विज्ञाता–यथार्थदर्शी लोग, चतुर्थाश्रमी-संन्यासियोंको परम शैव एवं परम वैष्णव कहते हैं।

शैवसंप्रदाय तो दक्षिणभारतमें एक पृथक् द्वैतवादी संप्रदाय है। जिसके प्रवर्तक रेणुकाचार्य नीलकण्ठाचार्य आदि अनेक आचार्य हो-गये हैं। वे शिव विष्णुका अभेद नहीं मानते। जिसप्रकार शिवको वैष्णवलोग **'वैष्णवानां यथा शम्भुः'** अर्थात् उत्तम वैष्णव मानते हैं, उसी प्रकार वे शैवलोग भी विष्णुको **'शैवानां च जनार्दनः'** यानी उत्तम शिवभक्त मानते हैं। जिसप्रकार कुछ कट्टर वैष्णव, अपनी मूढतासे वैदिक शिव नाम बोलनेमें पाप समझते हैं, उसीप्रकार दक्षिणके कुछ कट्टर शैवभी विष्णुनाम बोलनेमें एवं सुननेमें पाप मानते हैं। परन्तु आचार्य–शंकरके अनुयायी–परिव्राजकमहात्मालोग तथा उनके गृहस्थ भक्तजन शिवविष्णुको अभिन्न मानकर दोनोंकी ही बडे भक्तिभावसे पूजा, सेवा, स्तुति एवं नामसंकीर्तन आदि करते रहते हैं।

भस्म एक विशुद्ध पदार्थ है, यह अद्वैत–सिद्धान्तकी प्रतीक है। इसलिए इसकी महिमाका सूचक 'विभूति' ऐसा एक-प्रसिद्धनाम भी

है। जिसप्रकार अग्निद्वारा भस्म बनजानेपर इसमें विभिन्न काष्ठ-पत्र-पुष्प-गोबर आदिके भेदोंका नामोनिशान नहीं रहता। इसप्रकार अद्वैत-भावकी सिद्धि होजानेपर भेदभावका प्रलय होजाता है, शिव-विष्णु आदि देवोंमें तो क्या? किन्तु कंकड़ लकड़ पत्थर, पशु-पक्षी आदि सभी पदार्थोंमें नित्य-शुद्धबुद्धमुक्त-अखण्ड-एकरस-आनन्दमय ब्रह्मका भान होने लगता है। भस्मकी तीन रेखाएँ, ज्ञान भक्ति एवं वैराग्यका, या ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वररूप त्रिदेवोंका या महाकाली, महालक्ष्मी, महा-सरस्वतीरूप तीनों शक्तियोंका ज्ञापन करती हैं। इसलिए भस्मका यह त्रिपुण्ड्र, शिवका ही तिलक माना जाता है, विष्णुका नहीं, ऐसी बात नहीं है। अतः संन्यासीगण एक दूसरेके मिलने पर **'ॐनमो नारायणाय'** ऐसा मन्त्र बोलकर परस्पर अभिवादन करते हैं। भक्तलोग भी संन्यासीको नारायणस्वरूप मानकर इसी मन्त्रसे प्रणाम करते हैं। और अद्वैत-सिद्धान्त-के आदिमप्रचारक-आचार्य-भगवान्-श्रीनारायण ही माने गये हैं।

इसलिये वैदिक आर्य-सनातन-धर्मानुयायियोंको--शिवविष्णु आदि किसीभी देवमें भेद-बुद्धि नहीं रखनी चाहिये। ये सभी देव, एक ही परमेश्वरकी शक्ति-विशेष एवं विभूति-विशेष हैं, ऐसा समझकर सर्वत्र उस-एक-अपने इष्टदेवकी ही महात्मा तुलसीदास के समान निर्मल भावना करनी चाहिये।

महात्मा तुलसीदास, श्रीरामके अनन्य-भक्त थे। सर्वत्र अपने आराध्य श्रीरामका ही दर्शन कर आनन्दविभोर बने रहते थे। **'सीयाराम मय सब जग जानी, कर हुँ प्रणाम जोरि युग पानी।'** उनकी यह भावना वैदिक-सनातन धर्मके सिद्धान्तोंके अनुकूल ही थी। किसी

समय वे वृन्दावन धाम गये थे। भगवान् कृष्णके कमनीय-विग्रहोंमें भी वे श्रीरामस्वरूपकी ही भावनाकर प्रणाम करते थे। प्रेममग्न बनकर कहा करते थे कि-सबकुछ राम ही राम है, यह श्रीकृष्ण भी राम है। वहाँके एक मंदिरमें एक भेदबुद्धिवाले पूजारीने कहा-यह तो श्रीकृष्ण हैं, श्रीराम नहीं है। यदि आपकी-सर्वत्र श्रीरामकी भावना यथार्थ है, तो इस कृष्ण-विग्रहमें हम सबको राम विग्रहका दर्शन करा देवें। गोस्वामी तुलसीदासने अपनी दृढ-अनन्य प्रेममयी-राम भावना में यथार्थत्व सिद्ध करनेके लिए-ही भगवान् से इसप्रकार प्राथना की—

कहा कहुँ छबि आजकी, भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नमे, जब धनुष बाण लो हाथ॥

प्रार्थना सुनकर श्रीभगवान तुरन्त ही—

मुरली-मुकुट दुरायके, धनुष-बाण लियो हाथ।
अपने जनके कारणे, श्रीकृष्ण भयो रघुनाथ॥

कुछ लोग कहते हैं कि-हमारे अमुक संप्रदायका यह सिद्धान्त है कि-‘**अन्याश्रयो न कर्तव्यः।**’ इसलिये हम अपने आराध्य-देव श्रीकृष्णसे अन्य किसीभी राम-शिव आदि देवका नाम भी नहीं लेते, न नमस्कार ही करते हैं। ऐसा करनेमें ‘अन्याश्रय’ नामका अपराध हो जाता है। इसीलिए ही तो श्रीगीतामें भक्तिके लिये अनन्य-विशेषण दिया गया है। इसका मतलब है कि-अन्य किसीभी देवकी भक्ति नहीं करनी चाहिये। क्योंकि-अनन्यभक्ति-पतिव्रता नारीकी जैसी होती है। जिस-प्रकार पतिव्रता-नारी अपने प्रियतम-पतिका ही सेवन करती है, किसी अन्य पुरुषका रागपूर्वक मुखतक देखनाभी पसंद नहीं करती। इसलिये

हम अन्याश्रय नहीं करते हैं ।

उनका कहना कुछ अंशमें यथार्थ है–परन्तु अपने वेदादि–शास्त्रोंके अनुसार विचार करना चाहिये कि–समस्तविश्वका कर्ता, धर्ता, एवं हर्ता एक ही तो परमेश्वर है, उस एक ही परमेश्वरके सभी नाम हैं एवं समस्त रूप हैं, उस एक–परमेश्वरसे अन्य किसी परमेश्वरकी सिद्धि ही नहीं है । अतएव हमारे सभी शास्त्रोंमें एकेश्वरवादका वर्णन है, अनेकेश्वरवादका नहीं । अतः प्रथम आप अन्य–ईश्वरकी सिद्धि करें, तब ही अन्याश्रयत्वका प्रतिषेध कर सकते हैं । **प्राप्तौ सत्यां निषेधः, प्राप्त्यभावे कस्य निषेधः स्यात् ?** अर्थात् उसमें तदन्यत्वकी प्राप्ति हो जाय, तभी ही तो उसका निषेध हो सकता है, जब प्राप्ति ही नहीं है, तो किसका निषेध होगा ? । इसलिये आप श्रीकृष्णभक्त हैं तो सर्वत्र–एवं सभी विग्रहोंमें श्रीकृष्णकी ही भावना करें, राम--शिव आदिको भी श्रीकृष्ण ही समझकर प्रणाम करें, राम शिव आदि सभी नाम श्रीकृष्णके ही हैं, ऐसा निश्चय करें । श्रीकृष्ण महान् हैं, विश्वात्मा हैं, समस्तदेवतामय हैं, एवं अपरिच्छिन्न-विभु-हैं--वे छोटेसे नहीं हैं । जो महान् होगा, वह छोटा भी भक्तोंके लिए होसकता है--जिसके समीप एक हजाररुपये हैं-- उसके समीप सौ भी है, दोसौ भी है । अधिकसंख्यामें न्यूनसंख्याका अन्तर्भाव हो जा सकता है । परन्तु न्यूनमें अधिकका समावेश नहीं होसकता । उसप्रकार जो महान् है--वह छोटा भी है, परन्तु जो छोटा ही होगा, वह महान् नहीं बन सकता । जो निखिलभुवनाधिपति है, वह अयोध्याधिपति भी कहा जा सकता है । परन्तु जो केवल अयोध्याधिपति ही है-वह निखिलभुवनाधिपति नहीं होसकता । इसलिये बादरायण-मुनिने श्रीमद्भागवतमें

यह सिद्धान्त निश्चित किया है कि--**भगवद्रूपमखिलं नान्यद्वस्त्विह किञ्चन।**' (१०।१५।५६) अर्थात् यह अखिल विश्व भगवद्रूप ही है, यहाँ तदन्य कुछ भी वस्तु नहीं है। अनन्यभक्तिका भी यही स्वरूप है कि--आराध्यदेवसे अन्य कुछ नहीं है, वही सर्वत्र भरपूर है, हाजरा-हजूर है। वह बहुरूपिया है, वह एक ही अनेक प्रकारकी पोशाकें पहिनकर दर्शन दे रहा है। पतिव्रता नारीके समक्ष--उसका पति कभी ब्राह्मणकी सात्त्विक पोशाक, कभी क्षात्रयकी राजस पोशाक, कभी सेठकी बढिया-पोशाक, कभी जेन्टलमेनी पोशाक, एवं कभी खद्दरकी कांग्रेसी पोशाक, इत्यादि अनेकोंपोशाकें पहिनकर आवे, तो वह भिन्न-भिन्न पोशाकवाले अपने पतिको एक हीं समझेगी कि-अनेक ?। यदि वह बुद्धिमती है तो--यही निश्चय करेगी कि--यह भिन्न-भिन्न पोशाकवाला मेरा वही एक पति है, अन्य नहीं है, ऐसा समझकर सभी पोशाकोंमें अवस्थित उस एकका ही आदर-सत्कार करेगी।

इसलिए सभीनामोंमें एवं सभी देवोंके रूपोंमें उस एक को ही अनन्य-प्रेममयी भावनाकर तन्मय होजाना ही अनन्यभक्ति है, यही समस्त-शास्त्रोंका सिद्धान्त है, यही श्रद्धालु आस्तिकको मानना चाहिये। अपनी बुद्धिको बेचकर शास्त्रविरुद्ध किसी मतमतान्तरकी पूंछ नहीं पकडनी चाहिये।

तथापि जो शास्त्रोंके इस महान्-उदार सिद्धान्तको नहीं जानते हैं; जिनके अन्तःकरण सांसारिक-अनेकविध कामनाओंसे संयुक्त होनेके कारण-अशुद्ध हैं, एवं जो अपनी तत्तत्कामनाओंको सफल बनानेके उद्देश्यसे तत्तद्देवताओंकी श्रद्धासे पूजा करते हैं। उन अज्ञ-मानवोंके

हृदयकी श्रद्धाको अन्तर्यामी विश्वात्मा भगवान् ही स्थिर बनाते हैं—और उस उस देवताकी आराधनाका वह वह फल भी स्वयं प्रदान करते हैं।

इससे 'श्रीभगवान् ही सर्व देवतामय, विश्वप्रेरक एवं विश्वात्मा हैं, तथा श्रीभगवान् ही विश्वमें सब कुछ देता है, एवं लेता है, दिया भी उसीने ही है, लिया भी उसीने ही है। देगा भी वही, लेगा भी वही, यह सब कुछ उसीका ही है, यह समग्र विश्व उसीका ही खेल तमाशा है, वही इसमें अनेकों विस्मयकारी रूप बनाकर अभिनय कर रहा है; उससे अन्य कुछ नहीं, वही सर्वत्र अनन्यरूपसे दीख रहा है।' यह उदार—एवं श्रद्धेय सिद्धान्त प्रकट होजाता है। हरिः ॐ तत्सत्।

(२३)

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसां।
देवान्देवयजो यान्ति, मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ (७।२३)

परन्तु उन अल्पबुद्धिवालोंका वह फल नाशवान् है, तथा वे देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं, और मेरे भक्त, मुझको प्राप्त होते हैं।

आनन्दनिधि भगवान् श्रीकृष्ण, अर्जुनके प्रति अपने भक्तोंकी एवं अन्य—देवताओंके भक्तोंकी विलक्षणता बतलाते हैं। देवताओंके भक्त, अल्पमेधावाले होते हैं, और मेरे भक्त-अनल्प-मेधा-वाले। अल्पमेधा यानी मन्दप्रज्ञा, जिसमें अल्पानल्प—वस्तुविवेकका सामर्थ्य नहीं होता। इसलिये वह भ्रान्तिवश, अल्प(सान्त) अर्थको ही अनल्प(अनन्त)रूपसे निश्चयकर धारण करती है। और जो प्रज्ञा, शास्त्र एवं सद्गुरुके सहकार द्वारा अनल्प अर्थात् अनन्त महान्—पारमार्थिक—वस्तुका निश्चयकर

धारण करती है, वह अनल्पमेधा कहलाती है। अल्पमेधावाले अल्प यानी अन्तवान् फलको प्राप्त करते हैं, तो अनल्पमेधावाले अनल्प यानी अनन्त फलको प्राप्त करते हैं। जैसी मेधा, वैसा फल। अल्पमेधावालेको अनल्पफल प्राप्त नहीं होता, तो अनल्पमेधावालेको अल्पफल।

जो पदार्थ अल्प यानी परिच्छिन्न-छोटा-सा होता है, वह नियमतः अन्तवान् यानी—मर्त्य(मरणधर्मा)—विनाशी एवं शाश्वत-सुखरहित होता है। तथा जो पदार्थ अनल्प यानी अपरिच्छिन्न—महान्—पूर्ण होता है, वह नियमतः—अमृत—अविनाशी तथा आनन्दपूर्ण होता है। श्रुति भी ऐसा ही कहती है—**'यदल्पं तन्मर्त्यं, नाल्पे सुखमस्ति।' यो वै भूमा तत्सुखं, भूमैव अमृतं'** (छां० ७। २३। १) भूमाका अर्थ है-अपरिच्छिन्न—महान्—पूर्ण—वस्तु—चिदात्मा।

अल्पपदार्थ है—ब्रह्मलोकपर्यन्त समग्र संसार। इसके सभी फल क्षण-भंगुर ही होते हैं। शाश्वत फल कोई भी नहीं होता। हँसना—रोना, खाना-पीना; आना—जना, जाना—मरना, लेना—देना, सुख—दुःख, आदि सभी फल अन्तवाले ही प्रतीत होते हैं। इसलिये भगवान्ने गीतामें कहा है कि—**'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन!।'** (८। १६) अर्थात् हे अर्जुन! ब्रह्मलोकसे लेकर सब लोक पुनरावर्ती स्वभाववाले हैं, अर्थात् जिनकी प्राप्ति शाश्वत नहीं होती, क्योंकि-वे सब कालपरि-च्छिन्न होनेके कारण अनित्य हैं। ब्रह्मलोकाधिपति—ब्रह्माजीका जीवन, यद्यपि हम लोगोंकी अपेक्षा वहुत ही लम्बाचौड़ा होता है। जिसके मास एवं वर्षकी तो क्या बात? किन्तु—एक दिवस भी इतना बडा दीर्घ होता है कि—**'चतुर्युगसहस्राणि ब्रह्मणो दिनमुच्यते।'** अर्थात् हमारे

चार हजार युग जब समाप्त होजाय, तब ब्रह्माजीका एक दिवस पूरा होता है। यहाँकी तो यह दशा है कि—एक युग भी कई लाखों वर्षोंका इतना लम्बा चौडा दीखता है कि—जिसका ठिकाना नहीं, तब चार हजार युगकी तो बात ही क्या करनी ?। जितना चार हजार—युगका दिन, इतनी ही ब्रह्माजीकी रात्रि होती है । उस प्रकारके दिनोंकी एवं मासादिकोंकी गणनाकर पूरा सो वर्ष ब्रह्माजीका जीवन होता है। ब्रह्माजीकी रात्रि होने पर हमारे यहाँ खण्ड (नैमित्तिक) प्रलय होजाता है—इसमें समग्र पृथिवी जलमें डूब जाती है। दिवस होने पर वह डूबी हुई पृथिवी पुनः निकल आती है; और नवीन मानवादि-सृष्टिका निर्माण होता है। ब्रह्माजीके इस दीर्घतम जीवनके समक्ष हम मानवोंका जीवन तुच्छ—मच्छरों जैसा क्षणभंगुर प्रतीत होता है । इसलिये मानवोंके इस लोकका नाम शास्त्रोंमें '**मर्त्यलोक**' रक्खा गया है । यहाँके निवासियोंके जीवनका कुछ भरोसा नहीं, कौन जाने? किस क्षणमें यह जीवन-दीप बुझ जाँय ?। अतः बाहर निकला हुआ श्वाँस पुनः वापस भीतर जायगा ही? ऐसा निश्चित कौन कह सकता है ?। और स्वर्गादि—उत्तम लोकोंके निवासी देवगणोंको अपने जीवनकी अवधिका ज्ञान रहता है। इसलिये वे अपने जीवनको देखकर इसप्रकार हरदम शोकसन्तप्त बने रहते हैं कि—हाय ! स्वर्गका उपभोग करते हुए हमारा इतना जीवन चुटकी बजानेके समान, पता ही नहीं चला—कब नष्ट होगया, अब इतना ही जीवन परिशिष्ट रह गया है, वह भी नदीके प्रवल—वेगके समान चला जा रहा है। बहुत गई थोडी रही, थोडी भी अब्र जाय । जीवन समाप्त होजाने पर स्वर्गसे हमारा पतन होजायगा, स्वर्गकी ये सुन्दरियाँ हमें

अतृप्त ही छोड़कर हमसे अलग होजायेंगी। नन्दनवनके रमणीय–पुष्पोंसे बनी हुई–एवं दिव्य सुगन्धिसे भरी हुई--ये अम्लान मालाएँ तुरन्त ही मुरझाँ जायेंगी। हमारा यह परम सुन्दर दिव्य देह भी बरफके समान गल जायगा। ये उत्तम विमान, बढिया वाजिंत्र, गान-तान आदि सब शान शौकिनी स्वप्नके समान गायब हो जायगी। हाय रे! दिव्य–सुखपूर्ण-जीवनकी समाप्तिका दिन बहुत ही समीप आ रहा है। इस-प्रकार देवोंको भावि-वियोगकी शोकाग्नि सदा जलाती रहती है। और पुण्योंका क्षय होजाने पर साधारण देवोंकी तो क्या बात? किन्तु वडे बडे–इन्द्रादि–देवोंकी भी दुर्गति होजाती है। ऊपरसे नीचे गिर जाना पडता है। अमीरी छोड़कर रङ्क बनना पडता है। गुलगुले रसीले गुलाब–जामुन छोडकर ज्वारका बासी सुखा रोटला चबाना पडजाता है। वे देव सदाके लिए स्वर्गमें नहीं रह सकते। जैसे टिकिटकी अवधि समाप्त होने पर मुसाफिरको गाडीसे उतर जाना पडता है–वैसे पुण्यकी अवधि समाप्त होने पर स्वर्गसे उन्हें अलग होना ही पडता है। अतः भगवान्‌ने गीतामें यही कहा है–'**क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।**' (९।२१) अर्थात् पुण्य क्षीण होने पर स्वर्गसे देवोंका भी मर्त्यलोकमें आना होता है।

और देवोंके स्वर्गीय–जीवनमें भी अक्षय-शान्ति नहीं होती। क्योंकि–आत्मज्ञानके विना, चाहे वह देव हो, दानव हो, या मानव हो, कोई भी क्यों न हो? शोकनिवृत्तिरूपा-अक्षयशान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। आत्मज्ञानसे ही पराशान्तिकी प्राप्ति होती है। भगवान् भी गीतामें यही कहते हैं–**ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।**' (४।३९) अर्थात् ज्ञान प्राप्त करके ही यह जीव शीघ्र ही परम–शान्ति

प्राप्त कर लेता है। अतः वे स्वर्गके निवासी देव होनेपर भी आत्मज्ञान न होनेके—कारण हरदम अशान्त बने रहते हैं। उनके हृदयभवनमें राग—द्वेषादि—सांसारिक—द्वन्द्वोंकी होली हरदम भभकती रहती है। यह सर्वत्र प्रायः देखा गया है कि—जहाँ अधिक वैभव होता है, वहाँ संताप भी अधिक ही होता है। ग्रामीण-किसान जिसप्रकार शान्तिसे खुर्राटा—तानता हुआ सोजाता है, उसप्रकार शहरका जैन्टलमैन—नहीं सो पाता। शहरका बाबू बदहजमीके कारण रुचिपूर्वक भोजन भी नहीं कर पाता, किन्तु ग्रामीण मजदूर बदहजमी क्या चीज है? उसे जानता भी नहीं। और वह सूखे टिक्कडोंके द्वारा मोहन—भोगके स्वादका सुख प्राप्त करता है। इससे हम यह निश्चय कर सकते हैं कि—स्वादका सुख उत्तम भोजनमें नहीं है, किन्तु उत्तम भूखमें है, एवं निद्राका सरससुख, मखमली गद्दोंमें नहीं है, किन्तु हृदयकी निश्चिन्ततामें है।

जिसप्रकार यहाँके धनीलोग, अपनेसे कम धनवान्को देखकर गर्व करते हैं, एवं अभिमानसे कहते हैं कि—अरे! इस नाचीज—के पास क्या है? एक तूटीसी मोटर एवं एक भद्दासा—बंगला। मेरे समीप तो बढिया—बढिया पांच कारें हैं—तथा तीन सुन्दर बंगले हैं। मेरे समक्ष यह वेचारा क्या चीज है? मैं अमुक मीलका मालिक हूँ, लख-पति क्या करोडाधिपति हूँ? ऐसा हूँ, वैसा हूँ। उसप्रकार स्वर्गीय देव भी अपनेसे कम वैभववाले देवोंको देखकर गर्वोन्नत—बन जाते हैं। देवलोकोंमें भी सुन्दर-उपवन, रमणीय—सरोवर, दिव्यप्रासाद, बढिया—लहज्जतदार—सुरा, सरस—अमृत एवं रूपयौवनगर्विता—दिव्य—सुन्दरि-

योंकी भरमार रहती है। मुसलमान भी कहते हैं कि—जिन्नतमें हूरें रहती हैं, एवं शराबके झरणें बहते हैं। आमोदप्रमोदके लिये अपने-अपने न्यूनाधिक-पुण्यके अनुसार किसी देवके समीप ५—७ अप्सराएँ तथा ३—४ विमान रहते हैं, तो किसीके समीप २—३ अप्सराएँ तथा १—२ विमान रहते हैं। अधिकवैभववाला देव, अपनी मूढताके कारण न्यूनवैभववालेको देखकर गर्व एवं अभिमान करे, तो इसमें आश्चर्यकी कौनसी बात है? और वह न्यूनवैभववाला देव, उस अधिकवैभववाले-देवसे ईर्ष्या एवं द्वेष करे, यह भी अनिवार्य ही है। इसप्रकार देवोंके जीवनमें भी अनेकप्रकारके राग—द्वेष—काम क्रोध लोभ आदि दोष भरे रहते हैं। वहाँ वास्तविकी शान्ति एवं अखण्ड—आनन्द कैसे रह सकता है? नहीं रह सकता।

जिसप्रकार ४ या ५ घण्टेके कड़े परिश्रमसे षड्रसयुक्त-विविध भोजन बनाया, परन्तु उसके स्वाद--सुखका अन्त एक क्षणमें ही होजाता है। एक—दो घण्टे तक भी उस भोजनका स्वाद नहीं रहता। गलेके नीचे उतरते ही स्वादसुख समाप्त होजाता है। वही भोजन किसीकारण-वश भीतरगया हुआ बाहर आजाय, अर्थात् वमन होजाय, तो उसमें--जानेके समयका जो स्वाद सुख था, वह नहीं रहता, प्रत्युत-बेस्वादका दुःख रहता है। उसप्रकार स्वर्गीय-दिव्य-उपभोगोंका सुख भी क्षणिक ही होता है। प्रारम्भमें वे भोग सरसरूपसे प्रतीत होने पर भी परि-णाममें विरस होजाते हैं। इसलिये स्वर्गीय फल भी अन्तवान् ही निश्चित होते हैं। क्योंकि--कर्मजन्य फल, शाश्वत कभी नहीं होता। '**यत्कृतकं तदनित्यं**' यह न्यायशास्त्रकी व्याप्ति है—अर्थात् जो फल कर्मजन्य होता

है, वह नियमतः अनित्य ही होता है । भगवती श्रुति भी यही कहती है—

'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते,
एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते ।' (छां. ८।१।६)

अर्थात् जिसप्रकार कृष्यादि कर्मसे सम्पादन किया हुआ—सस्यादि लोक क्षीण होजाता है, उसीप्रकार पुण्यकर्म द्वारा सम्पादित—स्वर्गादि लोक भी क्षीण होजाता है, स्थायीरूपसे नहीं रहता ।

कर्म चार प्रकारके होते हैं । १ शुक्ल, २ कृष्ण, ३ शुक्लकृष्ण-मिश्र एवं, ४ अशुक्ल—अकृष्ण । इनमें ज्ञानयोग रहित—अज्ञानियोंद्वारा प्रथमके तीन कर्म होते हैं । शास्त्रविहित—पुण्यकर्मका नाम शुक्लकर्म है, देवताओंकी उपासनाकाभी शुक्लकर्ममें अन्तर्भाव माना जाता है । इनके द्वारा मानव ऊर्ध्व—लोकोंमें जाता है । शुक्लकर्मका विशेष उत्कर्ष होने पर वह ब्रह्मलोकमें जाता है । ब्रह्मलोकके नीचेभी सूर्य, चन्द्र, विद्युत् आदि अनेक लोक हैं । वे भी पुण्योंके अनुसार प्राप्त होते हैं । कृष्ण-(पाप) कर्मोंकी अधिकता हो जानेपर वह कूकर—शूकर—बिल्ली—बंदर आदि नीच--योनियोंको प्राप्त होता है । एवं शुक्ल—कृष्णकर्मोंकी समानता होने पर इसे इस मर्त्य-लोककी प्राप्ति होती है । समानताका तात्पर्य है कि--इतने अधिक शुक्लकर्म नहीं हैं--कि जिनसे ऊपरके देवलोकोंमें वह जासके एवं इतने अधिक—कृष्णकर्म नहीं हैं—कि जिनसे नीचे पशु—पक्षियोंकी योनियोंमें जासके । अत एव महात्मा तुलसीदासने कहा है—

कर्मप्रधान विश्व रचि राखा, जो जस करे तास फल चाखा ।

कर्मके इसनियमसे पाश्चात्योंके विकास—वादका खण्डन हो जाता है । विकासवादी कहते हैं कि—मनुष्य आगे ही आगे बढते रहते हैं,

बढे हुए कभी पीछे नहीं हटते। जिसप्रकार स्कूलमें पढनेवाला लडका, आगेकी ही कक्षाओंमें बढता रहता है, बी० ए० के बाद एम्० ए० होता है और शास्त्रीके बाद आचार्य होता है। परन्तु ऐसा कभी नहीं होताकि—एम्० ए० में गया हुआ लडका पीछे बी० ए० में वापस आजाय। १० वर्षका लडका, २० वर्षका जवान हो जाता है, आगे बढता हुआ वह ४०) वर्षका अधेड (प्रौढ) बन जाता है, परन्तु वह ४० वर्षकी आयुके बाद २०) वर्षकी आयुको पुनः प्राप्त नहीं कर सकता। उसी प्रकार मनुष्य बना हुआ जीव, कभी पशु नहीं बन सकता। हां! पशुसे मनुष्य तो बन सकता है। क्योंकि—पशु यह पीछेकी कक्षा है एवं मनुष्य आगेकी। पीछेसे आगे जा सकता है; परन्तु आगेसे पीछे नहीं आसकता। हां, मनुष्यसे देव बन सकता है; क्योंकि—देवयोनि, आगेकी कक्षा है। परन्तु देव बना हुआ मनुष्य नहीं बन सकता।

यदि ऐसा विकासवाद मान लिया जाता है तो शुक्लकृष्ण कर्मका कोई निर्णय नहीं रहता। शुभ कर्म करनेवाला भी आगे बढेगा; और खराब कर्म करनेवाला भी आगे बढेगा, इस हिसाबसे तो किसीको शुभ कर्म करनेकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी। सबलोग भोग—विलासोंमें ही आसक्त बने रहेंगे। क्योंकि—इस अंधेर--नगरीमें दुष्कर्म और सत्कर्म करनेवाले दोनों एक ही दण्डेसे एक ही रास्ते पर हाँके जाते हैं—'**टके शेर भाजी टके शेर खाजा**'वाली कहावत इसमें चरितार्थ होजाती है।

इसलिये—हमारे पूज्य महर्षियोंने कहा है कि—

'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्, अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते

कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा।'(छां०५।१०।७)

अर्थात् शास्त्रविहित—रमणीय आचरणवाले लोग, शीघ्र ही रमणीय—(मनुष्य—देवादिकी) योनिको प्राप्त होते हैं, और जो शास्त्रप्रतिषिद्ध कपूय यानी निन्दित कर्म करनेवाले नीच लोग हैं, वे कुत्तेकी या सूकर आदिकी कुत्सित--योनिको प्राप्त होते हैं। इसलिये यह कभी नहीं माना जा सकता है—कि मनुष्य अपने खराब—आचरण द्वारा पशु नहीं होगा, और पुण्यके क्षीण होजाने पर देवता मनुष्य नहीं बनेगा। अर्थात् पापकर्म द्वारा मनुष्य जन्मान्तरमें पशु भी बन जासकता है, एवं पुण्य क्षीण होजाने पर देवता मनुष्य भी बन सकता है। आगे बढा हुआ जीव कर्मोंके अनुसार पीछे भी आसकता है। इसलिये विचारकोंकी दृष्टिमें विकासवाद कभी प्रामाणिक सिद्ध नहीं होता। अतएव यह गीताका नियम है कि—

'तं तमेवैति कौन्तेय! सदा तद्भावभावितः।' (८।६)

अर्थात् मनुष्यकी जैसी भावना एवं जैसा कर्म होगा, वैसा ही उसे फल भी मिलेगा। **'अन्तकाले या मतिः सा गतिः।'** जिस प्रकार मनुष्य अच्छी एवं बुरी संगतिसे अच्छा एवं बुरा बन जाता है, उस प्रकार अच्छी एवं बुरी भावना एवं कर्मोंका अच्छा एवं बुरा फल मिलना ही चाहिये। यह एक न्यायोचित बात है।

हमारी बुद्धि खाली थैले जैसी है, जिस प्रकार खाली थैलेमें, सोना, चांदी, आटा, दाल आदि जो कुछभी हम भरना चाहें—भरसकते हैं, उस प्रकार बुद्धिमें भी शुभाशुभ संगति—कर्म आदिके द्वारा जोभी अच्छे—बुरे भाव भरना चाहें—भर सकते हैं, और भावोंके अनुसार—शुभा-

शुभ--फलोंका भी निर्माण कर सकते हैं। हमारी बुद्धि जिसका अध्य-वसाय (दृढ—निश्चय) कर लेती है, उसीमें ही उसकी निष्ठा होजाती है। चाहे वह अध्यवसायका विषय, हितकर हो या अहितकर। और उसकी जिसमें—निष्ठा होगी, अल्पमें या अनल्पमें, उसे वही फल प्राप्त होगा। इस प्रकार हमारी बुद्धि, अपने—अल्प या अनल्प फलके निर्माणमें स्वतन्त्र है। व्याकरणशास्त्रके आचार्य पाणिनि मुनि कह गये हैं—कि—**स्वतन्त्रः कर्ता**। आप एक स्टेशन पर पहुँचे हैं—दोनों तरफ साईनबोर्ड लगे हैं—एकमें लिखा है कि—यह स्वर्गकी उत्तम गाडी है, दूसरेमें लिखा है कि—यह नरककी कुत्सित गाडी है। अब आप स्वतन्त्र हैं—जिसमें बैठना चाहें, बैठ सकते हैं। स्वर्गकी उत्तम गाडीमें बैठकर आप अपनेको सुखी भी बना सकते हैं, या नरककी निन्दित—गाडीमें बैठकर अपनेको दुःखी भी बना सकते हैं। सुख या दुःखका देनेवाला अन्य कोई नहीं, आप ही अपनेको सुख देते हैं, एवं आप ही अपनेको दुःख। आप ही अपने मित्र हैं, और आप ही अपने शत्रु। और तत्त्वदर्शी—अनन्य भक्तके अशुक्ल—अकृष्ण कर्म होते हैं। क्योंकि—वे पूर्ण असंग एवं देहादियोंके अहं—मम भावसे रहित हो चुके हैं, इसलिए—वे पुण्य—पापसे कुछ सम्बन्ध नहीं रखते। वे शरीरदृष्टिसे कर्तव्यका पालन करते हुए भी सदा स्वात्माराम—निर्द्वन्द्व—एवं आनन्दमग्न बने रहते हैं।

दो भाई थे, एकका नाम धीरु एवं दूसरेका नाम भीरु। कौन जाने कबसे? वे एक गहन—विशाल अरण्यमें चक्कर काट रहे थे। वहाँ वे अनेक प्रकारके कष्ट पाते थे। कभी वे कांटोंवाली झाडीमें उलझ जाते थे, जहाँसे वे महामुशिक्ल्तसे निकल पाते थे। कभी वे किसी—

चिक्कन-पंकपूर्ण गड्डेमें गिरकर फँस जाते थे। कभी उनको सर्प, बिच्छु, भालु, बाघ आदि जानवर भी बहुत हैरान करते थे। इस प्रकार वे दो भाई उस अरण्यमें दीर्घकाल तक-कष्ट भोगते भोगते, अच्छे-भाग्यसे एक रमणीय स्थान पर पहुँचे। उसको देखकर वे दोनों भाई बहुत ही प्रसन्न हुए। उस स्थानमें एक सुन्दर-कर्तव्यनिर्देशक साईनबोर्ड लगा था। उसमें लिखा था-कि-' ऐ मुसाफिर ! तेरे बडे अच्छे भाग्य हैं, इसलिये तू यहाँ आसका है, सभी लोग यहाँ नहीं आसकते। यहाँ आकर तू उस समीपस्थ उपवनसे सावधान रहना, जिसके पुष्प एवं फल बड़े मोहक एवं आकर्षक प्रतीत हो रहे हैं, यदि तू वहाँ जायगा, और उसके आपातरमणीय-पुष्पोंकी सुगन्धि लेगा तो तू बेभान होजा-यगा। और उसके मनोहर दीखनेवाले फलोंको खायेगा तो तू मर-जायगा, और तुझे इस स्थानसे एकदम नीचे गिरा दिया जायगा। इसके पुष्पोंको सूँघकर बेभान बनेहुए एवं फलोंको खाकर मृत-प्राय हुए हजारों व्यक्तियोंको तू वहाँ अपनी आंखोंसे देख सकता है। इसलिये तू उस उपवनसे सावधान रहना। और यहाँ तू इसलिये आया है-कि-तेरे सभी क्लेश सदाके लिए नष्ट होजाँय, तथा परम सुखधामका शाश्वत लाभ हो। अत एव-तू अपने उस महान्-प्रयोजनको सिद्ध करनेके लिए-अपने मैले-पुराने-फटे कपडोंको उतार कर, दिगम्बर बनकर इस सुन्दर सरोवरके स्वच्छ-मधुर-शीतल अमृतमय-जलमें कूद पडना, किसी प्रकारसे डरना मत, डूब जानेकी शंका मत रखना। इसके जलमें अवगाहन करने पर तेरे सभी संताप शीघ्र ही नष्ट होजायेंगे। तुझे दिव्य-आनन्दकी प्राप्ति होजायगी। इस सरोवरके-दिव्य-विकसित-कमलोंका

मनोरम-सौरभ पाकर तू मस्त बन जायगा। इसमें अवगाहन करता हुआ तू बडे आनन्दके साथ सामनेपार चला जायगा। वहाँ तुझे एक बडा विकराल–सिंह मिलेगा। परन्तु तू उससे भयभीत मत होना। निर्भय होकर उसके समीपमें चला जाना। यद्यपि वह दूरसे बडा भयंकर माऌम होगा, परन्तु समीपमें जाने पर वह शान्त एवं प्रसन्न दीख पडेगा। अतः निर्भय हो समीपमें जाकर तू उसके ऊपर बैठ जाना, वह तुझे बडे आरामके साथ इस पर्वतके सर्वोन्नत–शिखर पर पहुँचा देगा। वहाँ पहुँचने पर तू साक्षात्–सहस्राक्ष–महादेव बन जायगा। तेरी दृष्टि अनन्त ज्योतिर्मयी होजायगी। बडे–बडे देव तेरी महिमाके गीत गाने लगेंगे, और तेरे–ऊपर दिव्य–कुसुमोंकी वृष्टि करेंगे। और बडे–उत्सव के साथ तुझे–उस शाश्वत–आनन्दपूर्ण–पदमें सदाके लिए प्रतिष्ठित कर देंगे। तू कृतकृत्य एवं धन्य बन जायगा। इसलिये मैं तुझे उस परम–लाभकी सिद्धिके लिए यही कर्तव्यका उपदेश देताहूँ। अतः तू विश्वास रख, इसी कर्तव्य पथ पर आरुढ होजाना। याद रखना कि–इस पथसे जाकर अनेक सज्जन धन्य एवं महान् बन गये हैं।

साईनबोर्ड बांचकर दोनों भाई विचार करने लगे। भीरु कहने लगा कि–इसमें तो विपरीत ही लिखा गया है–सुन्दर पुष्प एवं मनोहर फलोंको खराब बतलाया है। पुराने कपडे उतारकर सरोवरमें कूदपडना लिखा है–वाह! ऐसा कैसे हो सकता है–कि जिन कपडोंको हम कौन जाने कबसे पहिनते चले आये हैं–उनको हम उतार कर फेंक दें, और नंगधडंग बन जाँय। और सरोवरमें कूदने पर हम अवश्य डूबकर मर जायेंगे। मान लो–कभी हम न भी डूबे और सामने पार पहुँचभी गयें

तो भी वह क्रूरसिंह हमें मारे विना नहीं रह सकता। कदाचित् वह न भी मारे तो भी वह पर्वतके शिखर पर से गिरा कर हमें चकना चूर तो बना ही सकता है। वहाँ पहुँचनेपर भी हम वैसे के वैसे ही रहगये तो कौन जिम्मेदार है?। इसलिए इस साईनबोर्ड के उपदेशोंमें विश्वास नहीं किया जा सकता। और इस उपवनका प्रत्यक्ष लाभ छोड़कर उस परोक्ष–संकटपूर्ण लाभके लिए प्रयत्न करना कहाँकी बुद्धिमत्ता है?। ऐसा कहकर वह भीरुभाई उस उपवनकी तरफ जाने लगा। परन्तु वह दूसरा धीरुभाई सोचने लगा कि–इस साईनबोर्डमें जो कुछ लिखा है–वह यथार्थ ही मालूम पड रहा है। कपडे उतारनेकी बात भी सच्ची ही लिखी है। क्योंकि–इन भद्दे गन्दे–फटे कपडोंसे बडी खराब दुर्गन्धि आरही है, अतः इनका उतारना हितकर ही है। कई सज्जन, कपडे–उतारकर इस सरोवरमें कूदकर बडे आनन्दित हो रहे हैं, और वे हमें भी इसमें कूद पडनेका इशारा कर रहे हैं। इसलिए इसमें भीरुभाईके समान अविश्वास रखना मूर्खता है। उस आपात–रमणीय उपवनकी तरफ जाना ही मूर्खता है। ऐसा सोचकर वह विवेक विचारवान्–धीरुभाई अपने फटे गंदे–कपडे एकएक करके–उतारकर फेंकने लगा। और दिगम्बर बनकर सरोवरमें कूद पड़ा। अमृतमय–सरोवरके अवगाहन का आनन्द लेता हुआ वह सामने पार पहुँच गया, और हिम्मत रख-कर सिंहके समीप जाकर उसके ऊपर आरुढ हो गया। और वह सिंहके द्वारा समुन्नत–शिखर पर पहुँच कर साक्षात् महादेव बन गया, और वह परमानन्दपूर्ण–शाश्वतपदमें सदाके लिए प्रतिष्ठित हो गया। और उस उपवनकी सैर करने वाले भीरुभाईकी बडी ही दुर्दशा हो गई।

एक भाईने अपनी बुद्धिका सदुपयोग कर अपने आपका उद्धार किया, और दूसरे भाईने बुद्धिका दुरुपयोग कर अपना पतन कर दिया।

इस दृष्टान्तका यह सिद्धान्त है। सिद्धान्तमें कष्टदायक गहन अरण्य, चौरासीलक्षयोनिवाला संसार है। इसमें असंख्य जीव अनादि-कालसे चक्कर काट रहे हैं। संसारकी चौरासीलक्ष योनियाँ हमारे नेत्रोंके सामने प्रत्यक्ष हैं। इनके कष्ट भी हम थोडे—बहुत देख सकते हैं। अरण्यका वह सुन्दरस्थान, यह मनुष्य योनि है। पशु—पक्षी आदि सभी योनियोंसे इसकी उत्तमता—एवं रमणीयता प्रत्यक्ष है। यहाँका साईन-बोर्ड—वेद—उपनिषत्—गीता आदि शास्त्र हैं। मोहक—शब्दादि विषय ही इसका उपवन है। इनमें आसक्त होनेवाले मानवोंका पतन, एवं मृत्यु अनिवार्य है। नास्तिक—विवेकविचारहीन मानवका नाम भीरु है। वह अपनी मूढताके कारण शास्त्रोंके हितकर—उपदेशोंमें श्रद्धा नहीं रखता। आस्तिक—श्रद्धालु—विवेकविचारशील—सज्जनका नाम धीरुभाई है। गंदे—फटे—पुराने कपड़े, अनादिकालकी रागद्वेषमयी—दुर्वासनाएँ हैं। भगवद्भक्ति ही सुन्दर सरोवर है। वह आस्तिक सज्जन, सत्संगके द्वारा अपने दुर्वासना-रूपी कपडोंको उतारकर फेंक देता है, और पूर्ण—विश्वासके साथ भक्ति-रूपी सरोवरमें कूद पडता है। अभय—सत्त्वसंशुद्धि आदि दैवी गुण ही भक्ति—सरोवरके विकसित—सौरभाढ्य प्रशस्त कमल हैं। वैराग्यरूपी सिंह है, दूरसे वह भयावह प्रतीत होने परभी उसकी समीपता शान्ति एवं प्रसन्नता प्रदान करती है। वह सिंह हमें आत्मज्ञानके—अभ्युन्नत—शिखर पर पहुँचा देता है। वहाँ पहुँचनेपर हमारी सभी दीनता एवं हीनताएँ सदाके लिए समाप्त हो जाती हैं। जीव मिटकर हम साक्षात्

सदाशिव बन जाते हैं। एवं पुनरावृत्तिरहित ब्रह्मनिर्वाणरूप—कैवल्य धाममें प्रतिष्ठित होकर धन्य एवं कृतकृत्य बन जाते हैं।

इस दृष्टान्त एवं सिद्धान्तका तात्पर्य है—**स्वतन्त्रः कर्ता**। इधर या उधर जानेमें तथा अपनी बुद्धिका सदुपयोग या दुरुपयोग करनेमें हम पूर्णस्वतन्त्र हैं। हम अपना पतन भी कर सकते हैं, एवं उद्धार भी। हमारी बुद्धि अपने इष्ट या अनिष्ट फलके निर्माणमें स्वतन्त्र है। यदि हमने अपनी बुद्धिअल्प—तुच्छ संसारमें लगा दी तो हमें वही अल्प—अन्तवान् फल प्राप्त होगा, एवं यदि उसको अनल्प—परमात्मामें लगा दिया तो हमें अनल्प—अनन्त फल प्राप्त होगा। अल्प—संसारमें असक्त होनेवाली एवं साधारण—देवोंमें निष्ठा रखनेवाली बुद्धिका नाम अल्पमेधा है। और अनल्प—परिपूर्ण भगवत्तत्त्वमें निष्ठा रखनेवाली बुद्धिका नाम अनल्प-मेधा है। इसी मेधाको गीताके द्वितीयाध्यायमें स्थित—प्रज्ञा तथा योगशास्त्रमें ऋतंभराप्रज्ञा कहा है। यह प्रज्ञा परिच्छिन्न—आरोपित —नामरूपोंका बाधकर सर्वत्र उस एक—अद्वय—चिन्मय—निर्विकार—आनन्दपूर्ण—प्रत्यगभिन्न—ब्रह्म तत्त्वका ही अवलोकन करती हुई निर्द्वन्द्व—एवं मस्त बनी रहती है। समस्त—देव भी उसे एक—अद्वय ब्रह्मरूप ही प्रतीत होते हैं। उस पूर्णतत्त्वसे वह देवोंको पृथक् नहीं मानती। अत एव शुक्लयजुर्वेद—संहितामें भी उस ब्राह्मीस्थितिवाली अनल्पमेधाकी उदार—भावनाका वर्णन इस प्रकार किया है कि—

'अग्निश्च म इन्द्रश्च मे सोमश्च म इन्द्रश्च मे सविता च म इन्द्रश्च मे सरस्वती च म इन्द्रश्च मे पूषा च म इन्द्रश्च मे बृहस्पतिश्च म इन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। मित्रश्च म

इन्द्रश्च मे वरुणश्च म इन्द्रश्च मे धाता च म इन्द्रश्च मे त्वष्टा च म इन्द्रश्च मे मरुतश्च म इन्द्रश्च मे विश्वे च मे देवा इन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। पृथिवी च म इन्द्रश्च मेऽन्तरिक्षं च म इन्द्रश्च मे द्यौश्च म इन्द्रश्च मे समाश्च म इन्द्रश्च मे नक्षत्राणि च म इन्द्रश्च मे दिशश्च म इन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥' (य० वे० १८। १६-१७-१८)

अर्थात् अग्नि भी इन्द्र है, सोम भी इन्द्र है, सविता भी इन्द्र है, सरस्वती भी इन्द्र है, पूषा भी इन्द्र है, बृहस्पति भी इन्द्र है, वे सब इन्द्र-परमात्म-स्वरूप अग्नि-आदि देव, ज्ञान-यज्ञके द्वारा मेरे अनुकूल हों, अर्थात् मेरी ब्रह्माद्वय-भावना की स्थिरतामें सहायक हों। मित्र भी इन्द्र है, वरुण भी इन्द्र है, धाता भी इन्द्र है, त्वष्टा भी इन्द्र है, मरुत् भी इन्द्र है, विश्वदेव भी इन्द्र है, वे सब इन्द्ररूप-अद्वय ब्रह्म-भावनासे भावित-देव, यज्ञके द्वारा मेरे अनुकूल हों। पृथिवी भी इन्द्र है, अन्तरिक्ष भी इन्द्र है, द्यौ यानी स्वर्ग भी इन्द्र है, समा यानी संवत्सरका अधिष्ठाता-देव भी इन्द्र है, नक्षत्र भी इन्द्र हैं दिशाएँ भी इन्द्र हैं, वे सब इन्द्राभिन्नदेव ज्ञान-यज्ञके द्वारा मेरी-अद्वय ब्रह्मभावनाके रक्षक हों।

यजुर्वेदके इन मन्त्रोंमें-इन्द्र-परमात्मा, उन परिगणित समस्त देवोंका अन्तर्यामी है-अतः इन्द्र ही सर्व देवता है। उस एक अद्वय -ब्रह्मस्वरूप-इन्द्र में ही समस्त देवता उसकी विभूति-विशेष या शक्ति-विशेषरूपसे अवस्थित हैं, इसलिए उस-अधिष्ठानरूप इन्द्रसे वे देवगण, वस्तुतः पृथक् नहीं हैं। इसी विमल-वैदिकसिद्धान्तका प्रदर्शन

करनेके लिए–अग्न्यादि–देवसमुदायमें सर्वेश्वरत्व–प्रत्यगभिन्नब्रह्मत्वादि लक्षणवाले–इन्द्रत्वका प्रतिपादन किया गया है।

और उनमें '**तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वं**' न्यायके द्वारा अग्नि, सोम, सविता आदि देवोंका भी परस्पर अभिन्नत्व प्रदर्शित किया है। जिस प्रकार घटसे अभिन्न मृत्तिका है, और मृत्तिकासे अभिन्न शराव है, इसलिये शरावका घटसे भी अभिन्नत्व माना जासकता है। उस प्रकार अग्निसे अभिन्न इन्द्र–परमात्मा है, एवं उससे अभिन्न सोम है, इसलिए अग्नि–एवं सोमका भी परस्पर अभेद होजाता है। अतएव उन अग्नि–सोमादिकोंके परस्पर भेदका निराकरण करनेका तथा एकही पूर्णतत्त्वमें सर्वेश्वरत्वका ज्ञापन करानेका अभिप्राय रखकर, अग्नि आदि प्रत्येक पदके साथ इन्द्रपदका प्रयोग किया गया है।

ऐसी महान्–उदार भावना; अनल्पमेधावान्–तत्त्वदर्शीकी ही होती है। परन्तु अल्पमेधावान्की ऐसी महान् उदार भावना नहीं होती। वह कूपमण्डूककी तरह–उस–उस–क्षुद्र देवतामें ही स्थिर श्रद्धा रखकर अपनी तत्तत्कामनाओंकी सिद्धिके–लिए उस उसका भजन करता रहता है, और वह अपनी–अल्प (क्षुद्र) भावनाके अनुसार अन्तवान् फलको ही प्राप्त करता है। तत्त्वदर्शी ज्ञानवान् अपनी अनल्प–पूर्ण-तत्त्वकी भावनाके द्वारा अनल्प–शाश्वत–महान्–आनन्द प्राप्त करता है। ऐसा आनन्द, देवराज इन्द्र एवं सम्राट् चक्रवर्ती राजा भी प्राप्त नहीं कर सकता। अतः गोस्वामी तुलसीदासने कहा है—

'तिन टुक कौपीन में, अरु भाजी बिन है लौन।
तुलसी रघुवर उर बसे, इन्द्र बापुरो कोन।'

'चाह गई चिन्ता गई मनुवा बे परवाह।
जाको कछु न चाहिये, सो है शाहन शाह॥'

यद्यपि वह अनल्प मेधावान् पूर्ण–ब्रह्म–रामका अनन्य भक्त, तीन टुकडोंवाली कौपीन ही पहिनकर जंगलके एकान्त वृक्षके नीचे निर्द्वन्द्व एवं निर्भय हुआ बैठा है, तथा शरीर निर्वाहके लिए विना नमककी भाजीको मस्तीके साथ खा रहा है। परन्तु वह अपनी अनन्य-ब्रह्म भावनाके द्वारा इतना महान् बन गया है कि–जिसकी दृष्टिमें देवराज इन्द्रभी बिचारा कंगाल-सा मालूम पड रहा है। क्योंकि-उस अनल्पमेधावान्–भक्तने अपनी भावनाओंको निर्द्वन्द्व–निष्काम–निर्भय–राममयी ही बना दी हैं। इसलिये वह अनन्त–आनन्दसे पूर्ण स्वस्वरूपभूत-अमृतमय राम महा-सागरमें सदाके लिए निमग्न बना रहता है। और उस अज्ञानी मूढ-देवराज-इन्द्रकी भावनाएँ, रागद्वेषमयी होनेके कारण तुच्छ हैं, कुत्सित हैं, इसलिए वह तृतीयक्षणध्वंसप्रतियोगीरूप–अल्प–सुखको प्राप्त करके भी दीन हीनही बना रहता है।

एक वीतराग–ज्ञानवान् महात्मा, किसी राजाकी स्टेटमें किसी एकान्तस्थलमें निवास करते थे। एक–दिन वहाँका राजा प्रातःकाल घूमता हुआ उस महात्माके समीप आया। उसने महात्माजीसे पूछा–कहिये महाराज! आपकी रातें कैसी कटती हैं?। महात्माजीने तुरन्त ही उत्तर दिया कि–कुछ तेरे जैसी और कुछ तेरे से खूब-अच्छी। राजाने पूछा–वह कैसे? महात्माजीने कहा–उधर तू विषयोंके उपभोगमें आसक्त बन जाता है, तो मैं इधर उस पूर्ण–ब्रह्मके चिन्तनमें तन्मय हो जाता हूँ। उधर तुझे भोगोंकी विषादपूर्ण–क्लान्तिके द्वारा निद्रा आजाती है, तो

इधर मुझे ब्रह्मचिन्तनकी आनन्दमयी मस्तीके द्वारा निद्रा आजाती है। निद्राके बाद प्रातःकाल जब तू उठता है, तब फिरभी विषयोंमें आसक्त बन जाता है, और मैं निद्रासे उठकर ब्रह्मके चिन्तनमें निमग्न बन जाता हूँ। इसप्रकार जब निद्रामें तू और मैं सो जाते हैं, तब तेरी एवं मेरी रात्रिएँ बराबर हो जाती हैं, और निद्राके आगे पीछे—जब मैं ब्रह्मका चिन्तन करता हूँ, तब मेरी रात्रिएँ तेरी निरस एवं निकृष्ट रात्रिओंसे सरस एवं उत्कृष्ट बन जाती हैं।

इस दृष्टान्तके द्वारा यह निश्चय होता है—कि रागी—मूढका जीवन निरस एवं विषादपूर्ण बना रहता है, तो विरागी—ज्ञानवान् भक्तका जीवन सरस एवं आनन्दपूर्ण।

भक्त एकमात्र—भगवान्‌का ही सभी दशाओंमें भजन करता रहता है। उसका ही वह पूर्ण सहारा एवं विश्वास रखता है। उसके ही प्रत्येक--विधानमें राजी रहता है। उसको ही वह अपना मार्गदर्शक सच्चाहितकारी साथी—साथमें ही सदा रहनेवाला मानता है। वह निश्चय-रूपसे समझता है कि-वह मेरा आराध्य ईश्वर मेरे ही अंदर एवं बाहर सदा सत्—चित् सुखरूपसे बिराजमान है। इसलिए उसके भक्तिमय जीवनमें धैर्य, दया, एवं प्रेमकी त्रिवेणी सदा बहती रहती है। वह सदा स्वस्थ एवं पूर्ण प्रसन्न रहता है। वह अपने को कभी दीन हीन—साधन हीन एवं अकर्मण्य नहीं मानता। निराशा एवं विषादको वह अपने समीप फडकने तक नहीं देता। वह सदा अभिनव-उल्लास एवं निर्भय साहस रख सदा प्रफुल्लित बना रहता है। वह सदा ईश्वरीय—स्वस्थता की सफलताकी, दृढताकी, पवित्रताकी, उत्साहकी, शक्तिकी एवं आनन्दकी

ही भावना करता रहता है। वह इस पवित्र-भावको अपने हृदयमें हरदम सुरक्षित रखता है—कि वह भगवान्, मेरा है; और मैं भगवान्का हूँ, वह सदा मेरे में ओत—प्रोत हो रहा है, तो मैं उसमें ओतप्रोत होकर रहता हूँ। मैं उससे कभी अलग नहीं हो सकता हूँ, तो वह मुझसे कभी अलग नहीं हो सकता। इसलिये जिसप्रकार सूर्य के निकट अंधकार, चन्द्रके समीप उष्णता नहीं आसकती, उसप्रकार मुझ आनन्द-मय अन्तरात्माके समीप कभी दुःख नहीं आसकता।

भक्त सदा निर्मम होता है, भगवान्के विना किसी भी वस्तुको अपनी नहीं मानता। वह इससंसारमें अपनेको कभी मालिक नहीं मानता, किन्तु माली ही मानता है। मालीकी तरह वह संसार-वाटिकामें दक्षता एवं उल्लासके साथ कार्य करता रहता है, परन्तु वह अपना कुछ नहीं सम-झता। जिसप्रकार किसी सरकारी बैङ्कका कैशियर लाखोंका लेन-देन प्रतिदिन बडी हुशियारीके साथ करता रहता है, परन्तु उस बैङ्कके धनको अपना नहीं समझता। निश्चयके साथ समझता है कि—यह सब खजाना सरकारका है, मेरा अपना कुछ नहीं। और वास्तवमें है भी ऐसा ही, इसलिये वह समझदार इसमें से एक रुपया भी छिपाकर नहीं रख लेता। यदि वह छिपाकर रख लेता है—तो उस विचारेको दिनमें ही तारे दीखने लगजाते हैं, अर्थात् उस अपराधीको अनेक कष्ट भोगने पड जाते हैं। उसप्रकार भक्त भी संसारकी आवश्यक—एवं उचित ड्यूटी बजाता हुआ भी अपनेको निश्चयसे असंग ही मानता है। और की तो क्या बात ? परन्तु वह अपने इस शरीरमें भी अहं-मम भाव नहीं रखता। जबतक मनुष्य संसारसे नितान्त असंग एवं उपराम नहीं बनता,

तबतक वह भगवद्भजनमें तन्मयता प्राप्त नहीं कर सकता। तन्मयताके विना भगवद्भजनका आनन्द नहीं प्राप्त कर सकता। इसलिए भगवान्‌का वही सच्चा भक्त है, जो अपनेको संसारसे असंग मानता है, एवं अपने चित्तको उपराम-रखता है। वह प्रेम एवं तन्मयतासे अनन्त ऐश्वर्य-निधि सर्वशक्तिमान् भगवान्‌का सतत भजन करता हुआ एवं भगवान्‌की कृपासे इस लौकिक-जीवनकोभी आनन्दके साथ व्यतीत करता हुआ अन्तमें भगवान्‌को प्राप्त होजाता है। और अल्पशक्ति एवं मर्यादित-ऐश्वर्यवाले—देवताओंके भक्त, अपनी सकाम भावनाके अनुसार देवताओंको प्राप्त होजाते हैं।

यद्यपि वे दोनों श्रद्धा एवं भक्ति सम्पन्न हैं, तथापि उनमेंसे एक, श्रद्धाभक्ति द्वारा दिव्यकामधेनुका सेवन करता है, तो दूसरा क्षुद्र बकरीका। एक, सकल मनोरथपूरक—कल्पवृक्षकी सुखद—छायामें विश्राम लेता है, तो दूसरा बबूलकी कांटोवाली—छायामें। एकने अपनी विवेक-दक्षा बुद्धिसे राजाधिराजका आश्रय लिया है एवं उसकी कृपा प्राप्त की है, तो दूसरेने अपनीमन्दप्रज्ञा होनेके कारण उस राजाके चपरासीका ही आश्रय लिया है; एवं उसकी ही कृपा प्राप्त की है। इसलिए एकको महान् एवं अनन्तफल मिलता है, तो दूसरेको क्षुद्र एवं अन्तवान्।

और स्वर्गाधिपति—इन्द्रदेव भी यदि अपने भक्तके उपर प्रसन्न होजाय तो वह उसको ज्यादासे ज्यादा स्वर्गका क्षयिष्णु सुख दे सकता है, परन्तु वह मोक्षका अनन्त—सुख उसे नहीं देसकता। क्योंकि—वह उसे प्राप्त ही नहीं है, तो उसको कहाँसे देसकता है?। परन्तु अनन्त—आनन्दनिधि सर्वेश्वर भगवान् अपने भक्तको मोक्षका अनन्त—

सुख भी दे देता है, और विना मांगे, या चाहे, इस लोकके आवश्यक-एवं योग्य और-और पदार्थ भी दे देता है। इसप्रकार भगवान्‌का भक्त उत्तम एवं उदार माना जाता है, तो देवतान्तरका भक्त निकृष्ट एवं कृपण। यद्यपि भगवान्‌का ज्ञानवान् भक्त ही एकमात्र निष्काम माना गया है, और आर्तादि तीनोंभक्त सकाम माने गये हैं, तथापि वे सकाम भक्त भी भगवान्‌की महती अनुकंपा द्वारा अपने अभीष्ट लाभोंको भी प्राप्त कर लेते हैं, और भगवान्‌की उपासनाका जब पूर्ण-परिपाक होजाता है, तब वे निष्काम होकर अनन्त अद्वय—सुखपूर्ण भगवान्‌को भी प्राप्त होजाते हैं, ऐसा—'**मामपि**'के अपिशब्दसे सूचित होता है। इसप्रकार भगवान्‌के भक्तोंमें तथा अन्य-देवताओंके भक्तोंमें विवेक एवं अविवेकप्रयुक्त—फलकी विषमता देखनेमें आती है। हरिः ॐतत्सत्।

(२४)

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं, मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ (७ । २४)

बुद्धिहीन मानव, मेरे अनुत्तम अर्थात्—जिससे उत्तम और कुछ भी नहीं, ऐसे सर्वोत्तम अविनाशी परम सच्चिदानन्दघन—अद्वय—पूर्णपरमात्म-भावको तथा वस्तुतः मैं अजन्मा एवं सर्वेश्वर होता हुआ भी अपनी मायाद्वारा साकाररूपसे प्रकट होता हूँ, ऐसे मेरे प्रभावको तत्त्वतः न जानते हुए वे मुझ परमात्माको मनुष्यकी भाँति जन्म लेकर केवल परिच्छिन्न—व्यक्तिभावको प्राप्त हुआ मानते हैं। इसलिए वे मेरा भजन नहीं कर सकते।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनके प्रति अपने वास्तविक स्वरूपका वर्णन करते हुए कहते हैं कि—मैं अव्यक्त हूँ । नाम—रूप रहित हूँ, निरवयव—निराकार हूँ । समस्त—भूतोंका अन्तरात्मा हूँ, सर्वव्यापी-पूर्ण हूँ । श्रुति भी ऐसा ही कहती है—'**सदेव सोम्येदमग्र आसीत्, एकमेवाद्वितीयं ।**' (छां० ६ । २ । १) अर्थात् यह चराचर—समग्र जगत् प्रथम अव्यक्त—सद् ब्रह्म ही था । वह एक ही अद्वितीय था, अर्थात् स्वगत, सजातीय—विजातीयभेद-त्रयसे रहित—सच्चिदानन्दघन पर भावरूप था । उस समय तदन्य और कोई भाव नहीं था । भाव यानी अखण्ड—एकरस—सत्ता । वस्तुतः वही मैं हूँ, वह मेरा भाव, अव्यग्र—अविनाशी है, एवं अनुत्तम है, अर्थात् उससे उत्तम और कोई भाव नहीं है, इसलिये वही एकमात्र सर्वोत्तम भाव है । इस अनुत्तम—भावको मूढ लोग नहीं जानते हैं । इसलिये वे मन्दमति-जन मुझ परमात्माको स्वकर्म-निर्मित—भौतिक देह वाला—जीव विशेष ही मानते हैं । अत एव वे मेरा अनादरकर अन्य-देवोंका भजन करते हैं ।

हमारे शास्त्रोंमें एक ही ब्रह्मके परात्पर, पर एवं अपररूपसे तीन भाव बतलाये हैं । एक—परात्पर शुद्ध भाव है, जो द्वैत-प्रपञ्चातीत—मायातीत-निरञ्जन-केवल-एक अद्वय-पूर्ण निरुपाधिक-अनुत्तम—सर्वोत्कृष्ट भाव है । द्वितीय—सोपाधिक पर कारणभाव है । वही मायाद्वारा शबल यानी विशिष्ट होकर विश्वका कारण बन जाता है । यही कारण ब्रह्म-सूक्ष्म—स्थूलादि दशाभेदसे ईश्वर, हिरण्यगर्भ एवं विराट्नामोंसे व्यवहृत होता है । तृतीय अपर ब्रह्मभाव है । जो कार्योपाधिक होनेके कारण शुद्धसत्त्वमयी-विविध मूर्तिरूप हुआ ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर आदि नामोंसे

कहा जाता है। इनमें जो परात्पर निर्विशेष शुद्ध-ब्रह्मभाव है, वह ज्ञान-गम्य है। और अन्य दो पर एवं अपर ब्रह्मभाव, सविशेष होनेके कारण उपास्य हैं। निर्विशेष—शुद्ध-ब्रह्मकी उपासना नहीं होसकती। इसलिये केनोपनिषत्में कहा है कि—

'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।' (१।५)

उसी ही ब्रह्मको तू जान, जो निर्विशेष परात्पर शुद्ध है। जिसकी भक्तलोग उपासना करते हैं, वह सविशेष—सगुण साकार है।

वेदादि—शास्त्रोंके तात्पर्यको नहीं जानने वाले परस्पर विरोधी दो दुराग्रही दल(पार्टी) कहीं कहीं दिखाई पडते हैं। एक दल कहता है कि—हम परमेश्वरको निर्गुण—निराकार ही मानते हैं। वह कभी भी और किसी भी प्रकारसे सगुण—साकार नहीं होसकता। वेदोंको ही हम परम प्रमाण मानते हैं, उनमें निराकार ब्रह्मका ही वर्णन है। सगुण—साकार ब्रह्मका कहीं भी वर्णन नहीं मिलता। इसलिये राम—कृष्णादि रूपसे उसका अवतार भी नहीं हो सकता। राम—कृष्ण आदि तो आदर्श-चरित्रवाले महापुरुष थे। वे भगवान् परमेश्वर नहीं होसकते। यदि वह साकार होजाता है तो निराकार नहीं रह सकता। और यदि वह निराकार माना जाता है; तो उसमें साकारता कैसे आयेगी?। क्योंकि—साकारत्व एवं निराकारत्व उष्णत्व—शीतत्वकी भाँति परस्पर विरोधी धर्म हैं। निराकार—ईश्वर नियमतः अपरिच्छिन्न व्यापक होता है। और साकार एकदेशी—परिच्छिन्न होता है। जो व्यापक होगा, वह एक—देशी छोटा—सा नहीं होसकता एवं एकदेशी, व्यापक नहीं होसकता। इसलिये जगत्कर्ता परमेश्वरको निराकार ही मानना चाहिये, साकार नहीं।

दूसरा दल कहता है कि—हमारा भगवान् तो हस्त-पादादिमान् साकार ही है। हम उस निर्गुण—निराकार परमेश्वरको मानना तो दूर रहा परन्तु उसका नाम भी सुनना पसंद नही करते। अतएव वे अपने अनुयायिओंसे कहते हैं कि—तुम्हारे सामने यदि कोई निर्गुण—निराकार की चर्चा करे तो तुरन्त ही कान बंद कर लेने चाहिये। या वहाँसे दूर भाग जाना चाहिये। हमारा भगवान् तो भक्तोंके लिए राम-कृष्णादि-रूपसे अनेक—अवतारोंको धारण करता है। हम उसी भगवान्‌को मानते हैं। हम उस निर्विशेष-निराकार ब्रह्मको कभी नहीं मानते। इसलिये—ऐसे दुराग्रही लोगोंके विषयमें इसप्रकार कहा गया है कि—

'वरं वृन्दावने शून्ये शृगालत्वं य इच्छति।
न तु निर्विषयं ब्रह्म मन्तुमर्हति गौतम! ॥'

अर्थात् शून्य वृन्दावनमें वह गीदड होना पसंद करता है, परन्तु निर्विशेष—निर्विषय ब्रह्मको मानना या प्राप्त करना वह साकार—भगवान् का भक्त कभी नहीं चाहता।

परन्तु वेदादि—शास्त्रोंके तात्पर्यको जानने वाले शिष्ट—महानुभाव कहते हैं कि—निरुपाधिकरूपसे परमेश्वर निर्गुण—निराकार है, एवं सोपाधिकरूपसे सगुण—साकार भी है। इनमें निराकार—अव्यक्तरूप पारमार्थिक है, और साकर—व्यक्तरूप आरोपित है। अत एव वेदादि-शास्त्रोंमें परमेश्वरका उभय रूपसे वर्णन मिलता है, दोनों रूपोंके वर्णन करने वाले—अनेक वेदमन्त्र हैं। देखिये, इस एक ही मन्त्रमें निराकार एवं साकार दोनोंका वर्णन है—

'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता, पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।'
(श्वे० उ० ३।१९)

वह हस्तपादसे रहित है, इसलिये निराकार है। तथापि वह दौडता है एवं जो कुछ पत्र-पुष्पादि उसे दिया जाता है-उसको वह ग्रहण कर लेता है। यहाँ विचार करना चाहिये कि-यह लेने वाला एवं दौडने-वाला कौन परमेश्वर है ?। निराकार-व्यापक पदार्थ कभी दौड नहीं सकता ?। क्या निराकार-आकाशको कभी किसीने दौडते या कुछ लेते-देते देखा है ?। इसलिये-धावन-ग्रहण आदि क्रियावाला साकार ही होसकता है, निराकार नहीं। एवं वह चक्षुसे एवं कर्णसे रहित है, इसलिये निराकार है, तथापि वह देखता है, सुनता है। देखना या सुनना-क्रिया निराकारमें नहीं होसकती, इसलिये देखने-सुनने वाले उस परमेश्वरको साकार ही मानना चाहिये। क्योंकि-अपरिच्छिन्न-निराकारमें किसी भी प्रकारकी क्रियाका होना संभव नहीं है। अतः परिच्छिन्न-साकारमें ही क्रिया मानना युक्तियुक्त है।

शुक्ल-यजुर्वेदका यह एक-प्रसिद्ध मन्त्र है-इसमें भी निराकार एवं साकार उभयरूपका वर्णन मिलता है। जैसे—

'प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तः अजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः, तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥
(३१ । १९)

अर्थात् प्रजापति-परमेश्वर मायाका गर्भरूप (परिणामरूप) विश्वके अंदर द्रष्टारूपसे अनुगत रहता है। वह निराकाररूपसे अजन्मा होने पर भी साकाररूपसे विविध प्रकारका होकर प्रकट होता है। अविकृत-प्रज्ञावान् धीरजन ही उसके अधिष्ठान स्वरूपका साक्षात्कार करते हैं। और उसीमें ही समस्त भुवन अवस्थित हैं।

इस मन्त्रमें अजायमानको बहुधा विजायमान कहा गया है। जिसमें ? **'मम मुखे जिह्वा नास्ति कथं वदेयं ?'** अर्थात् 'मेरे मुखमें जीभ नहीं है, कैसे बोलूँ'की तरह व्याघात दोष है। क्योंकि—जो वस्तुतः जिसरूपसे अजायमान होगा, वह उसरूपसे विजायमान नहीं होसकता। इसलिये इस व्याघात-दोषका परिहार करनेके लिए उस परमेश्वरका रूप—भेद मानना चाहिये। रूपभेद मानने पर व्याघात—दोष नहीं रहता। वह निराकार-निरुपाधिक रूपसे अजायमान है, और साकार-सोपाधिक रूपसे बहुधा विजायमान है। इस प्रकार उस परमेश्वरमें रूप—भेदकी व्यवस्था माने विना, उस मन्त्रको कोईभी पाण्डतमानी अन्य प्रकारसे दोषमुक्त नहीं बना सकता। जिसप्रकार शुक्तिशकलमें वास्तविक रजता-भावके साथ आरोपित रजत विषमसत्तावाला होनेके कारण रह सकता है, उसीप्रकार पारमार्थिक—निराकारत्वके साथ माया द्वारा आरोपित—साकारत्वके रहनेमें कोईभी विरोध नहीं हो सकता। क्योंकि—समसत्तावाले भावाभावका विरोध होता है, विषमसत्तावाले भावाभावका अर्थात् साकारत्वका अभाव (निराकारत्व) एवं साकरत्वरूप भावका विरोध नहीं माना जासकता। इसलिये वह एक ही परमेश्वर निराकार रहता हुआभी मायाद्वारा साकार बन सकता है, साकार बनने परभी उसके निराकार-त्वमें किसीभी प्रकारकी क्षति नहीं होती। यही तो उस परमेश्वरका अद्भुत स्वरूप है। **'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनं।'** (गीता. २।२९) अर्थात् उसको कोई आश्चर्य के साथ देखता है।

आइये, और अथर्ववेद संहिताके रुद्रसूक्तका यह एक मन्त्रभी देखिये—जिसकी यथावत् आलोचना करने पर परमेश्वरका सोपाधिक—

साकाररूप मानना ही पडता है। लीजिये, मन्त्र यह है–

ॐ नमस्तेऽस्त्वायते, नमो अस्तु परायते। नमस्ते रुद्र! तिष्ठत आसीनायोत ते नमः॥"

(२१।२।१५)

हे रुद्र! परमेश्वर! आनेवाले तुझे मेरी नमस्कार है। भक्त–भगवान्‌को प्रेमसे बुलाता है, भगवान्‌का आवाहन करता है, इसकेलिए प्रार्थना करता है–आवो पूज्य पिता भगवान् कर दो जीवनका कल्याण। प्रार्थना सुनकर दयानिधि भगवान् भक्तके निकट पधारते हैं। भगवान्‌का आगमन होने पर भक्त आनन्दसे गद्गद होकर कहता है–हे प्रभो! कृपानिधान! आइये, यहाँ आनेवाले आप कृपया मेरी नमस्कार ग्रहण करें। **आयते यानी आगच्छते,** यह चतुर्थीविभक्तिका रूप है। आङ् उपसर्गपूर्वक 'इण्‌गतौ' धातुसे शतृ प्रत्यय करनेपर **'आ–एति–आगच्छतीति आयन् तस्मै आयते'** ऐसारूप सिद्ध होता है। भगवान् भक्तके यहाँ आकर भक्तसमर्प्यमाण–पाद्य एवं अर्घ्य लेनेके लिए खडे रहते हैं, उससमय भक्त कहता है कि–**तिष्ठते ते नमः।** अर्थात् प्रेमवश खड़े रहने वाले आपको मेरा भक्तिभावसे भरा हुआ यह प्रणाम है। पाद्यादि समर्पण करनेके अनन्तर भक्त अपने आराध्य भगवान्‌को पूजनादि करनेके लिए अच्छे–आसन पर बिठाता है। उससमय वह कहता है–कि **उत=तथा, आसीनाय=उपविष्टाय ते नमः।** पूजा आदिग्रहण करनेके लिए बैठे हुए आप भगवान्‌को मेरा नमस्कार है। पूजा आदिकी समाप्ति होजाने पर–भक्तको आशीर्वाद देकर जब भगवान् स्वधाममें जानेके लिए तैयार होते हैं, तब भक्त कहता है–**परायते=परावृत्य**

गच्छते ते नमः । आकर पुनः लौटनेवाले आपको मेरा प्रणाम हो। इसलिये–उपासक–भक्तों की पूजापद्धति के अन्तमें ऐसा कहा जाता है कि–'**गच्छ गच्छ सुरश्रेष्ठ! स्वधाम परमेश्वर!।**' अर्थात् हे देवश्रेष्ठ परमेश्वर! आप अपने धाम, जाइये जाइये।

यहाँ विचार करना चाहिये कि–यह आनेवाला, खडा रहनेवाला, बैठनेवाला एवं जानेवाला कौन परमेश्वर है? निराकार-परमेश्वर सर्व-व्यापक होने के कारण, ऐसा कभी नहीं होसकता। निराकारमें आना जाना आदि संभव नहीं। इसलिए आपको–इस वेद-मन्त्रकी प्रामाणिकता सिद्ध करनेके लिए–साकार–परमेश्वर अवश्य ही मानना चाहिये। क्योंकि–साकार–परमेश्वर माने विना इस मन्त्रकी प्रामाणिकता अन्य किसी भी प्रकारसे सिद्ध नहीं होती। और इसमन्त्रके रुद्रसूक्तमें–रुद्रनामसे परमेश्वरका ही स्पष्ट वर्णन किया गया है। पशुपति, भूतपति, भव, शर्व, आदि अनेक नामोंके द्वारा उस रुद्र-भगवान्‌को सर्वेश्वर कहा गया है। जैसे–'**यस्मिन्निमा विश्वा भुवनान्यन्तः, स नो मृड पशुपते! नमस्ते!**' (अथर्व० ११ । २ । ११) अर्थात् जिस महान्–भगवान्‌के अन्दर ये समग्र भुवन अवस्थित हैं, वह परमेश्वर हमें सुखी करे, हे पशुपते! यानी अज्ञानी–जीवरूप पशुओंके स्वामिन्! तुझे मेरा नमस्कार है। '**तव चतस्रः प्रदिशस्तव द्यौस्तव पृथिवी तवेदमुग्र! उर्वन्तरिक्षम्। तवेदं सर्वं**...(अथर्व० ११ । २ । १०) अर्थात् हे उग्र! यानी सर्वश्रेष्ठ–भगवन्! ये चारों दिशाएँ भी आपकी हैं, यह स्वर्ग भी आपका है, यह पृथिवी भी आपकी है, यह लम्बा चौडा अन्तरिक्ष भी आपका ही है, अधिक क्या कहें? यह समस्त विश्व भी आपका ही है,

आप ही एकमात्र इसके अधिपति हैं, संचालक हैं, पालक हैं, भासक हैं। **'योऽन्तरिक्षे तिष्ठति विष्टभितोऽयज्वनः प्रमृणन् देवपीयून्। तस्मै नमो दशभिः शक्वरीभिः।'** (अथर्व० ११।२।२३) अर्थात् जो रुद्र-भगवान् निराधार प्रदेशरूप अन्तरिक्षमें वि-स्तंभित यानी अचल होकर यज्ञ-दानादि शुभ-कर्मके द्वारा परमेश्वरका यजन नहीं करनेवाले-एवं देवका अनादर करनेवाले-नास्तिक दुर्जनोंका निग्रह-(दण्डप्रदान) करता हुआ-अवस्थित रहता है, उसको हम दश अंगुलियोंके द्वारा नमस्कार करते हैं। **'नमः सायं नमः प्रातः, नमो रात्र्या नमो दिवा। भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः॥'** (अथर्व० ११।२।१६) अर्थात्-उस भगवान्को मेरी सायंकाल-की नमस्कार हो, प्रातःकालकी नमस्कार हो, रात्रिकी नमस्कार हो, दिवसकी नमस्कार हो, भव यानी विश्वकी उत्पत्ति करनेवाले, शर्व यानी विश्वको अपनेमें विलीन करनेवाले परमेश्वरको मैं दोनों हाथ जोडकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक प्रणाम करता हूँ।

ये सभी मन्त्र उस रुद्र-सूक्तके ही हैं। जिसमें स्पष्टरूपसे अन्य किसीका वर्णन नहीं, किन्तु विश्वनियन्ता-परमेश्वरका ही वर्णन है। यदि आप निष्पक्षपात-बुद्धिमान् उदार-सज्जन हैं तो-यह-अवश्य ही मानेंगे कि-उस मन्त्रमें-आने-जानेवाला भगवान् साकार ही है-निराकार नहीं है। उसी प्रकार ऋग्वेद-संहितामें भी निराकाररूपके समान साकाररूपसे भी भगवान्का अनेक मन्त्रोंके द्वारा वर्णन किया गया है।

नमूनेके तौर पर यह एक मन्त्र देखिये—

ॐअर्हन्! बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन्! निष्कं यजतं विश्वरूपम्।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं, न वा ओजीयो रुद्र ! त्वदस्ति ॥
(२।३३।१०)

अर्थात् हे रुद्र ! अर्हन् यानी परमपूज्य—अपार सामर्थ्यवाला तू दुष्ट—निग्रहके लिए धनुष् एवं बाणोंको धारण करता है । अर्हन् यानी परममान्य—सौन्दर्यनिधि तू प्रशंसनीय—बहुप्रकारके दिव्य—रूपोंवाला रत्न—हार धारण करता है । अर्हन्—विश्वस्तुत्य तू इस अतिविस्तृत समस्त—विश्वकी रक्षा करता है । तेरेसे अन्य कोई भी पदार्थ, अत्यन्त ओजस्वी नहीं है।

इस मन्त्रमें स्पष्टरूपसे साकार—भगवान्का ही वर्णन है। क्योंकि—धनुष् बाण एवं हार साकार भगवान् ही धारण करसकता है, हस्त-कण्ठादि—अवयवहीन-निराकार नहीं।

जिसप्रकार जीवात्मा निराकार होता हुआ भी अविद्याकामकर्मके आधीन होकर भौतिक साकार-शरीर धारण करता है, उसीप्रकार परमेश्वर निराकार होता हुआ भी शुद्ध सत्त्वमयी—अपनी मायाके द्वारा स्वेच्छासे दिव्य—मायिक—विविध—साकार विग्रहोंको दुष्टनिग्रह—साधु—अनुग्रह—आदि प्रयोजनके लिए धारण कर सकता है, इसमें किसी भी प्रकारकी अनुपपत्ति नही है।

अतएव गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है कि—

एक दारु गत, देखिय एकू, पावक युग सम ब्रह्म विवेकू।
फूले कमल सोह सर कैसे ? निर्गुण ब्रह्म, सगुण भये जैसे।

जैसे एक अग्नि, अव्यक्तरूपसे लकडी आदिमें रहती है, और एक—

अग्नि दीपक आदिमें व्यक्तरूपसे प्रतीत होती है, वैसे ही ब्रह्म भी निराकार—अव्यक्त रूपसे सर्वव्यापक है--विश्वात्मा है, सबमें छिपा बैठा है, और वही भक्तोंके लिए साकाररूपसे अभिव्यक्त होजाता है। जिसप्रकार सरोवरके जलसे प्रकट होकर कमल सरोवरकी शोभा बढाते हैं, उस-प्रकार निराकार परब्रह्मसे प्रकट हुए साकार—विग्रह निराकार ब्रह्मकी ही महिमा बढाते हैं।

आचार्य स्वामी मधुसूदन सरस्वती अद्वैत—सिद्धान्तके प्रकाण्ड—विद्वान् एवं शास्त्रार्थ—समरके विख्यात महारथी थे।

अतएव उनके विषयमें ऐसा कहा गया है कि—

नवद्वीपे समायाते मधुसूदनवाक्पतौ।
चकम्पे वादिवागीशः कातरोऽभूद् गदाधरः॥

अर्थात् जब मधुसूदन स्वामी, बंगालके प्रसिद्ध विद्याकेन्द्र नवद्वीपमें गये, तब वहाँके प्रसिद्ध धुरंधर—विद्वान् वादिवागीश कांपने लगे, और गदाधर भट्टाचार्य दीनतासे व्याकुल हुए थे।

अतएव गोस्वामी—तुलसीदासजीने भी कहा है—कि—

मधुसूदनसरस्वत्याः पारं वेत्ति सरस्वती।
सरस्वत्याः परं पारं मधुसूदनसरस्वती॥

अर्थात् मधुसूदन स्वामीके अक्षय्य—विद्याभण्डारका पार, भगवती सरस्वती ही पा सकती है, और सरस्वतीके अनन्त—भण्डारको मधुसूदन-सरस्वती ही आमूल—चूड जानते हैं। उनकी बनायी हुई अद्वैत—सिद्धि, विद्वदुपभोग्य—अतिप्रौढ—गंभीर—विचारयुक्त विस्तृत ग्रन्थरत्न है। उसमें उन्होंने अनेकविध—प्रमाण एवं युक्तियोंके द्वारा बडे जोरदार—शब्दोंमें

द्वैतवादका खण्डन एवं अद्वैत-सिद्धान्तका समर्थन किया है। इसलिए अद्वैतसिद्धि ग्रन्थ इतना गहन एवं क्लिष्ट माना गया है-कि-जिसके पढानेवाले विद्वान्-काशी जैसी पण्डितोंकी नगरीमें भी अंगुलियोंपर गिने जाने वाले-दो-चार ही मुश्किलसे मिल सकते हैं। और असाधारण-प्रतिभासंपन्न विद्यार्थी ही जिसको पढ एवं समझ सकनेकी योग्यता रख सकते हैं। उन मधुसूदन स्वामीने अद्वैतसिद्धि ग्रन्थके निराकार-निर्गुण ब्रह्मकी उपपत्ति नामक प्रकरणमें साकार-सगुण ब्रह्मका ही मंगलाचरण किया है। मधुसूदन स्वामी भगवान् श्रीकृष्णके उपासक एवं भक्त थे। इसलिए उस मंगलाचरणमें श्रीकृष्णका ही साकाररूपसे उन्होंने वर्णन किया है। मंगलाचरणका वह प्रशस्त-श्लोक-मैं समझता हूँ-भारतके समस्त प्रदेशोंके आस्तिक-समाजमें प्रसिद्ध है। वह यह है—

'वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्,
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्,
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥'

इसका अर्थ इस प्रवचनसुधाके आदिमें कर दिया है।

मधुसूदन स्वामी मानते थे कि-सविशेष-साकार ब्रह्मकी उपासना किये विना कोईभी साधक निर्विशेष निराकार ब्रह्मका तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिये-उनके आदर्श जीवनकी एक घटना इस प्रकार कही जाती है कि-मधुसूदन स्वामी प्रायः काशीमें रहा करते थे। एक बार उन्होंने विचार किया कि-आराध्य-इष्टदेव श्रीकृष्णका साक्षात् दर्शन करना चाहिये। इसलिये वे एकान्त-गंगातट पर जाकर

—अनुष्ठान करने लगे। उस अनुष्ठानको जो श्रद्धा—एकाग्रतापूर्वक छः मास तक करे तो उसे भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन होजाते हैं। ऐसी उस अनुष्ठानकी फल-श्रुति थी। आचार्य-मधुसूदन स्वामीने ६ मास तक अनन्य भक्ति—भावनाके साथ अनुष्ठान किया, परन्तु भगवान्के दर्शन नहीं हुए। उन्होंने विचार किया कि—संभव है—अनुष्ठानमें कुछ त्रूटि रह गई हो, इसलिए मुझे भगवान्ने दर्शन नहीं दिये। ऐसा विचारकर उन्होंने दूसरी बार फिर छः मासका अनुष्ठान बडी सावधानीके साथ किया, तोभी भगवान्ने दर्शन नहीं दिये। तब मधुसूदन स्वामीके हृदयमें बहुत उद्वेग हुआ, और अपने इस शरीरसे भी बडी ग्लानि हुई। और उन्होंने दृढ-निश्चय किया कि—अब इस शरीरको रखकर क्या करेंगे? जिसके द्वारा भगवान्का दर्शन नहीं हो रहा है—अतः इसको गंगापर्ण कर देना चाहिये। स्वामीजी अबतक तो शान्त थे, परन्तु अब उन्होंने अपने शरीरके प्रति विकराल—रुद्ररूप धारग कर लिया। और चले द्रुतगतिसे गंगाकी तरफ। इधर अन्तर्यामी भगवान्ने स्वामीजीके शरीरकी रक्षाके अभिप्रायसे एक वृद्ध—ब्राह्मणका रूप धारण किया। और हाथमें कुछ फल—फूल लेकर गंगातट पर शीघ्र ही पहुँच गये, और अतिरुष्ट हुए स्वामीजीके समीप जाकर शिरपर पुष्प चढाये, एवं फल आगे रक्खे, और प्रणाम किया। और इसके बाद मीठी-मीठी स्नेहभरी बातें करते हुए कहने लगे कि—आप तो बड़े शान्त-प्रकृतिके विद्वान्-वीतराग-महात्मा हैं, आपने ऐसा उग्ररूप क्यों धारण कर रक्खा है?। आपने भगवद्दर्शनके लिए दो बार अनुष्ठान किया, परन्तु आप सफल नहीं हुए। तथापि आपको विचार करना चाहिये कि—उस अनुष्ठानद्वयसे भगवद्दर्शनके

प्रतिरोधक-अनेक-कश्मलोंका विनाश होगया है, अतः वे अनुष्ठान सर्वथा निष्फल नहीं माने जा सकते। अब ऐसामालुम होता है—कि—आपके कुछ और कश्मल परिशिष्ट हैं, उनका जब तृतीय—अनुष्ठानसे विध्वंस होजायगा, तब आपको अवश्यही भगवान्‌के चिर—प्रतीक्षित—अभीप्सित दर्शन हो जायेंगे, इसमें कुछ भी संदेह नहीं। अतः आप धैर्य रक्खें, उद्वेग त्याग कर मनको शान्त बनायें, और पुनः तृतीयबार भगवान्‌की आराधनामें लग जायें।' ऐसा कहकर भगवान् वहाँसे बिजली तरह देखते देखते ही अन्तर्हित होगये। मधुसूदन स्वामी आश्चर्यचकित हुए विचारने लगे कि—अरे! वह वृद्ध-ब्राह्मण तो अभी यहाँ ही खडा था, एकदम किधर चला गया। उसके रक्खे हुए फल तो यहाँ ही पडे हुए हैं। चारों तरफ दृष्टि घूमाकर देखा तो कहीं भी उसका पता नहीं चला। तुरन्त ही उनकेपवित्र हृदयमें यह निश्चय हुआ कि-उस वृद्ध ब्राह्मणकेवेषमें मेरे आराध्य-दयानिधि भगवान् श्रीकृष्ण ही यहाँ मेरे शरीरको बचानेके लिए एवं आश्वासन देनेके लिए पधारे थे। परन्तु मैं उनको उस रूपमें पहिचान नहीं सका, ऐसा सोचकर वे भगवान्‌की भक्तवत्सलता पर प्रेमके अश्रु बहाने लगे। पश्चात् उन्होंने गंगामें स्नानकर भगवद्दत्त-मधुर फल प्रेमसे खाये और एकान्त-कुटीरमें रहकर तृतीय बार अनुष्ठान किया। और उनको भगवान् श्रीकृष्णके उस रूपके साक्षात् दर्शन हुए। जिनका कि—उन्होंने—'**वंशीविभूषितकरात्**' श्लोकमें वर्णन किया है। और श्रीभगवान्‌की अनुमति प्राप्तकर उन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता पर संस्कृतमें बहुत ही प्रशस्त गूढार्थदीपिका—नामका व्याख्यान लिखा। और मधुसूदन स्वामीने भक्तिरसायन नामका भी एक अच्छा ग्रन्थ भक्तिकी

महिमा बतलानेवाला—लिखा है। कहते हैं—उन्होंने श्रीमद्भागवतकी भी संस्कृतमें सरस-टीका लिखी थी, परन्तु इससमय आदिके चार-श्लोकोंकी टीकाके विना, और टीका उपलब्ध नहीं होती।

तात्पर्य यह है कि—जो श्रद्धालु-भक्त, भगवान्‌की प्रेमसे आराधना करता है—भगवान् उसको अपने साकार-स्वरूपका दर्शन देकर पश्चात् उसके कल्याणके लिए—एवं अविद्यादि-बंधनोंकी निवृत्तिके लिए ज्ञानयोग भी प्रदान करते हैं। गीतामें भी श्रीभगवान् यही कहते हैं—**'भजतां प्रीतिपूर्वकं, ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।' (१०।१०) तेषां तमो नाशयामि ज्ञानदीपेन।'** (१०।११) अर्थात् प्रेमपूर्वक मेरा भजन करनेवाले भक्तोंको मैं वह ज्ञानयोग प्रदान करता हूँ। जिससे वे मेरे वास्तविक-पूर्णाद्वय-स्वरूपको प्राप्त होजाते हैं। उनके अज्ञानरूप-तमका मैं ज्ञानदीप द्वारा नाश करता हूँ। इससे यह बात निश्चित होजाती है—कि—केवल भगवान्‌के साकार-रूपके दर्शनमात्रसे (मोक्षलाभ) कल्याण नहीं होता। यदि कल्याण होजाता, तो अर्जुनको गीताज्ञान प्राप्त करनेकी कुछ आवश्यकता नहीं थी। क्योंकि-अर्जुन भगवान्‌के दिव्य-साकारस्वरूपका चिरकालतक दर्शन करता रहा, संभाषण करता रहा, साथसाथ रहता रहा, खाता, पीता एवं, सोता रहा। परन्तु ज्ञानलाभके विना साकाररूपके दर्शनमात्रसे अर्जुनके मनकी चञ्चलता एवं मोहशोक नष्ट नहीं हुए थे। इसलिये भगवान्‌ने कृपा करके अर्जुनको ज्ञानयोग दिया, और उसके द्वारा ही—केवल दर्शन-मात्रसे नहीं—कृतार्थ हुआ। हाँ, यह बात यथार्थ है कि—भगवान्‌के साकाररूपका दर्शन व्यर्थ नहीं जाता, किन्तु आत्मकल्याणका साधक

होजाता है। अतः साकारदर्शन भी एक बडी भारी सिद्धि मानी जाती है। इसके द्वारा अनेक लाभ सिद्ध होजाते हैं। इसलिए ही अव्यक्त-निराकार भगवान्-व्यक्त साकार होजाते हैं। साकाररूपसे प्रकट होनेमें भक्तानुग्रह ही मुख्य कारण माना गया है। परन्तु साकारकी उपासना भी आस्तिक-श्रद्धालु जन ही कर सकता है, अन्य नहीं, जिसका उस साकारस्वरूपमें परमेश्वरत्वकी भावना है। जो उन राम-कृष्ण-शिव, आदि साकारस्वरूपोंमें भगवद्भावना नहीं रखता, किन्तु जीवभावना रखता है। वह साकार-उपासनाका अधिकारी नहीं माना जाता। इसलिए श्रीभगवान् इस प्रवचनीय-श्लोकमें उसको बुद्धिहीन कहते हैं, और कहते हैं कि-वह मेरे इस साकारस्वरूपमें विद्यमान अनुत्तम-अव्यय-पर भावको नहीं जानता है, इसलिए वह मेरा भक्त नहीं होसकता है।

और यह एक-प्रमाण सिद्ध बात है कि-साकारस्वरूपके परिचय द्वारा ही निराकार स्वरूपका परिचय प्राप्त होता है। आप एक पुस्तक बांचते हैं, इसमें निराकार अक्षरोंके ज्ञानके लिए कल्पित-विविध प्रकारकी साकार-लिपिको ही पढते हैं। निराकार अक्षरोंको आप नहीं देख सकते, परन्तु आप साकार लिपिके द्वारा उनका परिचय प्राप्त कर लेते हैं। साकार-लिपिके परिचयके विना आपको कदापि निराकार-अक्षरोंका ज्ञान नहीं होता। उसप्रकार कल्याणमार्गमें भी साकार-उपासना द्वारा ही अव्यक्त-निराकार परमेश्वरका यथावत् परिचय प्राप्त होजाता है।

इसलिये हमारी उपनिषदोंमें कहा है कि—

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चामूर्तञ्च।' (बृ० २।३।१)

अर्थात् ब्रह्मके दो रूप हैं, एक मूर्त है यानी व्यक्त-साकार।

और दूसरा अमूर्त यानी अव्यक्त—निराकार ।

और जिसके चित्तमें अनादिकालसे सांसारिक—अनेकविध साकार-रूप भरे पडे हों, वह मानव निराकार—स्वरूपका कैसे ध्यान करसकता है ?। क्योंकि—जब वह उसके ध्यानके लिए आँखे बंद करेगा, उसी समय वे पूर्व—परिचित—सांसारिक- साकाररूप ही आकर—सामने खडे हो जायेंगे ?। अतः उनकी निवृत्ति करना आवश्यक है। जिसप्रकार विषकी निवृत्ति विषसे ही होती है; एवं कांटेसे जैसे कांटा निकाला जाता है। ठीक उसीप्रकार इन सांसारिक—साकार—रूपोंकी निवृत्ति, भगवान्के साकाररूपके ध्यानद्वारा ही हो सकती है। और मनीरामको साकार—रूपोंके ध्यानकी आदत पडी हुई है, निराकाररूपके ध्यानकी आदत नहीं है। इसलिए वह भगवान्के साकार—स्वरूपका ध्यान सहजमें कर सकता है। निराकारका ध्यान उसको अधिक क्लेशप्रद होजाता है। इसलिए भगवान्ने गीतामें भी यही कहा है कि—**'क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम-व्यक्तासक्तचेतसां।'** (१२।५) अर्थात्—अव्यक्त—निराकार ब्रह्ममें चित्तको आसक्त—बनानेवालोंको अधिक क्लेश ही भोगना पड जाता है। यह जीव संसारके कल्पित—मिथ्या नामरूपोंके चिन्तनोंके द्वारा ऊर्ध्वमूल—परमात्मासे पृथक् होकर ऊपरसे नीचे गिर गया है।जब यह भगवान्के दिव्य—सुमधुर—नाम एवं रूपोंसे अनन्य प्रेम करने लग जाता है, उनकी एकाग्रतासे आराधना करता हुआ भगवन्मय बन जाता है, तब वह संसारके तुच्छ—नाम—रूपोंके चिन्तनोंसे सहजमें ही मुक्त होकर निर्गुण—निराकार परमात्माके समीप पहुंच सकता है। जिसप्रकार ऊर्णनाभि (मकड़ी) तन्तुद्वारा ऊपरसे नीचे आता है, और वह उसी

तन्तुद्वारा नीचेसे पुनः ऊपर जा सकता है। उस प्रकार इस जीवका संसारके नाम-रूपोंकी आसक्तिके द्वारा पतन हुआ है और भगवान्के लोकोत्तर-नाम-रूपोंकी प्रीतिके द्वारा इसका अभ्युत्थान होजाता है।

और साकार—भगवान्की आराधना द्वारा ऐहलौकिक—पारलौकिक—एवं पारमार्थिक—अनेकविध लाभ सिद्ध हो जाते हैं। कल्याण—मार्गके पथिकके लिए साकार—ब्रह्मकी आराधना गाडीके समान एक बडा भारी अवलम्बन माना गया है। वह इसके द्वारा शान्ति एवं संतोष प्राप्त करता है। चित्तको एकाग्र बनाये रखता है। अनेकविध लौकिक कार्य भी यदि वह सिद्ध करना चाहे तो उसको भी सिद्ध कर सकता है। इसके विषयमें यह एक सच्ची घटना है—

आजसे करीब ५०—६० वर्ष प्रथमकी बात है। कनखल-सुरत-गिरि-बंगला मठके शिष्य एक संन्यासी स्वामी अचलानन्दजी थे। वे बडे अच्छे विद्वान् थे, वीतराग थे एवं भगवान् श्रीनृसिंहके उपासक थे। कहते हैं—भगवान् श्रीनृसिंहका उन्होंने कई बार दर्शन किया था। वे एक स्थानपर विशेष रहना पसंद नहीं करते थे। वे कहते थे कि—'**बहता पानी निर्मला, बधा गंदला होय। त्यों साधु रमता भला, दाग न लागे कोय।**' इसलिये वे भारतके अनेक—प्रदेशोंमें प्रायः भ्रमण ही करते रहते थे। एकबार वे घूमते—फिरते बिहार पहुँचे, एक जमीनदार बाबूके एकान्त बगीचेमें रहे। वह बाबू बडा धार्मिक—आस्तिक—सन्तसेवी भक्त था। वह प्रतिदिन स्वामीजीके समीप दर्शन एवं सत्संगके लिए जाता था, और वहाँ उसने स्वामीजीके लिए भोजनादिकी अनुकूल व्यवस्था कर रक्खी थी। कुछ दिन वहाँ रहकर एकदिन स्वामीजी वहाँसे

अन्यत्र चलनेके लिए उद्यत हुए। ऐसा देखकर प्रेमवश उस भक्त बाबूके आँखोंमें पानी भर आया। और उसने गद्गद स्वरसे कहा—कि—महाराज! आप यहाँ ही विराजे रहें, यहाँसे अन्यत्र मत जायें, हम आपकी सभी प्रकारसे यथोचित सेवा करते रहेंगे। स्वामीजीने उस भक्तबाबूसे कहा—देख, भाई! हम परिव्राजक संन्यासी हैं, अतः हमें एक जगह विशेष रहना नहीं चाहिये। भक्तने जिज्ञासाके साथ पूछा—महाराज! आपको एक जगह विशेष रहने पर क्या आपत्ति है?। स्वामीजीने कहा—एक जगह पर एक ही भक्तके यहाँ विशेष रहने पर उस भक्तके साथ ममता होजाती है, और उसके—सुख दुःखसे सुखी दुःखी होना पडता है। भक्तने कहा—भगवन्! आपतो ज्ञानवान् हैं, भक्त हैं, वीतराग हैं, आपको किसी पर क्यों ममता होगी? और ममताके विना अन्यके सुखदुःखसे अन्य कोई सुखीदुःखी नहीं हो सकता। स्वामीजीने कहा—भाई! संगदोष बडा जबरदस्त होता है। '**संगादशेषाः प्रभवन्ति दोषाः**' अर्थात् संगसे ही अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। जिसके यहाँ रहते हैं, जो भोजनादिसे सेवा करता है—उसके साथ कुछ न कुछ स्नेह हो ही जाता है। और इस द्वन्द्वमय परिवर्तमान—संसारमें सभीके समीप रात-दिनकी भाँति सुख दुःख आते जाते रहते ही हैं। और वह सेवक भक्त—अपने श्रद्धेय गुरुको अपने सुखदुःखकी थोडी—बहुत कुछ बातें सुनाता ही है। इनसे अनिवार्यतः गुरुको भी सुखी दुःखी बनना पडता है।

भक्तने कहा—भगवन्! मैं आपको अपने घर-संसारके सुखदुःखकी कोई भी बात नहीं सुनाऊँगा। इसकी मैं प्रतिज्ञा करता हूँ। आप

केवल–असंगभाव रखकर मेरे इस बगीचेमें बिराजे रहें, और सेवाका एवं दर्शनका अलभ्य लाभ देते रहें। आप चाहें तो हमारे लिए आत्मकल्याणका कुछ उपदेश देते रहना, परन्तु मैं आपको दुनियाकी कोई भी बात सुनाकर आपकी साधनामें किसी भी प्रकारका विक्षेप नहीं डालूंगा।

भक्तकी बात सुनकर स्वामीजीने मनमें विचार किया–कि–यह शरीर वार्धक्यके कारण कुछ शिथिल–सा हो गया है। घूमने–फिरनेमें भी अनेकविध विक्षेप आ ही जाते हैं। **घूमे सो शूरा और बैठे सो पूरा।** इसलिए एक–स्थान पर बैठ जानेमें भी कुछ आपत्ति नहीं है। और यहाँका स्थानभी अच्छा एकान्त एवं रमणीय है। यहाँका हवापानीभी शरीरके अनुकूल हैं। सेवक–भक्त भी श्रद्धालु एवं धार्मिक है, और वह दुनियाकी कोई भी बात नहीं सुनानेकी प्रतिज्ञा भी कर रहा है। इसलिये यहाँ विशेष रह जाना अच्छा ही है, ऐसा विचारकर स्वामीजीने भक्तकी प्रार्थना स्वीकार कर ली, और उसके बगीचेमें स्थायीरूपसे रहने लगे। रहते हुए करीब ७–८ वर्ष समाप्त होगये।

वह भक्त बडा जमीनदार था। एक रोज किसी–जमीनके लिए बडा झघडा हो गया, आपसमें लट्ठ चले, और उसमें एक व्यक्ति मारा गया। विरोधी दलने उसका आरोप उस भक्त जमीनदारके इकलौते पुत्रके ऊपर लगा दिया। इसका कोर्टमें मुकदमा चला। वकील आदिके द्वारा बहुत प्रयत्न करने पर एवं कई हजारोंका खर्च करने परभी वह निर्दोष लडका मिथ्या–आरोपसे न बच सका। उसको फाँसीकी सजाका हुकूम हो गया। इतना भयंकर कांड हो जाने परभी उस भक्त बाबूने

स्वामीजीको इसके विषयमें एक अक्षरभी नहीं सुनाया। हृदयमें बहुतही शोक-संतप्त रहनेपरभी वह अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ रहा। वह नियमतः प्रतिदिन स्वामीजीके दर्शनके लिए जाया करता था। लडकेकी फाँसीके एक दिन प्रथमभी वह गया; और दर्शन करके उसने स्वामीजीको **'ॐ नमो नारायणाय'** कह कर प्रणाम किया। और स्वामीजीने प्रसन्न मुखसे नारायण-नारायण बोलते हुए-कहा-क्यों, बाबूजी! अच्छे हो न?। महात्माओंकी यह आदत होती है-कि जो भी कोई उनके समीप आजाता है-उसके प्रति नारायण नारायण एवं अच्छे हो, अच्छे हो, ऐसा बोल देते हैं।

वह बाबू अच्छा तो था नहीं, उसके प्यारे-इकलौते लडकेको कल ही फाँसी होनेवाली है, इस बातका उसको बडा भारी अवर्णनीय दुःख था। स्वामीजीका 'अच्छे हो' ऐसा वाक्य सुनतेही उसके हृदयके प्रचुर-शोकका बांध टूट गया, और वह अश्रुओंकी धाराद्वारा बह निकला। भक्तवत्सल-दयानिधि स्वामीजीने देखा-मेरा सेवक भक्त-मेरेही समक्ष बालककी भाँति रो रहा है। इसके हृदयमें अवश्यही किसी बातका बडाभारी दुःख होगा। स्वामीजीने तुरन्तही उसे प्रेमसे पुचकारते हुए कहा-कहो, कहो, क्या बात है? इतना तू दुःखी क्यों है?। भक्तने कहा-नहीं भगवन्! इसके सम्बन्धमें मैं कुछभी नहीं कह सकता। क्योंकि-आपके सामने मैं प्रतिज्ञा कर चुका हूँ कि-मैं आपको कभी भी घरसंसारकी बातें नहीं सुनाऊँगा।' स्वामीजीने जोर देकर कहा-मेरे द्वारा कराई हुई प्रतिज्ञा मैं स्वयं तुडवा रहा हूँ, तुम अवश्यही अपने दुःखकी बात निःसंकोच कहो। देर मत करो, जल्दी कहो। इसप्रकार

स्वामीजीका विशेष आग्रह होने पर भक्त–बाबूने सारी घटनाका विस्तृत-वर्णन किया, और अपने लडकेको निरपराधी सिद्ध किया। स्वामीजीने पुनः पूछाकि–उस झगडेके समय आपका लडका वहाँ उपस्थित नहीं था?। भक्तने शपथके साथ कहा–कि–भगवन्! बिल्कुल नहीं था। उनलोगोंने कोर्टमें झूठी गवाहियाँ लगाकर फाँसीका हुकूम दिलवाया है।

स्वामीजीने कहा–अच्छा! जब तुम्हारा पुत्र निर्दोष है, तो भगवान् अवश्यही उसकी रक्षा करेंगे, इसकी तुम चिन्ता मत करो, भगवान् पर विश्वास रक्खो। और कल प्रातः चार बजे–नैवेद्यके लिये कई प्रकारकी गंगाजलसे बनी हुई–खीर-पूरी मालपुआ इत्यादि इतनी शुद्ध–सामग्री मेरे समीप भेज दो। भगवान् भक्तोंकी अवश्यही लज्जा रक्खेंगे।

स्वामीजीकी आज्ञाके अनुसार भक्त बाबूने सभी सामग्रीका प्रबन्ध कर दिया। और प्रातः समय पर स्वामीजीके समीप पहुँचा दिया। स्वामीजीने प्रातः अपने आराध्य–इष्टदेव भगवान् नृसिंहका आवाहन किया। भक्तके आवाहनसे भगवान् प्रकट हो गये, और प्रेमसे कहने लगे कि–मुझे क्यों बुलाया?। स्वामीजीने नमस्कारादि करनेके बाद कहा-प्रभो! आप अन्तर्यामी सर्वज्ञ हैं, सब कुछ जानते हैं?। प्रथम आप इस नैवेद्यका प्रेमसे भोग लगायें, उसके बाद मैं कुछ निवेदन करुंगा। भगवान्ने प्रसादके लिए कुछ अंश छोड़कर सबका सब नैवेद्य पालिया। तब स्वामीजीने कहा–कृपानिधान! जैसे आप भक्तोंके सभी अनिष्ट दूर कर उन्हें सुखी बनाते हैं, उसीप्रकार मुझेभी अपने उसबाबू–भक्तका अनिष्ट दूर कर उसे सुखी बनाना पड गया है–उसने आठ वर्ष तक मुझे गरमागरम घी चुपडे फुलके खिलाये हैं, और श्रद्धासे अनेक प्रकारकी

सेवाएँ की हैं। उसका लडका सर्वथा निरपराध है—उसकी रक्षा करनेके लिए मैंने आपको बुलाया है। श्रीभगवान्‌ने हुंकार भर शिर हिलाकर कहा—हाँ, लडका सर्वथा निर्दोष है, उसकी रक्षा होनी ही चाहिये। ठीक है—तब, लो—ये कोर्टके कागज। बाबूको बुलाकर उसके सामने ही उसके हाथसे इनको जला देना, लडका बच जायगा। इतना कहकर भगवान्—स्वामीजीको कोर्टके उस मुकद्दमेके सभी कागज सुपुर्द कर अन्तर्धान होगये। प्रातः ५॥ बजे वह बाबू स्वामीजीके समीप आया। स्वामीजीने वे सब कोर्टके सही—सिक्केवाले कागज दिये, और कहा—देख लो, ये वे ही कागज हैं, भगवान्‌ने वहाँसे अपनी अचिन्त्य-शक्तिसे ला दिये हैं। अब इनको फाडकर इनमें दियासलाई लगा दो। भगवान्‌की कृपासे लडकेकी रक्षा हो जायगी। बाबूने वैसा ही किया।

दूसरे दिन, जब कोर्ट खुला तो अंग्रेज—जजने—अपने क्लर्कसे कहा कि—फाँसीवाले उस अभियुक्तकी कार्यवाहीके सभी कागज लाओ, और उसे समयपर मैं फाँसी लगानेका हुकूम सुना दूँ। क्लर्कने पेटीका ताला खोलकर देखा तो उसे वे कागज नहीं मिले। तथापि वह पेटीमें उनका अन्वेषण करता रहा। जजने कुछ गरम होकर—क्लर्कसे कहा—क्यों देर कर रहा है—जल्दी कागज ला, कहाँ रक्खे हैं? टाइम पास हो रहा है। क्लर्क मुसलमान था—झुंझलाकर उसने कहा—'खुदा जाने, कलही मैंने आपसे लेकर इस पेटीमें सावधानीके साथ कागज रक्खे थे, ताला लगाकर इसकी चावी आपको दे दी थी। मैं क्या जानूं? कागज कहाँ चले गये।' अंग्रेज-जज विचारमें पड गया। वह हिन्दू—धर्मका भी कुछ परिचय रखता था। भगवत्प्रेरणासे उस जजके हृदयमें यह बात बैठ गई कि—इसमें कुछ

दैवी-चमत्कार हैं। तुरन्तही उसने उस बाबूजीको बुलाया-और पूछा कि-तुम्हारे यहाँ क्या कोई साधु संन्यासी तो नही रहता है ?। बाबूजीने कहा-हाँ ! मेरे बगीचेमें हमारे गुरु स्वामीजी रहते हैं। जजने कहा-उसने इसके लिए कुछ पूजा-अनुष्ठान तो नहीं किया ?। बाबूने कहा-इसकी मैं पूरी जानकारी तो नहीं रखता, परन्तु हमने अपना दुःख स्वामीजीको सुनाया था, और कहा था कि-मेरा निर्दोष लडका मारा जा रहा है। जजने कहा-अच्छा, अभी ही चलें, हम उस साधुको देखना मांगता है। बाबू जजको लेकर स्वामीजीके समीप आया। स्वामीजीकी-भव्य-तेजस्वी-सौम्य-मूर्तिका दर्शनकर जजके निश्चयमें परिवर्तन हो गया। स्वामीजीने उसे ओजस्विनी-वाणीसे कहा-तुम न्यायाधीश हो। तुम्हें किसीके प्रति अन्याय नहीं करना चाहिये। तुम अन्याय कर रहे थे-निर्दोष-लडकेको फाँसी पर चढा रहे थे। इसलिये हमने अपने भगवान्से कहकर कोर्टके वे सभी कागज मंगवाकर उन्हें जला दिया है। स्वामीजीकी वाणी सुनकर अंग्रेज प्रसन्न हुआ। और उनके लडकेको निरपराध साबित कर छोड दिया।

तात्पर्य यह है कि-जिसप्रकार अतिशीतलताके कारण जल बरफ हो जाता है, उस प्रकार भक्तोंके ऊपर अनुग्रह करनेके लिए अव्यक्त निराकार भगवान् साकार-व्यक्त बन जाते हैं। जैसे बरफ हो जाने परभी उसमें जलका अभाव नहीं रहता, वैसे ही साकार भगवान्में भी अव्यक्त-निराकार-सर्वेश्वर भगवान्के अनुत्तम-अव्ययभाव बने रहते हैं। उनका अभाव नहीं होता। तथापि-बुद्धिहीन-भगवद्विमुख लोग, भगवान्के उन साकार-विग्रहोंकी दिव्य-महिमाको न जानकर उनको साधारण-व्यक्ति-

विशेष मानते हैं, यह उनकी श्रद्धा-हीनताका एक सेम्पल है। इसलिये हमारे समस्त-शास्त्रोंका यह सिद्धान्त एवं ज्ञानवान् भक्तोंका यह अनुभव है कि-भगवान् अव्यक्त भी हैं, व्यक्त भी हैं, एक भी हैं, अनेक भी हैं, रूपरहित भी हैं, रूपवान् भी हैं। अधिक क्या कहें-विश्वके ये समग्ररूप उसी एकके ही तो हैं। परन्तु इस सिद्धान्तको समझनेके लिए हृदयकी पवित्रताकी आवश्यकता होती है। पवित्र-हृदयवाला मानव ही शास्त्रोंके गूढ-रहस्योंको समझ सकता है। दूसरा नहीं। हरिः ॐ तत्सत्।

(२५)

नाहं प्रकाशः सर्वस्य, योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति, लोको मामजमव्ययम्॥' (७।२५)

मैं अपनी योगमायाके द्वारा छिपा हुआ हूँ, इसलिए सबको प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ। अतएव यह अज्ञानी मूढ--मानव, मुझ--जन्म रहित-अविनाशी-अखण्डैकरस-परमात्माको परमार्थसे नहीं जानता है, अर्थात् -भ्रान्तिसे मेरेको जन्मने-मरनेवाला समझता है।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं कि-मैं सभी लोगोंके समक्ष अपने वास्तविक-स्वरूपसे प्रकट नहीं होता। किन्तु अपने कुछ ज्ञान-वान् भक्तोंके समक्ष ही प्रकट होता हूँ। आप सबके समक्ष प्रकट क्यों नहीं होते? इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं कि-मैं अपनी योगमाया द्वारा समावृत रहता हूँ। मेरे किसी अचिन्त्य-प्रज्ञाविलासका नाम योग है, वही अघटित-घटना-पटीयसी माया है, इसकी ओटमें मैं छिपा रहता हूँ, इसलिए सब लोग मुझे देख नहीं पाते। विद्यमान-वस्तु-

स्वरूपको आवृत कर देना एवं अविद्यमान—मिथ्याभावोंको दिखा देना, योगमायाका स्वभाव है। अतएव ईशावास्योपनिषत्में कहा है कि—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।

अर्थात् हिरण्यमयपात्रसे सत्यका द्वार आच्छादित होगया है। यह हिरण्यमयपात्र ही योगमाया है। इसलिए यह माया वस्तुतः जैसे भगवान् हैं, उनसे विपरीत बतलाती है। इसलिए मूढमानव भगवत्स्वरूपके विषयमें अन्यथा अन्यथा कल्पनाएँ करता रहता है। तत्त्वको अतत्त्व एवं अतत्त्वको तत्त्व समझकर यद्वातद्वा शास्त्रविरुद्ध—बकवाद करता रहता है। अजन्मा भगवान्‌को जन्मनेवाला, अविनाशीको मरनेवाला, एवं महान्—परब्रह्मको छोटा—सा जीवभावापन्न मानता है। अतः वह सत्यासत्यका निर्णय कदापि नहीं कर पाता। यद्यपि अस्ति—भाति—प्रिय रूपसे अन्तरात्मा भगवान् सदा सर्वत्र विद्यमान हैं, तथापि विचारचक्षुहीन मानव कहते हैं कि—भगवान्‌का अस्तित्व कहाँ है ?। हमें तो भगवान् कहीं भी नहीं दिखाई देते। इसलिए वे मूढ इस नामरूपात्मक—प्रतिक्षण परिवर्तन-शील- मिथ्या—द्वैतप्रपञ्चको ही वास्तविक—सत्य मानते हुए—दुःखमय—तुच्छ-वैषयिक—क्षणिक—सुखमें आसक्त होकर सत्यसुखसे वंचित रहते हैं। परन्तु भगवान्‌के ज्ञानीभक्त, भगवत्कृपासे लब्ध—ज्ञानकी दिव्यज्योति-द्वारा योगमायाके आवरणको दूर हटाकर भगवान्‌के वास्तविक—स्वरूपका सर्वत्र अनुभव करते हुए सदाविशुद्ध—आनन्दमें ही निमग्न बने रहते हैं।

तैत्तिरीयोपनिषत्‌की ब्रह्मानन्दवल्लीमें कहा है कि—**'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**···**'निहितं गुहायां'** अर्थात् वह सत्य, ज्ञान एवं अनन्तस्वरूप ब्रह्म—चिदात्मा, गुहामे छिपा हुआ है। वह गुहा अन्नमय,

कोशसे लेकर आनन्दमय पर्यन्त पांच कोशोंकी परम्परारूप है। जिस-प्रकार चर्मनिर्मितकोश तलवारको अपने अंदर छिपा देता है, उसप्रकार ये पांच कोश भी अपने भीतर अवस्थित चिदात्मा-ब्रह्मको छिपाये हुए हैं। यह दृश्यमान-हस्तपादादिमान् स्थूल-शरीर ही अन्नमयकोश है। यह अन्नजनितवीर्यसे उत्पन्न, एवं अन्नभक्षणसे अभिवर्धित हुआ है। इसलिए इसे अन्नमयकोश कहते हैं। अविद्याभ्रान्तिसे मूढमानव, अपने वास्तविक-स्वरूपको नहीं जानता हुआ, इस साडे-तीन हाथके स्थूल-शरीररूप अन्नमयकोशको ही 'मैं' मानता है एवं छातीपर हाथ ठोक-कर, 'यही मैं हूँ' ऐसा कहता है। और इसके जन्म-मरणसे अपनेको जन्म-मरणवाला समझता है।

परन्तु ज्ञानवान्-भक्त इस इदंपदार्थ-अन्नमयकोशको मैं (अहं-पदार्थ) आत्मा नहीं मानता। इस विचारद्वारा निश्चय करता है कि-यह अन्नमयकोश, प्रथम भी नहीं था, पीछे भी नहीं रहता, इसका आदि-अन्त प्रत्यक्ष है। परन्तु क्षेत्रज्ञ-चिदात्माका आदि-अन्त कोई नहीं बतला सकता, वह अजन्मा एवं अविनाशी है। इसलिए यह अन्न-मयकोश, मैं-आत्मा नहीं होसकता। यदि अन्नमयकोशको ही आत्मा मान लिया जाय तो अकृताभ्यागम एवं कृतनाश नामके दो अनिष्ट-दोष उपस्थित होजाते हैं। यह देहरूप-आत्मा पूर्वजन्ममें नहीं था, अभी ही पैदा हुआ है, इसलिए पूर्वजन्मके पुण्य-पाप इसके द्वारा नहीं किये गये थे। और नहीं किये गये पुण्य-पापोंके सुख-दुःखरूप फलका भोग मानने पर 'अकृताभ्युपगम' दोष होजाता है। और भावि-जन्ममें यह देहरूप-आत्मा नहीं रहेगा, यह यहाँ ही नष्ट होजायगा। मिट्टीका पुतला मिट्टीमें ही

मिल जायगा। तब तो इसके द्वारा किये गये–पुण्यपापोंका फल मिले विना ही नाश मानना पडेगा, इसका नाम 'कृतनाश' दोष है। और अदृष्टरूप–कारणके विना इस वर्तमान–देहकी उत्पत्ति भी क्यों होगी? और भावि–जन्ममें इस देहके संचित--कर्मोंके फल कैसे भोगे जायेंगे? इसप्रकार अन्नमयकोशको आत्मा मानने पर कर्मफलोंकी व्यवस्था ही नष्ट होजाती है, इसलिए यह अन्नमयकोश कभी भी आत्मा नहीं माना जा सकता।

अन्नमयकोशके भीतर प्राणमयकोश रहता है, यह वायुका विकार-विशेष है, समग्र--देहमें पादसे लेकर मस्तक पर्यन्त, व्याप्त रहता है, देहमें बल प्रदान करता है एवं चक्षुरादि–इन्द्रियोंका प्रवर्तक है। इसके क्षुधा-पिपासा आदि धर्म हैं। मूढ जीव इसके धर्मोंको अपनेमें मानता हुआ कहता है कि–मैं भूखा हूँ, प्यासा हूँ। परन्तु जड होनेके कारण यह प्राणमयकोश भी चेतन–आत्मा नहीं हो सकता।

प्राणमयकोशके भीतर तीसरा मनोमयकोश रहता है। जो देहादिमें अहंभाव एवं गेहादिमें ममभाव रखता है। एवं जिसकी, काम, क्रोध, तृष्णा, विचिकित्सा, आदि अनेक भ्रान्तिमयी अवस्थाएँ हैं। अतः विकारवान् होनेके कारण यह मनोमयकोश भी अविकारी आत्मा नहीं होसकता। परन्तु मूढमानव अपने अविकारी–शुद्धस्वरूपको न जानकर इस मनोमयकोशके कामादि–धर्मोंको अपने आत्मामें आरोप-कर--मैं कामी हूँ, क्रोधी हूँ, दुष्ट हूँ इत्यादि कहता रहता है। परन्तु ज्ञानवान् भक्त अपनेको इन दृश्य–विकारोंका द्रष्टा, नित्य--शुद्धबुद्धमुक्त एवं असंग--चिदात्मा--मानता है।

तृतीय-मनोमयकोशके भीतर विज्ञानमय कोश है। चिदाभासयुक्त बुद्धिका नाम विज्ञान है। यह सुषुप्तिमें विलीन होजाता है एवं जाग्रत्में समग्र-शरीरमें व्याप्त होकर रहता है। मनोमयकोश करण है, तो यह विज्ञानमयकोश कर्ता है। इसलिए यह भी चेतन-आत्मा नहीं होसकता। क्योंकि-आत्मा अकर्ता होता है एवं इसकी चैतन्यदृक्-ज्योति कभी भी लुप्त नहीं होती। जाग्रदादि-सभी अवस्थाओंमें शाश्वतरूपसे रहती है। चतुर्थ-विज्ञानमयकोशके अन्दर आनन्दमयकोश है। जब पुण्यभोगका उदय होता है, तब चित्तकी वृत्तियाँ अन्तर्मुख-एकाग्र होजाती हैं। एवं जब उनमें आत्माके आनन्दका प्रतिबिम्ब पडता है, तब वे वृत्तियाँ आनन्दका अनुभव करती हैं। पुण्यभोगके समय वृत्तियाँ अन्तर्मुख रहती हैं, एवं उसके शमनके समय वे ही वृत्तियाँ निद्रारूपसे विलीन होजाती हैं, उसे आनन्दमयकोश कहते हैं। यह पंचमकोश, भोक्ता है। यह भी कादाचित्क (कभी रहता है-एवं कभी नहीं रहता) होनेके कारण बिम्बभूत-शाश्वत-पूर्ण-आनन्दरूप-अविनाशी-आत्मा नहीं होसकता। अतएव मूढ अपनेको कर्ता भोक्ता मानता है, एवं ज्ञानवान् अपनेको अकर्ता-अभोक्ता असंग-अविकारी।

अतएव ज्ञानवान् भक्तके आत्मानुभवका वर्णन, श्रीमद्भागवतके एकादशस्कन्धमें इसप्रकार किया है-कि-

'नात्मा जजान न मरिष्यति नैधतेऽसौ,
न क्षीयते सवनविद् व्यभिचारिणां हि।
सर्वत्र शश्वदनपाय्युपलब्धिमात्रं,
प्राणो यथेन्द्रियबलेन विकल्पितं सत्॥'

(११।३।३८)

अर्थात् वह पंचकोशातीत—ब्रह्मस्वरूप—आत्मा, न तो कभी जन्म लेता है, और न कभी मरता है। वह न तो बढ़ता है और न घटता ही है। जितने भी परिवर्तनशील—देहेन्द्रिय--प्राणादि पदार्थ हैं, चाहे वे क्रिया, सङ्कल्प, और उनके अभावके रूपमें भी क्यों न हों,—इन सबकी भूत भविष्यत् एवं वर्तमान—आनेजानेवाली—समग्र—अवस्थाओंका जो साक्षी है—प्रकाशक है, सबमें अनुगत है, देश काल एवं वस्तुओंके परिच्छेदसे रहित—अपरिच्छिन्न अविनाशी है। वह उपलब्धि (ज्ञान)का न तो कर्ता है, न विषय है, किन्तु केवल उपलब्धिस्वरूप है। जैसे प्राण एक ही रहता है, परन्तु स्थानभेदसे उसके अनेक नाम होजाते हैं, वैसे ही ज्ञानरूप--आत्मा एक होनेपर भी इन्द्रियोंके सहयोगसे उसमें अनेकताकी मिथ्याकल्पना मूढोंके द्वारा की जाती है।

इसप्रकार आत्मतत्त्वका यथार्थ—अनुभव, मानव तभी ही प्राप्त कर सकता है, जब वह भगवान्के निर्मल—भक्तियोगके द्वारा सभी कल्मषोंका नाशकर चित्तको पवित्र बनाता है। इसलिये श्रीमद्भागवतमें कहा है कि—

'यर्ह्यब्जनाभचरणैषणयोरुभक्त्या,
चेतोमलानि विधमेद् गुणकर्मजानि।
तस्मिन् विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं,
साक्षाद् यथाऽमलदृशोः सवितुः प्रकाशः॥'
(११।३।४०)

अर्थात् जब भगवान् पद्मनाभ—नारायणके सच्चित्सुखमय--चरण-कमलोंको प्राप्त करनेकी इच्छासे तीव्र--भक्ति की जाती है, तब वह भक्ति

ही अग्निकी भाँति गुण और कर्मोंसे उत्पन्न हुए-चित्तके समग्र-कल्मषोंको-जला डालती है। जब चित्त विशुद्ध होजाता है, तब आत्मतत्त्वका अपरोक्ष अनुभव होजाता है-जिसप्रकार नेत्रोंके विकाररहित होजानेपर सूर्यके प्रकाशकी प्रत्यक्ष--अनुभूति होने लगती है।

श्रीहरिरूप--आत्माका अपरोक्ष--अनुभव होजानेपर वह ज्ञानवान् भक्त, उसकी ध्रुवा--स्मृतिके द्वारा इन देहादि-पञ्चकोशोंके विकारोंसे कदापि पराभूत नहीं होता। किन्तु सदा निर्विकार-असंग-आनन्दपूर्ण ही बना रहता है। इसलिए-उत्तम--भगवद्भक्तके विषयमें-श्रीमद्भागवत यही कहता है कि-

'देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो, जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः।
संसारधर्मैरविमुह्यमानः, स्मृत्या हरे भागवतप्रधानः॥'
(११।२।४९)

अर्थात् अन्नमयादिकोशरूप--संसारके धर्म हैं-जन्म-मृत्यु, भूख-प्यास, श्रम-कष्ट, भय और तृष्णा आदि। ये क्रमशः शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धिको प्राप्त होते ही रहते हैं। जो मानव, चिदात्मा भगवान् श्रीहरिकी ध्रुवास्मृतिमें इतना तन्मय रहता है कि-इनके बारंबार आते जाते रहने पर भी उनसे मोहित नहीं होता, पराभूत नहीं होता, अर्थात् इन अनात्म--धर्मोंका अपने विशुद्ध-आत्मामें आरोप नहीं करता, वही उत्तम--भगवद्भक्त है।

योगमाया द्वारा उद्भासित इन पांचकोशोंके आवरणोंसे **'राहुग्रस्त दिवाकर भी भाँति'** वह श्रीहरि-चिदात्मा आच्छादित होगया है। जबतक मानव इन आवरणरूप-प्रतिरोधोंको विवेक-विचार--ध्यान

आदिके द्वारा दूर नहीं हटाता, तबतक उसे सच्चित्सुखमय श्रीहरिकी प्राप्ति नहीं होती। योगमायाके ये आवरण बडे ही बलिष्ठ हैं, दुर्भेद्य हैं, इनको कोई एक दृढ–निश्चयी–वीतराग–भगवत्कृपापात्र महामानव ही हटा सकता है। इसलिए भगवान्‌ने गीतामें कहा है–

यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।' (७।३)

अर्थात् योगमायाके आवरणोंको दूर हटानेके लिए प्रयत्नकरनेवाले योगियोंमेंसे कोई एक ही महाभाग पुरुष, आवरण हटाकर मुझे तत्त्वतः जान पाता है।

इस विषयको आप एक दृष्टान्त द्वारा स्पष्टतः समझ सकते हैं–

किसीसमय नारदबावा पुण्य–भू भारतका भ्रमण करते हुए एक सत्संगी धार्मिक नगरमें आपहुँचे। वहाँ उन्होंने एक अच्छा–विशाल सत्संगभवन देखा। जिसमें कई सहस्रोंकी संख्यामें भावुक नर–नारी सत्संग, भजन एवं कीर्तन कर रहे थे। भगवान्‌को मिलनेके लिए व्याकुल हो वे सब आंसु बहा रहे थे। भगवान्‌की प्रार्थना करते हुए वे कह रहे–थे कि–'हाय! भगवान् बडे निष्ठुर हैं, वे हमें दर्शन क्यों नहीं दे रहे हैं? कब उनकी हम पर कृपा होगी, हे प्रभो! कृपानिधान! अब हमें ज्यादा मत तरसाओ, शीघ्र आवो, और हमारे विरहसंतप्त–हृदयमें अपने मिलनका अमृत सींचकर इसे शीतल बनाओ। भगवन्! दीनबन्धो! हमें अब आपके सिवा और कुछ भी सुहाता नहीं। नाथ! अब हमपर शीघ्र कृपा करो, और अपने व्यथित–भक्तोंके आतुर-नयनोंको पावन-दर्शन देकर सुखी करो।' इसप्रकार नारदबाबाने वहाँ भगवान्‌को मिलनेके लिए तडपते हुए भक्तोंको देखकर विचार किया कि–वास्तवमें भगवान्

बडे कठोर हैं। ये भक्तलोग, दर्शनके लिए कितने छटपटा रहे हैं, तथापि भगवान् इन्हें दर्शन नहीं दे रहे हैं। इसलिए शास्त्रोंमें भगवान्के लिए '**करुणासागर**' '**दयानिधि**' '**दीनदयालु**' इत्यादि जो विशेषण लिखे गये हैं, वे सब व्यर्थकी चापलुसीके सिवाय नितान्त झूठे ही मालुम पड रहे हैं, ऐसा विचारकर नारदजी अपनी योगशक्तिके द्वारा तुरन्त ही दिव्य धाम--वैकुण्ठमें पहुँच गये, और श्रीभगवान्से मिलकर कहने लगे कि—भगवन्! आप शीघ्र ही उस नगरमें चलें, और अपने प्रेमीभक्तोंको दर्शन देकर कृतार्थ करें। नहीं तो मैं आपके करुणा-सागर आदि विशेषणोंके ऊपर हडताल फेर दुँगा।

भगवान्ने कहा–नारद! ऐसा मत कर, वहाँ शीघ्र ही मैं चलता हूँ, सब भक्तोंको दर्शन देनेके लिए तैयार हूँ, ऐसा कहकर भगवान् तुरन्त ही नारदजीके साथ चल पडे। उस नगरसे पांच कोस दूर—पर रमणीय-वट-वृक्षकी छायामें एकान्त देखकर बैठ गये। और नारदजीसे कहने लगे कि—अब तुम शीघ्र वहाँ जाओ, और सब भक्तोंको यहाँ बुला लेआवो। यहाँ आनेपर उन सबको मैं दर्शन दे दूँगा। हम कई—करोडों कोसोंसे चलकर यहाँ आये हैं, अतः उन भक्तोंको भी अपने नगरसे कुछ चलना तो चाहिये न?। गरुड अपनी अति—वेगवती—चालसे चलकर चेंटीके सामने आता है; तो चेंटीको भी अपनी मन्दतर-चालसे चलकर गरुडके सामने आना ही पडता है। यही तो प्रीतिकी रीति है कि—दो प्रेमीजन एक दूसरेको मिलनेके लिए शक्तिके अनुसार आमने—सामने दौड पडें। अतः तुम वहाँ जाओ, और उन्हे यहाँ ले आवो, देखना सबको ले आना, कोई भी छूटने न पावे, किसीको मना मत करना। भगवान्की बात

सुनकर नारद बहुत प्रसन्न हुए और कहने लगे—भगवन्! आप यहाँ हीं विराजे रहें, और मैं अभी ही वहाँ जाता हूँ, और सभी भक्तोंको लिवा लाता हूँ, आपके श्रीचरणोंमें कई हजारों—भक्तोंकी भीड लाकर खडी कर देता हूँ। ऐसा कहकर नारद चल पडे, और आये उस सत्संगभवनमें—जहाँ कई सहस्र नरनारी बैठकर गीता—प्रवचन सुन रहे थे। प्रवचनके बाद खडे होकर नारदजीने कहा—भावुक—भक्तो! विश्वास रक्खो, मैं नारद हूँ, आप सबकी श्रद्धाभक्ति, एवं भगवान्के दर्शनकी उत्कट अभिलाषा देखकर, मैं करुणासागर भगवान्को वैकुण्ठसे यहाँ तुम्हारे नगरके समीप ले आया हूँ। सिर्फ आप लोगोंको पांच कोस ही चलना पडेगा, पांच कोसकी दूरी पर भगवान् बिराजमान हैं, अतः वहाँ पहुँचकर आप सबके सब भगवान्के पावन दर्शन करें, एवं अपने मानव जीवनको धन्य—एवं सफल बनायें, इसमें आप लोग एक क्षणका भी विलम्ब मत करें। और शीघ्र ही मेरे साथ चल पडें। बोलो—'**वैकुण्ठनाथ भगवान् श्रीनारायणकी जय।**'

नारदजीकी बात सुनकर कुछ लोग आपसमें हँसकर कहने लगे कि—आजकल संसारमें ढोंग बहुत फैल गया है। ऐरे—गैरे नथ्थुखैरे लोग, साधुका वेष बनाकर भगवान् के दर्शन करानेके ठेकेदार बन गये हैं। यह बेकार ढोंगी—आदमी—नारदजीके सामने इशाराकर—कहता है—कि पांच कोस मेरे साथ चलो। इसके समान हम लोग बेकार निकम्मे थोडे ही हैं कि—घरका काम छोडकर विना विचारे यूँही चल पडें। अपना तो बाजारमें पहुँचनेका समय हो गया है। मालूम होता है कि—इस साधुने झूठ—मूठ कोरी गप्प गढकर कुछ ऐंठनेका उपाय रच रक्खा

है। इसकी ऐसी बात सुनकर दूसरा व्यक्ति बोला कि—अरे! भाई! इस पाप-प्रधान-कलियुगमें भगवान्‌के दर्शन कहीं मार्गमें थोडे ही पडे हैं ?। इसप्रकार आधेसे भी ज्यादे लोग नारदजीके वचनोंमें अश्रद्धाकर अपने-अपने घरकी तरफ जाने लगे। तथापि नारदजी चिल्लाकर कहते ही रहे कि—अरे! भाइयो! तुम बडी गलती कर रहे हो, ऐसा सुवर्ण-अवसर तुम्हें बार बार न मिलेगा; अतः तुम मेरे वचनों पर अविश्वास मत करो, विश्वास रख मेरे साथ चले चलो, और भगवान्‌के दर्शनका अलभ्य-लाभ संपादन करो। परन्तु नारदजीकी इस चिल्लाहटको सुनी-अनसुनीकर उपेक्षाके भाव रखकर वे अपने अपने यथेष्ट स्थानपर ही चलते बने। तो भी कुछ ७००-८०० व्यक्ति नारदजीके साथ चलनेके लिए तैयार हो गये। उन्होंने सोचा-यह साधु तेजस्वी दीख रहा है। संभव है-इसका वचन सच्चा हो जाय। और यदि झूठा भी हो गया-भगवान्‌के दर्शन नहीं भी हुए तो भी पांच कोस चलनेमें अपना क्या जाता है ?। देखें, यह भी क्या तमाशा है।

भक्तोंका इतना समुदाय साथ लेकर उससे भगवन्नामका संकीर्तन कराते हुए-नारदजी नगरके बाहर निकले। नारदबावाने संतोष किया कि—चलो, इतना ही सही। इतनोंको भी मैं भगवान्‌का दर्शन करा दूँगा तो बहुत ही है। उनको एक-कोस पहुँचने पर भगवान्‌ने अपनी योग-मायाको आदेश दिया कि—जा तू जल्दी वहाँ, उनकी परीक्षा ले। वे मुझको ही चाहते हैं कि—और भी किसी-दुनियाँकी चीजोंको भी चाहते हैं। क्योंकि-निःस्पृह, निर्मम एवं निरहंकार भक्त ही मेरा दर्शन कर सकता है। स्पृहा, ममता, अभिमान आदि दोषोंवाला मेरा दर्शन

नहीं कर सकता। इसलिए वहाँ जाकर इनके मार्ग में कुछ प्रतिरोधक आवरण डाल दे। भगवान्का आदेश पाकर योग-मायाने तुरन्त ही एक-कोसकी अवधिमें-वहाँकी जमीन फाड दी, और उसमें तांबेके नये चमकीले-असंख्य सिक्के भर दिये, मानो कोई नई टकसाल-जमीनसे प्रकट हो गई हो। उसे देखकर 'हरे राम हरे राम' बोलने वाले भक्तोंने बडे आश्चर्यके साथ कहा कि-अरे दाम, अरे दाम, यह क्या?। और देखतेके साथ ही सैकडों लोग उस गड्डेमें उतर पडे-और अपनी अपनी धोतियोंको खोलकर, उनमें दोनों हाथोंसे सिक्कोंके ढेर भर कर गठरियाँ बाँधने लगे। ऐसा देखकर नारदजी कहने लगे-हें! हें! अरे! यह क्या कर रहे हो, छोडो इन्हें, इनमें हाथ मत लगाओ। यह योगमायाका झूठा प्रदर्शन है, इसमें मत ललचाओ। नहीं तो तुम्हें भगवद्दर्शनसे वंचित रहना पडेगा। अतः निकलो यहाँसे, चलो मेरे साथ। तथापि वे लोग, मानों नारदजीके वचनोंको सुन ही न रहे हों, ऐसा भाव रखकर वजनदार गठरियोंको शिर पर लाद कर चुपचाप चोरोंकी भाँति अपने घरकी तरफ चलने लगे। कोई वाचालव्यक्ति इन सिक्कोंकी गठरी बांधता हुआ नारदजीसे कहने लगा कि-बावा! हम बहुत ही गरीब हैं। बडी मुश्किलसे परिवारका पेट पाल रहे हैं। पैसोंकी इतनी बडी गठरी हमें कभी नहीं मिली। लडकीका व्याह करना है, टूटा फूटा घर नया बनाना है, ऐसे बीसों काम पडे हैं, परन्तु पैसे विना क्या हो सकता है?। इनके लिए हम बहुत ही चिन्तामें पडे हुए थे। माळूम होता है कि-भगवान्ने ही हमारी अनेकविध चिन्ता-ओंको दूर करनेके लिए ही प्रसन्न होकर यह विपुल खजाना खोल दिया

है। इसलिये बाबा! भगवान्का दर्शन तो पीछे भी हो जायगा, परन्तु इस मायाका पुनः दर्शन होना बडा कठिन है। तुम तो फक्कड बाबा ठहरे। तुम्हें घर-गृहस्थीकी जंजालका क्या पता? जो इसके चक्करमें फँसा हो, वही इसकी मुसीबतोंको जान सकता है। इसलिए महाराज! जो गठरी बांधना चाहे, उसे कृपा कर बांधने दो, किसीको मना मत करो। 'एकबार क्या? कईबार यहाँ आ-कर हम कई गठरियाँ बांधकर घरमें पहुँचा देंगे। इनसे हमारा दारिद्र्य सदाके लिए दूर हो जायगा।

नारदजी ऐसा दृश्य देखकर और उनकी विचित्र बातें सुनकर बहुत निराश हुए। तथापि धैर्यके साथ कुछ लोगोंको समझाने लगे। इनमेंसे करीब ३००-४०० लोग नारदजीके उपदेशको मानकर उनकी साथ चलने लगे। दूसरा कोस समाप्त होने पर वहाँ योगमायाने चांदीके सफेद-सिक्कोंके कई बडे-बडे ढेर लगा दिये। अब जिन्होंने तांबेके सिक्कोंकी उपेक्षा कर दी थी, उनसे भी रजतके कलदार रुपयोंको देखकर-नहीं रहा गया। वे भी उनकी गठरियाँ बांधने लग गये। नारदजी मना करते रहे, समझाते रहे, परन्तु इनकी कौन सुनता है?। तो भी कुछ माईके लाल ऐसे सैकडोंकी तादाद में थे-जो-नारदजीके उपदेशके अनुसार आगे चलनेके लिए तैयार हो गये।

जब वे तृतीय कोस पर पहुँचे, तब वहाँ योगमायाने हिरण्यके हितरमणीय कार्षापणों (गिन्नियों) की एक पूरी खान ही विशाल-टकसाल जैसी प्रकट कर दी। इसका दर्शन कर वे लोग इतने चकाचौन्ध एवं लालायित हो गये कि-**गोविन्दाय नमोनमः** अर्थात् भगवान् एवं

भगवान् के दर्शन दोनोंको ही नितान्त भूल गये। जैसे प्यासे मधुर जल देखकर, या जैसे भूखे कंगले अन्नक्षेत्र देखकर उसके ऊपर टूट पडते हैं, वैसे वे लोग भी दौडकर उसके ऊपर टूट पडे। वे सोचने लगे—क्या पता? वहाँ पहुँचने पर भगवान् मिलें, या न भी मिलें। परन्तु इन अनायासतः मिले हुए सुवर्णके नगद—नारायणोंको छोड देना, परलेसिरेकी वज्र—मूर्खताही मानी जायगी। इसलिये लोग कहते हैं— ऐसा, यही अलभ्य—प्रत्यक्ष सुवर्ण अवसर है। इतना चमकीला विशाल प्रियदर्शन प्रथम कभी किसीको नहीं हुआ होगा। सौभाग्यसे हमें ही यह दर्शन मिला है। यह दर्शन सदाके लिए तभी ही बना रह सकता है, जब कि—इनकी कई गठरियाँ हम घरमें चुपचाप पहुँचा देंगे। ऐसा सोचकर वे लोग भी लगे गठरियाँ बांधने। इसप्रकार योगमायाने नारदजीके समग्र—प्रोग्रामको मिट्टीमें मिला दिया। नारदजीने तो श्रीभगवान्से कई सहस्र भक्तोंकी भीड उपस्थित करनेके लिए कहा था। परन्तु योगमायाने कुछ गिनतीके लोगोंको छोड़कर सबको ही अपनी तरफ आकृष्ट कर लिया—ऐसा देखकर नारदजी योगमाया पर एवं उन लोगों पर बहुत ही झुंझलाये। और इन्हें रोषके साथ खरी खोटी सुनाने लगे कि—अरे मूर्खो! यह भगवान्की योगमायाका मिथ्या प्रदर्शन मात्र है। यह खजाना, मृग—तृष्णाके जलकी भाँति केवल देखने मात्र का है। घरमें—इनकी गठरियाँ पहुँचते ही इनसे धूलकी ही ढेर मिलेगी। देखना, तुम्हारी वही धोबीके कुत्ते जैसी दशा होगी—न मिली माया, न मिला राम, न इधरके रहे, न उधरके रहे। इसलिए इन्हें छोड़ मेरे साथ चलो, और मेरी बात माननेपर तुम्हारा हित ही होगा। इसलिए मेरी बात

पर विश्वास रक्खो।

परन्तु उनमेंसे ३०–४० व्यक्ति ही नारदजीकी बातें मानकर उनके साथ आगे चले, और शेष लोग सुवर्णकी ही प्रत्यक्ष-आराधनामें व्यस्त होगये। जब वे आगे चतुर्थकोसपर पहुँचे, तब वहाँ योगमायाने हीरे–माणिक–नीलम, मुक्ता आदि दिव्य–जवाहरातोंका खजाना खोल दिया। जिसके रोशनीदार–सुन्दर–मनमोहक–रत्नोंको देखकर–जिन्होंने रजत एवं काञ्चनके सिक्कोंका भी मोह छोड दिया था, वे भी मन्त्रमुग्ध की भाँति उनपर लट्टू होगये। और शीघ्र ही दौडकर उन्हें उठा-उठा कर गठरियोंमें छिपाने लग गये। ऐसा देखकर नारदजी उन्हें शान्तिसे समझाते हुए कहने लगे कि–भाइयो! तुम लोग, अब अन्तिम सीमापर पहुँच गये हो, एक कोस ही सिर्फ चलना बाकी रह गया है, वहाँ पहुँचने पर तुम्हें अनन्त–सौन्दर्य–लावण्य–माधुर्य–निधि भगवान् श्रीपति–नारायणके पुनीत–एवं भव्य दर्शन प्राप्त होंगे। जिनके सत्य एवं दिव्यदर्शनके समक्ष, इन रत्नोंका दर्शन मिथ्या है, तुच्छ है, असार है। भगवान्का दर्शन तुम्हें शाश्वत–विशुद्ध आनन्द प्रदान करेगा, और इन रत्नोंका दर्शन, प्रारम्भकी कुछ क्षणोंमें सुखद होने पर भी अन्तमें महादुःखप्रद ही सिद्ध होगा। जैसे जादूगर–प्रदर्शित–वस्तुओंका दर्शन स्थायी नहीं, किन्तु क्षणभंगुर होता है, वैसे ही इस योग–मायारूपी जादूगरनीका भी यह रत्नप्रदर्शन स्थायी नहीं है, अपि तु क्षणभंगुर ही है। यह जादूगरनी तुम्हारे भगवद्दर्शनमें आवरण डाल रही है, इसलिये आप लोग सावधान होजाँय, अतः इसके मिथ्या–मोहका परित्याग करें, और शान्तिसे आगे बढें। याद करें, प्रथम तुमलोग क्या चाहते थे और

क्या कहते थे ?। इस योगमायाकी चकाचौंधसे अपने लक्ष्यको एक क्षणमें ही भूल गये क्या ?। अतः आगे—पीछेका विचार करो, और अपने उस महान्—उद्देश्यको सिद्ध करनेके लिए इससे मुख मोड कर तत्पर होजाओ।

नारदजी द्वारा ऐसा समझाने पर—दो या तीन ही व्यक्ति—जो विवेकविचारशील, बातके धनी एवं भगवान्के खरे भक्त थे—आगे चलनेके लिए प्रस्तुत हुए। बाकीके सभी लोग मायाके इस चकाचौंधमें ही फँस गये। नारदबाबा इन—दो—तीनको ही साथ लेकर-पंचम-कोसकी समाप्ति होने पर भगवान्के श्रीचरणोंमें पहुँच गये। इन—दो या तीनोंने ही भगवान्के पावनदर्शन कर अपने जीवनको सफल एवं धन्य बनाया। उस समय श्रीभगवान्ने नारदजीसे हँसकर पूछा कि—क्यों नारद ! कहाँ गई वह कई सहस्र—भक्तोंकी भीड। नारदने खीजकर कहा—गई तुम्हारी योगमायाके झूठे—भडकिले एवं छली गड्डोंमें। जब कि—आप सब कुछ जानते हैं, तब फिर क्या पूछते हैं ?। आपकी योगमायाका ही वह रचा हुआ फँदा था—जिसने हमारे—भक्तोंकी भीडका खातमा कर दिया। श्रीभगवान्ने पुनः कुतूहलसे कहा—क्यों नारद ! अब तू क्या मेरे उन विशेषणों पर हडताल फेरेगा ?। नारदजीने कुछ पश्चात्तापके स्वरसे एवं लज्जासे आँखें झुकाकर कहा कि—प्रभो ! आपकी अद्भुत—लीलाको कौन जान सकता है, मुझे वास्तविकताका पूरा पता नहीं था, इसलिए मैंने उस समय करुणाके उत्कट वेगमें बहकर ऐसा बक दिया था। आप सब प्रकारसे समर्थ हैं, अतः इस अभिमानीको क्षमा करनेकी कृपा करें।

इस दृष्टान्तका यही तात्पर्य है कि—भगवान्—चिदात्मा, योगमायाके

इन पांचकोशोंके आवरणोंसे छिपे हुए हैं। इसलिए उनका सबको प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता। और इन आवरणोंका अतिक्रमण करना साधारण नहीं, बडा कठिन काम है। ये आवरण क्रमशः एकसे एक बढ–चढकर अति दुर्भेद्य हैं। अन्नमय कोशका आवरण ताम्बेके सिक्कोंका, प्राणमयकोशका आवरण रजतके सिक्कोंका, मनोमयकोशका आवरणसुवर्णके सिक्कोंका एवं विज्ञानमयकोशका आवरण जवाहरातके खजानोंके समान हैं। हजारों लोग, बड़े–बड़े पण्डित भी–कीर्तन, भजन, श्रवण, प्रवचन आदि करते हुए भी–इस अन्नमय–कोश स्थूल–देहका अध्यास नहीं छोड सकते। इसमें उन्हें आत्मत्वकी भ्रान्ति सदा बनी ही रहती है। कई लोग तप तितिक्षाद्वारा इसका अध्यास छोडने पर भी प्राणमयकोशका अध्यास छोडनेमें सफल नहीं होते। वे प्राणके जीवनको ही अपना जीवन मान कर वास्तविक–भगवद्रूप–शाश्वत जीवनका अनुभव नहीं कहते कर पाते।

विवेक–विचारद्वारा प्राणमयकोशका अध्यास छोडनेवाले–प्रयत्न-शील–साधक भी मनोमयकोशके राग–द्वेषरूपी जबरदस्त–बवन्डरमें फँसकर हताश होकर एवं बहुत खिन्न होकर मनके प्रति महात्मा–कबीरके शब्दोंमें ऐसा हैं कि—

मन! तोहे किसविध मैं समझाऊँ?।
सोना होय तो सुहागा मंगाऊँ, बंकनाल रस लाऊँ।
ज्ञान–शब्दकी फूँक चलाऊँ, पानी कर पिघलाऊँ।
घोडा होय तो लगाम लगाऊँ, ऊपर जीन कसाऊँ।
होय सवार तेरे पर बैठूँ, चाबुक दे के चलाऊँ।

इसप्रकार यह कल्याणमार्गका परिपन्थी दुश्मन मन, बहुत समझाने पर भी नहीं समझता। इसलिए इस कोशका भी अतिक्रमण करना अति दुष्कर है। अभ्यास–वैराग्यद्वारा इसका अतिक्रमण करने पर भी विज्ञान-मयकोशका अतिक्रमण अत्यन्त ही कठिन है। क्योंकि–यह चतुर्थकोश–अनित्यमें नित्यबुद्धि, अशुचिमें शुचिबुद्धि, दुःखमें सुखबुद्धि, अनात्मामें आत्मबुद्धि आदि–विपरीत भावनाओंका दुर्भेद्य खजाना है। निदिध्यासन-का परिपाक किये विना केवल वेदान्त–तत्त्वका श्रवण–मनन करने पर भी इसका भेदन नहीं होता। वर्तमान समयमें भी श्रवण–मनन करने वाले–सहस्त्रोंमेंसे कोई एक या–दो ही विरले-जन–जो सच्चे जिज्ञासु एवं मुमुक्षु हैं–निदिध्यासन करते देखे जाते हैं। जिनकी वृत्तियाँ संसारसे सर्वथा उपरत एवं अन्तर्मुख होगई हैं–ऐसे–एकान्तवासी–निःस्पृह–निरभिमानी–भद्रमानव ही निदिध्यासन कर सकते हैं। परिशिष्ट–बहिर्मुख लोग तो वेदान्तके इधर–उधरके गप्पगोले लगाकर केवल मुखसे अहंब्रह्मास्मि बोलकर अपनेको ब्रह्मवेत्ता एवं कृतार्थ मानते हुए इस विज्ञानमयकोशके विपरीत–निश्चयोंमें ही फँसे रहते हैं, एवं वास्त-विक–ब्रह्मसाक्षात्कारसे वंचित रहते हैं। जब विद्याधिकारी साधक–ब्रह्मसाक्षात्कारकी सच्ची लगन रखकर निदिध्यासनका पूर्णपरिपाक करता है, तब ही वह इस विज्ञानमयकोशका अतिक्रमणकर पंचम-आनन्दमय-कोशकी सीमामें पहुँच जाता है।

निदिध्यासनके परिपाकसे जब पराशान्तिमयी ब्राह्मीस्थितिका लाभ होता है, एवं साधककी जब उन्मनी–अवस्था होजाती है, तब वह आनन्दमय–कोशका भी सहजमें ही अतिक्रमण कर पञ्चकोशातीत–द्वैत-

प्रपञ्चातीत--परब्रह्म--सच्चित्सुखमय--नित्यशुद्ध-बुद्ध-मुक्त--असंगाद्वय-चिदात्मा--भगवान्‌का अपरोक्ष--अनुभवकर सदाके लिए कृतार्थ, धन्य एवं जीवन्मुक्त होजाता है। यह जीवन्मुक्त ही सच्चे—अर्थमें ब्रह्मवेत्ता एवं उत्तम—भगवद्भक्त है। अतएव श्रीमद्भागवतके--एकादश स्कंधमें ऐसे सर्वोत्तम—भगवद्भक्तके लक्षण परिचयके लिये ऐसे बतलाये हैं कि—

> **न कामकर्मबीजानां, यस्य चेतसि संभवः।**
> **वासुदेवैकनिलयः, स वै भागवतोत्तमः॥**
> **न यस्य जन्मकर्मभ्यां, न वर्णाश्रमजातिभिः।**
> **सज्जतेऽस्मिन् अहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः॥**
> **न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा।**
> **सर्वभूतसमः शान्तः, स वै भागवतोत्तमः॥**
> **(११।२।५०–५१–५२)**

जिसके—विशुद्ध—ब्रह्मभावपूर्ण—मनमें विषयभोगकी इच्छा, कर्म-प्रवृत्ति, और उनके बीज—स्वरूप वासनाओंका उदय नहीं होता, और जो एकमात्र—भगवान्—वासुदेवमें ही निवास करता है, वह उत्तम-भगवद्भक्त है। जिसको—इस शरीरमें—न तो उत्तम कुलमें जन्मसे तपस्या आदिकर्मसे तथा न वर्ण, आश्रम एवं जातिसे हो अहंभाव होता है, वह निश्चय ही भगवान्‌का प्यारा भक्त है। जो धन—संपत्तिमें—'यह अपना है और यह पराया' इस प्रकारका भेदभाव नहीं रखता, तथा जो आत्मामें भेदभाव नहीं रखता, अर्थात् निखिल—शरीरोंमें एक ही मैं आत्मा हूँ, ऐसा अभेदभाव रखता है, समस्त—पदार्थोंमें समस्वरूप—परमात्माको देखता रहता है, तथा जो किसीभी सांसारिक--शुभाशुभ

घटनाओंसे विक्षिप्त न होकर शान्त–आनन्दमग्न बना रहता है, वह भगवान्‌का उत्तम–भक्त है।

इस प्रकार जिसने योगमायाके अविद्या–कामकर्मादि–आवरणोंकी विजय की है, जिसकी पावनदृष्टिके समक्ष हिरण्यमय–पात्रका आवरण दूर हो गया है, वही सर्वत्र सदा स्वस्वरूप–परब्रह्मकी–आनन्दमयी–भर्ग-ज्योतिका ही दर्शन करता रहता है। तथा वह शरीरदृष्टिसे संसारमें रहता हुआ भी ब्रह्मदृष्टिसे असंग–उदासीन रहकर भेदमें भी अभेद्-तत्त्वका अनुभव एवं अनेकोंमें भी उस एकका ही अवलोकन करता है। अर्थात् वह भगवत्स्वरूपमें हो सर्वथा वर्तमान रहता है। यही बात श्रीभगवान्‌ने गीतामें भी कही है—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥
(६। ३१)

अर्थात् समस्त–भूतोंमें स्थित मुझ–परमात्माका जो अभेद–भाव रख कर भजन करता है, वह योगी सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी मेरेमें ही बर्तता है।

और जो योगमायाके आवरणोंसे मूढ एवं विक्षिप्त हो गया है, ऐसा यह मानवसमुदाय मुझ परमात्माको यथार्थरूपसे नहीं देख सकता है। मैं भगवान् सर्वत्र हूँ, सर्वमय हूँ–अजन्मा–अविनाशी हूँ–सबका अपना आप हूँ, इस बातको यह समझ नहीं सकता। इसलिये हे अर्जुन! तू इस योग–मायाके मिथ्या आवरणरूपी पर्दोंको ज्ञान–विज्ञानरूपी शस्त्र द्वारा फाड दे, नष्ट कर दे। और मेरा अनन्य–भक्त बनकर निष्कामकर्म-

योगका पालन कर। मैं अपने--निष्काम ज्ञानवान्--भक्तके समक्ष मायाका बुरका उतारकर प्रकट हो जाता हूँ, वह मुझे देखता रहता है, तो मैं उसे देखता रहता हूँ, वह मेरा आत्मा बन जाता है, तो मैं उसका आत्मा होजाता हूँ। इसप्रकार क्षीर--नीरकी भाँति हम दोनों भक्त एवं भगवान्--एक--अद्वय हो होजाते हैं। उसमें फिर तू एवं मैं का भेद-भाव नहीं रहता। अतएव उत्तर--गीतामें कहा है कि—

'यथा जलं जले क्षिप्तं, क्षीरे क्षीरं घृते घृतं।
अविशेषो भवेत्तद्वज्जीवात्मपरमात्मनोः॥'
(२। २)

अर्थात् जिसप्रकार जलमें जल, दूधमें दूध, एवं घीमें मिलाया हुआ घी एकरूप होजाता है, उसमें कुछ भी भिन्नता नहीं रहती। उसी प्रकार योगमायाके आवरणोंसे मुक्त—जीव एवं परमात्मामें अभिन्नता होजाती है, पश्चात् इसमें कुछभी विलक्षणता (विशेषता) नहीं रहती। उस अभिन्नतामें फिर कोई बाधक उपस्थित नहीं होता। हरिः ॐ तत्सत्।

(२६)

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन!।
भविष्याणि च भूतानि, मां तु वेद न कश्चन॥ (७। २६)

हे अर्जुन! प्रथम व्यतीत हुए और वर्तमानमें अवस्थित, तथा आगे होने वाले—सब भूतोंको—अर्थात् सभी चराचर—पदार्थोंको मैं यथावत् जानता हूँ, परन्तु मुझ—परमात्माको भक्तिज्ञान आदि साधन रहित—मानव नहीं जानता है।

आनन्दकन्द प्रभु श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं कि—हे भारत! मैं

सदा अविचल--शाश्वत--चैतन्य ज्योतिस्वरूप हूँ. इसलिए मैं समस्त विश्वको जानता हूँ। भूत भविष्य एवं वर्तमान, इन तीनों कालोंमें अवस्थित--समस्त चराचर--पदार्थोंका मैं अपरोक्ष--यथावत् ज्ञान रखता हूँ। देख! यह विश्व-सृष्टि परिवर्तन शील है। वर्तमानके पदार्थ अतीत होकर विलीन होजाते हैं। और जो इस समय देखनेमें नहीं आनेवाले भविष्यके पदार्थ हैं, वे वर्तमान एवं दृष्ट होजाते हैं, और अतीत कभी भविष्यमें आजाते हैं। अतएव लोग प्रथम कहते हैं--होंगे होंगे, पीछे कहते हैं--हुये हुये, अन्तमें बोलते हैं--गये गये। संसारका यही विनश्वर स्वरूप सर्वत्र देखनेमें आ रहा है--कि--होना, आना और जाना। इसलिए कहा है--'**सर्वे भावाः क्षणपरिणामिनो ऋते चितिशक्तेः।**' अर्थात् एक--चेतनशक्ति--अन्तरात्मा भगवान्को छोड़कर संसारके सभी नामरूपात्मक--पदार्थ क्षण--क्षणमें बदलते रहते हैं। और पदार्थोंको जाने दीजिए--अपनी इस कायाको ही देखिये। पहिले यह अदृष्ट-बीजरूपसे खाद्य--भोजनादि पदार्थोंमें था, पीछे पिताके शरीरमें बीजरूपसे आया, उसके बाद यह वीर्यरूपसे माताके उदरमें गया, वहाँ यह बढ़ने लगा। पश्चात् यह शिशुरूपसे बाहर आया। बड़े चूहेके समान बिस्तर पर पडा हुआ ऊँआ ऊँआ कर रोता रहा। उस समय इतना यह अशक्त था कि--अपने ऊपर काटनेवाली मक्खियोंको भी हाथसे उडा नहीं सकता था। शैशवावस्थाके बाद इसकी कौमारावस्था आती है। अब यह उछलने कूदने एवं फाँदने लगता है। कभी यह खिलखिलाकर हँसता है, तो कभी मुँहफट रोता है। इसके बाद यह नवयुवक बन गया। अभिमान-की मात्रा बढ़ जाने पर यह अकड़कर चलने लगा। दूसरोंको सेर तो

अपनेको सवासेर समझता रहा। अपनी दीवानी—जवानीके नशेमें चकचूर हुआ बेभानकी भाँति घूमता फिरता रहा। कुछ दिनोंके बाद इसकी यह जवानी भी कर्पूरके समान उड़ जाती है। इसके काले—बाल अब खिचडी जैसे गंगा—जमुनी बन जाते हैं। फिर यह वृद्धावस्थामें पदार्पण करता है। कान सुनना बन्द कर देते हैं। दांत उखड़—उखड़ कर अलग हो जाते हैं। आँखोंका तेज घट जाता है। मुँहसे राल टपकने लगती है। स्वादिष्ट—पदार्थोंके खानेकी इच्छा तो इसकी बनी रहती है—परन्तु उदर—बाजारमें मालकी खपत न होनेके कारण, या जबरदस्ती माल हूँसनेपर अनेक रोग होजानेके भयके कारण बिचारा लाचार—सा बना रहता है। और एक दिन अकस्मात्—ही प्राणपखेरुके उड़ जाने पर यह खाकका पुतला खाकमें मिल जाता है। इसप्रकार कभी भविष्यमें अदृष्ट रूपसे रहनेवाला यह देह-पदार्थ वर्तमानमें दृष्ट होकर पश्चात् नष्ट होकर अतीत बन जाता है। यही संसारका अदृष्ट—दृष्ट एवं नष्ट स्वरूप है।

श्रीभगवान् अतीत एवं भविष्यत्के नष्ट एवं अदृष्ट पदार्थोंका भी वर्तमानकालिक—पदार्थोंके समान, अपरोक्ष ज्ञान रखते हैं। इसलिए उन्हें हमारे शास्त्र सर्वज्ञ एवं सर्ववित् कहते हैं। सर्वज्ञ यानी सामान्य (परोक्ष) रूपसे सर्व—पदार्थोंका ज्ञाता। सर्ववित् यानी विशेष (अपरोक्ष) रूपसे सर्वपदार्थोंका ज्ञाता। प्रत्येक पदार्थमें सामान्य एवं विशेष दो प्रकारके रूप रहते हैं। दृष्टान्तके तौर पर घटत्व यह सामान्यरूप है। जो विश्वके अतीतादि सकल घटोंमें रहता है। और 'तद्घटत्वं' यह विशेष रूप है-जो इस एक घटमें ही रहता है, अन्यमें नहीं।

सामान्य—रूपसे दुनियाँकी बहुतसी बातें साधारण लोग भी जानते

हैं कि-भारतमें अकबर नामका यवन बादशाह भी हुआ था। मेवाड़के महाराणा-प्रतापने उसके छक्के छुड़ा दिये थे, इत्यादि। परन्तु विशेष रूपसे अकबर एवं महाराणा प्रताप कैसे थे? यह नहीं जान सकते। क्योंकि-जीवोंकी दृष्टिमें कालोंका भेद रहता है। इसलिए उनकी दृष्टि बडी ही संकुचित रहती है। परन्तु महान्-भगवान्की अनन्त-शक्ति-सम्पन्न-विशाल-दृष्टिमें कालोंका भेद नहीं रहता। अतः भगवान् उन अतीत-भविष्यादि-सभी पदार्थोंको अपरोक्ष रूपसे जान सकते हैं। क्या क्या होगया है, और क्या क्या होने वाला है, वह सब कुछ भगवान्-की दृष्टिके समक्ष अपरोक्ष रूपसे अवस्थित रहता है। जीवोंकी दृष्टिमें वर्तमानका पदार्थ नष्ट होकर अतीत होजाता है, और भविष्यत्का पदार्थ वर्तमानमें अदृष्ट बना रहता है। परन्तु भगवान्की दृष्टिमें कोई भी पदार्थ न तो नष्ट होता है, न तो अदृष्ट बना रहता है। कालका शासन जीवों पर हुआ करता है, भगवान् पर नहीं। क्योंकि-भगवान् तो कालके भी शासक-महाकाल हैं। इसलिए भगवान् त्रिकालदर्शी माने गये हैं। भगवान्का यह त्रिकालदर्शित्व, हम उनके अवतारोंके अनेकविध-चरित्रोंसे भी समझ सकते हैं। कृष्णावतारका एक चरित्र ऐसा था कि—

जिस समय नियमके उल्लंघनरूप-अपराधसे अर्जुनको बारह वर्षका वनवास मिला था। वह नियम नारदजीके द्वारा इसप्रकार करवाया गया था कि-'जब एक भाई एकान्तमें द्रौपदीके समीप होगा, तब वहाँ दूसरा भाई नहीं जायगा। यदि वह किसी कारणवश वहाँ जायगा, तो उसे १२ वर्षका वनवास भोगना पडेगा।' वनवासकी अवधिमें अर्जुनका आसाम-मणिपुर नरेशकी कुमारी चित्रांगदासे परिणय

हुआ था। और उससे एक बड़ा बलवीर—महापराक्रमी यशस्वी 'बभ्रुवाहन' नामका पुत्र उत्पन्न हुआ था। वह पश्चात् अपने मातामहके राज्य-सिंहासनका अधिकारी होगया था। जब उसको कौरव एवं पाण्डवोंके युद्धका समाचार मिला, तब वह बहुत ही प्रसन्न हुआ। और युद्ध देखनेके लिए अतीव लालायित होकर अपनी माताके समीप आज्ञा मांगनेके लिए गया। हर्षित होकर वीराङ्गना माताने कहा—क्षत्रियके लिये युद्ध ही श्रेष्ठ धर्म है, एवं खुला हुआ स्वर्गका द्वार है। इसलिए तू युद्धमें जाना चाहता है, तो बड़ी खुशीके साथ जा।

चलते समय बभ्रुवाहनने मातासे पूछा कि—मातेश्वरि! मैं तुम्हारी आज्ञा पाकर युद्धमें तो जा रहा हूँ, परन्तु मैं किस पक्षकी तरफसे युद्ध करूं? यह बतलाइये। माताने सोचा कि—पाण्डव ५ हैं, और कौरव १०० हैं। कौरवोंके समीप ११ अक्षौहिणी सेना है, और पाण्डवोंके समीप ७। इसलिए सम्भव है कि—पाण्डव कौरवोंसे हार जाँय। ऐसा सोचकर माताने बभ्रुवाहनसे कहा कि—बेटा! जो पक्ष हारता जाय, उसकी तरफसे तू युद्ध करना। इस प्रकार माताकी सम्मति-प्राप्त कर बभ्रुवाहन युद्धके लिए चल पड़ा। उधर सर्वज्ञ—भगवान् श्री कृष्णको बभ्रुवाहनका सब वृत्तान्त ज्ञात हो गया। भगवान्‌ने विचार किया कि—यहाँ तो अत्यधिक होने पर भी कौरव हार रहे हैं, और कम होने पर भी पाण्डव जीत रहे हैं। वह बलवीर बभ्रुवाहन, यहाँ आकर कौरवोंकी तरफसे युद्ध करेगा, और पाण्डवोंको हरायेगा, और हारे हुये कौरवोंको जितायेगा। क्योंकि—बभ्रुवाहन अपने पिता अर्जुन से भी पराक्रममें कम नहीं है, किन्तु बढ़ा चढ़ा है। इसका पराक्रम

यहाँ तक विख्यात है कि–मेघकी प्रचण्ड–गर्जनाकी भाँति इसकी हूँकारसे ही सेना भाग जाती है। इसलिए यह अकेला ही पाण्डव-सेनाका सफाया कर सकता है। यद्यपि इस–पाण्डवकुमार बभ्रुवाहन को लड़ना तो पाण्डवोंकी ओरसे ही था, परन्तु अब यह माताकी आज्ञाके अनुसार कौरवोंकी ओरसे लडेगा। उल्टा ही हो गया, ऐसा विचारकर पाण्डवोंकी एवं उनकी सेनाकी रक्षाके लिए तुरन्त ही भगवान्ने साधुका वेश बना डाला। हाथमें चिमटा–तुम्बा, शिर पर लम्बी-लम्बी लटूरियाँ, शरीर पर काषाय–वस्त्र, मस्तकमें पवित्र–भस्म, एवं कण्ठमें रुद्राक्षकी माला, धारणकर–जिधर बभ्रुवाहन आ रहा था, उसी रास्ते चल पडे। बीचमें मिलकर उससे पूछा कि–राजन्! किधर जा रहे हो? बभ्रुवाहन आस्तिक था, साधुका दर्शनकर तुरन्त ही रथसे उतर पड़ा, और समीप जाकर साधुके चरणोंमें मस्तक झुकाया; और विनयपूर्वक कहा कि–भगवन्! हम युद्धमें जा रहे हैं। साधुके वेषमें भगवान्ने कहा–कि हमने सुना है कि–तुम बडे वीर एवं पराक्रमी हो। जिस–किसीका भी चाहे वह कितना ही दूर क्यों न हो? स्मरण कर उसको अपने बाणका लक्ष्य बना देते हो। जब ऐसी बात है तो–तुम अपनी कुछ करामत हमें भी दिखाओ। अच्छा! बताओ कि–इस समय भगवान् श्रीकृष्ण कहाँ है? और नमस्कार करनेके लिए उनके चरणोंमें एक बाण मारो।

साधुके कहने पर बभ्रुने बाण छोड़ा। उस समयकी मन्त्रशक्ति देखिये। वह बाण समग्र–ब्रह्माण्डमें घूमता हुआ बहुत ही शीघ्र सामने ही खड़े हुए साधु वेषधारी भगवान्के चरणों पर आ पड़ा; ऐसा देखकर

हाथ जोड़कर—पुनः प्रणाम करते हुए बभ्रुवाहनने साधुसे कहा कि—आप ही इस वेषमें श्रीकृष्ण भगवान् हैं। श्रीभगवान् बभ्रुवाहनकी ऐसी आश्चर्यकारिणी विलक्षण—शक्ति देखकर बहुत ही प्रसन्न हुए। और सोचने लगे कि—इसने मुझे अब पहिचान लिया है, यह बड़ा बलवीर है, यदि यह कौरव—पक्षमें रहेगा तो निःसन्देह पाण्डव हार जायेंगे। इसलिए श्रीभगवान्ने बभ्रुवाहनकी भूरि भूरि प्रशंसा—करके अच्छे ढंगसे उसे समझाया कि—तुम अपने पिताकी ओरसे युद्ध करना। कौरवोंके पक्षमें रहकर युद्ध नहीं करना। बभ्रुवाहनने कहा—भगवन्! मेरी माताने जैसा कहा है—उसके अनुसार ही मैं युद्ध करूंगा। चाहे मुझे किसी भी पक्षकी ओरसे लड़ना पडे, परन्तु जो पक्ष हारता जायगा, उसकी तरफसे मैं लडूंगा। शास्त्रोंमें कहा है कि—'**पितुः दशगुणा माता गौरवादतिरिच्यते।**' पिताकी अपेक्षा माताका दशगुना गौरव है। अतः मैं अपनी माताके वचनका उल्लंघन किसी भी दशामें नहीं कर सकता।

भगवान्ने सोचा कि—यह अपनी माताका बड़ा भक्त है। इसलिए यह न तो मुझ भगवान्की या अपने पिताकी भी कोई बात मानेगा। अतः इसको किसी और युक्तिसे वशमें करलेना चाहिए। ऐसा सोचकर भगवान्ने कहा कि—मैंने सुना है कि—तुम बहुत ही उदार हो, एवं दानी हो। इसलिए जो हम मांगे, वह हमें भी कुछ दे दो। बभ्रुवाहनने कहा—भगवन्! आप अपने असली वेषमें होते और मुझसे कुछ मांगते, तो संभव है--मैं नहीं भी दे सकता। परन्तु आप साधुबावाका वेष धारण-कर मुझसे मांग रहे हो—इसलिए जो आप माँगोगे, वही मैं सहर्ष दूँगा। भगवान्ने तुरन्त ही माँगा कि—तुम मुझे अपना शिर काट कर दे दो।

बभ्रुवाहनने कहा—भगवन् ! मैं अपने वचनका पालन करना जानता हूँ, इसलिए मैं तुम्हें अपना शिर दे दूंगा । किन्तु आपको भी मेरी दो—अभिलाषाएँ पूर्ण करनी होंगी । भगवान्‌ने कहा—अवश्य मैं तुम्हारी अभिलाषाओंको पूर्ण करूंगा । शीघ्र बतलाओ, तुम्हारी क्या क्या अभिलाषा है ? । बभ्रुने कहा—एक युद्ध देखनेकी और दूसरी विवाहकी । प्रसन्न होकर भगवान्‌ने कहा कि—हम तुम्हारी दोनों अभिलाषाएँ पूर्ण करेंगे । कुरुक्षेत्रके समरांगणमें शमी वृक्षकी ऊँची डाली पर तुम्हारा शिर काटकर टांग देंगे, और उसमें चेतना—शक्ति भर देंगे । इसप्रकार तुम युद्ध भी देख सकोगे, और जो पक्ष हारता जाय, उसकी तरफसे हूँकार भी भर सकोगे । दूसरी तुम्हारी विवाहकी इच्छा है—सो दुनियाँमें जितने भी विवाह होंगे, उन सबमें हम तुम्हें साझीदार बनावेंगे । उन सबके साथ तुम्हारा विवाह होता रहेगा । अत एव भारतके उत्तर-प्रदेश आदिमें बभ्रुवाहनके विवाहकी प्रथा अब तक चालू है । वहाँ वरका मामा, एक हण्डीके ऊपर स्वस्तिक बनाकर उसे वृक्षकी डालीमें टाँग देता है । और उसमें बभ्रुवाहनके शिरका परिचय कराकर उसका वरवधूको दर्शन कराया जाता है ।

इसप्रकार अन्तर्यामी सर्वज्ञ—भगवान् तीनोंकालोंकी सभी बातोंको—जानते हैं । यदि वे न जानते होते तो पराक्रमी बभ्रुवाहन पाण्डवोंकी सेनाका सफाया कर डालता । परन्तु श्रीभगवान्‌ने इसप्रकार पाण्डवोंकी रक्षा कर अपनी सर्वज्ञातृत्व—शक्तिका परिचय दिया । और इसप्रकारके भगवान्‌के दिव्य—चरित्रोंका वर्णन, भारत—पुराणादि शास्त्रोंमें बीसों जगह मिलेंगे । श्रीभगवान्‌का एक—और चरित्र ऐसा था कि—जिस समय

कौरव-पाण्डवोंका युद्ध होना निश्चित होगया था। उस समय दुर्योधनको अपने शरीरको वज्रके समान दुर्भेद्य बनानेकी उत्कट अभिलाषा होगई। इसलिए वह विदुरजीकी अनुमतिसे अजातशत्रु-युधिष्ठिरजीके समीप इसका उपाय पूछनेके लिए गया। युधिष्ठिरजीने कहा—वह उपाय तो तुम्हारे घरमें ही है, एवं अतीव-सरल है। आप उस समयकी उदारता एवं प्रामाणिकता देखिये। दुश्मनको भी सच्ची एवं हितकारी सलाह देते थे। उन्होंने कहा-तुम अपनी माता गान्धारीके सामने नग्न होकर खडे होजाओ। माता तुम्हें—कई वर्षोंकी बंधी हुई—आंखोंकी पट्टी उतारकर देख लेगी, इतने मात्रसे ही तुम्हारा शरीर वज्रके समान सुदृढ—दुर्भेद्य होजायगा। तुम्हारी माताकी आँखोंमें संयमशक्तिकी दिव्य—रोशनीका बड़ा जबरदस्त—प्रभाव है, इसका जब तुम्हारे समग्र शरीर पर संचार होगा, तब तुम्हारा शरीर जैसा—तुम चाहते हो—वैसा बन जायगा।

दुर्योधनको विश्वास था कि—युधिष्ठिर न कभी झूठ बोलते हैं, न कभी किसीका अहित ही चाहते हैं। वे बडे—भले भद्र पुरुष हैं, इसलिए उनका यह स्वभाव होगया है कि—सबका प्राणिमात्रका भला करना। इसलिए वह युधिष्ठिरजीकी सम्मतिके अनुसार शीघ्र ही अपनी माताके समीप जानेके लिए चल पड़ा। उधर सर्वज्ञ श्रीभगवान्‌ने अपनी दिव्य दृष्टिसे यह सब वृत्तान्त जान लिया। तुरन्त ही वे मार्गमें दुर्योधनके समक्ष प्रकट हो गये। कुशल—प्रश्नके बाद भगवान्‌ने दुर्योधनसे पूछा कि—कहो! किधर जा रहे हो?। दुर्योधनने समग्र वृत्तान्त—भगवान्‌को कह—सुनाया। श्रीभगवान्‌ने कहा—युधिष्ठिरने यद्यपि ठीक ही कहा है—परन्तु तुम कई बच्चोंके बाप होकर माताके संमुख नग्न होकर खडे रहोगे,

क्या यह बात ठीक है ?। तुम स्वयं समझदार हो, धर्मको भी देखना चाहिए। एवं मर्यादाका भी ध्यान रखना चाहिए। धर्म एवं मर्यादा विरुद्ध आचरण करना अच्छा नहीं। अतः तुम्हें चाहिए कि—तुम अपने गुह्य-भागको पुष्पोंसे ढककर माताके समीप खडे होजाओ। दुर्योधनने भगवान्की यह बात मान ली—और वह गुह्यभागको ढककर माताके समक्ष खड़ा होकर मातासे कहने लगा कि—तुम पट्टी खोलकर मेरे शरीरको देखो। माता गान्धारीने कहा—

यथाऽवदत्त्वां किल धर्मराजः, तथैव पुत्रात्र समागतः किम् ?।

हे पुत्र! दुर्योधन! जिस प्रकार धर्मराज युधिष्ठिरने कहा था—उसी प्रकारका होकर क्या तू यहाँ आकर खड़ा हुआ है न ?। दुर्योधनने कहा—हाँ ! हाँ ! वैसा ही मैं खड़ा हुआ हूँ। माता गान्धारीने आँखें खोलकर दुर्योधनके समग्र शरीरको देखा। परन्तु उसका गुह्याङ्ग ढका हुआ था। माता गान्धारी अफसोस प्रकट करती हुई कहने लगी कि—अरे ! यह तूने क्या किया ? किसकी सम्मतिसे गुह्याङ्ग ढक लिया। युधिष्ठिरने तो ऐसा नहीं कहा होगा। क्या तुझे मार्गमें वह द्वारकावासी श्रीकृष्ण तो नहीं मिला था ?। मालूम पड़ता है कि—यह करतूत उस छलियेकी ही है, उसने ही ऐसी सम्मति दी होगी ?। अब तेरा समग्र—शरीर गुह्यभाग छोड़कर वज्रके समान हो गया है, परन्तु गुह्यभाग जैसाका तैसा ही रह गया है। दुर्योधनने अफसोसके साथ सिर हिलाते हुए कहा कि—हाँ ! हाँ !, वही मुझे रास्तेमें मिला था। न जाने, वह कहाँसे बीचमें ही टपक पडा। उसने ही मुझे ऐसा करनेके लिए कहा था। आश्वासन देती हुई माताने कहा—दुर्योधन ! इसमें तेरा दोष

नहीं है। यह भावीका भुलावा था। जो होनहार होता है, वह होकर ही रहता है।

'सहायास्तादृशा एव यादृशी भवितव्यता।'

अर्थात् जैसी शुभाशुभ-भवितव्यता होती है, वैसे ही खरे या खोटे सहायक मिल जाते हैं।

इस चरित्रसे भी भगवान्‌की त्रिकालदर्शिता सिद्ध होती है। जीवका ज्ञान योगमायासे समावृत होनेके कारण सबकुछ नहीं जान सकता, न तो वह अपने आपको ही वास्तवमें जानता है, न भगवान्‌को। परन्तु भगवान्‌का विशुद्ध-ज्ञान अनावृत होनेके कारण 'वस्तुतः मैं क्या हूँ, और यह जगत् क्या है, ये जीव कैसे कैसे हैं?' यह सब भगवान् यथावत् जानते हैं। भगवान्‌की माया उपाधि है तो जीवकी अन्तःकरण। इसलिए भगवान्‌में एवं जीवमें उपाधिका भेद माना जाता है, स्वरूपतः भेद सिद्ध नहीं होता। एक कांचकी हांडी लीजिए, और एक मिट्टीकी। दोनोंके अन्दर दीपक जलाकर रख दीजिए। कांचकी हांडी स्वच्छ है, इसलिए इसका प्रकाश बाहर भी फैलेगा। और मिट्टीकी हांडी मलिन है, इसलिए इसका प्रकाश भीतर ही रहेगा, बाहर नहीं जायेगा। इस दृष्टान्तमें दोनों दीपकोंके स्वरूपकी एकता है, परन्तु उपाधिकी विलक्षणता होनेके कारण एकका प्रकाश विस्तृत रहता है, और दूसरेका प्रकाश संकुचित। उस प्रकार भगवान्‌की अतिविस्तृत-विशुद्ध सत्त्वमयी-माया-उपाधि होनेसे भगवान् सब कुछ जान सकते हैं। और जीवोंकी अन्तःकरणोपाधि राग-द्वेषादि दोषोंसे मलिन होनेके कारण वे जीव सबकुछ जाननेमें समर्थ नहीं हो सकते। इसलिए भगवान् सर्वज्ञ

एवं जीव अल्पज्ञ कहे जाते हैं। आत्मज्ञान द्वारा उपाधिका त्यागकर जीव अपने वास्तविक—पूर्ण ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त होजाते हैं। इस प्रकार हमारे वेदादि—शास्त्रोंमें जीव एवं ईश्वरमें औपाधिक भेद ही माना गया है, वास्तविक भेद नहीं।

एक वीतराग महात्मा गंगाजीके तटपर एकान्त स्थलमें रहकर वेदान्तका उपदेश देते थे। वे उपनिषदोंका डिण्डिम—घोष सुनाते थे कि —'**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव केवलम्**।' अर्थात् एक-मात्र—चिदानन्द—ज्योतिपूर्ण ब्रह्म ही सत्य है, त्रिकालाबाधित है, अखण्डैकरस है। और यह नामरूपात्मक जगत्—मिथ्या है, बाधित है, प्रतीयमान होने पर भी विद्यमान नहीं है। और यह जीव वस्तुतः केवल ब्रह्मस्वरूप ही है। इस प्रकारका महात्माजीका उपदेश सुनकर एक पण्डित—जो द्वैतवादी था—महात्माजीसे कहने लगा कि—महाराज! जीव अल्पज्ञ है, वह सर्वज्ञ ईश्वर कैसे हो सकता है?। महात्माजीने उसको उपाधिद्वयका एवं तदुपलक्षित—शुद्धस्वरूपका विवेचन कर समझाया कि—अल्प (पिण्ड) एवं सर्व (ब्रह्माण्ड) उपाधिका परित्याग कर केवल 'ज्ञ' (पूर्ण—चैतन्य) स्वरूपकी एकताको हम सिद्ध करते हैं। परन्तु वह दुराग्रही होनेके कारण महात्माजीके उपदेश—रहस्यको ठीक ठीक नहीं समझ सका। महात्माजीने मनमें सोचा—जब यह इसप्रकार नहीं समझता है—तो इसे स्थूल दृष्टान्त द्वारा-समझाना चाहिए। इसलिए महात्माजीने पण्डितसे कहा कि—पण्डितजी! गरमीके मारे हमारा गला सुखा जा रहा है। अतः श्रीगंगाजीका शीतल—मधुर—स्वच्छ—जल पीनेकी इच्छा होती है, अतः तुम यह कमण्डल लेकर इसमें गंगाजल

भर ला दो। गंगाजल पीकर स्वस्थ होकर पुनः हम तुमको वेदान्तका रहस्य समझायगा, परन्तु तुम कमण्डलमें गंगाजल ही लाना, और-जल मत लाना, क्योंकि-हम गंगातट पर ही रहते हैं; विचरते हैं, एवं गंगाजलका ही पान करते हैं। पण्डितने कहा--जब आपका ऐसा नियम है, तो मैं कमण्डलमें गंगाजल ही लाऊंगा। ऐसा कहकर वह गंगामें जाकर कमण्डलमें जल भरकर महात्माजीके समक्ष उपस्थित हो गया, और कमण्डल रखकर कहने लगा-कि-भगवन् ! लीजिए, यह गंगाजल है, प्रेमसे पीजिए, और तृषा शान्त कीजिए।

महात्माजी कमण्डल उठाकर उसके जलको देखने लगे। और बनावटी-आश्चर्य के साथ पण्डितसे कहने लगे कि-पण्डितजी ! यह तो गंगाजल नहीं है। गंगाजल तो वह कहलाता है कि-जिसके तट पर पत्थरोंके बड़े बड़े घाट बने हैं, अनेक घटादार वृक्ष खड़े हैं; जिसमें अनेकों नौकाएँ घूमती फिरती रहती हैं। अनेक नर नारियाँ डुबकी लगाकर स्नान करते हैं, एवं असंख्य-मगर-मच्छ रहते हैं। इसमें तो न घाट का एक लघु-पत्थर एवं न एक छोटा-सा वृक्ष ही दीखता है। एक भी नौका घूमती फिरती नहीं दिखाई देती। डुबकी लगानेकी तो क्या बात ? किन्तु इसमें एक पैर भी नहीं रख सकते। एवं एक छोटीसी मछली भी नहीं रहती। अतः यह गंगाजल कैसे हो सकता है ?।

महात्माजीकी ऐसीबात सुनकर पण्डित ठहाका मारकर हँसता हुआ कहने लगा कि-अरे भोलेनाथ ! महात्माजी ! इस कमण्डलके गंगाजलमें घाट, वृक्ष, नौका, आदि कैसे रह सकते हैं ?। क्योंकि-इसकी उपाधि

यह कमण्डल बहुत ही छोटासा है, परन्तु है वही गंगाजल, वहाँसे ही इसको भर लाया हूँ। और उस विशाल–भूमिभागरूप–उपाधि विशिष्ट–विस्तृत–प्रवाहित गंगाजलमें सब कुछ रह सकता है। आप इतने विद्वान् इतनी मोटी–सी भी बातको नहीं समझ सकते हैं क्या ?। महात्माजीने आश्चर्यके साथ कहा–पण्डितजी ! मैं तो सब कुछ समझता हूँ। परन्तु तुमको मैं इस दृष्टान्तमें समझी हुई बातोंको सिद्धान्तमें समझाना चाहता हूँ। जिसी प्रकार उस विस्तृत–भूमिभागमें फैला हुआ गंगाजल, और इस कमण्डलका गंगाजल वस्तुतः एक ही है, कुछ विलक्षणता नहीं। मधुरता, शीतलता, स्वच्छता, पावनता आदि गुण दोनोंमें एक-से ही हैं। उस प्रकार जो अतिविस्तृत–ब्रह्माण्डका अधिष्ठाता–ईश्वर चैतन्य है, वही अत्यल्प पिण्डका अधिष्ठाता–जीव चैतन्य है। गंगाजलकी भाँति चैतन्य–स्वरूपमें कोई भेद नहीं। सत्त्व, चित्त्व, आनन्दत्व, असंगत्व, निर्विकारत्व आदि–धर्म दोनोंमें समानरूपसे अवस्थित हैं। केवल उपाधि–द्वय प्रयुक्त काल्पनिक–भेद है। ईश्वरकी उपाधि बहुत बड़ी माया एवं ज्ञान अनावृत होनेके कारण, वह सब कुछ जान सकता है।एवं जीव की छोटीसी उपाधि-अन्तःकरण तथा ज्ञान समावृत होनेके कारण वह सब कुछ जाननेमें समर्थ नहीं होता। इसलिए जीवात्मा, अल्पज्ञ एवं ईश्वरात्मा सर्वज्ञ है। वेदान्तके महावाक्य अल्पज्ञ एवं सर्वज्ञकी एकता का उपदेश नहीं देते, किन्तु जीव एवं ईश्वरके उपाधि विनिर्मुक्त–वास्तविक–स्वरूपकी एकताका उपदेश देते हैं। अतः स्वरूपकी एकता माननेमें कुछ भी बाधा नहीं आसकती।

इसलिए भगवान् एवं भगवान्के श्रीविग्रह, अनावृत–अचिन्त्य–

ज्ञातृत्व-शक्तिसे विशिष्ट होनेके कारण, सब कुछ जाननेमें समर्थ हो सकते हैं। इसमें वैकुण्ठाधिपति-भगवान् श्रीनारायणका एक यह भी चरित्र प्रमाण है।

जब हिमालयमें 'भस्मासुर' नामका एक असुर कैलासपति महादेवसे वरदान प्राप्त करनेके अभिप्रायसे उग्र तप कर रहा था। उसके तपसे प्रसन्न होकर आशुतोष शंकर-भगवान् प्रकट होकर उससे कहने लगे कि-'**तव तपः प्रभावात्प्रसन्नोऽस्मि, अभीप्सितं वरं ब्रूहि।**' अर्थात् तेरे तपके प्रभावसे मैं प्रसन्न हूँ, अतः जो तू वर प्राप्त करना चाहे, वह मुझसे कह। भस्मासुरने हाथ जोड़कर प्रणाम कर कहा कि-आप कृपया मुझे अपने हाथमें बँधा हुआ-भस्मकंकण प्रदान करें। औढरदानी-भोलानाथ शंकरने तुरन्त ही उसे भस्म-कंकण दे दिया। और भगवान् शंकर वहाँसे जाने लगे। भस्म-कंकणमें बड़ी विलक्षण शक्ति थी। जिस किसीके भी ऊपर उसकी दिव्य-लाइटकी एक किरण भी पड जाय, बस वह शीघ्र ही भस्मकी ढेर अर्थात् जलकर खाक हो जाता था। चाहे वह देव, दानव, मानव कोई भी क्यों न हो?। भस्मासुर राक्षस था, दुष्ट था, कृतघ्न था। उसने सुन रक्खा था कि-इस बावा महादेवकी पत्नी देवी पार्वती रूपयौवनसंपन्ना-प्रशस्त-लावण्यमयी महासुन्दरी है। अतः इस भस्म-कंकणके प्रभावसे इस महादेवको ही भस्मकी ढेर बनाकर इसकी घरवाली पत्नीको प्राप्त कर लेना चाहिए। ऐसा विचारकर वह तुरन्त ही महादेवजीके पीछे पड़ गया। महादेव भी उसके दुष्ट अभिप्रायको जानकर बड़े जोरोंसे भागकर कहीं छिप गये। और वह दुष्ट महादेवजीको इधर उधर ढूंढने लगा।

उधर वैकुण्ठाधिपति–भगवान् श्रीनारायणको इस घटनाका पता लग गया। वे तुरन्त ही अपने–अभिन्न–सखा–महादेवकी रक्षा करनेके लिए पार्वती–देवी जैसा अत्यन्त ही मनमोहक सुन्दरीका रूप बनाकर उस राक्षसके सामने प्रकट हो गये। वह इस मोहिनी स्वरूपको देख-कर मुग्ध हो गया। और मंद–मंद हँसती हुई देवीजीने कोकिला–विनिन्दित–मधुर–स्वरसे उसे कहा कि–जिसे तू चाहता है–वही मैं सुन्दरी पार्वती हूँ। तेरे जैसे हृष्ट–पुष्ट–स्वस्थ युवानके साथ रहनेके लिए मैं तैयार हूँ, उस बूढ़े भांग–धत्तुरा खानेवाले–सर्पधारी महादेवसे मैं तंग हो गई हूँ। अतः तू निश्चयसे जान ले कि–मैं आजसे सदाके लिए तेरी ही हो गई। अतः तू उस बूढ़ेके पीछे मत पड। देवीजीके ऐसे मधुर–वचन सुनकर एवं उनके हाव–भाव–कटाक्ष पाकर वह राक्षस निहाल हो गया। और देवीजीके साथ साथ आगे जाने लगा। पश्चात् देवी–स्वरूप विष्णु भगवान्ने एक–वृक्षकी शीतल-छायामें बैठकर उससे कहा कि–मैं ताण्डवनृत्यप्रिया हूँ, अर्थात् जो मेरे सामने ताण्डव–नृत्य करता है, उसके ऊपर मैं विशेषरूपसे प्रसन्न होती हूँ। वह बूढ़ा महादेव भी मुझे प्रसन्न करनेके लिए मेरे सामने प्रतिदिन नाचा करता था। इसलिए तुझे भी मेरी प्रसन्नताके लिए नाचना पड़ेगा। खुश होकर राक्षसने कहा–बड़ी अच्छी बात है, जैसा तू कहे, वैसा मैं तेरा प्रेमी करनेके लिए तैयार हूँ। परन्तु मैं जानता नहीं हूँ कि–ताण्डव–नृत्य कैसे किया जाता है?। अतः आप बतला-इयेगा, उसके अनुसार मैं नृत्य करूंगा। देवीजीने एक हाथ कमरमें रखकर, और दूसरा हाथ शिरपर रखकर गोल–गोल चक्रके समान

नाचकर दिखाया कि—ऐसा ताण्डव—नृत्य होता है। ऐसा नृत्य देखकर वह तुरन्त ही बेभान—कामुक राक्षस वैसे ही हाथ रखकर नाचने लगा। जिस हाथमें—महादेवजीका दिया हुआ घडीके समान भस्म—कंकण बंधा हुआ था—वह हाथ ठीक उसके शिर पर आ गया। और भस्म कंकणकी शिर पर लाइट पड़ते ही वह राक्षस भस्मकी ढेर हो गया। तबसे उसका '**भस्मासुर**' ऐसा नाम विख्यात हुआ। कहते हैं—आज भी कैलास—मानसरोवरकी यात्रामें भस्मासुरकी ढेरी मिलती है। यात्रियोंको वहाँके लोग इस वृतान्तके द्वारा उसका परिचय कराते हैं।

समीपमें छिपे हुए महादेवजीने जब भगवान् नारायणका तथा राक्षसका सब वृत्तान्त अपनी दिव्य—दृष्टि द्वारा जान लिया, तब महादेवजी देवीस्वरूप भगवान् विष्णुके समीप आ गये। दोनों मित्र खूब हँसते हुए आपसमें प्रेमसे मिले। उस समय विष्णु भगवान् प्रकृतिके स्वरूपमें थे, एवं शंकर भगवान् पुरुषके रूपमें। दोनोंके संयोगसे एक '**शास्ता**' नामका देव प्रकट हुआ। जिसे दक्षिण—भारतके लोग '**हरिहरपुत्र**'के नामसे पुकारते हैं। दक्षिण भारतके केरल आदि देशमें शास्ता—देवके सैकडों मन्दिर बने हैं। आस्तिक लोग उन्हें श्रद्धापूर्वक बहुत मानते हैं। किसी किसी मंदिरमें शास्तादेवके विग्रहका—हाथकी एक अँगुली मुखपर रखकर विचारमग्नरूपसे—दर्शन मिलता है। विद्वान्—भक्तोंने—उसके—निगूढ विचारका प्रदर्शन इस प्रकार किया है कि—

माता च विष्णुः पिता शिवो मे, ताभ्यामहं जात इति प्रसिद्धम्।
अम्बेति गौरीमहमाह्वयामि, तातस्त्रियो मातर एव सर्वाः॥

विष्णोश्च मातुः किल धर्मपत्नी,
लक्ष्मीं कथं नु-अहमाह्वयामि ।
आस्येऽङ्गुलिं स्थाप्य विचारयन्तं,
शास्तारमीडे सकलार्थसिद्ध्यै ॥

अर्थात् मेरी माता विष्णु है, पिता शिव है, इन दोनोंसे मैं उत्पन्न हुआ हूँ, ऐसा सर्वत्र प्रसिद्ध है। पिताकी जितनी भी स्त्रियाँ होवें, वे सब पुत्रके लिए माता ही मानी जाती हैं। इसलिए मैं पिता–शिवकी पत्नी गौरी–पार्वतीको 'अम्बा' इस सम्बोधनसे बुला सकता हूँ। परन्तु माता विष्णुकी पत्नी–लक्ष्मीको मैं किस सम्बोधनसे बुलाऊँ। क्योंकि–असलमें कहीं भी माताकी पत्नी होती नहीं, माता तो स्वयं पिताकी पत्नी है, पत्नीकी पत्नी कैसे हो ?। परन्तु मेरी माताकी पत्नी लक्ष्मी विश्व प्रसिद्ध है। वह मुझे क्या लगे? अर्थात् उसका एवं मेरा क्या सम्बन्ध माना जाय? किस सम्बन्ध–सूचक नामसे मैं उसे पुकारूँ। ऐसा मुखपर अँगुली रखकर विचार करनेवाले शास्तादेवकी मैं सकलार्थकी सिद्धिके लिए स्तुति करता हूँ।

इस चरित्रके द्वारा भगवान्के श्री विग्रहोंमें भी विप्रकृष्ट–परोक्षार्थको भी अपरोक्षतया जाननेकी शक्ति सिद्ध होती है। इसलिए भगवान्ने गीतामें यह यथार्थ ही कहा है कि–मैं सबको जानता हूँ, परन्तु मुझे कोई नहीं जानता। मुझे यथार्थतः वही जान सकता है कि–जो ज्ञान भक्ति–वैराग्यादि–साधन–संपन्न होकर मेरी कृपा प्राप्त करता है। मेरी भक्ति एवं कृपा प्राप्त किये विना कोई भी मानव मुझे जान नहीं सकता। अत एव गीतामें भगवान्ने कहा है कि–'**भक्त्या माम–**

भिजानाति' (१८।५५) अर्थात् भक्तिसे ही मुझे जानता है। गोस्वामी तुलसीदास भी कहते हैं कि—हे प्रभो! '**सो जाने तुम देहु जनाई। जानत तुमहिं तुमहिं हो जाई।**' ॐ।

(२७)

इच्छाद्वेषसमुत्थेन, द्वन्द्वमोहेन भारत!।
सर्वभूतानि संमोहं, सर्गे यान्ति परंतप!॥ (७। २७)

हे भारत! हे परंतप! संसारमें इच्छा एवं द्वेषसे उत्पन्न हुए—सुख-दुःखादि—द्वन्द्वरूप मोहसे समस्त प्राणी अतिभ्रान्ति एवं व्यथाको प्राप्त हो रहे हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—हे भारत! यानी भरतवंश-भूषण! अथवा **भा—रत अर्थात् भा यानी ब्रह्मविद्यारूप—दीप्ति, उसमें रत यानी प्रीतिमान्।** हे अर्जुन! तू ब्रह्मविद्यामें बड़ी प्रीति रखता है, इसलिए तुझे उसका लाभ हो रहा है, जिसे मानव सच्चे हृदयसे चाहता है, उसे वह अवश्य ही मिलता है।

'जा पर जाको सत्य सनेहू।
मिलत ही ताको नहिं संदेहू।'

दो प्रकारका प्रकाश है, एक बाहरका भौतिक प्रकाश, एवं दूसरा भीतरका आध्यात्मिक—प्रकाश। बहारका प्रकाश, भीतरके अन्धकारको दूर नहीं कर सकता। भीतरके अन्धकारको भीतरका प्रकाश ही दूर कर सकता है। सत्संग, संसारसे उपरति, भगवत्स्मरण, एवं भगवान्में जो निष्ठा रखता है, उसे ही वह हृदयका महान्—प्रकाश प्राप्त होता है। वह प्रकाश दिव्य है, मधुर है, शान्त है, सरस है एवं हृदयको परम—

प्रमोद प्रदान करता रहता है। उसका जो महानुभाव एक बार भी कुछ क्षणके लिए भी अनुभव कर लेता है, उसे फिर संसारके समस्त पदार्थ, रस-हीन फीके माल्ह्म पड़ जाते हैं। ऐसा सरस-प्रकाश, एक-मात्र ब्रह्मविद्या ही है। उसमें जो भी कोई उत्कट—प्रीति रखता है, वह भी अर्जुनके समान 'भारत' होजाता है। वह भारत इस दुःखमय—सर्गको आनन्द—पूर्ण स्वर्ग बना देता है। ऐसा भारत, परंतप होजाता है। **परं—शत्रुं तापयति—उद्वेजयतीति परंतप,** अर्थात् वह अज्ञान-रूप शत्रुको संतप्त कर—उद्विग्न कर नष्ट कर देता है। अज्ञान ही सबसे बड़ा शत्रु है। उसे जो नष्ट कर देता है, वह विश्वविजयी मानाजाता है।

इसलिए अर्जुन ही केवल भारत एवं परंतप था, ऐसी बात नहीं। आप भी—अर्जुनके समान ब्रह्मविद्यामें उत्कट—प्रीति रखकर भारत एवं परंतप बन सकते हैं। अतः सज्जनो! तुम भारत बनो, अपने हृदयको आध्यात्मिक—दिव्य—प्रकाशसे भर दो, और इस दुःखमय—सर्गको आनन्द-मय स्वर्ग बना दो। संसारको वही बदल सकता है—जो अपने मनको बदलना जानता है। अपने मनको जो ब्रह्मके दिव्य—शान्त—आनन्दसे भर देता है, उसे समग्र विश्व—आनन्दमय ही प्रतीत होने लगता है।

'नारायण जाके हृदय, सुन्दरश्याम लखाय।
फूल पात-फल डारमें ताको वही लखाय॥
दर दिवार दर्पण भये, जित देखूं तित तोहिं।
कांकर पाथर ठीकरे, भये आरसी मोहिं॥'

सर्ग वह है—जो विविध—समस्याओं एवं विषमताओंसे सदैव उलझा रहे। जो लोग, इसका समाधान, बाहरके भौतिकवादकी अभ्युन्नतिके

द्वारा करना चाहते हैं, वे ऐसे हैं—मानो शीतल-जलके स्नान द्वारा ज्वरको हटानेका प्रयत्न कर रहे हों। जिसप्रकार—शीतल-जलके स्नानसे ज्वर हटता नहीं, किन्तु बढ़ता है। उसप्रकार भौतिकवादकी—अभ्युन्नतिसे विविध—विषमताओंका समाधान होना तो दूर रहा—किन्तु उनकी दुःखविस्तारिका अभिवृद्धि ही होती रहती है। उनका समाधान तो केवल हृदयके आध्यात्मिकभाव पूरित—साम्यवादसे ही हो सकता है। जो लोग, इस महान्—साम्यवादको न मानकर बाहरके तुच्छ साम्यवादको मानते हैं—जो हिंसा—लोलुपता—अहंमन्यता—आदि दुर्गुणोंका प्रोत्साहन देता है—उनका जीवन इस द्वन्द्वमय—सर्गके भयानक—दुःखोंके दावानलमें झुलसता ही रहेगा। जब वे आध्यात्मिक—भावोंसे पूरित—साम्यवादमें निष्ठा रक्खेंगे, अपने जीवनको उसके सरस ढाँचेमें ढालदेंगे, तभी ही वे इस द्वन्द्वमय सर्गके दुःखोंसे छुटकारा पाकर आनन्दमय बन सकेंगे, और विश्वमें भी दिव्य-आनन्दकी प्रशान्तवाहिनी—मंदाकिनी बहा सकेंगे।

अव्यक्तरूपा योगमायाके दो प्रधान सन्तान हैं—एक इच्छा और दूसरा द्वेष। ये दो बडे बलिष्ठ हैं, हटाने पर भी नहीं हटते। एवं ये दो समग्र संसारमें फैले हुए हैं—सर्वत्र अपनी सत्ता जमाये बैठे हुए हैं। अतएव स्वभावतः प्राणिमात्रकी अनुकूल—विषयमें इच्छा रहती है, और प्रतिकूल—विषयमें द्वेष रहता है। यह पदार्थ मुझे पसंद है, उसकी मुझे बड़ी—आवश्यकता है, यह मुझे मिलना ही चाहिए, यह इच्छाका स्वरूप है। यह पदार्थ मुझे पसंद नहीं, उसकी मुझे कुछ आवश्यकता नहीं, मेरे समीप उसे नहीं रहना चाहिए, यह द्वेषका स्वरूप है।

और अपनी अपनी विभिन्न रुचि एवं भावनाके अनुसार एक ही पदार्थ किसीको अनुकूल प्रतीत होता है, तो किसीको प्रतिकूल। एक कहता है—कि चाहिए, तो दूसरा कहता है—नहीं चाहिए। इसलिए यह नियम नहीं है—कि—किसी एकको अनुकूलरूपसे प्रतीयमान—पदार्थ, सबको अनुकूल ही प्रतीत हो, एवं प्रतिकूल पदार्थ, सबको प्रतिकूल ही हो जाय। अत एव विद्वानोंने कहा है कि —

'भिन्नस्पृहाणां प्रति चार्थमर्थं, दिष्टत्वमिष्टत्वमपव्यवस्थम्।'

अर्थात् भिन्न-भिन्न स्पृहावाले—प्राणियोंका—प्रत्येक—अर्थमें किसीका द्वेषभाव रहता है, तो किसीका इष्ट-भाव। एक व्यक्ति जिसे इष्ट समझता है, दूसरा उसे द्विष्ट। जिसे एक द्विष्ट (बुरा) कहता है, तो दूसरा इष्ट (अच्छा)। एक मनुष्य सिनेमा देखना इष्ट समझता है, तो दूसरा द्विष्ट। एक सिगरेटसे घृणा करता है तो दूसरा प्यार। इसलिए संसारके इन पदार्थोंमें कोई व्यवस्था नहीं है, कि—एकको अच्छा लगनेवाला इष्ट पदार्थ, सभीको इष्ट लगना ही चाहिए। एकके लिए होनेवाला द्विष्ट पदार्थ, सबके लिए द्विष्ट होजाना ही चाहिए। और इष्ट तथा द्विष्ट पदार्थ भी सदाके लिए इष्ट एवं द्विष्ट नहीं रहते। आजका इष्ट पदार्थ कल द्विष्ट होजाता है। द्विष्ट कभी इष्ट होजाता है। जिसे हम आज यहाँ अनुकूल समझते हैं, वह कभी समयान्तरमें या देशान्तरमें प्रतिकूल बनजाता है। कभी कहीं गरमी एवं ठण्डी हमें अमृतके समान बड़ी प्यारी लगती है, तो वही गरमी एवं ठण्डी, अन्य समयमें एवं अन्यस्थलमें विषके समान बडी बुरी लगती है। जिसे हम प्रथम प्यार करते थे, उससे हम पीछे घृणा करने लग जाते हैं, और जिससे हम घृणा रखते थे, उससे प्यार

रखने लग जाते हैं। इसप्रकार संसारके इष्ट एवं द्विष्टके द्वन्द्व परिवर्तन-शील माने गये हैं। सदा एकसे वे कभी नहीं रहते।

इसलिए यह मूढ-मानव, संसारकी इस इष्ट-द्विष्टकी द्वन्द्वमयी-मिथ्या-कल्पनाओंके पीछे, अहर्निश पागलसा बना रहता है। जहाँ वस्तुतः सुख नहीं है, प्रत्युत दुःख है, वहाँ सुखकी कल्पना कर सुख चाहता रहता है। इसकी प्राप्तिके लिए मृगतृष्णाजल-लोलुप-भ्राँत हरिणकी भाँति दौड़-धाम सदा मचाता रहता है। और जहाँ वास्तविक-स्थायी सुखका भण्डार है, दुःखका नामोनिशान नहीं, वहाँ दुःखकी भावनाकर उससे विमुख बना रहता है। यही इस सर्गका संमोह है-अर्थात् विपरीतज्ञान है। होता कुछ और है, मानता कुछ और है।

अनुकूलता एवं प्रतिकूलता दूसरे शब्दोंमें सगवड एवं अगवड दोनों सगी बहिनें हैं। इसलिए वे दोनों इस संसारमें साथ साथ ही रहती हैं, और वे मानवोंके समक्ष-सन्ताकूकडीकी रमत रमती रहती हैं। क्षण क्षणमें एक छिप जाती है तो दूसरी प्रकट होजाती है। मानव एकसे प्रेम करता है, तो दूसरीसे घृणा रखता है। जिसे चाहता है, उसके न मिलने पर एवं जिसे नहीं चाहता है, उसके मिलने पर मानव व्यथित हो जाता है। इस अनवस्थित-संसारमें प्राणी चाहता कुछ और है, और हो जाता कुछ और। इष्टका संयोग एवं अनिष्टका वियोग चाहता है, परन्तु होजाता है-विपरीत इष्टका वियोग एवं अनिष्टका संयोग। ऐसा उलटा होजाने पर उसकी इच्छा एवं द्वेष और भी प्रबल हो जाते हैं। ये इच्छा एवं द्वेष ही विविध दुःखोंकी जडें, एवं जन्म-मरणके हेतु माने गये हैं। इनका त्याग करने पर ही मानव दुःखोंसे एवं जन्मादिसे मुक्त

हो सकता है। इसलिए द्वन्द्वाभिनिवेश ही दुःख है, एवं द्वन्द्ववैमुख्य ही आनन्द है। और इस असार-संसारका स्वरूप ही द्वन्द्वमय है। अतएव कवि-कुलगुरु—कालिदासने कहा है कि—'**न कस्यापि सुखमुपनतं दुःख-मेकान्ततो वा, नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥**'

(मेघदूत)

अर्थात् जिसप्रकार गाड़ीके पहियाकी नेमि क्रमशः कभी ऊपर तो कभी नीचे द्रुतगतिसे आती जाती रहती है। उसप्रकार इस संसारमें प्राणियोंके समीप शुभाशुभ—कर्मोंकी वेगवती गति द्वारा सुख एवं दुःख आते जाते रहते हैं। न सदाके लिए किसीके समीप सुख ही बना रहता है, न दुःख। एक क्षणमें सुख है तो दूसरी क्षणमें दुःख। दुःखी कभी सुखी होजाता है, तो सुखी दुःखी। इधर अभी हँसता है तो उधर—कभी रोता है। इसप्रकार सुखदुःखादि—द्वन्द्व रात—दिनकी तरह, सूर्यके उदयास्तकी भाँति, या धूप—छायाके समान एकके पीछे एक आते जाते रहते हैं। और अनुकूल सुखादिमें इच्छा बाँधकर एवं प्रति-कूल-दुःखादिमें द्वेष रखकर मानव सदा अशान्त ही बना रहता है। मानव शाश्वत शान्तिका तभी ही अनुभव कर सकता है, जब वह निर्द्वन्द्व होजाता है। अतः विचारवान्को चाहिए कि—वह न किसीको अनुकूल समझे, न प्रतिकूल। न किसीकी चाहना रक्खे, न किसीसे घृणा। वस्तुतः न कोई अच्छा है, न कोई बुरा है। या ब्रह्मदृष्टिसे देखने पर सबकुछ अच्छा ही अच्छा है। मिथ्यात्वदृष्टिसे देखने पर सब कुछ बुरा ही बुरा है। सद्घन—चिद्घन—आनन्दघन—अविनाशी अन्तरात्मा जो ब्रह्म है, वही एकमात्र अच्छा पदार्थ है। अतः उसमें ही एकमात्र अभि-

निवेशन बाँधना चाहिए। उसका ही अन्दर-बाहर सर्वत्र अवलोकन करना चाहिए। वही एकमात्र चिन्तनीय है, द्रष्टव्य है, श्रोतव्य है, वर्णनीय है एवं आस्वादयितव्य है। तदन्य यह नामरूपात्मक-मिथ्या द्वैत-जगत् बहुत ही बुरा है, अतः उसकी सर्वथा उपेक्षा ही करनी चाहिए। अतः वह न दृष्टव्य है, न चिन्तनीय है, न वर्णनीय है एवं न आस्वादयितव्य है। इसमें इच्छा या द्वेष कभी बाँधने ही नहीं चाहिए। यही शाश्वत सुखशान्तिका राजमार्ग है। इसी ही प्रशस्त मार्गका अवलम्बन कर अनेक तत्त्वदर्शी सन्त-भक्त परम-आनन्दपूर्ण हो गये हैं, एवं हो रहे हैं।

विवेकी मानव, तभी ही शाश्वत-शान्ति एवं पूर्ण- आनन्द प्राप्त कर सकता है, जब वह मर कर जिन्दा रहनेकी, एवं जिन्दा रहकर मरनेकी कला जानता है, या प्राप्त करता है। जो इस-द्वन्द्वमय संसारसे मरना जानता है, वही आनन्दपूर्ण-ब्रह्ममें जिन्दा रह सकता है। तथा जो उस ब्रह्ममें जिन्दा रहना जानता है, वही इस संसारसे मर सकता है। जो इस घरको-उजाडेगा, वही उस घरमें स्थायी रूपसे बसेगा। नरकको उजाडे विना कोई भी स्वर्गमें बस नहीं सकता। जो मरुभूमिकी उत्तप्त बालुका छोड़ता है, वही केदारनाथ-महादेवकी शीतलताका लाभ प्राप्त कर सकता है। मरे विना मुक्ति नहीं मिल सकती। जो मरता है, वही मुक्ति पाता है।

'स्वयं मृत्वा स्वयं भूत्वा स्वयमेवावशिष्यते।'

अर्थात् स्वयं ही मरकर एवं स्वयं ही होकर स्वयं ही परिशिष्ट रह जाता है।

एक तोता था। मकानके पिंजरेमें गिरफ्तार था। वह उससे छूटना चाहता था। छूटना कौन नहीं चाहता ?। छुट्टी किसे प्यारी नहीं होती ? अर्थात् सभी जन छूटना चाहते हैं। एवं छुट्टीसे प्यार रखते हैं। छोटे बच्चे भी रविवारका नाम सुनकर प्रमुदित होजाते हैं। रविका वार यानी छुट्टी। जब ज्ञान-सूर्यका प्रकाश हृदय—भवनमें फैल जाता है, तब ही उसे अज्ञानान्धकारसे एवं तज्जन्य-इच्छा—द्वेषादि-द्वन्द्व दुःखोंसे छुट्टी मिल सकती है। अतः हम वेदमन्त्रोंके द्वारा छुट्टीके लिए ही तो अन्तर्यामी-भगवान्‌से इस प्रकार प्रार्थना करते हैं कि—हे प्रभो! हे भगवन्! **'असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय।'**

अर्थात् हमें असत्‌से छुट्टी दिला, और सत्‌की तरफ ले जा। अन्धकारसे अलग कर और हमें प्रकाशकी तरफ लेजा। मृत्युसे बचा कर हमें अमृत—अभय बनादे। असत्‌में अन्धकारमें मृत्युमें हम अनादिकालसे फँसे पड़े हैं, उनसे विविध कष्ट पा रहे हैं, अतः उनसे हम सभी छूटना चाहते हैं। इसलिए हम भगवान्‌से पुकार कर कहते हैं कि—हे दयानिधे! उनसे हमें छुडा और सत्प्रकाश—अमृतधाममें शीघ्र पहुँचा।

वह तोता भी छुट्टीका प्रेमी था। वह यही अभिलाषा रखता था कि—इस पिंजरेसें कैसे और कब मैं छूटूँ। एक रोज उस नगरमें एक तत्त्वदर्शी—ब्रह्मनिष्ठ विद्वान् महात्मा आए। और उनका प्रवचन सुननेके लिए नगरके सहस्राधिक भावुक—नरनारी जाने लगे। उन महात्माजीका प्रवचन बहुत ही सरस, प्रभावशाली एवं हृदयग्राही हुआ करता था। अतः धर्म-प्रेमी एवं भगवत्स्नेही लोग उनका मननीय प्रवचन सुनकर

आनन्द-विभोर होजाते थे। इसलिए वे उनकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करते हुए थकते नहीं थे। वे आपसमें कहते थे कि—अपने इस नगरमें ऐसा—ब्रह्मविद्याका उपदेश देनेवाला एवं दुःखमय—भवबन्धनोंसे मुक्ति दिलाने-वाला कोई महात्मा अभीतक आया ही नहीं था। अपने सबके सौभाग्यसे ही यहाँ ऐसे महापुरुष-सन्तके पदार्पण हुये हैं। इस लिए इनके द्वारा परमार्थका जितना लाभ उठाया जासके, उतना तत्पर होकर उठाना चाहिये।

इसप्रकारकी बातें करते हुए कुछ लोग, उस मकानके समीपसे जब अपने—अपने घरकी तरफ जा रहे थे, तब उनकी कुछ बातें उस तोतेके भी कानमें पड़ गईं। बुद्धिमान् तोताने शीघ्र ही उन भले-लोगोंसे कहा कि—भाइयो! जब ऐसे मुक्तिदाता-परमकृपालु सन्त, अपने यहाँ पधारे हैं, एवं सबको मुक्तिका उपदेश देते हैं, तो मेरा भी एक सन्देश उनकी सेवामें पहुँचा दें, तो आप लोगोंका मेरे प्रति बड़ा उपकार होगा। मैं भी इस पिंजरेके बन्धनसे छूटना चाहता हूँ। परन्तु मैं इससे कैसे छूट सकता हूँ, इसका उपाय नहीं जानता हूँ। कृपया आप उन महात्माजीसे मेरी तरफसे पूछना कि—मैं कैसे छूटूँ? मेरे लिए मुक्ति-लाभका क्या उपाय है?। दयानिधि—सन्त अवश्य ही कुछ न कुछ उपाय किसी भी ढंगसे बतला देंगे। तोताकी बात सुनकर उन-परोपकारी सत्संगी—जनोंने उसका सन्देश पहुँचानेका एवं उसका उत्तर लाकर सुनानेका सहर्ष स्वीकार किया। दूसरे रोज वे सत्संगी—जन प्रवचनसे प्रथम एकान्तमें आनन्दके साथ बैठेहुए उन महात्माजीके समीप तोताका सन्देश लेकर गये। और उन्होंने तोताका वह सन्देश कह सुनाया।

सन्देश सुनते ही वे-महात्माजी तुरन्त बेहोश हो गये। हाथ-पैर छटपटाकर तखतसे नीचे गिर गये। अब वे न देखते हैं, न सुनते हैं, न बोलते हैं, बिलकुल-गुम-सुम शून्यवत् बन गये। महात्माजीकी ऐसी दशा देखकर वे भक्तलोग बहुत ही घबरा गये। और साथमें ऐसा सोचकर भयभीत भी होगये कि-महात्माजीकी ऐसी-हाड-फैलसी दशा बनानेका आरोप कहीं हमारे ऊपर न हो जाय। इसलिए वे वहाँसे शीघ्र ही चुपचाप उठकर भाग निकले। जब वे भागते हुए उस तोताके समीप आये तो-उत्तरकी प्रतीक्षा करनेवाले-उसने शीघ्र ही पूछ डाला कि-कहो! सज्जनो! मेरी मुक्तिके लिए महात्माजीने क्या उपाय बतलाया?। तोताकी बात सुनकर वे लोग मुँह बिगाडकर कहने लगे कि-अरे! तेरा सन्देश इतना खराब था कि-उसे सुनते ही महात्माजी बेभान हो गये। गिर पड़े, जडवत् हो गये, मरे जैसे बन गये। इसलिए हम तेरे सन्देशका उत्तर कैसे ला सकते हैं-जबकि-उत्तर देनेवाले महात्माके होश ही गुम थे।

उनकी ऐसी बात सुनकर बुद्धिमान्-तोताने अपने सन्देशका उत्तर शीघ्र ही-समझ लिया। और वह प्रसन्न होकर उनसे कहने लगा कि-ऐ भले-मानसो! जाओ, जाओ, मुझे मेरे सन्देशका उत्तर मिल गया। महात्माजीने विलक्षण-ढंगसे मुझे मुक्तिका उपाय बतला दिया। यद्यपि आप लोग उस उत्तरका मर्म समझ नहीं सके हैं, तथापि मैं उनकी ही कृपासे समझ गया हूँ।

अब तोताने अपने पिंजरेमें गुरु-महात्माजीकी वही क्रियावती शिक्षा अपनाई। और वह भी महात्माजीके समान बेभान हो गया।

पंखें फड़फड़ाकर गिर गया एवं जडवत् बन गया। घरवालोंने जब तोताकी ऐसी दशा देखी, तब वे पिंजरेके समीप आकर उसे बुलाने लगे कि—गंगाराम ! गंगाराम ! क्या बात है? सहसा तुझे यह क्या हो गया ?। बोल तो सही, आखें खोल तो सही। ले यह हरा मिरचा, खाले। परन्तु वह अब सच्चा गुरुका पक्का चेला हो गया था। इसलिए वह बुलाने पर भी बोलता नहीं, सुनाने पर भी सुनता नहीं, खिलाने पर भी खाता नहीं, एवं हिलाने पर भी हिलता नहीं। घरवालोंने उसे सचेत करनेके लिए अनेक उपाय किये; बहुत ही प्रयास किया। परन्तु तोता सचेत नहीं हुआ। जिन्दा हुआ भी मरा—सा पड़ा रहा। जब उनको निश्चय हो गया कि—यह मर गया है, इसमें जीवनके कोई भी चिन्ह नहीं दीख रहे हैं। अब यह अपने कामका नहीं रहा है। तब उन स्वार्थी लोगोंने तुरन्त ही पिंजरेका द्वार खोल दिया। तथापि वह बुद्धिमान्—तोता भागनेके शुभावसरकी प्रतीक्षा करता रहा। जब उसने गुप्तरूपसे यथावत् निरीक्षण कर लिया—कि घरवाले—लोग उसे मरा समझकर—उसकी आशा छोड़कर इधर उधर चले गये हैं, तब वह तुरन्त ही वहाँसे भाग निकला। और वह पिंजरेके दुःखमय—बन्धनसे मुक्त होकर, स्वतन्त्र बनकर गंगातटवाले—हिमालयके रमणीय—अरण्यमें चला गया। और मुक्तिके दिव्य—आनन्दका सतत अनुभव करने लगा।

सिद्धान्तमें तोता है—यह माया—मोहित जीवात्मा। यह अनादि-कालसे इस देह—गेहादिकी आसक्तिरूप संसार-पिंजरके बन्धनमें फँसा पड़ा हुआ है। और इष्टानिष्ट—द्वन्द्वोंमें इच्छा—द्वेष बाँधता हुआ विविध सन्ता-पोंका सतत अनुभव कर रहा है। इससे छूटकर मुक्तिधामके अखण्डैक-

रस–आनन्द–प्राप्त करना चाहता है। परन्तु उसकी यह चाहना तभी ही सफल होती है–जब यह श्रद्धाके साथ सद्गुरु–महापुरुषके शरणमें जाता है, और उनके उपदेशोंको श्रद्धासे धारण कर उनका अनुग्रह संपादन करता है। सद्गुरुकी कृपा विना कोई भी क्यों न हो–मुक्ति एवं शाश्वत आनन्द प्राप्त नहीं कर सकता। अत एव हमारे–प्रामाणिक–शास्त्रोंमें कहा है कि—

'दुर्लभो विषयत्यागो, दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था, सद्गुरोः करुणां विना ॥'

अर्थात् सद्गुरुकी कृपा विना इष्टानिष्ट–विषयोंकी इच्छा–द्वेषका त्याग, परमार्थतत्त्वका दर्शन, एवं सहज–समाधिकी दिव्यानन्द–मयी दशा प्राप्त करना अतिदुर्लभ है। परन्तु जब सद्गुरुकी करुणा हो जाती है, तब वे दुर्लभ भी सुलभ हो जाते हैं, वह नरका नारायण बन जाता है। वह अधिकारी मुमुक्षु सद्गुरु–महात्माका कृपा–पूर्ण इशारा पाकर जीता हुआ भी मुरदा बन जाता है। निर्द्वन्द्व–मस्त हो जाना ही संसारसे मरना है। कल्पित–नाम–रूपोंकी मिथ्यादृष्टि त्यागकर अन्दर–बाहर यत्र तत्र अन्यत्र-सर्वत्र परमार्थ-तत्त्वके सतत अवलोकनकी दिव्य-आनन्द-मयी ज्योतिर्मयी पावन–दृष्टि प्राप्त करना ही मरकर जिन्दा रहना है।

जब तीव्र–मुमुक्षाका हृदयमें उदय होता है, तब वह विना विलम्ब, परमार्थ–तत्त्वका अपरोक्ष अनुभव प्राप्त कर ही लेता है। जिस प्रकार जब तीव्र भूख लगती है, तब वह किसी न किसी उपायसे भोजन प्राप्त कर ही लेता है, कदाचित् और कोई बनानेवाला उपस्थित न हो तो वह स्वयं ही बनानेमें प्रवृत्त हो जाता है। घरमें भोजनकी सामग्री

न हो तो वह उसके लिए बाज़ारमें भी दौड़ लगाता है। पैसे आदिके अभावमें उसके लिए लज्जा त्याग कर भीख मांगनेके लिए भी तत्पर हो जाता है। क्षुधा-पीडित-मानवको भोजनके विना और कोई भी कार्य करना अच्छा नहीं लगता। कोई उसे उपहासके तौर पर कहे कि—तू भोजनकी बात छोड़, और इसके बदले बढ़िया—सिनेमा देख, अच्छा गाना सुन, मोटरमें बैठकर बगीचाकी सैर कर, या एरोप्लेनमें बैठकर आकाशमें उड्डयन कर। उसकी ऐसी बातें सुनते ही वह नाक-भौं सिकोड़कर रोषके स्वरमें कहने लगेगा कि—आग लगे तेरे सिनेमामें, और भाडमें जाय तेरा गाना। मुझे इससमय भोजनके विना कुछ अच्छा नहीं लगता। एकमात्र मुझे भोजन ही चाहिए, और कुछ नहीं। वह सबसे नितान्त-उपरत होकर भूख भगानेकी चिन्ता ही करने लग जाता है। उस प्रकार जब हृदयमें तीव्र मुमुक्षा जाग उठती है, तब वह सबसे नितान्त—उपरत होकर मोक्ष लाभ—साक्षात्कारके साधन—संपादन करनेके लिए ही जी—जानसे जुट जाता है। किसी भी कार्यमें उत्साह एवं विश्वासके साथ जीजानसे जुट जाना ही कार्यकी सफलता है।

एक आस्तिक-जन, एक ब्रह्मनिष्ठ महात्माके समीप गया। और उसने महात्माजीसे प्रश्न किया कि—भगवन्! आप कहते हैं कि—मुमुक्षु बनो, मुमुक्षा संपादन करो, मुमुक्षु होने पर ही तुम परम तत्त्वका अपरोक्ष अनुभव कर भव—बन्धनसे मुक्त हो सकोगे। तो कृपानिधानजी! किसी उदाहरण द्वारा बतलाइये कि—मुमुक्षा कैसी होती है?, उसका कुछ स्वरूप समझानेकी कृपा कीजिए। महात्माजीने कहा—इसका उदाहरण कभी अवसर आनेपर बतलाया जायगा, परन्तु इससमय

देख ! भाई ! कितनी .प्रचण्ड गरमी बरस रही है, इसलिए चल तू भी हमारे साथ शीतल गंगा—स्नानका आनन्द उठा ।

जब दोनों गंगाके गहन-जलमें घुसकर स्नान करने लगे । तब बलिष्ठ महात्माजीने उसको पकड़कर जल के बीचमें धर दबाया । अब वह जलमें खूब छटपटाने लगा, हाथ-पैर पटकने लगा, हाय-तोबाह मचाने लगा । जल से बाहर निकलनेके लिए अपनी समग्र शक्ति लगाने लगा । महात्माने पांच मिनट दबाकर उसे छोड़ दिया । वह जल्दी ही जलसे बाहर मुँह निकालकर दम लेकर महात्माजी से दूर हट गया, और अपनी नाराज़गी प्रकट करता हुआ कहने लगा कि—अरे ! महाराज ! तुमने यह क्या किया ? । आपमें क्या उस समय कोई दैत्यावेश तो नहीं हुआ था । मैं बाल बच्चेदार—गृहस्थ आदमी हूँ । ज्यादा—समय ऐसा करते तो मेरे प्राण ही निकल जाते । आजकलका कोई न्यूलाइट का नास्तिक—मानव होता—तो वह तुरन्त ही थाने में पहुँचकर उस-महात्मा पर प्राण—हानिके प्रयत्नका केस कर देता । परन्तु वह प्राचीन—समय का आस्तिक—धार्मिक मनुष्य था, इसलिए वह केवल इतना ही कहकर—चुप हो गया ।

महात्माजीने मुस्करा कर कहा कि—हमने और कुछ नहीं किया, सिर्फ तुम्हारे प्रश्नका उतर दिया है, और मुमुक्षाको समझानेके लिए उदाहरण उपस्थित किया है । महात्माजीने उसकी जिज्ञासाका शमन करनेके लिए पुनः कहा कि--तुझे चुपचाप गंगाके पुनीत—शीतल जलमें दबे हुए पडे रहना था । उससे बाहर निकलनेके लिए इतना जोर लगानेकी क्या आवश्यकता थी ? । जलमें किस वस्तुकी कमी थी, जिस के

लिए तू इतना छटपटाता रहा। उसने कहा—भगवन्! वहाँ पवन नहीं मिल रहा था। अतःपवनके लिए मैं छटपटाता रहा, उसके लिए ही वैसा तोफान मचाता रहा। महात्माने पूछा—क्या तू भगवान्के लिए—एवं भव-बन्धनोंसे छूटने के लिए वैसा कभी छटपटाया है ?। उसने शिर हिलाकर हाथ जोडकर नम्रताके स्वरमें कहा—नहीं, भगवन्! वैसी छटपटाहट तो जीवनमें कभी नहीं हुई। महात्माने कहा—वैसा ही मुमुक्षाका स्वरूप है। ऐसी बेचैन बनानेवाली—तीव्र लगनी लगानेवाली—मुमुक्षाका जब उदय होता है, तब वह अवश्य ही मुक्त होजाता है, एवं परमपदका लाभ प्राप्त कर लेता है। जबतक ऐसी मुमुक्षा एवं उपरति प्राप्त नहीं होती, तबतक मानव संसारके इष्टानिष्ट—द्वन्द्वोंमें फँसा रहता है, एवं अनेकविध —संमोहोंको प्राप्त कर सर्वदा सन्तप्त बना रहता है। उसे कभी शाश्वत शान्ति एवं सच्चे आनन्दके दर्शन नहीं होते। हरिः ॐ तत्सत्।

(२८)

येषां त्वन्तगतं पापं, जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता, भजन्ते मां दृढव्रताः॥ (७।२८)

पुण्यकर्मोंका आचरण करने वाले—जिन मनुष्योंका पाप नष्ट हो गया है, वे राग-द्वेषादि—द्वन्द्वरूप मोहसे मुक्त होकर, और दृढ़ व्रत (निश्चयादि) वाले होकर मुझ परमात्माका भजन करते रहते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—द्वन्द्व—मोहसे कौन निर्मुक्त हो सकते हैं, और दृढव्रतधारी होकर मुझ भगवान्का कौन-जन भजन कर सकते हैं ? जिनका पुण्यकर्मोंके द्वारा समग्र-पाप नष्ट हो गया है, वे ही पुण्यकर्मवान्—पवित्र-जन ही द्वन्द्वमोह से विमुक्त होकर दृढव्रतवान् हुए

मेरा भजन कर सकते हैं। अन्य पाप-परायणजन, द्वन्द्वमोहसे निर्मुक्त नहीं हो सकते, एवं न तो वे भगवान् का प्रीति एवं एकाग्रतापूर्वक भजन ही कर सकते हैं। जिनकी भगवान्में प्रीति नहीं, भगवान्के पावन-नाम स्मरणमें रुचि नहीं, जो होटल, सिनेमा एवं रेसमें रुचि रखते हैं, जिनको सत्संग एवं भगवन्नाम अच्छा नहीं लगता। आनन्द देनेवाला भगवद्भजन जिन्हें दुःखप्रद माल्रुम होता है, वे पापी मनुष्य हैं।

जिस प्रकार ज्वरग्रस्त-मनुष्यकी स्वादिष्ट-उत्तम-भोजनमें रुचि नहीं होती, क्योंकि-उसमें ज्वर प्रतिबन्धक है, उस प्रकार सत्संग एवं भजनमें पाप ही प्रतिबन्धक हैं, उनमें वे रुचि नहीं करने देते। अतः पापोंके विनाशके लिए मनुष्यको पुण्यकर्म करने चाहिए। पापोंके ही कारण भगवान्के चिन्तनमें तन्मयता नहीं होती। सत्संग सुधाके समान सुस्वादु नहीं लगता। ज्ञानयज्ञमें उपेक्षा रहती है। अत एव पुराणोंमें महर्षियोंने कहा है कि—

महापापवतां राजन्! ज्ञानयज्ञो न रोचते।

अर्थात् महापापी मनुष्योंको ज्ञानयज्ञ नहीं रोचता।

जैसे भोजनसे क्षुधाकी एवं जलपानसे प्यासकी निवृत्ति होती है, तैसे पुण्यकर्मोंसे प्रतिबन्धक-पापकर्मोंकी निवृत्ति होती है। अतः निःश्रेयसार्थी मनुष्यको शरीरसे, वाणीसे एवं मनसे पुण्यकर्म ही करने चाहिए। पुण्यकर्म वे हैं, जिनके लिए बुद्धिकी प्रेरणा मिले, जिनके करनेसे शिष्ट-जन एवं श्रीभगवान् प्रसन्न हों, एवं आप स्वयं भी सन्तोषका अनुभव करे।

यह सर्वत्र यथार्थतः देखा गया है कि-निषिद्ध-पापकर्मोंके

करनेके लिए बुद्धिकी प्रेरणा किसीको भी नहीं मिलती। हाँ, मूढ-मानव, दूषित मनके वशीभूत हुआ—उन्हें करनेके लिए यद्यपि तत्पर होजाता है; तथापि बुद्धि उसे भय, बदनामी एवं दण्ड चौबीसों घण्टे मूर्तिमान् हुए दिखाती रहती है। एक चोर है, दुराचारी है, चोरी एवं दुराचार करता रहता है, परन्तु उन्हें करनेके लिए कदापि बुद्धि प्रेरणा नहीं देती। प्रत्युत वह हर समय उनका विरोध करती रहती है। और पापकर्मोंके द्वारा होनेवाली प्रसन्नता भी भस्मक रोगके समान वास्तविकी नहीं होती किन्तु खोखली हुआ करती है। जैसे भस्मक—रोगका रोगी ऊपर—ऊपरसे मोटा ताजा दीखता है, किन्तु भीतरमें वह शक्तिहीन—अतिशिथिल बना रहता है। वैसे नीच-मनुष्योंकी पापकर्मोंके द्वारा होनेवाली —प्रसन्नता आपाततः एवं क्षणिक होती है, भीतरमें उन्हें ग्लानि, भय, शोकादि बने रहते हैं। वास्तविक एवं स्थायी प्रसन्नता तो पुण्यकर्मोंके द्वारा ही होती है। और उन्हें ही करनेके लिए भीतरसे बुद्धि सबको प्रेरित करती रहती है।

दूसरोंके दुःखोंको जानना एवं उन्हें यथाशक्ति हटानेके लिए प्रयत्न करना पुण्यकर्म है। इससे विश्वान्तर्यामी भगवान् प्रसन्न होते हैं। और दूसरोंका अहित चाहना, कहना, करना, एवं कष्ट देना पाप कर्म है, इससे श्रीभगवान् कुपित होते हैं। इसलिए जो व्यक्ति निर्द्वन्द्व होकर भगवद्—भजनकर शान्ति प्राप्त करना चाहता है, उसे भला बनकर दूसरोंकीभी भलाई करते रहना चाहिए। अत एव वेद—व्यासजीने समग्र—पुराणोंका साररूपसे धर्मका यही उपदेश दिया है कि—

‘अष्टादश- पुराणेषु व्यासस्य वचनं द्वयम् ।
परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनम् ॥’

अर्थात् अठारह-पुराणोंमें व्यासके साररूपसे ये दो ही वचन हैं। पुण्यके लिए परोपकारही करते रहें। और पर-पीडन, पापके लिए ही होगा, यह निश्चय रक्खें। यदि हम मान लो कि-किसीका भला नहीं कर सकते हैं, तो कमसे कम हमें किसीका बुरा तो नहीं हीं करना चाहिए। यही मानवता की पुकार है। जो किसीका बुरा नहीं चाहता, बुरा नहीं कहता, बुरा नहीं करता, उसका कभी बुरा होता नहीं। और जो किसीका भला नहीं चाहता, भला नहीं कहता, भला नहीं करता, उसका कभी भला होता नहीं। यह प्राकृतिक-नियम है। जो कोई किसीको दुःख देता है, वह उसको ही दुःख देता हो, ऐसी बात नहीं, किन्तु वह साथमें अपनेकोभी दुःख दे रहा है। एवं जो कोई किसीको सुखी करता है, वह उसको ही नहीं, किन्तु अपनेकोभी सुखी बनाता है। जो कोई किसीकी निन्दा करता है, वह उसकी ही नहीं, किन्तु साथमें अपनीभी निन्दा कराता है। जैसा देता है, करता है, वैसा पाता है, यह ईश्वरीय-नियम है। अच्छा दोगे, करोगे तो अच्छा बनोगे, पाओगे, बुरा दोगे, करोगे तो बुरा बनोगे, पाओगे। इस हाथसे देना, उस हाथसे पाना। जिस प्रकार परोपकारमें स्वोपकार रहता है, उस प्रकार परापकार में स्वापकारभी रहता है। मानव स्वभावतः किसीसेभी अपना उपकार चाहता है, अपकार नहीं। इस चाहनाकी सफलताके लिएभी उसे परोपकारही करना चाहिए, परापकार नहीं।

इसलिए हमारे त्रिकालदर्शी-महर्षियोंने मानवसमाजको स्वपराभ्युदयके लिए प्रतिदिन पुण्यकर्मरूप-पंच महायज्ञ करनेका आदेश दिया है। पंच महायज्ञ ये हैं-ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, मनुष्ययज्ञ,

एवं भूतयज्ञ। ऋषि, देव, पितर, मनुष्य एवं भूतप्राणी, इन पांचों रूपोंसे श्रीभगवान् हमें इस विश्वमें सदा सर्वत्र प्रत्यक्ष दर्शन दे रहे हैं। दैवी गुणवान्–तत्त्वदर्शी–उच्चकोटिके महापुरुष–विश्वहितैषी जन, ऋषि कहाते हैं। सूर्य, चन्द्र, वायु, अन्तरिक्ष आदि सब देव हैं। निरुक्तमें कहा है–'**द्योतनाद्–दानाद्वा देवो भवति**' अर्थात् जो द्योतन करे एवं अभीष्ट–अर्थका दान करे, वह देव है। सूर्यादि–देवोंका द्योतन एवं दान विश्वप्रसिद्ध है। वे ऋषियोंके समान बड़े ही उपकारी हैं। हमारे शरीरोंमेंभी इन देवोंकी सत्ता है–नेत्रोंमें सूर्य है, जिह्वामें अग्नि एवं वरुण है, नासिकामें अश्विनीकुमार हैं, इत्यादि। **पालनात् पिता,** अर्थात् जो उत्पत्तिसे, अन्नसे, वस्त्रसे, विद्यासे, पालन करे, वह पिता है, ऐसे पिता, जननी, जनक, गुरु, आदि अनेक हैं। ऋषि देव एवं पितर, दृष्ट भी हैं, एवं अदृष्ट भी हैं। इन सभी रूपोंमें हम भगवान् की ही भावना रख, यज्ञोंद्वारा उनका पूजन करते हैं। इन रूपोंसे भगवान् हमारे सामने प्रत्यक्ष हैं। मनुष्य एवं भूतप्राणी भी श्रीभगवान्के ही प्रत्यक्ष रूप हैं। उच्चावच अखिल–प्राणिमात्रके हृदयमें चिदात्मा–भगवान्का निवास है। भगवान्कहाँ नहीं हैं? सर्वत्र हैं, देखो जहाँभी वह दीखता है, सोचो ज़राभी वह सूझता है। इसके लिए ज्ञानचक्षु चाहिए।

वेद–गीता–उपनिषत्–आदि सद्–ग्रन्थोंका प्रतिदिन स्वाध्याय करनेसे एवं उनका विशिष्ट–व्यक्ति द्वारा प्रवचन सुननेसे ऋषि–रूपसे श्रीभगवान् हमारे ऊपर प्रसन्न होते हैं। अत एव हमारे अतिधन्य-वेदोंका आदेश है कि– '**स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।**' (तै० उ० १।११।१) अर्थात स्वाध्याय एवं प्रवचनसे कदापि प्रमाद

नहीं करना चाहिए। जिसप्रकार मानव, अन्न-जलसे कदापि प्रमाद नहीं करता, एक रोजके लिए भी उन्हें नहीं छोड़ता। निश्चयतः समझता है कि-शरीर-स्थितिके लिए अन्न जल आवश्यक हैं, अत्युपयोगी हैं। उसप्रकार दिव्य-जीवनके लिए स्वाध्याय एवं प्रवचन आवश्यक हैं, अत्युपयोगी हैं। इनके द्वारा प्राकृत-दुःखमय जीवनका ध्वंस एवं दिव्य-आनन्दमय जीवनका निर्माण होता है। स्वयं अच्छा बनता हुआ दूसरोंको भी अच्छा बना देता है। इसलिए स्वाध्याय एवं प्रवचन पुण्यकर्म हैं, इनके द्वारा पापोंका प्रलय होता है। अतः समझदार मानव उनका कभी त्याग न करे, प्रत्युत स्वयं उनमें प्रवृत्त रह दूसरोंको भी प्रवृत्त बनाता रहे। और सेवा-सत्कारादिसे एवं स्वाध्यायादिसे भगवत्स्वरूप-ऋषियोंका हमें शुभाशीर्वाद भी प्राप्त होता है। इसप्रकार ऋषियज्ञ हमारे जीवनके अभ्युदयके लिए आवश्यक पुण्यकर्म है; अतः उसे नियमतः करना चाहिए।

इसप्रकार देवयज्ञ भी प्रतिदिन करना चाहिए। होम करना, अर्थात् वेदमन्त्रोंके द्वारा श्रद्धापूर्वक-शुद्ध-घृतादिकी अग्निमें आहुतिं देना देवयज्ञ है। इससे देवगण सन्तुष्ट होते हैं। शुद्ध-वायुमण्डलका निर्माण होता है, साथमें अनेकविध-रोगके फैले हुए-कीटाणुओंका भी ध्वंस होता है। सन्तुष्टदेव वृष्टि आदिके द्वारा हमें अनेक विध-भोगोंको समर्पण करते हैं। इसलिए श्रीभगवान् गीतामें कहते हैं कि---

'देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।'
'इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।'

अर्थात् यज्ञ द्वारा आपलोग देवताओंको सन्तुष्ट करें, और वे देवलो

आपलोगोंको सन्तुष्ट करें। यज्ञ द्वारा सन्तुष्ट हुए देवता, तुम्हारे लिए प्रिय-भोगोंका दान करेंगे। इसप्रकार देवयज्ञ द्वारा देवोंकी एवं प्राणि-मात्रकी अभ्युन्नति होती है, इसलिए देवयज्ञ भी पाप-प्रध्वंसक पुण्यकर्म है। और सेवा, श्राद्ध, तर्पण, पितृयज्ञ है। जीवित माता-पिताकी सेवा सत्कार एवं आज्ञापालन अवश्य करना चाहिए। उनकी आज्ञाका उल्लंघन कर उनके दिलको कभी असन्तुष्ट नहीं बनाना चाहिए। इस विषयमें भगवान् श्रीरामने मानव-समाजके समक्ष कितना-ऊँचा प्रशस्त आदर्श उपस्थित किया था। तथा मृत-पितरोंको भी श्राद्ध-तर्पणके द्वारा प्रसन्न रखना चाहिए। जिसप्रकार ज्ञानका खजाना देकर ऋषियोंने तथा विविध-भोगोंको देकर देवोंने हमारे ऊपर बड़ा भारी उपकार किया है, उसप्रकार पितरोंने भी हमारे ऊपर महान् उपकार किया है। इसलिए इन यज्ञरूप-पुण्यकर्मोंके द्वारा उन्हें सन्तुष्ट कर हमें उपकारका बदला चुकाना चाहिए। कृतज्ञ होना चाहिए, कृतघ्न नहीं। कृतघ्नता बड़ा भारी पाप है। परन्तु आजकलके उच्छृङ्खल असंस्कृत लोग प्रायः इन यज्ञोंकी उपेक्षा कर कृतघ्न ही हो रहे हैं। मज़ाकके तौर पर वे कहते हैं कि-वाहजी वाह ! हम अपने ढंगके यज्ञ बराबर कर रहे हैं। प्रातःशय्यासे उठते ही दो चार समाचार-पत्र पढ़ लेते हैं, यह हमारा ऋषियज्ञ है। चिरुट एवं सिगरेटोंका धुआँ निकालकर हम अग्निहोत्र एवं चाय विषकूट खाकर पेटरूप पितरका तर्पण कर डालते हैं। यह पेट भी समग्र शरीरका पालन करता है, इसलिए-पितर है। ये तो उनकी उटपटांग बातें हैं, जो सर्वथा उपेक्षणीय हैं।

चतुर्थ मनुष्य यज्ञ है, अतिथिसत्कार, सेवा, दान आदिके द्वारा

मनुष्य-यज्ञ सिद्ध होता है। अपने द्वार पर कोई भी भूखा अतिथि आया हो-चाहे वह सजातीय हो, या विजातीय, देशीय हो, या विदेशीय, अच्छा हो या खराब-उसको कभी निराश नहीं करना चाहिए। अपनी शक्तिके अनुसार उसमें विष्णुस्वरूपकी भावना कर उसे कुछ खिला-पिला-कर सन्तुष्ट करना चाहिए। मनुष्य पर मनुष्योंका कितना उपकार है-इसका आप विचार करें। आपके सामने भोजनकी थाली आती है, इसमें कई प्रकारकी खाद्य-सामग्री रक्खी है। क्या यह समग्र-सामग्री आपके अकेलेके ही प्रयत्नसे निर्मित हुई है? कदापि नहीं। इसके निर्माणमें सैकड़ों क्या? सहस्रों मनुष्योंका सहयोग प्राप्त हुआ है। कई मनुष्योंने खेतको बड़े परिश्रमसे अन्नोत्पादन योग्य बनाया होगा। किसीने उसमें बीज डाले, किसीने जलका सिंचन किया, किसीने रक्षण किया, किसीने फसल काटा, किसीने अनाज निकाला इत्यादि। इसलिए मनुष्य मात्रका उस अपनी सामग्रीमें कुछ न कुछ हिस्सा अवश्य है, अतः उसे अतिथि-मनुष्यको देकर मनुष्यके ऋणसे मुक्त होना ही चाहिए। इसलिए हमारे शास्त्रोंमें अतिथि सत्कारका बड़ा महत्त्व बतलाया है। रुपया-पैसा आदिके देनेमें तो पात्रापात्रका विचार अवश्य करना पड़ता है। परन्तु भोजनके तो सभी अधिकारी माने गये हैं। सभीके शरीरोंमें वैश्वानररूपसे भगवान् विराजमान हैं, इसलिए किसी भी भूखे अतिथिको भोजन देना, भगवान्का ही पूजन है।

पशु-पक्षी-कीटादि-प्राणियोंकी भी यथाशक्ति सेवा करनी चाहिए। '**अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे।**' अर्थात् भगवान्के अनेक रूप हैं, वे ही विश्वमें विविधरूपोंसे प्रकट होकर हमें सन्मुख दर्शन दे रहे

हैं। और ये पश्वादि-प्राणी भी हमारे सहचारी हैं, उपकारी हैं। हमारे समान वे भी घरमें अभिमान रखते हैं। एक साधु-महात्मा किसीके मकान पर पहुँचे, वहाँ एक विदुषी माई खडी थी। महात्माजीने उससे पूछा कि-यह मकान किसका है?। माईने कहा-ईंटोंका, पत्थरोंका, चूनाका, आदिका। महात्माजीने पूछा कि-इसका अभिमानी कौन है?। माईने कहा कि-इसके अभिमानी भी बहुत हैं, कबूतर, कुत्ते, बिल्ले, चींटियाँ आदि भी मानते हैं कि-यह घर मेरा है। पता नहीं चलता कि-यह-किसका है?। तात्पर्य यह है कि-इन समीपवर्ती-प्राणियोंका भी गृहमें ममत्व है, इसलिए उन्हें भी गृहकी कुछ उचित सामग्री मिलनी ही चाहिए।

दानका बड़ा महत्त्व है, दिया है, इसलिए हमें मिला है, जिन्होंने नहीं दिया है, वे कंगाल-दरिद्र ही देखे गये हैं। इसलिए हमें यथा-शक्ति देना ही चाहिए। वेदभगवान्का आदेश है कि—

'शतहस्त समाहर, सहस्रहस्त संकिर।'
(अथर्व० ३।२४।५)

अर्थात् ए मानव! तू सैकड़ों हाथोंके उत्साह एवं श्रम द्वारा धन कमा, अन्नादि-पदार्थोंका उत्पादन कर, और हजारों हाथोंकी उदारता द्वारा उसका सदुपयोग कर, अन्नादि-पदार्थोंका वितरण कर। अन्यत्र भी कहा है—

'न्यायोपार्जितवित्तस्य दशमांशेन धीमता।
कर्तव्यो विनियोगश्च ईशप्रीत्यर्थमेव च॥'

अर्थात् नीतिसे कमाये हुए धनका दशवाँ भाग, १००)मेंसे

१०) रुपया, भगवान्‌की प्रसन्नताके लिए धर्मकार्यमें लगाना चाहिए, इसके द्वारा प्राणिमात्रकी सेवा करनी चाहिए। दरिद्रनारायणोंको सन्तुष्ट बनाना चाहिए।

'भीतेभ्यश्चाभयं देयं, व्याधितेभ्यस्तथौषधम्।
देया विद्यार्थिनां विद्या, देयमन्नं क्षुधातुरे॥'

अर्थात् भयभीतोंको अभय, रोगियोंको औषध, विद्यार्थियोंको विद्या, तथा क्षुधातुरोंको अन्न देना चाहिए।

'तन' पवित्र सेवा किये, 'धन' पवित्र कर दान।
'मन' पवित्र हरि भजन कर, होत त्रिविध कल्याण॥
जलसे यदि नौका भरी, धनसे भरा यदि धाम।
दोनों हाथ ऊलेचिये, तब होगा विश्राम॥

अत एव विचारवान् धनादि-पदार्थोंमें ज्यादा-ममता न रक्खे। विचारसे देखा जाय तो-मनुष्य केवल दो-रोटीका एवं साढेतीन हाथ भूमिका ही मालिक है। इसके अतिरिक्त यदि अधिक-पदार्थ हमारे समीप हैं तो इनकी ममता छोड़ देनी चाहिए, और इनकी-जिन्हें-आवश्यकता है, उन्हें सहर्ष वितरण करते रहना चाहिए। अत एव श्रीमद्भागवतमें श्रीबादरायण मुनिने धर्ममय-उदार-साम्यवादका इस-प्रकार वर्णन किया है कि—

'यावत्भ्रियेत जठरं तावत्स्वत्वं हि देहिनां।
अधिकं योऽनुमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥'

अर्थात् जितनेसे पेट भर जाय, उतनेमें ही देहधारियोंका स्वत्व है, यानी उतना ही 'मेरा है' ऐसा वह मान सकता है। इसके अतिरिक्त—

इन अधिक धन-धान्यादि सामग्रियोंको मेरी मेरी कहकर इनमें आसक्ति बाँधकर जो इनके अर्थियोंको नहीं देता है-वह विश्वरूप-भगवान्‌का चोर है, उसे प्रकृतिके द्वारा किसी न किसी रूपसे दण्ड अवश्य मिलना ही चाहिए। इसलिए हमारे समीप अधिक-अन्न है, तो उसे बुभुक्षितोंको अवश्य देते रहना चाहिए। अधिक विद्या है, तो उसे विद्यार्थियोंको देनी चाहिए। अधिक भूमि है-तो उसे भूमि-हीन गरीबोंको बांट देनी चाहिए। अधिक बल है-तो उसका देशकी समाजकी रक्षाके लिए विनियोग करना चाहिए। अधिक संपत्ति है-तो-उसका-समाजके अभ्युदयके लिए, देशकी आर्थिक-अभ्युन्नतिके लिए एवं देशवासियोंकी अनेकविध-भलाईके लिए वितरण करते रहना चाहिए। इसलिए-वर्तमान समयमें-देशके माननीय नेताओंके द्वारा-जो-भूमिदानयज्ञ, श्रमदानयज्ञ, संपत्तिदानयज्ञ, आदि अनेकविध शुभ कार्य-स्वतन्त्र भारतके अभिनव-प्रशस्त निर्माणके लिए-किये जा रहे हैं, ये सब शास्त्रानुमोदित एवं प्रशंसनीय पुण्यकर्म हैं। इनमें सभीको प्रवृत्त होना ही चाहिए। इनके द्वारा विश्वरूप-भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त होती है, संसारका द्वन्द्व-मोह दूर होजाता है, त्याग-वैराग्यके एवं प्रेम-सद्भावके शुभभाव प्रकट होजाते हैं। और हम निर्द्वन्द्व होकर भगवद्-भजन भी कर सकते हैं। अत एव तैत्तिरीयोपनिषत्में कहा है कि—

'श्रद्धया देयं, अश्रद्धयाऽदेयं, श्रिया देयं,
ह्रिया देयं, भिया देयं, संविदा देयम्।'
(१।११)

अर्थात् श्रद्धापूर्वक देना चाहिए, अश्रद्धापूर्वक नहीं देना चाहिए।

अपने ऐश्वर्य या सामर्थ्यके अनुसार देना चाहिए। लोक-लज्जाके लिए भी देना चाहिए, परलोकादिका भय मानते हुए भी देना चाहिए। संवित् यानी मैत्री-देशाभ्युदय-दीन-हीन-जन रक्षण आदि शुभ कार्यके निमित्तसे भी देना चाहिए। सभी शुभाशुभ-समयमें यथाशक्ति दान देना ही चाहिए, इसलिए शास्त्रोंमें कहा है कि—

'अनुकूले विधौ देयं, यतः पूरयिता हरिः।
प्रतिकूले विधौ देयं, यतः सर्वं हरिष्यति॥

प्रारब्ध अनुकूल है, तो भी यथाशक्ति दान देना ही चाहिए, क्योंकि-दान देने पर भी श्रीहरि भण्डार भरपूर रक्खेगा, कभी कमी नहीं आने देगा। यदि प्रारब्ध प्रतिकूल है, तो भी दान देना चाहिए, क्योंकि-प्रतिकूल प्रारब्ध, जो कुछ है, वह सब भी हर लेगा। अतः इसकी अपेक्षा परोपकारादि-शुभकार्यमें दान देकर पुण्य कमाना अच्छा है, लाभ है।

व्यास-स्मृतिमें विलक्षण-ढंगसे दानकी प्रशंसा एवं अदानकी निन्दाका अभिप्राय रखकर इस प्रकार कहा है कि—

'अदाता पुरुषस्त्यागी, धनं संत्यज्य गच्छति।
दातारं कृपणं मन्ये मृतोऽप्यर्थं न मुञ्चति॥'

अर्थात् दान नहीं देनेवाला 'त्यागी' (निन्दा अर्थमें) माना गया है। क्योंकि-उसे प्रिय धन छोड़कर एक रोज आगे-पीछे-यहाँसे खाली हाथ जाना ही पड़ता है। साथमें उसे चाहने पर भी ले नहीं जा सकता। और दान नहीं करनेसे उसने पुण्यका भी त्याग कर दिया है, एवं पुण्यके विना पुण्यजन्य जन्मान्तरमें होनेवाली-सुख-संपत्तिका

भी त्याग कर दिया है। इस प्रकार वह दान-विमुख-जन पूरा त्यागी बन जाता है। और जो दान करता है, वह कृपण (प्रशंसा अर्थमें) माना गया है। क्योंकि-मरने पर भी वह धनादिको छोड़ता नहीं। अर्थात् दानके द्वारा पुण्य प्राप्त करता है। और पुण्यके द्वारा दिये हुए धनादिसे-कई गुना धनादि जन्मान्तरमें प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार वह दाता, धनादिका त्याग नहीं करता, किन्तु दशके बदले शतका सञ्चय करता है, इसलिए वह कृपणके समान कहा-गया है।

कुछ लोग जन्मान्तर नहीं मानते, पूछते हैं कि-जन्मान्तर क्यों माना जाय? इसमें क्या प्रमाण है?। परन्तु इसका उत्तर सहज है, जीवोंकी विविध -सुदृढ़ इच्छाएँ-अतृप्त-वासनाएँ ही जन्मान्तरमें प्रमाण हैं। यह सबके प्रत्यक्षकी बात है कि-यह मनीरामबाबू अपने हृदयमें अनेक-विध-कामनाओंकी जाल बिछा कर बैठा है। जहाँ भी कहीं यह सुख -सौन्दर्य देखता है, वहाँ ही यह लट्टु बन जाता है, इसका ही यह चिन्तन करता रहता है, इस कारणसे ही उसे विविध-योनियोंमें भटकना पड़ता है। इसकी ये-इच्छाएँ-वासनाएँ-निष्फल नहीं हो सकतीं, फलरूपसे कर्मोंके अनुसार उसे-जैसा चाहता है-वैसा वासनाओंकी तृप्ति के लिए जन्मान्तरमें मिलेगा ही। यदि-इसकी इच्छाएँ समाप्त हो जायें तो जन्मान्तर भी समाप्त हो जाय, तुरन्त ही मोक्षलाभ मिले। अत एव हमारी अतिधन्या-भगवती श्रुति भी यही कहती है कि-

'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति, अत्र ब्रह्म समश्नुते॥'

(क० उ० २।६।१४)

जब इस जीवके हृदयमें स्थित—कामनाओंका विध्वंस हो जाता है, तब यह मर्त्य अमृत बन जाता है, यहाँ ही ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है, अर्थात् उसे जन्मान्तरके चक्रसे मुक्ति मिल जाती है।

इसलिए गीतामें श्रीभगवान्‌ने जन्मान्तरमें भी अभ्युदय—प्राप्तिके लिए तथा क्रमशः पापप्रणाश—सत्त्वशुद्ध्यादि द्वारा निःश्रेयस मोक्ष लाभके लिए यज्ञ—दान—तप आदि रूप पुण्यकर्म करनेका ही आदेश दिया है—

'यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

(१८।५)

अर्थात् यज्ञ, दान और तपरूप पुण्यकर्म त्यागने योग्य नहीं हैं, किन्तु उन्हें निःसन्देह होकर करना ही चाहिए। क्योंकि—यज्ञ—दान और तप ये तीनों ही औरोंकी तो क्या बात? किन्तु विद्वान् पुरुषोंको भी पवित्र करनेवाले हैं।

अत एव ज्ञान—योगीके विषयमें भी ऐसा ही कहा है कि—

'न कर्माणि त्यजेद् योगी, कर्मभिस्त्यज्यते ह्यसौ।'

अर्थात् ज्ञान-योगी जान—बूझकर यज्ञादि—पुण्यकर्मोंका त्याग न करे, किन्तु ऐसी भूमिकारूढ—मस्त आनन्दमयी दशा प्राप्त करे कि—कर्मही उसका स्वयं त्याग कर दें, कर्म करनेका उसे होशही न रहे। फलको वृक्षसे तोड़कर अलग नहीं करना चाहिए, किन्तु वह पककर स्वयं भले ही वृक्षसे टूटकर अलग हो जाय। तोड़ने पर फल कच्चा एवं खट्टा रहता है, पककर आपही गिर जानेपर उसमें सुस्वादु—प्रशस्त रसका

निर्माण हो जाता है। तद्वत्-ज्ञानयोगी यज्ञादि-पुण्यकर्मोंके द्वारा पावनताकी उत्कट-उन्मनी भूमिकामें जब आरुढ हो जाता है, तब, कर्म, स्वयं उससे छूट जाते हैं, और वह योगी पूर्ण-ब्रह्माद्वयानन्द-मय बन जाता है।

जब सिद्ध-योगीके लिएभी होश रहने तक-स्वप्रयोजन न होनेपरभी लोकसंग्रहके लिएभी पुण्यकर्म करनेका आदेश शास्त्रोंने दिया हैं, तब साधक-मुमुक्षुके लिए शास्त्र, पाप-प्रणाशादि अनेक विध प्रयोजनके लिए-शुभ कर्म करनेका आदेश दें-इसमें तो कहनाही क्या?। इसलिए यज्ञदानादि-पुण्यकर्म अवश्य करने चाहिए। पुण्यकर्मके द्वाराही अनेक विध-सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है, और संकट-मुक्ति आदि विविध लाभभी प्राप्त हो जाते हैं। इस विषयमें आपको अपने इतिहास-पुराणादियोंमें अनेक-विध उदाहरण मिलेंगे।

राजा रन्तिदेव, ज्ञानवान्, भक्त एवं बड़े-उदार विशाल-हृदय थे। सबमें ये भगवान्‌के ही दर्शन करते थे। जो भी जो कुछ उनसे मांगता, वही उसे तुरन्त दे देते थे। इस अति-उदारताके कारण उनके छोटे भाई गुरु ने इनसे समग्र-राज्य मांग लिया, रन्तिदेव ने प्रसन्नताके साथ उसे राज्य दे दिया। छोटे-भाईने रन्तिदेवके निर्वाहके लिए मासिक वृत्ति बाँध दी। जैसे जहाँ शर्करा होती है, वहाँ विना बुलाये पिपीलिकाएँ स्वतः ही पहुँच जाती हैं, वैसे जहाँ उदारमना दाता होता है, वहाँ याचकभी स्वतः पहुँच ही जाते हैं। मासिक-वृत्तिमें से भी जिसने जो कुछभी मांगा, तुरन्त ही दे डाला। छोटे भाईने और दिया तो उसेभी बाँट दिया; जितना मिले, उतना दे देवें। छोटे भाई ने समझाया कि-अमर्याद-बाँटने

पर तो वित्ताधिपति--कुबेरका भी खजाना खाली हो जाता है, और यह तो राजकोष है, हम आपको कहाँतक देते रहें। परन्तु विशाल-हृदय-राजा रन्तिदेवकी आदत ही ऐसी पड़ गयी थी। आदत ऐसी ही होती है—चाहे वह शुभ हो, या अशुभ—छुडाने पर भी नहीं छूटती। एक रोज उन्हें एक मासका सामान मिला, एक याचकने उसे माँग लिया, तुरन्त ही उसे दे दिया। अब उनके समीप खानेके लिएभी कुछ नहीं बचा। उपवास प्रारम्भ हो गये। छोटे भाईने भी अब ज्यादा देने से हाथ खींच लिया था। भक्त-राजा रन्तिदेव, शरीरके लिए पक्के प्रारब्धवादी थे। परन्तु मनके लिए दृढ पुरुषार्थनिष्ठ थे। मनसे वे निर्द्वन्द्व होकर सदा अच्युत—पूर्णाद्वय-परमात्माका ही चिन्तन करते रहते थे। जैसा प्रारब्ध होगा, वैसा शरीर रहेगा, भाग्यके अनुसार ही समग्र-प्राणियोंको सुख—दुःख मिलते रहते हैं। भक्तप्रवर नरसिंह मेहताके समान वे कहते थे कि—

सुख दुःख मनमां न आणिये, घट (शरीर) साथे रे घडियाँ।
टाल्यां ते कोईनां नव टले रे, रघुनाथ नां जडियाँ॥

अत एव उनके हृदयमें बडा वैराग्य था, संतोष था, शान्ति थी। दृढनिश्चय था कि—यह संसार पक्षियोंका मेला है। आया अकेला मानव, जाताभी अकेला है। '**यह चमन (संसार—बगीचा) यूँ ही चलेगा, और हजारों पक्षिगण। अपनी अपनी बोलियाँ, सब बोलकर उड जायेंगे। हँसते हँसते कट गई, या रोते रोते कट गई। चार दिनकी जिन्दगी, तकलीफ क्या? आराम क्या?।**

भाग्यकी बात विलक्षण होती है। दाने दाने पर, बिन्दु बिन्दु पर,

एवं तन्तु तन्तु पर भोक्ताओंके नाम लिखे हैं। किसी सेठका आमोंका बगीचा है, उसमें सुन्दर स्वादिष्ट फल लगे हैं। परन्तु उसका अभिमानी सेठ उन फलोंको नहीं खा सकता। वैद्यने मना कर दिया है—कि—यदि तू खायेगा, तो तुझे बवासीर—रोग हो जायगा, और कष्ट पायेगा। बिचारा नहीं खा—पाता, मन मसोस कर रह जाता है। कोई राहगीर आता है, तोडकर खा—पीकर चल देता है। जिसके भाग्यमें जो होता है—उसे ही मिलता है, नहीं होता है तो जोर लगाने पर भी नहीं मिलता।

राजा रन्तिदेवके उपवासके कई दिन होगये। भाईने भी देनेसे इन्कार कर दिया। तथापि वे धैर्यके साथ आनन्दपूर्वक भगवद्—भजन ही करते रहे। कहते हैं—इसप्रकार इनके ४० दिन बीत गये। शरीर बहुत ही शिथिल हो गया, मरणासन्न—जैसी दशा हो गई। स्त्री—पुत्रादि भी शान्ति रख भगवत्स्मरण करते रहे। जैसे चन्दनके साथ रहनेपर नीम्ब भी सुगन्धित हो जाते हैं, वैसे इनका परिवार भी वैसा ही अच्छा कष्टसहिष्णु—शान्त—एवं भजन—रसिक बन गया था। अब इनके भाईको दया आई। उसने उत्तम स्वादिष्ट खीर आदिका भोजन भेज दिया। रन्तिदेवने कहा—यह विश्वंभर भगवान्ने ही भेजा है। यह भगवत्-प्रसाद है, आया है तो ले लो, पा लो। स्त्री—पुत्रके साथ भोजन करनेको तैयार ही थे कि—इतनेमें एक ब्राह्मण आया। उसने—कहा राजन्! मैं बहुत भूखा हूँ, तेरा नाम सुनकर यहाँ आया हूँ। राजाने तुरन्त ही अपनी उग्र—क्षुधाकी भी परवाह न कर प्रसन्न—मनसे उस अतिथिको अपने हिस्साका कुछ भोजन दे दिया। वह तृप्त होकर चला गया। बचा हुआ प्रसाद पानेके लिए बैठे थे कि—इतनेमें एक शूद्र आया,

उसने भी याचना की, उसे भी कुछ दे दिया। राजा समदर्शी थे, समझते थे कि—ये सब श्रीनारायणके ही स्वरूप हैं। श्रीनारायण ही देते हैं, श्रीनारायण ही लेते हैं। लेने देने वाले और कोई नहीं, वे ही हैं। जो कुछ बचा था, उसे खानेके लिए तैयार हुये थे कि—एक अवधूत—वेषधारी बाबा आया। उसने कहा—राजन्! हम बहुत ही भूखे हैं, भोजन चाहिए। राजाने बड़े प्रेमसे जो कुछ बचा था—उसे अर्पण कर दिया। अब बचा हुआ पानी पीनेके लिए उद्यत हुये कि—इतनेमें एक चाण्डाल आया। पानीके लिए चिल्लाने लगा। रन्तिदेवने उसे पानी भी दे डाला। और अपने हृदयमें बहुत ही प्रसन्न हुए।

राजाने देखा कि—वह चाण्डाल देखते—देखते ही महातेजस्वी देव बन गया है। उसने अपना परिचय देते हुए कहा कि—मैं धर्मराज हूँ। राजन्! तुम महान् हो, तुम्हारा स्वार्थत्याग अत्यन्त ही प्रशस्त है। मैं तुम पर बहुत ही प्रसन्न हूँ। तुम मुझसे यथेष्ट वर मांगो। रन्तिदेवने कहा—मुझे और कुछ नहीं चाहिए। मेरेमें भगवान्की अनन्य-भक्ति बनी रहे, यही एकमात्र मेरी चाहना है। धर्मराजने रन्तिदेवको भक्तिका वरदान देकर कहा—तुम्हें शीघ्र ही भगवान्के दर्शन होंगे। उनका इतना कहना था कि—वह ब्राह्मण वहाँ आगया, तुरन्त ही उसने विष्णुरूप धारण कर लिया। हाथोंमें शंख, चक्र, गदा एवं पद्म सुशोभित थे। रन्तिदेव भगवान्का दिव्य—तेजोमय दर्शन कर प्रेम विह्वल हो गये। भगवान्ने कहा—राजन्! तुम्हारे त्याग एवं प्रेमकी परीक्षा लेनेके लिए वह रूप मैंने धरा था। मैं तुम पर बहुत ही प्रसन्न हूँ। इतनेमें वह शूद्र, एवं अवधूत भी वहाँ आ गये। शूद्र ब्रह्माजीके रूपमें

तथा लटूरियावाला बावा शंकरके रूपमें प्रकट हो गये। ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश्वर देवत्रयके दर्शन कर राजा परम सन्तुष्ट हुये। उनकी भूख प्यास भाग गई। शिथिल–मुरझाया हुआ शरीर विकसित एवं सबल हो गया।

श्रीभगवान्‌ने राजा–रन्तिदेवके त्याग–तितिक्षा एवं भक्तिकी बड़ी प्रशंसा की। और अपना वरद–करकमल–राजाके शिर पर रखकर आशीर्वाद दिया। श्रीभगवान्‌ने कहा–हम तीनों देव एक ही हैं, हमारे में वस्तुतः कुछ भेद नहीं।

सृष्टिस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकां।
स संज्ञां याति भगवान् एक एव जनार्दनः॥

अर्थात् एकही मैं जनार्दन भगवान् विश्वकी सृष्टि स्थिति एवं विलय करनेके लिए ब्रह्मा विष्णु एवं शिवके विग्रहोंको एवं नामोंको धारण करता हूँ।

रन्तिदेवने कहा–भगवन्! सबमें मेरी भगवद्भावना है। मैं किसीको कम नहीं समझता। सबको बराबर ब्रह्मरूप ही मानता हूँ। भगवान्‌ने कहा–अच्छा, मेरा अमोघ–दर्शन है, अतः तुम मेरेसे यथेष्ट वर मांगो। रन्तिदेवने कहा–प्रभो! मुझे धर्मराज, शाश्वत अनन्य–भक्तिका वरदान दे गये हैं। इसके अतिरिक्त आपकी कृपाके सिवाय और मुझे क्या चाहिए?। तथापि श्रीभगवान्‌ने अतिप्रेम प्रकट करते हुए–आग्रहके साथ कहा कि–मुझसे कुछ वर मांगना ही होगा। रन्तिदेवने कहा–भगवन्! जब आपका इतना अधिक आग्रह है, तो मैं यही मांगता हूँ कि–मुझे समस्त विश्वके समस्त प्राणियोंका दुःख दे दिया जाय, निखिल

प्राणी दुःखसे मुक्त होकर सुखी होजाँय, और उनका दुःख मैं अकेला–ही भोगता रहूँ। श्रीभगवान्ने कहा–राजन्! यह तो तुम्हारी महान् उदारता है; दयालुता है, उत्कट–विश्वप्रेम है। परन्तु विचार करके देखा जाय तो दुःख कोई खराब वस्तु नहीं है, यह एक बड़ा हितकारी पदार्थ है। यही अभिमानादि–दोषोंका नाशक एवं वैराग्यादि–सद्गुणोंका उद्भासक है। संसारमें यदि दुःख न रहे तो किसीको संसारसे वैराग्य ही न होगा। और वैराग्यके विना भक्ति एवं ज्ञानका परम लाभ भी किसीको न होगा। इसलिए मैंने इस संसारको अशाश्वत एवं दुःखालय बनाया है। यही दुःखरूपी रज्जु-भगवद्विमुख–संसारासक्त–प्राणियोंको जबरन् भगवदभिमुख आकृष्ट करती है। अतः प्राणियोंके शुभाशुभ कर्म उनके साथ ही रहने देना चाहिए, उन्हें सर्वथा दुःखरहित बनानेसे उनका हित नहीं अहित ही होगा। विश्वकी शासन–व्यवस्थामें भी गडबडी पैदा हो जायगी। इसलिए तुम्हें ऐसा वरदान मांगना उचित नहीं।

भगवान्की ऐसी रहस्यमयी वाणी सुनकर राजा रन्तिदेव बहुत ही प्रसन्न हुए। हाथ जोड़कर पुनः प्रणाम करते हुए उन्होंने कहा कि–तब तो भगवन्! आपकी स्वतन्त्र–सुखखानी–अनपायिनी–भक्तिका ही वर मुझे दीजिए। यही मैं आप दयासागर–भगवान्से भी मांगता हूँ। तथाऽस्तु कहकर श्रीभगवान् वहाँसे अन्तर्ध्यान होगये।

इसप्रकार मानव जब, अभिमान, द्वेष, घृणा, विषयलालसा आदि दुर्गुणोंको हटाकर, दया, उदारता, प्रेम, वैराग्य, तितिक्षा, आदि सद्गुणोंको धारणकर यज्ञादि–पुण्यकर्म करता रहता है, तब वह पुण्यकर्मके

द्वारा पापोंका प्रध्वंस कर, निर्द्वन्द्व होकर भगवद्भजन कर सकता है। और वह इसके द्वारा भगवद्दर्शनादि अनेकविध-सिद्धियोंको प्राप्तकर अपने मानवजीवनको कृतार्थ, धन्य एवं यशस्वी बना देता है।

(२९-३०)

जरामरणमोक्षाय, मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्न-मध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥
साधिभूताधिदैवं मां, साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां, ते विदुर्युक्तचेतसः॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः समाप्तः।

जो लोग, जरा-मरणसे उपलक्षित-संसारके विविध दुःखोंसे छूटनेके लिए-मुझ-सगुण-साकार-भगवान्‌के शरणापन्न होकर निष्काम-कर्म, भगवद्भजन-आदिके द्वारा यत्न करते हैं, वे-लोग निष्पाप, शुद्धान्तःकरण एवं निर्द्वन्द्व होकर तत्पदलक्ष्य-विश्वाधिष्ठान-परब्रह्मको जानते हैं, और पूर्ण अध्यात्मतत्त्व-त्वंपदलक्ष्य-सच्चित्सुखरूप-प्रत्यगात्माको भी जानते हैं। और उक्त लक्ष्यद्वयके ज्ञानके साधनभूत-गुरूपसदन-श्रवण-मननादिरूप निखिल कर्मको भी जानते हैं। तथा अधिभूत, अधिदैव एवं अधियज्ञ सहित उन सबके आत्मारूप मुझ परब्रह्मका जो चिन्तन करते हैं, अर्थात् जैसे बाष्प, बादल, बर्फ सब वस्तुतः जल स्वरूप ही हैं, जलसे पृथक् नहीं, वैसे अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ आदि सबकुछ वासुदेव स्वरूप ही है। ऐसा जो दृढ निश्चयकर समा-

हित–चित्तहुए–अनन्यभावसे मेरा भजन करते रहते हैं, वे अति विकट–प्राणोत्क्रमण–समयमें भी निर्द्वन्द्व होकर मेरेमें तन्मय हुए–कृतार्थ–मुक्त हो जाते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं–जो लोग मेरा एकमात्र विश्वास रख, मेरी–शरण–ग्रहण कर, मोक्षके लिए प्रयत्न करते हैं, उनका प्रयत्न देर–सवेर अवश्य ही सफल होता है। अनिष्ट–पदार्थसे मोक्ष प्राप्त करनेकी अभिलाषा सभीको स्वभावतः होती है। जरामरणसे उपलक्षित–यह दुःखालय संसार ही अनिष्ट है। इससे सभी छूटना चाहते हैं। जैसे अग्निके आश्रयसे शीतलता दूर होजाती है, भोजनसे भूख भाग जाती है, वैसे जो अजर–अमर भगवान्का आश्रय लेते हैं, वे जरामरणसे आप ही छूट जाते हैं। जराका एक कल्पित–अर्थ है–थोडा(कम) 'जरा देना ज्यादा नहीं' इत्यादि लोकव्यवहारमें भी उसकी इस अर्थमें प्रसिद्धि भी है। इस जरा–अवस्थामें एक तृष्णाको छोड़कर सब कुछ जरा जरा ही रह जाता है। थोडा खाना, थोडा देखना, थोडा सुनना, थोडा चलना इत्यादि। परन्तु जराका वास्तविक–अर्थ है–'जृवयोहानि' धातुके अनुसार क्षीणावस्था। शरीरके समस्त अङ्गोंमें क्षीणता–शिथिलता आना उसे जरा कहते हैं। इसलिए गुजराती भाषामें जराको घटपन कहते हैं। इसमें घटना ही घटना है, बढ़ना नहीं। ऐसी जराको कोई भी नहीं–चाहता, परन्तु समय पाकर या असंयमके कारण भी जरा जबरन् आ ही जाती है।

जवान लोग–बूढ़ोंकी इस क्षीणावस्थाको देखकर हँसते हैं। परन्तु उन्हें याद रखना चाहिए कि–यह जवानी भी 'जवानी छे,

रहेवानी नथी' (गुजराती भाषा) एक दिन ऐसी तुम्हारी भी दशा होने-वाली है। जैसे खिले हुए-पुष्पोंको टूटते हुए देखकर कलियाँ कहती हैं-हम बच गये, हमारी बारी नहीं आई। परन्तु यह उनकी मूर्खता है। आज नहीं तो कल उनकी भी बारी आ ही जायगी। वैसे आजके जवानोंको कल बुढापाकी भी बारी आ ही जाती है। सब दिन जात न एक समान, यह ध्रुव नियम है। यह संसार क्या है? बारी बारीका खेल ही तो है। बच्चोंको कभी जवान बननेकी बारी आती है तो जवानोंको बूढा होनेकी बारी एवं बूढ़ोंको मरजानेकी बारी आ हीं जाती है। ठण्डीके बाद गरमीकी बारी तो गर्मीके बाद ठण्डीकी बारी। जैसे दिनके बाद रात्रिकी बारी आजाती है, वैसे सुखके बाद दुःखकी भी बारी आ जाती है। इसप्रकार सर्वत्र बारी बारीका खेल दुनियाँमें हरदम दिखता रहता है। दुनियाँका भी यही अर्थ है-जिसमें दु यानी दो-परस्पर विरोधी सुख-दुःखादि-द्वन्द्वरूप नयोंका आना जाना-बराबर बना रहे।

यह जरावस्था यानी बालोंकी सफेदी, काल देवताका वारंट है। इसे पाकर मनुष्यको भगवच्चिन्तनमें अनन्यप्रेमसे लगजाना चाहिये। सावधान होजाना चाहिए। अत एव महात्माओंने कहा है कि—

'कृतान्तस्य दूती जरा कर्णमूले,
समागत्य वक्तीति लोकाः! श्रृणुध्वम्।
परस्त्री—परद्रव्य—वाञ्छां त्यजध्वं,
भजध्वं रमानाथपादारविन्दम्॥

यह जरा मृत्युदेवताकी दूती है। कानके समीप आकर लोगोंसे

कहती हैं कि–हे लोगो ! सावधान होकर सुनो। तुम्हें पकडनेके लिए मैं आगयी हूँ, अब कुछ ही समय बाकी है–इतनेमें तुम अपने बचावके लिए कुछ प्रयत्न कर सकते हो–बचावका प्रयत्न यही है कि–तुम परस्त्रीकी एवं परद्रव्यकी पापमयी इच्छाका त्याग करो, और रमानाथ भगवान् श्रीविष्णुके चरणकमलका पुनीत–भजन करो। इससे ही तुम्हारा परित्राण हो सकता है।

राजर्षि भर्तृहरिजीने कष्टप्रदा–जराकी दुर्दशाका वर्णन इसप्रकार किया है कि—

'गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता, भ्रष्टा च दन्तावलिः,
दृष्टिर्नश्यति वर्धते बधिरता, वक्त्रं च लालायते।
वाक्यं नाद्रियते च बान्धवजनो भार्या न शुश्रूषते,
हा कष्टं पुरुषस्य जीर्णवयसः पुत्रोऽप्यमित्रायते॥'

अर्थात् वृद्ध–मनुष्यकी ऐसी दुर्दशा होजाती है कि–इसके सब गात्र सुकड जाते हैं। चलना–फिरना मुश्किलसे होता है। दांतोंकी पंक्ति एक–एक करके गिर जाती है। दृष्टि मन्द होजाती है, स्पष्ट–देखा नहीं जाता। बधिरता बढ़ती जाती है। मुखसे लार टपका करती है। बन्धुजन वचनका आदर नहीं किन्तु अनादर करते हैं। कहते हैं कि–इस बूढेकी अक्किल मारी गयी है, व्यर्थ ही बीचमें कौआकी तरह काँव काँव करता रहता है, इत्यादि वचनोंके द्वारा उसका तिरस्कार करते हैं। स्त्री भी सेवा नहीं करती। और जिन पुत्रोंको अपना मानकर पाले–पोसे लिखाये–पढ़ाये, बड़े किये, विवाह किये, वे भी पराये होजाते हैं एवं शत्रुके समान प्रतिकूल आचरण करते हैं।

यह वृद्ध-मनुष्यके लिए बड़े ही कष्टकी बात है। इस विषयमें एक-उदाहरण सुनिये।

एक धनवान् सेठ था। वृद्ध होने पर उसने अनुरागवश अपनी समग्र-संपत्ति अपने पांचों पुत्रोंको बाँट दी, उसने अपने लिए कुछ भी नहीं रक्खा। सभी पुत्र अपना-अपना हिस्सा लेकर अलग रहने लगे। सभीने मिलकर यह निर्णय किया कि-प्रत्येक भाई बारी बारीसे एक एक-दिन पिताजीको भोजन करवाये। और अपने घरमें रक्खे। इस-प्रकार वह वृद्ध प्रतिदिन एक दूसरेके यहाँ आनेजाने पर परेशान होता रहा। उसने एक रोज सभी पुत्रोंको बुलाकर कहा कि-मेरे आरामके लिए तुम मुझे एक अलग कमरा दे दो, मेरेसे अब आना-जाना बनता नहीं, और वहाँ ही मुझे नियमसे समय पर भोजन मिले, ऐसा प्रबन्ध कर दो। लड़कोंने वृद्धके लिए एक पुरानी रद्दी कुटियाका प्रबन्ध किया, और उसमें एक टूटी चारपायी पर रद्दी बिछौना बिछा दिया। बेचारा बूढ़ा वहाँ रहने लगा। उसकी परिवारका कोई भी मनुष्य बराबर न खबर रखता था, न तो ठीक-ठीक सेवा ही करता था। वह चाहता था कि-मुझे गरम-नरम-सरस एवं समय पर खाना मिले, परन्तु उसे मिलता था कडा, ठण्डा, निरस एवं वे-समय। संसारमें अच्छेसे अच्छे भी लड़के होते हैं, एवं खराब से भी खराब। परन्तु अच्छोंकी अपेक्षा खराब बहुत मिलेंगे, ये लड़के भी वैसे ही खराब क्वालिटीके थे।

कभी कभी बहुओंकी असावधानीसे उसे बिल्कुल भोजन पहुँचता ही नहीं था। बेचारेको चतुर्थीके दिन निर्जला-एकादशी करनी पड जाती

थी। इसलिए जगद्गुरु-आचार्य महाराजने यह ठीक ही तो कहा है—

यावद्वित्तोपार्जनसक्तः, तावन्निजपरिवारो रक्तः।
पश्चाज्जर्जरभूते देहे, वार्तां कोऽपि न पृच्छति गेहे॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते!॥

अर्थात् मनुष्य जबतक धन कमानेमें समर्थ रहता है, तबतक उसका परिवार उससे स्नेह रखता है, पीछे जब वह बूढ़ा बन जाता है, धन कमानेका उसमें सामर्थ्य नहीं रहता, धनसे रहित अकिञ्चन होजाता है, तब उसका परिवार उससे ऐसा मुख फेर लेता है कि-उससे बात तक करना नहीं चाहता। अतः हे मूढमतिवाला जन! इस स्वार्थी-परिवारके पीछे पागल मत बन, इसकी आसक्ति छोड़ और उस गोविन्द-प्रभुके भजनमें चित्त जोड़; यही कल्याणका मार्ग है।

एक दिन वह वृद्ध बहुत दुःखी होकर बड़ी मुश्किलसे लड़कोंके समीप पहुँचा, और उसने कहा कि—मेरा भोजन समय पर भी नहीं पहुँचता, न प्रतिदिनभी। इसका तुम लोग अच्छा प्रबन्ध करो। तब लड़कों ने उसकी कुटियामें एक घण्टी टांग दी। और कहा कि—जब भोजन न पहुँचे, तो इसे बजा दिया करो। अब तो बूढेको रोज घण्टी बजानी पड़ती थी, क्योंकि—उसके बजाये विना भोजन मिलता ही नहीं था। एक दिन बूढ़ेके पोते (पौत्र) वहाँ खेलनेके लिए पहुँचे, और घण्टी उठाकर चलते बने। अब तो बूढेको कई रोज हो गये—भोजनही नहीं मिला, बेचारा—अशक्त—बूढा खटिया पर लेटा—लेटा कराहता रहा।

उस समय उस ग्राममें एक पुराने महात्मा आये, जो प्रथम कभी कभी वहाँ आया जाया करते थे। उन्होंने लोगोंसे उस वृद्ध—सेठ

का भी समाचार पूछा। लोगोंने उसका दु:खभरा वृत्तान्त सुनाया। महात्माने कहा—जब वह इतना दु:खी है, अशक्त है, तो मैं उसके समीप जाऊंगा, और उसे कुछ आश्वासन दे आऊंगा। महात्मा एक दो—गृहस्थोंको साथ लेकर उस वृद्धके समीप गये। वहाँ महात्माको देख वह बालककी भाँति रोने लगा। महात्मा उसकी ऐसी प्रत्यक्ष दुर्दशा देख दयार्द्र हो उठे। उन्होंने आश्वासनके साथ वैराग्यका तथा भक्तिका उपदेश देते हुए कहा कि—देख—भाई! इस स्वार्थी—संसारमें कोई किसीका नहीं। अतः तू इस मिथ्या असार—संसारकी आसक्ति छोड़कर श्रद्धाके साथ राम—नामका अखण्ड जप किया कर। इसीसे ही तेरा भला होगा। और कहा कि—युक्तिके विना मुक्ति नहीं मिलती, अत: जैसोंके साथ तैसा ही वर्ताव करना चाहिए। इसलिए हम तेरी अच्छी सेवाके लिए एक युक्ति रचते हैं। हाँ, इसके लिए थोडा झूठ बोलना पडेगा। बात यह है कि—हम तेरे समीप एक लकड़ीकी मजबूत पेटी ईंट—पत्थरोंसे भरकर मजबूत ताला लगाकर रख देते हैं। समीप की कुछ जमीनभी खुदवा देते हैं। तू अपने परिवारके समक्ष ऐसी गप्प लगा देना कि—मैंने अपना गुप्तरूपसे जमीनमें छिपाकर रक्खा हुआ सोना—चांदी आदिका करीब तीस—चालीस हजारका धन—निकाल-कर इस पेटीमें रक्खा है। मेरे गुरुदेव हरिद्वारसे आये हैं, उनके साथ मैं गंगातट पर जाऊँगा। और वहाँ एक छोटीसी धर्मशाला बनवाकर अन्नक्षेत्र लगाऊँगा, और दान—पुण्य तथा भजन करता हुआ अपना शेष जीवन आनन्दपूर्वक व्यतीत करूंगा, और अन्तमें इस शरीरको श्री गंगाजीमें छोडूंगा। परन्तु तू खूब सावधान रहना कि—परिवारके

लोगोंका उस पेटी पर हाथ न लगने पावे। न चावी ही कभी अपने हाथसे छोड़ना। नहीं तो सब पोल खुल जायगी, सब गुडगोबर हो जायगा। और तेरी इस कल्पित-धनकी लालचसे खूब सेवा होने लगेगी। परन्तु तू राम-नामको कभी भूलना मत।

ऐसा कहकर वे महात्मा वहाँसे चले गये, और उन्होंने वृद्धके समीप पेटीका प्रबन्ध करवा दिया। अब घरवालोंको पता चला कि-बूढेके समीप धनमालसे भरी एक पेटी है। कभी नहीं आने वाले-सभी लड़के एवं बहुएँ वहाँ आने लगीं। वे पूछने लगे कि-इसमें क्या है? क्या है?। बूढे ने जैसा सिखाया था, वैसा ही कह सुनाया। लड़के कहने लगे-पिताजी! व्यापारमें हमें बहुत नुकशान हुआ है। आप इतना धन दान-पुण्यमें मत लगाओ। हम आपको यहाँसे कभीभी नहीं जानेदेंगे। यहाँसे आप चले जायेंगे तो बताइये हमारी क्या इज्जत रहेगी? लड़कों ने कुछ दूर पर जाकर अपनी स्त्रियोंसे कहा-तुम देखती क्या हो? इसकी अब खूब सेवा करो। गरम-नरम-सरस-हलवा-पूरी खिलाओ। नहीं तो इतनी बड़ी रकम यहाँसे चली जायगी। अब तो बहुएँभी बूढे श्वसुरकी खूब चापलूसी करने लगीं, बढ़िया बिछौना बिछा दिया, अच्छे कपडे पहिना दिये। दिनमें कईबार खबर पूछने लगीं, और सदा पहरा देने लगीं कि-कहीं पेटी लेकर बूढा चला न जाय। बूढाभी हाथमें राम-राम की माला फेरता हुआ-मनमें हँसता हुआ कहता था कि-यह मेरी सेवा नहीं, किन्तु इस पेटीके धनमालकी सेवा हो रही है। यही तो मैं था-जो प्रथम कोई पूछताभी नहीं था। वाहरे! स्वार्थी दुनियाँ। साधु-महात्मा ने ठीक रंग जमाया।

लड़कोंने जब रहनेका बहुत आग्रह किया—तब बूढेने स्वीकार किया कि—अब मैं नहीं जाऊँगा। परन्तु उसके घरवाले लोग-रात्रिदिन यही प्रतीक्षा करते थे कि—यह कब शीघ्र मरे, और जल्दी ही पेटीका माल हमें मिले। एक रोज उसकी आँखें सदाके लिए बन्द होगयीं, शरीरसे उसके प्राणपखेरू उड़ गया। तब सबने मिलकर प्रथम—पेटी खोलनेका ही काम किया। खोलकर देखते हैं कि—इसमें न तो सोना है, न चांदी है, न रुपये हैं, किन्तु पत्थर एवं रोडे भरे हैं। तब परिवारके लोगोंने कपाल पीटकर कहा कि—हाय! बूढा हमें ठग गया। तब किसी समझदार पडोसीने उनसे कहा कि—तुमने बूढेको प्रथम ठग; तो अब उसने तुम्हें ठग लिया, जमा—उधार बराबर होगया। एकके पीछे दूसरेकी भी बारी आ ही जाती है।

इसप्रकार यह जरावस्था भी अनेकविध कष्टोंका हेतु होनेसे उससे भी समझदार विवेकीजन छूटना चाहता है। एवं मरण भी महा कष्टदायक है। इसलिए सभी लोग इसका नाम तक भी नहीं सुनना चाहते हैं, इससे पूरी नफरत रखते हैं। मरणसे सब लोग भयभीत बने रहते हैं। थोडी-सी व्याधि होजाने पर लोगोंको मौतकी काली परछांई सामने दीख पड़ती है। वैद्य एवं डाक्टरोंको पुकारकर कहते हैं कि—हमें बचाओ, हमें मौतसे बचाओ! परन्तु वे उसको मौतसे कैसे बचा सकते हैं, जब कि—वे स्वयं अपनेको उससे नहीं बचा सकते हैं। इसलिए किसी विद्वान् महात्माने कहा है कि—

'मृत्योर्बिभेषि किं मूढ! भीतं मुञ्चति किं यमः।
अजातं नैव गृह्णाति कुरु यत्नमजन्मनि॥'

अरे मूढ ! मृत्युसे क्यों डरता है ? डरनेसे क्या वह तुझे छोड़ देगा। डरके मारे आँखें वन्द कर देने पर कबूतरको क्या बिल्ली छोड़ देती है। इसलिए तू मौतसे मत डर, डरनेसे नहीं बच सकता। हाँ ! तू अबसे ऐसा प्रयत्न कर, कि—पुनर्जन्म लेना ही न पड़े। जब जन्म ही न होगा, तब मृत्यु कैसे आयेगी। क्योंकि—जन्मवान्‌की ही मृत्यु होती है, जन्मरहितकी मृत्यु नहीं हो सकती।

इसप्रकार जरा—मृत्युसे उपलक्षित यह नाम—रूपात्मक—दृश्य—जड़—परिच्छिन्न—संसार ही दुःखमय है। अतः तू इससे छूटनेकी प्रबल इच्छा रख। और इससे छूटनेका उपाय है—एकमात्र अजर—अमर—भगवान्‌का आश्रय। जैसे शीतल—छायाका आश्रय लेने पर मनुष्य गरमीके दुःखसे छूट जाते हैं। वैसे जो जन भगवान्‌का आश्रय लेते हैं, वे जन्ममरणके दुःखमय चक्रसे सदाके लिए छूट जाते हैं। इसलिए वैराग्यके लिए मृत्युकी एवं सुख—शान्तिके लिए श्रीभगवान्‌की हरदम स्मृति रखनी चाहिए। अतएव नारायण—स्वामीने कहा है कि—

दो बातनको भूल मत, जो चाहत कल्याण।
'नारायण' इक मौतको दूजा श्रीभगवान।

अतः जब हम माला लेकर भगवान्‌का भजन करने बैठें, उस समय हमें ऐसा सोचना चाहिए कि—मौत हमारे पीछे ही खड़ी है। वह गला दबानेके लिए तैयार ही है। क्योंकि—मृत्युकी भावनासे हमारे हृदयमें वैराग्य उत्पन्न होजाता है, संसारकी आसक्तियाँ दूर होजाती हैं और भजनमें चित्त एकाग्र होजाता है।

एक आस्तिक—श्रद्धालु मनुष्य था। उसे भजन करनेकी बहुत

लालसा थी। परन्तु संसारकी विविध—उपाधियोंके कारण वह भजन नहीं कर सकता था। वह चाहता था—कब यह दुनियाँकी जंजाल छूटे, और मैं एकाग्रतासे भजन कर सकूं। वह एक एकान्तवासी भजनानन्दी महात्माके समीप आया—जाया करता था। उसने एकदिन उस महात्मासे अपना हाथ दिखलाते हुए पूछा कि—भगवन्! कृपया यह बतलाइये कि—मेरी मृत्यु कब होगी?। जीनेके अब कितने वर्ष बाकी हैं। महात्माने उससे पूछा कि—ऐसा पूछनेका तेरा क्या उद्देश्य है? अर्थात् तू क्या अभिप्राय रखकर ऐसा प्रश्न कर रहा है। उसने कहा—महाराज! मुझे ऐसा मालूम होजाय कि—अब जीवनके पाँच वर्ष ही शेष रहे हैं, तो मैं दो तीन वर्षमें संसारकी जंजाल समेट लूं, अपने कंधेसे दुनियाँका भार उतार दूं, और सबसे निवृत्त होकर एकान्तमें बैठकर अन्तके दो वर्षमें भगवान्का खूब भजन करूँ।

उसकी बात सुनकर महात्माने मनमें सोचा कि—यह भजन करनेके लिए अपनी आयु पूछता है। इसलिए '**शुभस्य शीघ्रं कर्तव्यं**' अर्थात् शुभकार्य बहुत जल्दी करना चाहिए। उसमें थोडासा विलम्ब रखना अच्छा नहीं। ऐसा सोचकर उन्होंने उसका हाथ देखकर कहा कि—भाई! तेरी तो आयु आजकी रात्रिमें ही समाप्त होजाती है, इसलिए मृत्यु आज रातमें ही तेरा गला घोंटनेवाली है। यह सुनकर वह विश्वासी-भक्त सन्नाटेमें आ गया। वह सीधा चुपचाप अपने घर चला गया। और उसने घरवालोंसे कह दिया कि—आज मैं भोजनादि कुछ नहीं करूंगा। और मैं एकान्तमें भजन करनेके लिए बैठता हूँ, कोई मुझे बुलावे नहीं, इसका ख्याल रखना। ठीक तो है—जिसे फाँसीकी

सज्जा होजाय—उसे भोजनादि कैसे रुचिकर हो सकते हैं, नहीं हो सकते। वह कमरा बन्द कर मृत्युके भयसे—संसारसे अत्यन्त उपरत होकर एकाग्रतासे भगवान्का भजन—कीर्तन—ध्यान करने लगा। भगवान्की आराधनामें वह इतना तन्मय होगया कि—उसे विशेष पता ही नहीं रहा कि—कब प्रातःकाल होगया। उसने आश्चर्यके साथ देखा कि—मैं मरा नहीं किन्तु जीवित रहा। सत्यवादी महात्माका वचन झूठा कैसे हो गया।

वह नहा—धोकर शीघ्र ही महात्माजीके समीप गया। अभिवादन कर उनसे कहने लगा कि—महाराज! आपका कहना अनृत होगया। महात्माने कहा—भाई! मैंने तो सत्य ही कहा था। परन्तु तू यह बतला कि—रात्रिभर क्या करता रहा?। उसने कहा—भगवन्! भगवच्चिन्तनसे अतिरिक्त और क्या करता?। क्योंकि—आपने मृत्युकी ऐसी भीति लगादी थी कि—इसके कारण समग्र रात्रि जागता रहा, और भगवद्भजन करता रहा। परन्तु महाराज! गतरात्रि, भजनमें मेरी ऐसी तन्मयता होगयी थी कि—मैंने अपनी इतनी—जिन्दगीमें कभी ऐसी तन्मयताका अनुभव नहीं किया। महात्माजीने उसके कथनका अनुवाद करते हुए कहा कि—अच्छा, तू सारी रात भजन—कीर्तन ही करता रहा। देख भाई! भजनका बड़ा सामर्थ्य होता है, भजनके प्रभावसे मृत्यु भी भाग जाती है, ऐसा शास्त्रोंमें कहा है। गतरात्रिमें तेरे शरीरकी मृत्यु अवश्य आई होगी, परन्तु भजनकी शक्तिसे वापस लौट गई होगी। अब आगेकी रात्रिमें तू सावधान रहना और प्रेमसे एकाग्रतासे रात्रि—दिवस भगवद्भजन करते रहना। नहीं तो मौत तेरे शरीरको समाप्त कर देगी। इसलिए तू

आलस्य-प्रमादका परित्याग कर मृत्युके भयसे मुक्त होनेके लिए सदा भजन कीर्तन किया करना। वह भक्त श्रद्धालु था। उसने महात्माजीके इस युक्तियुक्त कथनको सत्य ही मान लिया। और संसारके आवश्यक कार्योंको करता हुआ भी मनमें वैराग्य रखकर सदा भगवद्भजन करता रहा। तात्पर्य यह है कि-वैराग्यके विना भजनकी सिद्धि नहीं होती, और मृत्युकी भावनाके विना वैराग्यकी सिद्धि नहीं होती, इसलिए वैराग्यकी एवं भगवद्भजनकी सिद्धिके लिए मृत्युकी भावना अवश्य करनी चाहिए। अत एव किसी भक्त-महात्माने यह क्या ही अच्छा कहा है कि-

'बिनु विराग उपजत नहीं, श्रीकृष्ण-चरण अनुराग।
हरिपद रति-बिन जगतमें जीवन निपट-अभाग ॥

मोक्ष-प्राप्तिके लिए ईश्वर-कृपा एवं पुरुषार्थ दोनोंकी आवश्यकता है। जो पुरुषार्थी है, वह ईश्वरकृपा प्राप्त कर सकता है। आलसी मनुष्य कभी ईश्वर-कृपा प्राप्त नहीं कर सकता। जो आप स्वयं अपनी सहायता नहीं करता, सदा आलस्यमें पड़ा रहता है, उसे ईश्वर भी सहायक नहीं होते। जो आप अपनी सहायता करनेके लिए तत्पर हो जाता है, ईश्वरभी उस पुरुषार्थी को सहायता देनेके लिए पहुँच जाते हैं। इसलिए जो कोईभी मानव, आलस्य-प्रमादका सर्वथा परित्याग कर साधन-लाभके लिए प्रयत्न करता रहता है, और साथमें यह दृढ-विश्वासमयी भावना रखता है कि-मैं भगवान्का हूँ, भगवान् मेरे हैं, भगवान्के साथ ही मेरा एकमात्र-पारमार्थिक-शाश्वत सम्बन्ध है। अतः मैं भगवान्से किसीभी प्रकार पृथक् नहीं हो सकता। इस देह-गेहादि-दुनियाँके साथ मेरा कोई शाश्वत-सम्बन्ध नहीं। इसके

साथ प्रथमभी सम्बन्ध नहीं था, और पीछेभी नहीं रहता। मध्यमें केवल काल्पनिक-सम्बन्ध भास रहा है। परन्तु भगवान्के साथ मेरा त्रैकालिक अविच्छिन्न सम्बन्ध है। इसलिए मैं उस सच्चे सम्बन्धी भगवान्के ही आश्रित हो जाता हूँ, मुमुक्षु बनकर उसकी ही शरण ग्रहण करता हूँ।

भगवान् मुझे पहचानते हैं तो मैं भगवान्को पहचानता हूँ। मैं भगवान् को देख रहा हूँ तो भगवान् मुझे देख रहे हैं। इस प्रकार जो अनन्य-प्रेम द्वारा भगवान्का अवलम्बन कर प्रयत्न करता रहता है, वही भगवत्कृपा प्राप्त करनेका अधिकारी बनता है।

और वह भगवत्कृपा द्वारा भगवान्के वास्तविक-पूर्णस्वरूप को जानता है। अर्थात् उसे अध्यात्म-तत्त्वके अनुभवद्वारा ही कृत्स्न-ब्रह्म-स्वरूपका दर्शन हो जाता है। जबतक मानव अपने पारमार्थिक-स्वरूप को नहीं जानता, तबतक उसे परमात्म-तत्त्वका भी ज्ञान कदापि नहीं होता। अर्थात् जब यह अपने-आपको वास्तविकरूपमें पहचान लेता है, तब उसे ब्रह्मतत्त्वके पहचाननेमें कुछभी विलम्ब नहीं लगता। यह वेदान्त-शास्त्रका यथार्थ-सिद्धान्त है। अत एव कठोपनिषत्में धर्मराजने नचिकेताके प्रति कहा है कि—

'यदेवेह तदमुत्र, यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥'

अर्थात् जो स्वरूप इस जीवमें है, वही उस परमेश्वरमें है, जो परमेश्वरमें है, वही इसजीवमें है। अर्थात् पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड में एक ही चेतन-आत्मा अवस्थित है। जो कोई उस अद्वयतत्त्व में भेद-दृष्टि रखता है, वह मृत्यु-परम्पराको प्राप्त होता रहता है।

जो इस शरीरका अधिष्ठाता है, प्रकाशक है, सत्ता-स्फूर्तिप्रदाता है, वह वस्तुतः कृत्स्न है। अर्थात्-शरीरादि-उपाधि-प्रयुक्त-परिच्छेदसे रहित है, पूर्ण है, ऐसा जो त्वंपदका लक्ष्य-अध्यात्म-तत्त्व है। वही समस्त-जगत्का कारण-मायाका अधिष्ठान-निर्गुण-शुद्ध-परब्रह्म तत्पदका लक्ष्य है। 'वही मैं परमात्मा हूँ' ऐसा वही जानता है, जो अन्य सब जगत्से विमुख होकर एकमात्र सगुण-साकार-भगवान्के शरणापन्न होकर फलेच्छा रहित-भगवदर्पित-विहित-कर्म करता रहता है, और इसके द्वारा जो अपने अन्तःकरणको शुद्ध एवं एकाग्र बनाता है। और उस लक्ष्य-विषयक-अपरोक्ष ज्ञानके साधन-भूत-अशेष कर्मको भी वह प्राप्त कर लेता है। श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ-गुरुके समीप गमन, श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन, ये साक्षात्कारके अव्यवहित प्राप्तव्य-साधन-भूत अन्तरङ्ग कर्म हैं। इसलिए **'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं'** (मु. १।२।१२) **'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'**। (बृ. उ. ४।५।६) इत्यादि-श्रुतियोंने भी ये ही कर्म बतलाये हैं। अर्थात् उस परमार्थ-तत्त्वके विज्ञानके लिए मुमुक्षु गुरुके समीप जावे। याज्ञवल्क्य महर्षि मैत्रेयीसे कहते हैं-अरे मैत्रेयि! आत्माका साक्षात्कार अवश्य करना चाहिये, यहाँ आत्म-दर्शन उद्देश्य है। एवं इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिए श्रवण मनन एवं निदिध्यासनका क्रमशः विधान है। अत एव पूर्वोक्त-श्रुति एवं प्रकरणके अनुसार प्रत्यगभिन्न-ब्रह्मतत्त्वके वेदनके साथ साधनभूत ये ही अखिल-कर्म हो सकते हैं अन्य नहीं। अतः इन्हें अवश्य संपादन करने चाहिए।

जिसप्रकार अध्यात्म–तत्त्व मैं भगवान् हूँ, उसप्रकार अधिभूत, अधिदैव एवं अधियज्ञ भी मैं ही हूँ। जो उत्पत्ति–विनाश–शील–नाम रूपात्मक–भाव (पदार्थ) हैं। वे सबके सब अधिभूत हैं। वे भी **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** (छां० उ० ३ । १४ । १) श्रुतिके अनुसार बाधसामानाधिकरण्य–न्यायसे भगवत्स्वरूप ही हैं। और समस्त प्राणियों के–इन्द्रियादि करणोंका अनुग्राहक सूर्यमण्डलावस्थित–हिरण्यगर्भ है, वह अधिदैव है, वह पुरुष है, अर्थात् जिससे यह सब जगत् परिपूर्ण है, अथवा जो समस्त शरीररूपी–पुरियोंमें रहता है, वह पुरुष कहलाता है। वह अधिदैव पुरुष भी मैं भगवान् ही हूँ। और इस देहमें जो जीवन–यज्ञ चल रहा है, उसका अधिष्ठाता विष्णु है, वही अधियज्ञ पुरुष है, वह भी मैं भगवान् ही हूँ।

अष्टमाध्यायमें अर्जुन श्रीभगवान्से **'किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं'** इत्यादिसे 'वह ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है?' इत्यादि प्रश्न करेगा, और भगवान् स्वयं उन प्रश्नोंका उत्तर देंगे। इसलिए इसका विशद विवेचन अष्टमाध्यायमें ही होगा। इसप्रकार जो मेरे–सर्वात्म–अपरिच्छिन्न परिपूर्ण–अखण्डैकरस–स्वरूपमें चित्तको निरुद्ध करते हैं, वे ज्ञानयोगी अति विकट–मरणकालमें भी मुझे यथावत् जानते हुए निर्द्वन्द्व एवं अखण्ड–आनन्दमग्न बने रहते हैं।

जा मरिवे को जग डरे, सो मेरे मन आनन्द।
कब मरि हों कब पाइ–हों पूरण–परमानन्द।

मरणके कष्टोंसे वे कदापि व्यथित नहीं होते, ऐसे ज्ञान–योगी–

अनन्य-भक्त महापुरुषोंका ही जीवन-धन्य है, सार्थक है, श्रद्धेय है एवं अनुकरणीय है।

हरिः ॐ तत्सत् शिवोऽहं शिवः सर्वम्।

इति-बम्बई-विला-पारला-संन्यासाश्रममें—श्रीमत्परमहंस-
परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ-महामण्डलेश्वर
पूज्यपाद-श्रीस्वामी महेश्वरानन्दजी महाराज
द्वारा-अभिव्यक्त हुई श्रीमद्भगवद्गीताके
सप्तमाध्यायकी 'प्रवचन-सुधा'

समाप्ता

पराकृतनमद्बन्धं, परं ब्रह्म नराकृति।
सौन्दर्यसारसर्वस्वं, वन्दे नन्दात्मजं महः॥

नमःशिवाय निःशेषक्लेश-प्रशमशालिने।
त्रिगुणग्रन्थिदुर्भेद्य — भवबन्धविभेदिने॥

नमामि यामिनी-नाथलेखाऽलंकृतकुन्तलां।
भवानीं-भवसन्तापनिर्वापणसुधानदीम्॥

भुजङ्गमाङ्गशायिने विहङ्गमाङ्गगामिने।
तुरङ्गमाङ्गभेदिने, नमो रथाङ्गधारिणे॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय, पूर्णमेवावशिष्यते॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

श्रीरस्तु तुष्टिरस्तु पुष्टिरस्तु सर्वाभीष्टसिद्धिरस्तु।

आत्मज्ञान और अहिंसा।

प्रथम आत्मज्ञान, पश्चात् अहिंसा, इसलिये है कि अद्वय-आत्मज्ञानके विना अहिंसाकी सिद्धि नहीं होती है। अपनी शान्तिको स्थिर रखते हुए अन्यकी शान्तिका भंग न करना ही वास्तविकी अहिंसा है। उसकी सिद्धि पूर्ण-आनन्द-निधि-अद्वय-सर्वात्माकी सतत-भावनाके बलसे ही होती है। श्रीभगवानने भी गीतामें यही कहा है—

'न चाभावयतः शान्तिः,
अशान्तस्य कुतः सुखम्।'

भावनारहितको शान्ति नहीं और शान्ति-रहितको सुख कैसा ?।

विश्वके कुछ शान्ति प्रिय नेता 'अहिंसा-अहिंसा' चिल्ला तो रहे हैं, परन्तु वे लोग इसके मूल तक नहीं पहुँच सके कि—अहिंसाकी सिद्धि होगी कैसे ?।

यह प्रसिद्ध वात है कि स्वयंके प्रति किसीको भी बुरे भाव नहीं होते, किन्तु प्रेम एवं सद्भाव ही होते हैं। अज्ञानसे वह स्वयंको देहरूप छोटासा-भिन्न मानता हुआ हिंसाके अनिष्ट भावोंमें लिप्त रहता है। देहदृष्टिवाला हिंसासे कभी मुक्त नहीं हो सकता। जब वह आत्मज्ञान द्वारा स्वयं देहसे भिन्न-महान्-पूर्ण-आनन्द-चैतन्य ज्योतिरूप हो जाता है, विश्वके समस्त प्राणियोंमें वह स्वयंको ही देखता है, तब वह हिंसाके अनिष्ट-भावोंसे मुक्त होजाता है। स्वयं शान्त रहता हुआ अन्योंकी शान्तिकी भी रक्षा करता रहता है। क्योंकि वह अन्योंको अन्य नहीं किन्तु अनन्य-स्वयं मानता है। यही श्रीकृष्णका एवं भाष्यकार श्रीशंकरका अद्वय-आत्मज्ञान है। जिसके द्वारा ही भगवान् बुद्धकी अहिंसाकी पूर्णता होती है। अतः प्रथम आत्मज्ञान प्राप्त करें, पश्चात् पराशान्तिरूप अहिंसा सिद्ध करें। फलतः यह अहिंसा ही ब्रह्मनिर्वाण रूपा-आनन्दमयी-जीवन्मुक्ति बन जाती है। —ले०

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

लेखककी अन्य-पुस्तकें—

(१) ऋग्वेदसंहितोपनिषच्छतकं, (संस्कृतं)
अध्यात्मज्योत्स्नाविवृत्तिसमलंकृतम् ।

(२) शुक्लयजुर्वेदसंहितोपनिषच्छतकं (संस्कृतं)
अध्यात्मज्योत्स्नाविवृत्तिसमलंकृतम् ।

(३) अथर्ववेदसंहितोपनिषच्छतकं (संस्कृतं)
अध्यात्मज्योत्स्नाविवृत्तिसमलंकृतम् ।

(४) गायत्री-मीमांसा-संध्योपासनं, पुरुषसूक्तदेवार्चनम् ।
(हिन्दीअनुवादसहितम्)

(५) श्रीहरगोविन्ददासव्याख्यानमंदिरम् ।
(हिन्दीअनुवादसहितम्)

प्राप्तिस्थान—

(क) संस्कृतमहाविद्यालय—
संन्यासाश्रम, विले-पारला बम्बई ।

(ख) सुरतगिरि-बंगला, (गिरीशानन्दाश्रम)
मु॰—कनखल (हरिद्वार) जि॰ सहारनपुर

(उ॰ प्र॰)